हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रबन्ध सम्पादक

श्री विद्या भास्कर

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

प्रधान सम्पादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी० फिल्०

[भाग २३ : अंक १]

जनवरी-मार्च

१९६२

सम्पादक-मंडल

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०
२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, (पद्म विभूषण)
३. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०
४. डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०
५. डॉ० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

खड़ीबोली काव्य की अप्रस्तुत-योजना

डॉ० मोहन अवस्थी

काव्य में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दो पक्ष होते हैं। जो वर्णनीय है, जो कवि के सम्मुख है वह प्रस्तुत और प्रस्तुत का ज्ञान कराने के लिए उसकी कल्पना विश्व-भ्रमण कर जो कुछ लाकर रखती है, वह अप्रस्तुत है। अस्तु, काव्य के वर्ण्य-प्रत्यक्ष विषय को छोड़कर अन्य सभी अप्रस्तुत है। इस प्रकार कल्पना-निर्मित-सम्पूर्ण जगत् अप्रस्तुत द्वारा परिव्याप्त है।

अप्रस्तुत को अप्रधान नहीं कहा जा सकता। यदि परिशीलन करें तो काव्य में अप्रस्तुत ही वस्तुतः प्रधान है। प्रस्तुत को ही सभी कुछ मानकर उसी की परिक्रमा करना कविता का तिरस्कार है। मूर्त पदार्थों का बोध बिना अप्रस्तुत के हो भी जाय, परन्तु अमूर्त के लिए कवि को अप्रस्तुत लाना ही पड़ता है। अप्रस्तुतविहीन काव्य वहीं संभव है, जहाँ कवि कथन-मात्र कर रहा हो, रूप-आकार-क्रिया का अनुभव कराने में अप्रस्तुत ही सहायक होते हैं। अप्रस्तुतविहीन रमणीय काव्य सर्वसाध्य नहीं। इसके लिए अलौकिक प्रतिभा, विलक्षण शिल्प, अमाप अनुभूति और मनःशास्त्र का विशाल अध्ययन अपेक्षित है। मानवीय मनस्तत्त्व-अन्वेषी कवि ही केवल असल प्रस्तुत को पाठक के हृदय में संचित कर सकता है। किन्तु ऐसे काव्य में, कवि के समक्ष बड़ी महान् कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो ऐसे स्थल अधिक नहीं कि पद-पद पर अप्रस्तुत-व्यापारविमुक्त रहकर कार्य चल सके। दूसरे सभी पाठकों की ग्राहिका कल्पना या अनुभूति इतनी सघन नहीं होती कि संकेतमात्र ही पर्याप्त हो जाय।

अप्रस्तुत, सौन्दर्य विजित-कवि की आन्तरिक परिभावना का चित्र है। वह कहता है —

> आह ! वह मुख, पश्चिम के व्योम
>
> बीच जब घिरते हैं घनश्याम।
>
> अरुण रवि मण्डल उनको भेद
>
> दिखाई देता है छविधाम।[1]

यहाँ कवि मुख-श्री-गत अद्भुत सौन्दर्य उसका बोध कराने के लिए श्यामघन और अरुण रविमंडल की ओर दौड़ जाता है। कवि जिस मुख पर निछावर है उस पर पाठक भी मुग्ध हो जाय यह आवश्यक नहीं; लेकिन श्याम घनोद्भिन्न अस्तोन्मुख सूर्य की रम्य-स्मृति से वह मोहित न हो, यह आश्चर्यजनक है।

अप्रस्तुत ही प्रस्तुत को व्यक्तित्व प्रदान करता है, अस्पष्ट को स्पष्ट बनाता है। किसी अवसर पर तो अप्रस्तुत की अनुपस्थिति में कविता निरर्थक शब्द-क्रीड़ा-सी प्रतीत होती है—

---

१. प्रसाद—कामायनी, ब० सं०, पृ० ४६

और उसका हृदय है किससे बना
वह हृदय ही है कि है जिससे बना।[1]

यहाँ 'हृदय' निर्विशेष होने से व्यक्तित्वहीन है, नीरस है। इस हृदय को दूसरे हृदय से भिन्न दिखाने के लिए अप्रस्तुत की अनिवार्यता है। द्वितीय उदाहरण में 'प्रसाद' ने [illegible] को जो व्यक्तित्व दिया है, उसका गुप्त के 'हृदय' प्रस्तुत में अभाव है।

काव्य अप्रस्तुत की ही माया है। अलंकार-ध्वनि सब उसी के चिह्न हैं। ध्वनि-अलंकार स्वयं अप्रस्तुत नहीं हैं। वे अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का सम्बन्ध हैं। अप्रस्तुत को प्रस्तुत बना देना अलंकार या ध्वनि है। अप्रस्तुत पहले है अलंकारादि बाद में। कवि की चित्त-वृत्ति पहले अप्रस्तुत को देखती है फिर भृंगी-कीट-प्रक्रिया से उसे प्रस्तुताकार देने का प्रयास करती है।

तात्पर्य यह कि अप्रस्तुत की महत्ता काव्य में सर्वमान्य तथा सार्वकालिक है। इसलिए जो कवि अप्रस्तुत-योजना में कुशल है उसकी कविता निस्सन्देह उत्कृष्ट होगी। जिस प्रकार [illegible] मे विद्वानों की परीक्षा होती है उसी प्रकार अप्रस्तुत-योजना से कवि के काव्य शिल्प का पता चलता है, क्योंकि जितने ही भाव-वर्द्धक-सौंदर्यशाली अप्रस्तुत होंगे, प्रस्तुत में उतना ही निखार आयेगा। अप्रस्तुतरूपी दर्पण जितना ही स्वच्छ एवं विशाल होगा, प्रस्तुत का बिम्ब उसमें उतना ही स्पष्ट तथा पूर्ण दृष्टिगोचर होगा।

इस कारण काव्य-शिल्पानुशीलन में अप्रस्तुतों का सर्वांगीण विवेचन, योजना की कुशलता तथा चयन-औचित्य सभी पर ध्यान देना पड़ता है। आधुनिक कविता में अप्रस्तुत का बहुत बड़ा महत्त्व है।

अप्रस्तुत के विविध रूप

समीक्ष्य काव्य ने मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों से शृंगार किया है। प्रकृति-मानव दोनों अप्रस्तुत-रूप में सहायक हुए हैं। प्राकृतिक पदार्थों में इन्द्रधनुष, अन्धकार, प्रकाश, हिम, कुहासा, तारक, संध्या, ऊषा, चन्द्रिका, बादल, सोना, चाँदी, मोती, हीरा, मणि, दीपक आदि की बारम्बार आवृत्ति हुई है। मानवीय अप्रस्तुतों में मानव के अंग-प्रत्यंग और मनोभावों को अप्रस्तुत-रूप मिला है। परन्तु इन अप्रस्तुतों को कवियों ने इस प्रकार उपस्थित किया है कि वे प्रति बार नए दिखाई देते हैं। यदि एक बार कवि किसी अप्रस्तुत को अंकित करता है :—

कनक-से दिन मोती-सी रात[2]

तो दूसरी बार उसे दूसरे सन्दर्भ में आभासित करके—

कनक छाया में जब कि सकाल[3]

पहला 'कनक' केवल अपनी कान्ति विकीर्ण करता हुआ आया है, दूसरा छाया के साथ लगकर कार्य सिद्ध कर रहा है। मनोभाव भी कभी पृथक् आते हैं, कभी किसी दूसरे मनोभाव के

---

१. गुप्त—साकेत, प्र० सं०, पृ० १
२. महादेवी—आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० २५
३. पन्त—आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ११

साथ। लेकिन एक अप्रस्तुत जब दूसरे परिवार के अप्रस्तुत से मिलता है तो काव्य में द्विगुणित सौंदर्य आ जाता है:—

व्योम बेलि ताराओं की गति
चलते अचल गगन के गान
हम अपलक तारों की तन्द्रा
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान[1]

एक अप्रस्तुत प्रकृति से दूसरा मानव से (गगन, गान; तारे, तन्द्रा) लेकर कवि ने काव्य-फलक मणि-जटित कर दिया है। आधुनिक कवियों ने अप्रस्तुतों के पारस्परिक संयोग में जो कायाकल्प किया है, वह देखते ही बनता है।

अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, क्रिया, आकृति एवं स्वभाव के आधार पर की जाती है। प्राचीन काल से उक्त आधार-प्रकारों में से किसी एक का सहारा लेकर प्रस्तुताप्रस्तुत-न्यास उत्तम समझा जाता है। दोनों पक्षों का आधार एक ही होने से चित्र सुलभ हो जाता है। भाव की प्रेषणीयता वस्तु की स्फुटता के बढ़ाने के कारण यह ढंग सदैव से अधिक मान्य रहा है। आधुनिक काल के काव्य में इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना अधिक हुई है। द्विवेदी युग में अप्रस्तुत प्रस्तुत को जाति, गुण, क्रिया आदि के अनुकूल रक्खा जाता था:—

नीलनभोमंडल-सा जलनिधि, पुल था छायापथ-सा ठीक[2]

इस उदाहरण में अप्रस्तुत स्पष्टतः गुणानुकूल अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय सुबोधता, सरलता पर विशेष ध्यान रहने से अप्रस्तुत भी वैसे ही और उसी ढंग से लाये जाते थे। वे अप्रस्तुत द्विवेदी-युग में उतना ही कार्य करते थे जितनी की प्रस्तुत को दृश्यमान् आवश्यकता थी। कवि इनसे कोई अतिरिक्त सेवा लेना पसन्द नहीं करता था। उस समय अप्रस्तुत से वांछित गुण-क्रिया के अतिरिक्त किसी दूसरी विशेषता का आभास यदि मिला भी तो निरूढ़-प्रयोग के कारण[3]। कवि ऐसे अप्रस्तुत के लिए सचेष्ट नहीं रहता था। यहाँ सरोज एवं स्वर्ण क्रमशः कृष्ण के कोमल रूप और कान्ति के साथ ही गन्ध-सौरभ की व्यंजना भी करते हैं। लेकिन सौरभ का स्पष्ट कथन करना पड़ा। द्विवेदी-युग के बाद की अप्रस्तुत योजना में विविधता आई। यद्यपि पुराने ढंगों की अप्रस्तुत योजनाएँ बहुलता से हुईं, परन्तु उनमें कवि ने कुछ न कुछ नवीनता रख दी है। इस काल का कवि अप्रस्तुत की विशेषताएँ न बताकर प्रस्तुत के कार्य-व्यापार से उन्हें व्यक्त करता है। इस प्रकार जब प्रस्तुत के बाद अप्रस्तुत को देखते हैं तो अप्रस्तुत का रंग अधिक निखरा हुआ नजर आता है और जब अप्रस्तुत को देखकर प्रस्तुत पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रस्तुत का चित्र सजीव हो जाता है:—

---

१. पन्त—वही, पृ० २७

२. गुप्त—साकेत, प्र० सं०, पृ० ३९४

३. सरोज है दिव्य सुगंध से भरा।
नृ-लोक में सौरभवान स्वर्ण है॥ —हरिऔध, प्रियप्रवास, पं० सं०, पृ० १२९

अन्यान्य अप्रस्तुतों में समाता है, जो अप्रस्तुतों का आनन्द लूटकर हम प्रस्तुत को हृदयंगम कर लेते हैं।[1] लेकिन जब कवि द्रव्य, गुण, क्रिया, व्यापारादि अप्रस्तुतों को उपकरण-स्वरूप प्रयुक्त कर प्रस्तुत को रूप-रंग-क्रिया-आढ्य बनाता है, तब उसका कौशल विशिष्टतया दर्शनीय होता है—

मृणालों से गीत का पथ खींच जला पश्चिम में पहला दीप
विहँसती संध्या भरी सुहाग दृगों से झरता स्वर्ण पराग।[2]

मृणाल, पथ, दीप, सुहाग, स्वर्ण और पराग, ये वस्तुएँ तथा खींचना, जलाना, विहँसना, ये क्रियाएँ अप्रस्तुत हैं। संध्या प्रस्तुत पर इन्हीं अप्रस्तुतों की झाईं पड़ने से उत्पन्न इन्द्रधनुष से आँखें उलझ जाती हैं।

आधुनिक कवि ने एक निराला नवीन प्रकार की अप्रस्तुत-योजना हिन्दी काव्य में प्रचलित की है। इस योजना में प्रस्तुत को दो अप्रस्तुतों के बीच स्थापित कर दो पार्श्वों से प्रकाश फेंका जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत एक साथ ही दो दिशाओं में दृष्टि-प्रक्षेप करता है :—

अरुण अधरों की पल्लव प्रात
मोतियों-सा हिलता हिम हास।[3]

'हास' को हिम और मोतियों के मध्य रखकर कवि ने उसे स्वच्छ और सफेद बनाने के साथ ही अद्भुत कान्ति भी प्रदान कर दी है।

आधुनिक काल से पहले हमारे कवियों की प्रवृत्ति केवल अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आभास देने की अधिक थी। रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत-कथन ही रहता है। इन कवियों ने उसका अनुकरण तो किया, किन्तु परम्पराभुक्त अप्रस्तुतों को अनुप्राणित कर नवीन रूप देकर। इस युग के काव्य में रूपकातिशयोक्ति वाले अप्रस्तुत काव्य-प्रांगण में व्यर्थ भीड़ नहीं लगाते। ''सूर'' के समय से जो खंजन चुपचाप कमल में बैठे रहते थे, जिन बेचारों को पंख फड़फड़ाना भी नहीं आता था, वे अब चोंची चोट करके भ्रमर को विकल बनाने लगे।[4]

---

१. जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया
हत जिसकी पंकज कान्ति, मलिन-सी काया।
उस सरसी-सी आभरण-रहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु मा को देख हुई जड़ रसना।—गुप्त, साकेत, प्रथम सं०, पृ० २२४

२. महादेवी—आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० २६

३. पन्त—गुंजन, सा० सं०, पृ० ४१

४. कमल पर जो चारु दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोंची चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।
—पन्त, ग्रंथि, सरस्वती, मार्च १९२६, पृ० ११७

नए अप्रस्तुत

इन रूढ़ अप्रस्तुतों के अतिरिक्त नूतन अप्रस्तुतों की झाँकी भी देखने को मिलती है। इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना 'महादेवी' की विशेषता है।[1]

व्यंग्य-व्यंजक-भाव के अप्रस्तुत

व्यंग्य-व्यंजक-भाव में अप्रस्तुत-योजना द्वारा कवि अपना नैपुण्य दिखलाता है। इस प्रकार के अप्रस्तुत पहले तो अप्रस्तुत ही जान होते हैं, परन्तु प्रसंग के आधार पर उनका प्रस्तुत भी समझ लिया जाता है :—

> जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए।
> अपने नालों पर वह सरसी श्रद्धा थी न मधुप आए।[2]

नवीन अप्रस्तुत-योजना

इन सब प्रकारों से अद्भुत, कवि का असाधारण चित्र प्रदर्शन करने वाली अप्रस्तुत-योजना "निराला" ने की है। "निराला" के अप्रस्तुत में प्रस्तुत अन्तर्हित नहीं रहता। उसके दो रूप देखने को मिलते हैं। पहली बार वह प्रस्तुत ज्ञात होता है, दूसरी बार अप्रस्तुत बन जाता है। "निर्झर" कविता में निर्झर प्रस्तुत है, लेकिन जब वह पत्थर से टकराता है और ईश्वर [illegible] की ओर इशारा करके चल देता है, तो वह निर्झर प्रस्तुत न रहकर किसी [illegible] (प्रस्तुत) का अप्रस्तुत हो जाता है।[3] जड़ (पत्थर) से टकराकर [illegible] से मुस्कराना [illegible] का [illegible] है। जड़बुद्धि को छोड़ने पर भी उसका परमेश्वर (समुद्र) की ओर संकेत करके चल जाना [illegible] जाता है। यह अन्योक्ति नहीं है। अन्योक्ति में अप्रस्तुतों का [illegible] मात्र होता है [illegible]

---

१. पद्मराग-कलियों से विकसित
   नीलम के अलियों से मुखरित
      चिर सुरभित नन्दन वनका
      यह अश्रु भार मत तुम मेरे हो।
         —महादेवी, आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० ६६

२. प्रसाद—कामायनी, नवम सं०, पृ० १७५

३. किसी पत्थर से टकराते हो,
   फिरकर जरा ठहर जाते हो,
   इसे जब लेते हो पहचान—
   समझ जाते हो जड़ का सारा अज्ञान,
   फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुस्कान
   बस, अजान की ओर इशारा कर चल देते हो,
   भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।
      —निराला, परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १६७

तात्पर्य प्रस्तुत से रहता है। परन्तु यहाँ दोनों का महत्व समान है। कभी-कभी "निराला" कविता के अन्त में एक ऐसा शब्द रख देते हैं, जो मंत्र-शक्ति की भाँति अपने स्पर्श से सारी प्रस्तुत योजना को अप्रस्तुत में परिवर्तित कर देता है। उनकी "बादल" रचना की अंतिम पंक्ति—आज बजेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।[1] पढ़ते ही बादल अप्रस्तुत होकर प्रस्तुत अर्जुन का चित्र उपस्थित करने लगता है। कहा जाता है कि "मिल्टन" की कविता को दो बार पढ़ना पड़ता है—एक बार संगीत के लिये दूसरी बार भाव के लिए। लेकिन "निराला" की कविता तीन बार पढ़नी चाहिए—एक बार प्रस्तुत अर्थ समझने के लिए, दूसरी बार ध्वनि हृदयंगम करने के लिए और तीसरी बार संगीत का आनन्द उठाने के लिये।

इसमें सन्देह नहीं कि अप्रस्तुत-उपकरण-संभूत-आह्लाद काव्य में विशिष्टता लाता है। अप्रस्तुत-नियोग-हीन-प्रस्तुत निर्वात प्रकोष्ठ है, जिसमें अधिक देर ठहरने पर भी ऊबने लगता है। प्रभाव-साम्य-वशीभूत आधुनिक उपमाएँ बहुधा रूपौचित्य आदि का ध्यान नहीं रखतीं। वे प्रस्तुत के लिये प्रायः अपकारी भी सिद्ध होती हैं। फिर भी, काव्य रमणीय लगता है। उसका कारण है आधुनिक कविता की अप्रस्तुत-रत्न-राशि-संबद्ध-प्रवृत्ति। प्रस्तुत की अन्तर्दशा पर ध्यान केन्द्रित हो नहीं रहता, क्योंकि अन्तर्मन-पथ में उपस्थित अप्रस्तुतों का चित्र अविस्मरणीय होता है।

नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।[2]

अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नवालोक बिखरने का भाव स्फुट नहीं हो पाता। लेकिन 'सित सरोज पर मधुमय पिंग पराग' की मनोमुग्धकारी क्रीड़ा से भी चित्त हटाए नहीं हटता।

लौकिक अप्रस्तुत-योजना

अप्रस्तुत योजना लौकिक भी हुई है और अलौकिक भी, यथार्थ भी और संभावित भी। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं कि कल्पना से नितांत निरस्यमान। ऐसी दशा में तो प्रस्तुत के अतिरिक्त कुछ कहा ही नहीं जा सकता। यथार्थ से तात्पर्य काव्य के यथार्थ से है; अर्थात् वह अप्रस्तुत योजना, जो प्रस्तुत का यथार्थ ज्ञान करावे। वर्तमान कविता कल्पना-प्रवण होते हुए भी यथार्थ एवं मार्मिक अप्रस्तुत योजना में समर्थ है—

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन
मिलाती हो उससे भू लोक।[3]

---

१. निराला—परिमल, द्वितीयावृत्ति पृ० १८१
२. प्रसाद—कामायनी, नवम सं०, पृ० २३
३. प्रसाद—झरना, पंचम सं०, पृ० १५

'लौटना' अप्रस्तुत 'अलक के झूलने' के लिये आया है। 'साँप का लोटना' यथार्थ है। हृदय (छाती) पर लोटना संभावित है, परन्तु वास्तविक हृदय पर लोटना अलौकिक है। 'हृदय पर साँप लोटना' लक्षणा के कारण क्या जादू दिखा रहा है? अप्रस्तुत-प्रस्तुत कैसा विचित्र दृश्य उपस्थित कर रहे हैं? कवि को जब सोई हुई अलक याद आती है, तो उसके (यशोदा के, कवि के) हृदय पर साँप लोटता है; लेकिन पाठक के नेत्रों में झूलते हुए साँप के कारण लोटती हुई अलक काँप जाती है। एक सूक्ष्म विशेषता और भी है कि 'आना' (याद आना) क्रिया का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत 'आना' (लौट जाना) गृहीत हुई है। यह चमत्कार भाषा का है। यह अप्रस्तुत-योजना सरल होते हुए भी कठिन, सीधी होते हुए भी दुरूह, साधारण प्रतीत होते पर भी विलक्षण, और लौकिक होने पर भी अलौकिक है।

२. अलंकार

अप्रस्तुत-योजना का अलंकारों से अपरोक्ष और अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। अप्रस्तुत-योजना का लगभग शत-प्रतिशत उद्देश्य अलंकार होता है और अलंकार-विधान बिना अप्रस्तुत-योजना के असंभव-सा है। रस-निष्पत्ति यद्यपि अलंकाराभाव में भी बड़ी सुन्दरता से हो सकती है,[1] फिर भी अलंकार भाव-पोषण में परम योग देते हैं। सौंदर्य काव्य की चेतना है और अलंकार उस सौंदर्यानुभूति को यथावत् उपस्थित करने हेतु छटपटाती हुई वाणी का नैसर्गिक प्रयास है। सौंदर्य अनिर्वचनीय होने पर भी भौतिक एवं आध्यात्मिक, स्थूल एवं सूक्ष्म का अद्भुत सम्मिश्रण है इसलिए कवि उसे दोनों प्रकार से व्यक्त करता है। समालोच्य-काल की काव्य-चेतना क्रमशः बाह्य से आध्यात्मिक होती गई, अतः अलंकारों में कवि की दृष्टि बाह्य रूप से हटकर आन्तरिक दशाओं की ओर अधिक क्रियाशील हुई। सौन्दर्याभिव्यक्ति दो प्रकार से की जा सकती है—सादृश्य के सहारे, या विरोध की सहायता लेकर। यही साधन सादृश्यमूलक और विरोधमूलक अलंकार हैं। अभिव्यक्ति वाणी द्वारा होती है, अतः वाणी की प्रभावशालिता सम्वर्द्धक साधन शब्दालंकार कहे जाते है। जो अलंकार अर्थ में रमणीयता लाते है, वे अर्थालंकार हैं।

अनुप्रास

शब्दालंकारों में अनुप्रास भाषा का सहज शृंगार है। अनुप्रास के सरल प्रयोग प्रत्येक भाषा में प्राप्त होते हैं। पद्य हो अथवा गद्य अनुप्रास का सम्मान सभी करते है। अनुप्रास-परिसीमन से बचना कठिन है। इस काल की कविता में अनुप्रास सर्वत्र मिल जाता है। यद्यपि आधुनिक कवि ने 'खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत-पाश'[2] कहकर छंद और प्रास का बहिष्कार करना चाहा किन्तु वह इनके बंध से मुक्त न हो सका। और मजे की बात तो यह है कि उसकी घोषणा-पंक्ति ही में छंद, बंध, प्रास, पाश अनुप्रास रमे हुए हैं। प्रस्तुत-काल के सम्पूर्ण काव्य में अनुप्रास

---

१. अच्छा तुम्हीं यदि वन बसोगे मैं करूँगा क्या यहाँ ?
मैं भी चलूँगा साथ में तुम तात जाओगे जहाँ।
—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, १९२०, पृ० २९०

२. पन्त—युगवाणी, पृ० सं०, पृ० ३

की मनोहारिणी छटा देखने को मिलती है। अति-मधुरता के भाव से, स्वर-मुखरता लाने से लयानुप्रेरित कवि का अनुप्रास-मोह इतना अधिक बढ़ गया कि कभी-कभी वह शब्दों में [illegible] करने लगा—

तुतले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान।[1]

अधर ढीले तो बुढ़ापे में ही जाते हैं, बचपन में नहीं। यह अनुप्रास का जादू है कि कवि ने "मृदुल" के स्थान पर "ढीले" का निर्वाचन किया।

यमक

यमक की ओर इस युग की कविता अधिक आकृष्ट नहीं हुई। आरम्भ में यमक-योजना अधिक की जाती थी। 'रामचरित चिन्तामणि' के पूरे '[illegible] सर्ग' में प्रत्येक छंद का अन्त यमक अलंकार से होता है।[2] लेकिन यह सायास-विधान आगे प्रोत्साहन न पा सका। बाद के कवि ने मात्र यमक के लिये प्रयत्न नहीं किया, लेकिन यदि यमक स्वतः आ गया तो उसे स्थान भी दिया,[3] अथवा यदि प्रयोग जान बूझकर हुआ तो यमक स्वाभाविक चमत्कार के साथ में भाव संवलित होकर आया—

कूट पीस गूँध रौंध मिट्टी को चढ़ाया चाक
चक्कर में डाला जीवनदान तक लिया है।
काटा तो तुरन्त जड़ से ही एकदम मुझे
रख के जमीन पर धूप सुखा लिया है।
तिस पै न तोष हुआ, आग में पकाया, देखा
लेने वालों ने भी 'हरि' ठोंका कहाँ लिया है?
तेल भर छाती पर बाती ही जलाई, कहो
दिया क्या किसी ने दिया नाम पर दिया है?[4]

श्लेष

श्लेष का प्रयोग भी अयत्नज-रूप में ही हुआ। रीति काल की भाँति शब्द-भंग या अन्य प्रकार के आयास नहीं किए गए।[5]

---

१. पन्त—पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ६
२. रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १९२०, पृ० २७२
३. पास ही रे हीरे की खान
खोजता कहाँ उसे नादान?
—निराला, गीतिका द्वि० सं०, पृ० २७
४. शिवदत्त त्रिवेदी 'हरि' : दिया, सुकवि, अप्रैल, १९३७, पृ० २७
५. द्विज चहक उठे हो गया नया उजियाला।
हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरि माला॥
—गुप्त, साकेत, प्र० संस्करण

उपमा

अर्थालंकार-वर्गगत सादृश्य-मूलक अलंकारों में उपमा सभी की मुकुटमणि है। उपमा वस्तुतः सभी अलंकारों की सरिजा है। कुछ अलंकार इसके अन्तर-रूप हैं, कुछ इसके निकट-सम्बन्धी हैं। शेष जैसे अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, व्यतिरेक, निदर्शना, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अतिशयोक्ति आदि स्पष्टतः, एवं विरोधाभास, विषम आदि परोक्षरूपेण उपमा से ही उद्भूत हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में इस अलंकार को प्रथम स्थान मिला है। काव्य तो पद-पद पर इसकी सहायता लेता है। उपमा, उपमेय के रूप, गुण, क्रिया को अधिक तीव्र बना देती है। द्विवेदी-युग के पूर्व की कविता मनोरम उपमाओं से सम्पन्न है। किन्तु इन उपमाओं की प्रवृत्ति अधिकांशतः उपमेय के रूप-गुण की ओर ही रहती थी। यद्यपि कभी-कभी क्रिया-साम्य पर कवि की दृष्टि पड़ जाती थी,[1] परन्तु वह उसे प्रमुखता नहीं देता था। द्विवेदी-काल में भी वर्ण-आकार पर ही ध्यान विशेषतः दिखाई पड़ता है—

पड़ी थी बिजली-सी विकराल
लपेटे थे घन जैसे बाल।

"लपेटे थे घन जैसे बाल" से कैकेयी के बालों का आकार और "बिजली-सी" से उसके शरीर का रंग व्यंजित होता है। परन्तु बिजली की गति की ओर कवि नहीं देख रहा है। यहाँ केवल "थी" के स्थान पर "थे" के परिवर्तन मात्र से ही बिजली की तड़पती हुई तड़प पाठक की आँखों में झूल सकती है।

उपमा में नवीनता

तात्पर्य यह कि अभीष्ट क्रिया दिखाने के अतिरिक्त उपमाओं की क्रियाशीलता पर कवि दृष्टि नहीं रखते थे। किन्तु द्विवेदी-युग के पश्चात् का कवि अप्रस्तुत-विधान करते समय क्रिया की ओर से दृष्टि फेरना नहीं भूलता।[3] रूप-गुण के साथ 'सुधा भरने को' वाक्यांश में बादलों की शक्ति अन्तर्हित है। इस प्रकार रूपों-गुणों से प्रकाशित यह उपमा सर्वथा गतिमती हो गई है। अर्थात् स्थूल प्रस्तुत के लिए सदृश उपमान रखते समय क्रिया भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हुई। क्रिया बाह्य से आन्तरिक होने पर प्रभाव बन जाती है। इसीलिये छायावादोत्तर काव्य में प्रभाव-साम्य का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। प्रभाव-साम्य प्राचीन काव्य में स्पष्ट भले ही रहे, कवि रूप-साम्य

---

१. चारु हुए के मोती किसी प्यारी के शिथिल गात
ज्यों ही ज्यों बटोरियत त्यों-त्यों बिखरत हैं।
—देव, देवसुधा, प्र० सं०, पृ० २०७

२. गुप्त—साकेत, प्र० सं०, पृ० ४४

३. घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घनशावक-से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
कामायनी, प्रथम सं०, पृ० ४५

का मोह नहीं छोड़ पाता था।[1] वह वियोग-जन्य-वेदना के लिये शरीर का पीलापन सामने प्रस्तुत करता था, विकलता व्यंजित रहती थी। परन्तु आधुनिक कवि के लिए—'विश्वरूप है अपार... मन'[2] यहाँ समुद्र के रूप से कवि को उतना प्रयोजन नहीं, जितना उसकी गम्भीरता से। मन की असीमता समुद्रत्व से मापी गई है। समुद्र के आरोह-अवरोह में [illegible] गति का साम्य है, पन्त की रचनाओं में प्रभाव-साम्य की प्रमुखता है।[3] प्रभाव साम्य ने [illegible] को सूक्ष्म बनाकर व्यापकता अवश्य प्रदान की, किन्तु काव्य में अस्पष्टता भी [illegible] दृष्टिगोचर होने लगी। कभी-कभी तो इस शैली की उपमाएँ अर्थ अस्पष्ट-सी प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिये—

> सजनि, गद्गदी सी, भक्त सी
> वह अधैर्य सी आशा सी।
> उदाहरण सी अनुप्रास सी
> कटी-छँटी नव कविता सी।[4]

आदि उपमाएँ देना जल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन काव्य की उपमाएँ बड़े उपमान से छोटे उपमेय का साम्य दिखाती थीं—'चन्द्रवदन' 'सिंह कटि'। आधुनिक कविता में उपमाओं के ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं, जिनमें उपमान के आकार को उपमेय के अनुकूल छोटा कर लिया गया है।[5] लघु को महान् बनाना प्राचीन परम्परा थी, तो महान् में लघु के दर्शन कराना आधुनिक काव्य की विशेषता है। आधुनिक उपमा का यह गुण 'अल्प अलंकार' के क्षेत्र से बाहर है। 'अल्प अलंकार' में छोटे आधेय की अपेक्षा अत्यन्त बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किया जाता है, किन्तु छोटा दिखाया नहीं जाता।[6] अतः उपमान की

---

१. राम वियोगी तन विकल ताहि न चीन्हे कोइ।
   तम्बोली के पान ज्यों दिन-दिन पीला होइ।
   —कबीर : कबीर ग्रंथावली, प्र० सं०, पृ० ५१

२. पन्त—पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० २६,

३. गीतिका के-से सरस विधान
   भाव जिसके अस्पष्ट अजान,
   स्वप्न से बन कर जिसे विहान
   उड़ा लाया हो मृदु पवमान।
   —पन्त, शिशु, सरस्वती, मार्च, १९२४, पृ० २८२

४. पन्त—छाया, मर्यादा, दिसम्बर १९२०, पृ० २४१

५. अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
   तरल मोती-सा जलधि जब काँपता।
   —महादेवी, रश्मि, चतुर्थ सं०, पृ० १८

६. सुनहु स्याम ब्रज में लगी दसम दसा की जोति।
   जहँ मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होति।
   —कन्हैयालाल पोद्दार काव्य कल्पद्रुम, द्वितीय भाग पं० सं०, पृ० ११९

प शेष कुडली है। रशनोपमा में [illegible] उपमेय का [illegible] हुआ और [illegible]।[1]
लेकिन उपमेयोपमान का यह क्रम भी नहीं रहता [illegible], फिर उस उपमान को सार अलंकार का [illegible] समस्त वर्णन के समानान्तर अन्य उपमेय-उपमान प्रस्तुत किये जो पृथक् [illegible] हैं और [illegible]।[2]

आधुनिक कविता ने मालोपमा के सादृश्य पर अनेक उपमान [illegible] प्रयोजन-सिद्धि की है। 'मालोपमा' में एक प्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुत रखे जाते हैं किन्तु उनका उद्देश्य एक ही भाव होता है। आधुनिक [illegible] मालोपमा में प्रत्येक उपमान एक पृथक् भाव का सूचक है।[3] 'मृदूर्मिल सरसी' का अर्थ है यौवन सम्बन्धी [illegible] से आन्दोलित हृदय। 'अधोमुख अरुण सरोज' अर्थात् लज्जा भरी तरुणाई का सौंदर्य। और [illegible] नव गान' से संकेत है कि उस सौंदर्य में कोमलता [illegible] जिस प्रकार कवि के हृदय में धीरे-धीरे प्रणय का नव-गान आरम्भित [illegible] पुरातन मालोपमा के उपमानों की भाँति एक ही [illegible] के पृथक्-पृथक् [illegible] एक ही चित्र को पूर्ण करने वाले साधन हैं। अतः इस उपमा को [illegible] 'चित्रमालोपमा' कह सकते हैं।

दीर्घपुच्छा उपमाएँ (जैसी योरोपीय काव्यों में [illegible] हैं) हिन्दी-कविता में नहीं मिलतीं, ऐसी उपमाओं के लिए होमर (Homer), मिल्टन (Milton), और मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnald) प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार की उपमा में कवि उपमान के [illegible] अंग पर ही दृष्टि केन्द्रित न करके उसका समग्र रूप चित्रित करने लगता है। 'निराला' ने इस भाँति की कुछ उपमाएँ अपने काव्य में रखी हैं, लेकिन वे उपमाएँ लम्बी होने पर भी उद्देश्य-विस्मरण-दोष से मुक्त हैं। होमर का उपमान-चित्रण उपमेय से असम्बद्ध एक स्वतन्त्र अनावश्यक और अतिरंजित वर्णन-सा हो जाता है, लेकिन 'निराला' के उपमान में उपमेय से साम्य की [illegible] रहती है—

---

१. कुल सी मति, मति-सी जु मन
मन ही—सी गुण खान।
—क० ला० पोद्दार, काव्य कल्पद्रुम, पृ० ११०

२. घन में सुंदर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी।
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी।
—प्रसाद, आँसू, प्र० सं०, पृ० ११

३. मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा करता नव गान।
—पन्त, गुंजन, प्र० सं०, पृ० ५५

सलिल प्रवाह में बहता यथा शैवालजाल
ग्रहहीन लक्ष्य हीन यन्त्र तुल्य
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम सागर से
हृदय खोल मुक्त होता
मैं भी त्यों त्यागकर गृहबाधायें
घर द्वार जन-धन
बहता हूँ माता के करुणामृत सागर में
मुक्ति नहीं माँगता भक्ति रहे काफ़ी है।[1]

नए उपमान

"निराला" ने आँखों की उपमा खंजन, या चकोर से न देकर पाँखें दबकर बैठे हुए विहगों से दी है।[2] वे विहग हरीतिमा में बैठे हुए हैं। इससे शायद यह व्यंजना है कि किसान की नई बहू धानी चूनर ओढ़े हुए है और अवगुंठन के भीतर लज्जालु नेत्र शोभित हैं।

अंग्रेजी में हल्केपन के लिए फ़ेदर (Feather) उपमान आता है। हिन्दी कविता ने भी पंख से यही कार्य लिया। इसी प्रकार आकाश को "नीलम का गुम्बद" कहना अंग्रेजी से प्रभावित है।[3] उपमाओं पर अंग्रेजी-संस्कृति ने भी गहरा रंग डाला। भारतीय साहित्य में पशु-चारण का प्रतीक गोचारण ही रहा है। पाश्चात्य साहित्य में 'भेड़' को बड़ा स्थान प्राप्त है। भगवान् कृष्ण गोपाल कहे जाते हैं, और ईसा को शेफ़र्ड (Shepherd) तथा उनके अनुयायियों को "भेड़" कहा जाता है। आधुनिक कविता में बाँसुरी से गाय का नहीं, भेड़ का सम्बन्ध जोड़ा गया।[4]

प्रगतिवादी उपमाओं में क्रांति, विनाश, खून, श्रमिक, मिल आदि से सम्बन्धित उपमान

---

१. निराला—परिमल, पं० सं०, पृ० २४३।

२. वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बंद कर पाँखें।
—निराला, अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १४६

३. हंस के लघु पंख-सी हल्की चटुल अति मीन जैसी।
—नरेन्द्र, प्रभात फेरी, प्र० सं०, पृ० २१

नीलम के गुम्बद को तकता है आँखों की चाह।
—नरेन्द्र, मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ९१

४. शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर
मेमने-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर।
—पन्त, आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८०

रखते हैं। नरेन्द्र शर्मा ने तरंग को 'भूखे विनाश की उमंग तथा आसमान को उलटी इस्पाती परात' के समान बताया है—

था आसमान कुछ क्षण पहले
ज्यों उलटी इस्पाती परात,
काली बदली में घिर [illegible], जैसे
परात के भीतर से——
कालिख के काले धुंए में——
मलता कहार का सधा हाथ।

वर्तमान युग-परिस्थिति में हिन्दू-विधवा से उत्पन्न पुत्र उल्कापात, [illegible] हुआ,[3] और विज्ञान के कारण 'बाण' का स्थान 'गोली' ने ले लिया——

कैकेयी की बातें सुनकर वह उदास थी [illegible]।
मनो मंथरा [illegible] उर में लगी आकर गोली।[4]

रूपक

जिस प्रकार आधुनिक कवि ने उपमा के अंगों [illegible] को नया [illegible] दिया, उसी प्रकार रूपक को भी नवीन रूप और नया रंग दिया। प्राचीन काव्य में कवि [illegible] सिद्ध करता था, नवीन में मानों कवि वैसा ही [illegible] कर रहा है। [illegible] जीवन को झूले का रूपक देना चाहेगा, तो जीवन-पक्षों में झूले के [illegible]।[5]

---

१. बढ़ती ही आती है तरंग
लोहू के प्यासे अहिदल की
भूखे विनाश की-सी उमंग।
——नरेन्द्र, प्रभात फेरी, प्र० सं०, पृ० ६३

२. नरेन्द्र——मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० १३१

३. विष सदृश वह मध्य उर का——
किसी विधवा की अभागी कोख के आरब्ध सदृश हो
निकल उल्कापात-सा बँध आयगा सहसा धरा में,
——नरेन्द्र, आश्वासन, सरस्वती, जनवरी १९३९, पृ० १०५

४. रामचरित उपाध्याय——रामचरित चिन्तामणि, १९२०, पृ० ५२

५. उगर वायु का झाड़ी सुंदर
है उसके तनु की शाखा पर,
माया का बंधन है जिस पर
बँधा हुआ विधि-कर से दृढ़तर
कर्मों की पाटी पर बैठा झूल रहा यह झूला-झूला।
——पुरोहित प्रताप नारायण, झूला झूला, माधुरी, श्रावण १९९२, पृ० ८८

विश्व का रूपक है परन्तु वाच्यार्थ में कोई वैचित्र्य नहीं, चमत्कार तो [illegible] आदि के प्रभाव साम्य में है

रूपकातिशयोक्ति

रूपकातिशयोक्ति में भी आधुनिक काव्य ध्वनि-प्रधान हो गया है। कारण, नवीन उपमानों की कल्पना है।[1] 'कुमुद' उरोजों के लिये प्रयुक्त हुआ है; कलाधर (नग्न [illegible]) नायिका के मुख का सौंदर्य एवं उसकी प्रसन्नता व्यंजित करता है। उरोजों का विकास [illegible] का सूचक है। तरंगों में डूबे अर्थात् आनन्द मग्न, अनामिका ने [illegible] हुआ [illegible]। यहाँ उपमानों का वर्णन कर देने से भाव समझ में नहीं आता। भाव हृदयंगम करने के लिए ध्वनि की शरण लेनी पड़ती है।

नूतन अलंकार

सादृश्यमूलक उपमानों में 'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' भी आते हैं। दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म कथन किया जाता है। तुल्ययोगिता में अनेक प्रस्तुतों या अनेक अप्रस्तुतों का गुण-क्रिया-रूप एक धर्म में योग दिखाया जाता है। लेकिन एक ही क्रिया विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाकर इस काल के कवि ने अपने [illegible] का परिचय दिया ...

मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषियान में।
व्याकुल-से देव चले, साथ में विमान में।[2]

यहाँ 'चलना' क्रिया का एक बार कथन न होने से तुल्ययोगिता नहीं, और 'चलना' क्रिया दोनों में समान भी है। लेकिन एक ही क्रिया के साथ एक ओर 'मत्त' विशेषण है, दूसरी ओर 'व्याकुल' अर्थात् वह दो व्यक्तियों की दो दशाएँ व्यक्त करती है। अतः यहाँ धर्म एक है भी, और नहीं भी है।

विरोधात्मक अलंकारों में कुछ साम्य के भीतर ही विरोध दिखाते हैं। अतः वे उपमा के ही नवीन रूप हैं। दूसरे शब्दों में विषम कथन से समता प्रतिपादित की जाती है—

देखूँ हिम हीरक हँसते हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कण देखूँ।[3]

आँसू का उपमान 'हिम हीरक' तथा मुरझाई पलकों का उपमान 'नीले कमल' है लेकिन उन्हें इस प्रकार रक्खा गया है कि वे विरोध-सा सूचित करते प्रतीत होते हैं।

---

१. नग्न बाहुओं से उछालती नीर
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर हँसता था एक कलाधर
—निराला, अनामिका, द्वि० सं०, पृ. ५०

२. गुप्त—नहुष, १९४०, पृ० ५०

३. महादेवी—आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० २५

दूसरे प्रकार के वे अलंकार हैं जिनके मूल में ही विरोध होता है। इन विरोध-मूलक अलंकारों में विरोधाभास आज के काव्य का सर्वप्रिय अलंकार है। लेकिन यह अलंकार प्राचीन अलंकार की भाँति मात्र शब्द-क्रीड़ा नहीं, उसमें कवि जो कुछ कहता है तत्त्वतः सत्य होता है। क्रान्ति का यह वर्णन केवल चमत्कार न होकर सत्यता का चित्र है।

तुम अन्धकार, जीवन को ज्योतित करतीं
तुम विष हो, उर में अमर सुधा-सी भरती।
तुम मरण, विश्व में अमर चेतना भरती।
तुम निखिल भयंकर, भीति जगत की हरती।[1]

विरोधाभास एवं व्यतिरेक के अतिरिक्त अभिव्यक्ति का एक प्रकार आधुनिक कवि ने और निकाला, जिसमें उक्त दोनों अलंकारों की छाया रहती है—

उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन ?
उनमें अनंत करुणा है इसमें असीम सूनापन।[2]

ध्वनि-सम्बद्ध अलंकार

छायावाद के कल्पना-प्रधान-युग में अनन्वय, दृष्टान्त, उदात्त, सूक्ष्म आदि अलंकार विशेष प्रिय नहीं रहे। जिन अलंकारों में ध्वनि के लिये स्थान है, वे अधिक समादृत हुए। कुछ अलंकार अपना अलंकारत्व छोड़कर सामान्य कथन-से बन गए। 'सार' अलंकार में अंतिम कथित वस्तु का सर्वाधिक उत्कर्ष दिखाना कवि को इष्ट नहीं रहा।[3] यह वर्णन मानो साधारण-सा है। इसी स्वभावोक्ति में कभी-कभी गूढ़ व्यंजना अन्तर्हित रहती है।[4] 'आज' शब्द द्रष्टव्य है। 'आज' से व्यंजना है कि वसन्त आ गया, क्योंकि वन में कोयल आ गई है। कोयल कूजन करके वातावरण को और भी उद्दीपित कर रही है। 'कलि में सुविकास' और 'रज में मधु' से यौवनागम और उसकी मादकता ध्वनित होती है। सलिल (जीवन) में 'लहर' और 'लहर में लास' जीवन की तरंगित लालसाओं का वर्णन व्यंजित करते हैं। तात्पर्य यह है कि मधु विकास की मादक ऋतु आ गई है, अतएव अब संकोच छोड़ देना ही वांछ्य है। इस प्रकार छायावाद में अलंकार द्वारा वस्तु वर्णन के स्थान पर व्यंजन अभीष्ट हुआ।

---

१. पन्त—युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ८४

२. महादेवी—आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ११

३. जाग उठे खग वन-उपवन में
   और खगों में कलरव-राग।
   —गुप्त, यशोधरा, १९५५, पृ० ६७

४. आज वन में पिक, पिक में गान,
   विटप में कलि कलि में सुविकास,
   कुसुम में रज, रज में मधु-प्राण।
   सलिल में लहर, लहर में लास।
   —पन्त, गुंजन, सातवाँ सं०, पृ० ६०

समासोक्ति

समासोक्ति एवं मुद्रा अलंकार का आधुनिक काल में आरम्भ [illegible] है। समासोक्ति में प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषण प्रयोग से अप्रस्तुत का बोध [illegible] होता है—

मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन।[1]

सुमन के वर्णन से उन प्रसन्नचित (सु+मन), [illegible] (सु+दल) [illegible] में [illegible] स्थान प्राप्त (सु+वास), बड़े ठाट बाट (सु+रंग, जिनके बड़े रंग हैं), [illegible] का बोध होता है, जिन्हें "निराला" की कविताएँ अलंकार विहीन (जीर्ण साज) एवं अनेक दोष (बहु-छिद्र) युक्त दिखाई पड़ती थीं।

मुद्रा

"मुद्रा" में प्रसंगगर्भता रहती है। यहाँ भी ध्वनि गौण होती है, [illegible] बिना सूचनीय अर्थ का पूर्वज्ञान हुए वाच्यार्थ का आनन्द नहीं उठाया जा सकता। इस अलंकार के दो रूप प्रस्तुत-काल की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। एक में तो प्रसंगगर्भता [illegible] रहती है।[2] दूसरे में वह कुछ अंश को पाठक की पूर्ति-हेतु [illegible] छोड़ देती है, जैसे—

अहा! 'यत्र नार्यस्तु'-वाक्य की पूर्ण सफलता पाकर,
क्यों न रमेंगे अमर तुम्हारे इस मन्दिर में आकर![3]

अन्योक्ति

अन्योक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा के अन्तर्गत है। इस काल के पूर्व अन्योक्ति के [illegible] से काव्य अलंकृत हुआ है। किन्तु कवियों ने वाच्यार्थ में अर्थ के [illegible] तथा वाच्यार्थ में अर्थ के अंशारोप का अपेक्षाकृत कम, वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप का [illegible] प्रयोग किया। यद्यपि अन्योक्तियों के विषय 'उल्लू', 'रेल का सिग्नल' आदि के समान नवीन लिये जाते थे, किन्तु इस नवीनता के अतिरिक्त वर्णन में कोई विशेष बात नहीं थी। प्रयोग वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोपवाली पद्धति पर ही अधिकतर आधारित था।[4]

---

१. निराला—अनामिका, द्वि० सं०, पृ० ११४

२. ललित कल्पना कोमल पद का हूँ मैं मनहर छंद।
—निराला, परिमल, द्वि० सं०, पृ० १५७

३. गुप्त—द्वापर, प्र० सं०, पृ० ३२

४. देख रेल को 'सिग्नल' तुम किस कारण से झुक जाते हो
संसारी जीवों को इससे क्या तुम कुछ सिखलाते हो!
अपने गुरु का दर्शन पाकर, शिष्य सदा झुक जाते हैं,
हमको होता ज्ञात इसी की शिक्षा आप सुनाते हैं।
—गौरीचरण गोस्वामी, अन्योक्तियाँ, सरस्वती, मई १९११, पृ० ९०६

यद्यपि आधुनिक काव्य भी जैसे-जैसे ध्वनि-प्रवण होता गया, अन्योक्ति वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुई, लेकिन इतना होने पर भी पूर्वकालीन अन्योक्ति से आधुनिक अन्योक्ति में अन्तर है। प्राचीन की वंशजा होने पर भी आधुनिक काव्य की अन्योक्ति नितांत पृथक्-सी ज्ञात होती है। प्राचीन अन्योक्ति में प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य रहता था, परन्तु वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारक होता था। जो ध्वनि रहती थी, वह प्रायः पूरे छंद या पूरी कविता की समग्रता में। आज की अन्योक्ति में समग्रता मात्र व्यंग्यार्थ प्रकट करती है। प्राचीन अन्योक्ति समासोक्ति में बहुधा श्लिष्ट शब्दों का सहारा लेती थी।[1] अतएव व्यंग्यार्थ अधिक क्लिष्ट नहीं होता था और यदि श्लेषादि का प्रयोग न भी हुआ, तो अन्त में अप्रस्तुत विषय की ओर भी अल्प संकेत कर दिया जाता था। सरस (जल सहित, रस सहित), अमृत (मोक्ष, जल, जीवन) कामरूप (कामदेव, इच्छा रूपी) आदि विशेषणों से घन के साथ घनश्याम का भी संबोधन रहता था। आधुनिक काव्य में इस प्रकार के संकेत लगभग नहीं मिलते और कभी-कभी श्लिष्ट शब्द भी नहीं रहते। कहीं प्रतीक कहीं साधारण विशेषण द्वारा ही अप्रस्तुत की व्यंजना की जाती है।[2]

स्थाणु के वर्णन में 'वसंत' यौवन का प्रतीक है। यहाँ वसंत शब्द किसी व्यक्ति की ओर संकेत करता है। 'कला', 'साज' आदि साधारण शब्द प्रतीकों के सहयोग से आनन्द, अनिच्छा किसी वीतराग अप्रस्तुत की ध्वनि भरते हैं। तात्पर्य यह कि आधुनिक अन्योक्ति अपनी व्यंग्यात्मकता में अधिक क्लिष्ट हो गई है।

इस पर्यालोचन से स्पष्ट है कि आधुनिक काव्य अलंकार-प्रचुर है, किन्तु ये अलंकार अलंकरण-सचेष्टता का परिणाम न होकर कवि की ध्वनि-विधायक अनवधानता के फल हैं।

---

१. सरस अमृत दायक सुखद अति उदार अभिराम।
जग जीवन आधार तुम कामरूप घनश्याम॥
कामरूप घनश्याम सुजस दिसि-दिसि में छाये।
रहे जानि जल दानि एहु चातक चित लाये॥
रटैं तिहारो नाम तृषा सहि को सकि सरवर।
'जगजीवन' सुधि लेहु न क्यों ताकी एहि अवसर॥
—जनार्दन झा, अन्योक्ति मणिमाला, सरस्वती, दिसम्बर १९२१, पृ० ५२१

२. ठूँठ यह आज
गई इसकी कला
गया है सकल साज
अब यह वसंत से होता नहीं अधीर।
—निराला, अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १२९

हिन्दी-रंगमंच

श्री भगवतीशरण सिंह

हिन्दी-रंगमंच के संबंध में अब तक जो कुछ भी कहा गया है उससे पाठकों को ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हिन्दी का अपना न तो कोई रंगमंच था और न है। अतः हिन्दी-रंगमंच की स्थापना और आवश्यकता पर बड़ा जोर दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक हिन्दी नाटकों का अभिनय व्यावसायिक रूप न ग्रहण कर लेगा तब तक हिन्दी-रंगमंच की सत्ता स्वीकार न की जायगी। जो कुछ भी हो, मेरा उद्देश्य इन मान्यताओं का खंडन करना नहीं वरन् विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करना है कि हिन्दी का अपना रंगमंच रहा है और आज भी है। इतना ही नहीं, अपने उद्भव-काल से ही हिन्दी-रंगमंच की परम्परा अविच्छिन्न रही है, भले ही कारणवश कभी-कभी वह लुप्त-प्राय भले न प्रतीत हुई हो। रंगमंच का अस्तित्व प्रेक्षागृहों में नहीं, नाटकों की रचना-शैली में होता है, भाषा में नहीं, अभिनय की कला में होता है, और सर्वोपरि, प्रेक्षक-समाज की तात्कालिक रुचि और आर्थिक स्थिति में होता है, यह भी समझ लेना चाहिए।

हिन्दी नाटकों के उद्भव और विकास की जो भी कहानी रही हो, नाटक का लोक-जीवन से बराबर संबंध बना रहा है। इसी लिए रंगमंच की भी दो शैलियाँ अथवा दो परम्पराएँ साथ-साथ चलती रहीं। इनमें समन्वय और सामंजस्य भी था और वे एक दूसरे की पूरक भी रहीं। लोक-जीवन के साथ अन्योन्याश्रित संबंध होने के कारण ही सामाजिक चेतना के उत्थान-पतन के साथ-साथ रंगमंच का भी उत्थान-पतन होता रहा। हम यदि थोड़ी देर के लिए केवल हिन्दी के उन नाटकों पर ही विचार करें जिन्हें साहित्यिक नाटकों की संज्ञा दी गई है तो भी हिन्दी-रंगमंच की परम्परा संवत् १९०० के आस-पास से प्रारम्भ हो जाती है। सुविधा के लिए इसके पूर्व के हिन्दी रास नाटकों की बात छोड़ देता हूँ। बाबू व्रजरत्नदास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाट्य साहित्य' में रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है। पर हिन्दी-रंगमंच की स्थापना भारतेन्दु के 'विद्यासुन्दर' नाटक से होती है और यहाँ से हिन्दी-रंगमंच की परम्परा भी चली है। इसकी चर्चा मैं आगे करूँगा। इतना तो अवश्य निर्विवाद माना जायगा कि भारतेन्दु-काल में ही हिन्दी नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई थी और प्रचुर मात्रा में हुई थी। रंगमंच का जो रूप इस युग में प्रकट हुआ वह हिन्दी का रंगमंच था, साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों का रंगमंच था, नाटककारों का रंगमंच था, रसिकों का रंगमंच था और सर्वोपरि जनता का रंगमंच था। निश्चय ही तत्कालीन समाज की परिष्कृत रुचि का प्रभाव रहा होगा जो उत्तरोत्तर रुचि का परिष्कार करना चाहता था अन्यथा नाटकों की इतनी रचना न हुई होती। हिन्दी के इस रंगमंच को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों को भी समझना आवश्यक होगा।

वस्तुतः किसी भी समय के रंगमंच विधान को समझने के लिए उस समय की सामाजिक व्यवस्था को समझना आवश्यक होता है। सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव साहित्य में तो व्यापक रूप से मिलता ही है, रंगमंच का विधान भी उससे अछूता नहीं रहता। पर रंगमंच के संबंध में समाज की दो स्थितियों का अधिक योग रहता है। एक तो समाज की आर्थिक दशा का और दूसरी उसकी सांस्कृतिक रुचि का। वस्तुतः यही दोनों मिलकर रंगमंच का विधान करती हैं। भारत में नाटक, नाट्यशास्त्र और रंगमंच के विधान का विस्तृत विवरण संस्कृत-साहित्य में ही मिलता है। काव्य के इस अंग के प्रादुर्भाव, उसके विकास आदि का पूरा इतिहास संस्कृत नाटकों में है। आदि नाटकों की रचना और उनके विधान को देखने से और तत्कालीन समाज की स्थितियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि सामाजिक-आर्थिक अवस्था और सांस्कृतिक रुचि का काव्य के इस रमणीय अंग के विकास में सदा से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। नाटकों के प्रदर्शन जब सम्राटों और दूसरे राजाओं के प्रासादों और देवालयों तक ही सीमित थे तब भी यह बात स्पष्ट थी कि रंगमंच और अभिनय-कला को प्रोत्साहन समाज की सामान्य आर्थिक स्थिति के पुष्ट होने से ही मिलता रहा। राजमहलों की महिलाएँ भी रंगमंच पर आती थीं और लोग उनकी कला की सराहना ही नहीं करते थे वरन् उनका वह व्यवहार समाज में आदर भी पाता था। यह स्पष्टतः तत्कालीन सामाजिक सुरुचि का परिचायक माना जायगा। अतः मैं इस बात पर पुनः जोर देना चाहूँगा कि न केवल रंगमंच के संबंध में वरन् काव्य के इस मङ्गलमय और परम शिव-सुंदर पक्ष के उत्थान-पतन में भी समाज के आर्थिक और सांस्कृतिक उत्थान-पतन का इतिहास छिपा रहता है। आज यदि हिन्दी-रंगमंच की दशा शोचनीय है, तो इसका कारण आज की सांस्कृतिक और सामाजिक रुचि और आर्थिक व्यवस्था में ढूँढ़ना पड़ेगा।

हिन्दी-रंगमंच के जिस प्रादुर्भाव की चर्चा मैंने भारतेन्दुकालीन नाटकों के रचना-प्रसंग में ऊपर उठायी थी उस पर विचार करने के पूर्व तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर थोड़े में विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। ऐसा करते समय स्वभावतः दो बातों की ओर ध्यान जाता है। १८५७ की राज्यक्रांति के बाद ही भारतेन्दु-युग का प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु-युग के प्रारम्भ और ५७ की क्रांति की असफलता के बीच की अवधि को विदेशी शासन ने न केवल शोषण और दमन में लगाया था वरन् राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ करने में भी उसका उपयोग किया था। अंग्रेजी शासन की व्यवस्था-नीति ने पराजित भारतीयों के मन में जहाँ एक ओर आतंक बना रखा था वहाँ सुख और शांति की झलक भी दिखाई थी। भले ही वह आगे चलकर मृग मरीचिका ही सिद्ध हुई हो पर उसने भारतीय समाज के एक अंग को आकृष्ट किया, इसमें संदेह नहीं। देश में राष्ट्रीय स्तर का कोई नेता नहीं था। जो नेतृत्व करने की क्षमता रखते थे वे क्रांति में काम आ चुके थे। देश की मानसिक अवस्था प्रायः छिन्न हो चुकी थी। देश भूख की ज्वाला में जीर्ण-शीर्ण हो रहा था। राष्ट्रीय व्यवसाय नष्ट किया जा रहा था। लोग अंग्रेजी शासन को ही अवलम्ब समझने के लिए बाध्य हो रहे थे। पर इस सब के होते हुए भी यह कहना भूल होगी कि देश में ऐसा कोई वर्ग ही न था जो पराधीनता के इन बन्धनों का, उसके भावी कुफलों का अनुभव और कल्पना ही न कर रहा हो। देश की इस छिन्न-भिन्न मानसिक अवस्था

दिया था कि नाटक और रंगमंचों का विधान अन्योन्याश्रित है और इनमें देशकाल और पात्र के प्रति दृष्टि रखकर ही सफलता पाई जा सकती है। उन्होंने लिखा था कि 'प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है'। फिर भी उस युग के नाटकों में प्रस्तावना का विधान करके तत्कालीन हिन्दी-रंगमंच को सूत्रधार और नटी दी गयी और इसे उस समय के समाज ने रुचि के साथ ग्रहण भी किया। इसमें सन्देह नहीं कि आज की वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाव में इनके सहारे नाटकों की विषयवस्तु, लेखकों का परिचय और नाटक की योजना जानने में सुविधा हुई होगी।

तत्कालीन रंगमंच पर यवनिका के साथ-साथ विभिन्न दृश्यों के प्रदर्शन के लिए पट-परिवर्तन की आवश्यकता सामयिक मानी गयी थी और तदनुसार यवनिका के पीछे ५ या ६ पर्दों का विधान किया गया था। ये पट या तो प्रत्येक अंक के प्रारम्भिक दृश्य को प्रदर्शित करते थे या कम अंकों के रहने पर गर्भांकों के दृश्य भी उपस्थित करते थे। उदाहरण के लिए, समस्त 'विद्यासुन्दर' नाटक केवल ६ दृश्यों में लिखा गया है और उसके लिए ६ पर्दों की ही आवश्यकता पड़ती है। कुछ दृश्य अंकों के प्रारम्भ में और कुछ गर्भांकों के साथ परिवर्तित होते हैं। यद्यपि यह दृश्य विधान और उनके परिवर्तन की आवश्यकता महँगी व्यवस्था थी पर राजभवन का दृश्य किसी भी नाटक के राजभवन का काम करता था। नदी, नाले, पर्वतों का दृश्य सभी जगह समान था। इस प्रकार थोड़े से पर्दों को जुटा लेने पर नाटक खेलने का काम चल जाता था।

पर एक बड़ी कठिनाई स्त्री-पात्रों की थी। स्त्री-पात्रों के अभाव में पुरुषों और मुखाकों से काम चलाना पड़ता था। पर इन सब के होते हुए भी नाटकों में कुछ अस्वाभाविकता तो आ ही जाती थी। ऐसा बात नहीं कि उन दिनों इस कठिनाई का अनुभव ही न किया गया हो अथवा इसकी आवश्यकता ही न समझी गयी हो। पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि उसे देखते हुए इसपर अधिक जोर नहीं दिया जा सका। इसका एक और भी कारण था। रंगमंच पर अभिनेताओं की आवश्यकता होती है, वास्तविक कलाकारों की आवश्यकता होती है, न कि पात्रों के भीड़ की। स्त्री की भूमिका में स्त्री और पुरुष की भूमिका में पुरुष को उपस्थित कर देने मात्र से रंगमंच की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। रंगमंच सर्वेव से अपेक्षा करता रहा है अभिनय की, अभिनेताओं की और कलाकारों की जो अभिनय कर सकते हैं। यह अपेक्षा रंगमंच की शाश्वत अपेक्षा है और नाटक जब तक नाटक रहेंगे और रंगमंच पर अभिनीत होते रहेंगे, यह अपेक्षा, यह आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। अभिनय पक्ष को सबल बनाकर रंगमंच की बहुत सी कठिनाइयाँ दूर की जाती रहीं और सफलतापूर्वक प्रेक्षागृह में उपस्थित सामाजिकों के मन में रस का उद्रेक किया जाता रहा। रंगमंच पर घोड़े-हाथी नहीं लाए जा सकते थे। कल्पना की बात मैं नहीं कहता पर आज भी प्रायः यह असम्भव है। आज भी इनकी उपस्थिति का परिचय दूसरे प्रकार से ही दिया जाता है पर संस्कृत नाट्यग्रन्थों में इन सब की विशेष मुद्राएँ दी हुई हैं और उनकी सहायता से दर्शकों को सहज ही यह कल्पना करायी जाती थी कि अभिनेता रंगमंच पर पैदल नहीं चल रहा है वरन् घोड़े पर सवार आ रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसी परिस्थितियों में अभिनय पक्ष को सबल करना ही पड़ता है और इसके लिए सफल अभिनेताओं की आवश्यकता पड़ती है। अभिनय के [illegible] के सफल होने पर बहुत से समस्याओं की प्रतीति रंगमंच पर हो सकती

है। तत्कालीन रंगमंच ऐसा करने में कुछ हद तक कृतकार्य हुआ था, यह कोई कल्पना नहीं है; भारतेन्दुकालीन रंगमंच पर सफल अभिनेता काम कर रहे थे इसे बताने के लिए केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि उस युग की देन अपने अवशेष रूप में काशी के नागरी नाटक और भारतेन्दु नाटक मंडलियों में आज भी देखी जा सकती है। उस परम्परा के अभिनेता काशी में आज भी जीवित हैं। तत्कालीन रंगमंच पर जैसी सामग्रियों का उपयोग होता था, [illegible] वह आज भी काशी के ठठेरी बाजार में स्थित बाबू [illegible] में देखा जा सकता है; नाम लेना शायद अप्रासंगिक होगा पर भारतेन्दुयुगीन रंगमंच [illegible] अभिनेताओं की परम्परा काशी में आज भी अक्षुण्ण है और कई ऐसे व्यावसायिक अभिनेता जीवित हैं जो [illegible] तम हिन्दी रंगमंच की भी शोभा बढ़ाने की क्षमता रखते हैं।

एक बात और कहना चाहता हूँ। शायद उसके बिना तत्कालीन रंगमंच पर मेरी टिप्पणी पूर्ण न होगा। मेरा तात्पर्य विदूषक से है। विदूषक भारतेन्दुकालीन हिन्दी-रंगमंच की एक विशेषता थी। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह नाटक का अनिवार्य अंग था। भारतेन्दु ने स्वयं इसकी सहज आवश्यकता को भ्रम मात्र माना है। वह और अन्य [illegible] नाटकों में इसकी आवश्यकता ही नहीं समझते थे और उसका विधान [illegible] थे। पर [illegible] है कि उस युग में रंगमंच का यह अभिन्न अंग था। विदूषक का अभिनय भी साधारण अभिनय नहीं माना जाता था। सच तो यह है कि क्या विदूषक का अभिनय, क्या [illegible] का अभिनय और क्या अन्य पात्रों का अभिनय सभी दृष्टियों से उस युग के हिन्दी-रंगमंच पर अभिनय [illegible] थी और तत्कालीन रंगमंच पर न केवल [illegible] भी अभिनय में रुचि रखते थे और रंगमंच की शोभा बढ़ाते रहते थे।

संक्षेप में हिन्दी-रंगमंच के विकास का प्रथम चरण यहीं से प्रारम्भ होता है। यह विकासक्रम इन्हीं पर्दों वाले रंगमंच से, जिस पर द्विजेन्द्रलाल राय के अनूदित नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी के मौलिक नाटकों का अभिनय मेरठ, मथुरा, लखनऊ, काशी और प्रयाग में नाटक-मंडलियों द्वारा (जिनमें कुछ व्यावसायिक भी हुईं) होता रहा, और इस प्रकार हिन्दी-रंगमंच का विकास-क्रम आगे बढ़कर प्रसाद के नाटकों तक आया। (यहाँ तक कि कुछ आधुनिक नाटककारों के नाटकों में भी पर्दों की ही व्यवस्था देखी जाती है जैसे [illegible]।) पर अब तक दृश्य-विधान की ओर लोगों का ध्यान जा चुका था और नाटककार भी [illegible] रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखने के लिए प्रेरित हो रहे थे। यह कहना कठिन है कि रंगमंच की सुविधा का नारा बुलंद करने के कारण नाटक-रचना पर कुठाराघात हुआ अथवा [illegible] नाटकों की कमी के कारण रंगमंच ही समाप्त प्राय हो गया पर इतना सही है कि आज दिन कुछ इनी-गिनी संस्थाओं के अतिरिक्त, जो यदाकदा एकाध नाटकों का रंगमंच पर प्रदर्शन कर अपनी क्रियाशीलता, उद्यम और सफलता के प्रचार का संतोष कर लेती हैं, कोई व्यावसायिक संस्था नहीं रह गई। जो अभिनेता हिन्दी-रंगमंच के व्यावसायिक [illegible] के रूप में आए वे कीर्ति की दृष्टि से अमर होते हुए भी शरीर से नष्ट हुए और उनकी परम्परा अधिक दिन तक न चल सकी। आज अच्छे अभिनेताओं का नितांत अभाव है। जो बचे हैं वे भी नाटकों के [illegible] में ही अपनी कला की इतिश्री समझने लगे हैं। पर केवल इतना ही मान लेना भी गलत

से मुख मोड़ना होगा। नाटककारों का दोष कम नहीं। आज का नाटककार अभी भी प्रकाशकों और पाठ्यक्रमों के लिए नाटक लिख रहा है, क्योंकि उनके नाटकों का अभिनय करने वाली संस्थाएँ नहीं रह गईं और जो लोग अभिनय करते भी हैं वे नाटककारों को इसका कोई मूल्य, इसकी कोई निश्चित राशि नहीं देते। अगर अब में एकाध बार कहीं से कोई सचेत और सुबुद्ध संस्था है भी है तो उसमें नाटककारों का प्रवेश नहीं करने का। अतः उनके परिश्रम का मूल्य रंगमंचों से नहीं, प्रकाशकों से ही अधिक मिलता है। ऐसी दशा में अगर वे रंगमंच की उपेक्षा करते हैं तो बात कुछ हद तक समझ में आती है। पर आगे विचार करने के पूर्व यह भी देख लेना चाहिए कि भारत के मंच में विकासशील प्रवृत्तियाँ क्या हैं। तभी हिन्दी-रंगमंच की, इस दृष्टि से आज क्या स्थिति है, स्पष्ट हो सकेगी। रंगमंच का विकास, यह माना जा रहा है कि, ऐसा होना चाहिए जो उन नाटकों का अभिनय सम्भव कर सके, जिनके द्वारा समय के गूढ़तम विचारों की उद्भावना हो सकती हो और जो हमारे संवेगों को उद्वेलित करने में सक्षम हों। यह कठिन कार्य है। दूसरी ओर से देखें तो रंगमंच हमारी उन कलात्मक युक्तियों की अपेक्षा करता है जिनसे वे नाटकीय परि-स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जो दृश्य और रंगमंच को जन्म देती चली जा सकती हैं। भारत में तो कहीं अन्यत्र भी इन कलात्मक युक्तियों का सम्पादन करने वाले उपकरण उत्पन्न हुए हैं और आज भी वर्तमान हैं। मैं पहले भी इस ओर संकेत कर चुका हूँ और यहाँ भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आवश्यकता केवल इस बात की नहीं है कि हमारे पास सजे-सजाए प्रेक्षागृह हों, परिधान और आभूषण हों और कुछ प्रकाश-यन्त्र और सवारियाँ हों। वस्तुतः हमें आवश्यकता ऐसे नाटकों की है जो हमारी अभिनय-वृत्ति को प्रेरणा देने वाले हों। अन्य भाषाओं की बात मैं नहीं कहना चाहता पर हिन्दी में इस दृष्टि से साहित्यिक गुटबन्दियों ने रंगमंच के विकास में पर्याप्त बाधा डाली है। साहित्यिक संस्थाओं ने गुटों का रूप धारण कर लिया और सामान्य ख्याति के अवसर में कला की सूक्ष्मभूमियों का दमन किया गया। ख्यातिप्राप्ति की होड़ में अभिनय-सम्पादन आदि के प्रबन्ध ढूँढ़ने लगे और इस प्रकार वास्तविक अभिनेताओं के स्थान पर नौसिखुओं ने यह कार्य सँभाला जाने लगा। भले ही इस प्रतिस्पर्धा की भावना ने कुछ नए कलाकारों को जन्म दिया हो पर हिन्दी-रंगमंच का विकास अवरुद्ध हुआ, यह मानना पड़ेगा। अतः हिन्दी-रंग-मंच की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे नाटकों को प्रस्तुत किया जाय जो हद दर्जे तक अभिनेय हों और उसी ही सीमा तक साहित्यिक कलाकृति भी हों। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विभिन्न कलाओं का सामाजिक मूल्यांकन और प्रतिष्ठा शासन की ओर से भी की गई, यह हर्ष की बात थी। कलाओं में भी ललित कला और रंगमंच की ओर शासन का ध्यान विशेष रूप से और सर्वप्रथम गया। विभिन्न राज्य-सरकारों की ओर से जो कुछ भी हो रहा है वह हमें हमारा राष्ट्रीय रंगमंच दे सकेगा अथवा नहीं इस पर मत प्रकट करना न तो इष्ट है और न प्रासंगिक। पर इतना कहना आवश्यक है कि इन प्रयत्नों से गुटबन्दियाँ ढीली हुई हैं और कलात्मक रंगमंच, अभिनय कला, और कलापूर्ण साहित्यिक नाटकों की खोज प्रारम्भ हो गई है। इस खोज ने नाटककारों को भी वास्तविकता से परिचित कराया है, अपने नाटकों की कला का मूल्यांकन करने के लिए उन्हें प्रेरित किया है और उन्हें फिर से अपनी कृतियों पर सोचने के लिए बाध्य किया है। यह ऊहापोह नवीन कलाकृतियों को जन्म देने में पूरी तरह तो समर्थ नहीं हुआ है पर उन्हें नए

प्रयत्न का ओर फिर से प्रेरित किया है। इसका एक और भी सुफल हुआ है। लोगों को इस बात की अनुभूति हुई है कि नाटक और उसका अभिनय अत्यन्त साधारण परिस्थितियों में भी प्रस्तुत करने पर प्रभावशाली हो सकता है, अगर नाटक विचारों को प्रेरणा देने वाला, अभिनय कला की पूरी सम्भावनाओं से ओत-प्रोत वास्तविक कलाकृति है तथा उसके प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता सचमुच अभिनय की प्रतिष्ठा को जानते-पहचानते हैं। पर इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी यदि हिन्दी-रंगमंच भारतेन्दुकालीन रंगमंच के बहुत आगे न बढ़ सका और वहीं का हटाकर केवल दृश्य-विधान ही प्रस्तुत कर सका तो इसमें अधिक दोष हमारे [illegible] का ही है। मनोरंजन के लिए व्याकुल समाज का परितोष करने के लिए कलाविहीनों [illegible] व्यवसायियों को अनवरुद्ध छोड़ देना सदा ही सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न करता है और उसके कुपरिणाम आवश्यकता से अधिक स्पष्ट हो रहे हैं। केवल मनोरंजन की भूख शान्त करके समाज जीवित नहीं रह सकता, उसके सामाजिक मूल्य सुरक्षित नहीं रह सकते वह विकासोन्मुख नहीं हो सकता, उसमें थियेटर आदि का आस्वाद नहीं आ सकता और चलचित्र मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ दे भी नहीं सकता। मनोरंजन की भावना से [illegible] समुदाय की तृप्ति केवल मनोरंजन से नहीं हो सकती। इस भावना को और भी [illegible] करना है। साधारण समाज इसकी विवेचना करने में भले ही समर्थ न हो और शायद भी नहीं पर उसकी वास्तविक तृप्ति ऐसी कलाकृतियों के प्रस्तुत करने पर ही हो सकती है जिनमें उसकी भावनाओं के परिष्कार और संवेगों को प्रभावित करने की क्षमता हो। यदि हम समाज को ऐसे नाटक न दे सकें जो दर्शक में रसोद्रेक के साथ-साथ भाव-परिष्कार और आधुनिक युग की समस्याओं की वास्तविकता का सहज दर्शन कराने में समर्थ हों तो इसका जो स्वाभाविक परिणाम होगा वह कल्पना के परे नहीं है। इसके लिए केवल इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम अपने [illegible] नए दृश्य विधानों के साथ प्रस्तुत करते रहें वरन् जरूरत है उन नए दृष्टिकोण से लिखे गए ऐसे नाटकों की जो हमें वर्तमान की वास्तविकता का, भावी के रूप का, और पुरातन की व्याख्या का एक साथ उतनी ही सच्चाई से अनुभूति करा सकें जितनी सच्चाई से लेखक और अभिनेता कर रहे हैं। जब तक लेखक, अभिनेता और दर्शक समान भाव-भूमि पर आकर [illegible] का अनुभव करने में असमर्थ रहते हैं तब तक प्रेक्षागृह और दृश्यविधान की [illegible] सफलता प्रदान नहीं कर सकती। रंगमंच को हमें केवल मनोरंजनगृह नहीं बनाना है। केवल मनोरंजनगृह बनाने की धुन में चलचित्रगृह सदैव ही रंगमंच से आगे रहेंगे। रंगमंच को यदि विकसित करना है यदि उसे जीवित रखना है, तो निश्चय ही उसे ऐसी शक्तिशाली सत्ता के रूप में रखना होगा जो मनोरंजन से आगे बढ़कर जीवन की विकृति और युग की समस्याओं पर विचार कर सके और आत्मा की उस अतृप्त भूख को मिटा सके जो प्रायः अपने आप स्पष्ट नहीं हुआ करती। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अभी भी हिन्दी-रंगमंच के सम्बन्ध में बात करने पर अधिकांश लोग जीवन का यथातथ्य चित्रण करने वाले नाटकों और दृश्यों की आवश्यकता पर ही जोर देते दिखाई देते हैं। इस सम्बन्ध में एक अंग्रेजी का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा। यह उद्धरण अलडाइस निकल की पुस्तक 'दि डेवलपमेंट आफ दि थियेटर' से दे रहा हूँ।

"Already the experiences gained by actors in England during the war years showed clearly that the old pattern of the realistic play was inadequate to express the emotions of the time. In America, which did not feel the full impact of war, tattered relics of this realism remain, but in England the havoc caused by war, and the passion resultant, were too great to find release within the constructing walls of a domestic interior; and because the dramatists were otherwise busied with national duties, or as yet unapt to assume the challenge, it is not surprising that many among the successes of the war years were poetic tragedies culled from the past. Even in the recesses of Welsh mining villages Dame Sybil Thorndike discovered eager audiences for Macbeth and Medea. Ibsen's middle style may have been adequate to express the narrow interests of a doll's house, but when the very houses themselves rumbled ominously into ruin something larger was imperiously demanded."

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह 'realistic theatre' इंग्लैण्ड में कब का समाप्त हो चुका। मैं यह नहीं कहना चाहता कि बिना उन अनुभूतियों के हुए, जिनके कारण यह रंगमंच इंग्लैण्ड में समाप्त हुआ, भारत में भी और विशेषकर हिन्दी के लेखक भी केवल वहाँ की नकल पर अपने अनुभवों को बदल दें। पर यह मानना कि आज भी हम भावनाओं के क्षेत्र में, अनुभूतियों के क्षेत्र में, राष्ट्रीय सीमाओं से घिरे रह सकते हैं, अपने को अंधकूप में डाले रहने जैसी बात होगी। एक और उदाहरण देना चाहता हूँ। अमेरिका के एक बहुत बड़े 'दृश्य विन्यासक'[1] (Scene Designer) राबर्ट एडमंड जोन्स ने लिखा है :—

"The theatre we grew up in, is dwindling and shrinking away, and presently it will be forgotten. It is essentially a prose theatre and of late it has become increasingly a theatre of journalism. The quality of legend is almost completely absent from contemporary plays......Of late years realism in the theatre has become more and more closely bound up with the idea of the 'stage picture'. But now it would seem that this idea is to be done away with once and for all. The current conception of stage scenery as a more or less accurate representation of an actual scene—organised and symplified, to be sure, but still essentially a representation—is giving way to another conception of something far less actual and tangible. It is a truism of theatrical history that stage pictures become important only in periods of low dramatic vitality. Great dramas do not need to be illustrated or explained or embroidered

The we have had realistic stage 'sets' for so long is that

few of the dramas of our time have been vital enough to be able to dispense with them......Actually the best thing that could happen to our theatre at this very moment would be for playwrights and actors and directors to be handed a bare stage on which no scenery could be placed, and there they should be told that they must write and act and direct for this stage. In no time we should have the most exciting theatre in the world."

भारतेन्दुकालीन जिस रंगमंच की चर्चा ऊपर कर आया हूँ वह [illegible] का रंगमंच था जब हिन्दी में नाटक की प्रवृत्ति उभार पर थी। वह low dramatic vitality का युग नहीं था। आज उसका उलटा हो गया है। हिन्दी-रंगमंच के पास कुछ भी अभिनेता नहीं हैं, नाटक नहीं है और निर्देशक नहीं है। हिन्दी-रंगमंच के जिस प्रारम्भिक रूप का वर्णन ऊपर किया जा चुका है वह अब तक की प्रगति में किन शक्तियों से अछूता है [illegible] शायद उसके लिए यह अवसर नहीं।

जाति-विलास की प्रामाणिकता

श्री लक्ष्मीधर मालवीय

मैंने "रस विलास" के पाठ-संपादन में "जाति विलास" शीर्षक की नीलगांव एवं गंधोली से प्राप्त (भूमिका में क्रमश: नी० तथा गंजा० संज्ञा से अभिहित) जिन दो प्रतियों का उपयोग किया है उनके अतिरिक्त "जाति विलास" शीर्षक की केवल कुछ ही अन्य प्रतियाँ अब तक प्राप्त हुई हैं। यद्यपि इन सभी प्रतियों का विस्तृत परिचय हमने "रस विलास" की प्रतियों के साथ दे दिया है फिर भी यहाँ इतना स्मरण दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि "जाति विलास" शीर्षक से प्राप्त इन प्रतियों में केवल नी० तथा गंजा० प्रतियाँ संवत् १९४२-४३ के निकट प्रतिलिपि होने के कारण कुछ प्राचीन हैं एवं नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिंदुस्तानी एकेडेमी में संग्रहीत इसकी अन्य प्रतियाँ गंजा० प्रति से संवत् १९७७ के बाद प्रतिलिपि होने के कारण केवल साधारण महत्व की सामान्य प्रतिलिपियाँ हैं। गंजा० प्रति में "रस विलास" की गंधोली की गं० प्रति से तथा अन्यान्य प्रतियों से पाठ-मिश्रण तथा प्रतिलिपिकार द्वारा अत्यधिक पाठ-संशोधन हुआ है अत: इस प्रति में अपनी आदर्श प्रति का पाठ भी सुरक्षित रह सकने की बहुत कम आशा है। इसके विपरीत नी० प्रति में अन्य स्रोतों से पाठ-मिश्रण नहीं हुआ है, इस कारण गंजा० प्रति की तुलना से यह प्रति "जाति विलास" शीर्षक प्रतियों की परम्परा का यथासंभव शुद्धतम पाठ देती है। इसी कारण हमने "रस विलास" के पाठ-संपादन में इस प्रति का उपयोग किया है तथा इसी कारण यह प्रति "जाति विलास" के सम्बन्ध में किसी संगत निष्कर्ष तक पहुँचने में सर्वाधिक सहायक हो सकती है।

"जाति विलास" शीर्षक की नी० प्रति सहित सभी प्रतियाँ "केरल वधू" ५ : ४७ वें छंद से आगे खंडित हैं यद्यपि पंचम विलास में देश-भेद का विषय-प्रवर्तन करते हुए कवि देव ने जिन देशों की सूची दी उसके अनुसार केरल वधू से आगे, द्राविड़, तिलंग आदि वधुओं का भी वर्णन होना चाहिए। इस सूची में विज्ञापित सभी देश-भेद "रस विलास" में मिलते हैं। ग्रंथ का "जाति-विलास" नाम नी० प्रति में केवल प्रति के प्रारंभ में मिलता है "अथ जाति विलास लिख्यते---" यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इस प्रति में विभिन्न विलासों के अन्त में जो पुष्पिकाएँ हैं उनमें भी ग्रंथ-नाम नहीं दिया है यद्यपि रीतिकालीन अन्य कवियों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार देव के सभी ग्रंथों में नियमबद्ध रूप से प्रत्येक विलास अथवा अध्याय के अन्त में ग्रन्थ एवं उसके रचयिता का नाम और यदि ग्रन्थ किसी को समर्पित है तो उस आश्रयदाता का नाम अवश्य मिलता है। नी० प्रति के विपरीत गंजा० प्रति (तथा उसकी सभी प्रतिलिपियों) के प्रथम, द्वितीय आदि प्रत्येक विलास के अन्त की पुष्पिका में कवि देव का नाम भी मिलता है। आश्रयदाता का नाम नी० सहित किसी प्रति में नहीं है क्योंकि यह ग्रन्थ देव कवि ने किसी को समर्पित नहीं किया है। पंचमी के

जिन स्वर्गीय श्री युगलकिशोर मिश्र के परिवार के सौजन्य से यह प्रति प्राप्त हुई है, उस परिवार में कई पीढ़ियों से कवि तथा काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् होते आए हैं। [illegible] किसी काव्य-रीति से परिचित विद्वान् ने प्रति के आदि में 'जाति विलास' नाम लिखकर कवि नाम तथा देव का नाम सभी विलासों के अन्त की पुष्पिका में भी दे दिया है।

"जाति विलास" के इस भिन्न नाम से भ्रमित होकर अब तक के विद्वान् इसे 'रस विलास' से पृथक्, देवकृत स्वतंत्र ग्रंथ मानते आए हैं यद्यपि किसी ने "जाति विलास" को स्वतंत्र ग्रंथ मानने का कोई भी कारण नहीं दिया है। आश्चर्य है कि इस ग्रंथ 'जाति विलास' को पृथक् एवं स्वतंत्र ग्रंथ मान लेने के कारण अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ की रचना के सम्बन्ध में कई तरह की विचित्र कल्पनाएँ भी की हैं। उदाहरण के लिए, श्री मिश्रबंधुओं का अनुमान है कि "जाति विलास" देव की देशव्यापी यात्रा का परिणाम है--

"इस समय देव जी अच्छे गुणग्राहक की खोज में, प्रायः [illegible] देश भर में बराबर घूमते रहे। यह महाराज जहाँ गये वहाँ के मनुष्यों की चाल-व्यवहार, रीति-रिवाज और अन्यान्य दर्शनीय पदार्थों पर पूरा ध्यान देते रहे। जान पड़ता है उन्होंने कश्मीर, पंजाब, बनारस, [illegible], मदरास, बम्बई, गुजरात, राजपूताना, बंगाल आदि सब देशों को खूब घूम-घूम कर देखा। इस महाकवि ने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अपूर्व ज्ञान को वृथा नहीं खोया, वरन् अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया है। "जाति विलास" नामक ग्रंथ में आपने प्रायः सब देशों की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। इन महाकवि ने इन सब देशों की स्त्रियों का ऐसा सच्चा वर्णन किया है कि जान पड़ता है कि वहाँ यह अवश्य गये थे। इस समय इनका कोई भी आश्रयदाता न था, यहाँ तक कि इन्होंने "जाति विलास" किसी को भी समर्पित नहीं किया।"

—'हिन्दी नवरत्न' पृ० २६३

इसमें सन्देह नहीं कि जाति-भेद का यह वर्णन कवि देव की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है परन्तु इस चित्रण में ऐसी कोई विशेषता नहीं मिलती जिसे देखकर यह स्वीकार करना पड़े कि उस प्रदेश में स्वयं जाए बिना कवि ऐसा सच्चा वर्णन नहीं कर सकता था। ध्यान से देखने पर इस वर्णन में प्रदेश के स्थानीय वातावरण (local colour) का अभाव स्पष्ट होता है। मैं केवल एक उदाहरण देता हूँ, देखें, क्या इस सुन्दर कोंकण देश की वधू के चित्रण में कोई ऐसी विशेषता है जिसका वर्णन कवि उस प्रदेश में आए बिना नहीं कर सकता था।

गोरी गजराज गति गुननि गहीर मति भारे भाग भरी [illegible]।
आलिंगन चुंबन अधर पान नखदान मान भी [illegible]।
जानै रीति जी की पहिचानै प्रीति नीकी मुख [illegible]।
केसरि करै न सरि को कनक जाकी दरि कोंकनदेस की नारि [illegible]।

—'रस विलास' [illegible]

इसी प्रकार देश-भेद के अन्य उदाहरणों में भी, काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार कवि की दृष्टि नारी के रूप-लावण्य पर पहुँच जाती है, प्रदेश के आधार पर विभाजन तो प्रायः केवल नाम लेने भर को, गौण रूप में किया है।

आश्चर्य है कि देव की रचनाओं पर प्रथम बार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने भी देव की देशव्यापी यात्रा के उपर्युक्त काल्पनिक मत का विस्तार कर यह भी मान लिया है कि देव को इस यात्रा में कम से कम १५ वर्ष लगे होंगे–

"जैसा कि सभी पंडितों का मत है–जाति विलास एक देशव्यापी यात्रा के फलस्वरूप लिखा गया है। यह यात्रा काफी लंबी थी और दस-पन्द्रह वर्षों में अवश्य समाप्त हुई होगी। अतएव, संभवतः संवत् १७६५ के लगभग राजा कुशल सिंह के आश्रय से किसी कारण विमुख होकर देव देशाटन के लिये चल पड़े होंगे। इस यात्रा में देव ने समस्त भारत में पर्यटन किया और वहाँ के सौंदर्य का, सौंदर्य से तात्पर्य उस समय केवल नारी-सौंदर्य का ही था, अवलोकन किया।"—— "देव और उनकी कविता"——पृ० ४९

परन्तु "जाति विलस" प्रति की "रस विलास" के साथ तुलना करने से, प्रतियों के प्रतिलिपि-सम्बन्ध के अपेक्षाकृत शुष्क साक्ष्य को छोड़ देने पर भी, केवल समान छंदों की स्थिति ही स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में "जातिविलास" की पृथक् सत्ता के विरुद्ध सबसे सशक्त प्रमाण है। "जाति-विलास" की प्रति में कुछ अधिक छंदों को छोड़कर "रस विलास" के ५ : ४७ संख्या तक के सभी छंद समान हैं। इस तथ्य से मिश्रबंधु भी अवगत हैं–"हमारी कापी में केरल वधू तक का वर्णन लिखा है। उसके आगे पुस्तक अपूर्ण है——जहाँ तक ग्रंथ हमारे पास है वहाँ तक इसकी रचना रस विलास से बहुत कुछ मिलती है, यहाँ तक कि दोनों ग्रंथों में प्रति सैकड़े नब्बे छंद एक ही हैं——"हिन्दी नवरत्न" और डा० नगेन्द्र भी इस सत्य से अपरिचित नहीं हैं——"वास्तव में रस विलास को जाति विलास का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण कहना चाहिए। जाति विलास और भवानी विलास की अपेक्षा उनमें इतने कम नवीन छंद हैं कि उनकी रचना में कवि को बहुत ही थोड़ा समय लगा होगा।"—"देव और उनकी कविता" पृ० ४८

"जाति विलास" शीर्षक प्रतियों के केवल इन थोड़े से अधिक छन्दों के कारण "जाति-विलास" को स्वतन्त्र ग्रंथ माना गया है यद्यपि किसी विद्वान् ने यह कारण नहीं दिया है परन्तु "जाति विलास" प्रति में "रस विलास" से इतनी समानता देखते हुए भी इसे पृथक् ग्रंथ मानने का दूसरा और क्या कारण हो सकता है?

"जाति विलास" शीर्षक प्रति में "रस विलास" से जहाँ तक छंद समान हैं, उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है अतः हम केवल "जाति विलास" शीर्षक प्रति के अधिक छंदों पर यहाँ विचार करेंगे। इस समूह की प्रतियों में अधिक छंद नगर नागरी भेद के अन्तर्गत "रस विलास" ५ : ५ से आगे मिलते हैं। नगर नागरी भेद के ये छंद "रस विलास" के अतिरिक्त देवकृत "सुख-सागर तरंग" में भी मिलते हैं। स्मरण रहे कि इस "सुखसागर तरंग" ग्रंथ के कविकृत दो सस्करण हैं। एक, जो सिहानी के अली अकबर खाँ को समर्पित है, इस लेख में सुसा० (अली०) संकेत से तथा दूसरा, जो महाराज जसवंत सिंह के नाम समर्पित है, इस लेख में सुसा० (जस०) संकेत से उल्लिखित है। "जाति विलास" शीर्षक प्रतियों, "रस विलास", सुसा० (जस०) एवं सुसा० (अली०) ग्रंथों में इस प्रसंग के सभी छंदों की प्रतीक-सूची प्रत्येक ग्रंथ में छंद के स्थान निर्देश-सहित इस प्रकार है–

नगर-नागरी

"जाति विलास" शीर्षक प्रतियाँ		"रस विलास" सुसा० (भक्त०)	सुसा० (अकी०)	
जौहरिनी	"सींची सुधा"	वही २:७	वही १०७	वही [illegible]
छीपिनि	"सोने से"	वही २:८	वही १०८	वही [illegible]
कसहेरिन	"वेला यही"			
सुनारि	"देव दिखावत"	वही २:१०	वही ११०	वही [illegible]
हलवाइन	"मीठे महामृदु"	वही २:१४	वही ११३	वही [illegible]
बनैनी	"मदन के मोद"	वही २:१५	वही ११४	वही [illegible]
पटविन	"रेसम के गुन"	वही २:६	वही १०६	वही २६४
पसारिन	"पीपरी सुपारी"			
गंधिन	"अरगजे भीजी"	वही २:११	वही ११६	वही [illegible]
मालिन	"बीनत फिरत फूल"	वही २:१६		वही [illegible]
तमोलिन	"रंगित चोली तें"	वही २:१३	वही ११२	वही २६८
बढ़इन	"बंक निहारनि"		"भौंहैं अनूठे अंगनि ११७"	वही [illegible]
लुहारि	"लागी तचावन"		"लहकै जोबन" ११८	वही [illegible]
दरजिन	"अंतर पैठि"	वही २:१७	वही ११६	वही २७२
तैलिन	"तिल है अमोल"	वही २:१२	वही ११[illegible]	वही [illegible]
कुम्हारि	"चंदमुखी मूरि"	वही २:१६	वही ११५	वही २७१
भरभूजिन	"सांवरे अंग लसै"		"बिरह अगार्नि १२१"	
चुरहेरिन	"हाटक कलासी"			
धुनिन	"पीतम पास कपास"			
जुलाहिन	"लाज जजीरन"		"बावरी भौंहनि" १११	वही [illegible]
कटेरिन	"जीति लियो सिगरो"			
खटकिन	"मोहत हजारन"			
भठियारी	"चाउ परै भठियारी"			
सिकलीगरनि	"चित चोरति सी"			
चूहरी	"चीकने कपोल"	वही २:१८	वही १२४	वही [illegible]
चमारि	"जोबन जोम से"		"मोतिन रचित पीठी" १२०	वही [illegible]
गनिका	"घाट उघाट"	वही २:१९	वही १२५ कमहेरिन "बोली	वही [illegible]

	मे कटाछनि'' १२१	
	कुंजरी "कुंजरी ऊजरी नाक"	यही २७३
	मनिहारि "मानें नहीं मनुहारि" १२३	
नोट:— "रस बिलास तथा नी० गंजा० प्रतियों में ये छंद परस्पर स्वतंत्र क्रम से आए हैं।	नोट:— दरजिन उदाहरण छंद तक "रस बिलास" एवं "सुजा० (जस०) में छंदों का क्रम समान है। इससे आगे के अन्य उदाहरण सुजा० (जस०) तथा सुजा० (अली०) में समान है परन्तु नी०गंजा० प्रतियों के अन्य उदाहरण छंद अन्य कहीं नहीं मिलते।	नोट:— सुजा० (जस०) तथा सुजा० (अली०) में समान छंद एक ही क्रम से मिलते हैं।

इस तुलनात्मक प्रतीक-सूची के अनुसार "आलि बिलास" शीर्षक प्रतियों में कसहेरिन, पसारिन, चुरहेरिन, धुनिन, कटेरिन, खटकिन, भठियारी तथा सिकलीगरनि ये कुल आठ उदाहरण अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अधिक हैं एवं इन प्रतियों में बढ़इन, लुहारि, भरभूजिन, जुलाहिन तथा चमारिन के उदाहरण-छंद अन्य ग्रंथों में इन्हीं शीर्षक के अन्तर्गत आए छंद से भिन्न हैं।

इन प्रतियों में तथा "रस बिलास" में दूसरा अंतर "रस बिलास" २:१२ से आगे है, जहाँ 'आलि बिलास" शीर्षक प्रतियों में बारिन "नेह भरी नख", धोबिन "लाल सुजान की" तथा कहारि "सांवरी सांट की", ये तीन छंद अन्य ग्रंथों की अपेक्षा नए हैं। "आलि बिलास" शीर्षक प्रतियों में तथा "रस बिलास" में केवल इन्हीं सोलह छंदों का अन्तर है, २१० छन्दों की इस प्रति के शेष छंद "रस बिलास" के समान हैं।

इन अधिक छंदों के विषय में केवल दो प्रश्न विचारणीय हैं—क्या ये छन्द कवि देवकृत हैं? तथा क्या इन्हें इन प्रतियों में कवि ने रक्खा है?

में न होने के कारण प्रतिलिपिकार ने 'भाव विलास' को इन प्रतियों में प्रक्षेप किया है। 'जाति विलास' शीर्षक प्रतियों में प्रक्षेप यदि इसका आदर्श प्रति का नाम भ्रान्त होने के कारण न भी हो तो उस प्रति के खंडित होने के कारण प्रक्षेप संभव है। मैं केवल एक संभावना के रूप में इस ओर संकेत कर रहा हूं।

यदि ये प्रक्षिप्त छन्द देवकृत हैं तो उन अधिक छन्दों का प्रक्षेप कहाँ से हुआ? ऊपर दी गई तुलनात्मक तालिका से यह प्रकट है कि प्रक्षिप्त छन्दों के बढ़इन, लुहारिन जैसे कुछ ऐसे शीर्षक हैं जो "रस विलास" में न मिल कर "सुख सागर तरंग" के दोनों संस्करणों में मिलते हैं। इनमें भी सुसा० (जस०) संस्करण में सुसा० (अली०) की अपेक्षा इस प्रसंग के कुछ अधिक छन्द हैं। इसलिये "जाति विलास" शीर्षक प्रतियों के अधिक छन्द "सुख सागर तरंग" के दोनों संस्करणों से भी प्रक्षिप्त हैं और इनमें से ऐसे छन्द जो "सुख सागर तरंग" की अपेक्षा भी अधिक हैं, जाति-वर्णन विषयक देवकृत किसी अन्य ग्रंथ अथवा संग्रह से आए मालूम देते हैं। इस अन्य स्रोत की उपस्थिति हमने इसलिये मानी है क्योंकि सुसा० (जस०) संस्करण में भी कुछ ऐसे छन्द हैं जो सुसा० (अली०) में नहीं मिलते।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज रिपोर्ट में देवकृत "जाति वर्णन प्रकाश" शीर्षक ग्रंथ की सूचना है (१९२३-२५, पृष्ठ ४५८-५९) परन्तु इसे "जाति विलास" के समान देवकृत जाति-विषयक नवोपलब्ध स्वतंत्र ग्रंथ समझ कर चौंक न पड़ना चाहिए। यह "सुख सागर तरंग" की गंधौली वाली प्रति से २४६ छन्द-संख्या से ३०६ संख्या तक के जाति-विषयक अंश की प्रतिलिपि है। इस प्रति से प्रतिलिपि होने का केवल एक प्रमाण यह है कि इस तथाकथित "जाति वर्णन प्रकाश" ग्रंथ में तथा गंधौली की उपर्युक्त प्रति में "सैन्य वासिनी" के स्थान पर "सैन्यो वासिनी" शीर्षक मिलता है।

इन प्रतियों में ग्रंथ का "जाति विलास" नाम आदर्श प्रति के खंडित होने के कारण तो आया ही है परन्तु इस भ्रान्ति के उत्पन्न होने के कारण निम्नलिखित दोहा भी है—

देवल रावल राजपुर नागरि तीनि निवास।

तिनके लच्छन भेद सब बरनत जाति विलास॥—"रस विलास" १:१४

प्रतिलिपिकार ने इस दोहे का अशुद्ध अर्थ समझा कि कवि नागरी स्त्रियों का लक्षण तथा भेद इस "जाति विलास" नामक ग्रंथ में कर रहा है। फिर अपने खंडित आदर्श के अंतिम अंश, प्रथम विलास में जाति-भेद वर्णित देखकर उसकी धारणा पुष्ट हुई इसलिये उसने ग्रंथ का शीर्षक "जाति विलास" दे दिया। मेरे विचार से उपर्युक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार करना उचित नहीं है। इस दोहे में कवि ने नागरी-स्त्रियों के प्रसंग का केवल विषय-विस्तार अथवा उसके विभाजन की रूपरेखा स्पष्ट की है। कवि सर्वदा विषय-विवेचन के पूर्व उसका विभाजन करते हुए उसकी रूपरेखा देता आया है। इस प्रकार दोहे का अर्थ स्पष्ट है "देव नागरी, रावल नागरी तथा राजपुर नागरी, नागरियों के केवल ये तीन भेद हैं।" मैं उनके लक्षण तथा भेद एवं जाति-भेद के आधार पर उनका वर्णन यहां कर रहा हूं।

यही "जाति विलास" को "जाति विलास" ग्रंथ का नाम समझने की भ्रांति डा० नगेन्द्र को भी हुई है। इसी से उन्होंने अनुमान लगाया है कि "जाति विलास" की रचना "रस विलास"

को भेंट हुई। उस समय उनके पास रस विलास का एक ग्रंथ था जिसे वह भोगीलाल को समर्पित कर सकते थे। परन्तु देव सदा से अपने पूर्व-लिखित ग्रंथ के आकार में यथेष्ट वृद्धि कर तब उसे आश्रयदाता को समर्पित करते आए हैं। "प्रेम तरंग" एवं "कुशल विलास", "सुखसागर तरंग" के दो संस्करणों एवं "सुजान विनोद" की ऐसी ही आकार-वृद्धि से यह मान्यता पुष्ट होती है। तदनुसार देव ने ग्रंथ के प्रथम विलास में भोगीलाल सम्बन्धी "भूलि गए भोज और विक्रम बिसरि गए—" जैसे छंद सम्मिलित कर, प्रत्येक विलास के प्रारम्भ में आए "रानी राधा हरि सुमिरि—" दोहों के स्थान पर (जिनसे आश्रयदाता के प्रति कवि की यदि अवज्ञा नहीं तो उदासीनता प्रकट होने का भ्रम हो सकता था) उसके पहले वाले विलास के अंत में भोगीलाल के नामोल्लेख सहित एक छंद सम्मिलित कर एवं ग्रंथ के अंत में नायिकाओं के प्राचीन शास्त्रीय विभाजन का ९८ छन्दों का एक संपूर्ण अष्टम विलास जोड़ कर, यह ग्रंथ भोगीलाल को समर्पित किया।

इस द्वितीय संस्करण की प्रामाणिकता में संदेह के लिये अधिक स्थान नहीं है। "भाव-विलास" की नो० हि० प्रतियों में प्रक्षिप्त छन्दों की परीक्षा करते हुए हमने देखा है कि प्रतिलिपि-कार के अधिक से अधिक सतर्क होते हुए भी प्रक्षिप्त पाठ में कोई न कोई ऐसी असंगति अथवा न्यूनता रह जाती है जिससे पाठ-प्रक्षेप ग्रंथ के मूल-आकार से स्वयमेव अलग हो जाता है। "रस विलास" के द्वितीय संस्करण में निरूपित विषय तथा उसका काव्यिक विवेचन न प्रसंग की दृष्टि से असंगत है न उसमें कहीं अनौचित्य दिखलायी देता है। उदाहरण के लिये, ग्रंथ में विस्तार से वर्णित नायिका-भेद की आवृत्ति ग्रंथ के अष्टम विलास के रूप में किए गए पाठ-परिवर्तन में कहीं नहीं हुई है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। अष्टम विलास में मुग्धा आदि का जो भेद वर्णित है वह ग्रंथ के नायिका-भेद को और भी पूर्णता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ के पाठ में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जो कवि द्वारा इस अंश की पाठ-वृद्धि किये जाने के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मैं ऐसे केवल दो उदाहरण देता हूँ :—

कहे नायिका भेद सब आठ अंग के भाइ।
अब भेदांतर कहत हौं मत प्राचीन सुभाइ॥—"रस विलास" ८:१

× × ×

जाति-जातिनि आठ विधि आठौं अंग समर्थ।
कहे नायिका भेद मैं जोबनादि अंग सर्थ।—"रस विलास" ८:५६

उपर्युक्त दोहों में "नायिका भेद" तथा "जोबनादि—आठौं अंग" का उल्लेख चतुर्थ विलास में ८.७ से आगे हुए नायिका के अष्टांग वर्णन की ओर संकेत करता है। ग्रंथ के एक-दूसरे अंश में तारतम्य अथवा परस्पर-सम्बन्ध की ऐसी विशेषता स्वयं कवि द्वारा किये जाने पर संभव है, प्रक्षेपकार द्वारा नहीं। स्वयं कवि द्वारा इस अंश की पाठ-वृद्धि करने का दूसरा महत्वपूर्ण प्रमाण इस अंश में कवि के ऐसे अनेक लक्षण-उदाहरण छन्दों का संगत प्रसंग में प्राप्त होना है जो छन्द बेखटक किसी अन्य ग्रंथ में नहीं आए हैं।

अष्टम विलास के अतिरिक्त ग्रंथ में यत्र-तत्र हुए पाठ-परिवर्तन के भी कविकृत होने में मुझे संदेह नहीं है। ऐसे छन्दों में अधिकतर छन्द भोगीलाल से सम्बन्धित हैं। इनमें से अनेक

लोरिक-चन्दा-पँवारा में सर्प-दंश का अभिप्राय

श्री नित्यानंद तिवारी

लोरिक-चन्दा का पँवारा सम्पूर्ण भोजपुरी, मगही, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, अवधी इत्यादि प्रदेशों में गाया जाता है। और कथा के पाये जाने का संकेत गुजरात और महाराष्ट्र में भी किया गया है। मध्ययुगीन कवियों द्वारा भी यह कथा अपनाई गई थी और क्रमशः अवधी में चन्दायन, मैनासत, दक्खिनी में किस्सा मैना-सतवंती और बंगला में सती मयना ओ लोर चन्द्रानी आदि इसके विभिन्न रूप पाए जाते हैं।

अभी तक इस पँवारे के मिर्जापुर से दो (काव्योपाध्याय और विलियम क्रुक), छत्तीसगढ़ी से एक (वेरियर एल्विन),[1] आरा से एक (महादेव प्रसाद सिंह) तथा गाजीपुर से एक (प्रस्तुत लेखक द्वारा) पाठ[2] उपलब्ध हो सके हैं। गाजीपुर का पाठ ही सम्पूर्ण पाठ है। शेष खंडित कहे जा सकते हैं या यह भी कहा जा सकता है कि उन स्थानों में कथा के कुछ विशेष प्रसंगों के ही गाए जाने का प्रचलन है।

इस पँवारे के पाँच मौखिक उपलब्ध पाठों में से २ में सर्प-दंश का प्रसंग आता है, काव्योपाध्याय और विलियम क्रुक के पाठ में यह प्रसंग नहीं लिया है। चन्दायन के उपलब्ध दो पाठ और उसके बंगला अनुवाद 'सती मयना ओ लोर चन्द्रानी' में भी यह प्रसंग प्राप्त है। गाजीपुर के भोजपुरी पाठ में यह सर्प-प्रसंग दो बार और काफी विस्तार से आता है।

वेरियर एल्विन के छत्तीसगढ़ी पाठ में यह प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त है। लोरिक और चन्दा के भागने के बाद बीर बावन उनका पीछा करता है। उसे देखकर लोरिक के संकेत से पहले चन्दैनी और बाद में लोरिक भी मन्दिर में छिप जाते हैं। जब तक बीर बावन नदी पार कर पहुँचता है, वे दोनों वहाँ से काफी दूर निकल गए रहते हैं। बीर बावन लौट जाता है और लोरिक तथा चन्दा शाम को एक स्थान पर रात बिताने के लिए ठहरते हैं। चन्दा खाना बनाने के लिए आग जलाती है और थका लोरिक उसकी बगल में सो रहता है। चूल्हे से आग की एक चिनगारी सर्प बन जाती है और वह सर्प लोरिक के हाथ में डसता है। जब खाना बन जाता है चन्दैनी लोरिक को जगाती है, लेकिन वह उसे लाश के रूप में देख कर रोने-चिल्लाने लगती है। उसी समय महादेव और पार्वती भी जंगल के बीच से गुजर रहे होते हैं और उसका रोना-चिल्लाना सुन कर आते हैं तथा अपनी अंगूठी पानी में धो कर लोरिक के मुँह में रखते हैं, लोरिक फिर जी उठता है।[3]

---

१. Folk Songs of Chhattisgarh, F. V. Elvin, pp. 338-341.

२. रामसेवक यादव नामक गायक से संपूर्ण पँवारा लेखक ने लिपिबद्ध किया।

३. Folk Songs of Chhattisgarh F V Elvin pp 364

में घुस आता है लेकिन उसकी पूंछ लोरिक के नग में रह जाता है। तब नागिन लोरिक को शाप देती है कि "हमारे सिन्दुर को तुमने अगहीन किया, तुम्हें भी एक दाग देवसिया का दाग लगेगा।"[1]

इस पाठ में संवरू के ब्याह-खंड में एक और सर्प-प्रसंग आता है, जो बहुत विस्तृत है। इसमें नाग संवरू-लोरिक के जन्म की भी कथा मदैनी से कहता है। लोरिक अपनी सेना लेकर "सोना मुहलवी पाटि" के राजा रसभामर की लड़की मदैनी से संवरू का ब्याह करने के लिए 'सोमनगढ़ की घाटी' पर ठहरा हुआ है। रसभामर की उदासी (जो इसी कारण है) देख कर मदैनी सोचती है कि कैसे यह संकट टले। तब सती सोचती है कि उसने मनियर नाग को पूजा दी है, उसकी 'मानि' पर दूध लावा चढ़ाया है, वही उसका संकट टालेगा। सती वहाँ पहुँचती है, नाग सो रहा है और नागिन पंखा झल रही है। जब मदैनी नाग को जगाने के लिए कहती है तब नागिन कहती है कि "सैयाँ को अगर कच्ची नींद में जगा दूंगी तो वे फुफकार छोड़ेंगे और धरती जल-पतार जलने लगेंगे, हरा बाँस पड़क जायेगा, इथल पोखर सूख जायेंगे और तुम भी जल जाओगी, जिससे मुझे अपराध होगा।" तब गुस्से में मदैनी कहती है कि "ब्रह्मा की कलम, गंगा की धारा और सूर्य का रथ वह रोक सकती है। मनियर की क्या इतनी बड़ी छाती है कि वह उसे जला देगा।" फिर नागिन नाग का अंगूठा मरोड़ देती है, उसके फुंकार से चू-चू कर अंगार गिरने लगता है। तब सती का गोरा बदन साँवरा जाता है। नागिन के कहने से कि "अपनी लहर सिकोड़िए, बाहर सती है, बड़ा अपराध हुआ है" अपनी लहर बटोर कर नाग सती के चरण पर गिर पड़ता है और उसके आने का कारण पूछता है। मदैनी सब बताती है और कहती है कि "चल कर तुम अहीर की सेना को डँस दो।" मनिया रोता है और अपने सिकल राग और बूक कहकर सती से प्रार्थना करता है, "तुम्हारा ब्याह ब्रह्मा ने संवरू से ही लिखा है इसलिए व्यर्थ होगा डँसना।" मदैनी बहुत क्रोधित होती है। नाग भी सती का कोप देख संवरू के महत्त्व की बात कहता है और संवरू तथा लोरिक के जन्म की सविस्तार कथा कहता है। इन्द्रासन में ३६० परियाँ नाच रही हैं जिनमें एक परी पर प्रसन्न होकर इन्द्र उनकी इच्छानुसार मृत्युलोक में जाने का वरदान देता है। मृत्युलोक में कुमारीपने में ही सूर्य भगवान की दृष्टि लग जाने से उसे दो पुत्र पैदा होते हैं जिन्हें वह घूरे पर फेंक देती है। गउरा की खोइलनि ग्वालिन उन्हें उठाती है—एक संवरू होते हैं और दूसरे सुबचन जिन्हें एक दूसरी ग्वालिन ले जाती है। संवरू बड़ा होकर २४ वर्ष तपस्या करता है और शिव जी से वरदान पाता है। शिव जी एक पिंड देते हैं जिसे आधा खा कर खोइलनि लोरिक को जन्म देती है।" इस सारी कथा को सुनकर मदैनी चौंकती है और नागिन काँपने लगती है। नाग जाता है और न चाहते हुए भी सवालाख बराती, हाथी, घोड़ा, को डँस देता है। दुर्गा लोरिक को दूर ले जाकर बचा लेती हैं। सर्प दुर्गा को डाँटता है कि वह क्या बार-बार डंका बजा देती है। लेकिन देवी के क्रोध से सर्प भाग जाता है। लोरिक पर मदैनी के जादू से अन्य विपत्तियाँ भी पड़ती हैं लेकिन दुर्गा की सहायता से लोरिक मदैनी से सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और "भौजी" कह कर उसे संबोधित करता है। फिर मदैनी मनियरा नाग के पास जाती है कि वह विष खींच ले। सर्प डाँटता है लेकिन मदैनी के

---

१ गाज़ीपुर से एकत्र किया गया पाठ।

क्रोध से डर जाता है और सारी सेना का विष खींचकर दूध-लावा के बीज में [illegible] है। सती अपनी उंगली चीर कर अमृत छिड़कती है और सबको जिला देती है।

सर्प-दंश का कथा-प्रसंग चंदायन के भी विभिन्न पाठों में आता है। [illegible] के पाठ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पाठ और बंगला अनुवाद के पाठ में आई घटना [illegible] भी संक्षेप में उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

रावत ने अपने पाठ का कथासार दिया है। चांद का [illegible] करता पहुँचता है। लोरिक उसे हराकर आगे बढ़ जाता है। [illegible] जाता है। तीनों जगह चांद को सर्प डँसता है लेकिन गारुड़ियों द्वारा [illegible] है।[1] इस पाठ की केवल इतनी मात्र सूचना ही मिल पाती है।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पाठ में चांदा को सांप डँसता है, [illegible], लोरिक प्रार्थना करता है और एक गारुड़ी आता है और मंत्र पढ़ता है। [illegible] के वृक्ष को बुरा-भला कहता है और सांप को भी कोसता है कि [illegible] 'पुरुख' छोड़ कर 'तिरिय' को ही उसने क्यों डँसा। [illegible] वेष में उसने चांद को डँस लिया। [illegible] अपने एकाकीपन से अत्यन्त दुःखित हो कर कहता है, "[illegible]" और उसकी अवस्था राम की भाँति कर दी। [illegible] कोई 'औषधि' बताता तो मानों 'सरग' और 'पाताल' में भी ढूँढ़ता। लोरिक [illegible] गरीबी और एकाकीपन का निवेदन करता है। कवि [illegible] का वर्णन करता है। चांदा दो दिन दो रात बेहोश रहती है। [illegible] गारुड़ी आता है और लोरिक अपनी पगड़ी उतार कर उसके पैरों के ऊपर रख देता है और [illegible] प्रार्थना करता है। गारुड़ी परम प्रेम का मंत्र पढ़ता है और उसकी [illegible] उसके हृदय में सुमति आती है। गारुड़ी लोरिक और चांदा का नाम और जाति पूछता है और मंत्र पढ़ कर पानी छिड़कता है—बोलि मंत्र छिरकसि [illegible]। [illegible] लोरिक प्रेमपूर्वक उसका आलिंगन कर लेता है।[2]

चन्दायन के बंगला अनुवाद 'सती मयना ओ लोर चन्द्रानी' (दौलत काजी द्वारा अनूदित) में यह प्रसंग इस प्रकार मिलता है कि बावन को हरा कर लोरिक [illegible] आगे बढ़ता है। [illegible] चन्द्रानी को नींद के कारण तकलीफ होने लगती है। लोरिक (जंगल में एक वृक्ष के नीचे) अपना घोड़ा बाँध कर ठहर जाता है। लोरिक की जाँघ पर सिर रखकर चन्द्रानी सो जाती है। [illegible]

---

१. मौलाना दाऊद और उनका चन्दायन, श्री रावत सारस्वत; वरदा, ? जुलाई १९५९ अंक, बिसाऊ, राजस्थान।

२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित चंदायन की टंकित प्रति से।

३. साहित्य-प्रकाशिका के अंतर्गत सत्येन्द्रनाथ घोषाल सती मयना ओ लोर चन्द्रानी पृ० ९७-१०७।

अपना घर पंजाब बताता है जिसके बायें सरजू, और दाहिने गंगा बहती है। इसने उसकी कुल मे अवतार लिया है और हरदी बाजार जा रहा है। गाजीपुर वाले पाठ में लोरिक ब्राह्मण वेषधारी शिव से बताता है कि वह अपना नगर गउरा छोड़कर 'पूरब देस हरदी' जा रहा है लेकिन बीच जंगल में उस पर यह विपत्ति पड़ गई। चन्दायन में लोरिक ब्राह्मण से बताता है—

जाति गोवार गोवर मोर ठाऊँ। [illegible] लोरिक नाऊँ।

गाजीपुर के पाठ में दुर्गा के संकेत से विष खींचने के बाद भागते नाग की पूंछ लोरिक के तेगे से कट जाती है और नागिन उसे देवसिंघा का बान [illegible] देती है। आजमगढ़ के पाठ मे विष खींचने के पहले लोरिक उसे मारने दौड़ता है। शेष किसी पाठ में इस घटना का सकेत नहीं है।

ऊपर के विश्लेषण में मौखिक पाठों में प्रागैतिहासिक लोक-विश्वासों और अभिप्रायों की अधिकता स्पष्ट है। उसमें जादू का तत्त्व अधिक है जिसकी स्थिति धर्म में बहुत बाद में आई है।[1] इस कथा पर आधारित उसके साहित्यिक पाठ चन्दायन में सूफीमत का रंग चढ़ा हुआ है और शायद यह पहली कथा है जिसका उपयोग इस ढंग से किया गया है, पर फिर भी [illegible] प्रसंग मे ही कुछ ऐसे संकेत हैं जिनसे सूफीमत की गंध आ जाती है। लोक कथाओं में इस तरह का संकेत नहीं मिलता है।

मौखिक पाठों के औचित्य पर विचार करते समय सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि हर गायक शब्दों का हेर-फेर तो करता ही है घटनाओं को भी बदल देता है और जब तक कोई नितांत आधुनिक अभिप्राय न मिले या कथा में कोई बड़ी असंगति न पैदा हो जाए तब तक उसकी प्राचीनता में प्रश्न चिह्न लगाना टेढ़ी खीर हो जाता है। गाँव के अशिक्षित लोगों का जीवन आज भी प्राचीन अभिप्रायों से प्रभावित है और गवैये उनका उपयोग कहीं भी सहज रूप से कर सकते हैं।

ऐसी स्थिति में मौखिक पाठ की प्रामाणिकता या मूल कथा का पता लगाना प्रायः कठिन हुआ करता है। आवश्यक नहीं है कि मौखिक पाठों में जितनी कथा अधिकांश पाठों में मिलती हो वही मूल की हो। फिर अभिप्रायों की ही सहायता लेना अधिक सही तरीका हो सकता है। लेकिन कथा की मूल आत्मा का वहन किस अभिप्राय (Motif) द्वारा हो रहा है, हमें इसका पता लगाना चाहिए शायद उसी से मूल की ओर संकेत हो सके। जैसे प्रस्तुत प्रसंग में बहुत से अभिप्राय आये हैं जिनका अध्ययन वर्गीकृत रूप में आगे किया गया है, लेकिन इस प्रसंग को पूरी तरह वहन करने वाला अवसर और भाग्य संबंधी अभिप्राय-शीर्षक में अभाग्यपूर्ण और भाग्यपूर्ण घटना से सम्बद्ध अभिप्राय—जंगल में चन्दा को सर्प काटना और शिव या पार्वती का उसे फिर जिला देना है। ऐसी कथाओं में स्त्री को सर्प का काट लेना एक अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त होता है, इसलिए चंदा को सर्प-दंश से पीड़ित होना ही संगत लगता है और वैरिअर एल्विन का पाठ बहुत कुछ

१. Frazer The Golden Bough, Abridged Edition. Vol. I p. 68.

वैगे का प्रमाद प्रतीत होता है। आगे इस प्रसंग में प्राप्त सभी अभिप्रायों का वर्गीकृत विवरण देया गया है।[1]

(१) पुराण कथा संबंधी अभिप्राय (पशु जीवन की उत्पत्ति)

(१) पाप के कारण सर्प योनि की उत्पत्ति।

(२) इन्द्रलोक की परी का मृत्युलोक में स्वेच्छापूर्वक जन्म ग्रहण करना।

(३) शिव जी का पिंड देना जिसके खाने से खोइलनि के गर्भ से लोरिक का जन्म होना।

(२) पशु संबंधी अभिप्राय

(अ) मनुष्य के लक्षणों से युक्त पशु का होना

(१) सांप का ब्रह्मा की प्रार्थना करना।

(२) नागिन का लोरिक को शाप देना।

(३) नाग-नागिन का बोलना और उनकी बोली का लोरिक इत्यादि पात्रों द्वारा समझना।

(ब) पशु का विचारशील होना

(१) नाग का लोरिक के कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करना।

(३) जादू संबंधी अभिप्राय

(अ) मनुष्य का पशु रूप में परिवर्तन

(१) सर्प के वेष में किसी आदमी द्वारा चंदा का हरण (लोरिक का कथन: चन्दायन)।

(ब) देवता का मनुष्य रूप में परिवर्तन

(१) शिव का ब्राह्मण वेष धारणकर लोरिक के सामने प्रकट होकर बातचीत करना, देवता का जन्तु की सहायता लेना शिव नाग हरदोइया की सहायता से चंदा को मार पाना।

(स) आग का जन्तु रूप में परिवर्तन

(१) आग की चिनगारी सर्प बन जाती है और वह सर्प लोरिक को डंसता है।

(द) जादू की वस्तु का कार्य

(१) शिव की अंगूठी से लोरिक को जीवन प्राप्ति (वै० एलविन का पाठ)।

(य) देवता का मनुष्य से बोलना

(१) दुर्गा का सर्प मारने के लिए लोरिक से कहना।

---

[1] इस वर्गीकरण में मैंने स्टिथ थॉम्पसन के वर्गीकरण की पद्धति को अपनाया है। Motif Index of Folk Lit by Stith

पर इन समस्याओं के सम्बन्ध में जो संकेत हैं, इन्हें एक विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

जंगल में जब लोरिक विपत्ति में पड़ा है, शिव आते हैं और उसकी सहायता करते हैं जो एक अभिप्राय (Motif) के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लोक-कथाओं में जहाँ भी शिव-पार्वती का उल्लेख है वहाँ जंगल के बीच ही घूमते-फिरते उन्हें बताया गया है। इस प्रकार इस देवता का सम्बन्ध जंगल और जंगली कबीलों से कदाचित् रहा होगा। ऐतिहासिक साक्ष्य भी इसका समर्थन करते जान पड़ते हैं। मोहनजोदड़ो में एक शिव की मूर्ति मिली है, जिसमें शिव योगी की भाँति दिखाए गए हैं और चारों ओर हाथी, चीता, गैंडा और भैंसा से घिरे हैं।[1] शिव की पूजा शिश्न के रूप में होती है किन्तु, आर्य इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। वशिष्ठ एक जगह इन्द्र से प्रार्थना करते हैं, 'शिश्नदेव, हमारे भस्त पर आक्रमण न करें'[2]—'इन्द्र अपनी शक्ति से शिश्न देवों को मार कर विजित करें।'[3] किन्तु "शिश्न देव" शब्द के विषय में विद्वानों के दो मत हैं—(१) कुछ विद्वान् मानते हैं कि यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त है जो शिश्न की पूजा करते थे या (२) कुछ यह मानते हैं कि यह शब्द यौन-तृप्ति में लीन रहने वालों के लिए आलंकारिक रूप में प्रयोग किया गया है।[4] शिश्न चिह्न मोहनजोदड़ो के अत्यन्त प्राचीन अवशेषों में भी पाए गए हैं।[5] प्राचीन मिश्र में भी लिंगपूजा का प्रचार था।[6] आर्यों में इस तरह की पूजा नहीं होती थी और उनके समय में द्रविड़ और जंगली कबीलों में शिश्न, भूत चैत्य आदि की पूजा का प्रचार था और वे आर्यों के शत्रु थे।[7]

ऐसी अनार्य जातियाँ आर्यों द्वारा विजित होकर जंगलों में रहती होंगी और समय-

---

१. John Marshal's Work on Mohenjodaro, Vol. I, pp. 52-53.

२. ऋग्वेद, ७-२१-५

३. वही, १०-९९-३

४. P. V. Kane,—History of Dharma Sastra, Vol. II, pt. II, p. 707.

५. Ibid. p. 708.

६. लिंग चिह्न, अशोभन पूजा विधि और बैल पूजा के तत्त्वों के आधार पर बाबू बनमालि मलर्जी ने (The quarterly Journal of Mythic Society, Vol X. 1920. No. 3, p. 221) शिव के स्वरूप विकास पर मिश्र का प्रभाव बताया है। उनका कहना है कि भारतीय द्रविड़ों और मिश्र के लोगों का संपर्क ३०००, ४००० वर्ष ई० पू० के आस-पास हुआ होगा और परस्पर एक-दूसरे पर उनकी रीति नीतियों का प्रभाव पड़ा होगा।

७. ......Rigvedic poets knew of low people who practised witchcraft, who were murdevas i. e. either worshipped perishable objects. They were stupid in their cult and were the enemies of Aryans. There are also clear references to enemies who did not look upon Indra as God. (Rg. X. 27. 6 X 48-7 X 86 1) quoted in History of Dh—— Sastra Vol. II pt. II, p. 708

We have no clear exposition of the non-Aryan character of rapid growth of Parvati the gentle "Maid of the mountain" into the fierce, tiger riding Durga or the terrible Kali, to whom human sacrifice was dear. We may suspect here that orthodox Brahmanism compromised with local and non-Aryan Sects, as it does at the present day and that it has added a theological tinge to horrible and revolting savagery."[1]

इस प्रसंग में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है, सर्प-पूजा की। सती मदैनी दूध-लावा सर्पनी के बिल पर चढ़ाती है और उससे विपत्ति के समय रक्षा की कामना करती है। लोरिक जब "सोना गुहबली घाटि" पर मदैनी से सवरू के ब्याह के लिए चढ़ाई करता है, मदैनी "मनियरा नाग" के पास जाती है और उससे पूरी सेना को डँसने की प्रार्थना करती है। नाग पिछले शाप के कारण अपनी सर्प-योनि के लिए पश्चात्ताप करता है और आगे के अपने बुरे भविष्य के लिए रोता है कि इतना पाप करने के बाद उसका क्या होगा? नाग मदैनी को ब्याह कर लेने की सलाह देता है और संवरू-लोरिक के पिछले जन्म की पूरी कथा कहकर उनके वीरत्व की प्रशंसा करता है। तब मदैनी नाग को डाँटती है और नाग सेना को डँसने के लिए चल देता है। इस प्रसंग में सर्प-पूजा के लिए बिल पर दूध-लावा चढ़ाना, सर्प का रक्षक रूप होना, सर्प की योनि का शापित होना, सर्प का बुद्धिमान् होना, सर्प का मणिधर होना तथा पूजक का अपने पूज्य को डाँटना इतने संकेत मिलते हैं। ईसाइयों में सर्पयोनि का शापित होना और उसके तमाम तरह के अनिष्टकारी तत्त्वों के प्रतीक होने का उल्लेख मिलता है।[2] "बेबीलोनिया में खेत और गाँवों की सीमा निर्धारित करने के लिए ऐसा एक पत्थर का उच्च स्थ गैने की प्रथा थी, जिस पर नाग की मूर्ति बनी रहती थी। इस तरह वह ग्राम देवता और क्षेत्रपाल निधी का प्रतीक माना गया।"[3] फलतः इस सीमा में किसी तरह के अनिष्ट से हानि न होने देने के रक्षक रूप सर्प स्वीकार किया गया। सर्प के बुद्धिमान् होने का विश्वास भी बाइबिल के इस वाक्य द्वारा पता चलता है—

"Be wise as serpent but meek as dove."[4]

इसके चतुर और धूर्त होने का उल्लेख अनेक लोक-कथाओं में मिलता है। वाराहमिहिर की बृहत्संहिता में सर्प के मस्तक में मणि होने का उल्लेख भी आता है।[5] सर्प का स्थान पीपल के वृक्ष के पास बताया जाता है।[6]

---

१. Indian Antiquary, Vol. LIII, 1924., p. 90.

२. Journal of the Mythic Society of Bangalore, Vol. I. 1909-1910.

३. मन्मथराय—हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, पृ० ५१

४. Journal of the Mythic Society, Vol. I, p. 84.

५. वाराहमिहिर बृहत्संहिता ८१-२५

६. South Indian Images of Gods and Goddesses By H. Krishna Shastri, p. 348.

विद्वानों का ऐसा विचार है कि सर्प-पूजा पहले भय के रूप में प्रचलित हुई। [illegible] में जब ऐसे सांपों का पता चला होगा जो हानिकारक नहीं हैं, [illegible] में भी पूजे जाने लगे।[1] आश्वलायन गृह्य सूत्र में सर्प-पूजा की विधि बताई गई है कि [illegible] बिना टूटे दाने का आटा घी में मलकर कलशे भर कर पूजा के [illegible] कलशे में से एक चम्मच आटा लेकर पूजा करने वाला [illegible] है और एक पवित्र स्थान पर पानी छोड़कर इस मंत्र के साथ 'सर्प और [illegible]' [illegible] समर्पित करता है।[2] तैत्तरीय संहिता में ''सर्प जो पार्थिव [illegible] हैं जो अन्तरिक्ष [illegible] में वास करते हैं उनके लिए हम यह बलि समर्पित करते हैं'' का उल्लेख है।[3] पारस्कर गृह्यसूत्र (ii १४), सांख्यायन गृह्यसूत्र (iv१२५) तथा आपस्तम्ब गृ० सू० [illegible] में भी सर्प पूजा विधि का इसी प्रकार उल्लेख मिलता है।

किन्तु इन सभी प्रसंगों में दूध लावा, या दूध की [illegible] का उल्लेख नहीं [illegible] मध्यकाल में शंकर कौस्तुभ में (पृ० २२) नाग को 'पायस' (दूध [illegible]) [illegible] का उल्लेख मिलता है। किन्तु प्राचीन मिश्र में इस तरह की ही सर्प-पूजा-विधि मिलती है। [illegible] में यह आम रिवाज था कि दूध, फल वस्त्र इत्यादि उन बिलों के [illegible] की सम्भावना होती थी। अक्सर दूध की धार [illegible] था कि सर्प रूप में उनके पूर्वज बिलों से निकलते हैं।[4] सम्भव है यह पूजा [illegible] के सम्पर्क का परिणाम हो[5] और अत्यन्त प्राचीन काल में [illegible] से यहाँ के निवासी हों और विजित होने पर [illegible] इस विधि का उल्लेख आर्यों के प्राचीन शास्त्रों में न हो सका हो। यह प्रायः [illegible] प्राचीनकाल से ही द्रविड़ों में सर्प पूजा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। सम्भवतः [illegible] में जब द्रविड़ों को हिन्दुओं ने स्वीकार कर लिया तभी इस पूजा-विधि को भी [illegible] स्वीकार किया होगा।

मर्दनी नाग की पूजा कराने के बाद छोड़ती भी है। यह अत्यन्त प्राचीन [illegible] अवस्था का अभिप्राय है जब धर्म की स्थिति नहीं थी और समाज [illegible] जादू के [illegible] में फंसा था। प्राचीन मिश्र में जादूगर बड़े-से बड़े देवता को भी उनके [illegible]

---

१. Indian Antiquary, LIII, 1924, p. 92.

२. History of Dharm Sastra, Vol. II, Pt. II, P. 821.

३. तै० सं० ५. २. ८. ३

४. The quarterly Journal of the Mythic Society, Vol I, 1910, pp. 5-86.

५. मिश्र और उत्तर भारत के द्रविड़ों का सम्पर्क ३०००, ४००० वर्ष ई० पू० ही का था। देखिये, The Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. X, 920, p. 247 पर बाबू धनपति चटर्जी का लेख The Evolution of Rudra or Mahesh in Hinduism.

नाश तक कर डालने की धमकी देते थे।[1] भारत में भी प्राचीन अनार्य जातियों में यह प्रथा थी।

इस प्रकार इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भी चंदायन की दशा में बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो प्राचीन अभिप्रायों के सहारे इस कथा को किसी न किसी रूप में अनार्य जातियों के बीच काफी प्राचीन सिद्ध करने की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन शौर्य युग (Heroic Age) कथाओं में युद्ध के समय केवल नायक से ही युद्ध होने की प्रथा थी और उस व्यक्ति के हार-जीत का असर उसके पूरे समुदाय पर पड़ता था।[2] इस पँवारे में जितने भी युद्ध हुए हैं उनमें लोरिक व्यक्तिगत रूप से एक ही व्यक्ति से लड़कर जीतता है यद्यपि उसके साथ सारी सेना भी होती थी। साथ ही प्राचीनकालीन आर्य राजाओं में अश्वमेध की परंपरा राजा के सर्वाधिक पराक्रमी होने के लिए आवश्यक थी। कुछ इससे मिलती-जुलती दूसरी रीति इस पँवारे के वीरों में भी दिखाई देती है। रखामनि अपने सारे पुत्रों से कहता है, "झूठ ही तुम लोगों ने कहा है कि तुम लोग 'सब मिरत भुवन संथसार' जीत कर आये हो और तुम लोगों के जोड़ का कोई वीर मिला ही नहीं।" यह प्रकट करता है कि अपना पराक्रम स्थापित करने के लिए वीरों को और दूसरे सभी वीरों से लड़ाई लड़ना आवश्यक था और शायद यह द्रविड़ परम्परा रही हो। फलतः सम्भव है अनार्य लोगों में यह कथा किसी रूप में अत्यन्त प्राचीन हो और विजित और कुचली जाति की कथा होने के कारण यह कबीलों और जंगली जातियों में प्रचलित रही हो और अब उस कथा में प्राचीनता के केवल संकेत ही शेष बचे हों क्योंकि ऐसा बहुत सम्भव हो सकता है कि पुरानी कथा में स्थायी वीरों और उनके वीरत्व की कहानी मिला कर एक बिल्कुल दूसरा रूप दे दिया गया हो।

---

१ The Golden Bough Abridged addition Vol. I p 68

२ N K. Siddhanta The Heroic Age of India p 721

मध्यकालीन हिन्दी कोश-साहित्य

डॉ० अचलानन्द जखमोला

मानव जीवन में शब्द तथा उसके अर्थबोध एवं अनुशीलन की आवश्यकता तथा उपयोगिता की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पशु और मानव—[illegible] और [illegible]—में अन्तर लाने वाले व्यक्त, व्युत्पन्न और सार्थक शब्द ही हैं। इसी लिये हमारे आचार्यों ने कहा है कि यदि एक भी वर्ण, एक भी शब्द सम्यग्ज्ञात तथा सुप्रयुक्त हुआ तो वह स्वर्गलोक तथा [illegible] में सर्वत्र वांछित फल देने वाला होता है।[1]

शब्दों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी देने के लिये कोश ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक साधन है। कोई भी बौद्धिक कार्य शब्दों के माध्यम बिना असम्भव है और इसलिए कोश अधिक उपयोगी है[2] कोश या व्याकरण के बिना शब्दों का उचित ज्ञान प्राप्त असम्भव। अतएव व्याकरण और कोश के ज्ञान से हीन व्यक्ति को अन्धा और बहरा उचित ही बताया गया है।[3] व्याकरण और कोश में भी कोश की प्रामाणिकता अधिक मूल्यवान और व्यापक प्रतीत होती है। यही नहीं, व्याकरण से कोश का विरोध होने पर कई विद्वान् कोश-प्रामाण्य को ही अधिक प्रामाणिक और श्रेयस्कर समझते हैं।[4]

शब्द-कोश का आधुनिक प्रयोग केवल शब्द समूह या [illegible][5] तक ही सीमित नहीं है। आधुनिक काल में उसका कार्य क्षेत्र प्राविधिक और [illegible] विस्तृत [illegible] बढ़ गया है।[6] वर्तमान कोशों में किसी भाषा या उसके अंग विशेष के भिन्न-भिन्न शब्दों का वर्णक्रम, उच्चारण, अर्थ, प्रयोग, लिंग, व्युत्पत्ति, व्याकरणिक रूप या इनमें से कुछ का यथासम्भव वर्णन रहता है। संदर्भ-सुविधा की दृष्टि से शब्द किसी पूर्वनिर्धारित सुव्यवस्थित क्रम से विन्यसित रहते हैं। आजकल यह विन्यास अधिकतर अकारादिक्रम से रहता

---

१. 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'
—महाभाष्य, ६।१।८४

२. डॉ० रास हेकर : हाइड्रोलिक्स वाकेबुलैरीज़, भूमिका, पृ० ७

३. 'अवैयाकरणस्त्वन्धः बधिरः कोशविवर्जितः'—लोक प्रचलित

४. रामशंकर भट्टाचार्य—संस्कृत भाषा में कोश प्रामाण्य (हिन्दी अनुशीलन, पौष-फाल्गुन २०१०) पृ० २१-२६

५. 'कोशानामर्थराशीनां चार्थ समूहो येन तं कोशः'—रघुवंश ५।११

६. [illegible] अमेरिकाना, खण्ड ६ पृ० ८८

है—विस्तृत कोशों में शब्द सम्बन्धी सूचना साहित्यिक उद्धरणों द्वारा भी पुष्ट की जाती है।[1]

प्राचीन कालीन कोशों में उक्त सभी तत्त्व समग्र रूप से नहीं उपलब्ध होते। उनका मुख्य और आधारभूत लक्षण शब्दों का संग्रह करना था।[2] यही नहीं, शब्द सूचियों का विन्यास भी अक्षरक्रम से नहीं वरंच विषयक्रम या वर्गक्रम से किया गया है। समस्त प्राचीन संस्कृत कोश ही नहीं, सुमेरियन और चीनी निश्चायक (डिटरमिनेटिव्ज) और वर्गीकर्त्ता (क्लासिफ़ायर्स) की बात छोड़ भी दें, तो भारोपीय क्षेत्र में ग्रीक भाषा में पॉलिक्स का कोश, पुरानी अंग्रेजी में एल्फ़िक की शब्दावली, लैटिन पुरानी उच्च जर्मन में 'हेनरिसी सुमेरियन', 'लैटिन कार्लिस में कोर्ड्रोनियन शब्दावली इसी प्रकार के कोश हैं। वर्तमानकालीन प्रमुख यूरोपीय भाषाओं में सादृश्य मूलक (एनालॉजिकल), वैश्लेषिक (एनालिटिकल), सैद्धान्तिक (आइडियोलॉजिकल), शैल्पात्मक (मेथाडिकल), साश्लेषिक (सिन्थेटिक), विषयांगी (टॉपिकल) एवं सर्वाधिक अनुकरण किया जाने वाला रॉजेट का 'थेसारस' विषयानुक्रम में वर्गीकृत है।[3] अतएव दोषपूर्ण होते हुये भी यह पद्धति पूर्णतः बहिष्कृत करने योग्य नहीं।[4]

भारत में कोशों का अस्तित्व छब्बीस-सौ वर्ष से भी अधिक काल से मिलता है।[5] कोशों को संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है[6] और इसी आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त संस्कृत कोशों का प्रणयन और विकास हुआ।[7] संस्कृत कोशों की ही सुदृढ़ आधारशिला पर अनेकानेक कोश मध्यकालीन हिन्दी में निर्मित हुये। इनमें से अधिकांश तो अप्राप्य हैं जिनकी सूचना केवल प्रकीर्ण रूप से साहित्य के इतिहासों या खोज विवरणों में ही मिलती है। कुछ कोश मुद्रित या हस्तलिखित रूपों में भी उपलब्ध होते हैं जिनमें शब्दार्थ शास्त्र और ध्वनितत्त्व सम्बन्धी अनेकानेक उपादेय सामग्री भरी पड़ी है।

संस्कृत कोशों के अनुकरण पर निर्मित हिन्दी कोशों के दो प्रमुख उपभेद किये जा सकते हैं—(१) समानार्थी या पर्याय कोश, और (२) अनेकार्थी कोश। प्रथम प्रकार के कोशों

---

१. डॉ० जेम्स ए०एच०मुरे—ए न्यू इंगलिश डिक्शनरी ऑन् हिस्टोरिकल प्रिन्सिपल्स, खण्ड ३, पृ० ३३१

२. कोषो स्त्रिय धर्मेऽपि स्यात् कुड्मलासिपिधानयोः।
पनस्यादिफलस्यान्तः कोषः शब्दस्य संग्रहः॥—त्रिकाण्ड चिन्तामणि, पृ० ६५

३. डार्लिंग बक्—ए डिक्शनरी ऑव् सेलेक्टेड सिनानिम्स इन दि प्रिंसिपल इण्डो-यूरोपियन लेंग्वेजेज़, भूमिका, पृ०

४. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी पर्यायवाची कोश, भूमिका।

५. डॉ० हेमचन्द्र जोशी—सरस्वती, अक्टूबर १९६० ई०, पृ० २३१

६. डॉ० स० म० पाटकर—ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लेक्सिकोग्राफ़ी (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) भूमिका।

७. [illegible] में कोशविद्या का इतिहास, (हिन्दुस्तानी अक्टूबर-जून सन् १९५८ ई०) पृ० ५१-५७

न ही उसका शास्त्र-सम्मत शुद्ध उच्चारण कर पाते थे।[1] फिर संस्कृत जैसी क्लिष्ट भाषा के पीछे जीवन भर माथा-पच्ची करना भी इनके लिये सम्भव न था। अतएव नामों के पर्याय या अनेकार्थ जानने के इच्छुक वर्ग के निमित्त ही इन समस्त समानार्थी और अनेकार्थी कोशों का सृजन (हिन्दी) भाषा में किया गया।

'वर्णक' कोश संस्कृत तथा हिन्दी (मैथिली) भाषा के एक भाव या क्रम के द्योतक विविध शब्दों का संग्रह है। शब्दों के संग्रह के अतिरिक्त उपलब्ध वर्णरत्नाकर में अनेकानेक उपमाओं, विभिन्न रीतिरिवाजों, प्रथाओं एवं काव्य ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले उपादानों का भी भरपूर संग्रह किया गया है।[2] कविता में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली, उपमान तथा रूढ़ प्रयोगों की एक लम्बी तालिका वर्णक कोशों में दी गई है जिसका आवश्यकतानुसार तत्काल उपयोग किया जा सकता है। एक नौसिखिये कवि के लिये इस पद्धति पर निर्मित संदर्भ-ग्रन्थ आवश्यक उपादान प्रस्तुत करते हैं।

द्विभाषीय कोश एक भिन्न पद्धति पर निर्मित किये गये हैं ऐसे कोशों का उद्देश्य विदेशी अध्येताओं को हिन्दी की साहित्यिक और जनप्रचलित शब्दावली से परिचित कराना था। संस्कृत में भी कुछ द्विभाषीय कोश निर्मित हुये[3] जिनका परिष्करण और परिवर्द्धन हिन्दी में किया गया। दो भाषा के ऐसे शब्द जो एक ही भाव या विचार को व्यक्त करते हों, इन कोशों में सङ्कलित किये गये हैं। अर्थ देने का वास्तविक प्रयास भी इन्हीं कोशों में मिलता है कुछ द्विभाषीय कोश पद्य में रचे गये हैं तो कुछ गद्य में। पुनः कुछ कोशों में हिन्दी शब्दों के तदर्थी फ़ारसी या अरबी शब्द संकलित हैं तो अन्य कोशों में अंग्रेजी शब्दों के माध्यम से हिन्दी शब्दों के अर्थ और व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। प्रथम की लिपि नस्तालीक़ और भाषा फ़ारसी है तो द्वितीय की लिपि रोमन और भाषा अंग्रेजी।

अभ्युदय और विकास

मध्यकालीन हिन्दी कोशों के शिल्पविधान विषयक इस आवश्यक परिचय के अनन्तर अब हम इनके क्रमिक ऐतिहासिक परिचय पर दृष्टि डालते हैं तो इन समस्त कोशों को तीन सुस्पष्ट विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

---

१. उच्चरि सकत नहिं संसकृत समुझन को असमर्थ।
तिन लगि नन्द स्वमति यथा, भाषा कियो सुअर्थ॥

—अनेकार्थ, (नन्ददास), पंक्ति ५-६

२. "......a sort of Lexicon of vernacular and Sanskrit terms, a repository of Sanskrit Similes and conventions dealing with the various things in the world and ideas which are usually treated in poetry......"

—डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, भूमिका, पृ० २१

३ [illegible] [illegible]कृत), भूमिका अंश

(१) प्रथम प्रकार के कोशों के रचयिता या निर्माण तिथि की समस्या [illegible] बहिस्साक्ष्य के आधार पर आंशिक रूप में निश्चित हो जाती है।

(२) द्वितीय प्रकार के कोशों में रचयिता का उल्लेख तो है परन्तु रचनातिथि कहीं भी निर्दिष्ट नहीं।

(३) तृतीय श्रेणी में ऐसे कोश रखे गये हैं जिनकी न तो रचनातिथि [illegible] है और न उनके रचयिताओं का ही।

प्रथमश्रेणी के कोश-ग्रंथ

(१) खालिक़बारी—

यह हिन्दी का सर्वप्रथम कोश माना जाता है। अब तक के समस्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों ने परम्परा और जनश्रुति के आधार पर खालिक़बारी को अमीर खुसरो (सन् १२५३-१३२५ ई०) द्वारा विरचित माना है। परन्तु कुछ विद्वान्[1] [illegible] की [illegible] और तफ़्तीश के आधार पर[2] खालिक़बारी को १६ वीं या १७ वीं शती में लिखित किसी अन्य खुसरो की कृति मानने लगे हैं। पर यह धारणा इसको अधिक सम्भावित बनाती है कि शायद अमीर खुसरो ने अवश्य इस प्रकार की कोई रचना की होगी जो [illegible] न रह सका हो। कोश में हिन्दी के तद्भव और देशज शब्दों और [illegible] के [illegible] प्रतिरूप छन्दबद्ध किये गये हैं। कोश की लिपि [illegible] है। नागरी लिपि में [illegible] द्वारा लिपिबद्ध भी एक खालिक़बारी की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है।[3]

(२) वर्णरत्नाकर[4]—

इस कोश के रचयिता ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य ठाकुर हैं। इनका रचनाकाल १४ वीं शती के आसपास ठहराया गया है। यह एक साहित्यिक कोश है जिसमें [illegible] अनेकानेक उपमाओं, रीतिरिवाजों, प्रथाओं एवं काव्य-साहित्य में प्रयुक्त [illegible] का संग्रह गद्य में किया गया है। इस साहित्य कोश की उपादेयता इसी बात में है कि इससे कवियों को अनल्प सहायता प्राप्त होती है।[5] प्रस्तुत वर्णक कोश में शब्दों के संग्रह [illegible] वरन 'वर्णन' शीर्षकों से किये गये हैं, यथा—'नगर वर्णन', 'नायिका वर्णन' या [illegible] वर्णन'। समस्त कोश में आठ 'कल्लोल' हैं।

(३) डिंगलनाममाला[6]—

परम्पराबद्ध हिन्दी कोशों में 'डिंगलनाममाला' सबसे प्राचीन उपलब्ध कोश है। [illegible]

---

१. डॉ० सैय्यद मुहीउद्दीन कादरी—उर्दू शहपारे, प्रथम [illegible], पृ० १०

२. शेरानी—पंजाब में उर्दू, पृ० १७४

३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० [illegible]

४. रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से सन् १९४० ई० में प्रकाशित

५. बबुआ जी मिश्र—वर्णरत्नाकर, भूमिका, पृ० ४

६. डिंगलकोश के अन्तर्गत जोधपुर से सन् १९५७ ई० में प्रकाशित

प्रति में इसके रचयिता का नाम हरराज मिलता है।[1] हरराज जैसलमेर के रावल मालदेव के कुँवर थे और सन् १५६१ ई० में जैसलमेर की गद्दी पर बैठे। इससे कोश की रचना सन् १५६१ ई० के आसपास मानी जा सकती है। कुछ विद्वानों[2] के मत के अनुसार प्रस्तुत कोश की रचना कुशललाभ नामक जैन कवि ने हरराज के लिये की थी। २७ छन्दों युक्त इस अत्यन्त लघु कोश में कुछ प्रचलित शब्दों के पर्याय छन्द बद्ध किये गये हैं। परन्तु प्राचीन होने के कारण यह कोश तत्कालीन शब्दों की अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है। इसलिये राजस्थानी भाषा के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

(४) नाम माला[3]

अष्टछाप के प्रसिद्ध वैष्णव कवि नन्ददास ने दो कोश ग्रन्थों की रचना की—'नाममाला' एवं 'अनेकार्थ'। नाममाला कोश की सबसे अधिक हस्तलिखित तथा प्रकाशित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। मानमंजरी, मानमाला, नाममंजरी, नाममाला, नामचिन्तामणि, नाममणिमाला आदि अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत यही कोश मिलता है। अनेकनाममाला[4], नन्दकोष[5] तथा कोश-मंजरी[6] नाम भी इसी कोश ग्रंथ के हैं। काव्य ग्रंथों में प्रयुक्त होने वाले तत्सम शब्दों के पर्यायों को दोहों में 'अमरकोश के भाय' पर बद्ध करने के अतिरिक्त प्रस्तुत कोश में प्रकीर्ण रूप से मान कथा का भी गुम्फन किया गया है, जिसको ठीक रूप से न समझे बिना शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो सकते[7]। कोश में गूँथा गया यह मान प्रसंग बहुत दिनों तक अध्येताओं को उलझन में डाले रहा। इसी व्यतिक्रम जन्य 'कठिनता' का निराकरण करने के लिये गंगादास नामक एक व्यक्ति ने नाममाला के समस्त शब्दों को दस वर्गों में वर्गीकृत कर दिया था।[8] मूल कोश में २६५

---

१. नारायणसिंह भाटी—डिंगलकोश, (जोधपुर सन् १९५७ ई०), भूमिका, पृ० ९

२. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान भारती, भाग १, अंक ४, जनवरी १९४७

३. इलाहाबाद से सन् १९४२ में प्रकाशित 'नन्ददास' ग्रंथ पं० उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित।

४. इस नाम से दो प्रतियाँ कविराज मोहनसिंह उदयपुर के संग्रह में मिली हैं; एक में छन्द संख्या ६६ है और दूसरी में २९१। देखिये, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० १५०।

५. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना प्रथम भाग, पृ० ५, क्रम चिह्न ६।

६. हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय, प्रयाग की पाण्डुलिपि, ग्रंथ-संख्या १३७३।२२००

७. गोवर्धन माला नाम की, अमरकोस के भाइ॥
मानवती के मान पर, मिलें अर्थ सब आइ।—नाममाला, नन्ददास, पंक्ति ५-६

८. तामें कछिं कुछ कठिनता पद विभ्रमता भास।
वर्ग सु चौपाई मिले, कीन्हों गंगादास॥ —हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, नागरी प्रचारिणी सभा, १९०९-११,
पृ० २९९

१७६ दोहों का एक छोटा सा शब्द - कोश है। उपलब्ध हिन्दी जैन कोश-ग्रंथों में यह सबसे पहला है।[1] विनोद में कोश का उल्लेख मिलता है।[2]

(८) अनभै प्रबोध[3]

इस कोश के रचयिता सन्त गरीबदास हैं। 'अनभैप्रबोध' सन्त साहित्य की साधनात्मक शब्दावली का छोटा-सा कोश है। सन्त साहित्य में विपर्यय अथवा उलटवासियों में जिन-जिन प्रधान शब्दों के प्रयोग होते हैं, उनके प्रतीकों, उपमानों तथा पर्यायों का संग्रह प्रस्तुत कोश में किया गया है। देह, काया, मन, चित्त, माया, विकार, इन्द्रिय, संशय, प्राण, आत्मा, सुरति, निरति, विरह, ब्रह्म, गुरु आदि शब्द जो कि प्रत्येक संत की वाणी में अनवरत रूप से आये हैं—किन-किन प्रतीकों द्वारा उल्लिखित है, इसी का सहज ज्ञान 'अनभै प्रबोध' कराता है। सन्त साहित्य के अध्ययन में इससे कैसी और कितनी सहायता मिल सकती है, यह उस साहित्य के अध्येता ही निर्णीत कर सकते हैं।

कोश में कुल १६६ पद्य हैं। गरीबदास का रचनाकाल सन् १५९८-१६२३ ई० तक माना गया है,[4] अतएव कोश-ग्रंथ भी सन् १६१५ ई० के आसपास निर्मित हुआ होगा।

(९) नाममाला या नाम उर्वसी[5]

इस कोश के रचयिता शिरोमणि मिश्र हैं। इन्होंने कोश के प्रारम्भिक अंश में अपने जन्म-स्थान एवं पूर्वजों का विवरण दिया है तथा अंतिम अंश में कोशकार ने अपने आप को जहाँगीर के राज्यान्तर्गत शाहजहाँ का चाकर भी घोषित किया है।[6] कोश की रचना सन् १६२३ ई० में की गई थी।[7] लेखक ने कोश-ग्रन्थ की स्वयं पर्याप्त प्रशंसा की है।[8]

(१०) भारती नाममाला[9]

यह कोश-ग्रंथ फतहपुर निवासी भीखजन द्वारा निर्मित एक समानार्थी कोश है। इसके प्रारम्भिक अंश में कोशकार ने अपना वंश परिचय दिया है। मेनारिया के अनुसार यह कोश

---

१. अगरचन्द नाहटा—हिन्दी साहित्य (सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा) पृ० ४७९-४८२

२. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ३९८-३९९

३. 'गरीबदास जी की वाणी' के अन्तर्गत जयपुर से सं० २००४ ई० में प्रकाशित।

४. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१४-२१५

५. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण (सभा), सन् १९२०-१९२२ ई०, पृ० ४३४

६. साहिजहाँ की चाकरी, जहाँगीर को राजु।
ह्वै सुख में निहचिंत यह, कियो जगत सुख साजु।।—नाम उर्वसी, छन्द ३००

७. संवत सोरह से असी, समनु नगर तिथ भार।
मूल महीना माघ को, कृष्ण पक्ष गुरुवार।।—वही, छन्द २९७

८. इक्कु पहिरन की उरबसी, अरु उरबसी जु नारि।
अरु जो उर बसि उर बसी, कुछु रस बाँच बिचारि।।—वही, छन्द ३०१

९ ... में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज द्वितीय भाग, पृ० ३-७

१

सम्कृत के अमरकोश का भाषानुवाद है।[1] संस्कृत भाषा की दुर्गमता को देखकर ही भीखजन के मन में यह 'उपजी' कि भाषा में भी एक कोश ग्रंथ बनाया जाय।[2] [illegible] कुल मिलाकर पाँच सौ अठारह दोहे व आठ कवित्त हैं।[3] कोश की [illegible] सन् [illegible] निर्मित किया था।[4] भारती नाममाला जिनचन्द्र सूरि भंडार बीकानेर में सुरक्षित है।

(११). अनेकार्थ नाममाला[5]

प्रस्तुत कोश की रचना दिल्ली निवासी भगवानदास [illegible] ने सन् [illegible] ई० में की थी। जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में कोशकार की ४० अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है।[6] कोश में शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ दिये गये हैं। कुल मिलाकर इसमें २५५ छन्द हैं, जिनको तीन 'अधिकारों' में विभक्त किया गया है।[7]

(१२) अनेकार्थ नाममाला[8]

इस अनेकार्थी कोश की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। एक अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर[9] से और दूसरी भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना[10] से। इन प्रतियों में १२ पत्र हैं। कोश के रचयिता जैन साधु [illegible] उपाध्याय हैं। कोश की रचना सन् १६४६ ई० में हुई थी।[11]

समस्त कोश में कुल मिलाकर २६५ मुख्य छन्द हैं जो तीन 'अधिकारों' में विभाजित किये गये हैं। शब्दों का स्रोत मौलिक न होकर [illegible] है। अर्थ-व्यवस्था पर ध्यान नहीं किया गया है और शब्दों का संकलन व नियोजन भी किसी सुव्यवस्था या वैज्ञानिक पद्धति पर नहीं है।

(१३) लखपतमंजरी[1]

खोज विवरणों में इस नाम से एक 'कोश' का उल्लेख मिलता है। यह [illegible]

---

१. मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १९०

२. नाममाल गुन सहसकिति, दुगम लखी शिव आनि।
इह उपजी जनु भीख जिय, रचौ सु भाषा आनि ॥—भारती नाममाला, छन्द १६

३. सत्रह ऊपरि पाँच सौ, आठों कवित्त सहेत।—वही, छन्द ५२६

४. सोलह सै पच्चासिये, संवत् सुदी विचार।
सेत पाखि राका तिथि, कवि किय भाषा कुवार ॥—वही, छन्द ७०

५. 'अनेकान्त' पत्रिका (वीरसेवा प्रेस, सरसावा से मुद्रित), वर्ष ११, पृ० २०५

६. हिन्दी साहित्य (सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), द्वितीय भाग, पृ० ४८१

७. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ५

८. पत्र—१२, प्रति पत्र पंक्ति ११, प्रति पंक्ति अक्षर ३५, रचना अपूर्ण।

९. १८९१-१८९५ का क्रमचिह्न १५७६

१०. सत्तर सहि विडोत्तरे कातिक मास विचार।
पुनपि दिन बुध वासरे पूरण एहि प्रमाण — [illegible], छन्द ७

११ [illegible] में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १८३-१८४

मन्दिर, जयपुर[1] में सुरक्षित है परन्तु इसके उपलब्ध १२९पद्यों में ऐतिहासिक विवरण है। ग्रंथ के १४८ वें दोहे में कवि ने इस ग्रंथ में नाम की माला पिरोना—शब्दों के समानार्थी देना—अपना लक्ष्य बताया[2] पर उपलब्ध अंश को कोश नहीं माना जा सकता। ग्रंथ की रचना सन १६४७ ई० में हुई थी।[3]

(१४) मानमंजरी[4]

इस कोश-ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति अभयजैन ग्रंथालय बीकानेर[5] से उपलब्ध हुई। दस पत्रों में संकलित इस कोश के रचयिता बद्रीदास हैं। पुष्पिका में रचनातिथि संवत् १७०५ (सन् १६९८ ई०) दी गई है।

समस्त कोश २१३ सोरठों में सम्पूर्ण हुआ है। कुल १८३ नाम शब्दों के पर्याय इसमे गिनाये गये हैं। ये नाम संज्ञा परम्पराश्रुत एवं साहित्य या धर्म सम्बन्धी विषयों से सम्बन्धित हैं, जन-व्यवहृत नहीं। छन्द के आग्रह से शब्द रूप विकृत हो गये हैं वैसे इन शब्दों को तत्सम ही कहा जा सकता है।

कोश का उद्देश्य तथा शिल्प नन्ददास की 'नाममाला' के अनुकरण पर है जिसमें सोरठे की प्रथम पंक्ति में शब्दों के पर्याय गिनाते हुये द्वितीय में नायिका की मान-कथा का भी प्रच्छन्न रूप से निर्वाह किया गया है।[6]

(१५) लुगतये-हिन्दी

यह हिन्दी-फ़ारसी कोश औरंगजेबकालीन मिर्ज़ा खाँ द्वारा विरचित 'तुहफ़तुलहिन्द' (भारत का एक उपहार) नामक अनुपम ग्रंथ का 'खातिमा' (परिशिष्ट) है। 'तुहफ़तुलहिन्द' में कोश के अतिरिक्त, हिन्दी ध्वनियों का फ़ारसी में लिप्यंतरण व्यवस्था, ब्रजभाषा व्याकरण[7], छन्द-शास्त्र, तुक, रस-अलंकार, नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक आदि 'इल्मों' पर भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्रष्टव्य है कि ये समस्त विषय मध्यकालीन सामन्तशाही समाज के लिये आकर्षण के विषय थे। समस्त ग्रंथ हस्तलिखित रूप में है जिसकी भाषा १७ वीं शती की फ़ारसी और लिपि नस्ता'लीक है। ग्रंथ का रचनाकाल सन् १६७५ ई० के आसपास

---

१. ग्रंथ संख्या ४९७३

२. 'मंजुल लखपत मंजरी, करहु नाम की दाम'—लखपतमंजरी, छन्द १४८

३. वही, छन्द ७

४. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ७-८

५. ग्रंथ संख्या ४९७३

६. यहु विधि नांम निहारि, अरथ अमर जु कोष कें।
सरस समोद विचारि, मांन छुडावति राधिका॥—मानमंजरी, छन्द ३

७. इस अंश का अंग्रेजी अनुवाद शान्तिनिकेतन के श्री जियाउद्दीन ने 'ए ग्रामर ऑव् ब्रजभाखा' नाम से किया है। यह से सन् १९३५ ई० में प्रकाशित भी हो चुका है।

कोश-ग्रंथ का प्रणयन साल ११०० हिज्री[1] या सन् १६८८ ई० में किसी 'घनसूर' व्यक्ति के पठनार्थ हुआ।[2]

(१७) प्रकाशनाममाला[3]

इस विशाल कोश-ग्रंथ के रचयिता मियाँ नूर हैं, जिन्होंने ग्रंथ में स्थान-स्थान पर अपना नाम अंकित किया है। कोशकार के व्यक्तिगत या साहित्यिक जीवन का कोई इतिवृत्त न उपलब्ध हो सका। कोश के प्रारम्भ में दिये गये आत्मपरिचय[4] से इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि मियाँ नूर औरंगजेब कालीन किसी सामन्त सिपहदारखाँ का नादिर था। कोश की रचना सं० १७५४ (सन् १६९७ई०) में हुई।[5]

प्रस्तुत कोश 'अमरकोश के भाय' पर निर्मित[6] एक पद्य-बद्ध समानार्थी-अनेकार्थी कोश है। परन्तु अमरकोश का अनुकरण करते हुये भी इसको पूर्ण रूप से अमरकोश का भाषानुवाद नहीं कहा जा सकता। मियाँ नूर ने एकांगी दृष्टिकोण न रखते हुये अन्य स्रोतों का भी पूर्ण उपयोग किया है। इसके लगभग एक तिहाई शब्द अमरकोश में नहीं मिलते।

समस्त कोश पाँच 'प्रकाशों' में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में दस, द्वितीय के अन्तर्गत भी दस और तृतीय प्रकाश में भी अमरकोश के ही अनुकरण पर विशेष्यनिघ्न तथा संकीर्ण दो वर्ग हैं। यहाँ तक शब्दों का संकलन पर्याय शैली में हुआ है। प्रथम तीन प्रकाशों में कुल १०२१ दोहे हैं। चतुर्थ प्रकाश में अनेकार्थ प्रकरण और पंचम-प्रकाश में एकाक्षर कोश है। इन दोनों अन्तिम प्रकाशों पर क्षपणक विरचित 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' की प्रतिच्छाया है।

(१८) अनेकार्थ नाममाला[7]

इस अनेकार्थी कोश के प्रणेता महासिंह पांडे हैं जिनके साहित्यिक या वैयक्तिक जीवन का इतिवृत्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अभयजैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित प्रस्तुत कोश की हस्तलिखित प्रति में १४ पत्र हैं और १२० दोहे हैं जिनमें प्रचलित संज्ञा शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं। इस पर संस्कृत अमरकोश और नन्ददास कृत अनेकार्थ का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है।

---

१. दर जमीरम् चूं ई हविस अफजूद।
   साले हिज्री हजारो यक सद बूद॥—वही, पृ० १६

२. गरचे बूदश रहे तबीयते दूर।
   ले गुफ्तम् व खातिरे घनसूर॥—वही, पृ० ४

३. ग्रंथ वीथिका, आगरा यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित, पृ० २६५-२९९

४. प्रकाशनाममाला, पृ० २६५

५. सत्रह सौ चवन बरस बितें दक्षिण इषु मास।
   नूर नाम माला करी, भाषा नाम प्रकास।—वही, पृ० २६५

६. 'अमरकोष के भाय सों कीने नाम प्रकास'—वही, पृ० ३७३

७. में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० १

पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह कोश औरंगजेब के [illegible] में संवत् १७६० (सं॰ १७०३ ई०) में निर्मित हुआ था।

(१९) हिन्दुस्तानी भाषा का कोश[1]

यूरोपीय लेखकों द्वारा निर्मित यह सर्वप्रथम कोश है। कोशकार का नाम फ्रांसिस्कस एम० तुरोनेसिस (Fanciscus M. Turonesis) था जिन्होंने सन् १७०४ ई० में इस द्विभाषीय कोशग्रंथ की रचना द्वारा हिन्दी कोश-साहित्य में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। इस ग्रंथ की एक प्रति रोम की प्रोपेगैण्डा लाइब्रेरी में सन् १७६१ ई० तक विद्यमान बताई जाती है परन्तु आजकल उपलब्ध नहीं।

(२०) भाषा शब्दसिन्धु[2]

इस कोश-ग्रंथ की रचना किन्हीं गुजराती कवि रत्नजित द्वारा सन् १७१३ ई० (सं० १७७० वि०) में हुई। कोशकार के सम्बन्ध में कोई भी जीवनवृत्त अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

भाषा शब्दसिन्धु में 'ककारान्त' शब्दों से लेकर 'अकारान्त' युक्त शब्दों का संग्रह वर्णानुक्रमणिका के अनुसार विविध वृत्तों में किया गया है। ये समस्त शब्द 'नाम' अर्थात् संज्ञा-नाम हैं। अर्थ देने का कोई प्रयास इन शब्दों में नहीं मिलता।

(२१) भाषाधातुमाला[3]

उपरोक्त रत्नजित द्वारा सं० १७१३ ई० में निर्मित यह एक क्रिया-कोश है। अपने प्रथम कोश में क्रियाओं के लिये कोई स्थान न देकर ही इन्होंने 'भाषाधातुमाला' नामक क्रिया-कोश की रचना की। कोश कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें एक ही अर्थ की अनेक क्रियाओं को अन्तिम वर्ण के अनुसार छन्द-बद्ध किया गया है। यही नहीं, क्रियाओं के संकलन में सकर्मक-अकर्मक आदि उपभेदों का भी ध्यान रखा गया है। इस दृष्टि से यह हिन्दी के लिए अपने प्रकार का एक महत्वपूर्ण और उपादेय कोश है।

(२२) हमीरनाममाला[4]

इस कोश-ग्रंथ के रचयिता 'हमीरदान रतनू' का साहित्यिक व वैयक्तिक जीवन का पर्याप्त विवरण मिलता है।[5] 'हमीरनाममाला' डिंगलकोशों में सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध है। कोश के अन्तिम अंश में दिये गये एक छन्द के अनुसार कोश की रचना सं० १७७४ (सन् १७१७ ई०) में हुई थी।[6] डिंगल के प्रसिद्ध गीत 'बेलियो' में सब इस प्रकारार्थी [illegible]

---

१. मियाँ जियाउद्दीन—ए ग्रामर ऑव् ब्रजभाषा, भूमिका, पृ० ८
२. ब्रजभाषा के कोश ग्रंथ (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० २४२)
३. वही, पृ० २४२
४. डिंगलकोश के अन्तर्गत जोधपुर से प्रकाशित,
५. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १९१
६. संमत छहोतरे सतर में, मतो अपनो हमीर मन।
   कीधी पूरी । नैण मिण छन्द १११

के प्रत्येक छन्द में पर्याय गिनाने के पश्चात् उत्तरार्द्ध में हरिमहिमा सम्बन्धी उक्तियाँ भी व्यक्त की गई हैं, इसी लिये यह ग्रंथ 'हरिजसनाममाला' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

'हमीरनाममाला' की रचना में कई संस्कृत कोशों से यथोचित सहायता ली गई है। समस्त कोश के २११ छन्दों में प्राचीन एवं तत्कालीन डिंगल-साहित्य में प्रचलित डिंगल भाषा के बहुत से शब्द अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित हैं।

(२३) नामरत्नाकर कोश[1]

प्रस्तुत कोश के वास्तविक प्रणेता का नाम केसरकीर्ति है, वैसे कहीं-कहीं केशव तथा केशवदास का उल्लेख भी कोश में मिलता है। ग्रंथ में ही दिये गये एक दोहे के अनुसार[2] कोश की रचना सं० १७८६ (सन् १७२९ ई०) में हुई।

मोतीचन्द खजानची संग्रह बीकानेर में सुरक्षित प्रस्तुत हस्तलिखित कोश में कुल ८७८ छन्द हैं। प्रारम्भिक चार छन्दों के अतिरिक्त समस्त कोश अधिकारों में विभक्त है। देवाधिकार में २२२, मनुष्याधिकार में २७३, स्त्री अधिकार में १६२ और चतुर्थ प्रकीर्ण अधिकार में ११७ पद्य मिलते हैं। कोश में प्रसिद्ध शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं।

(२४) एकाक्षरीनाममाला[4]

इस कोश की एक हस्तलिखित प्रति राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर जोधपुर से उपलब्ध हुई। यह 'डिंगल-कोश' के अन्तर्गत प्रकाशित भी हो चुका है। कोशकार वीरभाण रतनू के वैयक्तिक और साहित्यिक जीवन का विवरण इतिहासों[5] में उपलब्ध होता है जिसके आधार पर कोश की रचना सन् १७३० ई० के लगभग मानी जा सकती है।

प्रस्तुत कोश में देवनागरी वर्णमाला के कुछ अक्षरों के अनेकार्थ दोहों में दिये गये हैं। कोश में केवल ३४ पद हैं। संस्कृत में महाक्षपणक रचित एकाक्षरी कोश की छाया इसमें स्थान-स्थान पर मिलती है। कोश अत्यन्त अव्यवस्थित और क्रमहीन है। वर्ण्य अक्षरों के न तो इसमें शीर्षक दिये गये हैं और न कोई स्पष्ट विभाजन। समग्र रूप से कोश अधिक उपादेय नहीं प्रतीत होता।

(२५) अमरकोश भाषा[6]

प्रस्तुत कोश के रचयिता हरिजू मिश्र हैं। ये आजमगढ़ के संस्थापक आजमशाह के आश्रित

---

१. कोष अनेकारथ धनंजय, माणमंजरी, हेमी अमर।
नांम तिकां माहे मिसरिया, उर्व भेला भेलाया आखर॥—वही, छन्द ३०९

२. राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १७९-१८०

३. रस वसु मुनि विधु वर्ष मास त०० सित पख मुणोय।
तिथि पंचम क्षिति प्रणीमार, तिय दिन कोमिणो यह॥—नामरत्नाकर कोश

४. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १७९-१८०

५. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७८

६. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण (काशी), सन् १९०९-१९११, पृ० १०३, संख्या ११२

पर्याप्त समय तक रहे। कोश के प्रारम्भिक अंश में दिये गये एक दोहे के अनुसार इसकी रचना सं० १७९२ (सन् १७३५ ई०) में हुई।[1]

कोश अप्रकाशित एवं अप्राप्य है। खोज रिपोर्ट में दिये गये विवरण से ज्ञात होता है कि यह संस्कृत अमरकोश के एक अंश का छन्दबद्ध भाषानुवाद है। हस्तलिखित ग्रंथ के [illegible] पत्रों में कुल ८०० श्लोक बताये गये हैं।

(२६) नामप्रकाश[2]

इस कोश-ग्रंथ के रचयिता संस्कृत के पंडित, हिन्दी के कवि और काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदास हैं जिनके वैयक्तिक जीवन और साहित्यिक उपलब्धियों[3] पर पर्याप्त काम हो चुका है।

भिखारीदासकृत कोश ग्रंथ के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास-लेखक अभी तक प्रायः अपरिचित से रहे हैं और इसी कारण इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ [illegible] गई हैं। मिश्रबन्धुओं ने केवल 'नामप्रकाश'[4] आचार्य शुक्ल ने 'नामप्रकाश' एवं 'अमरप्रकाश'[5] चतुरसेन शास्त्री ने भी दो[6], एवं डॉ० रसाल[7] ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न ग्रंथ माना है। इधर खोज-विवरणों में भिखारीदास कृत कोश ग्रंथ 'अमरतिलक' की भी एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख मिलता है।[8] परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उक्त सभी नाम एक ही ग्रंथ के भिन्न-भिन्न नाम शीर्षक है। इधर शिवसिंह ने भिखारीदास द्वारा लिखित एक ग्रंथ 'बागबहार' भी बताया[9] जिसको मिश्रबन्धु 'नामप्रकाश' का ही दूसरा नाम मानते हैं। परन्तु नामकोश या नामप्रकाश का नाम 'बागबहार' बताना केवल भ्रमात्मक इतिहास का परिचायक है। 'बाग-बहार' का अर्थ नामकोश किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।[10]

---

१. ससि मुनि निधि अरु पछ गन संवत विक्रम सेतु।
बार दिवाकर द्वैज सित माह उदित भय एहु॥—अमरकोश भाषा, छन्द ५,

२. गुलशन अहमद यन्त्रालय प्रतापगढ़ से नवम्बर सन् १८९९ में प्रकाशित और लीथो में मुद्रित।

३. देखिये, डॉ० नारायणदास खन्ना का शोध-प्रबन्ध 'आचार्य भिखारीदास'

४. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ६८५

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इतिहास, पृ० २०७

६. आचार्य चतुरसेन शास्त्री—हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ० ३८५

७. डॉ० रसाल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५०

८. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९२६-२८ ई०, पृ० १६०-१६१, क्रमचिह्न ६१ ए तथा ६१ बी।

९. शिवसिंह सरोज, परिशिष्ट, पृ० ३

१० विश्वनाथ प्रसाद [illegible] ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ७

प्रस्तुत कोश के आरम्भिक भाग में दिये गये एक दोहे[1] के अनुसार ग्रंथ की रचना सं० १७९५ (सन् १७३८) ई० में हुई। कोश मुख्य रूप से 'अनेकनि सों लिख्क' संस्कृत के अमरकोश पर आधारित है। इसमें कुल तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में दस, द्वितीय में भी दस तथा तृतीय काण्ड में केवल तीन वर्ग हैं। अन्तिम वर्ग 'नानार्थ वर्ग' के अतिरिक्त समस्त कोश समानार्थी है। नामप्रकाश को पूर्ण रूपेण अमरकोश का भाषानुवाद भी नहीं कहा जा सकता। कोश मुख्य रूप से भाषा के अध्येतार्थों के निमित्त रचा गया था। अतएव संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त 'भाषा' के ग्रंथों से भी भिखारीदास ने पर्याप्त शब्द सकलित किये। छन्दों के चुनाव में 'दास' ने अपनी पूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया है, परन्तु छन्दों के आग्रह से शब्द-रूपों में विकृति आ गई है। शब्दों के पर्याय छन्दबद्ध करने के अनन्तर कुल पर्यायों की संख्या भी अंकित कर दी गई है।

(२७) अनेकार्थ[2]

इस नानार्थी कोश के रचयिता दयाराम त्रिपाठी है। इनका रचनाकाल सन् १७३८ ई० के आसपास माना जाता है[3], अतएव कोश भी इसी तिथि के आसपास निर्मित हुआ होगा। शिवसिंह[4] और ग्रियर्सन[5] ने इस नानार्थी कोश का उल्लेख अपने इतिहासों में दिया है।

(२८) सुबोधचन्द्रिका[6]

प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान संग्रहालय, जोधपुर से उपलब्ध[7] इस कोश के रचयिता फकीरचन्द हैं जिसने कोश के अन्त में अपने आप को मयाराम का पुत्र और चहुआण जाति का बताया। मूलतः आचार्य सोभरिकृत 'एकाक्षरनाममाला' पर निर्मित होते हुये भी अन्य कवियों, लेखको तथा कोशों से भी लेखक ने पर्याप्त शब्द संकलित किये। एक आरम्भिक छन्द के अनुसार कोश का निर्माण सं० १८०० वि० (सन् १७४३ ई०) में किया गया।[8]

यह विशाल 'एकाक्षरकोश' १०२१ छन्दो में समाप्त हुआ है। प्रथम 'उद्योत' में स्वरों के अनेक अर्थ छन्द बद्ध किये गये हैं। द्वितीय 'उद्योत' में वर्ण (व्यंजन) एकाक्षरों के अर्थ दिये गये हैं। तृतीय 'उद्योत' में अव्यय एकाक्षरों का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत कोश की एक

---

१. सत्रह से पचानब, अगहन को सित पक्ष।
तेरसि मंगल को भयो, नाम प्रकाश प्रतक्ष॥—नाम प्रकाश, पृ० २, छन्द ९
२. दि इंडियन एण्टिक्वेरी, जनवरी, सन् १९०३ ई०, पृ० १९
३. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ७५१
४. शिवसिंह सरोज, पृ० १३९
५. ग्रियर्सन—ए माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान, पृ० १०१
६. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १८६
७. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान संग्रहालय, प्रति संख्या ११२०
८. संवत ठार से बरष जेत तीज सित पक्ष।
भइ सुबोध चन्द्रिका सरस, देख ग्यान परतक्ष॥
—सुबोध चन्द्रिका, छन्द २-४

अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें लेखक ने भगवद्भजन, [illegible] का भी उल्लेख किया है।

(२९) विश्वनाममाला

प्रस्तुत कोश की एक हस्तलिखित प्रति अगरचन्द नाहटा के [illegible] में सुरक्षित है। कोशकार बालकराम के वैयक्तिक या साहित्यिक जीवन का [illegible] जिसके आधार पर कोश की रचना सन् १७५०-६० के आसपास निर्धारित की जा सकती है।

यह समानार्थी पद्धति पर निर्मित एक दोहाबद्ध कोश है। इसमें [illegible] दोहों में कुल २५० नाम शब्दों के पर्याय गिनाये गये हैं। सभी शब्द [illegible] प्रचलित [illegible] हैं, नवीनता या विशेषता के लिये उसमें कोई स्थान नहीं है।

(३०) अमरकोश भाषा[1]

संस्कृत के अमरकोश पर आधारित इस कोश के प्रणेता [illegible] हैं, जिनकी रचना सन् १७५२ ई० में हुई।

(३१) नामप्रकाश[2]

यह समानार्थी कोश मदन कवि द्वारा निर्मित हुआ। इसमें कुल [illegible] श्लोक [illegible] गये हैं जो मुख्य रूप से अमरकोश के भाषानुवाद से प्रतीत होते हैं। [illegible] सन् [illegible] ई० के आस-पास हुई थी।[4]

(३२) लखपतमंजरी नाममाला[5]

प्रस्तुत कोश की एक हस्तलिखित प्रति प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर से प्राप्त हुई है। कोश की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता [illegible] हैं। [illegible] १८२३ वि० (सन् १७६६ ई०) में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया।

नाममाला में कुल २०२ दोहे हैं। [illegible] १०२ तक [illegible] का वर्णन किया गया है। शेष छन्दों में एकाक्षरी कोश है जिसमें स्वर और [illegible] के भिन्न-भिन्न प्रचलित अर्थों को दोहा छन्द में बद्ध किया गया है। ये एकाक्षर [illegible] व्याकरणिक रूप भी आवश्यकतानुसार दिये गये हैं। [illegible] ग्रन्थ का न तो शब्द सम्बन्धी अधिक मूल्य है और न साहित्यिक।

---

१. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २३५

२. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ७६८

३. राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० ३१ व ७९

४. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का वैवार्षिक विवरण, सन् १९०६-१९०८ ई०, क्रमचिह्न ५९, पृ० ३६ व खोज विवरण सन् १९०३ ई०, क्रमचिह्न ७४

५. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १८८-१८९

६. ग्रंथ संख्या ११२१, गुटकाकार साइज ६"×५.८" पत्र १२, पंक्ति ११, अक्षर २० से २४ तक

(३३) हिन्दुस्तानी कोश[1]

इस हिन्दी-अंग्रेजी कोश के रचयिता जे० फर्ग्युसन थे। कोश दो भागों में विभक्त था, प्रथम में अंग्रेजी शब्दों के हिन्दुस्तानी तदर्थी दिये गये थे। हिन्दुस्तानी शब्दों के लिये रोमन लिपि का ही व्यवहार प्रस्तुत कोश में किया गया है।[2]

(३४) लघुनामावली[3]

प्रस्तुत समानार्थी कोश के रचयिता रामहरि या हरीराम जौहरी थे। कोश की रचना संवत् १८३४ वि० (सन् १७७७ ई०) में हुई। इसमें कुल १०२ छन्द थे। कोशकार हरीराम ने प्रस्तुत कोश के लगभग सभी छन्दों को नन्ददासकृत 'नाममाला' में मिला दिया था। इस समय यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप में अप्राप्य और अप्रकाशित है।[4]

(३५) लघुशब्दावली[5]

उक्त हरीराम या रामहरि जौहरी द्वारा विरचित यह एक अनेकार्थी कोश है। इसकी रचना भी सं० १८३४ वि० (सन् १७७७ई०) में की गई थी। १०० छन्दों के प्रस्तुत कोश में प्रचलित शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं। लघुनामावली के ही समान, लघुशब्दावली कोश के लगभग सभी दोहे नन्ददासकृत 'अनेकार्थ' में मिला दिये गये थे। यह कोश भी स्वतंत्र रूप से अप्राप्य और अप्रकाशित है।[6]

(३६) अनेकार्थनाममाला[7]

इस नानार्थी कोश के प्रणेता प्रेमी यमन दिल्ली के मुसलमान थे। इनका रचनाकाल सं० १८३५ वि० (सन् १७७८ ई०) के आस-पास माना गया है, इसलिये कोश ग्रंथ की निर्माण तिथि भी अनुमानतः यही मानी जा सकती है।

अनेकार्थी कोश में कुल १०३ दोहे हैं। परम्पराबद्ध कोश होते हुए भी विषय का निरूपण साहित्यिक ढंग से किया गया है, इसीलिये ग्रियर्सन ने प्रस्तुत कोश की पर्याप्त प्रशंसा की है।[8]

---

१. लंदन से सन् १७७३ ई० में प्रकाशित

२. हिन्दी शब्दसागर, आठवाँ खंड, सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास, भूमिका

३. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का चौदहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९२९-१९३१ ई०, पृ० ५२८

४. पं० उमाशंकर शुक्ल (नन्ददास), और ब्रजरत्नदास (नन्ददास ग्रंथावली) ने अपने ग्रंथों के परिशिष्ट अंश में स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करवाया है।

५. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का चौदहवाँ त्रैवार्षिक खोज-विवरण (सन् १९२९-१९३१ ई०), पृ० ५२७-२८

६. पं० उमाशंकर शुक्ल (नन्ददास, परिशिष्ट २ (ख) और ब्रजरत्नदास (नंददास ग्रंथावली, पृ० ६४-७१) ने अपने ग्रंथों के परिशिष्ट अंश में प्रकाशित करवाया है।

७ मिश्रबन्धु विनोद पृ० ८४८

८. ग्रियर्सन—द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव् हिन्दुस्तान, पृ० १०१

(३७) अमरप्रकाश

प्रस्तुत हस्तलिखित समानार्थी कोश के रचयिता खुमाण कवि हैं। इनका उपनाम मान भी था। डाक्टर ग्रियर्सन ने भ्रमवश इनको अलग-अलग कवि मान लिया है।[1] कोश ग्रंथ के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी उपलब्ध होती हैं।[2]

कोश की दो हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख खोज विवरणों में मिलता है।[3] एक प्रति में ८५० छन्द और दूसरी में ७७० छन्द अंकित किये गये हैं। शिवसिंह के अनुसार प्रस्तुत कोश में खुमाण ने संस्कृत के अमरकोश का भाषा में 'उल्था' किया है।[4]

(३८) कर्णाभरण[5]

प्रस्तुत हस्तलिखित कोश के रचयिता हरिचरणदास हैं जिनके वैयक्तिक एवं साहित्यिक इतिवृत्ति का उल्लेख इतिहासों[6] में प्रचुर रूप से मिलता है। कोश के अन्तिम अंश में दिये गये एक दोहे के अनुसार ग्रंथ संवत् १८३८ वि० (सन् १७८१ ई०) में समाप्त किया गया था। कोश में पर्याय गिनाने वाले मूल श्लोकों की संख्या १२०० तथा टीका के श्लोकों की [illegible]०० है।

कुल १०९ पृष्ठों में संकलित प्रस्तुत कोश का मूल आधार संस्कृत का अमरकोश है। इसमें भी तीन कांड हैं। प्रथम कांड में दस, द्वितीय में भी दस और तृतीय कांड में केवल पाँच वर्ग हैं। समस्त नाम पर्याय समानार्थी शैली में संकलित किये गये हैं। अनेकार्थ निरूपण इसमें नहीं है।

अमरकोश से प्रभावित होते हुए भी यह कई दृष्टियों से एक स्वतन्त्र और मौलिक रचना कही जा सकती है। अमरकोष के अतिरिक्त संस्कृत के मेदिनीकोश, विश्वकोश और साहित्यिक ग्रंथों और सामान्य बोलचाल की शब्दावली से भी पर्याप्त शब्द संकलित किये गये हैं। कोश के मूल के अतिरिक्त टीका अंश भी है, जिसमें गद्य के माध्यम से शब्द संकलित किये गये हैं।

(३९) वाकेबुलेरी : हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश[7]

इस हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी कोश के प्रणेता डा० गिलक्राइस्ट थे। यह कोश उनके अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी कोश का विलोम रूप है। इसमें लगभग १००० मूल हिन्दुस्तानी शब्द हैं जिनका संकलन लेखक ने जनता के मध्य में रहकर तथा काव्य साहित्य से किया। इसमें केवल संज्ञा ही नहीं, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाओं तथा अव्ययों का भी संकलन किया गया है। अधिकतर शब्द तद्भव, देशज एवं अरबी-फारसी के प्रचलित रूप में आये हैं तत्सम में नहीं। शब्दों का रोमन और अंग्रेजी

---

१. वही, पृ० ७०

२. खोजविवरण (सन् १९००-१९११ ई०), प्रथम भाग, पृ० ४१

३. खोजविवरण सन् १९०३, कर्मचिह्न ७४, पृ० ५२ व खोज विवरण सन् १९०५, कर्मचिह्न ८६, पृ० ८०

४. शिवसिंह सरोज, पृ० ३९९

५. हिन्दी विद्यापीठ, आगरा से उपलब्ध

६. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १८९; राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १४४-१४५; राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, पृ० २१२

७. कलकत्ता से सन् १७९८ ई० में 'दि ओरियण्टल लिंग्विस्ट' शीर्षक से प्रकाशित।

वर्णानुक्रम पर हुआ है और लिपि रोमन है। शब्दों की व्याख्यायें कम दी गई है, अधिकांशत: हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी तदर्थी रूप दिये गये हैं। हिन्दुस्तानी शब्दों का अंग्रेजी समानार्थी जानने के लिये यह आरम्भ में एक लाभदायक कोश समझा जाता था।

(४०) आतमबोध नाममाला[1]

अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर से प्राप्त इस समानार्थी हस्तलिखित कोश के रचयिता चेतन विजय हैं जिनकी अन्य रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है।[2] कोश की रचना सं० १८४७ वि० (सन् १७९० ई०) की गई है।

इसमें कुल २७२ छंद हैं। कोश पर्यायवाची है जिसमें शब्दों के प्रचलित नाम छन्दोबद्ध किये गये हैं। संकलित शब्द परम्परागत रूढ़ एवं कोशों में प्रचलित ही हैं, नवीनता के लिये इसमें कोई गुंजायश नहीं है। दोहे की द्वितीय पंक्ति में भगवद्भजन सम्बन्धी चर्चा अवश्य की गई है।

(४१) हिन्दुस्तानी कोश

डॉ० हेरिस कृत 'ए डिक्शनरी—इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी' कोश ग्रंथ की पांडुलिपियाँ इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन में सुरक्षित हैं। शेक्सपियर ने इन पांडुलिपियों से पर्याप्त सहायता अपने कोश के लिये ली थी। उन्होंने इसकी अत्यधिक प्रशंसा की है।[3]

(४२) पारसीपारसातनाममाला[4]

इस द्विभाषीय कोश की हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान जोधपुर[5] मे प्राप्त हुई। कोश के रचयिता कुँवर कुशल सूरी का विवरण अन्यत्र[6] भी मिलता है। पुष्पिका मे ग्रंथ की रचनातिथि संवत् १८५७ वि० (सन् १८०० ई०) दी गई है।

समस्त कोश दस 'बाबों' में विभक्त है। प्रत्येक 'बाब' में उस वर्ग से सम्बद्ध शब्दावली के ब्रजभाषा और उनके फ़ारसी तदर्थी शब्द छन्द-बद्ध किये गये हैं। शब्दों का संकलन नितान्त मौलिक पद्धति पर किया गया है। अगरचन्द नाहटा के मतानुसार यह इसी नाम वाले फारसी शब्द कोश का ब्रजभाषा अनुवाद है।

(४३) उमरावकोश[7]

प्रस्तुत हस्तलिखित कोश की चार प्रतियों[8] का उल्लेख खोज विवरणों में मिलता है।

---

१. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ३

२. वही, तृतीय भाग, पृ० १३ व मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ८३६

३. शेक्सपियर—डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश, भूमिका, पृ० ६

४. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १८१

५. ग्रंथ संख्या ५२९

६. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १११; टीकमसिंह तोमर—हिन्दी साहित्य, द्वितीय भाग, पृ० १७१; मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ६६७

७. काशीराज सरस्वती भण्डार, रामनगर, वाराणसी से उपलब्ध।

८. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का वार्षिक विवरण, सन् १९०५ ई०, पृ० ८२-८३; वही, त्रैवार्षिक विवरण सन् १९२३-२५ ई० क्र० चि० ४२२ डी०, पृ० १५७-५८,

इनमें क्रमशः २६१६, २५३०, १९४४ और ३०२४ छन्द हैं। कोश के रचयिता [illegible] है जिनकी रचनाओं और आश्रयदाता का उल्लेख कोश के प्रारम्भिक अंश [illegible] में मिलता है। शिवसिंह ने 'सरोज' में इनके सम्बन्ध में अप्रामाणिक बातें लिखी हैं।[1] उमराव कोश नामक कोश ग्रन्थ संस्कृत के अमरकोश का भाषा में अनुवाद-सा है। इसमें कुल तीन कांड है। प्रथम कांड में नौ वर्ग तथा ३६७ छन्द हैं। द्वितीय कांड में दस वर्ग तथा [illegible] छन्द हैं। तृतीय कांड में केवल दो वर्ग और २७४ छन्द हैं। कोश के अन्तिम अंश में दिये गये छन्द[2] के अनुसार कोश का निर्माण सं० १८६२ वि० (सन् १८०५ ई०) में हुआ था।

उमरावकोश में सुवंश शुक्ल की मौलिकता कम दिखाई पड़ती है। अमरकोश के अतिरिक्त शब्द अधिक संख्या में नहीं हैं। छन्द पूर्ति के लिए रखे गये शब्द अन्य कोशों की अपेक्षा अधिक संख्या में हैं। इस दृष्टि से इसे सामान्य कोश माना जा सकता है।

(४४) रत्नमंजरी[3]

यह हस्तलिखित कोश भिनगा के राजा जगतसिंह द्वारा निर्मित है। कोश के अन्तिम अंश में दिये गये एक छन्द[4] के अनुसार इस कोश की रचना संवत् १८६३ वि० (सन् १८०६ ई०) में हुई थी।

रत्नमंजरी एक एकाक्षरी कोश है जिसमें स्वरों और व्यंजनों के अनेक अर्थ [illegible] किये गये है। अक्षरों का अनुक्रम व्यवस्थित नहीं है।

(४५) ए डिक्शनरी : हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश[5]

यह द्विभाषीय कोष मूलतः कैप्टेन टेलर द्वारा अपने व्यक्तिगत प्रयोग के लिये निर्मित किया गया था। बाद में डॉ० हण्टर ने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापकों की सहायता से इसको परिवर्द्धित किया। कोश के सम्पादक-द्वय का यह प्रयास [illegible] था। सर्वप्रथम शब्दों का संकलन जनसमूह के मध्य में जाकर किया गया। इस कोश में अरबी, फारसी, तुर्की, ग्रीक, चीनी, इंग्लिश, पुर्तगाली, अंग्रेजी तथा संस्कृत के अलावा, [illegible] दक्खिनी और बंगाली के शब्द विशाल मात्रा में संकलित हैं फिर भी अरबी फारसी तथा संस्कृत और हिन्दी के शब्द ही अधिक मात्रा में आये हैं। [illegible]

वही, त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण सन् १९२६-२८, क्र० सि० ४७५ ए०, पृ० ७०५; वही, पृ० ७०६

१. शिवसिंह सरोज, पृ० ५०१

२. युग रस वसु अरु निशापति संवत् वर्ष विचारि।
माघ कृष्ण प्रतिपदा को, भयो ग्रंथ औतार ॥

—उमराव कोश, कांड ३, वर्ग २, छन्द १०४

३. हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों का बारहवां त्रैवार्षिक विवरण, सन् १९२३-२५ ई० पृ० २५६

४. कहै राम रस नाग ससि कार्तिक सुतिया केतु।
जगत सिंह भाषा कियो जानि हेतु कवि हेतु ॥—रत्नमंजरी, अंतिम अंश

५ सन् १८०८ ई० में कलकत्ता से दो बड़े-बड़े खण्डों में प्रकाशित।

सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण तथा विस्मयादिबोधक सभी प्रकार के शब्द हैं। हिन्दी शब्दों का अंग्रेजी में सम्यक् अर्थ देने का सर्वप्रथम प्रयास इसी कोश में किया गया प्रतीत होता है, उर्दू के ३४ अक्षरों के आधार पर शुद्ध अक्षरानुक्रम में नियोजित यह कोश आधुनिक कोश-विज्ञान की दिशा में एक महत्वपूर्ण श्रीगणेश है।

(४६) अनेकार्थ[1]

प्रस्तुत कोश के प्रणेता रीतिकालीन कवि चन्दनराम हैं। इनके साहित्यिक या वैयक्तिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलते है।[2] इनके द्वारा विरचित कोश ग्रंथ के 'नाममाला' 'नामार्णव' व 'अनेकार्थ' कई नाम इतिहासों में अंकित मिलते हैं जो 'अनेकार्थ' के ही अन्य नाम प्रतीत होते हैं। कोश के अन्तिम अंश में दिये गये एक छन्द[3] के अनुसार कोश का निर्माण सं० १८६६ वि० (सन् १८०९ ई०) हुआ था।

अनेकार्थ कोश संस्कृत के कई कोशकारों की कृतियों[4] की सहायता से निर्मित हुआ था। इसमें एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ परम्परागत शैली में दोहे-बद्ध किये गये हैं। समस्त कोश में कुल २८५ दोहे हैं जिनको तीन परिच्छेदों में बांटा गया है। शब्द संकलन तथा नियोजन या अर्थ की दृष्टि से इस कोश में कोई नवीनता नहीं है।

(४७) नामार्णव[5]

इस कोश के रचयिता जौनपुर निवासी रणधीर सिंह हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन व अन्य रचनाओं के आधार पर कोश की रचना सन् १८१० ई० के लगभग निर्धारित की जा सकती है।

(४८) हिन्दुस्तानी कोश

इस द्विभाषिय कोश का प्रणेता रूसी और प्रकाशन तिथि सन् १८१२ ई० बताई गई है।[6] ग्रंथ आजकल अनुपलब्ध है।

(४९) शब्दरत्नावली[7]

यह हस्तलिखित कोश आर्यभाषा पुस्तकालय, वाराणसी में सुरक्षित है। कोशकार

---

१. बोधोदय प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८८० ई० में प्रकाशित।

२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (सं० डा० नगेन्द्र), षष्ठ भाग, पृ० ४७१; व आचार्य शुक्ल—इतिहास, पृ० २९४

३. सम्वत् रस ऋतु नाग ससि आश्विन वसमि स्वच्छ।
   ससि सुत बासर को भयो अनेकार्थ अवलच्छ॥—अनेकार्थ, चन्दनराम, पृ० ४१

४. छपनक अमर धनंजयो, तिहूँ ग्रंथ को सार।
   अनेकार्थ भाषा विषै, यह हौं कियो उच्चार॥—वही, पृ० ४०

५. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४७५

६. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (ग्यारहवाँ संस्करण), आठवाँ खंड, पृ० १९८

७. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९०९-११, क्रमचिह्न २२८, पृ० ३१७-३१८

प्रयागदास चरखारी नरेश खमाणसिंह के [illegible] थे। कोश के प्रारम्भ में दिये गये एक छन्द के अनुसार ग्रंथ का निर्माण संवत् १८६९ वि० (सन् [illegible] ई०) में हुआ था।[2] इसमें कुल १२२० छन्द हैं जो संस्कृत अमरकोश के भाषान्तर रूप प्रतीत होते हैं।

(५०) नामरत्नमाला[3]

इस कोश का दूसरा नाम 'अमरकोशभाषा' भी है। मिश्रबन्धु[4] और [illegible] के आधार पर आचार्य शुक्ल[5] ने दोनों को अलग-अलग कोश मान लिया था। कोशकार [illegible] गोकुलनाथ भट्ट हैं। उपलब्ध हस्तलिखित कोश में कुल ५०० छन्द हैं जिनमें संस्कृत अमरकोश के प्रथम कांड का ही भाषान्तर रूप मिलता है। ग्रंथारम्भ में दिये गये एक छन्द के अनुसार इसका निर्माण सं० १७७० वि० (सन् १८१३ ई०) में हुआ था।

(५१) ए डिक्शनरी : हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश[6]

इस हिन्दी-अंग्रेजी कोश के रचयिता जान शेक्सपियर थे। इसमें लगभग [illegible] संस्कृत, अरबी, फारसी शब्द २२३९ पृष्ठों में संकलित किये गये हैं। [illegible] हिन्दुस्तानी कोश के अलावा प्रस्तुत कोश में आदम, टॉमसन, [illegible], प्राइस आदि कोशों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। शब्दों की नियोजना उर्दू वर्णक्रम पर टेलर के कोश के समान ही है।

(५२) अमरकोश भाषा

इस कोश की तीन हस्तलिखित प्रतियों का विवरण खोज रिपोर्ट में मिलता है।[7] प्रथम में ३७४० छन्द, द्वितीय में ५१०० और तृतीय में ४६२० छन्द मिलते हैं। तीनों प्रतियों के कोश का रचनाकाल सं० १८७४ वि० (सन् १८१७ ई०) अंकित मिलता है। कोश वस्तुतः संस्कृत के अमरकोश का परिवर्द्धित भाषा रूप है।

(५३) [illegible]नाममाला[8]

इस कोश की एक हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर से उपलब्ध हुई है। कोशकार सागर कवि का उल्लेख ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में किया है[9] जिसके आधार पर [illegible]

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ९४९

२. संवत नव षट वसु ससी, श्रावन सुदि बुधवार।
भई शब्द रत्नावली लिखि द्वादसी प्रचार ।।—शब्द रत्नावली, छन्द २६

३. हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, सन् १९०९-११ ई०, क्रमचिह्न ९६, पृ० १९६

४. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ८०२

५. रामचन्द्र शुक्ल—इतिहास, पृ० ३६१

६. सन् १८१७ ई० में लन्दन से प्रथम बार प्रकाशित।

७. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का बारहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९२३-२५ ई० क्रमचिह्न २९४ ए, पृ० १२६३; वही, क्रमचिह्न २९७ ए, पृ० १२६७-१२६८; वही, क्रमचिह्न २९७ बी, पृ० १२६८-१२६९

८. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ५

९. जार्ज ग्रियर्सन - ए मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० १०५

का रचनाकाल सन् १८२० ई० के आस-पास निर्धारित किया गया है। प्रस्तुत कोश १४५ दोहों का एक परम्परावद्ध समानार्थी कोश है जो मुख्यतया संस्कृत के 'धनंजयनाममाला' से प्रभावित है।

(५४) अनेकार्थो[1]

उक्त सागर कवि द्वारा विरचित इस कोश के ६० दोहों में बहुप्रचलित शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं। समस्त कोश एक चलती हुई परिपाटी में योगदान मात्र देता है।

(५५) हिन्दवी भाषा का कोश[2]

'पादरी आदम साहीब का संग्रह किया हुआ' प्रस्तुत कोश में हमें आधुनिक हिन्दी कोशों के उषाकाल के दर्शन होते हैं। पूर्णरूपेण देवनागरी अक्षरों में छपा और देवनागरी वर्णक्रम पर नियोजित यह कोश वास्तव में हिन्दी भाषा का कोश है। लगभग २०,००० हिन्दी शब्दों के व्याकरणिक निर्देश और अर्थ हिन्दी भाषा में दिये गये हैं।

(५६) अवधानमाला[3]

इस समानार्थी कोश के रचयिता कवि उदैराम हैं। कोश के ५६१ दोहों में बहुप्रचलित और परम्परा-बद्ध शब्दों के पर्याय छन्द-बद्ध किये हैं। रचनाकाल लगभग १८३५ ई० है।

(५७) अनेकारथो[4]

उक्त उदैराम द्वारा विरचित यह दूसरा कोश शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ देता है। इसमें कुल ८९ दोहे हैं जिनके अन्तर्गत १२९ नामसंज्ञाओं के अनेक प्रचलित अर्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं। इस कोश का रचनाकाल भी सन् १८३५ ई० के आस-पास है।

(५८) एकाक्षरीनाममाला[5]

यह कोश भी उदैराम कवि द्वारा विरचित है। इसमें कुल २८२ दोहे हैं। जिनमे देवनागरी वर्ण के प्रत्येक स्वर तथा व्यंजन के प्रचलित अर्थ दिये गये हैं। एकाक्षरी वर्णकोश के अतिरिक्त १२ दोहों मे अव्यय नामावली भी संकलित की गई है।

(५९) अमरसार नाममाला[6]

इस समानार्थी कोश की एक हस्तलिखित प्रति गोविन्द पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है। कृष्णदास विरचित इस कोश में कुल २६० दोहे हैं जिन पर संस्कृत के अमरकोश का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।

---

१. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० २

२. मेडिकल प्रेस कलकत्ता से सन् १८२९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित

३,४,५. 'डिंगलकोश' के अन्तर्गत राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर से प्रकाशित।

६. में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १७८

(६०) भारतीय शब्दावली[1]

इलियट कृत यह 'ग्लासेरी' एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में निर्मित की गई थी। अनेकानेक अहिन्दी शब्दों का संकलन करते हुए भी इसमें अनेकानेक भारतीय रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं का भी उल्लेख है। शब्दों को रोमन लिपि में अंकित कर, अंग्रेजी में अर्थ दिये गये हैं।

(६१) नामचिन्तामणि[2]

इस अप्रकाशित तथा अप्राप्य कोश के रचयिता नवलसिंह प्रधान का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। कोश में कुल ४६६ श्लोक हैं जिनमें शब्दों के अनेकार्थ छन्द-बद्ध किये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में दिये गये एक दोहे[3] के अनुसार कोश की रचना संवत् १९०३ वि० (सन् १८४६ ई०) में हुई थी।

(६२) नामरामायण[4]

यह हस्तलिखित कोश भी उक्त नवलसिंह द्वारा विरचित है। इसमें कुल १२० श्लोक हैं। नामों को संकलित करने के अतिरिक्त प्रस्तुत कोश में रामकथा के प्रसंग भी जोड़ दिये गये हैं। ग्रन्थ का निर्माण सं० १९०३ वि० (सन् १८४६ ई०) में हुआ था।[5]

(६३) हिन्दी-अंग्रेजी कोश[6]

इस द्विभाषीय कोश के प्रणेता जे० टी० टामसन थे। कोश की भूमिका में कोशकार ने ग्रन्थ-प्रणयन की विस्तृत पृष्ठभूमि दी है। प्रस्तुत कोश आदम, शाक्स, गिलक्रिस्ट, [illegible] तथा शेक्सपियर के कोशों का समाहार करते हुए, हिन्दी भाषा सीखने के इच्छुक यूरोपीय नागरिकों तथा सेना की निम्न शाखाओं के निमित्त रचा गया है। इसमें लगभग ३०,००० हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी तदर्थी दिये गये हैं। शब्द देवनागरी वर्णक्रम पर निर्धारित हैं। लिपि देवनागरी और रोमन

---

१. राजमल जैन—इंग्लिश हिन्दी डिक्शनेरीज, हिन्दी रिव्यू, जुलाई १९५० ई०, पृ० २२८-२२९

२. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९०५ ई०, पृ० ९३, क्रम-चिह्न २९

३. तीन सुन्य नव एक मैं माधव सुदि शुक्रवार।
सिय नवमी दिन नाम मय चिंतामन अवतार॥

—नामचिन्तामणि, मध्यम प्रकाश, छन्द ५१

४. हिन्दी के हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९०५, क्र० चि० ३०, पृ० २६

५. राम ख निधि सस साल में रामजन्म तिथि चीन।
कन्य नाम रामायनहिं जन्म समर्प में कीन॥

—नामरामायण, उत्तरकांड, छन्द १०७

६. सन् १८४६ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित। इस कोश की एक प्रति इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन (क्रम संख्या डी० ७५०२) से कुछ समय के लिये उपलब्ध हुई थी।

है। अनेकानेक न्यूनताओं के होते हुए भी टॉमसन का कोश पर्याप्त समय तक हिन्दी-अंग्रेजी-भाषियों में लोकप्रिय रहा।

(६४) हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी कोश[१]

द्विभाषीय कोशों को गति देने वाला यह कोश डॉ० डनकान फोर्बस द्वारा सन् १८४८ ई० में संकलित किया गया था। शब्दों की संख्या में वृद्धि के अतिरिक्त प्रस्तुत कोश में कोई ऐसी विशेषता नहीं दृष्टिगत होती जिससे कोशकला में किसी प्रकार की नवीनता अथवा परिवर्तन-परिवर्द्धन आया हो। समस्त शैली पूर्ववर्ती कोशों के ही अनुकरण पर है।

द्वितीय श्रेणी के कोश-ग्रंथ

जैसे पीछे अंकित किया गया था, इस वर्ग में उन कोशों का परिचय दिया गया है जिनमें कोशकार का तो उल्लेख मिलता है रचना तिथि कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है।

(१) अप्राप्य और अप्रकाशित कोश **'अनेकार्थनामावली'** के रचयिता नाथ अवधूत बताये गये हैं जिसमें ३००० शब्दों के पर्याय संकलित किये गये हैं।[२] (२) हस्तलिखित कोश **'प्रदीपिकानाममाला'** किन्हीं रघुनाथ द्वारा निर्मित है। इसमें कुल ३५५ दोहे हैं।[३] (३) राठौर फतहसिंह द्वारा निर्मित **'नामसार'** कोश २० पत्रों युक्त समानार्थी कोश है।[४] (४) दुर्गालाल कायस्थ विरचित **'नाममाला'** कोश में कुल ४५६ छन्द हैं। यह संस्कृत अमरकोश का भाषानुवाद-सा प्रतीत होता है।[५] (५) बसाहूराम द्वारा निर्मित **'नाममाला'** कोश का उल्लेख मात्र मिलता है।[६] (६) **'अनेकार्थनामावली'** कोश का रचयिता कोई जोधपुर निवासी जालंधरनाथ भक्त बताया जाता है।[७] (७) माधोराम विरचित **'अनेकार्थ'** हस्तलिखित कोश का उल्लेख मात्र मिलता है।[८] (८) बिहारीलाल अग्रवाल द्वारा निर्मित **'नामप्रकाश'** कोश में कुल १०६ छन्द मिलते हैं। यह संस्कृत के अमरकोश तथा नन्ददास की 'नाममाला'

---

१. डॉ० बाहरी—'कण्ट्रीब्यूशन टु हिन्दी लेक्सिकॉग्राफी' लेख (प्रोसीडिंग्ज ऑव् दि ओरियण्टल कॉफ्रेन्स, बनारस) पृ० ८५

२. वही, पृ० ८३

३. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ५-६

४. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, चतुर्थ भाग, पृ० १८०-१८१

५. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९२६-१९२८ ई०, क्रमचिह्न १११ सी, पृ० २३६

६. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९०३ ई०, संख्या १२९, पृ० ८९

७ हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का खोज विवरण, सन् १९०२ ई० संख्या ६६

८. [illegible] में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ६

के आधार पर निर्मित समानार्थी कोश है।[1] (९) ग्वालियर निवासी उमराव कवि द्वारा निर्मित **'अनेकार्थमंजरी'** नन्ददास कृत 'अनेकार्थ' के ही अनुकरण पर लिखा गया कोश है।[2]

तृतीय-श्रेणी के कोश ग्रंथ

इस शीर्षक में उन कोशों का विवरण दिया गया है जिनका न तो रचनाकाल ही निश्चित हो सका है और न रचयिता का ही कहीं स्पष्ट निर्देश है।

(१) **'नागराजडिंगलकोश'** के प्रणेता स्वयं शेषनाग माने जाते हैं। २० छप्पयों के इस लघु समानार्थी कोश में पर्याय शब्दों की अच्छी संख्या मिलती है।[3] (२) **'आरम्भनाममाला'** कोश अप्राप्य और अप्रकाशित है।[4] (३) अज्ञात लेखक द्वारा निर्मित **'नाममाला'** कोश कृष्ण-साहित्य की भावनापरक शब्दावली का छोटा-सा पद्यबद्ध समानार्थी कोश है।[5] (४) **'शब्द-कोश)** नामक कोश में कुल १५० छन्द हैं जिसमें शब्दों का संकलन पर्याय शैली में किया गया है।[6] (५) **'नाममाला'** प्रकाशित समानार्थी कोश में कुल १३५ 'डिंगलगीत' छन्द हैं। [illegible] प्रस्तुत कोश में बहुत कम निरर्थक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[7] **'नाममाला'** शीर्षक से एक कोश की हस्तलिखित प्रति अभयजैन ग्रंथालय बीकानेर में उपलब्ध हुई। [illegible] ११५ से २६१ तक प्राप्त हैं। इस कोश में पर्याय संकलन के अतिरिक्त नायिका [illegible] का भी संगुम्फन किया गया है।[8] **'नाममाला'** शीर्षक से एक अन्य कोश को १०० पृष्ठों के गुटके मे संगृहीत बताया गया है। कोश के रचयिता, आकार प्रकार का कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं हो सका।[9]

---

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का सोलहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९३५-(१९३७ ई०) क्रमचिह्न १५, पृ० ९०-९१

२. जवाहरलाल चतुर्वेदी : ब्रजभाषा के कोशग्रंथ (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ) पृ० ५४३

३. 'डिंगलकोश' के अन्तर्गत राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर से प्रकाशित।

४. राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ४

५. डॉ० पारसनाथ तिवारी के सौजन्य से प्राप्त।

६. हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का सोलहवाँ त्रैवार्षिक खोज विवरण, सन् १९३५-१९३७ ई०) क्रमचिह्न २८८, पृ० ४३१

७. 'डिंगलकोश' के अन्तर्गत राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर से प्रकाशित।

८. अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर, हस्तलिखित ग्रंथ संख्या [illegible]।

९. [illegible] में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० २२

अलीगढ़ जनपद की मुस्लिम बन्ज़ारा जाति और उसकी बोली

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

§१—अलीगढ़ जिले में कुछ गाँव ऐसे हैं जहाँ हिन्दू बन्ज़ारे रहते हैं और कुछ गाँवों में मुस्लिम बन्ज़ारे रहते हैं। हिन्दू बन्ज़ारे अपने को राजपूत बताते हैं। हिन्दू बन्ज़ारों तथा मुस्लिम बन्ज़ारों का मुख्य व्यवसाय गाँवों में घूमकर बन्ज़ी करना ही है। ये लोग एक छोटी-सी गठरी में रँग, डोरा, काजल, बिन्दी, सिंदूर, महावर, हींग, मुल्तानी मिट्टी आदि सामग्री रखते हैं और अनाज या पैसों के बदले में गाँव-निवासियों को बेच देते हैं। प्रमुख व्यवसाय **बन्ज़ी** (सं० वाणिज्य) ही है; इसी लिये इनको **'बन्ज़ारा'** (सं० वाणिज्यकार) कहा जाता है।

§२—चाहे मुस्लिम बन्ज़ारा हो और चाहे हिन्दू बन्ज़ारा। जनता से बातचीत करते समय वह हिन्दी अथवा ब्रजभाषा ही बोलता है। किन्तु अपनी जाति के लोगों में वह अपनी मातृभाषा ही में बातें करता है। सर्वेक्षण करने पर विदित हुआ कि मुस्लिम बन्ज़ारों और हिन्दू बन्ज़ारों की बोलियाँ एक दूसरी से नितान्त भिन्न हैं। हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है मुस्लिम बन्ज़ारों की बोली का विश्लेषण। हिन्दू बन्ज़ारों की बोली की विवेचना हम कभी आगे किसी दूसरे लेख में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

§३—मुस्लिम बन्ज़ारे मांसाहारी होते हैं। ये प्रायः जंगली जानवरों का मांस खाते हैं। बकरे और चन्दनगोह का मांस इन्हें अधिक प्रिय तथा स्वादिष्ट लगता है। धोती के स्थान पर तहमद और सिर पर टोपी के स्थान पर साफ़ा (मुड़ासा) बाँधकर चलने में ये लोग एक गौरव का अनुभव करते हैं। मुस्लिम बन्ज़ारों का कहना है कि तहमद और साफ़ा ही बन्ज़ारों की अपनी असली वेश-भूषा है। विवाह तथा प्रमुख पर्वों पर ये लोग तहमद और साफ़े पहनकर ही अपने को सजाते हैं।

§४—अलीगढ़ जिले की तहसील सिकन्द्राराऊ के गाँवों में मुस्लिम बन्ज़ारे पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। अगसौली में इन लोगों के बहुत घर हैं। तहमद और साफ़े बाँधकर रात्रि के समय जब आनन्दोल्लास में भरकर मुस्लिम बन्ज़ारे अपने लोक-गीत गाते हैं, तब एक निराला समाँ बँध जाता है। जिन लोक-गीतों को ये लोग विशेष रूप से गाते हैं, उनमें **नखला, रामा, लछिया, ग्वारिणी, काली** आदि नामों के लोक-गीत अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। नखला, रामा और लछिया गीतों का मुख्य रस वियोग शृंगार होता है। इन गीतों की लय बड़ी मन्थर **गति से चलती है जिसमें करुणा की कसक भी समाई रहती है।**

§५—मुस्लिम बन्ज़ारों में कई कुरियाँ होती हैं इन्हें हम समझने की दृष्टि से यहाँ

हिन्दी	मुस्लिम बन्जारी बोली	ध्वनि-भेद
आठ्	— कुठ्	— — —
नौ	— नौळ[1]	— — —
दस्	— आसर्	— — —
ग्यारह्	— म्यारै	(ग्>म्-'म्' का आदेश)
बारह्	— खिबारै	('खि' अक्षर का आदि आगम)
तेरह्	— मतेरै	('म' " " ")
चौदह्	— रचौदै	('र' " " ")
पंद्रह्	— रन्दरै	(प्>र्-'र्' का आदेश)
सोलह्	— रोळै	(स्>र्-'र्' " ")
सत्तरह्	— रत्तरै	(स्>र्-'र्' " ")
अठारह्	— कुठारै	(अ>कु-'कु' अक्षर का आदेश)
उन्नीस्	— मुन्नी	(उ>मु-'म्' का आदि आगम)
बीस्	— लौ	— — — — —
इक्कीस्	— मिक्की	('म्' का आदि आगम)
बाईस्	— खिबाई	('खि' अक्षर-आदि आगम)
तेईस्	— मतेई	('म' " " ")
चौबीस्	— मचौबी	('म' " " ")
पच्चीस्	— खिपच्ची	('खि' " " ")
छब्बीस्	— मछब्बी	('म' " " ")
सत्ताईस्	— मसत्ताई	('म' " " ")
अट्ठाईस	— कुट्ठाई	('कु' का आदेश)
उन्तीस्	— मुन्ती	('म्' का आदि आगम)
तीस्	— डेंगा	— — — — — — — —
चालीस्	— मचाली	('म' अक्षर-आदि आगम)
पचास्	— लैंजा	— — — — — — — —
साठ्	— रठ्	(साठ्>सठ्>रठ्—'र्' का आदेश)
सत्तर	— रत्तर्	('र्' का आदेश)
अस्सी	— कुस्सी	('कु' अक्षर का आदेश)
नब्बे	— खिनब्बै	('खि' अक्षर का आदि-आगम)
एक् सौ (एक सै)	— मिक् सौ, मिक सै।	— — — — — — — —
दो सौ (दो सै)	— जोड़ सै	(सं० युगल शत)
तीन सौ (तीन सै)	— थेर सै	(ति>थ्—'थ्' का आदेश)

---

१ 'नौळ' में अंतिम व्यंजन ळ् मूर्धन्य है जिसकी ध्वनि 'ल्ह' से मिलती है।

हिन्दी	मुस्लिम बनजारी बोली	ध्वनि-भेद
चार् सौ (चार सैं)	— रबाइ सैं	— — — — — — —
पाँच् सौ (पाँच सैं)	— खमस् सैं	(अ० खम्स् > [illegible])
हजार्	— मजार	(ह् > म—म अक्षर का आदेश)
लाख्	— मलाख्	('म' अक्षर का आदि-आगम)

§ १२—मुस्लिम बनजारी बोली में शरीरांगों के नाम—

हिन्दी	मुस्लिम बनजारी	ध्वनि-भेद
अँगुली	— मँगळी[1]	('म्' का आदि आगम)
अँगूठा	— मँगूठा	(" " " ")
आँख्	— मक्खी	(सं० अक्षि > अक्खि > मक्खी—'म्' का आदिआगम)
एड़ी	— मेड्डी	('म्' का आदि आगम)
कन्धा	— मूढ़ा	— — — — — —
कमर्	— मकर्	(व्यंजन-विपर्यय)
कान्	— मकन्	(कान् > कन् > मकन्—'म' अक्षर का आदि आगम)
बाल्	— लिबाळ	('लि' अक्षर का आदि आगम)
कोख्	— मकुक्खी	(सं० कुक्षि > कुक्खि > मकुक्खी—'म' अक्षर का आदि आगम)
कुहनी	— कोंणी	— — — — — —
गला	— मगळ	('ल्' > 'ळ'—मूर्धन्य ळ का आदेश)
गाल्	— मगल्ला	('म' अक्षर का आदि आगम)
घुटना	— ढकणी	— — — — — — —
चूतड़	— मचूतड़	('म' अक्षर का आदि आगम)
छाती	— मछती	(" " " ")
जाँघ्	— रान्	— — — — — — —
जीभ्	— लिजीभ्	('लि' अक्षर का आदि आगम)
टखना	— मपट्टा	— — — — — — —
टूँडी ,नाभि	— मसुन्डी	— — — — — — —
ठोडी	— मठोंडी	('म' अक्षर का आदि आगम)
तलवा	— मतळुआ	('म' " " ")
दाँत्	— लिदांत्	('लि' " " ")
नाक्	— लिनेक्	(" " " " ")
नाखून्	— लिनौं	(" " " " ")

---

१ स्वर से प्रारम्भ होनेवाले शब्दों (हिन्दी-शब्दों) में 'म्' का आदि-आगम बंजारी में निश्चत है।

हिन्दी	मुस्लिम बन्जारी	ध्वनि-भेद
पस्ली	— खिपस्ळी	('खि' अक्षर का आदि आगम)
पहुँचा	— खिपौंचा	(" " " ")
पिंडली	— मतिल्ली	— — — — — — — — — —
पीठ्	— खिपिठ्	('खि' अक्षर का आदि आगम)
पेट	— खिपेट्	(" " " ")
पंजा	— मछत्ता	— — — — — — — — — —
बाँह्	— खिबाँह्	('खि' अक्षर का आदि आगम)
भौंह्	— खिबन्हू	(" " " ")
माथा	— खिमल्था	('खि' अक्षर का आदि आगम)
मुँह	— खिमौं	(" " " ")
हथेली	— मथेली	(ह् > म् — 'म्' का आदेश)
होंठ्	— महुट्	('म' > अक्षर का आदि आगम)

§ १३—मुस्लिम बन्जारी बोली में सम्बन्धियों के नाम—

हिन्दी	मुस्लिम बन्जारी	ध्वनि-भेद
चाचा	— खिचाचा	('खि' अक्षर का आदि आगम)
नाना	— खिनाणा	(" " " ")
पति	— मादमी	— — — — — — — — — —
पत्नी	— बइअर्	— — — — — — — — — —
पिता	— बाऊ, बप्प	(सं० वप्ता > वप्पा > बप्प—समीकरण)
बहिन	— खिमैंणा	('खि' अक्षर का आदि-आगम)
ससुर	— ममोरा	(स् > म् — 'म्' का आदेश)
सास्	— खिसस्	('खि' अक्षर का आदि आगम)

§ १४—मुस्लिम बन्जारी में भोजन, फल, अनाज आदि के नाम —

हिन्दी	मुस्लिम बन्जारी	ध्वनि-भेद
अचार्	— मचार्	('म्' का आदि आगम्)
अरहर	— मलढ	— — — — — — —
गुड़	— कुसंगा	— — — — — — —
गेहूँ	— भगसी, कन्	— — — — — — —
घी	— खिकण	— — — — — — —
चना	— मुबड़ा	— — — — — — —
दूध	कड़ीला	— —

हिन्दी	मुस्लिम बनजारी	ध्वनि-भेद
पानी	— नीर्खा	(द्रविड़ 'नीरु', सं० 'नीर' से अनुरूपता)
पूरी	— चिकणी	— — — — — — — —
बैंगन	— भटा	— — — — — — — —
मिर्च	— चरपरी	— — — — — — — —
शक्कर	— खड़	— — — — — — — —
साग्	— लीमण	(सं० लेमन > शीमण—ण का आदेश)

१५—मुस्लिम् बनजारी में पशु-पक्षी तथा कीड़ों-मकोड़ों के नाम—

हिन्दी	मुस्लिम बनजारी	ध्वनि-भेद
कुतिया	— झुक्कड़ी	— — — — — — — —
कुत्ता	— झुक्कड़	— — — — — — — —
खरगोश	— सूसिआ	— — — — — — — —
गाय	— ढैल्	— — — — — — — —
घोड़ा	— कुद्रा	— — — — — — — —
घोड़ी	— कुद्री	— — — — — — — —
बक्रा	— लब्रा	— — — — — — — —
बछ्ड़ा	— छत्रड़ा	(वर्ण-विपर्यय)
बछिया	— छबड़ी	— — — — — — — —
बछेड़ा	— रछेड़ा	('र्' का आदेश)
बछेड़ी	— रछेड़ी	(" " ")
बिजार् (साँड़)	— डैंकुण	— — — — — — — —
बैल्	— लाँदिआ	— — — — — — — —
भेड़िया	— लीलिआ	— — — — — — — —
भैंस्	— रैंकुणी	— — — — — — — —
सूअर्	— मसूअर्	('म' अक्षर' का आदि-आगम)
हाथी	— महाती	(" " " ")
(पक्षी) तोता	— मसूआ	— — — — — — —
(कीड़े-मकोड़े) चींटा	— मकोड़ा	— — — — — — —
चुहिया	— सूमणी	— — — — — — —
चूहा	— सूमणा	— — — — — — —
साँप्	— रफ़	(साँप्—साँप्>सप्<रफ़ —'र' का आदेश)

§१५ (ब)—मुस्लिम बन्‌जारी में अन्य स्फुट शब्दावली—

हिन्दी	मुस्लिम बन्‌जारी	ध्वनि-भेद
आग्	— माग्	('म्' का आदि-आगम)
आद्‌मी	— ढिंज्‌रा	(=बन्‌जारा जाति में इतर मनुष्य)
उप्‌ला	— गोइ	— — — — — —
औरत्	— ढिंज्‌री	(=बन्‌जारा जाति में इतर स्त्री)
कीचड़	— मँगारा	— — — — — —
कोरा	— नवा	(सं० नव>नवा)
खाट्	— मखट्‌ट	(सं० खट्‌वा>खट्‌टा>खट्‌ट 'म' का आगम)
गाँव	— नन्द	— — — — — — —
जूता	— लित्तर्	— — — — — — —
पेड़	— खिपिड्डा	— — — — — — —
रात्	— नल्ली	— — — — — — —
रुपया	— गौणा, किरादा	— — — — — — —
लड़का	— ल्हौंचा	— — — — — — —
लड़की	— ल्हौंची	— — — — — — —
सिपाही	— बूढ़िआ	— — — — — — —

§१६—मुस्लिम बन्‌जारी बोली के कारकीय परसर्ग—

कारक	हिन्दी-कारकीय परसर्ग	मु० बन्‌जारी कारकीय परसर्ग
कर्ता	— ने	×, न् ।
कर्म	— को	का, ल ।[१]
करण	— से	गैला[२]
संप्रदान	— को; के, लिए	का; रे लाक्
अपादान	— से	तैं[३]
सम्बन्ध	— का, के, की	रा, रे, री, रिआँ (रीआँ) ।
		दा, दे, दी, दिआँ (दीआँ)[४] ।
अधिकरण	— में, पर	विच्, पै[५]

१. मराठी में भी 'ला' परसर्ग है।

२. 'गैला' का प्रयोग 'साथ' के अर्थ में भी होता है। यह कौरवी के 'गल' का बड़ा भाई है

३. पंजाबी में 'तौं' परसर्ग है।

४. पंजाबी में भी 'दा दे दी, दीआँ' परसर्ग हैं।

५ पंजाबी में भी विच, उत्ते परसर्ग हैं।

व्यंजनान्त संज्ञा (तिर्यक् रूप)–

डैला (=गाय)=डैल्+/—आ/; डैलैं=डैल्+/—ऐं/

मोटरा (=मोटर)=मोटर्+/—आ/; मोटरें—मोटर्+/—ए/

अकारान्त संज्ञा (ऋजु रूप)–

मखट्ट (=खाट)=मखट्ट्+/—अ/; मखट्टाँ=मखट्ट्+/—आँ/

मगप्प (=गल्प>गप्प)=मगप्प्+/—अ/; मगप्पाँ=मगप्प्+/—आँ/

अकारान्त संज्ञा (तिर्यक् रूप)–

मखट्टा (=खाट)=मखट्ट+/—आ/; मखट्टैं=मखट्ट+/—ऐं/

मगप्पा (=गप्प)=मप्प्+/—आ/; मगप्प+मगप्प्+/—ए

ईकारान्त संज्ञा (ऋजु रूप)—

ढिंजरी (=स्त्री)=ढिंजर्+/—ई/; ढिंजरीआँ*[1]=ढिंजर्+/—ईआँ/

ईकारान्त संज्ञा (तिर्यक् रूप)–

ढिंजरीआ (=स्त्री)=ढिंजर्+/—ईआ/; ढिंजरिए=ढिंजर्+/—इए/

ऊकारान्त संज्ञा (ऋजु रूप)–

खिबन्डू (=भौंह)=खिबन्ड्+/—ऊ/; खिबन्डूआँ=खिबन्ड्+/—ऊआँ/

ऊकारान्त संज्ञा—(तिर्यक् रूप)–

खिबन्डूआ (=भौंह)=खिबन्ड्+/—ऊआ/; खिबन्डुएँ=खिबन्ड्+/—उएँ/

§ १८—मुस्लिम बन्जारी बोली के सर्वनाम पद–

(१) पुरुषवाचक सर्वनाम–

(उत्तम पुरुष)–

हिन्दी एक व०		बन्जारी एक व०;		हिन्दी बहु० व०		बन्जारी बहु० व०
मैं	—	मैं	;	हम	—	हम्
मैं~ने	—	मैं~न्	;	हम~ने	—	हमैं
मुझ~को	—	मुन्~का	;	हम~को	—	हम्~का]
				हमें	—	हमानीं]

(मध्यम पुरुष)–

तू	—	तू	;	तुम	—	तम्
तू~ने	—	तैं	;	तुम~ने	—	तमैं
तुझ~को	—	तुन्~का	;	तुम~को	—	तम्~का]
तुझे	—	तुनाणीं	;	तुम्हें	—	तमानीं]

(अन्य पुरुष)–

वह	—	ऊ	;	वे	—	वे
उस~ने	—	ऊएँ	;	उन्हों~ने	—	उनैं

---

१ मेवाती में भी 'कुड़ी' (=लड़की) का बहुवचन 'कुड़ीयाँ' (कुड़्+/—ईयाँ/) होता है।

उसका लड़का, उसके लड़के	—	ओह् ~दा (ओ ~दा) ल्हौचा,[1] ओह् ~दे (ओ ~दे) ल्हौचे।
उसकी लड़की, उसकी लड़कियाँ	—	ओह् ~दी (ओ ~दी) ल्हौची,[2] ओह् ~दी (ओ ~दी) ल्हौचीआँ।

(२) अन्य विशेषण

मोटा आदमी[3]	—	खिमुट्टा ढिंजर्
मोटे आदमी ~ में[4]	—	खिमुट्टे ढिंजरा ~ विच
मोटी औरत	—	खिमुट्टी ढिंजरी
मोटी औरत में[5]	—	खिमुट्टी ढिंजरीआ ~ विच
मोटे आदमी	—	खिमुट्टे ढिंजर
मोटे आदमियों में	—	खिमुट्टे ढिंजरँ ~ विच
मोटी औरतें	—	खिमुट्टीआँ ढिंजरीआँ
मोटी औरतों में	—	खिमुट्टीएँ ढिंजरीएँ ~ विच
सातवाँ आदमी	—	रत्मा ढिंजर
सातवें आदमी	—	रत्मा ढिंजर्
सातवीं औरत	—	रत्मी ढिंजरी
सातवी औरतें	—	रतमीआँ ढिंजरीआँ
सातों आदमी	—	रत्तौ ढिंजर्
सातों औरतें	—	रत्तौ ढिंजरीआँ।

§२०—मुस्लिम बन्जारा बोली की एक सहायक क्रिया के विभिन्न रूप—

(१) **वर्तमान काल निश्चयार्थ**— (कोष्ठक में हिन्दी-रूप है)—

		एकवचन		बहुवचन
उ०	पु०	थैं (=हूँ)	—	थ्यां (=हैं)
"	स्त्री०	थिएँ (=हूँ)	—	थिआँ (=हैं)
म०	पु०	थै (=है)	—	थ्यो (=हो)
"	स्त्री०	थिएँ (")	—	थिओ (")
अ०	पु०	था (=है)	—	थे (=हैं)
"	स्त्री०	थी (")	—	थिआँ (")

१,२. 'ओ ~दा', 'ओ ~दी' रूप भी मिलते हैं।

३. यह 'मोटा' विशेषण ऋजुरूप में एकवचनीय पुंलिंग संज्ञा के साथ है।

४. यह 'मोटे' विशेषण तिर्यक् रूप में एकवचनीय पुंलिंग संज्ञा के साथ है।

५. स्त्रीलिंग संज्ञा का विशेषण 'मोटी' ऋजु और तिर्यक रूप में समान रहता है।

§२३—मुस्लिम बन्जारी बोली के भूतकालिक कृदन्त—

भूतकालिक कृदन्त	धातु + पदरूपांश	हिन्दी
आया	—√आ +/य् आ/	आया हुआ
आई	—√आ +/ई/	आई हुई
सिजा	—√सिज्+/आ/	भीगा हुआ
सिजी	—√सिज् +/ई/	भीगी हुई

§ २४—मुस्लिम बन्जारी बोली की संयुक्त क्रियाएँ[1]

(१) क्रियार्थक संज्ञा+क्रिया

बन्जारी		हिन्दी
करी लगा	—√कर्+/ई/+√लग्+ग्/आ/	करने लगा
बरसी लगा	—√बरस्+/ई/+ ,, ,,	बरसने लगा
देई चइए	—√दे+/ई/+चइए	देनी चाहिए

(२) पूर्वकालिक कृदन्त+क्रिया

आई जा	—√आ +/—ई/+√जा+/—०/	आ जा
दिम्मी नै	—√दिम्म् +/ —ई/+√न्+/—ऐ/	आ के
दिम्मीनित्ती	— ,, ,, +√ न् +/इत्ती/	आ ली
जळी गया	—√जळ् +/—ई/+ गया	जल गया
दबकी गए	—√दबक् +/—ई/ +गए	छिप गये
घुसी गए	—√घुस् +/ई/ +गए	घुस गये
चल्ली देगाँ	—√चल्+ल्/—ई/+ देगाँ	चल देंगे

(३) वर्तमानकालिक कृदन्त+क्रिया

कैता रैता था	—√कै+/त्+आ/ + रैता था	कहता रहता है
खाता रिह्या	—√खा+/त् आ/+रिह्या	खाता रहा
बिल्बिलाता रहा	—√ बिल्बिला +/त् आ/	बिलबिलाता रहा
सोता रिह्या	—√सो+ /—त् आ/ +रिह्या	सोता रहा

(४) भूतकालिक कृदन्त+क्रिया

चला गया	—√चल्+ /—आ/ +गया	चला गया
मरा पड़ा था	—√मर्+/—आ/+पड़ा था	मरा पड़ा है

(५) संज्ञा+क्रिया

मुल्लै निसा—मुल्लै +√न् +/इसा/		मोल लिया

---

१. संयुक्त क्रिया में एक या एक से अधिक कृदन्तीय क्रियाएँ होती हैं और केवल अंतिम एक कालद्योतक समापिका क्रिया होती है। अर्थ की दृष्टि से तो कृदन्तीय क्रिया ही प्रधान होती है। 'बरसने लगा' संयुक्त क्रिया में 'बरसने' कृदन्त की क्रिया और 'लगा' भूतकाल द्योतक समापिका क्रिया है। इस संयुक्त क्रिया का अर्थ है 'बरसा'

§२७—मुस्लिम बन्जारी बोली और पंजाबी की तुलनात्मक पदावली—

बन्जारी (प्राति० + प्रत्यय) पंजाबी (प्राति० + प्रत्यय) हिन्दी (प्राति० + प्रत्यय)

संज्ञा—भैंण =भैंण् + /—अ/ — भैण =भैण् + /—अ/ — बहन् =बहन् + /—०/

भैंणां =भैंण् + /—आं/ — भैणां =भैण् + /—आं/ — बहनें = बहन् + /—एँ/

न्हौचीआं =न्हौच् + /—ईआं/ —कुड़ीआं = कुड़् + /—ईआं/ — लड़कियाँ = लड़क् + /—इयाँ/एँ

तकलीफां =तकलीफ् + /—आं/ —तकलीफां तकलीफ् + /—आं/ —तकलीफें तकलीफ् + /

सफर् दीआं तकलीफां — सफर् दीआं तकलीफां — यात्रा के कष्ट

सर्व०— ओह् ~दा — ओह् ~दा; ओ ~दा = उसका

विशे०—ज्या — जेहा = जैसा

क्रिया—नचदीआं थिआं — नचदीआं हन् = नाचती हैं।

दित्ता था — दित्ता ए = दिया है।

क्रियाविशेषण—ही — सी = थी

हुण — हुन = अब

किथैं — कित्थैं = किधर

§२८—मुस्लिम बन्जारी बोली में कालार्थद्योतक वाक्य—

(१) सामान्य वर्तमान, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं जाता थैं = मैं घर जाता हूँ।

" " जाती थिएँ = " " जाती हूँ।

हम् " जाते थ्यां = हम " जाते हैं।

हम् " जातिआं थिआं = " " जाती हैं।

म० —तू घरैं जाता थैं = तू घर जाता है।

" " जाती थिएँ = " " जाती है।

तुम् " जाते थ्यां = तुम " जाते हो।

" " जातिआं थिआं = " " जाती हो।

अ० —ऊ घरैं जाता था = वह घर जाता है।

" " जाती थी = वह घर जाती है।

वे " जाते थे = वे घर जाते हैं।

" " जातिआं थिआं = वे घर जाती हैं।

(२) अपूर्ण वर्तमान, निश्चयार्थ

उ० —मैं घरैं जाइरौगा थैं = मैं घर जा रहा हूँ।

" " जाइरौगी थिएँ = मैं घर जा रही हूँ।

हमैं " जाइरौगे थ्यां = हम घर जा रहे हैं।

" " जाइरौगी थिआं = हम घर जा रही हैं

म० तू घरैं जाइरौगा थैं — तू घर जा रहा है।
,, ,, जाइरौगी थिए — तू ,, जा रही है।
तुमैं ,, जाइरौगे थ्यौं — तुम ,, जा रहे हो।
,, ,, जाइरौगी थिऔं — ,, ,, जा रही हो।
अ०—ऊ घरैं जाइरिआ था — वह ,, जा रहा है।
,, ,, जाइरिई थी — ,, ,, जा रही है।
वे ,, जाइरे थे — वे ,, जा रहे हैं।
,, ,, जाइरिआं थिआं — ,, ,, जा रही हैं।

(३) पूर्ण वर्तमान, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं जाई चुक्का थैं। — मैं घर जा चुका हूँ।
,, ,, ,, चुक्की थिएँ। — मैं घर जा चुकी हूँ।
हमैं ,, ,, चुक्का थ्यां। — हम ,, जा चुके हैं।
,, ,, ,, चुक्किआं थिआं — ,, ,, जा चुकी हैं।
म०—तू घरैं जाई चुक्का थैं — तू घर जा चुका है।
,, ,, ,, चुक्की थिएँ — ,, ,, ,, चुकी है।
तुमैं ,, ,, चुक्के थ्यौं — तुम ,, ,, चुके हो।
,, ,, ,, चुक्किआं थिऔं — ,, ,, ,, चुकी हो।
अ०—ऊ घरैं जाई चुक्का था — वह ,, ,, चुका है।
,, ,, ,, चुक्की थी — ,, ,, ,, चुकी है।
वे ,, ,, चुक्के थे — वे ,, ,, चुके हैं।
,, ,, ,, चुक्किआं थिआं — ,, ,, ,, चुकी हैं।

(४) सामान्य भूत, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं गएं। — मैं घर गया।
,, ,, गईएँ। — मैं ,, गयी।
हमैं ,, गया। — हम ,, गये।
,, ,, गइआं। — ,, ,, गयीं।
म०—तू घरैं गएं। — तू घर गया।
,, ,, गईएं। — ,, ,, गयी।
तुमैं ,, गयौ। — तुम ,, गये।
,, ,, गइऔं। — ,, ,, गयीं।
अ०—ऊ घरैं गया। — वह ,, गया।
,, ,, गई। — ,, ,, गयी।
वे ,, गए। — वे ,, गये।
,, ,, गइआं — ,, ,, गयीं।

(५) अपूर्ण भूत, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं जाता हैं = मैं घर जाता था।
,, ,, जाती हिऐं = ,, ,, जाती थी।
हमैं ,, जाते हाँ = हम ,, जाते थे।
,, ,, जातिआँ हिआँ = ,, ,, जाती थीं।
म०—तू घरैं जाता हैं = तू घर जाता था।
,, ,, जाती हिऐं = ,, ,, जाती थी।
तुमैं ,, जाते ह्यौ = तुम ,, जाते थे।
,, ,, जाती हिऔं = ,, ,, जाती थीं।
अ०—ऊ घरैं जाता हा = वह घर जाता था।
,, ,, जाती ही = ,, ,, जाती थी।
वे ,, जाते हे = वे ,, जाते थे।
,, ,, जातियाँ हिआँ = ,, ,, जाती थीं।

(६) पूर्ण भूत, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं गऐ हैं = मैं घर गया था।
,, ,, गईऐं हिऐं = ,, ,, गयी थी।
हमैं ,, गया हाँ = हम ,, गये थे।
,, ,, गइआँ हिआँ = ,, ,, गयी थीं।
म०—तू घरैं गऐ हैं = तू घर गया था।
,, ,, गइऐं हिऐं = ,, ,, गयी थी।
तुमैं ,, गयौ ह्यौ = तुम ,, गये थे।
,, ,, गइऔं हिऔं = ,, ,, गयी थीं।
अ०—ऊ घरैं गया हा = वह घर गया था।
,, ,, गई ही = ,, ,, गयी थी।
वे ,, गए हे = वे ,, गये थे।
,, ,, गइआँ हिआँ = ,, ,, गयी थीं।

(६) भविष्यत् काल, निश्चयार्थ

उ०—मैं घरैं जासैं = मैं घर जाऊँगा।
,, ,, जासैंगी = ,, ,, जाऊँगी।
हमैं ,, जासाँ = हम ,, जाएँगे।
,, ,, जासाँगी = ,, ,, जाएँगी।
म०—तू घरैं जासैं = तू घर जाएगा।
,, ,, जासैंगी = ,, ,, जाएगी।
तुमैं घरैं जासिऔ = तुम घर जाओगे।
,, ,, जासिऔगी = ,, जाओगी।

अ०— ऊ घरैं जासी … वह घर जाएगा।
,, ,, जासी … ,, ,, जाएगी।
वे ,, जासिए … वे ,, जाएँगे।
,, ,, जासिआँ … ,, ,, जाएँगी।

(७) भविष्यत्काल, अनुमति अर्थ
उ०— मैं घरैं जामैं … मैं घर जाऊँ।
हमैं (हम) घरैं जामाँ … हम ,, जाएँ।

(८) भविष्यत् काल, आज्ञार्थ
म०— तू घरैं जै … तू घर जा।
तुमैं ,, जाओ … तुम ,, जाओ।
अ०— ऊ घरैं जाए … वह घर जाए।
वे ,, जाएँ … वे ,, जाएँ।

§२९—मुस्लिम बनारसी की कर्मवाच्यात्मक[1] क्रियाएँ—

(१) भूत काल, निश्चयार्थ
मैं किमी डिम्मी … मैंने रोटी खाई।
,, किमीआँ डिम्मीआँ … ,, रोटियाँ खाईं।
हमैं किमी डिम्मी … हमने रोटी खाई।
,, किमीआँ डिम्मीआँ … ,, रोटियाँ खाईं।
तैं फल् डिम्मा … तूने फल खाया।
तैं फल् डिम्मे … तूने फल खाए।
तुमैं ,, डिम्मा … तुमने फल खाया।
,, ,, डिम्मे … ,, फल खाए।
उस~का फल् डिम्मा। … उसने फल खाया।
,, ,, डिम्मे। … ,, फल खाए।
उणीं ,, डिम्मा। … उन्होंने ,, खाया।
,, ,, डिम्मे। … ,, ,, खाए।
ल्हौचे~न् फल् डिम्मा। … लड़के ने फल खाया।
,, ,, डिम्मे। … ,, ,, खाए।
ल्हौचैं~न् ,, डिम्मा। … लड़कों ने ,, खाया।
,, ,, डिम्मे। … ,, ,, खाए।

---

१. वाक्य में 'कर्म' के लिंग के अनुसार क्रिया का लिंग बदले तो वह कर्मवाच्य कहाती है। (१) मैं किमी डिम्मी (२) मैं फल डिम्मा। यहाँ क्रिया का लिंग कर्माधीन है।

§३१—अन्त मे निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि पश्चिम [illegible] बोली अपनी प्रकृति और रूपात्मकता में निराली है। यदि इस पर किसी अन्य भाषा का कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है तो वह पंजाबी का माना जा सकता है। वैसे तो बोलियाँ अपनी पूर्वकालीन 'अन्तर्देशीय' बोलियों से विकसित तथा प्रभावित होती ही रहती हैं।

जायसी के विचार-गुरु : सैयद अशरफ़ जहाँगीर

श्री कन्हैया सिंह

हिन्दी-सूफ़ी-साहित्य-धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मोहम्मद जायसी के गुरु के संबंध में प्राय: दो नाम लिए जाते हैं—(१) शेख मुहीउद्दीन या शेख मोहदी, (२) सैयद अशरफ़ जहाँगीर। सैयद अशरफ़ जहाँगीर के संबंध में उन्होंने दो स्थलों पर उल्लेख किया है—

(१) सैयद असरफ पीर पियारा।
जेहि मोहि दीन्ह पंथ उजियारा॥
ओहि घर रतन एक निरमरा।
हाजी शेख सबै गुन भरा॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे।
पंथ देइ कहँ दई सवाँरे॥
शेख मुहम्मद पूनौ करा।
शेख कमाल जगत निरमरा॥—पद्मावत

(२) मा-मानिक पाएउँ उजियारा।
सैयद असरफ पीर पियारा॥—अखरावट

इन उद्धरणों में सैयद अशरफ़ का नाम तो उन्होंने उसी प्रकार लिया है जैसे वे उनके गुरु हों। पर साथ ही सैयद अशरफ़ की शिष्य-परंपरा की तीन पीढ़ियों का आदर के साथ उल्लेख यह भ्रम उत्पन्न करता है कि जायसी के गुरु सैयद अशरफ़ नहीं थे, उनकी शिष्य-परंपरा का कोई अन्य पीर चाहे भले ही उनका गुरु रहा हो। सैयद अशरफ़ की ही भाँति जायसी ने शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) का उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है—

गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा।
चलै उताइल जेहि कर खेवा॥
अगुआ भए शेख बुरहानू।
पंथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरू।
दीन दुनी रोसन सुरखुरू॥
सैयद मोहम्मद कै वे चेला
सिद्ध पुरुष संगम जेहि खेला।

से प्रभावित रहे होंगे और इसी लिये अपने विचार-गुरु के रूप में उन्होंने उनका स्मरण किया और इस परंपरा से शेख कमाल से उनका सीधा संबंध रहा हो जो जायस के ही रहने वाले थे। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि सैयद अशरफ़ सीधे जायसी के गुरु नहीं थे। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि जायसी ने सैयद अशरफ़ की शिष्य-परंपरा की तीन पीढ़ियों तक का उल्लेख किया है और यदि एक पीढ़ी में ५० वर्ष का भी अन्तर माना जाय तो जायसी का १५० वर्ष तक उपस्थित रहना मानना पड़ेगा जो उचित नहीं प्रतीत होता. दूसरे जायसी ने अपने जन्म के संबंध में लिखा है:—

भा अवतार मोर नव सदी।

इससे जायसी का हिजरी सन् की नवीं शताब्दी में उत्पन्न होना प्रतीत होता है और हज़रत सैयद अशरफ़ जहाँगीर की मृत्यु नवीं सदी के प्रारंभ में ही १७ मोहर्रम सन् ८०८ हिजरी में फैजाबाद जिले के कछौछे नामक स्थान पर हुई, ऐसा माना जाता है। इन दोनों ही दृष्टियों से वे जायसी के गुरु नहीं माने जा सकते।

इतना अवश्य है कि सैयद अशरफ़ की विचार-परंपरा का जायसी के ऊपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। दोनों महानुभावों की विचारधाराओं के अध्ययन से इतना अवश्य निश्चय के साथ कहने का साहस होता है कि चाहे सैयद अशरफ़ जायसी के सीधे गुरु भले ही न रहे हों, पर वे जायसी के विचार-गुरु अवश्य थे। इस दृष्टि से जायसी का यह कथन यथार्थ ही प्रतीत होता है:—

मा- मानिक पाएउँ उजियारा।
सैयद असरफ पीर पियारा॥ —अखरावट

इस संदर्भ में इतना और जान लेना आवश्यक है कि सैयद अशरफ़ भी चिश्ती-परंपरा के एक बुज़ुर्ग थे। अतः उनकी विचारधारा भी ख्वाजा मुइनुद्दीन अजमेरी व निजामुद्दीन औलिया से साम्य रखती है।

सूफ़ी-साहित्य के निर्माताओं के जीवन और विचारों की छानबीन में सैयद अशरफ़ जहाँगीर की विभिन्न यात्राओं का विवरण तथा उनकी विचारधारा का विश्लेषण उपयोगी हो सकता है। इसी दृष्टि से उनकी यात्राओं और विचार-परम्पराओं का कुछ उल्लेख यहाँ किया जायगा। इस संबन्ध में प्रस्तुत लेखक को जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हो सकी है उसका आधार 'बज़्मे सोफ़िया' नामक ग्रन्थ है जिसके लेखक श्री सबाहुद्दीन अब्दुल रहमान ने व्यक्तिगत रूप से मुझे सैयद अशरफ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित कराया। 'बज़्मे सोफ़िया' में दिये गए विवरण 'लतायफ अशरफ़ी' नामक फ़ारसी ग्रन्थ से प्राप्त हुए हैं जो १२९५ हि० में देहली में छपा था और जिसके लेखक हज़रत निज़ामुद्दीन उर्फ़ निज़ाम हाजी गरीब हैं।

जीवन तथा यात्राएँ

हज़रत सैयद अशरफ़ ईरान के सम्नान नामक स्थान के रहने वाले थे, इसी लिये वे 'शम्नानी' कहे जाते हैं। इनके पिता सुल्तान मोहम्मद इब्राहीम वहाँ के बादशाह थे। उनकी मृत्यु के सैयद अशरफ उनकी मसनद पर बादशाह हुए उसी समय उन्होंने एक रात स्वप्न देखा कि एक बुज़ुर्ग उनसे कह रहा है कि ' अगर तुम हम दुनियावी सल्तनत के बजाय रूहानी

सल्तनत चाहते हो तो हिन्दुस्तान की ओर जाओ।" इस पर वे बादशाहत छोड़कर हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुए। वहाँ से वे बोखारा और समरकन्द होते हुए उच (सिंध) पहुँचे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। उच में वे सैयद जलालुद्दीन बोखारी से मिले जिन्होंने बताया कि बंगाल के शेख अलाउद्दीन, जो एक उच्च कोटि के फकीर हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा में हैं। तुम वहाँ जाओ। सैयद अशरफ़ दिल्ली के सूफी फकीरों से ज्ञान प्राप्त करके बिहार की ओर आगे बढ़े। जब वे बिहार पहुँचे तो वहाँ के प्रसिद्ध सूफी संत हज़रत मखदूम शर्फ़ुद्दीन मनेरी का जनाज़ा रक्खा हुआ था, उस जनाज़े की नमाज़ अशरफ़ सिम्नानी ने ही पढ़ाई। कुछ दिन तक उनकी मज़ार पर रहने के बाद वे शेख अलाउद्दीन से मिलने के लिए बंगाल की ओर चल पड़े। हज़रत अलाउद्दीन चिश्ती के हज़रत ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया के प्रसिद्ध खलीफ़ा शेख सिराजुद्दीन के खलीफ़ा थे। हज़रत अलाउद्दीन की कब्र पण्डुवा, जिला मालदा में है पर वे सोनार गाँव तथा बंगाल के अन्य-अन्य स्थानों में भी रहे। जब सैयद अशरफ़ पण्डुवा के निकट पहुँचे, उस समय शेख अलाउद्दीन आराम कर रहे थे पर उठकर एकाएक बोले, 'यार की खुशबू आ रही है' और एक पालकी में बैठकर सैयद अशरफ़ की अगवानी में चल पड़े। उन्हें शहर से बाहर जाते हुए देखकर और लोग भी उनके साथ हो लिए और सैयद अशरफ़ की अगवानी में एक लम्बा जुलूस शहर के बाहर दो मील तक गया। जब उनकी निगाह शेख अलाउद्दीन पर पड़ी तो वे दौड़कर उनके चरणों पर गिर पड़े। शेख साहब उन्हें अपनी 'खनका' (Monastery) में लाए और वहीं से शेख साहब के मुरीद हुए, यहीं पर वे बारह वर्षों तक रहे। यहीं पर उनको 'जहाँगीर' का लकब मिला।

पण्डुवा में जब सैयद अशरफ़ जहाँगीर की सब प्रकार की शिक्षा पूर्ण हो गई तो शेख अलाउद्दीन ने उन्हें जौनपुर की ओर जाने का आदेश दिया। किसी प्रकार दिल मजबूत करके वे अपने पीर से अलग हुए। जौनपुर के मार्ग में मनेर होते हुए, पहले वह आजमगढ़ जिले के मुहम्मदा-बाद गोहना नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ के सभी औलिया उनसे मिलने आए। उनमें अन्य स्थानीय विद्वानों से जो शास्त्रार्थ हुआ, उससे लोग सैयद अशरफ़ का लोहा मानने लगे। लेकिन कस्बे के मुफ्ती मौलाना सैयद खाँ ने अन्य विद्वानों से मतभेद प्रकट करते हुए सैयद अशरफ़ के विचारों का समर्थन किया। वहाँ से वे जौनपुर जिले के ज़फ़राबाद कस्बे में आए। यहीं पर हज़रत शेख कबीर सुरूरपुरी उनके मुरीद हुए। कुछ दिनों बाद वे जौनपुर आए। जौनपुर में उनसे काजी दौलताबादी मिले जो अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान तथा सुल्तान इब्राहीम शर्की के दरबार में कर्मचारी थे। उन्होंने बहुत से ग्रन्थ भी लिखे हैं। यहीं पर काजी नसीरुद्दीन उनके मुरीद हुए। यहाँ से वे मैनी होते हुए अवीड़ पहुँचे जहाँ के मलिकुल औमरा महमूद ने उनका बड़ा स्वागत किया। कहा जाता है इसी स्थान पर एक हिन्दू योगी ने उनसे इस्लाम कबूल किया जो बाबा कमाल पंडित के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वहाँ से प्रस्थान करके वे फैजाबाद जिले के कछौछे नामक स्थान में चले आए, जो उनके सम्पर्क से बड़ा ही पवित्र स्थान माना जाने लगा और यहीं पर आपके भौतिक जीवन का अन्त भी हुआ। आपकी मजार पर प्रति वर्ष एक बहुत बड़ा दरगाह लगता है और दूर-दूर से लोग आकर उसमें सम्मिलित होते हैं। आपने यहाँ पर एक खनका बनवाया जिसका नाम 'रूहाबाद' रखा और यहीं आपने एक छोटा सा पुखरा भी जिसे 'वहदताबाद' नाम दिया। इसके पूर्वी

हिस्से में बैठकर आप प्रमुख-प्रमुख लोगों को शिक्षा दिया करते थे। इस स्थान को 'दारुल अमान' कहा जाता है।

इसके उपरान्त भी आपने कई स्थानों की यात्राएँ कीं। घूमते-घूमते वे अयोध्या भी पहुँचे। वहाँ के बहुत से उमरा उनके मुरीद हुए। वहाँ के हाकिम नवाब सैव खाँ ने भी उनकी शिष्यता स्वीकार की। अवध में ही हजरत शमशुद्दीन उनके शिष्य हुए जो एक उच्च कोटि के विद्वान् थे। यहाँ से वे बाराबंकी जिले के रुदौली नामक स्थान में पहुँचे। वहाँ शेख समाउद्दीन और शेख समा-उद्दीन उनके मुरीद हुए। रुदौली से आमामऊ होते हुए वे कस्बा 'जायस' पहुँचे, जहाँ मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म हुआ। कहा जाता है कि रुदौली में एक हजार और जायस में तीन हजार आदमी उनके शिष्य हुए। जायस के शिष्यों में मौलाना गुलामुद्दीन भी थे जो उच्च कोटि के विद्वान् और संत थे। जायस के अन्य प्रसिद्ध शिष्य शेख कमाल हुए जो उनके खलीफा हुए और जायस के लोगों को आध्यात्मिक संदेश दिया करते थे। (जायसी ने शेख कमाल का उल्लेख सैयद अशरफ़ के शिष्यों में किया है—शेख मुहम्मद पुनो करा। शेख कमाल जगत निरमरा ॥) इसके बाद वे कस्बा अन्होना होते हुए कस्बा सिधौरा आए। अन्होंने के तमाम सैय्यद उनके शिष्य हो गए तथा सिधौरा में शेख खैरुद्दीन और काजी मुहम्मद सिधौरी ने उनका बड़ा भव्य स्वागत किया। ये दोनों उनके प्रसिद्ध खलीफा हुए। सिधौरा में एक और प्रसिद्ध विद्वान् इनके शिष्य हुए, वे हैं काजी अब्दुल मोहम्मद। इस प्रकार इधर-उधर भ्रमण करते हुए हजरत सैय्यद अशरफ़ पुनः कछौछे शरीफ पधारे। कुछ दिनों बाद उन्होंने हज की दृष्टि से मक्के को प्रस्थान किया। वहाँ से सभी प्रमुख इस्लामी मुल्कों की यात्रा करते हुए वे भारत आए। भारत में भी आकर उन्होंने दिल्ली, अजमेर, दकन और गुजरात की यात्राएँ कीं और अन्त में कछौछे लौट आए। यहीं पर वे १७ मोहर्रम ८०८ हि० में संसार से बिदा हुए।

इस विवरण में प्रायः उन सभी स्थानों का उल्लेख हुआ है जिनसे उनका सम्पर्क रहा। साथ ही सभी प्रमुख सन्तों का भी उल्लेख हुआ जिन्होंने उनकी शिष्यता ग्रहण की; पर इनमें मलिक मुहम्मद जायसी का नाम कहीं भी नहीं आया है। इससे यह पता चलता है कि सैय्यद अशरफ़ जायसी के सीधे गुरु नहीं थे।

विचार एवं सिद्धान्त

सैय्यद अशरफ जहाँगीर के दार्शनिक विचार दो हैं—(१) भगवान् एक ही है, (२) संसार की सभी वस्तुओं में वही ब्रह्म व्याप्त है। स्पष्ट ही ये दोनों सिद्धान्त भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के समकक्ष हैं। जायसी के काव्य में भी सूफी दर्शन के ये सिद्धान्त भली भाँति झलकते हैं। सैय्यद अशरफ़ ने 'ब्रह्म एक ही है' इस सिद्धान्त को 'तौहीद' तथा 'भगवान सभी वस्तुओं में व्याप्त है' को 'वहदते वजूद' (सर्वात्मवाद) कहा है। उनकी इन दार्शनिक दृष्टियों को समझने के लिए इनका विस्तारपूर्वक अध्ययन करना समीचीन होगा।

तौहीद—तौहीद को उन्होंने चार प्रकार का माना है—(१) तौहीद-ईमानी जिसमें कुरान को प्रमाण मानकर और उस पर विश्वास रखकर खुदा को एक माना जाता है, (२) तौहीद-रस्मी जिसमें केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर खुदा को एक माना जाता है ३ तौहीद

इल्मी जिसमे हृदय के अन्दर इस प्रकार का अनुभव (Intuition) करना कि ब्रह्म एक है (४) तौहीद-हाली जिसमें अपने हाल (Ecstacy) में इस प्रकार तल्लीन हो जाना कि खुद के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी संसार में है, इसका अनुभव ही न होना।

वहदते-वजूद—तौहीद की ही भाँति 'वहदते वजूद' की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए [illegible] प्रकार है। इस अनुभव तक पहुँचने की तीन सीढ़ियों का वर्णन किया गया है—(१) शरीअत—प्रथम तो सभी को इस्लाम के सिद्धान्तों मे विश्वास रखना चाहिए। (२) तरीकत—उन मार्गों का अनुसरण करना जिस पर चलकर ब्रह्म तक पहुँचा जा सके। (३) हकीकत—ब्रह्म की सत्य का अनुभव प्राप्त हो जाना हकीकत कहा जाता है—और तब इसमें सिवाय संसार की कोई भी वस्तु नहीं दीख पड़ती है।

अपने इन सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करने के लिए सैय्यद अशरफ ने पाँच प्रमाण दिए हैं जिनसे ब्रह्म का एकत्व सिद्ध होता है—

(१) अल्लाताला के अलावा और कोई पूजने योग्य नहीं है।

(२) वही संसार की सभी वस्तुओं का निर्माता है।

(३) उसका कोई रूप नहीं है।

(४) उससे अधिक प्राचीन कोई वस्तु नहीं है।

(५) उसका कोई शरीर नहीं है।

सैय्यद अशरफ के सिद्धान्तों के इस क्रान्तिकारी रूप को देखकर कट्टर मुसलमानों ने इसका विरोध किया और उनके सिद्धान्तों को इस्लाम-विरोधी कहा। पर उन्होंने कुरान तथा हदीस आदि के उद्धरणों को दे-देकर यह सिद्ध किया कि ये सिद्धान्त भी इस्लाम के अनुकूल हैं।

इन दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त उन्होंने सामान्य जीवन के व्यवहार के लिए भी कुछ नियम निर्धारित किये; वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) भगवान् से यदि कुछ मिले तो खुश हो, पर यदि दुःख पड़े तो उसमें दुःख न मानो।

(२) अपनी रोजी कमाना सभी के लिए अनिवार्य है।

(३) भोजन के संबंध में वे कहते थे—जिन्दा रहने के लिए खाना फर्ज है, इबादत-खुदा के लिए खाना सुन्नत है। पेट भर खाना स्वीकृत है, पर इससे ज्यादा खाना हराम है।

इस प्रकार उन्होंने सामान्य जीवन के उपयोग के लिए बहुत सा उपदेश दिया। सैय्यद अशरफ जहाँगीर सम्नानी का यह अध्ययन इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी है कि वे जायसी के सीधे गुरु नहीं थे। हाँ, उनके विचारों का प्रभाव जायसी पर अवश्य पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य में संत-मत के आदि प्रवर्तक : संत नामदेव

श्री राजनारायण मौर्य

हिन्दी-साहित्य के लगभग सभी इतिहासकारों और विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि संत कबीर संत-मत के प्रवर्तक है, साथ ही उन्होंने यह भी माना है कि कबीर के पूर्व संत नामदेव इसी परम्परा के संत और कवि हो चुके हैं। डा० श्यामसुन्दरदास लिखते है, "कबीर इस निर्गुण भक्ति-प्रवाह के प्रवर्तक हैं परन्तु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गए थे। नामदेव का नाम कबीर ने शुक, उद्धव, शंकर आदि ज्ञानियों के साथ लिया है—

जागे सुक उद्धव अक्रूर, हणँवत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैं देव ॥

अक्रूर, हनुमान और जयदेव की गिनती ज्ञानियों में कैसे हुई यह नहीं कह सकते। नामदेव जी जाति के दर्जी थे और दक्षिण के सतारा जिले के नरसी बमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पंढरपुर मे विठोबाजी का मन्दिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे परन्तु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया।[1]

डा० बड़थ्वाल लिखते हैं, "निर्गुण संत-विचारधारा को कबीर के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई परन्तु रूपाकार तो वह पहले से ही ग्रहण करने लग गई थी।"[2] फिर भी वे मानते हैं कि "निर्गुण पंथ प्रारम्भ करने का श्रेय कबीर को ही देना होगा।"[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "जहाँ तक पता चलता है निर्गुण मार्ग के निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीर दास ही थे।"[4] एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं, "नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण-पंथ' के लिए मार्ग निकालने वाले नाथ-पंथ के जोगी और भक्त नामदेव थे।"[5]

ऊपर के उद्धरणों से जहाँ एक ओर संत कबीर को संत-मत के प्रवर्तक के रूप में मान्यताएँ है, वहीं उसमें शंकाएँ भी हैं। ऊपर के सभी विद्वानों ने कबीर को संत-मत का प्रवर्तक मानते हुए भी नामदेव से इसका प्रारम्भ स्वीकार किया है। फिर भी संत नामदेव को संत-मत का प्रवर्तक नहीं माना है। इसी को देखकर आचार्य विनयमोहन शर्मा ने लिखा है, "नामदेव चूँकि कबीर के पूर्व

---

१. कबीर ग्रंथावली की भूमिका
२,३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
४,५ हिन्दी साहित्य का इतिहास

हुए हैं इसलिए कबीर की वे निश्चय ही प्रेरक शक्ति रहे हैं। इतना होने पर भी हिन्दी के प्रसिद्ध विवेचक नामदेव को निर्गुण मत का प्रवर्तक नहीं मानते।"[1]

यहाँ कुछ स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) क्या नामदेव कबीर के पूर्व हुए थे? यदि हाँ तो कितने वर्ष पूर्व? (२) हिन्दी कविता वाले नामदेव कौन हैं? क्या ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विट्ठल-भक्त नामदेव हैं अथवा दूसरे कोई? (३) क्या नामदेव की रचना प्रामाणिक है? यहाँ क्रमशः इन प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है।

नामदेव का जन्मकाल शके ११९२ (सन् १२७०) प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र के विद्वानों में इस काल के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। कुछ अन्य विद्वानों ने हिन्दी कविता में प्रक्षिप्त पदरचनाओं के आधार पर नामदेव का काल कुछ बाद में खींचने का प्रयत्न किया है। श्री मोहन सिंह दीवाना अपनी पुस्तक 'भक्त-शिरोमणि नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली' में नामदेव के काल को सन् १३९० और १४५० के बीच माना है। इसका आधार उन्होंने नामदेव का मृत गाय जिलाने वाला पद[2] माना है। उन्होंने फिरोजशाह बहमनी को ही सुलतान माना है जिसने नामदेव को मृत गाय जिलाने की आज्ञा दी थी। यह दक्षिण में था और इसका काल सन् १३९७ से १४२२ ई० के मध्य का है। अन्य फिरोज सुलतान फिरोजशाह खिलजी (राज्यकाल सन् १२९० ई० से १२९६ तक) के साथ नामदेव के काल का मेल नहीं बैठता और फिरोजशाह तुगलक (राज्यकाल सन् १३५१ ई० १३८८ तक) के साथ स्थान का मेल नहीं बैठता क्योंकि फिरोजशाह न तो दक्षिण में आया था और न संत नामदेव दिल्ली ही गये थे। अतः इसी आधार पर श्री मोहन सिंह दीवाना ने नामदेव का काल खींचकर आगे बढ़ा दिया है। मोहन सिंह ने एक और तर्क दिया है। वह है संत नामदेव का रामानन्द का शिष्य होना। वे रामानन्द का जन्म सन् [illegible] और [illegible] ई० के बीच तथा कबीर का सन् १४५० और ६० ई० के बीच मानते हैं।

डॉ० मोहन सिंह के इन दोनों तर्कों में कोई तथ्य नहीं है। इसका तो कहीं उल्लेख भी नहीं है कि रामानन्द नामदेव के गुरु थे। महाराष्ट्र या हिन्दी साहित्य में भी यह प्रसिद्ध है कि संत ज्ञानेश्वर के पिता के गुरु रामानन्द थे। किन्तु श्री भावे के मत से उनके गुरु श्रीपाद स्वामी

---

१. हिन्दी को मराठी संतों की देन

२. अधिक व्यापव गणित अक्काशाळे। उगवला आदित्य तेजांकाशी।
शुक्ल एकादशी कार्तिकी रविवार। प्रभवसंवत्सर शालिवाहन शके॥

—नामदेव गाथा

३. गुरुग्रंथसाहब (नामदेव के हिन्दी पद—४७)—यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि डा० मोहन सिंह ने गुरुग्रंथसाहब के जिस पद के आधार पर गाय जिलाने की घटना का जिक्र किया है वह पद नामदेव-रचित मानने में मुझे सन्देह है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में मुझे एक हस्तलिखित संतों की परचई प्राप्त हुई है जिसमें नामदेव की भी परचई है। इसका लिपिकाल सं० १७४० और रचयिता कृष्णानंद हरीदास है। नामदेव की परचई में (जो दोहे-चौपाई में है) मृत गाय जिलाने का प्रसंग है जिसकी कथावस्तु गुरुग्रंथसाहब के इस पद से बहुत मिलती-जुलती है। भाषा और वर्ण्यविषय की दृष्टि से भी यह पद संदेहात्मक है।

थे।[1] रामानन्द का काल आज भी निश्चित नहीं है, पर इतना अवश्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे सन्त नामदेव के गुरु नहीं हो सकते। नामदेव के गुरु विसोबा खेचर थे जो नाथ-परम्परा के एक सिद्ध योगी थे।

कबीर की रचनाओं में नामदेव का नाम आया है—

गुरपरसादी जैदेव नामा प्रगटि कै प्रेम इन्हैं कै जाना।[2]

नामदेव की रचना में कबीर का नाम कहीं भी नहीं आया है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नामदेव कबीर के पूर्ववर्ती हैं। एक बात और भी ध्यान देने की है कि नामदेव और कबीर के परवर्ती सन्तों ने बड़ी ही श्रद्धा से दोनों का नाम लिया है, पर प्रायः नामदेव का नाम कबीर के पहले मिलता है—

नामा कबीर सु कौन थे कुन राँका बाँका।
भगति समानी सब घरनि तजि कुल काना का।।[3]—रज्जब
इहिं रस राते नामदेव पीपा अरु रैदास।
पीवत कबीर ना थक्या अजहूँ प्रेम पियास।।[4]—रज्जब
नामदेव कबीर जुलाहो, जन रैदास तिरैं।
दादू वेगि बार नहिं लागैं, हरिसों सबैं सरैं।।[5]—दादू
जेहि घर नाम कबीरा, पहुँचे करि तनमन धीरा।
अति ही सूछिम होय, जाइ मिले ब्रह्म कूँ सोइ।।[6]—तुलसीदास
आदि अंत लौं आइ कै राम नाम समाया।।[7]—सुन्दरदास
नामदेव कबीर तिलोचन, सधना, सेन तरै।
कह रविदास सुनो रे संतो हरि जीव ते सभै सरै।।[8]—रैदास

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कबीर का नाम नामदेव के पूर्व कहीं आया ही नहीं है। छंद-रचना में जहाँ जो शब्द बैठ गया, वहाँ रख दिया गया है। फिर भी नामों का क्रम देखकर लगता है कि ये रचयिता संतनाम क्रम के प्रति सचेत अवश्य थे।

संत कबीर का जन्मकाल यद्यपि आज भी विवाद-रहित नहीं है फिर भी बहुमत सन्

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत, पृ० १३३
२. कबीरग्रंथावली, पृ० ३२
३. संतसुधासार, पृ० ५२०
४. अभंगों, ह० लि० प्रति, पूना विश्वविद्यालय।
५. संतसुधासार, पृ० ४४१
६. संत बाणी संग्रह, ह० लि० प्रति, पूना विश्वविद्यालय।
७. संतसुधासार पृ० ४९०
८. संतसुधासार, पृ० १८१

१३९८ ई० मानने के पक्ष में है। कबीर का मृत्युकाल सन् १५७५ ई० है। नामदेव का जन्मकाल सन् १२७० ई० और मृत्युकाल सन् १३५० ई० है। इस प्रकार नामदेव का जन्म कबीर से १२८ वर्ष पूर्व हुआ था। इतना ही नहीं, नामदेव के मृत्युकाल और कबीर के जन्मकाल में भी ४८ वर्षों का अन्तर है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नामदेव का काल कबीर के काल से एक शताब्दी पूर्व था। यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि नामदेव सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे अथवा नहीं। संयोगवश ज्ञानेश्वर की जन्मतिथि में अधिक मतभेद नहीं है। डा० रानडे, भाण्डारकर, डा० तुलपुले के मत से उनकी जन्मतिथि सन् १२७५ ई० है और भावे, दाण्डेकर के मतानुसार सन् १२७१ ई० है। ज्ञानेश्वरी का रचना काल लगभग निर्विवाद है, क्योंकि स्वयं ज्ञानेश्वर ने ही अन्त में ज्ञानेश्वरी का रचनाकाल दे दिया है—

शके बारा से बारोत्तरें। तै टीका केली ज्ञानेश्वरें।
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखकू जाला॥*

ज्ञानेश्वर का समाधिकाल शके १२१८ (सन् १२९६ ई०) है। यह भी प्रसिद्ध है कि ज्ञानेश्वर सिर्फ २२ वर्ष तक जीवित रहे। ज्ञानेश्वर और नामदेव की उत्तर की तीर्थयात्रा केवल परम्परा से ही प्रसिद्ध नहीं है बल्कि नामदेव के मराठी अभंगों में उसका उल्लेख भी है। ज्ञानेश्वर की समाधि के समय नामदेव वर्तमान थे। क्योंकि उन्होंने ज्ञानेश्वर के वियोग का बड़ा ही हृदयद्रावक चित्र अपने अभंगों में खींचा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर का नामदेव के संबंध में कथन महत्त्वपूर्ण और अकाट्य प्रमाण है। ज्ञानेश्वर ने लिखा है—

भक्त भागवत बहु काल ऐकले। बहु होउनि गेले, होती पुढे।
परि नामयाचे बोलणें नव्हे हे कवित्व हा रस अद्भुत विश्राम॥"

—पाँच संत कवि, नामदेव (तुलपुले)

अब दूसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी कवितावाले नामदेव क्या ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्रीय संत नामदेव हैं, अथवा दूसरे कोई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "उत्तरी भारत की संत परम्परा" में कई "नामदेव" का उल्लेख किया है। आश्चर्य की बात यह है कि चार महाराष्ट्रीय संत थे। नामदेव के मराठी अभंग और हिन्दी पदों में भी "विष्णुदास नामा" नाम बराबर आया है। यह एक समस्या है कि उक्तपद ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव के हैं अथवा विष्णुदास नामा के। विष्णुदास नामा संत नामदेव से निश्चय ही भिन्न हैं। विष्णुदास नामा का काल सन् १५८०-१६३० ई० के मध्य का है और उनकी प्रामाणिक रचना "शुकाख्यान" है जिसके अन्त की "ओवी" में रचनाकाल इस प्रकार दिया है

ऐसे शुकदेव चरित्र अगाध आणि विचित्र।
विष्णुदास नामा विनवीत भक्ता प्रति॥
मन्मथनाम संवत्सरे पौष्यमासी, सोमवार अमावस्येचा दिवशी
पूर्णता आली ग्रन्थासी, श्रौते सावकाशी परिसीजे॥[1]

बम्बई विश्वविद्यालय में डा० श्रीमती सरोजनी शेंडे द्वारा पी-एच्०डी० के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध में "विष्णुदास नामा" सम्बन्धी सभी बातें सविस्तार वर्णित हैं। उन्होंने "कमलाकर संता चें आख्यान" का एक अभंग प्रस्तुत किया है, जिसमें विष्णुदास नामा ने पूर्ववर्ती संतों के साथ नामदेव का भी नाम दिया है।[2] इससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि नामदेव और विष्णुदास नामा दो हैं। यह सम्भव है कि नामदेव ने अपने अभंगों में "विष्णुदास नामा" की मुद्रा लगाई हो किन्तु दोनों की भाषाशैली और वर्ण्य-विषय भिन्न हैं। विष्णुदास नामा का ग्रंथ-रचनाकाल सन् १५८०-१६३३ ई० के मध्य का है, जो ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव के काल से ढाई-सौ वर्ष बाद आता है। भाषा का अन्तर दोनों रचनाओं में स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त विष्णुदास नामा की रचनाओं में आचार-धर्म पर अधिक जोर है। कुछ रचनाएँ कूट समस्यात्मक भी हैं। विष्णुदास नामा अधिकतर विषयनिष्ठ और बहिर्मुख हैं। उनकी रचना में वर्णनात्मकता अधिक है। संत नामदेव एकान्तिक विट्ठल भक्त और भावुक हैं। इनकी रचनाओं में अनुभूति की सचाई और मार्मिकता है।

नामदेव नामक एक महानुभाव पंथी संत भी हुए हैं, जिसको ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव का समसामयिक कहा गया है। यह भी अपने को विष्णुदास नामा लिखते हैं। इन्होंने महाभारत पर ओवीबद्ध काव्य-रचना की है। इनके नाम से अन्य कोई रचना न तो प्राप्त ही हुई है और न कहीं उल्लेख ही है। पांगारकर[3] के अनुसार इन महानुभावी विष्णुदास नामा का संत नामदेवराय से कोई संबंध नहीं है। अतः नामदेव के नाम से प्रचलित हिन्दी पद इनके नहीं हो सकते।

महानुभाव पंथी एक अन्य व्यक्ति "नेसदेव" भी प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख महानुभाव पथ के प्रसिद्ध ग्रंथ "लीलाचरित्र" के "विट्ठल वीरु कथन" प्रकरण में आया है। इस ग्रंथ के अनुसार ये कोन्ही जाति के थे और महानुभाव पंथ में दीक्षित हुए थे। इनके काल का कोई निश्चित पता नहीं। कुछ लोगों ने इन्हें भी ज्ञानेश्वरकालीन संत नामदेव के साथ जोड़ दिया है, पर इनका न तो वारकरी सम्प्रदाय से कोई संबंध था और न इनकी किसी रचना का पता ही चलता है। इसके

---

१. ऐसा शुकदेव चरित्र जो अगाध और विचित्र है, भक्तों के प्रति सादर अर्पण करता है। मन्मथनाथ संवत्सर की पौष अमावस्या, सोमवार को ग्रंथ पूर्ण हुआ जिससे श्रोता द्रवित हो उठते हैं।

२. कोणी हि ऐके अवसरीं। सकल संत मिळोनी अवधारी।
कीर्तन करिती पजरी। पंढरपुरा चालिले॥
ज्ञानदेव सोपान देव चांगा मुक्ताबाई नामदेव।
कबीर रोहिदास भक्तराव महानन्दे चालिले॥

३ मराठी वाङ्मय का इतिहास, प्रथम खंड, पृ० ५५४

अतिरिक्त मारवाड़ में भी किसी नामदेव नामक संत का होना बताया जाता है। इनकी जीवनी और रचना के संबंध में कुछ ज्ञात न होने से उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

सबसे अधिक विवाद इस बात को लेकर है कि महाराष्ट्रीय संत नामदेव भिन्न हैं और पंजाबी (गुरुग्रंथसाहब के) नामदेव जिनकी रचना हिन्दी में मिलती है, भिन्न हैं। इस संबंध में जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(क) जो नामदेव पंढरपुर के विट्ठल को एक क्षण भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे वे पंढरपुर छोड़कर लगभग २० वर्ष तक बाहर रहे, यह आश्चर्य की बात है, जिस पर विश्वास नहीं होता।

(ख) जिन नामदेव ने ज्ञानेश्वर महाराज के साथ की यात्रा का अपने अभंगों—तीर्थावली—में इतना विस्तृत और रोचक वर्णन किया है, वही इतनी दीर्घकालीन यात्रा का वर्णन एक भी स्थान पर, न मराठी अभंगों में कहीं न हिन्दी पदों में, यह असम्भव-सा जान पड़ता है।

(ग) महाराष्ट्रीय संत नामदेव की पंजाब-यात्रा अथवा पंजाब-निवास का उल्लेख न तो महाराष्ट्र के इतिहास में प्राप्त होता है और न पंजाब के इतिहास में।

ऊपर के तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि महाराष्ट्रीय संत नामदेव का पंजाब में जाना, घामान गांव में लम्बी अवधि तक निवास करना और हिन्दी में पद-रचना करना अन्तः साक्ष्य तथा बहिस्साक्ष्य दोनों से रहित है। इस संबंध में यह अनुमान प्रस्तुत किया जाता है कि "गुरु-ग्रंथसाहब के पद रचयिता नामदेव का महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरकालीन संत नामदेव से कोई संबंध नहीं है, वह उनका पंजाब यात्रा के समय कोई शिष्य रहा होगा, जिसने बाद में अपने गुरु का नाम धारण कर हिन्दी में पद रचे होंगे।[1]" एक दूसरा अनुमान भी कुछ लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका कहना है कि नामदेव के किसी शिष्य ने अथवा अन्य संत ने महाराष्ट्रीय संत नामदेव के मराठी अभंगों का हिन्दी में अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। कई ऐसे पद भी हैं जो हिन्दी मराठी में समान भाववाले हैं।

यहाँ ऊपर दिए हुए तर्कों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है। यह बात निर्विवाद है कि संत नामदेव ज्ञानेश्वर के साथ उत्तर भारत की यात्रा के लिए गए थे। यह यात्रा उन्होंने तब की थी जब विट्ठल भगवान् के प्रति उनकी भक्ति अत्यन्त भावात्मक प्रकार की थी। वे विट्ठल के बिना तड़पने लगते थे। यदि ऐसे समय में उन्होंने पंढरपुर छोड़कर उत्तर भारत की यात्रा की तो प्रौढ़ावस्था में—जब उनमें परिपक्व ज्ञान और अनुभूति थी—पंजाब की यात्रा करना असम्भव नहीं। यह सही है कि "तीर्थावली" का विस्तृत वर्णन करनेवाले नामदेव ने पंजाब की यात्रा का उल्लेख तक नहीं किया, पर अभी यह प्रमाणित करना शेष है कि तीर्थावली के अभंग नामदेव रचित हैं। डा० तुळपुळे के अनुसार नामदेव गाथा के २५-२६ सौ अभंगों में केवल ५-६ सौ अभंग ही वास्तव में नामदेव रचित हैं, शेष प्रक्षिप्त हैं। दूसरी बात यह भी है कि संत नामदेव ने पंजाब यात्रा अपने जीवन के उत्तरकाल में (५० वर्ष की अवस्था के ऊपर) की, जब उनके पास गहरी अनुभूति, सांसारिकता से वैराग्य के अतिरिक्त अन्य कुछ कहने को नहीं था। यह भी प्रसिद्ध

---

१. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन।

है कि सन्तों ने सर्वदा ही अपने बारे में कम कहा है। इतिहास में नामदेव की चर्चा न आना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पहले के इतिहास में राजा, युद्ध, दरबारी के अतिरिक्त अन्य बहुत कम ही आ पाता था। न जाने कितने संतों का वर्णन इतिहास में नहीं है। अतः संत नामदेव की पंजाब-यात्रा का वर्णन इतिहास में न होना यात्रा का अप्रमाण नहीं है।

महाराष्ट्रीय संत नामदेव के किसी शिष्य द्वारा हिन्दी पदों की रचना की जो बात कही गई है, वह तो पिछले तर्क हिन्दी मराठी पदों के साम्य-से ही व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। यदि हिन्दी पद उनके किसी शिष्य द्वारा रचे गए होते तो मराठी अभंगों की शब्दावली का साम्य, भाव साम्य और महाराष्ट्र में प्रचलित यादवकालीन मराठी के कुछ विशिष्ट प्रयोग न मिलते। हिन्दी पद जो मराठी से साम्य रखते हैं, उनकी कुल संख्या केवल ९-१० है। यदि हिन्दी पद मराठी के अनुवाद-प्रयत्न होते तो हिन्दी के सैकड़ों पदों की छाया मराठी अभंगों में कहीं न कहीं तो मिलती, पर ऐसा नहीं है। गुरुग्रन्थसाहब के हिन्दी पद महाराष्ट्रीय संत नामदेव के ही हैं। वे अपने जीवन के उत्तर-काल में पंजाब में गए और वहीं लगभग २० वर्ष तक रहे। वास्तविक बात यह है कि अपने परम स्नेही मित्र ज्ञानेश्वर के समाधि ले लेने के पश्चात् उनका मन पंढरपुर से उचट गया और कुछ दिन के पश्चात् वे पंजाब की ओर चले गये। वहाँ गुरुदासपुर जिले के घुमान ग्राम में रहकर भजन-कीर्तन करते रहे। उनकी समाधि लेने के स्थान के बारे में दो मत हैं। पंजाब की परम्परा के अनुसार उन्होंने घुमान में ही समाधि ली। पर नामदेव के शिष्य "परिसा भागवत" के एक अभंग[1] द्वारा सन् १३५० ई० में पंढरपुर में ही उनके समाधि लेने की बात पुष्ट होती है। आज भी घुमान में बाबा नामदेव जी का गुरुद्वारा है और उनके अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या है।

महाराष्ट्रीय संत नामदेव और गुरुग्रंथ के नामदेव एक ही हैं, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं। सबसे पहली बात यह है कि नामदेव के जन्मस्थान और वंश के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में साम्य है। नामदेव के जीवन सम्बन्धी जो घटनाएँ तथा उनके चमत्कार महाराष्ट्र में प्रचलित हैं, अथवा उनके अभंगों में मिलते हैं, वही घटनाएँ और चमत्कार पंजाबी परम्परा में भी प्रचलित हैं और हिन्दी के पदों में भी प्राप्त हैं। मृत गाय को जिलाने, बिट्ठल को दूध पिलाने, मन्दिर का द्वार फिराने आदि की घटनाएँ दोनों रचनाओं में समान रूप से प्राप्त होती हैं। पंजाबी परम्परा के अनुसार गुरुग्रंथ के नामदेव भिन्न नहीं, बल्कि महाराष्ट्रीय संत नामदेव ही हैं।[2]

दूसरी बात यह है कि हिन्दी पदों और मराठी अभंगों में बिट्ठल शब्द के उपयोग के साथ-साथ केशव, माधव, राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का समान रूप से व्यवहार हुआ है। हिन्दी के कवियों ने बिट्ठल का प्रयोग कहीं नहीं किया है। बिट्ठल महाराष्ट्र के देवता हैं और सन्त नामदेव उन्हीं के भक्त थे। इसलिए प्रधान रूप से बिट्ठल शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी, मराठी पदों का वर्ण्य-विषय एक न होते हुए भी सामान्य बातें—ईश्वर की सर्वव्यापकता,

---

१. आषाढ़ शुक्ल एकादशी। नामा विनवी बिट्ठलासी।
आज्ञा व्हावी हो मजसी। समाधि विश्रान्ति लागी॥
२ भगत नामदेव की बाबत सखी ज्ञानी करतार सिंह।

नाम और गुरु का महिमा वर्णन, बाह्याडम्बरों की व्यर्थता, प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल आदि प्राचीन भक्तों के कथा-सन्दर्भ लगभग एक से ही हैं।

पंजाबी और महाराष्ट्रीय संत नामदेव के एक होने में सबसे सबल प्रमाण है मराठी के कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग। यदि प्रत्यय आदि को हम पुरानी हिन्दी का ही एक रूप मान लें तो भी हम विशिष्ट मराठी शब्दों को, जो प्राचीन काल में विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त होते थे, या आज होते हैं, किसी भी प्रकार हिन्दी का नहीं मान सकते। गुरुग्रन्थसाहब में आई हुई एक पंक्ति है —

पाप पुनि जाकै डांगिया द्वारै चित्र गुपुत लेखिया।
धर्मराय पौली प्रतिहार ऐसो राजा श्रीगोपाल॥

[पाप पुण्य जिसके चौकीदार (डांगिया) हैं, द्वार पर चित्रगुप्त लेखक हैं, धर्मराज जिसकी ड्योढ़ी पर प्रतिहार हैं, ऐसा राजा वह श्रीगोपाल है।]

"डांगिया" मराठी का एक विशिष्ट शब्द है, जो विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1] पंढरपुर के विट्ठल मन्दिर के दरवाजे पर दोनों तरफ जो जय-विजय के प्रतिहारी खड़े हैं, उन्हें डांगिया कहा जाता है। उसी पद में दूसरी पंक्ति है—

"जाकै घरा दिग दसा सराइचा बैकुण्ठ भिखमागे।"

(जिसके घर में दसों दिशाएं समाप्त होती हैं और बैकुंठ के समान जिसकी [illegible] है।)

"साराइचा" शब्द मराठी के "सरणे" क्रिया से बना है, जिसका अर्थ होता है समाप्त होना।[2] एक और विशिष्ट शब्द देखिए—

"आणिले केसरि सुकडि समसरि, बाल्गोविन्दहि पौंडि ल्वौं।

(सुगड भर कर केसर ले आया कि बालगोविन्द को चन्दन लगाऊं।) "सुकडि" शब्द मराठी के "सुगड" शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ होता है, मिट्टी का छोटा बर्तन। इस प्रकार बोलखै-ओळखै (पहचानना), दीवला (दीपक), सकार-समकार (भी) आदि शब्द भी हैं। मराठी के इन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि गुरुग्रन्थसाहब के नामदेव और ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्रीय नामदेव एक ही हैं।

तीसरा प्रश्न बहुत ही महत्व का है। क्या नामदेव की रचना प्रमाणित है? ऐसा भी हो सकता है कि किसी बाद के संत की ये रचनाएँ हों। नामदेव के १०० वर्ष बाद के कबीर की रचना और पाठ-निर्णय का अभी पहला प्रयास डा० पारसनाथ तिवारी (प्रयाग) द्वारा हो पाया है, तब नामदेव की प्राप्त रचनाओं की प्रामाणिकता का निर्णय और भी कठिन माना जा सकता है। वास्तविक बात यह है कि संत नामदेव की रचनाओं का अभी तक हिन्दी संसार को पता नहीं है। ग्रंथसाहब के ६१ पद ही अभी तक नामदेव की सम्पूर्ण हिन्दी रचना समझी जाती है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने अपनी पुस्तक "हिन्दी को मराठी सन्तों की देन" में ११ और पद दिए हैं, जो

---

१. महाराष्ट्र शब्दकोश, चौथा विभाग, पृ० १४२१

२ वही ७ वां विभाग, पृ० ३०४२

ग्रंथसाहब से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त संत नामदेव की गाथा में १०३ हिन्दुस्तानी पद हैं जिनमें कुछ ग्रंथसाहब के हैं और कुछ और दूसरे। किन्तु नामदेव की हिन्दी रचनाएँ इतनी ही नहीं हैं। मुझे विभिन्न प्रकाशित और हस्तलिखित प्रतियों से कुल ३०० पद नामदेव के प्राप्त हुए हैं। हस्तलिखित प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सेंट्रल पब्लिक लायब्रेरी, पटियाला, बाबा नामदेव जी का गुरुद्वारा, घुमान (गुरुदासपुर), पंढरपुर, पूना विश्वविद्यालय आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। कुछ प्रतियाँ जयपुर में भी हैं, जिन्हें देखने का अभी तक अवसर नहीं मिला। रज्जब की "सर्वंगी" में भी नामदेव के ५० से ऊपर पद संग्रहीत हैं। और भी अनेक सन्तवाणियों के सग्रह में नामदेव के पद हैं। मेरा विश्वास है कि महाराष्ट्र, उत्तर भारत, पंजाब और राजस्थान में नामदेव के और भी पद मिल सकते हैं।

देखना यह है कि इन रचनाओं में प्रामाणिकता कहाँ तक है। गुरुग्रंथसाहब का संकलन सन् १६०४ में हुआ। नामदेव की रचना-सम्बन्धी यही सबसे प्राचीन ग्रंथ अब तक माना गया है। मुझे एक हस्तलिखित प्रति सन् १६५८ ई० की देखने को मिली है, जिसमें नामदेव के पदों की संख्या १२८ है। यही सबसे पुरानी प्रति अभी तक मिली है। इसके अतिरिक्त १८वीं, १९वीं शताब्दी की कई प्रतियां भी मिली हैं। पाठ की दृष्टि से गुरुग्रंथसाहब का पाठ सबसे भ्रष्ट है। इसके कुछ पद तो अभी तक कहीं भी नहीं प्राप्त हुए हैं। जैसे अन्य संत कवियों के नाम पर बहुत-सी रचनाएँ प्रसिद्ध हो गई हैं, वैसे नामदेव के नाम पर भी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर पाठशास्त्र के आधार पर लगभग १५० पद निश्चित ही नामदेव के हैं। ५० पद ऐसे हैं जो दूसरों के हैं, ५० ऐसे हैं जो आधे मराठी के आधे हिन्दी के हैं या सम्पूर्ण मराठी के भ्रष्ट रूप में हैं, और शेष ५० अभी तक संदिग्ध हैं। उनमें से कुछ गोरखनाथ, कबीर आदि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ—

देवा बेन बाजै, गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै। पद कबीर ग्रंथावली (ना. प्र. स.) के पद १९६ पृ० १५४ से बिल्कुल मिलता-जुलता है। कबीर की पाठ-समस्या पर काम करने वाले डॉ० पारसनाथ तिवारी (प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय) ने इसे कबीर की प्रामाणिक रचना नहीं माना है। गुरुग्रंथ साहब में प्राप्त पद १९ "तीन छंद खेलु आछै", गोरखबानी (डा० बड़थ्वाल संपादित) के पद ४२ से बिल्कुल मिलता-जुलता है। इस प्रकार अनेक ऐसे पद हैं जिनके सम्बन्ध में निर्णय करना अभी शेष है।

ये हस्तलिखित प्रतियाँ, जो विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं और नामदेव की हिन्दी पदों की परम्परा तथा नामदेव के पश्चात् होने वाले हिन्दी संत कवियों द्वारा नामदेव की प्रशस्ति निश्चित रूप से यह प्रमाणित करती हैं कि नामदेव ने हिन्दी कविता की थी और वह भी २-४ नमूने के लिए नहीं, बल्कि सैकड़ों की संख्या में।

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने प्रश्न उठाया है कि "नामदेव कबीर से पूर्व हुए, उन्होंने निर्गुण भक्ति का उत्तर भारत में क्यों प्रचार किया, फिर भी उन्हें उस पंथ का प्रवर्तक मानने में विद्वानों को क्यों झिझक होती है।"[1] इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने श्री परशुराम चतुर्वेदी के

---

१ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० १२५

आरोपों के साथ दिया है। आचार्य जी निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं—'कबीर के गुरुदेव नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर-मात्रा में नहीं मिलतीं। परन्तु जो कुछ प्राप्त हैं, उनमें उत्तर भारत की सत परम्परा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती संतों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पडा है, जिसे उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में इन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्त्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए।'[1]

यहाँ उस प्रश्न और उसके उत्तर पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उत्तर भारत के संत-मत की विशेषताएँ बतलाते हुए इसके अन्तर्गत में सत्यान्वेषण, सत्गुरु महत्त्व प्रतिपादन, नामस्मरण का आग्रह, बाह्याडम्बर की उपेक्षा, सहजावस्था की प्राप्ति आदि विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये सभी विशेषताएँ संत नामदेव मे प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं।

भक्त जब अपने इष्टदेव की आराधना करता है तब उसमें अनन्यता का भाव ही प्रधान होता है। संत नामदेव कहते हैं—

राम जुहारि न और जुहारौं। जीवन जाइ जनम कत हारौं॥
आन देव सों दीन न भाषौं। राम रसायन रसना चाखौं॥

क्योंकि उन्हें विश्वास है कि—

थावर जंगम कीट पतंगा, सति राम सबहिन कै संगा।

और यही कारण है कि—

जा कारन त्रिभुवन फिरि आए। सो निधान घरि बैठे पाए॥
नामदेव कहैं कहूँ आइए न जाइए। अपने राम घरि बैठे गाइए॥

सचमुच उनके हृदय में सब कुछ है—

हिरदै माला हिरदै गोपाला। हिरदै गोविंद को जपमाला।
हिरदै दीपक घटि उजियाला। छूटि किवार टूटि गयो ताला॥

सत्य का कितना मार्मिक रूप उन्होंने उद्घाटित किया है—

जामैं सकल जीव की उतपति। सकल जीव मैं आप [illegible] जी।
माया मोह करि जगत भुलाया। घटि घटि व्यापक राम जी।
सो बैकुंठ कहाँ धौं कैसा। जाइ कहै कहँ आइए।
यहु परतीति मोहि नहिं आवै। जीवति मुकति न पाइए।

अपने इसी सत्यान्वेषण के आधार पर वे डंके की चोट पर यह निर्णय दे देते हैं कि—
"राम भगति बिन गति न तिरन की, कोटि उपाव जो करहु रे नर!"

१ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० १२१

सत्य का अन्वेषण और ज्ञान की प्राप्ति बिना गुरु और गुरु-कृपा के सम्भव नहीं है। नामदेव के लिए "गुरु की सबद बैकुंठ निसरनी" है। वे अपने मन को चेतावनी देते हुए दुःख का कारण भी स्पष्ट कर देते हैं—

अनेक बार पसू ह्वै अवतर्‌यौ लख चौरासी भरमत फिरचौ।
पायो नहीं कहीं विश्राम सतगुरु सरन कह्यौ नहिं राम॥

यह निश्चित है कि बिना गुरु प्रसाद के कुछ प्राप्त नहीं होता—

"प्रणवत नामदेव गुरु परसादै, पाया तिनहि लुकाया।"

गुरु ने नामदेव को भी सब कुछ दिया है। इसीलिए वे कहीं आना-जाना नहीं चाहते—

तीरथ जाऊँ न जल मैं पैंसी, जीव जंत न सताऊँगा।
अठसठि तीरथ गुरु लपाए, घटि ही भीतर न्हाऊँगा॥

हरि नाम की महिमा अपार है। वही तो इस विश्व में एक तत्त्व है। नामदेव कहते हैं—

हरि नांव सकल भुवन ततसार। हरि नांव नामदेव उतरे पार।

सार तुम्हारा नाम है, झूठा सब संसार।
मनसा वाचा क्रमना कलि केवल नाम अधार।

हरि नाम ने संसार में साधारण काम नहीं किया है—

हरि नावैं निज कँवला दासी, हरि नावैं संकर अविनासी।
हरि नांवैं ध्रुव निहचल करिया, हरि नांवैं प्रहिलाद उधरिया॥

इतना ही नहीं,

कौने कै कलंक रह्यौ राम नाम लेत ही।
पतित पावन भयौ राम कहत ही॥

हरि नाम की तुलना में संसार की कोई वस्तु आ ही नहीं सकती—

सब बसुधा दान दै आवै, कोटि कोटि जग करै रु करावै॥
सकल तीरथ करै असनान, नहीं नहीं रे हरिनांव समान।
कासी ले करवत मरै, बहुरै जाई हिवालै गरै।
तुला तोलि जे देई दान, नहीं नहीं रे हरि नांव समान।

नाम की इसी महत्ता को देखकर नामदेव कहते हैं—

राम नाम मेरे पूँजी धना, जा पूँजी मेरो लाग्यौ मना।
राम सौ धन ताको कहाँ अब थोरौ, अठसिधि नवनिधि करत निहोरौ।

यही कारण है कि नामदेव ने अपने मन को पूर्णतः "नाम" पर लगा दिया है।

ऐसा मन राम नामै बेधिला जैसे कनक तुला चित राधिका।

नामदेव की तो यह प्रतिज्ञा है—

"जो हरिदास सबनि थैं नीचे, ताकूं कहैं अकेल रामा।"

क्योंकि वे जानते हैं—

"जब लगि राम नामैं हित न भयौ, तौ लगि मेरी मेरी करता जनम गयौ।"

बाह्य कर्मकाण्डों से कोई लाभ थोड़े ही होता है। इनको अपनाना तो व्यर्थ ही जन्म बरबाद करना है—

लागी पंक पंक लै धोवैं, निरमल न होवै जनम बिगोवै।
भीतरि मैला बाहरि चोखा, पाणी पिंड पखाल्यौ धोखा।
नामदेव कहै सुरहौं परहरिए, भेड़ पूंछ कैसे भवजल तरिए।

वास्तव में 'पाखंड भगति राम नहिं रीझै। बाहरि आंधा लोक पतीजै।' आडम्बरपूर्ण भक्ति पर नामदेव को तरस आता है और वे व्यंग्यपूर्वक कहते हैं—

भगति भला बाबा कादला। बिन पग्गीलै पूरै बिलां।
न्हावै धोवै करै असनान। हिरदै अविगत नाहीं ग्यान।
गलि पहिरैं तुलसी की माला। अन्तरगति कोढ़्या [illegible]।

मूर्तिपूजा और बलि का खंडन संत नामदेव ने बार-बार किया है—

पाहन आगैं देव काटिला। वाको प्राण नाहीं [illegible]।
निरजीव आगैं सरजीव मारै। देखत जनम आपणा हारै।

बिना प्रभु पर पूर्ण विश्वास किए तीर्थव्रत आदि व्यर्थ हैं—

तीरथ बरत जगत की आसा। फोकट कीजै बिन बिसवासा॥
एकादसी जगत की करनी। पाया महल [illegible]॥

लोगों के आडम्बर पर नामदेव को कितना क्षोभ होता है—

मन थिर होई बारे न होई, ऐसा भिखन करै मवार।
भीतरि मैला मूंडिया फिरै, क्यों उतरै भव पार॥
रुद्राष सिषा जप माला मंडै, ताको मरम न जानै कोई।
आप न देखै और दिखावै, कपट मुकति क्या होई॥

सहज अवस्था का सुन्दर चित्रण नामदेव ने किया है।

जहाँ तहाँ मिल्यौ सांई। साधै कहूं सुनैं कोई॥
अभेदै अभेद मिल्यौ। भेदै मिल्यौ भेदू॥
सहज सोई सहजैं मिल्यौ। षेलैं मिल्यौ षेलू॥
दुष सोई दुषै मिल्यौ। सुषै सुष समाना॥
ग्यान सोई ग्यानै मिल्यौ। ध्यानै मिल्यौ ध्याना॥
देख्यौ कहौं तो निपट झूठा। सुनौं कहौं तो झूठा रे।
नामदेव कहै जे आगम मर्म तौ पूछ्या कवन पूछ्या रे।

इस प्रकार यदि हम देखें तो नामदेव में उत्तर भारत के संत-मत की सभी विशेषताएँ प्रा
। इसके अतिरिक्त कबीर आदि की तरह उल्टवासियाँ, हठयोग आदि से सम्बन्धित
ा होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण सन्तों की रचनाओं की सामान्य विशेपताओं में निम
बातों का समावेश किया है। भारतीय अद्वैतवाद, योगियों का नाड़ीचक्र, सूफियो
, अहिंसावाद, एकेश्वरवाद, माया, जीव, अनहदनाद, ब्रह्मसम्बन्धी विचार, सात्विक जीव
सना, अवतारवाद, मूर्तिपूजा का खंडन, नमाज, रोजा की असारता।[1] नामदेव की रचना
ी बातें मिलती हैं। यहाँ बिल्कुल संक्षेप में कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

तू अगाध बैकुंठ नाथा। तेरे चरणों मेरा माथा॥
अब भूत नाना पेषाँ। जब जाऊँ तब तूँ ही देषाँ॥
नामदेव भणै मेरे ये ही पूजा। आतमराम अवर नहिं दूजा॥
मैं जन जीव ब्रह्म तू माधव। बिन देखे दुख पाइए॥
राखि समीप कहै जन नामा। संगि मिला गुन गाइए॥
बीहौं बीहौं तेरी सबल माया। आगै इनि अनेक भरमाया॥
माया के अन्तरि ब्रह्म न दीसै। ब्रह्म के अन्तरि माया न दीसै॥
मास दिवस लगि रोजा सावै। कलमा बाँग पुकारै॥
मनमैं कांती जीव संहारै। नांव अलह का सारै॥
इला पिंगुला सुषुमनि नारी। पौना मंझि समाऊँगा॥
चन्द सूर दोउ सम करि राखौं। ब्रह्म जोति मिलि जाऊँगा॥
गगन मंडल पर रहनि हमारी। सहज सुंनि गृह मेला॥
अन्तर धुनि मैं मन बिलमाऊँ। कोइ जोगिया गमि लहैला॥
अनेक सिंगार करै बहु कामिनि। पीव के मन नहिं भावै भामिनि॥
पतिबरता पति ही कूं जानै। नामदेव कहै हरि ताकी मानै॥

अनेक पद उल्टवासियों के भी हैं—

जाणौं न जाणौं बेद पुराना, छांडौं पाना पोथी।
बिना मेघा मुकताहलि बरिषै, स्रवै निरन्तर मोती॥
बिनै बजाया बाजा बाजै, नादै अम्बर गाजै।
बिन भेरै होत झनकारा, न दीसै बजावन हारा॥
बिन पावक जोति ही दीसै, सुनि मैं सूता जागै।

ऊपर के सभी उदाहरणों को देखते हुए हमें यह कहना ही पड़ेगा कि निर्गुण सन्तों क
में प्राप्त होनेवाली सभी विशेषताएँ नामदेव की हिन्दी रचनाओं में प्राप्त होती हैं
। के कारण इस निबन्ध में कुछ ही उदाहरण दिए गए हैं

विद्वानों के मतानुसार भक्ति की लहर उत्तर में दक्षिण से आई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी पुष्टि की है।[1] पर इस लहर को ले आने वाले कौन थे? यह प्रचलित है कि रामानन्द ने दक्षिण की आलवार-भक्ति परम्परा का विकास उत्तर भारत में १४वीं सदी में किया। किन्तु उनकी भक्ति का रूप निर्गुण भक्ति से बिल्कुल ही भिन्न था। निर्गुण भक्ति के प्रवर्तक श्री रामानन्द माने जाते हैं। किन्तु इसके पूर्व ही संत नामदेव ने निर्गुण भक्ति का प्रचार पंजाब में प्रारम्भ किया था। नामदेव महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के संत थे, जिसमें सगुण भक्ति प्रचलित थी। किन्तु नाथपंथी विसोबा खेचर से दीक्षित होने के पश्चात् उनकी प्रवृत्ति निर्गुण भक्ति की ओर हुई और तत्कालीन महाराष्ट्र और पंजाब में प्रचलित नाथपंथ का उन पर प्रभाव पड़ा। इस तरह निर्गुण पंथ के प्रथम प्रवर्तक नामदेव ही हो सकते हैं, दूसरा नहीं। आचार्य शुक्ल ने लिखा भी है—"नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि निर्गुण पंथ के लिए मार्ग निकालने वाले नाथपंथ के योगी और भक्त नामदेव थे।"[2]

श्री रामानन्द पर श्री नामदेव का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि रामानन्द ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। इस सम्बन्ध में डा० तुळपुळे का मत द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं—"भागवत धर्म का झंडा उत्तर में फहराने वाले नामदेव ही पहले संत थे। पंढरपुर की भक्ति-मार्ग की लहर उन्होंने सीधे पंजाब में ले जाकर पहुँचाई और उनमें ही आगे रामानन्द, कबीर, नानक, रैदास, पीपा आदि सन्त हुए।[3]

डॉ० सरनाम सिंह ने भी लिखा—"कबीर पंथवादी थे, यह समझना भ्रम होगा। किन्तु यह सत्य है कि उन्हें नया पंथ चलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी, क्योंकि वे सुधारवादी थे। निर्गुण पंथ को नया पंथ इसीलिए नहीं समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई नई चीज थी। ईंट और रोड़े सब पुराने थे, यदि कोई नवीनता थी तो उसमें भानुमती का कुनबा जोड़ने में थी।" आगे स्पष्ट रूप से उन्होंने लिखा है—"कुछ लोग कबीर को संत-मत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु उनको संतमाला की उज्ज्वल मणि ही कहना समीचीन होगा।"[4]

ऊपर के उद्धरणों और कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संत-मत का बीजारोपण नामदेव द्वारा हुआ। जैसा कि डॉ० बड़थ्वाल ने लिखा है—"निर्गुण मत विचारधारा को कबीर के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई,"[5] परन्तु इसकी स्थापना नामदेव द्वारा ही हुई। संत नामदेव

---

१. भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुकूल हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्तिमार्ग की भावना, कुछ लोगों में जगाई—हि० सा० का इतिहास पृ०, ६४

२. हि० सा० का इतिहास, पृ० ७०

३. भागवत धर्माचा झेंडा उत्तरे कडे नाचविणारे नामदेव हे पहिले संत होत पंढरपुरच्या भक्ति मार्गाची लाट त्यांनी थेट पंजाबात नेऊन पोचविली आणि त्यापुढत पुढे रामानंद, कबीर, नानक, रैदास, पीपा इत्यादि संत झाले। पांच संत कवि, पृ० १९१

४ कबीर एक विवेचन पृ० १०३

५ हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय।

द्वारा लगाई हुई इस बेलि को कबीर ने सींचा, विकसित किया और पुष्ट किया। आगे चलकर उस पथ के साथ कबीर की प्रतिभा ने अपना नाम अमर कर लिया और नामदेव का नाम पीछे पड़ गया। वास्तव में कबीर और निर्गुण पथ अन्योन्याश्रित हो गए। यदि कबीर न होते तो नामदेव के द्वारा लगाई गई यह वेलि सूख जाती। किसी परम्परा को प्रारम्भ करना महत्वपूर्ण तो है ही, उससे भी महत्वपूर्ण है उसे सबल और समर्थ बनाकर उसका विकास करना। संत पीपा ने निर्गुण पथ तथा संत-मत के सम्बन्ध में दोनों का महत्व समझा है। उन्होंने दोनों को एक सा ही पद प्रदान किया है। सन्त पीपा कहते हैं—

जौं कलिनाम कबीर न होते।
तौ लोक, बेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातल देते।।
हमसे पतित कहौ क्या कहते कौन प्रतीति मन धरते।
नाना बरन देखि सुनि स्रवनौ बहुमारग अनुसरते।।
नृगुणी भगति रहित भगवता बिरला कोई पावै।
सोइ कृपा करि देहु कृपानिधि नाम कबीरा गावै।।
अपनी भगति काज हरि आपै, निज जन आप पठाया।
नाम कबीरा साँच प्रकास्या, तहाँ पीपै कछु पाया।।[1]

पीपा का उपर्युक्त कथन सचमुच बड़े महत्व का है। निर्गुण भक्ति के लिए नामदेव और कबीर का ही नाम लिया जा सकता है। नामदेव कबीर के पूर्ववर्ती होने के कारण संत-मत के प्रारम्भ कर्त्ता कहे जाएँगे। अतः निःसंकोच रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में सन्त-मत के आदि प्रवर्तक संत नामदेव हैं।

मलूकदास : तीन नहीं, एक

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में मलूक पंथ का विवरण प्रस्तुत करते हुये तीन मलूकदासों की कल्पना की है। एक हैं कबीर-शिष्य मलूकदास, दूसरे हैं वैरागी मलूकदास और तीसरे हैं प्रसिद्ध सन्त मलूकदास। एक नाम के अनेक व्यक्ति भिन्न भिन्न समयों पर तो होते ही रहते हैं, एक समय में एक नाम के अनेक व्यक्ति भी होते हैं, इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं। पर ऊपर के तीनों मलूकदास तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, ऐसा नहीं है।

कबीर-शिष्य मलूकदास

डा० श्यामसुन्दरदास ने जिस प्रति के आधार पर 'कबीर ग्रंथावली' का सम्पादन किया है, वह सम्वत् १५६१ की लिखी हुयी समझी जाती है। इसे किसी खेमचन्द के पठनार्थ किसी मलूकदास ने काशी में लिखा था। उक्त ग्रंथावली की भूमिका में डा० श्यामसुन्दरदास इस तथ्य का उल्लेख करने के अनन्तर लिखते हैं:—

"क्या ये मलूकदास कबीरदास जी के वही शिष्य तो नहीं थे जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे और जिनकी प्रसिद्ध खिचड़ी का अब तक भोग लगता है तथा जिनके विषय में कबीरदास जी ने स्वयं कहा है—'मेरा गुरु बनारसी, चेला समुंदर तीर।' यदि ये वही मलूकदास हैं तो इस प्रति का महत्त्व बहुत अधिक है।"—कबीर ग्रंथावली, भूमिका पृष्ठ २

यहाँ डा० श्यामसुन्दरदास ने उक्त हस्तलेख के लेखक मलूकदास को, जिनकी जगन्नाथपुरी में समाधि है, उन मलूकदास से अभिन्न होने का कोई अनुमान नहीं किया है। सारा बल 'यदि' का है। चतुर्वेदी जी के अनुसार डा० श्यामसुन्दरदास ने "अनुमान किया है कि, वे कबीर साहब के शिष्य थे, जगन्नाथपुरी में जाकर बसे थे तथा उन्हीं की खिचड़ी का भोग वहाँ अब तक लगा करता है।" पर चतुर्वेदी जी का यह कथन अनुमान-सिद्ध है। कबीर के दोहे में आये समुद्रतट वासी शिष्य मलूकदास ही हैं और यह स्थान जगन्नाथपुरी ही है, ऐसा मानने का कोई सुनिश्चित आधार नहीं है। चतुर्वेदी जी लिखते हैं:—

"जगन्नाथपुरी में किसी मलूकदास की एक समाधि कबीर साहब की समाधि के निकट ही बनी हुयी बतलाई जाती है। अतएव यह सम्भव है कि कबीर साहब के शिष्य माने जाने वाले कोई मलूकदास जगन्नाथपुरी में रहते रहे हों और उन्हीं की समाधि भी वहाँ पर हो। कुछ लेखकों ने उक्त समाधि के विषय में लिखा है कि यह सन्त मलूकदास की ही है और उनके लिये उनके शव का कड़ा से वहाँ तक प्रवाहित होता हुआ चला आना भी कहा है। परन्तु ऐसी काल्पनिक घटना का प्रस्तुत किया जाना इस बात को सूचित करता है कि उक्त दोनों मलूकदासों को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा में ऐसा किया गया है। सन्त मलूकदास तथा उनके

कबीर शिष्य मलूकदास का समसामयिक होना उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सिद्ध नहीं।"—उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५०४

जगन्नाथपुरी में किसी मलूकदास की समाधि है। जनश्रुति के अनुसार यह प्रसिद्ध संत मलूकदास की समाधि है। उनका शव गंगा जी में बहता हुआ जगन्नाथपुरी तक जा पहुँचा और समाधि बना दी गई। चतुर्वेदी जी इसे काल्पनिक घटना मानते हैं। मैं भी इसे काल्पनिक ही मानता हूँ, पर उक्त समाधि प्रसिद्ध संत मलूकदास की ही है, मैं यह भी मानता हूँ। कबीरदास मगहर में मरे थे। उनकी वास्तविक समाधि मगहर में है। जगन्नाथपुरी में कबीर की जो समाधि है, निःसंदेह वह काल्पनिक है और उनके मरने के बहुत दिनों बाद किसी भक्त ने स्मारक-रूप में उसे बनवा दिया। उसी प्रकार मलूकदास मरे कड़ा में, और उनकी समाधि बनी जगन्नाथपुरी में—चाहे उनका शव बहता हुआ जगन्नाथपुरी में गया रहा हो या नहीं, यह बात अलग है। मलूकदास के भांजे मथुरादास ने 'मलूकदास की परिचयी' में लिखा है कि मलूकदास की मृत्यु के उपरान्त उनकी रथी कड़ा में गंगा जी की धारा में छोड़ दी गयी, जो कुछ दूर तक दिखाई देती रही, फिर विलुप्त हो गई। रथी प्रयाग, काशी, पटना, मखसूदाबाद, कासिम बाजार अठारह नगर होते हुये जगन्नाथपुरी जा पहुंची। जगन्नाथ जी ने पंडों को स्वप्न में मलूकदास की रथी उठा लाने का आदेश दिया। दो दिन तक रथी जगन्नाथ जी के मन्दिर में रखी रही। तीसरे दिन किवाड़ खुलने पर वह लुप्त थी। जगन्नाथ जी ने पंडों को पुनः आदेश दिया कि मलूक दास का स्थान मेरे पनाले के पास बना दो। उक्त स्थान अब तक विद्यमान है। मथुरादास की गवाही से स्पष्ट है कि जगन्नाथपुरी में जो समाधि मलूकदास की है, वह कबीर के किसी शिष्य की नहीं है, प्रसिद्ध संत मलूकदास की ही है। इन सबका निष्कर्ष यह है :—

(१) कबीर ग्रंथावली की प्रतिलिपि करने वाले काशी वासी एक मलूकदास थे, इसमें संदेह नहीं। हो सकता है वह कबीर के शिष्य भी रहे हों।

(२) जगन्नाथपुरी में जिस प्रकार काल्पनिक ढंग से कबीरदास की समाधि बना दी गई है, उसी प्रकार संत मलूकदास की भी। वे कबीर की मृत्यु (सं० १५७५ वि०) के ५६ वर्ष बाद पैदा हुये और १६४ वर्ष बाद मरे। यदि किसी प्रकार यह ज्ञात हो सके कि उक्त दोनो समाधियाँ जगन्नाथपुरी में कब या कब-कब और किसके-किसके द्वारा बनीं, तो कुछ विशेष निश्चय के साथ कहा जा सके। कहने का अभिप्राय यह कि जगन्नाथपुरी में जिन मलूकदास की समाधि है, वे प्रसिद्ध संत मलूकदास हैं। कबीर के शिष्य किसी अन्य मलूकदास की कल्पना करना व्यर्थ है।

बैरागी कबीरदास

चतुर्वेदी जी के अनुसार एक मलूकदास ने 'श्री मलूक शतकम्' नामक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में १०१ दोहे हैं। इनमें रामानन्द के सिद्धान्तानुसार अनेक साम्प्रदायिक बातों की चर्चा की गई है और विशिष्टाद्वैत मत को ही एक मात्र वेद-सिद्धान्त मानते हुये 'दशरथ-नृप, सुत चरण रज' का महत्त्व भी दर्शाया गया है। रचना के परिचय देने वाले ने भी इस ग्रंथ के

रचयिता को श्री महाराम के का कहा है

चतुर्वेदी जी ने निम्नांकित तीन कारणों से इन मलूकदास को प्रसिद्ध संत मलूकदास से भिन्न माना है:—

(१) प्रसिद्ध संत मलूकदास के स्वामी रामानन्द की किसी साम्प्रदायिक संस्था के साथ किसी सम्बन्ध का पता नहीं लगता।

(२) संत मलूकदास गृहस्थ थे, सम्भवतः उनका सीधा सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं था और न उनके वैरागी होने के प्रमाण उपलब्ध हैं।

(३) अजगर करै न चाकरी, पक्षी करै न काम।
दास मलूका कहत है, सबके दाता राम॥

यह दोहा 'श्री मलूकशतकम्' में मिलता है। इसमें अजगरी वृत्ति एवं भाग्यवाद का अनुमोदन किया गया है, जो सच्ची रहनी के अनुसार रहने वाले महापुरुष संत मलूकदास की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं ज्ञात होता।

मलूकदास का सम्बन्ध रामानन्द सम्प्रदाय से निश्चित रूप से था, जिसका पता चतुर्वेदी जी को नहीं है। संत मलूकदास के सम्बन्ध में पृष्ठ ५०७ पर वे लिखते हैं कि "इन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कराने वाले कोई मुरार स्वामी नामक महापुरुष थे।" यदि इन मुरार स्वामी को 'कोई' कहकर चतुर्वेदी जी ने न टाल दिया होता और इनकी छानबीन की होती, तो सारा रहस्य-भेद स्पष्ट हो गया होता।

जीवाराम जी ने रसिक-रामभक्तों का परिचय देने वाला 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' नामक ग्रंथ रचा है। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द जी हुए, अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए, और कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदास जी हुए। अग्रदास के शिष्यों में एक 'जंगी' हुए और जंगी के शिष्य 'राम तुलसी' थे। 'राम तुलसी' के शिष्य मुरारि स्वामी या मुरारिदेव और मुरारिदेव के शिष्य मलूकदास हुए। इसे यों स्पष्ट किया जाय—

रामानन्द—अनन्तानन्द—कृष्णदासपयहारी—अग्रदास—जंगी—रामतुलसी——मुरारिस्वामी—मलूकदास।

'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार मुरारिदेव के शिष्य मलूकदास की गणना राम के रसिक भक्तों में है। सुखसागर नामक अपने ग्रंथ में मलूकदास ने भी मुरारि को अपना सद्गुरु माना है—

"सतगुरु मिले मुरारि जी प्रगट छाप विश्राम"

भवानीदास ने 'गोसाईं चरित' में मुरारिस्वामी एवं कड़ा में रहने वाले मलूकदास की भी कथायें दी हैं। भवानीदास के गोसाईं चरित के ही आधार पर 'मूल गोसाईं चरित' में मुरारि स्वामी एवं मलूकदास का सन्निवेश हुआ है।

दीन दयाल सुनी जबतें तबतें हिय में कुछ ऐसी बसी है,
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं, तेरे हित की पट खैंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक के, तेरो समान न दूजो जसी है,
ए हो 'मुरारि' पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है॥

मैं इस छन्द में आये 'मुरारि' को प्रभु-सूचक न मानकर मलूक के साधना गुरु मुरारि-स्वामी का ही सूचक मानता हूँ।

इस प्रकार चतुर्वेदी जी का पहला तर्क पूर्ण रूप से ध्वस्त हो जाता है। अब आइये उनके दूसरे तर्क पर। संत मलूकदास गृहस्थ थे और मृत्युपर्यंत वे अपने घर कड़ा में ही बने रहे। वे कभी वैरागी नहीं हुये, यह ठीक है। पर क्या सभी रामानन्दी वैरागी ही होते हैं, उनमे कोई गृहस्थ नहीं होता? इसी प्रसंग में चतुर्वेदी जी कहते हैं कि मलूकदास का किसी साम्प्रदायिक सस्था से सीधा सम्बन्ध नहीं था। अभी हमने ऊपर देखा है कि मलूकदास का सीधा सम्बन्ध रामानन्द सम्प्रदाय से था। साथ ही उनका सीधा सम्बन्ध बल्लभ सम्प्रदाय से भी था जिस पर हम आगे विचार कर रहे हैं। फिर यह कहना कि मलूकदास का सीधा सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं था, कोरी कल्पना है और तथ्यों पर आधृत नहीं है। चतुर्वेदी जी लिखते हैं:—

"सन्त मलूकदास एक महात्मा द्वारा दीक्षित भी हुये थे, जिनका परिचय द्रविड़ देश निवासी विट्ठलदास के नाम से दिया जाता है। परन्तु कुछ प्रमाणों के आधार पर यह बात असत्य सिद्ध होती है और तथ्य यह जान पड़ता है कि इन्होंने किसी देवनाथ से पहले केवल नाममात्र की दीक्षा ली थी।"

क्षितिमोहन सेन (मेडीवल मिस्टीसिज़्म, पृष्ठ १५२), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास) और संतवानी संग्रहमाला, भाग १, पृष्ठ ९९, मलूकदास जी की वानी, पृष्ठ ८ के अनुसार मलूकदास के गुरु द्रविड़ देशवासी विट्ठलदास थे। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार मलूकदास ने बिट्ठल द्राविड़ से दीक्षा न लेकर देवनाथ से ली थी। चतुर्वेदी जी ने डॉ० बड़थ्वाल का ही मत माना है। पर संत मलूकदास ने न तो विट्ठलदास से दीक्षा ली थी और न देवनाथ से। मलूकदास ने पहले वल्लभ सम्प्रदाय की दीक्षा पुरुषोत्तम से ली थी। यह पुरुषोत्तम देवनाथ के पुत्र थे। उक्त देवनाथ भाऊनाथ अधिकारी के शिष्य थे। इन्हीं विट्ठलनाथ को आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि ने विट्ठलदास द्रविड़ कहा है। यह विट्ठलनाथ सुप्रसिद्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र थे। यह सब उल्लेख स्वयं 'मलूकदास परिचयी' के लेखक मलूक के भानजे सथुरादास ने उक्त ग्रंथ में किया है—

दक्षिण देस द्राविड़ गाऊँ
श्री वल्लभ प्रगटे तेहि ठाऊँ
ताको हरि जी आज्ञा दीन्हीं
गोकुल आय थापना कीन्हीं
ताते बिट्ठलनाथ महंता
जिनकी साख प्रगट भगवंता
तिनके भाऊनाथ अधिकारी
देवनाथ तिनते सुखकारी
तिनके परषोत्तम सम नामै

तब मलूक अपने घर के आए
दीच्छा ले उत्साह कराए,

स्वयं मलूकदास ने अपने ग्रंथ 'सुखसागर' में अपनी यह परम्परा यों दी है—

दच्छिन ते प्रगटी भगति, द्राविराड़ के देस

× × ×

गोकुल गाँऊ विदित भये, प्रगटे विट्ठलनाथ
भावनाथ तिनते भये, देवनाथ सुत जास
तेनते परसोतम तहू शिष्य मलूकदास

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने ऊपर के उद्धरणों की सहायता से विट्ठलनाथ और देवनाथ वाली भ्रान्ति का निराकरण कर परसोतम को मलूकदास का गुरु सिद्ध किया है।[1] मुरारिस्वामी के सम्बन्ध में वह भी कोई जानकारी नहीं दे सके हैं।

मलूकदास का एक ग्रंथ है 'ब्रजलीला वर्णन'। इसका हस्तलेख मुझे उन्नाव के सार्वजनिक वकील श्री जयनारायण कपूर के यहाँ नवम्बर १९५९ में उनके हिन्दी साहित्य पुस्तकालय, मोरावाँ से देखने को मिला। मैं उक्त हस्तलेख की प्रतिलिपि भी कर लाया हूँ। इसमें मलूकदास के कुल ६४ छन्द हैं। इस ग्रन्थ के भी निम्नांकित छन्द में इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं अपने गुरु पुरुषोत्तम का नामोल्लेख किया है:—

श्री 'वल्लभ' प्रताप सों मोहन गोकुल ग्वालिन गोद खेलायो
पायो नवोनिधि श्री 'परसोतम' नन्द को नन्दन बैठि कहायो
दोउन को वर दीन्हों विसंभर, वामी भाँति कै आयु बढ़ायो
भाग बड़े अब दास मलूक के सेवक ह्वैके हरि के गुन गायो

इस प्रकार चतुर्वेदी जी का दूसरा तर्क भी ध्वस्त हो जाता है।

अब आइये उनके तीसरे तर्क पर। मलूकदास की सबसे बड़ी सम्पत्ति 'अजगर करै न चाकरी' वाला दोहा है। अधिकांश लोग मलूकदास को इसी दोहे के नाते जानते हैं और उन्हें इनके इस दोहे के अतिरिक्त इनकी और रचना की जानकारी नहीं। ऐसी स्थिति में प्रसिद्ध त मलूकदास की इस प्रसिद्धतम रचना को किसी कल्पित मलूक बैरागी की कृति कहना इस सिद्ध संत की सर्वोत्कृष्ट निधि पर डाका डालना है, अश्वत्थामा को मणि-विहीन कर देना है। दि मलूक के पास यह दोहा नहीं रह जाता, तो उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता।

चतुर्वेदी जी इस दोहे को 'घोर भाग्यवादी' रचना कहते हैं। यह तो दृष्टिकोण की बात। मैं तो इसमें भगवान् के प्रति भक्त का अमिट अटूट विश्वास देखता हूँ। मुझे इसमें कहीं यवाद नहीं दिखाई देता। मैं इसकी व्याख्या यों करता हूँ—"अजगर चाकरी नहीं करता, ी काम नहीं करता, फिर भी वह भगवान् इनका पेट भरता है। नर तो हाथ पाँव वाला है,

१ परिषदी साहित्य, पृ० ११८-२०

हाथ पाँव चलाता भी है, फिर वह पेट की चिन्ता क्यों करे ! कुछ न करने वाले को जब भगवान् भर पेट देता है, तब कुछ करने वालों की उदर-पूर्ति वह क्यों न करेगा। अधम प्राणी उस प्रभु पर विश्वास कर।"

पीछे यह दिखाया ही गया है कि यह दोहा 'श्री मलूक शतकम्' का है और इसके रचयिता वैरागी मलूक वस्तुतः प्रसिद्ध संत मलूक ही हैं। अतः इस तर्क से भी यह दोहा प्रसिद्ध सत मलूक का ही है। मैं समझता हूँ कि चतुर्वेदी जी का तीसरा तर्क भी ध्वस्त हो गया।

कड़ावासी प्रसिद्ध संत मलूकदास

ऊपर की तर्कनाओं से कबीर के तथाकथित शिष्य मलूकदास जिनकी समाधि जगन्नाथपुरी मे है, एवं रामानन्दी बैरागी मलूकदास का स्वतन्त्र काल्पनिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वे दोनों कड़ावासी प्रसिद्ध सन्त मलूकदास में समा जाते हैं।

मलूकदास का जन्म इलाहाबाद जिले में इलाहाबाद से ३६ मील पश्चिम गंगातट पर स्थित प्राचीन नगर कड़ा में वैशाख कृष्ण पंचमी, सम्वत् १६३१ को एक कक्कड़ खत्री परिवार मे हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। यह आजीवन गृहस्थ रहे। एक पुत्री को जन्म देने में इनकी पत्नी उस पुत्री के सहित दिवंगत हो गई। फलतः यह निःसंतान थे। इनकी गद्दी इनके भतीजे राम सनेही से चली। इन्होंने अच्छा पर्यटन किया था। इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, मुलतान, पटना और सुदूर नेपाल तथा काबुल तक में हैं। इनका देहावसान वैशाख कृष्ण १४, बुधवार, सम्वत् १७३९ को १०८ वर्ष की वय में कड़ा ही में हुआ। इनके भानजे प्रयागवासी मथुरादास ने इनका जीवन चरित 'मलूकदास की परिचयी' नामक ग्रंथ में लिखा है।

मलूकदास की रचनायें

आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास में मलूकदास के केवल दो ग्रंथों का उल्लेख किया है—'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध'। खोज में इनके निम्नांकित १७ ग्रंथ मिले हैं—

१. भगत बछल १९०४।८०; १९०९।१८५ ए, बी०; १९२६।२९०; १९३२। १३८ ए, बी; १९४७।२८८ छ। यही ग्रंथ 'भक्त वत्सल' और 'भगत बछावली' नाम से भी प्रसिद्ध है।
२. भक्त बिरुदावली—१९०६।१९४ ए
३. गुरु प्रताप—१९०६।१९४ बी
४. पुरुष बिलास—१९०६।१९४ सी
५. अलख बानी—१९०६।१९४ डी
६. रतन खान—१९०९।१८५ बी, १९४१।५३८
७. ज्ञानबोध—१९१७।१०९ ए; १९४७।२८८ ग, घ, ङ
८. राम अवतार लीला—१९१७।१०९ बी
९. प्रगट ज्ञान—१९४१।१८८
१० १९४७ २८८क

११ ज्ञान परीक्षा — १९४७।२८८ क
१२. ध्रुव चरित्र — १९४७।२८८ च
१३. मयूर ध्वज चरित्र — १९४७।२८८ ज
१४. विनै विभूति — १९४७।२८८ झ
१५. साखी — १९४४।२७५
१६. सुख सागर — १९४७।२८८ ञ
१७. ऊधो पच्चीसी — १९४१।१८७

मलूकदास के नाम पर खोज रिपोर्ट में दो और ग्रंथ भी चढ़े हैं। एक है 'मलूकदास' १९३२।१३८ सी। यह वस्तुतः 'भगत बच्छल' ही है। दूसरा है 'विष्णु सहस्र नाम' १९३२।१३८ डी। यह विष्णु सहस्रनाम है, विष्णु पुराण का अंश है। न जाने कैसे मलूक की रचना मान लिया गया है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने मलूकदास के नौ ग्रंथ गिनाये हैं, जिनमें से ऊपर उल्लिखित प्रथम ८ ग्रंथ भी सम्मिलित हैं, नवाँ है 'दस रत्न ग्रंथ'। विल्सन ने उनके और ग्रंथ 'विष्णु पद' की भी चर्चा की है। 'श्री मलूकशतकम' और मीराबाई वाले प्रसंगमें 'ब्रजलीला वर्नन' का उल्लेख पहले हो चुका है। इस प्रकार मलूकदास की कुल २१ रचनायें हो जाती हैं।

मलूक दास का त्रिविध काव्य

मलूकदास वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे, फिर यह रामानन्दी मुरारि स्वामी के शिष्य हुये। संत के नाम से तो यह प्रसिद्ध ही हैं। अतः इनका समस्त साहित्य भी त्रिविध है—(१)कृष्ण भक्ति सम्बन्धी, (२)राम भक्ति सम्बन्धी (३)निर्गुनिया। सामान्यतया यह त्रिविधता परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकती है। पर सभी भक्त उदाराशय थे, संकीर्ण नहीं। इस प्रसंग में 'हरिऔध' जी का कथन ध्यान देने योग्य है—

"उनकी रचनाओं से यह सिद्ध होता है कि उनमें निर्गुणवादी भाव था, फिर भी वे अधिकतर सगुणोपासना में ही लीन थे। सच्ची बात तो यह है कि पौराणिकता उनके भावों में भरी थी और वे उसके सिद्धान्तों का अनुकरण करते ही दृष्टिगत होते हैं। वे दर्शन के लिये जगन्नाथपुरी भी गये थे। वहाँ पर उनके नाम का टुकड़ा अब तक मिलता है।"

(क) कृष्णकाल

'ब्रजलीला वर्नन' मलूकदास का कृष्ण काव्य है। 'ऊधो पचीसी' भी इसी परम्परा का ग्रंथ होना चाहिए। ब्रजलीला में जन्म, बाललीला, दानलीला, उद्धव प्रसंग है। इसमें दोहा, कवित्त, सवैया, पद आदि सभी हैं। इस ग्रंथ में पाँच-पाँच चरणों के भी कवित्त हैं, अशुद्ध अंश भी हैं जो सम्भवतः प्रतिलिपिकर्त्ता के कारण हैं। इस ग्रंथ से कुछ उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं—

पद

(१)

गोविंद गोविंद कहि गोहराए
घर घर ढूंढत फिरत जसोमति कान्ह न कतहूँ पाये

सारी देहुँ ताहि, कनिक को कंकन, जो कोइ पकरि लै आए
भगत हेत के कारन वंशीधर आपुहि आनि धराये
जमला अर्जुन तारन कारन दोनों हाथ बँधाए
जोइ दसरथ सोई नँद बाबा रामकृष्ण कहवाए
कहि 'मलूक' परमारथ कारन बहुतक नाम धराए १४

(२)

ग्वालिनि राँची हरि के रंग
देह सुरति सब ... सरी, मद पान किए जेउँ अंग
प्रेम मगन ग्वालिनि भई, हरि को रूप निहारि
इत उत ते फिरि आइके, आवै नंद दुआरि
निसिबासर चितवत चलत, टरै न चित सों ध्यान
डोलै दधि मटुकी लिए, बोलै लेहु कान्ह ही कान्ह
प्रेम कथा अति अटपटी कैसे कै कहि जाइ
'मलूक' मिले रवि किरन में, जेंउ जल बूँद समाइ ४०

सवैया

(१)

अहो दान तो लेत डकौतिया ब्राभन, देत सो जाहि सनीचर लावै
केतो कहूँ कहूँ पातुर पावत, जो हँसि गाइ बडे को रिझावै
नटुआ औ नटी तुम होहु न मोहन, जो कोइ आज बोलाइ नचावै
'दास मलूक' कहा कर माँगत, कान्ह छिया तुम्हैं लाज न आवै २५

(२)

अब काहे न ऐसी कहौ तुम ग्वालिनि, जो पै तिहारो न दूध लुटायो
लागे हुते ग्वाल बाल सबै काउ भाउ कै, आजु मही बकसायो
झकझोरत हे अचरा गहिके, बगदाइ दिए कहुँ बूँद न पायो
भले को भलाई न मानत कोउ, सो 'दास मलूक' कहा जुग आयो २६

(३)

दाख सी बात, बदाम से मोहन, मिश्री सी राधे सों राखि खोटाई
खाँड़ सी गारी दई पसमैंबत[१] चीनी सी काहू सखी सुनि पाई
खोवा सो जाइ कह्यो दुख रोइ कै, माखन सो बृषभान दोहाई
साखी भरै रसबादी छोहारा सो, ऊख सी मीठी भई है लराई

१ पीठपीछे

लाड़ से क्रोध कियो छन एक में, कौल से हाथ लगाइ कन्हाई

'दास मलूक' तमासा है दूध सों, मारि परी जैसे पान मिठाई ४१

कवित्त

(१)

देखि सखी आजु मेरी, अँखियां चरनि स्याम,

रजनी गँवाइ कहूँ भोर उठि आये हैं

झमकि रहे हैं नैन, बोलत मधुर बैन,

निपट उनींदे मोहि लागतै लुभाए हैं

खाती वृषभान की सों, टूटी बनमाल बर

करिही न सील, कान्ह कनौड़े करि पाये हैं

सेंदुर लगे हैं अंग, जागे पर बेनी संग,

पीक भींजो पीत पट भीतर बसायें हैं

कहत 'मलूक' अब छिमा कीजै राधा प्यारी

मानो गऊ पांवे लेरे मानिक चरान हैं

(२)

कौल की सीकली सबै फूलि रही कुंजन मैं

गुंजत फिरत कान्ह रह्यो प्रीति बाँधि कै

चंपा औ चँबेली राइबेली छिटिक रही,

बाँकी बाँकी भौंहें मानो गाधी सर साधि कै

अमृत को सींचो वृन्दावन बनो जगड़ी ते

साँवरो सुभाव केत एकै सुर साधि कै

कहत 'मलूक' मैं मगन भया रूप देखि

स्याम भये भौंरा फुलवारी भई राधि कै

(३)

लिखि पठवत (हैं) जोग, तजन कहत (हैं) भोग,

नाहिंन सँजोग, महा दुर्गम दुहेला है

कैसे जोग कीजै, काके अनुसार ध्यान कीजै,

कैसे पहुँचीजै, जहाँ अलख अकेला है

एक बार आओ, आनि मारग बताओ, अहो

'मलूक' समुझाओ, जग जीवन को मेला है

तुमही धौं विचारि कहौ ऊधौ कौन के कहाइए

पिता बिन पूत, कहूँ गुरु बिन चेला है

(ख) रामकाव्य

'श्री मलूकशतकम्' और 'राम अवतार लीला' रामकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। 'राम अवतार लीला' का दूसरा नाम 'मलूक रामायण' भी है। ग्रंथ में राम के जन्म से लेकर स्वर्ग प्रयाण तक की पूरी कथा है। इसका प्रारम्भिक अंश १९१७ की खोज रिपोर्ट से प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रथ दोहा-चौपाइयों में है—

दोहा

निरंकार अबिनासी, प्रनवौं दुइ कर जोरि
जाकी सरन सदा सुख, भ्रमैं नहीं मति मोरि

चौपाई

नग्र अयोध्या दसरथ राजा
कीन्हों जग्य पुत्र के काजा
गुरु वसिष्ठ आदिक ऋषि आए
तिनके अधिकारी सिंगी ऋषि भाए
स्यामकरण एक अस्व मँगावा
सोन पत्र तेहि सीस बँधावा
तापर आनि लिखी सिंगी रिप
सब कोई मानो हमरी सिष

दोहा

सुरपुर, नरपुर, नागपुर, अस्व फिरो तिहुलोक
अस्त्राधर, सस्त्राधर, बिसधर कोइ न राखने जोग

निर्गुणकाव्य

(१)

सबद— ना वह रीझै जप तप कीने, ना आतम के जारे
ना वह रीझै धोती नेती, ना काया के पखारे
दाया करै, धरम मन राखै, घर में रहै उदासी
अपना सा दुख सबका जाने, ताहि मिले अबिनासी
सहै कुसब्द, बादहू त्यागै, छोड़े गरब गुमाना
यही रीत मेरे निरंकार की, कहत 'मलूक' दिवाना

(२)

दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा
एक अकीदा लै रहे ऐसा मन धीरा
प्रेम पियाला पीउते बिसरे सब साथी
आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी

साहब मिलि साहब भए, कछु रही न तमाइ
कह 'मलूक' तिस घर गए, जहँ पवन न जाइ

साखी—कठिन पियाला प्रेम का, पिये जो हरि के हाथ
चारों जुग माता रहै, उतरै जिव के साथ १
सब बाजे हिरदै बजै, प्रेम पखावज तार
मन्दिर ढूंढत को फिरै, मिल्यौ बजावन हार २
करै पखावज प्रेम का, हृदय बजावै तार
मन नचावै मगन होय, तिनका मता अपार ३

संत मलूक हिन्दू मुसल्मान सबको सीख देते थे। इसी लिए इनकी भाषा में जहाँ-तहाँ अरबी-फारसी की पदावली व्यवहृत दीखती है—

गुप्त बैकुंठ कहा खुदै मक्का है.
हुकुम है कन्हैया जी का फौजें जमावैगा
भूला था चंदरोज, साहब ने याद किया
भेजिया किताबें तब नांगियों बोलावैगा
अजब हवा आइ गइ, खुस किया मवासेका
बाजैं नादियानें तब आपै आप आवैगा
कहत 'मलूक' मुझे गजैब की अवाज आई
अपने दिवाने को दिदार भी देखावैगा

संतों के यहाँ जाति-पाँति का बन्धन नहीं है—

जाति पाँति पूछै नहिं कोइ
हरि को भजे सो हरि का होइ

ये पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं पर सामान्यतया लोग यह नहीं जानते हैं कि किसकी लिखी हुई हैं। ये पंक्तियाँ मलूकदास की हैं और 'भक्त बच्छल' के अन्त में हैं। इस ग्रन्थ में मलूकदास ने भक्तों पर भगवान की वत्सलता दिखाई है। प्रायः सभी पुराने भक्तों की चर्चा यहाँ हो गई है।

हिन्दी सन्तों का सहज-भाव

डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया

सन्त कवियों ने एक स्वर से सहज-भाव युक्त साधना पर बल दिया है। वे दैनन्दिन जीवन की साधना के साथ चरम साधना का सामरस्य चाहते हैं। धर्म की साधना में सहज-भाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि आचार्य-श्री ने संकेत किया है कि साधना के सहज, स्वाभाविक होने की अपेक्षा और कौन-सा बड़ा लक्ष्य हो सकता है ? रामानन्द, कबीर, नानक, दादू प्रभृति सभी सन्तों ने साधना के सहज होने की इच्छा की है किन्तु दुर्भाग्य-क्रम से मनुष्य ने अपने निर्मल पवित्र मानव धर्म को भूलकर, अपने को पशु-धर्मी समझ कर उस सहज भाव को ही मन में सहज की कल्पना की है। विशेषकर बंगाल में यह दुर्गति घटी है। सहज के नाम पर इन्द्रियों को स्वछन्द विचरण करने देना घोर तामसिकता है। आत्म-कल्याण एवं सर्वकल्याण के द्वारा स्वयं को सयमित करने पर जब कामना का पाशविक बंधन मिट जायगा, जब जीव शिव भावापन्न होगा, उसी समय अपने को उस विश्व चराचर व्यापी भागवत सहज धारा में छोड़ देने से काम चल सकता है। काठ को धारा में बहता हुआ देखकर यदि लोहा लघु न होकर भी जल में अपने को बहाये तब उसका नाम आत्मघात नहीं तो और क्या ?[1]

स्पष्ट है कि स्वाभाविक वृत्ति के रूप में सहज का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है। सिद्धों ने प्रज्ञोपाय युगनद्ध के सिद्धान्त रूप में इसे ग्रहण किया है तथा नाथयोगियों ने शिव और शक्ति अथवा नाद-विन्दु के सगम के रूप में स्वीकार किया है। सन्त कवियों तक आते-आते सहज की मिथुनपरक व्याख्या का लोप होने लगता है और युग के स्वाधीन चेता कबीर सहज को समस्त मतवादों की सीमाओं से परे परम तत्त्व के रूप में मनुष्य की सहज, स्वाभाविक अनुभूति मानते हैं जिसकी प्राप्ति एक सहज संतुलित जीवनचर्या द्वारा ही संभव है। इसके लिए साधक को किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता वरन् सारी साधना स्वयमेव सम्पन्न होती चलती है। कबीर ने कहा भी है–"सहजे होय सो होय[2]।" इस सहज भाव का मूल सिद्धान्त बताते हुए उन्होंने "सहजैं रहै समाय न कहुं आवैं न जाय" की स्थिति घोषित की है। कबीर ने अन्यत्र इस स्थिति को 'सहज-सील' की संज्ञा देते हुए उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की है।—

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थे, सहज सील मत सार॥[3]

---

१. आचार्य क्षिति मोहन सेन—संस्कृति संगम, पृ० १२८
२ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६९
३ कबीर ग्रन्थावली, साखी २ पृष्ठ ६२

उनके विचार से सतीत्व के लिए शुद्ध भावना और एकान्त निष्ठा, सन्तोष के लिए भगवान् मे अटूट विश्वास और पूर्ण निर्भरता, सावधानी के लिए संयमी, त्यागी और निःस्पृह होना तथा सबद भेदी के लिए "सबद" के समस्त रहस्यों से परिचित होना परम अपेक्षित है। सुविचार की भावना सदसद के विवेक को उत्पन्न कर सार ग्राहिता की वृत्ति को जगाती है। इसी के बल पर जागरूक साधक सांसारिक छलनाओं में न पड़कर सहज आत्मतत्व की उपलब्धि करने में समर्थ होता है——

संतों देखत जग बौराना।
सांच कहौं तो मारन धावै, झूठहिं जग पतियाना ।।
नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पषानहिं पूजहिं, उनिमहं किछउ न ज्ञाना ।।
हिन्दू कहहिं मोहि राम पियारा, तुरुक कहहिं रहिमाना।
आपस में दोउ लरि मूये, मरम न कोई जाना ।।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानै, सहजै सहज समाना ।।[1]

इस प्रकार यह सहज तत्त्व सब प्रकार की द्वैत-भावना और संकीर्णता से परे है और [illegible] मे बँध नहीं पाता। इस सहज तत्त्व में सहज द्वारा ही प्रवेश सम्भव है। इस सहज भाव की सबसे बड़ी विशेषता एक यह भी है कि इसमें साधक की निराकाम भाव में जीवनचर्या ऐसी हो जाती है कि संसार में रहता हुआ भी वह अध्यात्म भावना की आकाश गंगा में विहार करता रहता है। आचार्य सेन महोदय ने भी संकेत किया है कि इस सहजावस्था में पहुँच जाने पर साधक केवल धर्म-कर्म एवं आचार और अनुष्ठान में बद्ध नहीं रह जाता है, इस समय सांसारिक जीवन-यात्रा से होकर ही एकबारगी साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए। इस समय इसके लिए कहीं खींचा-तानी नहीं रह जायगी। साधना के लिए हमें अपनी जीवन-यात्रा को ही सहज करना होगा।[2] सहज-भाव की उक्त स्थिति में पहुँचकर हृदय का सारा कल्मष धुल जाता है और अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। बाह्य और अन्तर, कथनी और करनी में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रह जाता। साधक की वाणी के अनुरूप उसकी दिनचर्या भी हो जाती है और वह निरंतर परमात्मा के नैकट्य भाव से स्वयं को पुलकित अनुभव करता रहता है——

जैसी मुख तें नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल ।।[3]

इसी सहजावस्था में पहुँचकर साधक "पाखू राखै परवाणी" की चरम स्थिति का अनुभव करने लगता है। पाँचों इन्द्रियों के पूर्णतः वशवर्ती हो जाने पर उसे परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अन्तःकरण एक दिव्य आलोक से जगमगा उठता है, प्रेम ध्यान की धारा अज

१. बीजक, पृष्ठ ११६
२ आचार्य सेन——संस्कृति संगम, पृष्ठ १२८
३ कबीर ग्रन्थावली, साखी ९, पृष्ठ ४८

जाने से सारी वेदना सुख में परिवर्तित हो जाती है और सारा संसार अपना-सा प्रतीत होने लगता है। समस्त सृष्टि के साथ आत्मतत्त्व की भावना जगने पर पाती में ब्रह्मा, पुष्प में विष्णु और फल में महादेव के दर्शन होने लगते है और साधक इस द्विधा में पड़ जाता है कि सर्वत्र, सब मे वही एक तो रम रहा है, पूज्य, पूजा करने वाला और पूजा सब तो वही है फिर कौन किस की पूजा करके जग-दिखावे की रस्म अदा करे। सचमुच साधक की यह पूर्ण विकसित अवस्था है जिसमें पहुँचकर वह 'संत' संज्ञा का अधिकारी हो जाता है।

सन्त रैदास का कथन है कि मैं सेवा-पूजा, गीत और नृत्य तथा चरण प्रक्षालनादि से ऊब चुका हूँ, क्योंकि जो कुछ भी मैं करता हूँ वही बंधन बनकर मुझे बाँधने लगते हैं। अत: मैंने षट्कर्म-पूजा-विधान, सेवा तथा ज्ञान-ध्यान सब कुछ त्याग दिया है क्योंकि—

चलत चलत मेरा निज मन थाक्यो, अब मोसे चलो न जाई।
साईं सहज मिलो सोई सनमुख, कह रैदास बड़ाई।।[१]

सन्तों का विश्वास है कि भेद-भावना रख करके जो भी साधना की जाती है वह अपरिपक्व है। एक मात्र सहज भाव की साधना ही लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है, इसीलिए वे साईं से सहज भावसे मिलने की कातर प्रार्थना करते हैं तथा अज्ञातनाम स्थानशील ब्रह्म की आराधना करने में तत्पर होते हैं—

जोइ जोइ पूजिय सोइ सोइ कांची, सहज भाव सत होई।
कह रैदास मैं ताहि को पूजूं, जाके ठांव नावं नहिं होई।।[२]

रैदास जी यहाँ तक कहने लगते है कि बिना सहज के सिद्धि हो ही नहीं सकती। जब मन को कीट-भृंग की भाँति लवलीन करके उन्मनि अवस्था में पहुँचा दिया जाता है तभी सहजावस्था आती है किन्तु इसको कैसे अभिव्यक्त किया जाय और यदि जोड़-बटोर कर कहा भी जाय तो इस पर कौन विश्वास करेगा ? इसीलिए मैं तो "अजान-भाव" (मूर्खों की अज्ञानता-जन्य स्थिति नहीं वरन् सर्वज्ञता से उत्पन्न मूक भाव) से सहज में समा गया हूँ।[३]

सन्तों ने सहज को स्वाभाविक वृत्ति के रूप में स्वीकार कर के भी योग साधनाओं को इस सहज-साधना का एक आवश्यक अंग माना है और उसके अन्तर्गत सहज योग, सहज जप, सहज ध्यान एवं सहज समाधि की चर्चा की है। इस प्रकार सहज के स्वाभाविक मानवीय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी उसके योग-परक अर्थ को बिलकुल बिस्मृत नहीं कर दिया। सन्त कवियों ने सहज का प्रयोग सहज तत्व, सहज ज्ञान तथा स्वभाव, सहज साधना पद्धति और सहज समाधि के रूप में किया है। कबीर ने सहज तत्व के विषय में कहा है कि इसकी विचित्र कथा कही नहीं जा सकती। वहाँ वर्षा और सागर, धूप और छाया, उत्पत्ति और प्रलय, जीवन एवं मृत्यु, दुःखानुभूति-सुखानुभूति तथा शून्य की जागृति और समाधि की निद्रा कुछ भी नहीं है। न वह तोली जा

---

१. रैदास जी की बानी, पृष्ठ ३
२. रैदास जी की बानी, पृष्ठ ४
३ रैदास जी की बानी पृष्ठ २१

सकती है न वह छोडी जा सकती है न वह हलकी है न भारी। न वहाँ जल है न पवन और वहा अग्नि भी नही है। वह अगम है इन्द्रियो से परे है केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है।[1] सन्तों की साधना में भक्ति तत्त्व की प्रमुखता होने के कारण उनकी सहज की परम-तत्त्व वाली भावना में वैयक्तिकता का आग्रह स्पष्ट है। सन्तों की परम्परा में सहज स्वामी राम का महत्त्व अंकित किया गया है यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख नाथों की बानियों में भी एक स्थल मे प्राप्य है—

एही राजाराम आछै सबै अंग वासा, एही पांचौ तत साधु सहज प्रकासा।—गोरख०, पृ० १०

किन्तु इन पंक्तियों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। डा० भारती का मत है कि ये पंक्तियाँ कबीर के बहुत बाद की मालूम होती हैं और निर्गुण राम की सहज रूप में जो कल्पना सन्त साहित्य में विकसित हुई उसी से प्रभावित प्रतीत होती है।[2] कबीर ने सहज समाधि के द्वारा उन्मुनि अवस्था के जाग्रत होने पर रघुराई का सहज-भाव में मिलना बताया है—सहज समाधी उन्मुनि जागी, सहज मिले रघुराई।[3] वही "रघुराई" भक्तों को अनायास "सहज सुहाग" देकर उन्हे कृतार्थ कर देते हैं—

कहत कबीर मैं कुछ नहिं कीन्हा। सहज सुहाग पिया मोहि दीन्हा॥

सहजतत्त्व में समाहित होने के लिए मन को सहज स्वरूप बनाना नितान्त आवश्यक है और यह केवल सहज ज्ञान द्वारा सम्भव है। यह ज्ञान दो पक्षों के मध्य का ज्ञान है। कबीर ने द्वैत भाव के भ्रम का त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाली मनीषा को सहज ज्ञान कहा है—

जां तिसु भावै ता लागै भाइ, भरम भुलाया विचहु जाइ
उपजै सहजु गिआन मति जागै, गुर प्रसादि अंतरि लिव लागै॥[4]

सिक्ख गुरुओं के अनुसार सहज भाव या सहजावस्था अथवा चौथा पद या तुरीयावस्था प्रायः सब समान हैं। इस स्थिति को वे दसम द्वार की उपलब्धि मानते हैं जिसमें साधक सब प्रकार के गुणों, सुख-दुःख, भूख-प्यास एवं राग-विराग आदि के सांसारिक द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और नामामृत की वासस्थली आत्मानन्द की अवस्था में पहुँच जाता है। इस वर्णनातीत सहजावस्था का वर्णन गुरु-वाणी में इस प्रकार उपलब्ध है—

गुर मुखि अंतरि सहजु है मनु चड़िआ दसवै आकासि।
तिथै ऊंघ न भुख है हरि अमृत नामु सुख वासु।
नानक दुख-सुखु विआपति नहीं जिथै आतमराम प्रगासु॥[5]

---

1. सन्त कबीर, रागु गउड़ी ४८
2. डा० भारती, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ३७५
3. कबीर बीजक, पृष्ठ ११९
4. सन्त कबीर, सिरी रागु १
5. श्री गुरुग्रंथ साहिब, सलोक वारां ते वधीक, महला ३, पृष्ठ १४१४

गुरुओं ने दैनिक गति के साथ शाश्वत गति के योग वाले "सहज-भाव" में अपना सर्वस्व (योग, भक्ति, प्रेम, ध्यान, समाधि) समर्पित कर दिया है। इसी में निरत रहकर वे मृत्युंजयी बन अपने सारे कार्य करते हैं—

सहजे ही भगति ऊपजै, सहजि पिआरि बैरागि ॥
सहजे ही तो सुख सांति होइ, बिनु सहजे जीवणु वादि ॥
सहजै कालु विडारिआ, सच सरणाई पाइ।
सहजै हरिनामु मन बसिआ, सची कार कमाइ ॥
से वड़ भागी जिनी पाइआ, सहजे रहे समाइ ॥[१]

इस सहज-भाव को पाने के लिए गुरुओं ने सद्गुरु की कृपा एवं भक्ति-भावना की प्रधानता को साधन रूप में स्वीकार किया है। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और अमित विश्वास रखते हुए उसके आदेशों से अपने जीवन को सब प्रकार से निष्कलुष, निर्मल एवं निष्काम बनाकर परमात्मा के नाम-सुमिरन में दृढ़ आस्था रखने से इस भाव की उपलब्धि साधक को सहज ही में हो जाती है। नाम की महिमा का गान करते हुए गुरु अमरदास ने स्पष्ट कहा है कि नाम ही से सब कुछ सम्भव है किन्तु जब तक सद्गुरु की कृपा नहीं हो जाती तब तक नाम में आस्था नहीं पैदा होती। गुरु का 'सबद्' रूपी महारस अत्यन्त स्वादिष्ट है, बिना चखे उस स्वाद की काल्पनिक अनुभूति व्यर्थ है। जिसने उसका स्वाद नहीं लिया, उसने अपना अनमोल जीवन कौड़ी के बदले में व्यर्थ गंवा दिया। गुरु मुख होने पर ही साधक को नामामृत की प्राप्ति होती है और अहंकारादि से निवृत्ति होती है।[२] गुरुओं ने अनेक स्थानों में इस दुर्लभ किन्तु सहज सुलभ-भाव या सहजावस्था के आनन्द का वर्णन करते हुए कहा है—

मिलि जलु जलहि खटाना राम। संगि जोती जोति मिलाना राम ॥
समाइ पूरन पुरख करते आपहि जाणीए ।
तह सुंन सहजि समाधि लागी एकु एकु बखाणिए ॥
आपि गुपता आपि मुकता, आपि आपु वखाना।
नानक भ्रम भै गुण बिनासै, जलु जलहि खटाना ॥

जैसे जल, जल से और ज्योति, ज्योति से मिलकर तद्रूप हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिल कर तदाकार हो जाती है और उसकी समस्त नाम उपाधि उसी में लीन हो जाती है। जीव परमात्मा स्वरूप हो जाने पर स्वयं ही अपने को जान सकता है, इस स्थिति को चाहे शून्य कहिए या सहज समाधि, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा स्वयं गुप्त-मुक्त एवं अपना परिचय आप देने वाला बन जाता है और उसके सारे भ्रम, भय एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति का पूर्णतया विनाश हो जाता है। कबीर के शब्दों में कहना चाहें तो—

फूट कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कह्यौ गयानी।

---

१ श्री गुरुग्रंथ साहिब, सिरी रागु, महला ३ पृष्ठ ६८
२ श्री गुरुग्रंथ साहिब सूही, महला १, पृष्ठ ७५२

गुरु नानक ने सहज स्वभाव को सर्वोपरि स्वभाव बताया है और इसके लिए उन्होंने एक सहज हाट की भी कल्पना की है जिसमें मन सहज स्वभाव से निवास करता है

सहज हाटि मन कीआ निवासु । सहज सुभाव मनि कीआ परगासु ।।
सहज सुभाव को जै जै कारा । सहज साधु हरि भए पिआरा ।।
जो कुछ करै सो सहज सुभाय । सहज सहज हरि के गुन गाय ।।[1]

सन्त दादू का सहज-साधना के संबंध में कथन है कि नदी की तरह अपने को दैनिक और शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ दो । साधना के लिए कगार के कूलों को बाधा देकर रोक कर, शक्ति संचय करते न जाना क्योंकि ऐसा करने से वह कृत्रिम और मिथ्या हो जायगी । नदी की तरह सबको तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्ण हो उठो और परमानन्द लाभ करो ।[2]—दादू-माया को अंग १०५, १०६ साखी का सार मर्म

सहज से संबंधित दादू के ये कथन भी द्रष्टव्य हैं—

साचा सहजैं ले मिलै, सबद गुरु का ज्ञान ।
दादू हम कूं ले चल्या, जहं प्रीतम का अस्थान ।।

× × ×

ज्ञान गहै गुरदेव का, दादू सहजि समाइ ।

× × ×

लोहा पारस परसतां, सहज समाना सोइ ।

× × ×

दादू सहज देखिये, साहिब का दीदार ।।

× × ×

एता कीजै आप थैं, तन मन उनमनि लाइ
पंच समाधी राखिये, दूजा सहज सुभाइ ।।[3]

सहज तत्त्व के रूप में दादू की बानियों में राम का उल्लेख कई स्थलों में मिलता है—

राम सबद मुख ले रहै, पीछै लागा जाइ ।
मनसा वाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ ।।
सहजैं सुमरण होत है, रोम रोम रमि राम ।
चित चहुट्या चित सौं, यौं लीजै हरि नाम ।।[4]

---

१. प्राण संगली, पृष्ठ १४७
२. आचार्य क्षितिमोहन सेन—संस्कृति-संगम, पृष्ठ १२२
३. दादूदयाल की बानी, भाग १ पृष्ठ ३,५,६,९
४. दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २१,६३

सहज की सहज ज्ञान या सहज स्वभाव के रूप में विस्तृत व्याख्या करते हुए दादू ने उसे अपने स्वामी का स्वभाव बताया है और उसे पृथ्वी-आकाश, धूप-छाया, पवन-पानी, चन्द्र-सूर्य, सुख-दुःख तथा पाप-पुण्य से परे कहा है—

तहं धरती अम्बर नाहीं, तहं धूप न दीसै छांही।
तहं पवन न चालै पाणी, तहं आपै एक विनाणी।।
× × ×
तहं पाप पुण्य नहिं कोई, तहं अलख निरंजन सोई।
तहं सहज रहे सो स्वामी, सब घटि अन्तरयामी ।।[1]

इसी द्वैत भाव से विवर्जित, जागतिक द्वन्द्वों से परे सहज स्वरूप स्वामी का अनुकरण सेवक (मन) को करना इष्ट है—

बाबा को जान ऐसा जोगी।
अंजन छाड़ै रहै विबर्जित सहज वियोगी ।।[2]

जब मन की सारी द्वैतता तिरोहित हो जाती है और वह सहज रूप हो जाता है तब उसे सम स्वभाव वाला कहा जाता है जिसमें उष्ण और शीत में एक-सी स्पर्शानुभूति पाते हुए साधक सम-भाव को ग्रहण करता है—

सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरंग।
ताता सीतल सम भया, तब दादू एकै अंग।।[3]

सहज स्वभाव के अन्तर्गत दादू ने दोनों पक्षों का त्याग कर मध्यम मार्ग वाली स्थिति (हिन्दू और मुसलमान इन दोनों पक्षों के मध्य) को स्वीकार किया है और इस निष्पक्षता को सन्त-स्वभाव की संज्ञा दी है:—

हिन्दू तुरुक न होइबा, साहिब सेती काम।
षट दरसन के संग न जाइबा, निर्पंष कहिबा राम।।
करणी हिन्दू तुरुक की, अपणी-अपणी ठौर।
दुहुं बीच मारग साध का, सन्तों की रह और।।[4]

यही सहज स्वभाव सन्तों द्वारा भक्ति-भावना के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है और इसी भक्ति भाव की आनन्दमयी आत्मबेलि से दादू का आकाशी वासस्थल घिरा हुआ है—

बेली आनन्द प्रेम समाइ।
सहजैं मगन राम रस सींचे, दिन दिन बढ़ती जाइ।।

---

१. दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ८९
२. वही,
३ वही भाग २ पृष्ठ १७०
४ वही पृष्ठ १७३-४

सतगुरु सहजैं वाही बेली सहजि गगन घर छाया।
सहजैं सहजैं कूपल मेल्है, जाणैं अवधू राया।।
आतम बेली सहजैं फूलै, सदा फूल फल होइ।
काया बाड़ी सहजैं निपजै, जाणैं बिरला कोइ।।
मन हठ बेली सूकण लागी, सहजैं जुग जुगि जीवै।
दादू बेलि अमर फल लागे, सहजि सदा रस पीवै।।[1]

इस प्रकार सन्तों के सहज स्वभाव का पर्यवसान भक्ति-भावना की सहज स्वभाव में हुआ है जिसमें साधक राम के प्रति अटूट निष्ठा रखते हुए स्वयं को समर्पित कर द्वैत-भावनाओं से विवर्जित होकर सहज स्वभाव को ग्रहण करता है।

इस साधना में सहज जीवन-पद्धति पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः सन्तों की यह सहज-साधना एक प्रकार से सहज जीवन पद्धति की ही साधना है। जीवन के प्रत्येक पक्ष में हमें इसका व्यावहारिक प्रयोग अपेक्षित है। न तो हमें किसी से वाद-विवाद करने की आवश्यकता है और न विषयों में लिप्त होना ही हमारा धर्म है। संसार के विषय-वासनाओं के बीच निर्लिप्त भाव से निवास करते हुए आत्मविचार पूर्वक समदृष्टि की साधना करनी चाहिए।

वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहि जगत थैं न्यारा।
सम दृष्टि सुभाई सहज मैं, आपहि आप बिचारा।।[2]

संसार में व्याप्त व्यर्थ का वादविवाद, झगड़ा-टंटा और कलह-कोलाहल इसी तरह समदृष्टि के असम-भाव के कारण है। संसार के प्रति समदृष्टि की भावना आत्मा के एकत्व की उपलब्धि होने पर ही सम्भव है। पहले अन्तर में व्यष्टि परक समदृष्टि के आने से पश्चात् समष्टि परक विश्वात्मक ऐक्य बोध की प्रतीति होती है। साधक अपने अन्तर में इसी अलौकिक सौन्दर्य की झांकी देखकर मुग्ध हो जाता है। दादू ने उस दिव्य-सौन्दर्य की साक्षात्कारात्मक साक्षी देते हुए कहा है—

मधि नैन निरखौं सदा, सो सहज स्वरूप।
देखत ही मन मोहिया, है सो तत्व अनूप।।[3]
सेवक स्वामी संगि रहै, बैठे भगवाना।

उस अलौकिक स्थान में सेवक और स्वामी एक साथ विराजते हैं। अन्तश्चक्षुओं से मैं उस सहज स्वरूप को निहार रहा हूँ। उस अनुपम तत्त्व के सहज सौन्दर्य को देखकर मेरा मन मुग्ध हो गया। इस चरम उपलब्धि के लिए ऐकान्तिक प्रेम की एकनिष्ठता अपेक्षित है। इसमें बाह्यानुष्ठान, साधना-सिद्धि अथवा उपाय की कोई सार्थकता नहीं। साधक के लिए एक मात्र

१. दादूदयाल की बानी, पद २०३
२ वही भाग २ पृष्ठ २९
३. वही, भाग १ पृष्ठ ८७

हरि का सहारा रहता है, वही उसके तारण-तरण हैं। न तो उसके पास वाक्य ज्ञान की पूँजी है न विवेक और तत्व ज्ञान, न भविष्य की अन्तस्तलवेधिनी प्रज्ञा है और न सौन्दर्य-श्रृंगार, न तपोवल है न इन्द्रिय-निग्रह। उसके पास तीर्थ-भ्रमण, देवल-पूजा, ध्यान धारणा, योग-युक्ति, उपचार-चिकित्सा किसी का भी कुछ भी संबल नहीं है। वह तो सर्वस्वभाव से गोविन्द का आश्रय ग्रहण कर चुका है और अपने प्राणों को प्रभु से प्रत्यय कराने के लिए कार्यशील है।[1]

उस सहज-तत्त्व की खोज अपने घर से बाहर बाह्य कर्म-कांडों एवं अनुष्ठानों में करनी व्यर्थ है। सद्गुरु ने खोज करके उसका सही पता-ठिकाना बता दिया है। दादू ने उस दुर्लभ तत्त्व की प्राप्ति घर बैठे की है। उनको घर में ही घर (परम विश्राम) मिला क्योंकि सहज-तत्त्व का निवास उसी में है। उसी अन्तरसाधना (बाउलों का मनेर मानुप) की ओर लौटने पर उन्होंने स्वय के दर्शन किये। महल के कपाट खोलकर उन्होंने ही स्थिर स्थान को दिखा दिया जिसके दर्शन-मात्र से समस्त भय-भेद और भ्रम दूर भाग गए और मन उस सत्य में जाकर समाविष्ट हो गया। काया और स्थूल के परे जहाँ जीव गमन करता है वही वह "सहज" समाया हुआ है। वह नित्य स्थिर एवं निश्चल रहता है, निखिल सृष्टि में वही विद्यमान है, उसी मे मेरा मन लगा हुआ है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी (द्वैत-तत्त्व) नहीं है। उस घर का न आदि है न अन्त। अब मन उसी एक के रंग में रंग जाने पर अन्यत्र नहीं जाना चाहता। उसी में समाहित हो गया है।[2] अन्तर में जो ऐक्य और योग की भावना गुम्फित है उसमें ही परमानन्द का निवास है। इसकी उपलब्धि ही साधक का चरम लक्ष्य है। दादू ने ज्ञानी मन से ऐसे ही ज्ञान की बातें कहने के लिए कहा है। इसी अन्तर में ही तो सहज आनन्द प्रतिष्ठित है। सहज आत्म-समर्पण, सतत स्मरण एवं निस्वार्थ सेवा के संगम स्थल रूपी सहज तीर्थ में स्नान करना चाहिए—

सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तह संगम सपरा—राग गोड़ी, ६२।

अंतरस्थित सहज की इसी त्रिवेणी में स्नान करने से मुक्ति की प्राप्ति अनायास ही जाती है। दादू ने उसकी प्रत्यक्षानुभूति के विषय में कहा है :—

काया अन्तर पाइया, त्रिकुटी के रे तीर।
सहजैं आप लखाइया, व्यापा सकल शरीर।।
काया अन्तर पाइया, निरन्तर निरधार।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार।।
काया अन्तर पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजैं आप लखाइया, सुन्न मडल में जाइ।
काया अन्तर पाइया, सब देवन का देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव।।[3]

---

१. दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ९२
२ दादूदयाल की बानी भाग १ पृष्ठ ३०
३ वही, पृष्ठ ४६

त्रिकुटी के तट पर अन्तर में सहज भाव से स्वयं को उसने प्रकाशित किया और सारे शरीर में व्याप्त हो गया। उस अत्यन्त सामर्थ्यवान् ने सहज में अपने को प्रकाशित किया और उस निरन्तर निराधार की उपलब्धि आत्मा में ही हुई। उस अलख अनिर्वचनीय देवाधिदेव ने काया के अन्तर में स्वयं को प्रकाशित किया।

प्रिय की प्राप्ति अहं का समूल उच्छेदन कर निश्शेष भाव से सहज का आश्रय करके ही की जा सकती है। जिस विश्व के कारण भूत से अहं की उत्पत्ति होती है वहीं से सहज की पहचान करनी चाहिए। मैं, मेरा आदि स्वार्थपूर्ण तुच्छ भावों को सहज में तिरोहित करके ही निर्मल दर्शन की आशा की जा सकती है।[1] जिस प्रकार मृतप्राय [illegible] मनुष्य का मन शरीर को छोड़ देता है उसी प्रकार साधक इस दृश्य जगत् की उपेक्षा करके नित्य ही सहज के साथ लौ लगा सकता है:—

ज्यों मन तजै शरीर को, त्यों जागत सो जाइ।
दादू बिसरै देखतां, सहजैं सदा ल्यौ लाइ।।

मध्य युग के सन्तों की सहज-साधना पर विचार व्यक्त करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय ने कहा है कि अनुभव के अनिर्वचनीय संगीत की जहाँ सृष्टि होती है, भाषा वहाँ हार जाती है। इसी लिए दादू कहते हैं—ज्ञान लहरी जहाँ से उठती है वहीं वाणी का घर होता है। अनुभव जहाँ नित्य उत्पद्यमान है वहीं संगीत ने वास किया है। उसी से [illegible] होगा। हम लोग स्वयं समझ-बूझकर बोलने जायेंगे वहीं कृत्रिम हो जायगा। भगवान् के निकट अपने को मिटा देने पर हमारे भीतर से जब वे अन्तर के भाव ढाल देते हैं तभी यथार्थ संगीत उत्पन्न होता है। बंशी जिस प्रकार अपने को सूनी करके ही उनके निश्वास को बजाने का अवसर पाती है उसी तरह साधक अपने भीतर की अहमिका को लोप करके ही अपने को उसके संगीत-प्रकाश का योग्य आधार बना देता है।[3]

पूर्ण ब्रह्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि कल्पना और कामना के मार्ग से न होकर सहज सत्य को माध्यम बनाकर ही सम्भव है, इसी मार्ग से चलकर तट पर पहुँचा जा सकता है:—

काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहजि संभारा।।[4]

उस रूप-अरूप, गुण-अवगुण से परे भगवान् की उपलब्धि काम और कल्पना से शून्य होकर निर्मल नेत्रों के बिना असम्भव है इसी लिए दादू ने मनुहार करते हुए कहा है कि हे मेरी अन्तरंग सखी! उसे तुम सहज स्वच्छ नेत्रों से निहारो और उसका सहज-भाव से [illegible] करो—

---

१. दादूदयाल की बानी, भाग १ पृष्ठ २०३
२. दादूदयाल की बानी, भाग १ पृष्ठ ९१
३. आचार्य क्षितिमोहन सेन, संस्कृति-संगम, पृष्ठ १२६
४ दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २९

सहज सहेलड़ी है तू, निर्मल नैन निहार।
रूप-अरूप गुण-निर्गुण मैं त्रिभुवन देव मुरार।।
सहजैं संगि परसि जगजीवन, आसणि अमर अकेला।
सुन्दरि जाइ सेज सुख सोवै, ब्रह्म जीव का मेला।।[१]

उस सहज-सत्य-के उत्तुंग शृंग तक पंगु मिथ्या की पहुँच हो ही नहीं सकती और न उसे किसी प्रकार कलंकित किया जा सकता है। उस तत्त्व में चित्त समाहित हो जाने पर सारे असत्य स्वतः विलीन हो जाते हैं।[२] कर्म बन्धनों से छुटकारा पा जाने पर भी सहज का बन्धन काटे नहीं कटता अपितु सहज के साथ बंध जाने पर सारे कर्म बन्धन अपने आप कट जाते हैं अतः सहज के साथ सम्बद्ध होने की साधना ही उच्च साधना है।[३] सेन महोदय ने शाश्वत-संगीत की चर्चा करते हुए पुनः कहा है कि निखिल सामंजस्य के मूल में विश्व-संगीत अन्तर्हित है। इस भाँति के योग के बीच ऐक्य का सामंजस्य है। निद्रा की अचेतना से वह भोग ऐक्य का सामंजस्य हो जाता है। क्षुद्रता और खंडता के संकीर्ण मोह में ही सभी निद्रित हैं। उस संगीत को सुनकर ही शून्य सहज में सभी जाग पड़ते हैं।[४] दादू ने इसीलिए कहा है कि उस एक "सब" के श्रवण मात्र से ही जीव का उद्धार हो जाता है। शून्य सहज में जाग उठना है। अन्तस्तल उसी एक के साथ लीन हो जाता है और साधक मूक भाव से उस संगीत में निमज्जित होकर परमात्मा के सामने स्थित रहता है।[५] वह सहज-शून्य विश्व संगीत से ओत-प्रोत है उसके निकट पहुँचने पर साधक को किसी प्रकार की जप-साधना के जंजाल में फँसने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय उसका नख से शिख तक रोम-रोम का जाप अखिल छन्द के साथ निबद्ध होकर सहज भाव से प्रवाहित होने लगता है। इस प्रकार अखिल छन्द के साथ छन्दमय होना ही सहज-साधना है। इसके लिए साधक स्वयं को शान्त, स्थिर और निर्मल बनाता हुआ पाँचों इन्द्रियों को स्वाधीन रखता है। उनके साथ निस्संग भाव से रहता हुआ सहज-रस का पान करता है। प्राणों के प्राण अखंड अनन्त स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति सहज-भाव से स्वयं को प्रेम एवं दया से परिपूर्ण बनाने से होती है। उसकी उपलब्धि के लिए साधक को निस्सार वस्तुओं से परिपूर्ण भीतरी संसार को शून्य करना पड़ता है क्योंकि तभी सहज रस से भरपूर उसकी छटा को निहारा जा सकता है। इस रस सरोवर में ही आत्म कमल खिल उठता है और जो अपनी सहज सुवास से साधक की आत्मा में एक दिव्य गन्ध-चेतना को उडेल देता है। संक्षेप में सन्तों के सहज-भाव का यही स्वरूप एवं विश्लेषण है।

---

१. दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ८८
२. वही, पृ० ८१
३. दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ३२
४ आचार्य सेन संस्कृति-संगम, पृष्ठ १२६
५ दादूदयाल की बानी, भाग २ पृष्ठ ७१

कवि वाजींद और उनकी रचनाएँ

श्री अगरचन्द नाहटा

हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में मुसलमान कवियों और सन्तों का भी बहुत बड़ा योग है। प्रेमाख्यान काव्य तो मुसलमान कवियों के बहुत से लिखे हुए ही हैं, पर कई मुसलमान सन्त कवि भी हो गए हैं। कबीर उन सबके सिरमौर थे। उनके बाद दादूजी के शिष्यों में कई मुसलमान कवि एवं संत हुए हैं, उनमें 'वाजींदजी' का स्थान महत्वपूर्ण है, पर अभी तक उनकी रचनाओं की खोज किसी ने भी प्रयत्नपूर्वक नहीं की। इसलिए उनके अरिल्ल, जो स्वामी मंगलदासजी सम्पादित 'पंचामृत' ग्रंथ में प्रकाशित हुए हैं, उन्हीं का विद्वानों को परिचय है। यद्यपि हस्तलिखित प्रतियों के आधार से वाजींद जी की १४ और १६ रचनाओं का उल्लेख स्वामी मंगलदासजी तथा डा० मोतीलाल मेनारिया आदि ने किया है पर उन ग्रन्थों के नाम मात्र दिए हैं, पर अभी तक, किसी ने उन ग्रन्थों को पढ़कर उनके सम्बन्ध में आवश्यक प्रकाश नहीं डाला।

कुछ वर्ष पूर्व वाजींदजी की कई रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ मेरे अवलोकन तथा जानकारी में आईं तो मुझे लगा कि संत वाणी की दृष्टि से ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से भी वाजींद जी की रचनाएँ महत्व की हैं और उनका विशेष परिचय प्रकाशित करना आवश्यक है। उन दिनों श्री अक्षयचन्द्र शर्मा, जो उस समय मेरे यहाँ साहित्यिक कार्य कर रहे थे और जो अच्छे विद्वान, और समालोचक हैं, उनसे वाजींद की रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन करने को कहा और उन्होंने एक निबन्ध भी इस विषय पर तैयार किया, पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया। इधर मैंने वाजींद जी की समस्त रचनाओं की खोज करके उनकी प्रतिलिपि करवा ली है। यद्यपि अभी तक उनकी पूरी वाणी प्राप्त करने पर भी नहीं प्राप्त हो सकी और कुछ रचनाओं की प्रतियाँ त्रुटित मिली हैं, फिर भी छोटी-मोटी कुल मिला कर ७० रचनाएँ प्राप्त की जा चुकी हैं, इसलिए उनका संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर देना आवश्यक समझा। कुछ रचनाओं की केवल जानकारी ही प्राप्त हुई है, उनकी प्रतियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें सफलता प्राप्त होने पर उन रचनाओं का परिचय फिर कभी प्रकाशित किया जायगा। प्रयत्न तो यह भी हो रहा है कि वाजींद ग्रन्थावली का सुसम्पादित संस्करण भी प्रकाशित किया जाय। पर इसके लिए उनकी जो रचनाएँ त्रुटित मिली हैं, उनकी पूर्ण प्रतियाँ मिलनी आवश्यक हैं और शुद्ध-पाठ के निर्णय के लिए प्राचीन एवं शुद्ध प्रतियाँ भी प्राप्त करनी अपेक्षित हैं, प्रयत्न जारी है। आशा है, शीघ्र ही यह कार्य भी सम्पन्न हो जायगा।

वाजींदजी जाति के पठान थे। वे कहाँ के निवासी थे, इसकी बिल्कुल जानकारी नहीं मिली, पर उनकी भाषा में राजस्थानी का प्रभाव अन्य संत कवियों की भाँति अधिक नहीं मिलता, इसलिए सम्भव है वे [illegible] से बाहर के हों। मुसलमान कवियों में इनके समान संत-कवि

थोड़े ही मिलेंगे। राघवदास की भक्तमाल के अनुसार वे संत दादूदयाल के शिष्य थे। उनके जीवन की एक घटना के सम्बन्ध में उक्त भक्तमाल में उल्लेख किया गया है जिससे कि वे एक हिंसक पठान होकर भी संत बन गए। बहुत बार ऐसा होता है कि किसी प्रसंग या घटना-विशेष से व्यक्ति के हृदय में महत्व पूर्ण परिवर्तन हो जाता है जिससे उसकी काया पलट हो जाती है। राघवदास के भक्तमाल में लिखा है—

छाड़ि के पठान कुल राम नाम कीन्हो पाठ
भजन-प्रताप सूं वाजिद वाजी जीत्यो है।
हिरणी हतत उर डर भयो भयकरि
सील भाव उपज्यो दुसील भाव बीत्यो है।।
तोरे हैं कबाण-तीर चाणक दियो सरीर
दादूजी दयालु गुरु अन्तर उदीत्यो है।
राघो रति रात दिन देह दिल मालिक सूं
खालिक सूं खेल्यो अैसे खेलण की रीत्यो है।।

अर्थात् पठान कुल के होकर भी उन्होंने राम-नाम और भजन से प्रेम किया। शिकार खेलने जाने पर एक हिरणी के तीर लगा और उसको छट-पटाती देखकर इनके हृदय से करुणा का निर्झर फूट पड़ा। अतः सदा के लिए शिकार से विरत हो गए और जीव-दया के रंग में रंग गए। कबान और तीर को तोड़ डाला और दादूदयाल जी गुरु की शरण में आ गए।

वाजींदजी के गुण नाममाला में कई संतों का स्मरण किया गया है। उसकी एक प्रति में दादू को स्मरण करने वाला एक पद्य भी मिला है पर उसकी दूसरी प्रति में वह पद्य नहीं है। इसलिए उस पद्य के आधार से तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे दादूजी के ही शिष्य थे। क्योंकि उनकी अन्य किसी भी रचना में दादूजी का गुरु के रूप में स्मरण या उल्लेख नहीं है, फिर भी दादू-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार दादू जी के प्रधान बावन शिष्यों में तो नहीं पर १५२ शिष्यों की नामावली में उनका नाम आता है। गुण नाममाला का वह पद्य इस प्रकार है—

संत संतोषी मेघग आदू। प्रति श्रन सौं सुमरे गुरु दादू।।

ऐसा लगता है कि वाजींदजी ने सन्त सम्प्रदाय में आने से पहले भी कुछ रचनाएँ की होंगी। और सम्भवतः उनकी फुटकर रचनाओं के संकलन का वर्गीकरण उनके पीछे से किया गया हो। स्वामी मंगलदास ने 'दादू सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय' में वाजींद जी की रचनाओं की संख्या १८ बतलाई थी। उन्होंने लिखा था—"इनकी वाणी हैं, पर अभी प्राप्त नहीं हुई है। जो सामग्री मिली है वह अपूर्ण है। लघुग्रन्थ १८ प्राप्त हुए हैं।" इन १८ ग्रन्थों की नामावली मंगवाने पर उन्होंने १६ ग्रन्थों के नाम ही सूचित किए जो इस प्रकार हैं:—

१. गुण उत्पत्तिनामा २. गुण चरियानामा ३. गुण श्रीमुखनामा ४. गुण श्री मुखनामा (द्वितीय ५ गुण हृग्जिमनामा ६ गुण ७ गुण ८

९ गुण पेमनामा १० गुण प्रेम कहानी ११ गुण नीसाणी १२ गुण छन्द १३ गुण हित उपदेश (खंड १२) १४ विरह अंग १५ राग गौडी राग मारू पद १६ अरिल्ल (१-५ [illegible] में प्रकाशित)।

इनमें से गुणगजनामा वास्तव में वाजींद जी का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। उसमें अन्य कवियों के दोहों के साथ वाजींद जी के भी ५-७ दोहे संकलित हैं। 'गुणछन्द' भी वास्तव में स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं होकर उन्ही के अन्य ग्रन्थ 'निरंजननामा' के बीच का अंश है। विरह का अंग भी वास्तव मे उनकी वाणी की साखियों का ही एक अंश होगा। अतः वास्तविक संख्या १४ ही रह जाती है।

डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी अपने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध में वाजींद जी की १६ रचनाओं के नाम दिए हैं। वे लिखते हैं—"वाजींद जी के बनाए निम्नलिखित १६ ग्रन्थ मिलते है। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये इनके स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं, बल्कि इनकी वाणी के अवयव हैं। यह अनुमान ठीक जान पड़ता है क्योंकि इन ग्रन्थों के नामों से कुछ ऐसा ही आभास होता है।

१. अरिल्ल २. गुण कठियारानामा ३. गुण उत्पत्तिनामा ४. गुण श्रीमुखनामा ५ गुण छरिया (घरिया) नामा ६. गुन हरिजननामा ७. गुण नामस्मरण ८. गुण गजनामा ९. गुण निर्मोहीनामा १०. गुण प्रेम कहानी ११. गुण विरह अंग १२. गुण नीसाणी १३ गुण छन्द १४. गुण हितोपदेश १५. पद १६. राज कीर्तन।"

इनके अतिरिक्त इनकी फुटकर साखियां भी इधर-उधर गुटका ग्रन्थों में बहुत देखने में आती हैं। कुछ का संकलन संत जगन्नाथ के गुण गंजनामा और रज्जब जी के 'सर्वांगी' ग्रन्थों मे हुआ है।"

श्री मेनारिया जी ने स्वामी मंगलदास जी के सूचित रचनाओं के अतिरिक्त 'गुण कठियार नामा' और 'राजकीर्तन' इन दो ग्रन्थों का और उल्लेख किया है।

वाजींदजी की सर्वाधिक रचनाएँ स्व० पुरोहित हरिनारायण जी के संग्रह में हैं। उनके संग्रह की सूची राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर, से प्रकाशित हो चुकी है। उसमें उपरोक्त राजकीर्तन को छोड़कर सभी रचनाएँ तो हैं ही, साथ ही स्फुट कवित्त, दोहे और साखियों के १८ अंग की हस्तलिखित प्रति भी है।

अनूप-संस्कृत लाइब्रेरी की एक प्रति में भी वाजींद जी की १२६ साखियां हैं पर उस प्रति में पहले के पत्र नहीं हैं जिनमें ४६० साखियां थीं। वहीं एक अन्य प्रति भी प्राप्त है जिसमें गुण गम्भीर जोग, निरमल जोग, झूलना, निरंजन नामा, ब्रह्मचरित्र, प्रेम कहानी, नीसनामो, गुण-निंदा-स्तुति और अन्य कुछ रचनाओं के फुटकर पत्र हैं। तथा एक अन्य प्रति में 'गुणकुर-क्षेत्रनामा' भी है। अब वाजींद जी के प्राप्त समस्त ग्रन्थों की नामावली दी जा रही है।

ग्रन्थ-सूची

१- गुन श्रीमुखनामो जोग ग्रन्थ २ गुन प्रेमनामो जोग ग्रन्थ ३ गुन निरंजन नामो ४ गुन ब्रह्म प्रकास ५ गुन ठाकुरकृत नामो ६ गुन कथा कीरतन ७ गुन ग्राम

सरोवर ८. गुन नाव निरूपन ९. गुन महातम १०. गुन करकसनांमो ११. गुन आत्म उपदेश १२. गुन दयासरोवर १३. गुन पुनि नामौं १४. गुन विसवास नांमौ १५. गुन साछ कीरतन १६. गुन हरिजन नामा १७. गुन दास कीरत १८. गुन गम्भीर जोग १९. गुन निरमल जोग २०. गुन झूलनौ २१. गुन ब्रह्मचरित्र २२. गुन पेम कहानी २३. गुन नीच नामौ २४. गुन उत्पत्ति नामा २५. गुन छरिया नामा २६ गुन निर्मोही नामा २७. गुन नामा माला २८ गुन हित उपदेश २९. गुन नीसांनी ३० गुन नइनहु नामा ३१. गुन श्रीमुखनामा (द्वितीय) ३२. गुन कठियारानामा ३३. गुन हीयाली ३४. गुन निंदा-स्तुति ३५. साखियां ३६. वैराग्य मजरी ३७. अतीत के अंग की चौपई ३८. जखड़ी-राग मारू ३९. जखड़ी-राग गौडी ४०. कुंडलिया ४१. अरिल्ल।

अन्य ग्रन्थ जो अप्राप्य है:—

१. स्फुट कवित्त } पु० हरिनारायण जी के संग्रह मे
२. पद }

३. राजकीरतन—डा० मेनारिया द्वारा उल्लिखित

वैसे अलग-अलग प्रतियों में कुछ अन्य रचनाओं के नाम मिलते है पर उनका समावेश उपरोक्त रचनाओं मे हो जाता है। जैसे स्वामी श्री केवलराम जी के संग्रह की प्रति में विरही अरिल्ल नामक रचना है, उसका समावेश हमने अरिल्लों में कर लिया है। स्वामी मंगलदास जी के प्रति में 'विरह' को अंग नामक रचना है, उसका समावेश साखियों में कर लिया गया है। गुण छन्द भी अलग से लिखा हुआ मिलता है, पर वह निरंजननामौ का ही अंश है। 'राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' भाग तीन के पृष्ठ १६—१७ मे बाजींद जी की वाणी पद्य १४६ और एक पद का उल्लेख है, उनका समावेश भी उपरोक्त रचनाओं में हो जाता है। अब उपरोक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है:—

१. श्री मुखनामौ जोग ग्रंथ

३२ दोहों के इस ग्रंथ में बाजीद ने भगवद् महिमा का वर्णन स्वयं भगवान् के मुँह से ही करवाया है, इसी लिए इसका नाम श्री मुखनामौ जोग ग्रंथ रखा है। सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने भक्त को किसी भी प्रकार के कष्ट में देखना नहीं चाहते। वे तो यहाँ तक कहते हैं—

मेरे जन तन जे कोऊ, चितवै कररी दीठि।
चाबक तोरूं चौहटै, गुनैंगार की पीठि॥१२॥

समस्त विश्व उन्हीं की शक्ति पर तो आश्रित ही है—

दुरी बात या जीव की, प्रगट कहत हूँ तोहि।
छू धरती जो अटल है, जे बल गहै मोहि॥३०॥

संतों के संरक्षक भगवान उनका कितना सम्मान करते हैं, इसे बतलाते हुए बाजींद जी ने इस दोहे के साथ अपना ग्रंथ समाप्त किया है—

पास न छांड दास कौ, मुख देखत सुख मोहि।
बाजीद बनेकी जीय है, बहौत कहा कहू तोहि ३२

२. गुर प्रम नामौ जोग ग्रंथ

इस ग्रन्थ में कुल २० छन्द हैं जिनमें १ दोहा, १६ चौपाइयाँ और तीन पवेरा हैं। समग्र ग्रन्थ में आत्मा का परमात्मा से मिलनोत्सुक्य का वर्णन किया गया है। आत्मा परमात्मा के वियोग मे किस प्रकार से तड़पती रहती है, इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण इस ग्रन्थ में कविवर ने किया है। वाजींद जी की आत्मा इस कलिकाल में बिना भगवान के कुछ भी [illegible]—

सुधि बुधि सकल मैं खोई। दूजी [illegible]।
नहीं कलि मांझ को मेरै। सजनी विरह है तेरै ॥[illegible]॥

पवेरा का यह छन्द भी महत्त्वपूर्ण है—

विरह वियोग सह्यो नहीं जाई। हा हा मोहि [illegible] आई।
अब तौ प्रानिनि दिनी डेरा। आवै अबकी जाइ सवेरा॥

३. गुन निरञ्जन नामौ ग्रंथ

इस ग्रन्थ में वाजींद जी ने निराकार ईश्वर निरञ्जन देव की महिमा का दिग्दर्शन कराया है। ग्रन्थ में ९ दोहे, ९ चौपाइयाँ, १ अरिल्ल और १८ छन्द हैं। निरंजन देव को नमस्कार करते हुए श्री वाजींद जी ने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है—

सुर नर मुनि जोगी जती, [illegible] लहै न भेव।
आदि अन्त मधि [illegible], नमो निरंजन देव ॥१॥

४. गुन ब्रह्म प्रकास ग्रंथ

१५ छन्दों के इस ग्रन्थ, जिसमें ४ दोहे, १० चौपाई और १ अरिल्ल है, में वाजींद जी ने ब्रह्म (परब्रह्म परमेश्वर) का महत्त्व बतलाया है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, दृश्यादृश्य सभी कुछ ब्रह्ममय ही है—

निरगुण सरगुन चल अचल, कुंजर कीरी धूलि।
केवल ब्रह्म प्रकास यहु, [illegible] ॥१॥

५. गुन ठाकुरकुल नामौ

९ सोरठे, १८ चौपाइयाँ, ५ दोहे और २ अरिल्लों के इस ग्रन्थ में ठाकुर स्वरूप भगवान की महिमा का वर्णन किया गया है। ठाकुर का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

ऐसौ दूजौ न लहै है कोई, सुमिरन सेव करत है सब कोई।
हरि ठाकुर देवन को देवा, [illegible] कीजै सेवा ॥१॥

जो व्यक्ति ऐसे ठाकुर से प्रेम करते हैं उन्हें दर-दर भटकने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि भगवान रूपी कल्पवृक्ष उनके पास ही रहता है—

ताको छाड्यौ देव और ठौर क्यूं डोलई।
मन वांछित फल देय, कलिप वृक्ष द्वारे भया ॥५॥

६. गुन कथा कीरतन

यह केवल १५ सोरठों की रचना है। इसमें भगवान की कथा कहने और सुनने की महिमा का वर्णन किया गया है। कथा, स्वर्ग-प्राप्ति की सर्वोत्तम निसैनी है—

और एक सुनि बात, चित देकै वाजीद की।
जीव पीव कै जात, कथा निसरनी लागि कै॥१३॥

७. गुन ग्यांन सरोवर

इस रचना में १५ दोहे और १५ अरिल्ल मिलाकर कुल ३० छन्द हैं। एक दोहे के बाद एक अरिल्ल इसमें क्रमशः आते हैं। इस रचना में ज्ञान (परमात्मा सम्बन्धी) का माहात्म्य वर्णित है। ज्ञान को एक सरोवर का रूप देते हुए वाजींद जी ने कहा है—

नख सखलु बाजीद, रहै नहीं खेह रे,
ग्यांन सरोवर मांहि, पखालै देह रे।
सुध बुध होइ सरीर, जाइ मल जीव कौ,
परिहाँ देखे दरस अघाइ, पियारे पीव कौ॥२॥

८. गुन नांव निरूपन

२० पद्यों की इस कृति में २ साखियाँ, १ दोहा, १ अरिल्ल और १६ चौपइयाँ हैं। इस ग्रन्थ में भी भगवान के नाम की महिमा व्यक्त की गई है—

निस बासुर पीव पीव करै, रहै न दूजा मंन।
परदा पोसी दूरि है, प्रगट देखै जन॥१९॥
तो प्रगट देखै जन आपनैं पीव कौं, तब बरनैं कहि कौंन जीतौ सुख जीव कौं।
केवल हरि को नांव रैनि दिनि लीजिये।
परिहां भम करम वाजीद कबहु नहि कीजिये॥२०॥

९. गुन महातम

इस रचना में ६ दोहे, ३ अरिल्ल और २६ चौपइयाँ हैं। इसमें भी नाम महिमा का ही वर्णन है—

पाथर जल उपरि तिरै, पापी पावन होइ।
महिमां हरि के नांव की, कहां लौं बरनी कोइ॥१॥

भगवान का नाम ही जीवन की जड़ है—

पीव को नांव जी की मूरी, बांध असाधि सकल ह्वै दूरी।
प्रफूलत चित नितही रहीई, राम कृष्ण गोबिंद जौ कहहि॥१६॥

१० गुन करकस नांमो

सुगम साधनो द्वारा ही परमेश्वर की भक्ति प्राप्त की जा सकती है, कर्कश (कठोर) वचनों का तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, नहीं तो मानव-जीवन व्यर्थ होगा—

दुरबल देख्यां दाझै नैंन, मुख सूं बोलै करकस बैंन।
कहाँ भयौ राजा की राणी, हाथ न बांधा बहतै पाणी ॥६॥
यौ तौ जहाँ तहाँ ही सुणजे, बिनि बाह्यौ कैसैं करि लुणजे।
सुकृत न कीनौं कलि मैं आई, ते नर फिरि बधन्या जाई ॥८॥

११. गुन आत्म उपदेश

इस ग्रन्थ में ९ दोहे, ३ अरिल्ल और २३ चौपइयां हैं। यह ग्रन्थ आत्मा को उपदेश देने के लिए लिखा गया है। धन-संचय करने से कुछ भी लाभ नहीं है, मृत्यु होने पर कुछ भी साथ नहीं ले जा सकेंगे, यह एक उपदेश है, जिसे इस प्रकार शब्दों में व्यक्त किया गया है—

जाते देखे दिठि हम, खाली दोऊँ हाथ।
संची ही सौ बार की, कछुवै चली न साथ ॥१०॥

मृत्यूपरान्त आदमी का सब कुछ दूसरे लोगों का हो जाता है—

प्रांन गयो पिंड तैं दूरि, अन्न खरच गज काम न सूरि।
माया माल भर्‌या था कूवा, सो तौ पल मैं पर का हुवा ॥१५॥

१२. गुन दया सरोवर

इस ग्रथ में ५ दोहे, १ अरिल्ल और २० चौपइयां हैं। ग्रंथ, गुरु और भगवान की गुण-ज्ञापन से प्रारम्भ किया गया है—

गुर गोबिन्द कृपा करी, जांनै रंक र राव।
सीधे मारग माल्हीए, काहे चूकै न पाव ॥१॥
सुश्रत वेद साखि यौं बोलैं, धार्मिक लगैं बिरला सब डोलैं।
पोन गोन कीनों जब कोई, जकि थकि रहे मुनिस कहा होई ॥१२॥

१३. गुनि पुनि नामौं

इस ग्रंथ में ६ दोहे, १ अरिल्ल और ११ चौपइयां हैं। इसमें बाजीद जी ने दान के महत्व को बतलाया गया है। दिया हुआ दान कभी भी व्यर्थ नहीं जाता—

दीयौ विलै नहीं जायगो, साच कहौ मुनि लोइ।
गरथहि अरथ लगाय कै, बिलम न करहु कोइ ॥८॥

उन्होंने धन-सम्पत्ति आदि माया को नौका का जल बतलाया है जिसका त्याग ही करना पड़ता है:—

यह माया नौका को नीर काढत बिलंब न कीजहु बीर।
ज्यौं ज्यौं बाढै बोझै हाथ त्यौं त्यौं सतगुर काढै नाव ॥१९॥

१४. गुन बिसवास नांमौ

१ दोहे, १ अरिल्ल और २७ चौपई छन्दों के इस ग्रंथ में वाजींद जी ने प्रभु के प्रति विश्वास करने का महत्त्व वतलाया है। भगवान सब की प्रत्येक कामना को पूर्ण करते हैं, व्यक्ति में केवल विश्वास की दृढ़ता होनी चाहिये—

गहि रहि जीव बिसवास तुं, मति जड़ लावै मंन।
साई पुरै सबन कूं, फूरै मूरख जंन।।१।।
जल थल के जांनै सब जीव, दारि सारि रोटी अरु घीव।
जन तन पठविहि राजा रांम, भीत चीत, करइ किस कांम।।२१।।

१५. गुन साध कीरतन

२९ पद्यों की इस रचना में १ दोहा, ३ कुंडलियाँ, १ अरिल्ल और २४ सोरठे हैं। इस कृति में साधु-संतों की संगति की महत्ता को बतलाया गया है। वाजींद जी कहते हैं—

साधौ की संगति करै, सु तौ साध ही होइ।
घटि घटि ब्रह्म बिचारही, जीव न मारै कोइ।।१।।

साधु-संत देवतुल्य होने के कारण वंदनीय हैं:—

मनिख नहीं यह देव, साच कहूँ मुनि बीर।
कीजै जन की सेव, हाथ जोर सिर नाइ कै।।२०।।

१६. गुन हरिजन नामा

इस कृति में ३ दोहे, १ अरिल्ल और १६ चौपई हैं। इसमें भगवान के भक्तों के महत्त्व को बतलाया गया है।

सम दिष्टि सीतल सदा, हरख सोक नहीं मूर।
तिन साधन के चरन की, श्रीपति बंछत धूरि।।१।।
घट घट अन्तर चिहनई, वैर भाव नहीं कोइ।
सो सांई की आतमा, जुदो न जानहूँ कोइ।।१९।।

१७. गुन दास कीरतन

इस रचना में ३० फुटकर दोहे हैं जो भगवान की भक्ति, माया-मोह, संसार की नश्वरता आदि विषयों से संबंधित हैं। कुछ दोहे ये हैं:—

यहूँ जानैं संसार सब, येक दोय कहा तीन।
मछली बिन जल नां मरै, जल बिन मरही मीन।।३।।
रांम सनेही छाड़ि कै, करै जीव की चाहि।
बीज गमायौ गांठि कौ, ऊसर धरती मांहि।।१९।।
बाजीद बातैं आपनी, राखि हृदै मैं गोइ।
कहवा दूध पखारिये मोरी कबहू न होय २८

रंक न आवै निजरि मैं, राजा कीयो मित।
सुख को सागर छाड़ि के, छीलर दे को चित ॥१७॥

१८. गुन गम्भीर जोग

इस ग्रंथ में २६ चौपइयाँ हैं। इसमें कठिन साधना द्वारा योग की प्राप्ति का म बतलाया गया है। साधक को बहुत ही कष्ट उठाने पड़ते हैं और उसे कनक और कामिनी का सर्वथा त्याग ही करना पड़ता है—

ना किसहूस्यौं करै सनेह, जैसा जंगल्ल तैसा गेह।
कनक कामिनी त्यागी दोई, ऐसा अवधू विरला कोई ॥५॥

तत्पश्चात् उस योगी की सबमें समत्व-भावना हो जाती है—

जीवत मारिवा येक समान, जैसी आतम तैसी आन।
भिख्या भोजन परम उदास, कोऊ नंदहु कोऊ बंदहु तास ॥६॥

१९. गुन निरमल जोग

इस ग्रंथ में १२ छन्द हैं जिनमें एक दोहा भी है। इसमें बतलाया गया है कि भस्म लगाने और जटा बढ़ा लेने से ही कोई योगी (संन्यासी) नहीं बन जाता। वास्तविक योगी वह है जो अपने काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि को समूल नष्ट कर दे—

जोगी सो जो जुगति ही पावै। पारब्रह्म मन तारी लावै।
काम क्रोध भ्रम देइ जराइ। तीनों जोगी जिस माइ।
यहु निरमल जोग जगत उपदेस। कहा भसमु अरु कीये केस ॥ ४॥

२०. गुन सूलनी

२१ छंदों के इस ग्रंथ में बतलाया गया है कि दूसरे देवताओं की आशा छोड़कर उसी पा रब्रह्म राम का भजन करना चाहिए, क्योंकि वही सब कुछ देने वाला है—

अरथ धरम काम, मोखि देत रांजा राम।
रे नर सोवत कहा जगी, थोरे भी जल तै भगी ॥१॥

इस संसार के विकट पथ से पार होने का यही (रामभक्ति) सर्वाधिक सुन्दर (अवसर) । अतः अभी से ही सम्भल जाना चाहिये—

बाजीद बीकट बाट, आगै पुर न पट न हाट।
अब ही छूहे भले दाव, कछु संभल चलाव ॥ २१॥

१. गुन ब्रह्मचरित्र लिख्यते

इस ग्रंथ में ७२ छंद हैं जिनमें बाजीद जी ने ब्रह्म के महत्त्व को बताया है। उसकी माय कोई भी पार नहीं पा सकता—

सुर नर असुर सकल तैं मोह्या, ब्रह्म सुम्को कली बार
निगम बेदि बेदि मिलि काढी, कोइ न लार्य वाहरी पार। १२॥

उस ईश्वर (ब्रह्म) के सामने सब समान है, कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है—

ऊंच नीच नहीं भाई, सबही निमैं त्रिभुवन राई।
ज्यौ जल तरंग नहीं दोई, अस देखहु सब कोई।
हरि आप चरित इकु खेला, जग कौंन गरु को चेला॥४६॥

२२. गुन पेम कहानी

२ दोहा, २ अरिल्ल और १० चौपई छंदों के इस ग्रंथ में बाजींद जी ने प्रेम के महत्त्व को बतलाया है। यहाँ प्रेम की अकथ कहानी को भी कहने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रेम से तात्पर्य प्रभु से प्रेम का ही है और प्रेमी है आत्मा। प्रिय प्रभु के वियोग में विरहिणी आत्मा की दशा बहुत ही बुरी होने लगती है—

अजहुं न आए सुनि सखी, गये ज बाचा देई।
सांवन मास बिदेसि पिय, प्रान पपीहा लेई॥२॥

२३. गुन नीच नामौ

यह ग्रंथ अपूर्ण है, ३१ दोहों के बाद एक आधा पद्य और मिलता है। इस ग्रंथ में बतलाया गया है कि नीच मनुष्य का संग कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि—

मारग महियां छाड़इ, पहुँचावै नहीं पार।
नीच नेह कसुंभ रंग, चटक भया दिन चारी॥१॥

निकृष्ट कृत्य करके ही नीच पुरुष पनपते हैं, इसकी तुलना बाजींद जी ने मेंढक से की है—

आंखिनि चरबी फिरि गई, नौ (ने) कन सूझत कोई।
पी पी पानी कीच कै, मैंडक मांतौ लोई॥४॥

२४. गुण उत्पत्ति नामा

इस रचना में ७ दोहे और ४३ चौपइयाँ हैं। इसमें संसार की उत्पत्ति पाँच तत्त्वों से हुई है, यह बतलाते हुए बाजींद जी कहते हैं कि मनुष्य किस प्रकार गर्भवास में कष्टपूर्वक रहता है और वह किस प्रकार भगवान से बाहर निकलने के लिए प्रार्थना करता है—

अप तेज आकाश पृथिवी पवन सप्रेरनहार।
पंच तत करि ऐकठे, रच्या सकल संसार॥३॥

और यह प्रार्थना भी दर्शनीय है—

हा! हा!! हों वलि वेर न लाई, त्राहि त्राहि अब काढि गुसाँई।
यहु निज विपति निवारहु मेरी, गाऊंगी कलि कीरति तेरी॥१४॥

किन्तु क्या वह हरिस्मरण करता है? नहीं—

बालपनों इहिं बिधि गयो जिहिं बिधि आहु न कोइ।
सेवा सजम विधि वरत सुमिरन भजन न होइ ५॥

युवावस्था में तो पुरुष पूर्णतः पत्नी के वश में हो जाता है—

तो तरुन भयो चित उपज्यो चैन, युवती सेती कीनों हेत।
प्रान तज्यो परि होई न जुवा, नलनी मानहुं बन्ध्या सुवा ॥२४॥

और अन्त में वृद्धावस्था के साथ ही साथ काल सिर पर आ चढ़ता है—

पंचन महि तैं पर्‌या जब जूवा, निहचैं नरग एक दिन मुवा।
जिहि कुटुम्ब अपनो करि पार्‌यो, मूंड ठोक कै धाकर मार्‌यो ॥४६॥

इसलिए वाजींद जी कहते हैं—

यहु तेरी उतपति पर कै, मैं सूं कथाया भेय।
जब लगि सास सरीर में, तब लग करि करि सेव ॥७॥

इस प्रकार इसमें जीव की उत्पत्ति और शांति तक का क्रमपूर्वक निर्देश है।

२५. गुन घरिया नामा

इस ग्रंथ में २४ चौपइयाँ, ९ साखियाँ और १ दोहा है। इसमें एक घड़े की आत्मकथा है जिसमें वह बतलाता है कि वह किस प्रकार मिट्टी से कुम्हार के हाथों गीला हुआ, पीटा गया, अग्नि में रखा गया और कितने अन्य प्रकार के कष्टों में से गुजर कर फिर घड़े के रूप में आया। प्रारम्भ ही वह अपने दुख को सुनाने से करता है—

घरि खरी कहै सुन लोई, मुझसी दुखी न कलि में कोई।
मूलि जु मेरा नावँ माटी, जिसकी सेती कछु न आंटी ॥१॥

और वह अपना अनुभव कहता है—

जठर अग्नि में जब गहि मेली, जरनैं मांहु न फेरा।
नख सिख लौं सब साजी निकमी, तब गाहु कढ़ू कढ़ेरा॥

इसके बाद वाजींद जी कहते हैं—

कंगहि सहूँ के के सहु पहुंची, जब सिर सह्या गुभारा।
दुख बिन सुख कबहुं नहि पइये, सुख दुख पन्थी पारा ॥२७॥

और भी—

मूल फूल साख सब तोड़ी, भयतैं नेक न भागी।
मेंहदी ह्वै सिल माहि पिसाई, पिय के पगि तब लागी ॥२८॥

६. गुन निर्मोही नामा

५ दोहों और २० चौपइयों के इस ग्रंथ में वाजींद जी ने प्रियतम परमेश्वर को निर्मोही बतलाया है क्योंकि वह प्रेयसी आत्मा से दूर रहता है। इसलिए ऐसा प्रेम सुखपूर्वक किस तरह निभ सकता है—

आले भावत छीडि कै, ऊपरि लावत लौन।
निरमोही सो मोह करि कहि सुख पावत कौन ॥२॥

और इस तरह निर्मोही के संग से सदा कष्ट ही उठाना पड़ता है—

मन वच कर्म वाजींद हों, भली विचारी नाथ।
बिन दुख पाये क्यों रहे, भलो बुरे के संग (साथ)।।५।।

वस्तुतः भगवान निर्मोही नहीं हैं, वाजींद ने प्रेमाधिक्य के कारण ही यह सब कहा है।

२७. गुन नाममाला

४४ चौपइयों और २ साखियों के इस ग्रंथ में वाजींद जी ने प्राणियों को परमेश्वर का स्मरण करने के लिए प्रेरित किया है। इसके साथ ही साथ उन्होंने भगवान के भक्तों का भी महत्त्व बतला कर उनका स्मरण करने के लिए जोर दिया है। ग्रंथ में भगवान के भक्तों की एक नामावली-सी दे दी है, अतः इसका नाम गुन नाममाला रखा गया है। उदाहरणार्थ—

धरती अम्बर उत्तम छाजा, सुमिरहु क्यों न रामचन्द्र राजा।
सोहत है जाको रजधानी, धरनीधर सुमिरहु किन प्रानी।।१०।।

उन विभूतियों का स्मरण भी करना चाहिए जिन्होंने काम, क्रोधादि से विरत होकर तप-संयम द्वारा अपने जीवन को कृतकृत्य बनाया—

काम क्रोध भ्रम कियो विभूत, सुमिरहिं जोगी जन अवधूत।
सुमिरैं नामा और कबीर, सुमिरैं कुतब गौस पुनि पीर।।३७।।
जाति वर्ण कुल छाड़ी रीति, सुमिरहिं सधना पर परतीति।
संत संतोषी सेवग आहू, पतिव्रत सूं सुमरे स्वामी दादू।।४४।।

२८. गुन हित उपदेश ग्रंथ

इस ग्रंथ के दो भाग हैं जिनमें से पहले में १५९ चौपइयाँ, २१ दोहे और १ अरिल है और दूसरे में २ अरिल, १४ दोहे तथा १४७ चौपइयाँ हैं। प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत के 'हितोपदेश' नामक ग्रंथ की शैली के आधार पर लिखा गया उसका रूपान्तर है। किसी को भी हित के लिए उपदेश देने से तथा उसके साथ ही एक उदाहरण होने से वह जल्दी ही ग्राह्य हो जाता है और यही शैली यहाँ अपनाई गई है। एक उपदेशमय बात कह कर उसे एक कथा पर घटाया गया है। इस प्रकार इस ग्रंथ में कई उपदेशात्मक कथाएँ हैं। ग्रंथ के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

हित चित दे सब कोऊ सुनहुँ, साँच कहत है शेष।
संगति तैसे होइ फल, या महिं मीन न मेष।।१।।

उपरोक्त दोनों भाग मित्र लाभ और सुहृद्भेद ही हैं। प्रस्तुत दोहा मित्रलाभ का था और यह है सुहृदभेद का—

सहर भेद हूँ, कहत हूँ, सुनि यहु सबही कोय।
नाहर बरध जुदे किए, स्याल अकलितैं लोय।। १।।

इसकी कथा का प्रारम्भ इस प्रकार है—

तो बनियाँ एक शहर में कोई। द्रव्य आहि पै त्रिपति न होई।
तिहिं बनियाँ विचारी एसी उदिम बिना माया कहु कैसी १

में यह ग्रन्थ है पर वह प्रति प्राप्त नहीं होने से उसका परिचय नहीं दिया जा सकता। उक्त प्रति सं० १८८५ की लिखी हुई है। गुन कठियारानामो नाम से इस प्रति में दो रचनाएँ हैं। सम्भव है, जिस प्रकार श्रीमुखनामा के नाम की दो रचनाएँ मिलती हैं उसी प्रकार कठियारानामा भी दो अलग-अलग ग्रन्थ हों। सूची में नामोल्लेख में कुछ भूल हो गई हो, इसको भी कह नहीं सकते।

३३. गुन हीयाली

प्रस्तुत रचना में १ सोरठा और ४ चौपइयाँ हैं। इन हीयालियों (पहेलियों) में भी वाजींदजी ने परमेश्वर का ही गुणगान गाया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

जीवत याही लागि, कुंजर कीरी मानई।
ज्यों लकरी भइ आगि, त्यूं पियघट मंझिहइ।। १
जल थल के लोग हइ तास। दूरि न देखि आहि सो पास।
जन बाजीद पुकारइ कहइ। पहुप वास मध्य ज्यों रहई।। ५

३४. गुन निंदा-स्तुति

इसके अंतिम दो-तीन पद्य ही मिले हैं, अतः पूरी रचना न मिलने से इसका विशिष्ट परिचय नहीं दिया जा सकता।

३५. वाजींदजी की साखियाँ

! संत कबीर की भाँति वाजींदजी ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण ज्ञान-गरिमा को साखियों के अन्दर व्यक्त किया है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी की प्रस्तुत प्रति में ये साखियाँ प्रारम्भ से न मिलकर संख्या ४६० से मिलती हैं, (पहले के पन्ने नहीं हैं) और कुल साखियों की सख्या ६२६ है। इन साखियों को विभिन्न विषयों में विभक्त किया गया है। उपलब्ध विषय इस प्रकार हैं—

१. साखी क्रिपण रै अंगरी, २. साखी दया कै अंग की, ३. साखी विस्वास कै मूल की, ४. साखी सूरातन के अंग की और ५. साखी साध के अंग की। ये साखियाँ ज्ञान की आँखें हैं। कबीर का यह दोहा इसके लिए उचित बैठ सकता है—

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखि मन माँहि।
बिन साखी संसार के झगड़ा छूटत नाँहि।।

अब उपरोक्त साखियों के पाँच अंगों पर संक्षिप्त विचार किया जाता है—

१. साखी क्रिपण रै अंगरी—इन साखियों में वाजींदजी ने संचय करने के दुष्परिणाम पर प्रकाश डाला है और कृपणों की निंदा की है—

अन बन सकल धर्‍यौ रह्यौ, केस गहे जब काल।
किरपन कछू न ले गयौ, संच्यौ हौ वह माल।।४६

कंजूस का तो सिद्धान्त ही है कि चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय—

या किरपन के मन महि, मिहर न आवत भूरि।
जद्यपि जिय ही जाइ किन, दमरी करै न दूरि।।४८३

२. साखी दया कै अंग की—प्रस्तुत साखियों में जीवों पर दया करने के महत्त्व को गया है भलाई का फल भला ही होता है

सकि हित नेकी करि कछु, बदी बुरी है मन्न।
पाप रसातल जाइयै पुण्य तिरै ज्यों फल ॥५०७

वाजींदजी निश्शंक होकर कह रहे हैं कि निर्दयी व्यक्ति चाहे कोई हो, उसे दुःख ही उठाने पड़ेंगे—

वाजींद ज्यौं थी त्यों कही, तनम ना मनी शक।
दयाहीन दुख पाइहै, राजा होइ कि रंक॥५०३

३. साखी विस्वास के मूल की—प्रस्तुत साखियों में वाजींदजी ने बतलाया है कि मनुष्य को भगवान का पूर्ण विश्वास करना चाहिए, वे सब की आवश्यकताएं व इच्छाएं [illegible] पूर्ण करते हैं—

मोती आपै हंस कौ, मछरी कूं दे नीर।
मिहरबान मोटा धनी, सब कौ आपै सीर॥५१०

और तो और, भगवान गर्भवास में भी जीव को दूध देकर उसकी रक्षा करता है—

बीस पाख जननी उदर, जहां पहुंचावै क्षीर।
अरध सीस पग उरध को, [illegible] ॥५१२

४. साखी सूरातन कै अंग की—इन साखियों में शूरवीरों [illegible] की भगवान की पूजा में अपना तन, मन, धन न्यौछावर कर देते हैं, जिनकी [illegible] भगवान की भक्ति में रहती है और जो संसार के झूठे प्रलोभनों से जरा भी आकृष्ट नहीं होते [illegible] गया है—

मरदों का मैदान है, मनहिं [illegible] धीर।
देखि न बाया दाहिनै, सीधा चलिउयो नीर॥५१४

ऐसे शूर जीवन का लोभ बिल्कुल ही नहीं करते—

मरे तो पावै मुकति फल, जीवहिं जग में सोभ।
सूरा चढ़ि संग्राम मैं, करै न जी का लोभ॥५१६

शूरवीर संसार की साधारण मार से, जो निरन्तर पड़ती ही रहती है, जरा भी विचलित नहीं होते—

वाजींद विवेकी जीव कौं, परत [illegible] दिन मार।
कूकर सेती क्या डरै, हाथी कौ असवार॥५१८

५. साखी साध कै अंग की—साधु-सज्जन संसार में रहते हुए भी इसके माया-मोह से किस प्रकार दूर रहते हैं, यही इन साखियों द्वारा व्यक्त किया गया है—

साधू जन संसार तैं, जुदै जानि यहु और।
ज्यों जल माहि उनपति ह्वै, कमल छिपत न नीर॥

प्रत्येक साखी साधु की परिभाषा मानी जा सकती है—

आयें ही आनंद कछु, ना कछु गयें विखाद।
सुख दुख दोऊ सम करै, सोई जानि तू साध॥५१४

और यह है इस अंग और ग्रंथ की अंतिम साखी, जिसमें सच्चे साधु को परखने की कसौटी वतलाई गई है—

इहै परिछा साध की, सबद न दूल्यौ जाइ।
समदृष्टी सब सौं रहै, ना हरत सील सुभाइ।। ६२६

पहले की ४६० साखियाँ मिली नहीं। उनमें और भी कुछ अग होंगे। इनमें से विरह के अंग की १५९ साखियाँ स्वामी मंगलदास जी की प्रतिलिपि में प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है—

३६. विरह को अंग

इस ग्रंथ में १५९ दोहे है जिनमें वाजींद ने विरहिणी आत्मा का प्रियतम परमेश्वर के प्रति विरह-निवेदन का वर्णन किया है। वह भिखारिन होकर प्रियतम के दर्शन की ही भीख माँगती है—

गर महि मेली गूदरी, खपरा लीनो हाथ।
भिक्षा माँगत दरश की, देऊ दया करि नाथ ।। ८

पुरोहित हरिनारायण जी के संग्रह की प्रति नं० १४ में साखियाँ १८ अंगों में विभक्त हैं। प्रियतम को सदेश भेजती हुई अपनी दयनीय स्थिति का निवेदन करती है—

वाजींद कहियो कंत सौं, क्रिपा करोगे कब।
अंगुरिन महि की मुद्रिका, हाथनि आवति अब।।४६
सूकि सुपारी तन भयो, विथा न जानसि नाँह।
हाथनि महि की चूरियाँ, आवन लागी बाँह।। ४७

३७. वैराग्य मंजरी

इस ग्रन्थ में १५ चौपइयाँ हैं जिनमें इस ससार और असारता और उससे विलग रहने का वर्णन किया है। संसार के झूठे मायाजाल में नहीं फंसना चाहिए। चूंकि आखिर इस संसार को छोड़कर सभी को जाना पड़ता है, इसलिए यह जानते हुए सांसारिक काम, क्रोध, लोभ, मोह के बंधन में कदापि नहीं आना चाहिए। प्रत्येक चौपई का अंतिम चरण 'एते परि एता क्या करणा' है जिसके द्वारा वाजींद जी बतलाते हैं कि इतना सब जानते हुए भी हम इस संसार के बंधन में क्यों हैं। जैसे—

प्रीतम लोक मात सुत भाई, जिन सुँ सुख दुख एक सगाई।
काल ग्रसइ तब कोई न सरणा, एते पर एता क्या करणा ?
पूजा पाती आन की सेवा, ध्यायउ नहीं निरंजन देवा।
ताते चौरासी गति में फिरणा, एते परि एता क्या करणा ? १५

३८. अतीत के अंग की चौपई

हुए भी इसकी मोह-माया से विरक्त होकर उससे आगे बढ़ जाता है तो उसे संसार के सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है—

अतीत भया तजी अब ऐसी, जुवा कुवा बरख न मेसी।
लाहा टोटा जीति न हारि, सबद गुरु को रह्यो बिचारि ॥१

ऐसे पुरुष को ही अतीत कहा जाता है—

प्रीति एक साहिब सों जोरै, माया ज्यों कागे त्यूं तोरै।
जन वाजीद न संचै दाम, तिस अतीत को म्हारी सलाम ॥२३

३९. जखड़ी राग मारू

इसमें ५ पद हैं जो विरह-संबंधित ही हैं। एक पद यह है—

सखि ! हो गरजि घटा घन आई।
हरि बिन क्यूं जीवन होइ माई ॥टेक॥
मोर मगन चकोर चातृग, कोकिला बन बोलही।
निराधार अनाथ अबला, प्रान दह दिस डोलई॥
रैनि कारी बिरह जागी, पीव पारिग न पाइये।
जानराय प्रवीन प्यारे, तुम्ह सावन दीजिये॥
प्रीति पहली मुसरि सांई, बेगि बार न लाइये।
सुख सागर गुन आगर, बिरह अनल बुझाइये॥
घाट औघट उतरि आये, कंत हों तुम कारने।
मिलौ मोहन मया करि, वाजीद जन भया बारने ॥५

४०. जखड़ी राग गौड़ी

इसमें ८-८ पंक्तियों के ५ छन्द हैं जो रहस्यात्मक भावना से परिपूर्ण हैं। संसार की असारता और आत्मा का विरह-वर्णन इसमें प्रमुख है—

सदा (न) संग सहेलीयाँ, सदा न राजा देसवै।
सदा न जग मैं जीवणा, सदा न काला केसवै।
सदा न काला केस, जग मैं स्वामी मुझ भया।
जीवण अंजली नीर जैसे, मिली माधौ करि मया।
मया कीजै दरस दीजै, पीजै प्रेम अघाइवै।
आणंद उपजै अणदसा पीव पड़ै तुम्हारै पायवै।
पीया तेरै पाइ लागूं, ज्यूं आया त्यूं बेलीया।
वाजीद जन बलि जाइ स्वामी, सदा न संग सहेलीयाँ॥

४१. कुंडलियाँ

इस कृति में ११ कुंडलियाँ हैं जो आत्मा के के प्रति विरह-निवेदन से संबंधित हैं। विरहिणी आत्मा को रात-दिन, कभी भी तो चैन नहीं पड़ता—

बिरहन देत संदेसरा, सुनौं हु पंथी एक बात।
आंठौ पहर आचटीयै, नाँ सुख दिवस न राति।
नाँ सुख दिवस न राति, मेघरी बरष बर।
काँमलीये करवत, बाँम बिहुरैं धरनीधर।
असन बसन सब परहुरैं, जटा करीसि केसरा।
सुनहु पथिक तुम बात, बिरहन देत संदेसरा।।

४२. वाजींद जी के अरिल्ल

वाजींद की अरिल्ल-छन्दों में की हुई रचना कई अंगों में विभक्त है। नाना विषयो को अगों का रूप देकर उन्होंने उन विषयों पर बहुत ही सुन्दर रचनाएँ की है। भक्त होने के कारण यद्यपि इनकी रचनाओं का प्रधान विषय परमात्मा का ध्यान, भजन आदि ही रहा है तथापि व्यावहारिक जगत को भी इन्होंने झुठलाया नहीं है। इन अरिल्लों में वाजींद जी ने यह बतलाया है कि मनुष्य को निरा स्वार्थी न होकर, दूसरों से सम-व्यवहार करना चाहिए। अहंकार को छोड-कर गरीबों पर दया करनी चाहिए, उन्हें दान-स्वरूप कुछ न कुछ देना चाहिए। अरिल्लो के विभिन्न अंगों के नाम इस प्रकार हैं---

सुमरण को अंग, बिरह को अंग, पतिव्रता को अंग, साव को अंग, उपदेश को अंग, चिंता-मणि को अंग, काल को अंग, विश्वास को अंग, कृपण को अग, दातव्य को अंग, दया को अग, अज्ञान को अंग, उपजण को अंग, जरणा को अंग, साच को अंग, भेप को अंग, इन समस्त अंगो के अरिल्ल स्वामी मगलदास जी-सम्पादित 'पंचामृत' नामक पुस्तक में प्रकाशित हैं। यहाँ हम कुछ अगों के उन अरिल्लों के उदाहरण देते हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं---

स्मरण को अंग—

तिनते हरका होइ कहा जगु जीजिये
तजिब सुरसुरि नीर कूप जल पीजिये।
कर वाही कूं याद आश तजि और की
परिहाँ जन वाजींद बिचारी कही है ठौर की।।

उपदेश को अंग—

पाहन जैसे दाम धरे जो गाडि कैं
गरथ अरथ यहुलाइ जाइहै छाड़ि कैं।
अरब खरब बाजींद संचे किहि काम के
परिहाँ प्रीति सहित पुनि पूजि सनेही राम के।।

कृपण को अंग—

ज्यों थी त्योंही कही सति सुनि लोइरे। मन गाढो करि रहो न माँगहु कोई रे।
कृपन अपने हाथ न कोडी देयगो। परिहाँ मणि माथै सर्प मारि कोऊ लेइगो।।

विश्वास को अंग—

हाथैं न लोब पाइ चल्यो कहा जात है। रिजक आपनो वीर रैंन दिन खात है।
रोटी को वाजींद कहा तू रोवई परिहाँ अजमर को दे राम मैंन किन जोवई।

गोविन्द स्वामी का काव्य और वात्सल्य

सुश्री करुणा वर्मा

अष्टछाप के कवियों में गोविन्द स्वामी का स्थान स्मरणीय है। वल्लभाचार्य के पश्चात् श्री विट्ठलनाथ जी द्वारा यह शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग) पुष्पित हुआ था। गोविन्द स्वामी विट्ठलनाथ जी की शिष्य-परम्परा में थे। कालिन्दी के तीर [illegible] अंचल में आराध्य [illegible] की जन्मभूमि थी। उसी गिरिराज की मनोरम रंगस्थली में पुष्टिमार्ग की स्थापना हुई। इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण के मधुर वात्सल्यपूर्ण "यशोदोत्संग-लालित" [illegible] रूप के स्वरूप की आराधना उनकी क्रीड़ास्थली ब्रजभूमि में आरम्भ की और तत्पश्चात् भक्तों की भावना को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से कृष्ण को ही सर्वोपरि मानते हुए अपने सेव्य स्वरूपों में श्रीनाथ जी को प्रधानता दी। इसके अनन्तर गोसाईं श्री विट्ठलनाथ ने अपने सात पुत्रों में सात स्वरूप बाँट कर सात पीठ अथवा सात घरानों की स्थापना की तथा इस प्रकार सेवामार्ग का विस्तार करके सम्प्रदाय को पुष्ट किया।

अष्टछाप के अमर दिव्य गायन में कृष्ण के बाल-जीवन की लीलाओं का मार्मिक चित्रण एवं मातृ-हृदय की वात्सल्य-पूरित स्निग्धता का विकास ही इन अष्टछाप के कवियों के काव्य की मुख्य संवेदना रही है।

गोविन्द स्वामी के आराध्य भी श्रीकृष्ण ही थे। इन्हें श्रीकृष्ण की बाल-लीला के रसमय स्वरूप का साक्षात्कार हुआ था। यों तो पुष्टि-साम्प्रदायिक भावना के अनुसार इनका लीलात्मक स्वरूप श्रीप्रभु के अन्तरंग सखा स्वामिनी जी के भ्राता श्रीदामा का है जो दिन में उनके साथ सखा-भाव से खेलते हैं। श्री कृष्ण इन्हें माता की भाँति अत्यन्त प्रिय मानते हैं। रात्रि में ये भामा सखी रूप माने गये हैं। भगवदीय स्वरूप से नेत्र स्थानापन्न हैं। प्रातःकालीन [illegible] में इनकी आसक्ति है। शृंगारासक्ति "टिपारा" में मानी गई है। इस प्रकार भावाधिक्य से "[illegible]" भाव से कीर्तन करते हैं। इनके पदों का संग्रह प्रकाशित है।[1]

गोविन्द स्वामी के पदों में वात्सल्य रस के पद, विशेष करके जन्माष्टमी-राधाष्टमी बधाई, श्रीकृष्ण की बालकेलि आदि के पद हैं जिनका विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है।

---

१. देखिए—गोविन्द स्वामी, यह इनके ५७४ पदों का एक कीर्तन संग्रह है जो विद्या-विभाग, कांकरोली, ——— से मो० [illegible]भूषण शर्मा के [illegible] में श्री द्वारकेश माला के २०वें पुष्प में प्रकाशित हुआ है।

(१) जन्माष्टमी (बधाई)[1]
(२) राधाष्टमी[2]

नित्यक्रम (सेवा समय) में 'वात्सल्य'

(३) जगावनी[3]
(४) कलेउ[4]
(५) संध्या (व्रजआवनी)[5]
(६) पोढवो[6]
(७) बाललीला[7]
(८) उराहनी[8]

इन पदों में वात्सल्य रस के उमड़ते स्रोत हैं। उनका क्रमशः अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा। मधुर, सख्य, शांत भावना आदि के साथ ये पद वात्सल्य भावना में संपूरित हैं। श्रीकृष्ण परमब्रह्म स्वरूप होकर भी नररूप में यशोदोत्संग लालित होकर भक्तों का कष्ट-निवारण करते हैं। भक्तों की भावना के अनुसार वे विविध रूप धारण कर उन्हें अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा परितुष्ट करते हैं। श्री कृष्ण पूर्ण निराकार, निर्गुण होकर भी भक्तों के भावानुसार सगुण साकार होकर "यशोदा" के आंगन में बालक बन कर क्रीड़ा करते हैं।[9] गोविन्ददास जी वात्सल्य भक्ति के द्वारा असीम आनन्द की प्राप्ति करते हैं और सेवानुरक्त हो महाप्रभु में तन्मय-तद्रूप हो जाते हैं। भगवान के वात्सल्य रूप पर विमुग्ध होकर गोविन्ददास जी यशोदा, ब्रज, वेणु, ध्वनि और वात्सल्य के साकार स्वरूप बालकृष्ण के आश्रय को छोड़कर बैकुण्ठ भी जाना नहीं चाहते और निरन्तर उर्मी में अवगाहन की कामना करते हैं, यह उनकी वात्सल्य-भक्ति[10] की उत्कट अनुभूति-सुख का ही परिणाम है।[11] रस की दृष्टि से भी वात्सल्य रस-रूप में परिपुष्ट होता देखा गया है। इनके पदों में आलम्बन, उद्दीपन, संचारी और अनुभावों से परिपुष्ट स्थायी भाव के रूप में वात्सल्य रस की निष्पन्नता देखी जाती है।

---

१. गोविन्द स्वामी, पद सं० २-२३
२. गोविन्दस्वामी, पद १९-२३
३. वही, पद २२२-२३४
४. वही, पद २३२-२३४
५. वही, पद ३५६-३९२
६. वही, पद ५१४-५२८
७. वही, पद ५२९-५४२
८. वही, पद ५४३-५४७
९. पद देखिए मंगलाचरण—पद संख्या:—
बिघ्नहरन चक्र धरन चरनकमल बन्दे। कमलापति कमल लोचन मोचन दुखद्वन्द्वे॥
ज्यों ज्यों हरि गोप मेख अरि निकन्दे। "गोविन्द" प्रभु नन्द सुवन जसुमति आनन्दे॥
१०. पद संग्रह में दिया गया है। देखिए, वार्ता १४, पृ० १५ "जहां बन में प्यार...
दिखा हूँ। वार्ता १८ पृ० १७ वात्सल्य भक्ति को परिपुष्टि करते हैं।
११ गोविन्द स्वामी पद ५४७ विद्याविभाग कांकरौली संस्करण।

बधाई

सर्वप्रथम जन्माष्टमी के पदों से वात्सल्य के संयोग पक्ष का आरम्भ होता है। नन्द के घर पुत्र जन्म होता है जिससे सम्पूर्ण ब्रज में आनन्द छा जाता है। उस प्रसन्नता के परिणाम-स्वरूप आनन्द के गीत-स्वर मुखरित होते हैं, वन्दनवार लगाए जाते हैं, द्वार पर मंगल-कलश सजाया जाता है। केवल गीत ही हृदय के हर्ष को पूर्ण व्यक्त नहीं कर पाते हैं। वे विविध भांति के वाद्य बजा कर नृत्य करते हैं। ब्राह्मण मंत्रोच्चार करते हैं, दूध-दही आदि मंगल पदार्थ छिड़के जाते हैं। स्वयं ब्रजराज मगन होकर भांति-भांति के अमूल्य पदार्थ दान देते हैं।

इन्हीं भावों से पूरित जन्माष्टमी के ये बधाईसूचक पद बालक कृष्ण के जन्मोत्सव पर उत्पन्न हर्ष संचारी से उत्पन्न अनुभावों का वर्णन करते हैं। आलम्बन नवजात बालक कृष्ण है, आश्रय यशोदा, नन्द, गोपियां आदि हैं, नवजात शिशु का सकल कलाओं से उत्पन्न रूप उद्दीपन का कार्य करता है तथा हर्ष संचारी भाव के रूप में देखा जाता है, तथा इसी हर्ष से उत्पन्न अनुभाव-स्वरूप समस्त क्रियाएँ नृत्य, गान, दान आदि की देखी जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बधाई के पदों में बार-बार इन्हीं भावों को नए-नए शब्दों में कवि ने दुहराया है तथा वात्सल्यानन्द की अनुभूति कराई है।[1]

बधाई के कुछ पदों में वात्सल्य का प्रसंग होने पर भी वह भाव रूप में ही उपस्थित हो सका है। उसे रस की स्थिति नहीं प्राप्त होती है। ऐसे प्रसंगों में केवल बधाई की भावनाएं हैं। इनमें बालक कृष्ण केवल बालक ही नहीं हैं, वरन् उनकी महिमा का वर्णन भी प्रस्तुत हो गया है, तथा उनके इस रूप में प्रकट होने का कारण भी स्पष्ट किया है। अतः वात्सल्य के इन प्रसंगों में आलम्बन आदि वात्सल्य रस के होने पर भी वात्सल्य रस निष्पन्न न होकर भक्ति रस उभरा है। उदाहरणार्थ—

प्रगटे मथुरा मांझ हरी।
मात तात हित पुत्र रूप मिस अपनी प्रीति पूरी करी॥
स्याम बरन बहु उर पर भृगु पद अति कंचन जैसे कीट धरी।
दोऊ भुजा बनमाला संख चक्र गदा पद्म धरी॥
× × ×
"गोविन्द" प्रभु गिरिधरन जसोमति भक्त हेतु आए नंद घरी॥"[2]

कुछ पदों में यशोदा पुत्र द्विभुज के स्थान पर चतुर्भुज रूप में वर्णित किए गए हैं।[3] परन्तु उनका यह रूप देवकी के सम्मुख प्रकट होना दिखाया गया है।

जन्माष्टमी एवं बधाई के पदों के बाद कुछ पद पालने के पाए जाते हैं जिनमें बधाई के पदों की अपेक्षा वात्सल्य रस का संचार अधिक हुआ है—

---

१. गोविन्द स्वामी, पद संख्या १, २
२ द्रष्टव्य ~~[illegible]~~ स्वामी पृ० ४ पद सं० ८, १० ११
३ वही, पद सं० १२

झूलो पालने बलि जाऊँ।
स्याम सुन्दर कमललोचन निरखि अति सचु पाऊँ
× × ×
चुटकी दै दै नचाऊँ, हरि को चूमि चूमि उर लाऊँ[1]

उपर्युक्त पद में आलम्बन पालने में झूलते कृष्ण हैं, आश्रय स्वयं कवि है, यशोदा तो अनुभावित है। श्यामसुन्दर के कमललोचन, उदार आनन, उद्दीपन का कार्य करते हैं। उस अमित सौंदर्य से उद्दीप्त होकर हर्ष संचारी का अनुभाव होता है तथा हर्षातिरेक से पुष्ट होकर चुटकी बजा-बजाकर कृष्ण को खिलाने का वर्णन है। चुटकी बजाना, चूमना आदि हर्ष संचारी से उत्पन्न अनुभाव हैं। यशोदा का बालक के निकट बैठकर मधुर गीत-गाना, खिलौने से खिलाना भी अनुभाव है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी, उद्दीपन आदि से पुष्ट होकर वात्सल्यानन्द की निष्पत्ति ही तो है तथा पूर्ण रसास्वादन होता है।

इसी प्रकार पद संख्या १५ में भी वात्सल्य रस के सभी अंग वर्तमान हैं। पद का वात्सल्य पूर्ण माधुर्य देखिए---

आलम्बन--- कृष्ण

भाव---

आश्रय--- यशोदा

उद्दीपन--- सेत कुलही सीस राजति सोभित घुँघरे बाल
चिबुक अलकावलि अनुपम लटकैं लटकन लाल
कलगी तुर्रा कनक मनिमय तिलक मृगमद भाल
स्रवन कुण्डल नाक बेसरि स्याम बिदुली गाल
दसन द्वै दामिनी से दमकत अधर मृदुल प्रबाल
दिए अंजन परम सोभित अंबुज नैन बिसाल
पीत झगुली लाल तनियाँ कंठ श्री उर माल
कर कमल पोंहची मुंदरिया अंगद कंकन सुठाल
किंकिनी कटि तट चरन नूपुर सोभित ब्रज प्रतिपाल

संचारी भाव--- हर्ष, गर्व आदि

अनुभाव--- माखन मेवा अरु मिठाई भरी कंचन थाल
स्नेह सौं जसुमति खवावति गावति गीत रसाल
सुबल बालक वृन्द किलकत फिरत टेरत ग्वाल

पुष्ट वात्सल्य रस की निष्पत्ति--- इस प्रकार "कुमुदिनी गन" ब्रजजुवति फूली देखि गोकुलचन्द निरखि "गोविन्द" बाल लीला भयौ मन "आनन्द"।[2] यह आनन्द ही रस-रूप वात्सल्य है।

१ पद सं० १४ २. पद सं० १५

इसके अतिरिक्त पद संख्या १६ में कृष्ण की शोभा के साथ-साथ [illegible] भयभीत होने का बाल भोलापन भी उद्दीपन रूप में देखा जाता है [illegible] वात्सल्य से प्रेरित अनुभाव है। पद संख्या १८ में रस के सभी अंगों के साथ-साथ [illegible] सात्विक भाव का वर्णन भी कवि ने किया है। कृष्ण-जन्म के इन्हीं प्रसंगों में वात्सल्य का सुन्दर स्वरूप "पलना" के अन्तर्गत देखा जा सकता है। बाल-कृष्ण को पालने में [illegible] अलौकिक [illegible] की स्मृति हो आती है। प्रकृति के कार्य-व्यापार तक बालकृष्ण के [illegible] पर न्योछावर हैं। कृष्ण के उसी रूप को लेकर भक्त-कवि ने वात्सल्य को रस-सिक्त कर दिया है—

> ब्रज जन भयौ मन आनन्द
> जसुमति गृह पलना झूलत निरखि गोकुल चंद
> निरखि हरि की बाल लीला गावनि गोप सुछंद
> सुनत सिद्ध समाधि छूटी भई रवि गति मंद
> लज्जित कुसमायुध निहारत गुन्द मृग अरविन्द
> होत अद्‌भुत बाल क्रीड़ा धारनें गोविन्द[1]

उक्त पद में ब्रजजन आश्रय हैं और उनका स्वच्छन्द होकर गीत गाना आदि करना, आनन्द जन्य अनुभाव है। भाव की अद्‌भुतता दर्शनीय है जिसमें अलौकिकता का आधार [illegible] बालकृष्ण को आनन्द निष्पन्न कराने वाला शिशु बनाया गया है जिसका [illegible] आनन्द का मूल विषय है।

यही नहीं कवि ने राधाष्टमी के प्रसंग को भी अपनी स्नेह-सहृदयता से इतना [illegible] तीव्र बनाया है कि राधा-जन्म का प्रसंग पृष्ठभूमि के रूप में सुन्दर वात्सल्य को लेकर उद्भूत हुआ है।[2]

"बधाई बाजत रावली मांझ" तथा "प्रगटी श्री वृषभानु कुमारी"।[3]

गोपाष्टमी के पदों में कृष्ण के प्रथम गोचारण का वर्णन है। गोचारण के कुछ [illegible] भाव गोविन्द स्वामी के पदों में मिल जाते हैं। गोचारण लीला कृष्ण के जीवन की [illegible] लीला है जो वात्सल्य और रस दोनों भावों को रसमय करती है। गोचारण लीला गोप-ग्वालों से सम्बन्धित वह रसप्रणीत लीला है जो प्रकृति की अनन्त गोद में चलती है। कृष्ण के गोचारण सम्बन्धी विविध खेल तथा सख्य भावना प्रणीत यह लीला अपने आपमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लीला है। गोचारण की लीला, नन्द-कृष्ण, ग्वाल, गायें तथा उनसे सम्बन्धित आनन्द में भाग लेने वाली गोपमाताएँ और यशोदादि हैं। गोचारण सम्बन्धी काव्य (Pastoral Poetry) पर मनुष्य की पशु-चारण वृत्ति का प्रभाव है। यह प्रभाव यूरोप की कविता पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। संस्कृत काव्य में भी कालिदास के नंदिनी संबंधी वर्णन मिल जाते हैं। गोविन्द स्वामी

---

१. गोविन्द स्वामी, पद संख्या १७, पृ० ९
२ वही राधाष्टमी के पद संख्या १९
३ वही, पद संख्या २१ २२

ने कृष्ण के प्रथम गोचारण से उत्फुल्ल वात्सल्य स्निग्धा माता यशोदा के भाव विभोर दृश्या का सुन्दर चित्र खींचा है। हर्ष, तोष और उत्साह संचारी भावों से प्रणीत कार्य व्यापारों का उत्तम सगुम्फन इस पद में द्रष्टव्य है। इन पदों में यशोदा के हृदय का बात्सल्य व्यक्त हुआ है। रस के सम्पूर्ण अंगों से युक्त ये पद वात्सल्य के सुन्दर उदाहरण हैं।

प्रथम गोचारन चले गोपाल
जननी जसोदा करति आरती मोतिन भरि भरि थाल
मंगल सब्द होत तिहिं औसर मिलि गावति ब्रजबाल
विविध सिंगार पहरि पट भूषण रोरी तिलक दै भाल
सब समाज ले चले वृन्दावन आगे कीन्हीं गाइ
राई लोन उतारति जननी "गोविन्द" बलिबलि जाइ[1]

वियोग वात्सल्य

संयोग वात्सल्य के उत्कृष्ट वर्णनों के अतिरिक्त गोचारण को गए कृष्ण क्षणिक वियोग की स्थिति भी उत्पन्न करते हैं। यहाँ वियोग वात्सल्य का सुन्दर वर्णन मिलता है। कृष्ण को पहिले तो गोचारण के लिए भेज दिया जाता है पर फिर वियोग से विकल युवतियों की स्थिति असह्य हो जाती है। यशोदा पुत्र-वियोग से विह्वल होकर सखी से शीघ्र भोजन ले जाने को कहती हैं, पुत्र भूखा होगा। माता के हृदय का स्वाभाविक वात्सल्य भाव व्यक्त है। उसे पुत्र का क्षण भर वियोग भी असह्य है। विरह की तड़पन मछली की भाँति है। इस प्रकार वियोग की स्थितियों का सुन्दर मनोवैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध होता है।

श्री गुसाईं विट्ठल नाथ के उत्सव के पदों में कवि ने अपने वात्सल्यमय हृदय को उभारा है। यद्यपि साम्प्रदायिकता इसके मूल में है फिर भी ये पद कवि के वात्सल्य प्रेम के प्रमाण और प्रतीक स्वरूप हैं।[2] अन्य उत्सव-पदों में केवल माहात्म्य वर्णन है।

वात्सल्य भावों के सुन्दर चित्रों में कृष्ण की बाल-सुलभ वाणी-विदग्धता सम्बन्धी रथ-यात्रा के पदों को भी नहीं भुलाया जा सकता। कृष्ण की उक्ति की मिठास ने वात्सल्य को चरम पर पहुँचा दिया है। रस का तादात्म्य करने वाले कृष्ण हैं और साधारणीकरण तथा निष्पत्ति की उपभोक्ता यशोदा। कृष्ण के इस निवेदन में कितनी सरलता, मधुरता और बाल सुलभ सौंदर्य है—

तू मोहि रथ लै बैठी री मैया
इतकी ओर बैठिहैं, राधे उतकी ओर बल भैया
गोप सखा सब संग चलेंगे अरु गावेंगे गीत
बढ़ेगी मेरे रथ की सोभा सुख पावेंगे मीत

१- देखिए गोविन्द स्वामी- पद ८२- पृ० ४७

२ पद संख्या ८६ ८७

ब्रजजन सकल भवन प्रति ठाढ़ी देखन को मेरो आढ़ी
आरती लेकें उतारि के मो पर ह्वै है मागर आढ़ी
सुनत वचन आनंद सिन्धु में, मगन भई जसुदा माई
रसिक मनोरथ पूरन गोविन्द बैकुण्ठ तजि ब्रज आई।[1]

बालकृष्ण की उक्ति-जन्य मिठास से यशोदा इतनी अधिक उत्फुल्ल हो जाती है कि रस का सागर ही उमड़ पड़ता है। वाणी द्वारा वर्णित केवल मात्र आलम्बन और उद्दीपन विभावों से ही रस की निष्पत्ति हो रही है। इसी प्रकार गोविन्द स्वामी के अन्य अनेक पदों में केवल मात्र अनुभावों, संचारियों आदि से ही रस-निष्पत्ति होने के उदाहरण मिल जाते हैं।

बालकृष्ण के वात्सल्य में डूबकर रस-स्निग्धा यशोदा के अन्य कई ऐसे भावपूर्ण स्थल मिल जाते हैं जो वात्सल्य रस के अनूठे उदाहरण कहे जा सकते हैं। छोटे बालक के प्रति शुभ-कामना करने का भाव भी वात्सल्य के अन्तर्गत लिया जा सकता है। यशोदा कृष्ण की रक्षा का बंधन बाँधती है। रक्षाबंधन के इस चित्र में वात्सल्य का सुन्दर दृश्य देखने को मिल जाता है। 'सुत' के प्रति स्नेहस्निग्धा माँ का भाव-विभोर होकर विविध कार्य करना कितना स्वाभाविक है। एक चित्र देखिए—

रच्छा बाँधति जसोदा मैया
सकल सिंगार विचित्र बिराजति संग गोपिन बल भैया
कनक रचित सिंहासन बैठे तहाँ मिलि गोप के छैया
ताल मृदंग संख धुनि बाजत सुनत ब्रज बधू गैया
कर लै थाल लिलाट बनावत कुमकुम तिलक मुरैया
दे अच्छत कर राखी बाँधति उर आनंद बढ़ैया
भाजन भरि पकवान मिठाई मेवा बहुत बनैया
अति सुगंध वासित बीरा लै देत आनि नंदरैया
ईंडुरी-पिछुरी वारति मुख पर जननी लेत बलैया
आरति उतारत मुख पर गोविन्द बलि-बलि जैया[2]

उक्त पद में पुत्र की अनिष्ट-आशंका को दूर करने के हेतु पुत्र-विह्वला यशोदा के ये कार्य-व्यापार सुन्दर तथा स्वाभाविक वात्सल्य के उदाहरण हैं। अनुभावों की यह क्रिया-प्रक्रिया प्रस्तुत चित्र में विविध प्रकार के रंग भरती है। यों भी माँ का बालक की रक्षा-कवच पहिनाना उसके स्वतः उमड़े वात्सल्य की आवश्यक स्थिति कही जा सकती है।

गोविन्द स्वामी ने कृष्ण के प्रति मातृ-वात्सल्य के और भी उत्कृष्ट चित्र उकेरे हैं। कुछ चित्रों के परिचय यहाँ दिये जा सकते हैं।

(१) सर्वप्रथम "जगावनी" को ले लीजिए—

---

१. गोविन्द स्वामी, देखिए पद संख्या २२०, पृ० १०६
२ गोविन्द स्वामी, देखिए पद संख्या २२० पृ० १०६

वात्सल्य भाव से प्रेरित माँ प्रातः ही अपने लाल को जगा रही है। माँ प्रातःकाल अपने बच्चे का मुँह देखकर उठना चाहती है। यह उसका बहुत बड़ा संतोष है। बालक को प्रातःकालीन मीठी नींद सता रही है, माँ उसे नियमित कार्यक्रम सिखाना चाहती है। अतः उसे विविध प्रकार के लालच दिये जा रहे हैं। उक्ति की मनोवैज्ञानिकता तथा 'स्नेह' की रूपरेखा देखिए—

अलह्योयो तुम पर बारी हो नंद लाल
रेनि बीती भोर भयो प्यारे जागो बाल गोपाल
दूध दही पकवान लेहु तुम अंबुज नेम बिसाल
सिंह पौर ठाड़े बलदाऊ खेलत वल्लभ बाल
धौरी धेनु दुहो मेरे प्यारे खरिक गये सब ग्वाल
घर घर अपनो दह्यो बिलोवे गावे गीत रसाल
मुद्रित नेन सुनत माता के बन श्रवनी नंदलाल
गोविन्द टेर सुनत उठि बैठे गोकुल के प्रतिपाल[1]

उक्त पद का प्रत्येक कार्य-व्यापार वात्सल्य की सुषमा से स्निग्ध है। वर्णन की स्वाभाविकता और मातृ-हृदय की स्नेह-प्लावित विह्वलता का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

जगावनी के पश्चात् कलेऊ के अन्तर्गत वर्गीकृत पद भी मातृ-वात्सल्य के सुन्दर चित्र कहे जा सकते हैं। गोपाल बिना कलेऊ किये गोचारण को चले गये हैं। माँ यह सब सोच-सोच कर अत्यन्त दुखी हो रही है। वियोग वात्सल्य में मातृ-हृदय की उत्कटता निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त है—

मैं बहुते समुझाय कह्यो पँ, मेवा, माखन रंच न लीनो।
अब हौं कहा करो मेरी सजनी, सुमिरि-सुमिरि मेरो तन छीनों।।[2]

कलेऊ का दूसरा चित्र संयोग वात्सल्य का है। प्रातःकाल बालक के माँ के समीप बैठ कर कलेऊ करने पर माँ को अपरिमित तोष होता है। कवि ने उस स्नेह-संतोष से जाग्रत अनुभाव तथा संचारी भावों का हृदयहारी वर्णन किया है।

कलेऊ कीजिए नन्दलाल।
खीर खाँड माखन अरु मिसरी, लीजे परम रसाल।।
सद्य दूध धौरी कौ औट्यो, तुम को हौं गोपाल।
बेनी बढे होय बल की-सी, पीजे हो मेरे लाल।।
हौं वारी या बदन कमल पर, चुंबो सुन्दर गाल।
गोविन्द प्रभु पिय भोजन कीनों, जननी बचन प्रतिपाल।।[3]

---

१. जगावनो, पृ० १०७, पद २२२
२ कलेऊ, पृ० ११० पद २३२
३ कलेऊ, पृ० ११०, पद २३३

हो वारी या बदन-कमल पर सुबो सुन्दर गाल में मात-वात्सल्य की भावना ... उमड़ता है और चुम्बन संचारी को साकार रूप दिया गया है। ... आगे ... वात्सल्यातुर माता का आँचल स्नेहावेश में भीग जाता है।

"वारने जाऊँ कमल मुख ऊपर, अँचरा प्रेम जल भीजै" में पुत्र-प्रेम के सात्विक भाव का सुन्दर वर्णन है। शृंगार के पदों में वात्सल्य की सुषमा देखने को मिलती है। यशोदा का भावविह्वल होकर कृष्ण को उबटन लगाना, फूलों से शृंगार करना और मुरली माँगे आदि सजाना तथा उनको निरख-निरख कर सुख लाभ करना वात्सल्य प्रेरित अनुभाव हैं जो सात्विक पुत्र-प्रेम को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण द्वारा इस बात की पुष्टि की जा सकती है—

> करति सिंगार बसन भूषन लै फूलनि रचि रचि पाग बनावै॥
> छूटे बंद अति सोभित चिव बिच अरगजा भोरा लावै।
> सथन लाल फोंदना रचि रह्यो वह रचि निरखि निरखि सचु पावै॥
> विविध कुसुम की माल कण्ठ धरि श्रीकर मुरली बेंत गहावै।
> लै दर्पन सुत को मुख निरखति गोविन्द सहा लग्गनि बिलसावै॥[1]

नखशिख में वात्सल्य

'दधिमंथन' के पदों में बड़ा लालित्य है। वात्सल्य की चरम स्थिति केवल मात्र अनुभावों के आधार पर देखी जा सकती है। इसमें अत्यधिक वात्सल्य भाव से प्रेरित होने से सौंदर्य ... यशोदा की शारीरिक स्थितियों का वर्णन किया गया है। पुत्र-स्नेह से उनके स्तन पयस्क दुग्ध-वर्षण कर रहे हैं। वत्स-स्मृति इतनी तीव्र है कि कवि की अभिव्यक्ति से यशोदा की स्नेहमयी स्थिति का सहज अनुमान निम्नांकित पंक्तियों द्वारा किसी भी सहृदय पाठक रसिक को हो सकता है। यशोदा का वात्सल्य पूरित नखशिख देखिए—

> श्रम जल बिंदु राजे बदन कमल पर मानो मरन्द बरसानी।
> पुत्र सनेह चुचुवात पयोधर पुलकित अति हरसानी।
> 'गोविन्द' प्रभु चुटकन चलि आए पकरी रई मथानी।
> अहो दधि मथनि घोष की रानी[2]

'पकरी रई मथानी' में माता का उद्दीपन विभाव से प्रभावित होना स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आगे के पद में बालकों के स्नेह से परिप्लावित माँ का सुन्दर वर्णन परिलक्षित होता है। वात्सल्य रस की पूर्ण निष्पत्ति का विभावात्मक वर्णन उल्लेखनीय है—

> नन्दरानी मथि ल्यावत घैया
> बल मोहन खेलत आँगन में सुमन अथाभक धैया

१. गोविन्द स्वामी, देखिए पद २३४, पृ० २३४
२. वही, पद २६६
३ वही, पद २८०

नाचत हँसत करत किलकारी उर आनंद बढ़ैया
फूँकि फूँकि पय पीवत कमल मुख अरस परस दोऊ भैया
बाल विनोद सुर नर मुनि मोहे जोग ध्यान बिसरैया
'गोविन्द' प्रभु पिय वदन चंद की जसुमति लेत बलैया[1]

माँ का बच्चों को धारोष्ण दूध पिलाना, बच्चों का किलकारी मार कर खेलना, फूँक-फूँक कर दूध पीना तथा माँ का इन क्रीड़ाओं को देखकर उनके मुखों की बलैया लेना आदि सब कार्य वात्सल्य की भावभूमि और आलम्बन-वर्णन की सफलता को पुष्ट करते हैं। बालकों की परितुष्टि के बाद माँ का परितोष कितना मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक है। इसी प्रकार भोजन[2] के विविध पदों का सौंदर्य देखा जा सकता है।

लेहु बलाइ लाड़िले तेरी भोजन की कित करत अबार
गरे लगाइ दियो मुख चुंबन अति आतुर ह्वै परोसति थार
नंद बाबा संग जेवन बैठे करत बाल केलि सुख सार
'गोविन्द' प्रभु गिरिराजधरन पिय व्रज सुखदाई नंद कुवार[3]

इसी प्रकार बालक कृष्ण का मनावन, अनुनय तथा दुलार आदि सब स्नेह की विभिन्न स्थितियाँ हैं जिनमें कवि का मन खूब रमा है।[4] यही नहीं, बालभाव और बालसुलभ क्रीड़ा तथा वाक्चातुर्य में भी कवि ने मातृ-हृदय के वात्सल्य की गहराई को सफलतापूर्वक वाणी दी है। बालकृष्ण का मक्खन माँगना, नहीं देने पर रूठना और तुतराई वाणी में माता को आमोद तथा स्नेहपूरित करना आलम्बन भाव की मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है। एक उल्लेखनीय उदाहरण देखिए---

माखन तनक दे री माय
तनक कर पर तनक रोटी माँगत चरन चलाइ
तनक नैंन सों तनक अंजन नेत पकर्‍यो धाइ
तब कँप्यो गिरि सेष शंक्यो सिंधु अति अकुलाइ
तनक मुख सों तनक बतियाँ बोलत हैं तुतराइ
जसुमति सुत की माधुरी मूरति गोविन्द बलि बलि जाइ[5]

इसी प्रकार 'बाललीला' के अन्तर्गत आने वाले लगभग सभी पदों में गोविन्द स्वामी बालक कृष्ण के नखशिख का मनोहारी रूप चित्रित करते हैं। बालक का प्रत्येक अंग तथा उससे

---

१. गोविन्द स्वामी, पद २८१, पृ० १२५
२. वही, पद २९८, ९०, ९१, ९३
३. वही, पद २९०
४ वही पद २९१, ९२
५ गोविन्द स्वामी पद २८३

सम्पन्न क्रीडाएं माँ के हृदय में अपार हुलास उत्पन्न करती हैं। प्रांगण में और आँगन में खेल कर वह अपने पुत्र के लिए विविध खिलौने तथा सुन्दर वस्तुएं जुटाती है तथा उनकी विविध क्रीड़ाओं से माँ का अंग-अंग पुलकित हो जाता है। इस तरह के अनेक पद गोविन्द स्वामी के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।[1] बाललीला के अंतिम चित्र 'उराहनों' के अन्तर्गत उल्लेखनीय है। कृष्ण का गोपियों को माखन चोरी करके विमुग्ध करना तथा गोपियों का मन लेकर यशोदा से शिकायत करना, माँ यशोदा का कृष्ण की लीलाओं को सुन-सुनकर वात्सल्यपूरित होना कितना स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रसंग का एक उद्धरण देखिए—

महरि पूत तेरो कैसेउ बरज्यो न मानें

बल मोहन की जोटीऊ और बालक संग लिए मरकट ज्यों फिरें

पाछें पाछें ते और लूटत घर मेरो

दूध दही घृत माखन तनक न उबरत कैसे क होय निवाह भ्रम हरें।

गोविंद प्रभु के जो बाल विनोद सुनत नंद रानी मन ही मन

मुसक्यानी सांचो ही कहत अनेरी

इसी प्रकार के कई उराहने माता को वात्सल्य-सिक्त करने में सक्षम हैं।[2] सुन्दर बाल कृष्ण को देखते ही प्रौढ़ा गोपियों के मन में वात्सल्य तथा स्नेह की अतिरेकता के कारण दूध से उनके आँचल भीगने लगते और उनके मन में कृष्ण को स्तनपान कराने का प्रबल मोह जागता। ये सात्विक भाव के सुन्दर उदाहरण हैं। इसी प्रकार विवाहिता युवतियाँ कृष्ण को देखकर ऐसा ही पुत्र पाने की कामनाएं करती हैं। इस तरह अपनी क्रीड़ाओं, चितवनों तथा बाल-सुलभ क्रियाओं से कृष्ण एक ही साथ सबको कामनापूर्ण करते थे। वात्सल्य और स्नेह का स्रोत कूल-किनारों का अतिक्रमण करके बहता प्रतीत होता है। काव्य की दृष्टि से, कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से, इन पदों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पद कृष्णभक्ति काव्य के वे उत्कृष्ट सोपान हैं जिनमें अनुभूति की तीव्रता, चिन्तन की गहराई, स्नेह-प्रवणता तथा अभिव्यंजना की गरिमा है। ये पद माधुर्य और प्रसाद गुण सम्पन्न हैं। राग की दृष्टि से इनका संगीत में महत्वपूर्ण योगदान है। साथ ही छंद-अलंकारों की कसौटी पर इनकी सफल परीक्षा की जा सकती है। विविध अलंकारों का स्वतः वर्णित होना, शब्दों की कोमल-कान्तता तथा स्वरसाम्य और नाद-सौंदर्य इन पदों का वैशिष्ट्य है। किसी भी सहृदय कवि के हृदय को ये पद आनंद पूरित कर सकते हैं। इनमें जीवन की आस्था है, स्नेह, भक्ति तथा सौंदर्य है, भावों का अपार उद्वेग है तथा ध्वनि का सौंदर्य विद्यमान है। मध्यकालीन भक्तों के इन्हीं स्वाभाविक पदों के आधार पर यह निर्धारित किया जा सकता है कि इनमें एक ओर जहाँ भावना की ऊँचाई है तो दूसरी ओर स्नेह-प्रणय, एक ओर जहाँ अभिव्यक्ति का अनूठापन है तो दूसरी ओर अनुभूति की उत्कट स्थिति,

---

१. गोविन्द स्वामी, पद ५२९ से ५४२ तक

२. गोविन्द स्वामी "उराहनो", पद सं० ५४ पृ० २०४

३. गोविन्द स्वामी "उराहनो" पद सं० ५४३, ५४४, ५४५, ५४६ तथा ५४७

एक ओर भक्ति भाव की सुषमा है तो दूसरी ओर काव्य रस की सिद्धि . वस्तुत साहित्य की दृष्टि से मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पद शिल्प, शैली और रस तीनों रूपों में उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अष्टछाप के रससिद्ध कवि गोविन्द स्वामी ने विविध शीर्षकों में जिन प्रसंगों के वात्सल्यपूरित चित्र प्रस्तुत किये हैं वे मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति-साहित्य में वात्सल्य भाव को रस-दशा तक पहुँचाने में सक्षम एवं सशक्त हैं। भक्ति की मूल चेतना कवि को आह्लादित कर देती है और यही कारण है कि श्री गोविन्द स्वामी ने अष्ट-प्रहर सेवा के अन्तर्गत जितना जो कुछ भी दिया है वह अपने आप में विशिष्ट है। विभिन्न रागों में विविध पदों का संयोजन करके अपनी कृष्ण-भक्ति को चिरस्थायी बनाया है। इन पदों मे वात्सल्य की रस-दशा अविस्मरणीय है।

कालिदास-त्रयी किमु ?

श्री शिवकुमार शुक्ल

(१)

कालिदास के सम्बन्ध की दो कथाएँ काफी प्रसिद्धि पा चुकी हैं, एक की प्रसिद्धि भारत में है तो दूसरी की श्री लंका में।

भारतीय कथा के अनुसार महाकवि कालिदास युवावस्था तक अत्यन्त मूर्ख थे, परन्तु पण्डितों के षड्यंत्र से उनका विवाह करा दिया गया उस समय की परम विदुषी विद्योत्तमा नामक किसी राजकुमारी से। वह बेचारी सोहागरात तक यही समझती रही कि उसका पति परम विद्वान् है। किन्तु प्रथम वार्तालाप में ही वह जब 'उष्ट्र' और 'उट्र' के भेद को न समझा सके तब उसे वास्तविकता का ज्ञान हुआ कि वह किस अटिल परिस्थिति में पड़ गई है। तब अचानक उसे इतना क्रोध आया कि उसने बिना आगा-पीछा देखे ही उनको पति को छत से नीचे ढकेल दिया। कालिदास ऊपर से गिरे तो नीचे शंकर की मूर्ति से टकरा गये। सिर फट गया, रक्त बहने लगा और मूर्ति रक्त से नहा गयी। शंकर ठहरे आशुतोष औढर दानी। झट प्रगट हो गये। अनुग्रह मुद्रा में कालिदास से कहा—"वरं ब्रूहि।" मूर्ख कालिदास समझ नहीं सके कि भगवान शंकर क्या कह रहे हैं; लगे शिकायत करने। विद्योत्तमा की ओर उंगली उठाकर उन्होंने कहा—"विद्या! विद्या!! विद्या!!!" महादेव शंकर ने मुस्करा कर कह दिया "तथास्तु।"

इस प्रकार पत्नी द्वारा प्रताड़ित और तिरस्कृत तथा शिव द्वारा वर-प्राप्त कालिदास फिर वापस घर नहीं गये। वह सरस्वती की आराधना में लग गये। कालान्तर में जब पारंगत विद्वान् होकर घर आये तब उनकी विद्वत्ता देखकर विद्योत्तमा आश्चर्यचकित रह गई। फिर भी जब उसने बातचीत की तो गलती निकाल ही दी, बोली—'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः', अर्थात् अभी बोलने में कुछ कसर है। इस घटना को चिरस्मरणीय बना देने के लिए कालिदास ने तीन प्रसिद्ध काव्यों की रचना कर डाली; जो क्रमशः उक्त वाक्य के एक एक शब्द से आरम्भ होते हैं। ये हैं कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश जिनका प्रारम्भ क्रमशः 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा', 'कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा' तथा 'वागर्थाविव संपृक्तौ' से होता है।

(२)

दूसरी कथा के अनुसार कहा जाता है कि प्रसिद्ध महाकाव्य "सीता हरण" के रचयिता श्री कुमारदास ६७वीं शताब्दी के लगभग श्री लंका में राज्य करते थे। भारत नरेश के राजदूत बनकर कालिदास कुछ दिनों के लिए वहाँ गये और कुमारदास की सभा में सम्मानित मेहमान बनकर रहने लगे

जनश्रुति है कि कुमारदास इस महाकवि के काव्यों पर मुग्ध तो थे ही; उनके भक्त भी थे। इधर कालिदास का प्रेम राज्य की एक प्रसिद्ध गणिका से हो गया। वह दरबार से छुट्टी पाकर उसी के घर पहुँच जाया करते थे और अपना अधिकांश समय उसी के यहाँ बिताते थे। यह गणिका अत्यन्त महत्वाकांक्षी थी और कुमारदास को वश में रखने की ही ताना-बाना गूथा करती थी।

वह जानती थी कि कुमार रसिक हैं, कविता-प्रेमी हैं और कालिदास की काव्य-शैली पर मुग्ध हैं। इसलिए उसने भी उसी शैली पर काव्य-रचना का आडम्बर रचा। झूठा प्रेम दिखा-कर वह कालिदास से काव्य-रचना करवाती और उसे अपने नाम से कुमारदास के समक्ष प्रस्तुत कर देती। इससे उसका भी सम्मान दरबार में बढ़ता गया। पर साथ ही साथ उसे भय भी हुआ कि कालिदास कहीं इस रहस्य को खोल न दे। इसलिए एक दिन ऐसा आया जब उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा की वेदी पर कालिदास की बलि चढ़ा दी। उसने विष देकर कालिदास को मरवा डाला और अपने ही बाग के एक कोने में उन्हें गड़वा दिया।

धीरे-धीरे बात कुमारदास के यहाँ पहुँच गयी। वह अत्यन्त दुखी और सन्तप्त हुए। क्षोभ और क्रोध में उन्होंने वेश्या को प्राण-दण्ड दिया सो तो दिया ही साथ ही,साथ मालवाधिपति के समक्ष उन्होंने अपने को ही अपराधी समझा। वह ग्लानि से इतने अधिक पीड़ित हुए कि जब कालिदास का शव-संस्कार किया जाने लगा तो वह जलती हुई चिता की प्रचण्ड ज्वाला में स्वयं कूद पड़े और अपने शरीर को भस्मसात् कर दिया। कहते हैं कालिदास और कुमारदास की संयुक्त समाधि आज भी लंका में उनके अनन्य प्रेम की साक्षी देती रहती है। किसी-किसी के मत से कालिदास के वियोग से संतप्त इस राजा ने प्रयाग की पावन त्रिवेणी में डूब कर अपने शरीर का परित्याग किया था।

(३)

'नह्यमूला जनश्रुतिः' अर्थात् लोक-प्रवाद का कुछ न कुछ तो आधार होता ही है। अतएव उक्त कथाओं में भी तथ्य का कोई न कोई अंश तो होना ही चाहिए। तब इन दोनों कथाओं के आधार पर यह अनुमान करना असंगत न होगा कि ये दोनों कालिदास एक नहीं हैं। यदि एक होते तो भारतीय कथा में लंका की घटना का और लंका की कथा में विद्योत्तमा की ओर कुछ न कुछ संकेत तो अवश्य ही पाया जाता। परन्तु ऐसा कुछ पाया नहीं जाता। लंका वालों को तो विद्योत्तमा के नाम तक का पता नहीं और भारतवासी कुमारदास के नाम से उसी भाँति अपरिचित हैं।

उक्त दोनों कथाओं से यह भी स्पष्ट है कि द्वितीय कालिदास विलासी प्रकृति के थे। उनकी गिनती विवेकहीन शृंगारी कवियों में की जा सकती है। किन्तु प्रथम कालिदास के संबंध में ऐसा कुछ कहना कठिन है। क्योंकि उसकी धर्म-पत्नी विद्योत्तमा एक अनन्य विदुषी थी और उसके रहते कालिदास का आचरण भ्रष्ट हो जाना असम्भव-सा लगता है।

इसके अतिरिक्त कालिदास को जो विद्या प्राप्त हुई थी वह कठिन तपस्या के बाद प्राप्त हुई थी ऊपर जो शिव की कथा लिखी गयी है वह चाहे जितनी हो परन्तु

इतनी बात तो अवश्य ही माननी पड़ेगी कि कालिदास को किसी न किसी प्रकार की दिव्य अनुभूति अवश्य ही हुई होगी। और इस प्रकार की दिव्य आध्यात्मिक अनुभूति का अनुभव कर लेने के बाद कोई भी व्यक्ति कभी भी इतनी हीन दशा तक आचरण-भ्रष्ट नहीं हो सकता।

यह एक तथ्य है कि कविता कवि के ही आचारों और विचारों को प्रतिबिम्बित करती है। इस दृष्टि से जब हम कालिदास की रचनाओं का विश्लेषण करते हैं तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि प्रथम कालिदास की काव्यत्रयी-कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश इस बात की प्रबल साक्षी देने के लिए पर्याप्त हैं कि उनका लेखक पतन के इतने गहरे गर्त में कभी नहीं गिर सकता।

(४)

महाकवि कालिदास के नाम से इस समय हमारे सामने अनेकों रचनायें हैं। उन्हें हम सुविधा के लिये निम्नलिखित दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं:—

(अ) काव्य-त्रयी : १. रघुवंश २. मेघदूत और ३. कुमारसम्भव

नाटक-त्रयी : १. अभिज्ञान शाकुन्तल, २. विक्रमोर्वशीय और ३. मालविकाग्नि मित्र

मुक्तक : १. ऋतु संहार

(ब) नाटक : १. दूतांगद

मुक्तक : १. राक्षस काव्य

ज्योतिष : १. उत्तर कालामृत २. ज्योतिर्विदाभरणम्

छन्द : १. श्रुतबोध

विनय : अन्य स्तोत्रादि

इनमें 'अ' श्रेणी की रचनायें प्राय. सभी विद्वानों के मत में एक ही व्यक्ति की हैं। किन्तु 'ब' श्रेणी की रचनाओं के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। अधिकांश इस बात से सहमत हैं कि काव्य त्रयी और नाटकत्रयी के रचयिता की यह कृतियाँ नहीं हैं। 'ब' श्रेणी के सभी ग्रन्थ विभिन्न व्यक्तियों के हैं और अलग-अलग समय में अलग-अलग देशों में और अलग-अलग परिस्थितियों में लिखे गये हैं। इन लेखकों के नाम या तो संयोगवश कालिदास होंगे, या इन कवियों ने कालिदास के नाम को उपाधि-रूप में ग्रहण किया होगा अथवा अपने ग्रंथों के गौरव को बढ़ाने के लिये कर्ता के रूप में कालिदास का नाम जोड़ दिया होगा। जो भी हो, प्रस्तुत लेख में 'ब' श्रेणी के ग्रन्थों के सम्बन्ध में इस मान्यता को सादर मान लिया गया है। अतएव इस पर विचार करने की किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

किन्तु 'अ' श्रेणी की कृतियों के सम्बन्ध में इन पंक्तियों के लेखक के मन में यह सन्देह अनेकों बार उत्पन्न हुआ है कि क्या वास्तव में नाटकत्रयी और काव्यत्रयी का लेखक एक है? और क्या इन दोनों के लेखक को ही ऋतुसंहार का लेखक माना जा सकता है? उक्त दोनों कथाओं में जो कालिदास की झाँकी मिलती है उनमें स्पष्ट ही एक व्यक्तित्व नहीं पाया जाता। इसी प्रकार जब उनके ग्रंथों का गम्भीर परिशीलन किया जाता है तब यही प्रतीत होता है कि इन कृतियों

का कर्ता एक कालिदास नहीं वरन् तीन कालिदास हैं जो विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थतियों में उत्पन्न हुए थे।

(५)

काव्यत्रयी तथा नाटकत्रयी में आदर्श भेद की लम्बी-चौड़ी खाई है जिसे देखकर यह स्वीकार करने को जी नहीं चाहता कि इन दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति है। काव्यत्रयी मे वैदिक मर्यादाओं का कहीं भी उल्लंघन नहीं किया गया। किन्तु नाटकत्रयी में इन मर्यादाओ की रक्षा के लिये तनिक भी चिन्ता कहीं भी नहीं की गयी; जान-बूझकर जैसे उन्हें विकृत किया गया है। काव्यत्रयी में लिखा है:—

रेखामात्रमपि क्षुण्णा दामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियतुर्नेमिवृत्तयः॥—रघुवंशः

अर्थात् जैसे चतुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथ के चक्र लीक से तनिक भी इधर-उधर नहीं होते। उसी प्रकार दिलीप ने प्रजा का ऐसे ढंग से नेतृत्व किया कि कोई मनुष्य मनु के बताये मार्ग से उनके राज्य में कभी भी विचलित नहीं हुआ। काव्यत्रयी के सम्बन्ध मे यह बात निःसंकोच रूप से कही जा सकती है कि उसकी किसी एक पंक्ति में भी मनु के आदर्श की अवहेलना नहीं की गयी। किन्तु नाटकत्रयी के सम्बन्ध में यह बात कोई भी कभी नहीं कह सकता। वहाँ तो तीनों नाटकों में मनु की मर्यादाओं की बुरी तरह छीछालेदर की गयी है। जहाँ काव्यत्रयी में "धर्मा विरुद्ध : कामोऽस्मि" को ध्यान में रख कर शृंगार की चर्चा है वहाँ नाटक-त्रयी में ठीक इसके विपरीत। इसलिये यह मानना असंगत न होगा कि दोनों का रचयिता न तो एक व्यक्ति है, और न उनकी रचना का समय ही एक है। काव्यत्रयी का रचयिता पहिला कालिदास है तो नाटकत्रयी का रचयिता दूसरा कालिदास। यह सही है की दोनों ही संस्कृत-साहित्य के दैदीप्यमान रत्न हैं; और अपनी अत्युज्ज्वल साहित्यिक प्रतिभा के कारण एक-से लग रहे हैं।

(६)

काव्यत्रयी का परिशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यत्रयी का कर्ता प्रथम-कालिदास स्वतन्त्र-चेता कवि था। वह अपने समय में गो० तुलसीदास की तरह लोकनायक कवि के पद पर सहज ही बिठाया जा सकता है। उसके तीनों काव्यों में यह संकेत कहीं भी नही मिलता कि वह कभी भी किसी छोटे या बड़े सामन्त के आश्रय में रहा है अथवा ऐसे किसी व्यक्ति से उसका तनिक भी सम्बन्ध है। उसने अपने युग की आवश्यकता के अनुसार तटस्थ वृत्ति से काव्य लिखे हैं।

परन्तु नाटकत्रयी के लेखक द्वितीय कालिदास में यह बात नहीं है। वह निश्चित रूप से सामंत कवि था 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में वह स्पष्ट संकेत करता है कि

कल्पना के बल पर आकाश और पाताल को एक करना चाहता है। विक्रमोर्वशी मे स्वर्ग की अप्सरा मानव पर आसक्त होती है। शकुन्तला की सृष्टि में मानव और देव का आधा-आधा हिस्सा है, इसलिये वह देव-मानव की संयुक्त सृष्टि है पर मुग्ध है एक मात्र मानव पर। इस प्रकार तीन में से दो नाटकों में उसने मानव को ही प्रधानता दी है।

प्रथम कालिदास की राजकन्या पार्वती राजवंश में उत्पन्न हुई और राजमहल के वैभव-पूर्ण सुख-साधनों के बीच में पाली पोसी गयी। फिर भी वह इन सबका परित्याग कर देती है और वरण करती है एक अकिंचन योगी को। किन्तु द्वितीय कालिदास की शकुन्तला का आचरण ठीक इसके विपरीत है। वह ऋषि-कन्या है, ऋषि की ही पोष्य-पुत्री है और पाली पोसी भी गयी है ऋषियों के ही पवित्र आश्रम के आध्यात्मिक वातावरण में। फिर भी पतिरूप मे वह वरण कर लेती है एक लंपट राजा को! और वह भी प्रथम मिलन में, प्रथम दर्शन मे, विना विचार किये ही पिता की अनुपस्थिति में!!

इस प्रकार पहला कवि जहाँ आध्यात्मिकता को प्रधानता देता है वहाँ दूसरा कवि सर्वथा ही आधिभौतिकता से अभिभूत है। यह यूनानी प्रभाव की सबसे बड़ी कसौटी है। वास्तविक बात तो यह है कि नाटकों की इस प्रकार की देन ही हमें यूनान से मिली है। तभी तो ईसा से पहले का हमें एक भी नाटक नहीं मिलता। इ० पू० में नाटकों का हमें एक दम अत्यन्ताभाव ही दिखायी पड़ता है।

(८)

प्रथम कालिदास का लक्ष्य है मोक्ष। इसीलिये वह धर्म, अर्थ और काम के उपभोग मे सन्तत सावधान रहता है। उस धर्म में निरन्तर मोक्ष की ओर बढ़ता रहता है। काम और अर्थ का उपभोग वहीं तक सीमित रहता है जहाँ तक वे दोनों धर्म की प्रगति में बाधा नहीं डालते। इसीलिये इन सबको उसने जीवन में अनुक्रम से बाँट दिया है।

इसके विपरीत द्वितीय कालिदास एकमात्र काम की भावनाओं से ही निरन्तर अनुप्राणित दिखायी पड़ता है। इसी कारण उसकी अलौकिक प्रतिभा को उच्छृंखल आचरण करने मे तनिक भी हिचक नहीं होती न तनिक देर ही लगती है।

प्रथम कालिदास ने जिन ऋषि आश्रमों का वर्णन किया है उनकी संगति ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व के उन ब्राह्मण बस्तियों से ठीक-ठीक बैठ जाती है जिनका आँखों देखा वर्णन ग्रीक-लेखकों ने यत्र-तत्र किया है। किन्तु द्वितीय कालिदास के ऋषि आश्रम इनसे सर्वथा भिन्न है, वहाँ काम की उच्छृंखलता सभी प्रकार की मर्यादा लाँघ चुकी है।

प्रथम कालिदास की काव्यत्रयी में वर्णाश्रम धर्म के हमें मूर्तिमान दर्शन होते हैं किन्तु द्वितीय कालिदास की नाटकत्रयी में हमें इसके बड़े ही विकृत दर्शन होते हैं। इसलिये ही प्रथम कालिदास जहाँ सूर्यवंश को प्रधानता देता है वहाँ जान-बूझकर द्वितीय कालिदास ने चन्द्रवंश को प्रधानता दी है।

(९)

इन सब बातो से यह बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि और

का रचयिता एक नहीं है। वे दोनों अलग-अलग समयों में उत्पन्न हुए थे, विभिन्न परिस्थितियों में पाल-पोसे गये थे और उनके मानस का विकास भी विभिन्न पारिवारिक वातावरण में हुआ था। इसीलिये उनके ग्रन्थों की रचनायें विभिन्न उद्देश्यों से पृथक्-पृथक् मानसिक दशाओं में हुयी हैं। इसकी साक्षी कालिदास के सम्बन्ध की उक्त कथायें भी हैं।

प्रथम कालिदास ने केवल काव्यत्रयी की रचना की थी। यदि काव्यत्रयी और नाटकत्रयी का कर्ता एक होता तो "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" जैसे सर्वश्रेष्ठ नाटक की चर्चा उक्त प्रसंगों की कथा में अवश्य ही किसी न किसी रूप में स्थान पा जाती। किन्तु '[illegible]' में केवल तीन काव्यों की ही चर्चा आती है।

इस सम्बन्ध में टीकाकार मल्लिनाथ की साक्षी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह टीकाकार साहित्य का परम मर्मज्ञ और कालिदास का अनन्य भक्त था। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के आस-पास इसका जन्म हुआ था। इसने 'कुमारसम्भव' की टीका की है, किन्तु आठ सर्गों तक ही की। आगे की टीका उसने इसलिये नहीं की कि वे महाकवि कालिदास के लिखे नहीं थे। अतः यह तात्पर्य सहज ही निकाला जा सकता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक नाटकत्रयी और काव्यत्रयी के कर्ता अलग-अलग माने जाते रहे होंगे। यदि वह एक ही लेखक की कृतियाँ होतीं तो मल्लिनाथ अवश्य ही 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पर अपनी लेखनी चलाते; किन्तु उन्होंने अपनी टीकाओं में इस बात का कहीं संकेत तक नहीं किया कि उनके परम प्रिय महाकवि ने कोई नाटक भी लिखा है।

(१०)

इससे भी अधिक महत्त्व की साक्षी 'ज्योतिर्विदाभरण'-कार की है। कहने को तो यह ग्रंथ कालिदास का ही माना जाता है किन्तु विद्वानों के मत के अनुसार यह ज्योतिष का मूल-ग्रन्थ न तो नाटकत्रयी के कर्ता का है और न काव्यत्रयी के कर्ता का। उसकी रचना किसी अन्य विद्वान् ने कालिदास के नाम पर केवल इसलिये की है जिससे उसके ग्रन्थ को महत्त्व मिल जाय। हो सकता है कि यह मत सर्वांशतः सत्य हो, किन्तु इससे मूल मन्तव्य में कोई अन्तर नहीं आता। कम से कम यह ध्वनि तो इससे निकलती है कि ज्योतिर्विदाभरण-कार के समय तक काव्यत्रयी-कर्ता कालिदास नाटकत्रयी के कर्ता से पृथक् समझा जाता था। यह भी सम्भव है कि उसके समय तक नाटकत्रयी के कर्ता का जन्म भी न हुआ हो; अथवा उसकी तीनों कृतियाँ तब तक प्रसिद्ध न हुई हों। यदि ऐसा न होता तो ज्योतिर्विदाभरण का महत्त्वाकांक्षी रचयिता केवल तीन काव्यों को ही अपनी कृति बताकर सन्तोष न कर लेता :—

> काव्यत्रयं सुमति कृद्रघुवंश-पूर्वं पूर्वं ततो ननु कियच्छ्रुति कर्मवादः।
> ज्योतिर्विदाभरणकालविधानं शास्त्रं श्रीकालिदास कवितो हि ततो बभूव॥

उक्त पद्य में स्पष्ट ही काव्यत्रयी का उल्लेख है जिसमें रघुवंश को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। यहाँ यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि जहाँ ग्रंथकार ने 'काव्यत्रयं' को लिखा है वहाँ कहीं पर वह 'नाट्यत्रयं' को भी लिख सकता था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया।

यदि आजकल की भाँति उस समय भी दोनों के लेखकों का एक ही व्यक्तित्व माना जाता होता तो निश्चय ही ग्रन्थकार नाटककार बनने के गौरव को हाथ से न जाने देता !

"काव्येषु आद्यः कवि कालिदासः" की प्रसिद्ध सूक्ति में सम्भवतः इसी तथ्य का सकेत मिलता है कि कालिदास एक से अधिक हुए है और उनमें रघुवंश आदि का रचयिता ही आदि-कालिदास है। क्योंकि गुणियों की गिनती करते समय उसी का नाम पहले आता था। इसके बाद कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसे उसके समकक्ष बिठाया जा सकता। सम्भवतः यह इस बात का संकेत है कि पौराणिक साहित्य से भिन्न महाकाव्यों की परम्परा को जन्म देनेवाला ही कालिदास है और इस शैली में रघुवंश का वही स्थान है जो पौराणिक तथा प्राचीन साहित्य मे वाल्मीकीय रामायण का है। तब तो निश्चय ही काव्यत्रयी की रचना ई० पू० की है किन्तु नाटक ईसा से पूर्व किसी प्रकार भी नहीं पहुँचाये जा सकते।

(११)

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि काव्यत्रयी के लेखक ने अपनी रचनाओ मे कहीं भी इस बात का संकेत नही किया कि उसे नाट्य शास्त्र का भी गम्भीर ज्ञान है। ज्योतिष, सगीत, स्थापत्य-कला, चित्रकला तथा विभिन्न विज्ञानों में अपनी जानकारी के उसने अनेकों प्रमाण दिये हैं किन्तु जहाँ तक नाट्यकला का सम्बन्ध है, वह मौन है। यहाँ तक कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसे नाट्यकला के सामान्य पारिभाषिक शब्दों का भी ज्ञान न था। तीनों काव्यो मे केवल एक ही स्थान पर कुमारसम्भव में नाटक की चर्चा की गयी; वह भी दो श्लोकों में उड़ती हुई-सी:——

तौ संधिषु व्यजितवृत्ति-भेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्ध-रागम्।
अपश्यतामप्सरसाभपूर्वं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्॥ ७।९१

केवल यही एक ऐसा पद्य है जिसमें 'संधि', 'वृत्तिभेद' आदि सामान्य शब्दों का प्रयोग हुआ है और जिसमें नाटक के प्रयोग की ध्वनि निकलती है। यदि दोनों कालिदासों को एक मान लिया जाता है तो यह एक आश्चर्य की ही बात होगी कि 'मालविकाग्नि मित्र' में अपनी नाट्य-कुशलता का अनावश्यक -रूप से डिण्डिभ पीटनेवाला कवि अपनी काव्यत्रयी में इस सम्बन्ध मे इतनी चुप्पी क्यों साध गया ? और कैसे वह अपनी प्रियकला की इतनी उपेक्षा कर गया ?

वस्तुतः बात तो यह है कि संस्कृत साहित्य भर में नाटककार और काव्यकार अलग ही रहे हैं। जिन्होंने नाटक लिखने में प्रवीणता प्राप्त की वह काव्य या महाकाव्य नहीं लिख सके और जो काव्य लिखने में सफल हुए उनके लिये नाटक लिखना असम्भव रहा। यह भी सम्भवतः परम्परागत व्यवसाय ही रहा होगा। इसीलिये दोनों में कुशल आजकल के 'रवीन्द्र' या 'प्रसाद' सस्कृत-साहित्य में नहीं दिखायी पड़ते। यदि भूले भटके कोई ऐसा मिल भी गया तो उसकी दोनों प्रकार की रचनाओं को मूर्धन्यता नहीं प्राप्त होती जैसी कि अभिज्ञान शाकुन्तल और रघुवंश को हुई है। अब तक के प्राप्त कवियों में बुद्ध-घोष ही ऐसा कवि पाया जाता है जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जाने लगा है कि उसने एक नाटक भी लिखा है परन्तु वह संदिग्ध है।

क्योंकि अभी तक वह नाटक प्रकाश में नहीं आया। फिर यदि वह रचा भी है तो उसका निश्चय है कि वह न तो 'बुद्धचरित' की समता कर सका और न 'सौन्दरानन्द' की। फिर वह बौद्ध भी तो था।

(१२)

कालिदास प्रथम स्वतन्त्र-चेता कवि थे। उनका मानस आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत और वैदिक संस्कृति से संस्कृत था। वह जनता के मार्ग-दर्शक और जीवन कवि थे। इसीलिए उसने अपने काव्यों में जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श किया है। यही कारण है कि काव्यत्रयी में जितनी विविध-विषमता पायी जाती है, नाटकत्रयी में उसका शतांश भी नहीं है। सबसे बड़ी विशेषता 'काव्यत्रयी' में यह है कि विविधता होते हुए भी उनमें आध्यात्मिक एकता है—एक ऐसी गम्भीर एकता है जिसका नाटकत्रयी में दर्शन भी दुर्लभ है।

प्रथम कालिदास का जन्म ईसा से पूर्व उस समय हुआ था जब बौद्धधर्म के अनात्मवाद और नैराश्यवाद से उत्पीड़ित भारत को उनकी आवश्यकता थी। जिस समय भारत का जर्जर मानस अध्यात्म की रस-सुधा के लिए बुरी तरह से तड़प रहा था, और जिस समय उसकी बुद्धि अज्ञान के घनघोर अन्धकार में पग-पग पर ठोकर खा रही थी, प्रथम कालिदास ने उसी समय अपना आध्यात्मिक सन्देश सुनाया था। उन्होंने जनता को नैराश्य के गहरे गड्ढे से उबारा और ज्ञान के दिव्य आलोक में आनन्द-पथ को प्रशस्त कर दिया और फिर उसका सही मार्गदर्शन किया। इस महाकवि ने अपने समय के कलुषित वातावरण से बहुत ऊपर उठकर सन्देश दिया था और जनता ने उसे बड़े आदर भाव से ग्रहण किया था।

किन्तु नाटकत्रयी में यह बात नहीं है। उसका लेखक अपनी समकालीन जनता के कलुषित वातावरण से अपने को ऊपर नहीं उठा सका। वह उसी में मोद मनाता हुआ मादकता का प्रचार करने वाला ही गीत गाता रहा। जहाँ कालिदास प्रथम ने अपने प्रत्येक काव्य में नया सन्देश दिया है, वहाँ नाटकत्रयी का लेखक अपने तीनों नाटकों में भी कोई सन्देश न दे सका।

(१३)

फिर भी दोनों कालिदासों को एक मान लिया गया है। इससे उनके समय-निर्णय में बड़ी गड़बड़ी पड़ रही है। कभी प्रथम कालिदास को छठवीं ईसवी तक घसीटना पड़ता है या द्वितीय और तृतीय कालिदासों को ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी तक की खींच-खाँच करनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण है, विक्रमादित्य। इस नाम का उल्लेख "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में किया गया है। परन्तु वह कौन-सा कालिदास है और कौन-सा विक्रमादित्य इसका निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका। जहाँ कहीं भी "विक्रमादित्य" के साथ की या तुलना की आवश्यकता हो जाती है, वहीं बेचारे तीनों कालिदासों को घसीटना पड़ता है—और फिर वहाँ पहुँच कर भयंकर छीछालेदर सहनी पड़ती है। परन्तु दया तो आती है प्रथम कालिदास पर जिसे यह सब झंझट बेकार ही उठानी पड़ती है क्योंकि उसका किसी "विक्रमादित्य" से कभी कोई लगाव रहा ही नहीं।

यदि विक्रमादित्य की इस झंझट से उसे मुक्त कर दिया जाय तो आसानी से पहिली शताब्दी ई० पू० से भी पूर्व वह बिठाया जा सकता है जब कि सम्भावना भी यही है। उस समय हमें केवल निश्चय करना-मात्र रह जायगा कि यह विक्रमादित्य कौन है ?

(१४)

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की नवमी शताब्दी तक तीन सुप्रसिद्ध कालिदास हो चुके हैं। तीनों ही को शृंगार-रस का उद्भट कवि समझा जाता था। प्रथम कालिदास का शृंगार अध्यात्मपरक था तथा मर्यादित था। उसे शास्त्रों का समर्थन प्राप्त था धर्मा विरुद्धः कामोऽस्मि। द्वितीय कालिदास के शृगार में यह बात नहीं थी। उसके सभी नाटक सामन्तों को प्रसन्न करने के लिये लिखे गये हैं; सभी में आध्यात्मिकता का झीना आडम्बर रखने की व्यर्थ कोशिश की गयी है। तृतीय कालिदास के काव्य का कोई विशेष उद्देश्य नहीं दिखायी पड़ता। केवल-मात्र अपने ही समान रसिकजनों का मनोरंजन ही हो सकता है।

नवमी शताब्दी में उत्पन्न कवि राजशेखर ने इन तीनों कालिदासों की चर्चा करते हुए लिखा है:—

एकोऽपि जीयते हन्त ! कालिदासो न केनचित् !
शृंगारे ललितो द्गारे कालिदास-त्रयी किमु ?

अर्थात् जहाँ शृंगार रस के क्षेत्र में एक कालिदास भी किसी से नहीं जीता जा सकता वहाँ ललित उद्गारों को प्रकट करने वाले यदि तीन-तीन कालिदास पैदा हो जायँ तो कहना ही क्या ? पर इस उक्ति में कुछ-न-कुछ आधार और कोई-न-कोई तथ्य तो निहित होना ही चाहिये।

कथा के विभिन्न रूप एवं उनकी प्रकृति

श्री गोविन्द

'कथा' शब्द संस्कृत के 'कथ्' धातु से निकला है जिसका सामान्य अर्थ है वह सब कुछ जो कहा जाय, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग बंगला में पाया जाता है। किन्तु यह सभी कुछ जो कहा जाय 'कथा' नहीं कहलाता। 'कथा' का एक विशिष्ट अर्थ हो गया है 'कहानी'। यहाँ "कहानी" से तात्पर्य 'कहानी' विधा से नहीं है। 'कथा' की परिभाषा करते हुए, प्रसिद्ध उपन्यास आलोचक ई० एम० फार्स्टर ने लिखा है कि कथा समय की शृंखला में बँधा हुआ घटनाओं का पूर्वापर विवरण है।[1] 'हिन्दी साहित्य कोश' में कथा की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—"किसी ऐसी कथित घटना का कहना या वर्णन करना जिसका कोई निश्चित परिणाम हो। घटना के वर्णन में कालानुक्रम भी आवश्यक है जैसे सोमवार के पश्चात् मंगलवार, दिन के बाद रात, बचपन के बाद यौवन आदि। मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी-पहाड़ आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से कथा की घटना का सम्बन्ध हो सकता है। जिस किसी से सम्बन्धित घटना हो उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थितियों का आदि और अन्त से युक्त वर्णन ही कथा है।[2]

'साहित्य-कोश' में दी हुई 'कथा' की परिभाषा में ऐसे कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनके सम्बन्ध में शंकाएँ उठाई जा सकती हैं। सबसे पहले तो 'कथित घटना' के सम्बन्ध में शंका उठती है। 'कथित घटना के कहने' से यदि किसी अन्य द्वारा कही हुई घटना का वर्णन करने से तात्पर्य है तो 'कथा' की उक्त परिभाषा निश्चित रूप से अपूर्ण है। मनुष्य का जीवन क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है। वह अन्य व्यक्तियों द्वारा कथित बातों या घटनाओं से ही केवल 'कथा' नहीं बनाता, बल्कि स्वयं के अनुभव एवं अनुभूत घटनाओं के विवरण से भी कथा की रचना करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अनुभूत घटनाओं के वर्णन द्वारा जितनी कथाएँ आज लिखी जा रही हैं उतनी अन्य द्वारा कथित घटना के वर्णन द्वारा नहीं। एक अन्य शंका उठती है 'आदि और अन्त से युक्त वर्णन' शब्दावली से। कई ऐसी कहानियाँ लिखी गयी हैं जिनका अन्त ही नहीं ज्ञात होता और न जिनका कोई निश्चित परिणाम ही होता है। ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो केवल एक वातावरण उपस्थित करके ही अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं, न उनमें कोई घटना होती है, न अन्तिम परिणाम होता है और न कोई अन्त ही इस ढंग से होता है कि हम उसे निश्चित रूप से अन्त मान लें। फिर भी वे कथाएँ अपने में पूर्ण हैं।

---

१. It is narrative of events arranged in their time sequence—
E. M. Forster, Aspects of Novel Page 47

२ सं० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८३-१८४

कथा के रूप

जब लिखने की प्रथा नहीं थी तो कथा कहानिया केवल कही ही जाती थी और वे मौखिक परम्परा से स्थान और काल का अतिक्रमण करती हुई लोक में व्याप्त हो जाती थीं। अब भी अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच कथा-कहानियों के कहने की मौखिक परम्परा विद्यमान है। कालान्तर में जब लिखने-पढ़ने तथा लिपि का आविष्कार हुआ तो ये कथा-कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं और इनका रूप स्थिर होने लगा। इस प्रकार साधन-भेद से कथा के दो मुख्य रूप हो गये—१. मौखिक रूप २—लिखित रूप।

(१) मौखिक कथाएँ

मौखिक कथाओं की परम्परा आदि काल से ही चली आ रही है और अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच अब भी सुरक्षित है। जन-जीवन से परिप्लावित एवं लोक-हृदय से संलिप्त यह मौखिक कथा-साहित्य भारतीय कथा का आदिम रूप है। मौखिक कथा-साहित्य भी दो रूपो मे पाया जाता है—(क) लोक काव्य कथा या लोक-गाथा (पद्य रूप), (ख) लोक-कथा (गद्यरूप)।

लोक-काव्य कथा को हिन्दी की शास्त्रीय शब्दावली में लोक-गाथा कहा गया है। लोक-गाथा की कई परिभाषाएँ विद्वानों ने प्रस्तुत की है। प्रोफेसर क्रिटरिज के मतानुसार 'लोकगाथा (Ballad) वह गीत है जो किसी कथा को कहता है।' हैजलेट महोदय ने लोक-गाथा की परिभाषा देते हुए उसे गीतात्मक कथानक (Lyrical narrative) कहा है। आक्सफोर्ड इगलिश डिक्शनरी के प्रधान संपादक डा० मरे ने लोक-गाथा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "लोक-गाथा वह साधारण स्फूर्तिदायक कविता है जिसमें कोई जन-प्रिय घटना रोचक ढंग से वर्णित हो ?[१]"

उपर्युक्त विद्वानों की लोक-गाथा की दी हुई परिभाषाओं में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। सभी ने स्वीकार किया है कि लोक-गाथा में गेयता तथा कथा या कथानक का होना नितान्त आवश्यक है। अतः लोक-गाथा या लोक-काव्य कथा से तात्पर्य ऐसी कथा से है जो काव्य रूप में लोक में प्रचलित रही हो।

लोक-कथा का तात्पर्य उस कथा से है जो लोक में गद्य रूप में प्रचलित रही हो। लोक-कथा कथा का सबसे प्राचीन रूप कहा जा सकता है और इसकी परम्परा अत्यन्त ही प्राचीन रही है। भारतीय लोक-कथाओं की परम्परा तो अन्य देशों की लोक-कथाओं की परम्परा से बहुत प्राचीन कही जाती है।

मौखिक कथा साहित्य (लोक-गाथा एवं लोक-कथा) की प्रकृति कुछ ऐसी रही है जो उसे अन्य कथा-रूपों से अलग करती है। सबसे प्रमुख बात तो इस मौखिक कथा रूप के सम्बन्ध मे यह है कि इनका निर्माण समूचे समाज द्वारा युग-युग में होता रहा है। इस कारण इसके भीतर लोक-मानस की प्रधानता पाई जाती है। वस्तुतः प्रारम्भ में इन गाथाओं एवं कथाओ का रचयिता कोई व्यक्ति अवश्य होता है किन्तु वह लोक-गाथा या लोक-कथा कहते समय लोक-

---

१ अवस्थी : लोक-साहित्य की भूमिका, पृ० ५६

हो जाने तथा समाज के वर्ग-विभक्त हो जाने पर उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया और उनका रूप बदल कर धार्मिक एवं शिष्ट साहित्य के रूप में ले लिया गया। लिख लेने से इन कथाओं एवं आख्यानो का रूप स्थिर हो गया। लोक-कथाओं की तरह इनके रूप परिवर्तन की यद्यपि सम्भावना नही रही लेकिन समय-समय पर इनमें भी अनेक उपाख्यान एवं उपकथाएँ आकर जुड़ती गयीं और इस प्रकार लिखित कथा साहित्य का एक विशाल भाण्डार अपने देश में सुरक्षित हो गया। लिखित कथा साहित्य के अन्तर्गत प्रकृत-भेद से हमें कथा के दो रूप मिलते हैं :—(क) पौराणिक कथाएं (ख) साहित्यिक कथाएँ।

(क) **पौराणिक कथाएँ**—पौराणिक कथाएं अपने देश की सबसे प्राचीन लिखित कथाएं हे। पुराणों का अर्थ ही है पुरानी कहानियाँ अथवा पुराने इतिहास के ग्रंथ।[1] पुराणों के लक्षण बताते हुए महाकवि वेदव्यास ने लिखा है—

> सर्गश्च, प्रतिसर्गश्च, वंशोमन्वन्तराणि च।
> वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥

अर्थात् पुराणों में सृष्टि, प्रलय, वंश-परंपरा, मन्वन्तर तथा विशेष वंशों में होने वाले महान् पुरुषों की कथाएँ रहती हैं। किन्तु पौराणिक कथाओं का जो रूप हमारे सामने है उनमें अनेक लौकिक, अलौकिक एवं निजंधरी कथाओं का भी जंजाल है। ये कथाएँ एक विशिष्ट युग की उपज है और एक व्यक्ति द्वारा न रची जाकर एक विशिष्ट समूह द्वारा रची गयी है। इसी कारण, इन पौराणिक कथाओं में सामूहिक कल्पना का प्राधान्य है।

पौराणिक कथाओं के मुख्य रूप से दो भेद किये जा सकते हैं—(१) चरित कथाएँ तथा (२) उपदेश कथाएं। कुछ ऐसी भी कथाएँ हैं जिनमें चरित का भी महत्व है और उपदेश के भी तत्त्व है। चरित कथाओं में वीर पुरुषों, उनके माता-पिता और वंश, उनके पूर्वजन्म एवं वर्तमान की शौर्य तथा वीरतापूर्ण घटनाओं आदि का वर्णन पाया जाता है और कथा के माध्यम से उनके जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण रहता है। उपदेशात्मक कथाओं के अन्त में कोई न कोई उपदेश रहता है और इनका मुख्य उद्देश्य जन-साधारण को कथा के बहाने उपदेश देना होता है।

पौराणिक कथाओं की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। अधिकांश पौराणिक कथाएँ आध्यात्मिकता से पूर्ण हैं। धार्मिक तथा उपदेशात्मक दृष्टि से रचे होने के कारण इनमें सर्वत्र भक्ति, ज्ञान, साधना, जप-तप आदि आध्यात्मिक तत्वों की ही प्रधानता है। मनुष्य के सात्विक गुणो—दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, मैत्री, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सरलता, त्याग, नियम आदि से सम्बद्ध कहानियाँ पुराणों में संगृहीत हैं। इन कथाओं में पशु-पक्षियों तथा कीट-पतंगों तक को ही नही, लताओं तथा वृक्षों को भी वाणी दी गयी है, तथा उनके माध्यम से जीवन-दर्शन की जटिल समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। पौराणिक कथाओं के मुख्य विषय ईश्वर, ईश्वर की उत्पत्ति, ईश्वर के भिन्न-भिन्न अवतार (कल्पभेद), सुर और असुर तथा उनके परस्पर युद्ध, शाप और वरदान, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, मनुष्य और पशुओं की उत्पत्ति, आत्मा के आवागमन, स्वर्ग-

---

१ प्रताप त्रिपाठी—पुराणों की अमर कहानियाँ, भाग १, निवेदन

नरक रूप परिवर्तन आदि तथा आश्चर्यजनक शक्तियां [illegible] तंत्र-मंत्र का भी सम्बन्ध इन कथाओं में है। [illegible] कथाओं में अनेक लौकिक-अलौकिक तत्व आ गये हैं। ध्यान देने की बात है कि पौराणिक कथाओं के समानान्तर चलने वाली जैन एवं बौद्ध कथा-धारा (जातक कथाएँ, तथा जैन कथाएँ) में भी इस प्रकार के अनेक तत्व पाए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कथाओं का मूल स्रोत प्रायः एक जैसा रहा है और आगे विकास-क्रम में इन्होंने एक दूसरे को प्रभावित भी किया है।

'पुराण' और 'इतिहास' शब्द प्रायः समानार्थी माने गए हैं और दोनों शब्दों का प्रयोग भी प्रायः साथ-साथ हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कई स्थलों पर 'इतिहास' और 'पुराण' शब्द साथ-साथ आए हैं।[2] प्राचीन काल में पौराणिक तथा मिथकीय कथाओं को भी [illegible] व ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था और उनको सत्य माना जाता था। वस्तुतः भारतीय साहित्य में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग ही बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है और अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष प्रदान करने वाले पूर्ववृत्त और कथा को ही 'इतिहास' कहा गया है।[3] इस दृष्टि से पुराण इतिहास भी है, रामायण तथा महाभारत भी अपने को इतिहास घोषित करते हैं—

भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थ [illegible]—(महाभारत, आदि० [illegible])

पूजयश्च पठश्चैव इतिहासपुराणकम्—(रामायण, [illegible])

किन्तु इन्हें सांस्कृतिक इतिहास मानने का तात्पर्य यह नहीं है कि इनमें [illegible] है, घटना सत्य नहीं है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो वास्तविक सत्य के आधार पर निर्मित हैं। इनमें अनेक ऐतिहासिक वंशों की वंशावली का वर्णन है तथा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध कथाएँ हैं। किन्तु अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव के कारण तथा अलौकिक तत्वों के कारण उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय लेना अत्यन्त कठिन है।

पौराणिक साहित्य एवं कथाओं के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनमें जो कुछ है सब इतिहास नहीं है। इनमें शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है। इतिहास का जो स्वरूप आज के वैज्ञानिक युग में है वह प्राचीन काल में नहीं था। वस्तुतः प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन में ही इतिहास के पाश्चात्य स्वरूप का अभाव है। अपने देश में इतिहास को लिखने की नवीन वैज्ञानिक दृष्टि देने का श्रेय योरोपवासियों को है। आधुनिक काल में जब भारतवासी अंग्रेजों के सम्पर्क में आये और अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान का प्रचार देश में होने लगा तो इतिहास सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं में भी परिवर्तन हुआ, और इतिहास तथा पुराण का भिन्न-भिन्न अर्थ किया जाने लगा। फिर भी पुराणों में सब कुछ अनैतिहासिक और काल्पनिक ही है, ऐसा नहीं

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह—महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० २७

२. शतपथ ब्राह्मण—काण्ड ११, अध्याय ५। ब्राह्मण ७—खण्ड १-९ श्लोक ९

य एवं विद्वान्वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते स एनमनुकामस्तर्पयन्ति सर्वकामैः सर्वैं भोगैः ॥

३. धर्मार्थ काम मोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।

पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

कहा जा सकता उनमे कुछ एसे तत्व अवश्य हैं जो उन्ह इतिहास की प्रकृति के निकट ले जाते हैं वास्तव में पौराणिक कथाएँ अर्ध ऐतिहासिक है।

(ख) **साहित्यिक कथाएँ**—प्राचीन काल से लेकर अब तक की साहित्यिक कथाएँ हमे पाच रूपों में मिलती हैं—(१) प्रबंध-काव्य के रूप में, (२) नाटक के रूप में, (३) प्राचीन कथा-आख्यायिका के रूप में, (४) आधुनिक कहानी के रूप में, (५) उपन्यास के रूप में। कथा के प्रबंधकाव्य रूप, नाटक रूप तथा प्राचीन कथा आख्यायिका रूप तो प्राचीन हैं किंतु आधुनिक कहानी एवं उपन्यास रूप बिल्कुल नवीन हैं एवं आधुनिक काल की देन हैं। इन कथा-रूपों की भी अपनी अलग-अलग प्रकृति है और उनमें पर्याप्त अन्तर मिलता है। जहाँ मौखिक कथाओं का आधार लोक-कल्पना तथा पौराणिक कथाओं का आधार सामूहिक-कल्पना है, वहाँ साहित्यिक कथाएँ पूर्ण रूप से व्यक्ति की कल्पनाएँ हैं। इसी कारण इनमें वैयक्तिक तत्त्वों की प्रधानता है।

(१) **प्रबंध-काव्य**—प्रबंध-काव्य कथा का एक ऐसा रूप है जिसमें समग्र जीवन अथवा जीवन के किसी अंश-विशेष की कथा एवं उसकी विविधता पद्य के माध्यम से कही जाती है। जिस प्रबध-काव्य में समग्र जीवन की कथा का वर्णन रहता है उसे महाकाव्य तथा जिस पद्य-कथा में एक ही घटना की प्रधानता रहती है उसे खण्ड-काव्य कहते हैं। काव्य-शैली की दृष्टि से महाकाव्य एव खण्ड-काव्य में कोई मौलिक भेद नहीं है। महाकाव्य, खण्ड-काव्य का ही एक विस्तृत रूप कहा जा सकता है। कथा के महाकाव्य रूप का विकास अनेक कालों में तथा अनेक तत्त्वों द्वारा हुआ है। महाकाव्य की सामग्री पौराणिक विश्वासों, निजंधरी आख्यानों, ऐतिह्य और वंशानुक्रम, सम-सामयिक घटनाओं, प्राचीन ज्ञान भंडार, लोक-कथाओं एवं गाथाओं आदि स्रोतों से आती है। इसके निर्माण में कवि की मौलिक उद्भावनाओं का भी योग रहता है। अनेक स्रोतों से उपलब्ध सामग्री के कारण महाकाव्यों की प्रकृति में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है।

महाकाव्य में जीवन का व्यावहारिक पक्ष अधिक उभरा हुआ पाया जाता है। वैसे कई महाकाव्यों में आध्यात्मिक पक्ष भी एक सीमित रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। महाकाव्य की कथा-शैली वर्णनात्मक होती है, और कथा में पर्याप्त विस्तार होता है जो किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन-चित्रण के कारण अथवा उसके जीवन से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों की जीवन-कथा के समावेश के कारण अपने आप हो जाता है। महाकाव्य की कथा का नायक महान्, लोक-प्रसिद्ध या इतिहास-प्रसिद्ध होता है। कथा में चमत्कारपूर्ण, आश्चर्यजनक तथा अति प्राकृत तत्त्वों का भी समावेश रहता है लेकिन वह कथा की मूल प्रकृति नहीं होती। आधुनिक महाकाव्यों में अलौकिक तथा अति प्राकृत तत्वों का प्राय: अभाव-सा पाया जाता है और इसकी प्रकृति यथार्थ के अधिक निकट होती जा रही है।

कथा के प्रबंध-काव्य रूप के अतिरिक्त काव्यात्मक शैली में कुछ ऐसे और अन्य कथा रूप भी मिलते हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये रूप हैं गीत कथा (गीतिकाव्य) तथा मुक्तक कथा (मुक्तक प्रबंध)। यों तो प्रबंध-काव्य में भी गीतिकाव्य के कई तत्त्व पाये जाते हैं किंतु गीतिकथा मे गीत के लगभग सभी तत्व प्रधान रूप से पाए जाते हैं। बीसलदेव रास एक इसी प्रकार की गीति

१ डा० शम्भूनाथ सिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ० २६

कथा है जिसमें गीतों के माध्यम से बीसलदेव तथा राजमती की प्रेम-कथा को वर्णित किया गया है। मुक्तक कथा में कथा मुक्तकों के माध्यम से कही जाती है। सूरदास का 'सूरसागर', तुलसीदास का 'बरवै रामायण', नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित' तथा रत्नाकर का 'उद्धव शतक' मुक्तक कथा-शैली में ही लिखा गया है।

(२) **नाटक (पूर्ण तथा एकांकी)**—नाटक भी कथा का एक रूप है। यद्यपि इसमें कथा की एक शृंखला नहीं होती, फिर भी टूटी हुई कड़ियों को कल्पना के सहारे जोड़कर कथा की रूप-रेखा बनाई जा सकती है। दृश्य-काव्य होने से नाटक में अभिनयात्मकता का समावेश रहता है और संवाद तत्त्व की प्रधानता होती है। इन संवाद तत्त्व, अभिनेताओं की भावभंगी तथा क्रिया-कलापों से ही नाटक की कथा को ग्रहण किया जाता है।

नाटक में पूर्णकथा धारावाहिक रूप से नहीं होती, बल्कि कथा के कतिपय भाग ही छोटे-छोटे अंशों (या अंकों) में रहते हैं। इन अंशों के सम्मिलित प्रभाव द्वारा ही दर्शक या पाठक कथा-रस का बोध करता है। नाटक की कथा में रोचकता एवं प्रभावात्मकता उत्पन्न करने के लिए घटना वैचित्र्य, कुतूहल एवं आकस्मिकता का संयोजन किया जाता है और इन तत्त्वों की इसमें प्रधानता रहती है। रसात्मकता तथा कुछ अन्य बातों में नाटक की प्रकृति महाकाव्य की प्रकृति से मिलती-जुलती है।

(३) **प्राचीन कथा-आख्यायिका रूप**—प्राचीन साहित्य में 'कथा' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में तथा दूसरा अलंकृत काव्य के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो पंचतंत्र एवं कथा-सरित्सागर की कथाएं भी कथा हैं, महाभारत एवं पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुबन्धु की वासवदत्ता, बाण की कादम्बरी, गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि भी कथा हैं। प्रायः सभी चरित काव्यों ने भी अपने को 'कथा' कहा है। चरितकाव्य को कथा कहने की परम्परा बहुत बाद तक चलती रही। विद्यापति ने अपनी छोटी-सी पुस्तक "कीर्तिलता" को 'काहाणी' या कहानी कहा है। तुलसीदास का रामचरितमानस 'चरित' तो है ही, कथा भी है। उन्होंने कई स्थान पर इसे कथा कहा है।

संस्कृत के आलंकारिकों ने "कथा" शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट काव्यरूप के लिए किया है और वह निश्चित काव्यरूप है "अलंकृत गद्य काव्य"। संस्कृत की कथा गद्य में लिखी जाती थी। "कथा" की ही जाति की एक गद्यबद्ध रचना और भी होती थी जिसे "आख्यायिका" कहते थे। भामह ने "कथा" एवं "आख्यायिका" के भेद को स्पष्ट करते हुए अपने ग्रन्थ काव्यालंकार (१।२५-२८) में लिखा है कि 'आख्यायिका' सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानी वाली रचना है जिसका कहने वाला और कोई नहीं, स्वयं नायक होता है और इसमें कन्याहरण, युद्ध, विरोध और अन्त में नायक की विजय का उल्लेख भी होता है।" कथा की कहानी स्वयं नायक नहीं कहता बल्कि दो व्यक्तियों के बातचीत के रूप में कही जाती है। इसके लिए भाषा का कोई बन्धन नहीं है, कथा गद्य तथा पद्य दोनों में लिखी जा सकती है। हेमचन्द्र ने भी इसी से मिलती-जुलती बात कही है।[1]

१. नायकाख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका ॥७

गद्येन पद्येन वा [illegible] कथा ॥८॥—हेमचन्द्र अध्याय ८

दण्डी ने भामह के कथन को सामने रख कर अपने ग्रंथ "काव्यादर्श" (१।२३-२८) में लिखा है कि "कथा और आख्यायिका में कोई मौलिक भेद नहीं है और दोनों वस्तुत: एक ही श्रेणी की रचनाएँ हैं। क्योंकि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, इससे कहानी में कोई अन्तर नही आता है।"[1]

जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लक्ष्य किया है कि भामह ने जब कथा और आख्यायिका में अन्तर किया था कि एक तो बातचीत के रूप में कही जानी चाहिए और दूसरी स्वय नायक के रूप में तो उनके कहने का तात्पर्य सम्भवत: यह था कि कथा में कल्पना की गुंजाइश अधिक होती है आख्यायिका में कम। एक की कहानी काल्पनिक होती है और दूसरी की ऐतिहासिक[2] अमरकोशकार ने भी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है—आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबंधकल्पनाकथा (अमर कोश, प्रथम खण्ड) अर्थात् जिसकी प्रधान कथा वास्तविक घटना हो वह आख्यायिका है और जिसमें प्रबंध की कल्पना की गयी हो वह कथा है। सम्भवत: कथा और आख्यायिका के इसी भेद को लक्ष्य कर परवर्ती आलंकारिकों ने कादम्बरी एवं दशकुमारचरित को "कथा" कहा है और हर्षचरित को आख्यायिका। प्रारम्भ में काल्पनिक एवं ऐतिहासिक कहानियों के इस भेद को लक्ष्य किया गया होगा, लेकिन परवर्ती काल में शीघ्र ही कथा एवं आख्यायिका के इस भेद को भुला दिया गया।

कथा और आख्यायिका में कुछ सूक्ष्म भेदों के होते हुए भी यह नि:संकोच रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ये एक ही श्रेणी की कहानियाँ हैं और इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। हितोपदेश, कथा सरित्सागर, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, कादम्बरी, हर्षचरित, वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि कथा-आख्यायिकाओं की प्रकृति बहुत कुछ एक दूसरे से मिलती-जुलती है। आचार्यों ने कथा-आख्यायिकाओं का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसके आधार पर कथा

---

१. अपाद: पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥२३॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिन ॥२४॥
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥२५॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि ॥२६॥
आर्यादिवत्प्रवेश: किं न वक्त्रापरवक्त्रयो:।
भेदश्च दृष्टो लम्बादिरुच्छ्वासो वास्तु किं तत: ॥२७॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जाति: संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातय: ॥२८॥

२ हजारी प्रसाद साहित्य का आदिकाल (द्वितीय) पृ० ९२

की दृष्टि से उसकी प्रकृति एवं लक्षणों की एक रूप रेखा बनाई जा सकती है। इस सम्बन्ध में डा० शम्भूनाथ सिंह का विवेचन महत्त्वपूर्ण है[1]—

(१) कथा-आख्यायिका में रोमांचक तत्वों और साहसिक कार्यों जैसे युद्ध, प्रेमपूर्वक विवाह, कन्याहरण, भयंकर यात्रा, मार्ग की दुरूह कठिनाइयों, देव, असुर, गंधर्व, यक्ष आदि के अलौकिक कार्य आदि का बहुत अधिक विस्तार होता है।

(२) कथा-आख्यायिका का कथानक अधिक प्रभावपूर्ण, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु उसका मूलाधार यथार्थ जीवन नहीं होता। (बाण की "हर्षचरित" सदृश कुछ रचनाएँ इसके लिए अपवाद स्वरूप हैं) इसमें कल्पनाजन्य अलौकिक, अतिमानवीय एवं अतिप्राकृत तत्त्वों, पात्रों तथा असम्भव घटनाओं की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप इसमें काल्पनिक कथा का चमत्कार और असम्भव या अविश्वसनीय घटनाओं की भरमार होती है।

(३) कथा-आख्यायिका का उद्देश्य प्रायः विशुद्ध मनोरंजन और कभी-कभी नीति या धर्म का उपदेश देना या उदाहरण उपस्थित करना होता है। नीतिकथाएँ और धर्मकथाएँ इति-वृत्तात्मक और उपदेशात्मक होती हैं। उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों और मनोदशाओं के चित्रण द्वारा उच्च रस-स्थिति तक पहुँचाने की शक्ति नहीं होती।

(४) कथा-आख्यायिका में कथानक की कोई शृंखलित योजना नहीं होती। उसका कथानक स्फीतियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्रायः उसका आरंभ ही कथान्तर से होता है और फिर उसमें कथा के भीतर कथा और उस कथा में भी गर्भ-कथाएँ भरी रहती हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र में परस्पर बाँध दी गई रहती हैं यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग-अलग ही रहता है।

(५) कथा-आख्यायिका की कथाओं में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्ष के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया जाता है। परिणामस्वरूप उसके नायक प्रायः धीर ललित होते हैं और उनका जीवन अयथार्थ पर आधारित होता है। वे प्रायः निजंधरी होते हैं या कथाकार द्वारा निजंधरी ऊँचाई तक पहुँचा दिये जाते हैं। भारतीय कथाओं में विक्रमादित्य, सातवाहन, उदयन, दुष्यन्त, नल आदि ऐसे ही चरित्र हैं जो ऐतिहासिक होते हुए भी निजंधरी व्यक्तित्व द्वारा गढ़े गये हैं। युद्ध, साहस और वीरता के कार्यों का वर्णन कथा-आख्यायिका में भी होता है पर वैसा नहीं जैसा अलंकृत काव्यों में होता है। कथाकार युद्ध और वीरता को प्रेम और शृंगार का साधन-मात्र समझता है, जिससे उसका मन इन बातों में नहीं रमता।

(४) आधुनिक कहानी

"आधुनिक कहानी" कथा का एक बिल्कुल नवीन रूप है जो रूप की दृष्टि से प्राचीन कथा-आख्यायिका की परम्परा में होने पर भी विषयवस्तु, भावभूमि, शिल्प और कला की दृष्टि से उससे नितान्त भिन्न है। इसका आज का विकसित रूप बहुत कुछ पश्चिम की देन है।

प्राचीन कथा-आख्यायिका एवं आधुनिक कहानी के शैली-शिल्प, रूप तथा कला-विधान का यह भेद स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। प्राचीन कहानियों एवं कथा-आख्यायिकाओं

---

१ डा० शम्भूनाथ सिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृष्ठ ४०१-४०४

की शैली इतिवृत्तात्मक एव ८ होती थी उसमें आरम्भ मध्य चरमबिंदु और अन्त का एसा कोई विधान नहीं था जैसा आधुनिक कहानी में पाया जाता है उसमें कहानी का कथानक सीधे-सादे रूप में 'एक राजा था और उसकी सौ रानियाँ थीं' से आरम्भ होता था और एक ही गति से 'फिर क्या हुआ' की जिज्ञासा एवं कुतूहल को साथ लेकर अग्रसर होता था और 'जैसी उनकी हुई वैसी सब की हो' के अन्त के साथ वह समाप्त हो जाता था।

कथानक के विकास की जैसी नाटकीय योजना आधुनिक कहानियों मे मिलती है वैसी प्राचीन कथाओं में नहीं थी। कथानक के उतार-चढ़ाव में भी जैसी कलात्मकता आज के कहानियो मे पाई जाती है वैसी प्राचीन कहानी में नहीं मिलती। कथानक को प्रस्तुत करने की शैलीगत विविधता जितनी आधुनिक कहानियों में देखी जाती है उनका प्राचीन कथा-आख्यायिकाओं में अभाव है।

विषयवस्तु की दृष्टि से प्राचीन कथाएँ विशेषतः वीरता, प्रेम एवं उपदेशपूरक हुआ करती थी, किंतु आधुनिक कहानी में वीरता, प्रेम एवं उपदेश के अतिरिक्त अन्य मानवीय मनोवेगों तथा भावनाओं का भी समावेश पाया जाता है। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क से तथा आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव से जीवन मूल्यों में परिवर्तन तथा परिविस्तार के साथ-साथ दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ जिसके परिणामस्वरूप कहानी की विषयवस्तु की सीमा में पर्याप्त परिविस्तार एवं परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है।

आधुनिक कहानी का मुख्य केन्द्र मानव है जब कि प्राचीन कथा-आख्यायिकाओं का सम्बन्ध मनुष्य तथा मनुष्येतर प्रकृति जड़-चेतन, पशु-पक्षी आदि से भी होता था। मनुष्येतर प्रकृति ही क्यो, देव, दानव, राक्षस, भूत-प्रेत आदि अलौकिक एवं काल्पनिक जगत के पात्र भी कथा-आख्यायिकाओं के पात्र हुआ करते थे। किंतु आधुनिक कहानी में इन अलौकिक एवं काल्पनिक पात्रों की कोई सत्ता नहीं। आज के वैज्ञानिक युग में पला मानव इतना बौद्धिक एवं यथार्थवादी हो गया है कि अकारण ही वह किसी बात पर विश्वास नहीं करता।

प्राचीन कथाओं का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन था। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक चमत्कारपूर्ण, अलौकिक एवं अवास्तविक घटनाओं का भी जंजाल प्रस्तुत किया जाता था। किंतु आधुनिक कहानी में घटनाओं का बाहुल्य नहीं होता। उसका कथानक जीवन के किसी मर्मस्पर्शी छोटे से अंश से सम्बन्धित होता है। उस कथानक के आधार पर ही कहानी-लेखक अपने सामान्य कथनों द्वारा जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत कर देता है। आधुनिक कहानी का कथानक एक स्थिति मात्र होता है जिसमें चरित्र-चित्रण, भावों के उतार-चढ़ाव और विचारों के विश्लेषण और समस्याओं के उद्घाटन का यत्न रहता है। आधुनिक कहानी में मनोरंजन विधान के लिए मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का सहारा लिया जाता है। विशेष परिपार्श्व और वातावरण मे, विशेष परिस्थितियों एवं स्थितियों में पड़े हुए व्यक्तित्व के मन-मस्तिष्क के विश्लेषण एवं उद्घाटन मे चमत्कार की ऐसी सृष्टि आधुनिक कहानीकार करता है कि कहानी-पाठक विभोर हो उठता है। उसे ऐसा लगता है जैसे यह उसके अपने मस्तिष्क का चित्र हो। उसका साधारणीकरण हो जाता है और मनोरंजन ही नहीं गम्भीर रस की अनुभूति करता है।[१]

---

१ दीक्षित—हिन्दी कहानी, पृष्ठ १०४

निष्कर्ष रूप में प्रेमचन्द के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'जहाँ प्राचीन कथा आख्यायिकाएँ कुतूहल एवं घटना प्रधान, इतिवृत्तात्मक, [illegible] निबद्ध काल्पनिक तत्वों से गढ़ी होती थीं वहाँ आधुनिक कहानी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। इसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।'[1]

(५) उपन्यास

उपन्यास कथा का सबसे नवीनतम रूप है। यह आधुनिक युग की देन है, और नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ ही इसका भी प्रचार हुआ। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये शिल्प-विधान और विषयवस्तु की दृष्टि से यह पश्चिम की देन है।[2] हालाँकि कुछ लोग उपन्यास के रूप का विकास संस्कृत के प्राचीन कथा-ग्रंथों दशकुमार चरित, वासवदत्ता और हर्षचरित, कादम्बरी आदि से मानते हैं।[3] किन्तु इन कथा-ग्रंथों में उपन्यास-कला का अभाव है और इनकी प्रकृति तथा उपन्यास की प्रकृति में पर्याप्त अन्तर है। अतएव उपन्यास का सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन कथा-आख्यायिका की परम्परा से जोड़ना एक खिलवाड़ मात्र है।

उपन्यास का जन्म और विकास सर्वप्रथम १८वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ और [illegible]

---

१. प्रेमचन्द—कुछ विचार, द्वितीय संस्करण १९५२ : पृष्ठ ३६

२. (क) 'हिन्दी उपन्यास की स्थिति हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर आधुनिकतम हिन्दी काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है किन्तु हिन्दी का उपन्यास-साहित्य वह पौधा है जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लाया गया तो उसका बंगला कलम तो लिया ही गया, न कि सुबंधु, दण्डी और बाण की कुछ परम्परा पुनरुज्जीवित की गयी'—नलिन विलोचन शर्मा—"आलोचना, वर्ष २, अंक १, पृष्ठ १११

(ख) इंरेजी साहित्येर प्रभावे आमादेर देशे ये सब नूतन धरनेर साहित्य गड़िया उठियाछे ताहार मध्ये उपन्यासई प्रधानतम। कोनो उपन्यासेर अनुरूप कोन वस्तु आमादेर पुरातन साहित्ये खुँजिया पाओया यायना।—उपन्यासेर प्रधान विशेषत्व एइ ये इहा सम्पूर्ण आधुनिक सामग्री। पुरातन युगेर आकाश वातासेर मध्ये इहार जन्म सम्भव हय नाई। आधुनिक युगेर सामाजिक परिवर्तनेर संगे इहार एकेवारे घनिष्ठ अन्तरंग सम्पर्क।

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हमारे देश के साहित्य में जो सब नूतन प्रकार की धारणा लिए हुए साहित्य उठ खड़े हुए उन सब में उपन्यास ही प्रधानतम है। इस उपन्यास के अनुरूप कोई भी साहित्यिक विधा हमारे प्राचीन साहित्य में खोजने से भी नहीं मिलती।—उपन्यास की प्रधान विशेषता यही है कि इसमें सभी सामग्री आधुनिक है। पुरातन युग के वातावरण में इसका जन्म सम्भव ही नहीं हो सका था। आधुनिक युग के परिवर्तन के साथ इसका अन्तरंग एवं घनिष्ठ सम्पर्क है। —कुमार बंद्योपाध्याय, बंग साहित्येर उपन्यासेर धारा, पृष्ठ १

३ किशोरीलाल [illegible] प्रणय के प्रथम संस्करण की भूमिका

परिस्थिति पाकर १९वीं शताब्दी में इस साहित्य रूप ने भारतीय साहित्य में भी अपना प्रमुख स्थान बना लिया। योरप में "रोमांस" के नाम से अभिहित प्रेम तथा साहसपूर्ण काल्पनिक एवं आदर्शात्मक पद्य-बद्ध कहानियों के बदले जब गद्य के माध्यम से यथार्थ जीवन की घटनाओं एवं परिस्थितियों का चित्रण आरम्भ हुआ तो उसे "नावेल" नाम दिया गया। क्योंकि उसका रूप-रंग प्राचीन के मुकाबिले में बिल्कुल नया था। "रोमांस" में जहाँ जीवन के दुर्लभ तथा असम्भव सम्बन्धों का चित्रण रहता था वहाँ "नावेल" ने इन दोनों को त्याग कर जीवन के "सम्भव" एवं "सुलभ" सम्बन्धों का आश्रय ग्रहण किया।[1] इसी नावेल को हिन्दी और बंगला में 'उपन्यास' गुजराती में 'नवलकथा', मराठी में 'कादम्बरी' तथा उर्दू में 'नाविल' कहा गया। उपन्यास और रोमांस का अन्तर स्पष्ट करते हुए क्लारा रीव ने लिखा है— "उपन्यास उस युग के यथार्थ जीवन, आचार-विचार तथा उस काल का चित्रण है जिसमें वह लिखा जाता है। रोमांस गुरु, गम्भीर एवं सम्मुन्नत भाषा में इन सबका वर्णन करता है, जो न कभी घटित हुआ है और न जिसके घटित होने की सम्भावना है। उपन्यास उन परिचित वस्तुओं का वर्णन प्रस्तुत करता है जो हम लोगों के प्रति दिन के जीवन में आँखों के सम्मुख घटती है; जो स्वयं हमारे या हमारे मित्रों के अनुभव की हैं। उपन्यास की पूर्णता इसी में है कि वह प्रत्येक दृश्य को इस स्वाभाविकता एवं सरलता से प्रस्तुत करे कि वह पूर्ण रूप से सम्भाव्य प्रतीत हो और हमें विश्वास हो जाय (कम से कम उपन्यास पढ़ते समय) कि सब कुछ यथार्थ है और हम सोचने लगें कि पात्रों के सुख-दुःख हमारे ही सुख-दुःख हैं।"[2]

उपन्यास केवल कथामात्र नहीं है, और पुरानी कथा-आख्यायिकाओं की भाँति कथा-सूत्र का बहाना लेकर उपमाओं, रूपकों, दीपकों एवं श्लेषों की छटा और सरस पदों में गुम्फित पदावली की घटा दिखाने का कौशल भी नहीं है। यह आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की ऊपज है। इसमे लेखक कथानक के माध्यम से अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और उसे इस प्रकार सुसज्जित रूप में प्रस्तुत करता है कि पाठक अनायास ही उसके मन्तव्य को ग्रहण कर सके और उससे प्रभावित हो जाय। लेखकों का जीवन-जगत् के प्रति वैयक्तिक दृष्टिकोण ही उपन्यास की आत्मा है।

कथा के विभिन्न रूपों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक कहानी एवं उपन्यास की प्रकृति पौराणिक एवं जैन-बौद्ध-कथाओं, प्रबंध-काव्य-कथाओं, लोक कथाओं एवं गाथाओं आदि से बिलकुल भिन्न है। कथा के उक्त प्राचीन रूपों में जहाँ अलौकिकता, चमत्कार वर्णन, आध्यात्मिकता, आदर्श आदि की प्रधानता है वहाँ आधुनिक कहानी तथा उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण तथा स्वाभाविक वातावरण एवं कलात्मक किन्तु सहज सामान्य कथन रहता है। नाटकों की तरह कहानी तथा उपन्यास में भी संवाद, कुतूहल आदि नाटकीय तत्व रहते हैं किन्तु ये मर्यादित रूप में आते हैं। कथा के ये आधुनिक रूप हमारे यथार्थ जीवन के अधिक सन्निकट पड़ते हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक आत्मीयता उत्पन्न करते हैं, अतएव अधिक प्रभावशाली होते है।

---

१. देवराज उपाध्याय : कथा के तत्व, पृष्ठ १०

२. The novel is picture of real life and manners and of times in which it is written, Romance in lofty and elevated language describes what never happened nor is likely to happen. The novel gives a familiar relation of such things as pass every day before our eyes such as may happen to our friends or to ourselves Progress of

उपनिषद्-साहित्य में प्रतीक-दर्शन

डॉ० वीरेंद्र सिंह

शब्द और प्रतीक

उपनिषद्-साहित्य ज्ञान की एक अमूल्य निधि है जिसमें आत्मिक तथा दार्शनिक ज्ञान अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होते हैं। ज्ञान का प्रणयन शब्द और प्रतीकों के बिना सुगम सुलभ न प्राप्त होता है। हम जिस भी शब्द का उच्चारण करते हैं या उसे लिपि रूप में विचारों के विनिमय का माध्यम बनाते हैं, वे शब्द ही प्रतीक हो जाते हैं। यही कारण है कि कोई भी शब्द, किसी विचार या धारणा का प्रतिरूप होने से, प्रतीक का कार्य करने लगता है। सम्पूर्ण चराचर जगत के सम्बन्ध, शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। दूसरे शब्दों में, यह ब्रह्म की सम्पूर्ण प्रकृति, वाणी अथवा भाषा के शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक सम्बन्ध की तारतम्यता से व्याप्त है। इसी भाव को शंकराचार्य ने उपनिषद्-भाष्य में इस प्रकार रखा है।—

तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्।[1]

उस ब्रह्म का यह सम्पूर्ण जगत वाणी रूप सूत्र द्वारा नाममयी डोरों से व्याप्त है।[1] यह नामकरण की प्रवृत्ति वस्तु का अनुभवपूरक रूप सामने रखती है, तो वहीं, यह मानवीय चेतना के आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण की ओर भी संकेत करती है। अतः यह जगत का सारा ब्रह्मांड नाममय ही है, नाम (प्रतीक) के द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट होता है। यही कारण है कि वाक् या वाणी को छांदोग्योपनिषद् में 'तेजोमयी'[2] कहा गया है, उसे "विराट" की संज्ञा भी दी गई है।[3] तात्त्विक दृष्टि से क्षर ब्रह्म के मूल में इसी शब्द-प्रक्रिया का रहस्य छिपा हुआ है। इसी से, भारतीय मनीषा ने शब्द को ब्रह्म का रूप या पर्याय माना है। हम शब्द-प्रतीकों के द्वारा ब्रह्म के इस नाम रूपात्मक विश्व को ज्ञान की परिधि में बाँधते हैं। फलतः ईश्वर, आत्मा, प्रकृति, समय, आकाश (दिक्) गुरुत्वाकर्षण शक्ति, परमाणु और अनेक धार्मिक प्रतीक यथा ब्रह्मा, ज्यूपीटर, शिव, देवीदेवतादि—ये सब शब्द रूप प्रतीक ही हैं जिनमें किसी धारणा या विचार (भाव भी) की अन्विति प्राप्त होती है।

---

१. उपनिषद् भाष्य, खंड २, पृ० २४ : माण्डूक्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० २०१३)

२. छांदोग्योपनिषद्, पृ० ६२६ श्लोक ४ में कहा गया है 'आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति' (उपनिषद् भाष्य खंड ३) सं० २०१३

३ वही, पृ० १४५, श्लोक २ 'वाग्विराट' (उप० भा० खंड ३)

बिम्ब और प्रतीक

उपनिषद साहित्य मे मन की क्रियाओं का संकेत यदा कदा प्राप्त होता है मन की आदितम क्रिया का वाह्य-प्रभावों को मानसिक बिम्ब (Image) के रूप में परिणत करना है। यह बिम्ब-ग्रहण ही प्रतीक-सृजन की प्रथम आवश्यक दशा है। इस दृष्टि से बिम्बग्रहण केवल बोधगम्य (Perceptive) ही होते हैं। दूसरी ओर प्रतीकात्मक क्रिया एक अधिक जटिल मानसिक क्रिया है जिसमें बोध, बिम्ब एवं मानसिक विचारणा का समन्वित रूप रहता है।[1] मन की इस बिम्ब-ग्रहण की प्रवृत्ति को केनोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है—"ॐ केनेषितं पतति प्रेषितमनः[2] अर्थात् यह मन जिसके द्वारा इच्छित एवं प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है। आगे चलकर भाष्यकार शंकर ने स्पष्ट ही कहा है कि मन स्वतंत्र है और वह स्वयं ही अपने विषयों की ओर जाता है जो उसकी प्रवृत्ति ही है।"

अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रवृत्ति

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रतीक-दर्शन का विवेचन किया जा सकता है। अनुष्ठानिक चेतना में मन का केवल बिम्बग्रहण ही प्रमुख है, जबकि पौराणिक चेतना में मन का मनन करनेवाला रूप अधिक स्पष्ट है। बिम्बग्रहण और विचारात्मक क्रिया (मनन) इतनी अन्योन्य सम्बन्धित हैं कि उसे अलग करके देखा नहीं जा सकता है। परन्तु इतना कहना समीचीन होगा कि पौराणिक प्रवृत्ति में किसी वस्तु अथवा विचार के प्रकाशन में जो भी कथा का आश्रय लिया जाता है, उसमें उस वस्तु का बिम्बग्रहण तो अवश्य होता है, पर मानसिक प्रक्रिया यहीं पर नहीं रुकती है, वह उस बिम्बग्रहण में किसी भाव या विचार (अर्थ) का स्पष्टी-करण करती है। धरातल से सूक्ष्म की ओर मन की यह क्रमिक रूपरेखा प्रतीकात्मक अर्थ की अवतारणा करती है जो कि पौराणिक कथाओं का मूल ध्येय है। कठोपनिषद् में, इसी से, इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषयों को श्रेष्ठ कहा गया है, विषयों से मन को उत्कृष्ट कहा गया है, मन से बुद्धि को "पर" कहा गया है और अन्त में, बुद्धि से महान् आत्मा को कहा गया है।[3] पुराण प्रवृत्ति में मन की प्रक्रिया क्रमशः मन से बुद्धि की ओर प्रयत्नशील है जिसका पूर्ण अनुभूतिमय पर्यवसान 'आत्मक्षेत्र' में उसी समय होता है जब मन का विकास धार्मिक चेतना के सूक्ष्म-स्तर को स्पर्श करता है। अतः भारतीय मनीषियों ने मन के केवल ऊपरी सतह का ही विश्लेषण नहीं किया है, उनका मनोविज्ञान, पाश्चात्य मनोविज्ञान से कहीं अधिक सूक्ष्म है, जहाँ मन से भी सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण प्राप्त होता है।[4] इसे हम आध्यात्मिक मनोविज्ञान (Spiri-

---

१. इक्सपीरियंस एंड थिंकिंग द्वारा एच० एच० प्राइस, पृ० २८६, (लंदन १९५३)
२. केनोपनिषद्, उप० भा०, खंड १, पृ० १९ तथा २३ (सं० २०१४)
३. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महत्परः॥२०॥
—कठोपनिषद. पृ० ९१ (उप० भा०. खंड १)
४ हिन्दू द्वारा स्वामी पृ० ७८ लंदन १९५९)

की मिश्रित अभिव्यक्ति है जिससे धूम्र का वाष्पीकरण हो सके। यज्ञोपासना तप ही है जिसमे अग्नि का तपरूप ही मुखर होता है। मानव जीवन में इसी तप का मूल स्थान है क्योंकि इसी तप मे प्रजापति को सृष्टि की इच्छा (इक्षण) प्रदान की।[1] इस प्रकार अग्नि अन्तरिक्ष से लेकर पुरुष और नारी में क्रमिक विकास प्राप्त करती है और यह विकास, मूलतः, तप ही है। इस वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति उपनिषदों में प्राप्त यज्ञ के प्रतीकार्थ में निहित है। यज्ञ में आहुति डालते समय जो 'भूःभुवः स्वाहः' कहा जाता है, उसका रहस्य यही है कि आंतरिक्ष, द्युलोक तथा भूलोक मे—त्रिदेव के रूप में, यही अग्नि सर्वत्र व्याप्त हो और हम उस अग्नि की कृपा से भौतिक सुखो के साथ-साथ 'सत्य' का साक्षात्कार कर सकें। भारतीय अनुष्ठानों का मूल ध्येय यही है जैसा कि कहा गया है—

एष ह्वे यज्ञो योऽयं पवत एष ँ ह यन्निदँ, सर्व पुनाति। यदेषयन्निद् सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी।[2]

अर्थात् जो चलता है, निश्चय यज्ञ ही है। यह चलता हुआ निश्चय इस सम्पूर्ण जगत को पवित्र करता है, क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसार को पवित्र कर देता है, इसलिये यही यज्ञ है। मन और वाक्—ये दोनों उसके मार्ग। अतः यज्ञ-अनुष्ठान में मंत्रोच्चारण मे प्रवृत्त वाणी और यथार्थ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त मन—ये दोनों यज्ञ के मार्ग ही हैं। बिना मन से मनन किये केवल मात्र वाणी का दुरुपयोग करने से व्यक्ति अपने तेज को खो देता है और साथ ही अनुष्ठान की महत्ता को भी हृदयंगम नहीं कर पाता है।

पौराणिक कथाओं का प्रतीकार्थ

अनुष्ठानों के इस प्रतीकार्थ से सम्बन्धित पौराणिक-प्रतीक-दर्शन है जो मानवीय चेतना का अधिक विकसित रूप है। भारतीय पुराण-प्रवृत्ति पाश्चात्य 'मिथ' से भिन्न है। पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार पुराण-प्रवृत्ति में अद्भुत कल्पनाओं तथा परियों की कथाओं-सी अतार्किक उडान ही अधिक है। परन्तु भारतीय विचारधारा में पुराण, इतिहास हैं जिनमें मानव के आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतीकात्मक निरूपण प्राप्त होता है। पौराणिक कथाओं का प्रणयन सामान्यत किसी न किसी ध्येय अथवा रहस्योद्घाटन के लिये होता है। पुराण-प्रवृत्ति में इसी से, मन का विचारात्मक पक्ष लक्षित होता है। पौराणिक कथाओं के द्वारा, अधिकतर वेदों, उपनिषदो और ब्राह्मणादि के तात्विक संदर्भों की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्राप्त होती है जो जन-जीवन के धरातल पर अपना विकास करती है। अतः पुराण कथायें किसी संस्कृति एवं धर्म के मूलभूत दार्शनिक-विचारों को जन-साधारण में जन-गाथात्मक शैली के द्वारा हृदयंगम कराती हैं। भारतीय एवं विदेशी पुराणों में सृष्टि-कथायें, वीर पुरुषों की कथायें, देवासुर और मनु की गाथायें आदि केवल-मात्र कपोलकल्पना की उपज ही नहीं है, इन कथाओं के पीछे विविध दार्शनिक एवं तात्विक सदर्भों की प्रतीकात्मक व्यंजना प्रमुख है। ज्ञान की धारा को बढ़ाना ही इन कथाओं का ध्येय

---

१. छांदोग्योपनिषद्, चतुर्थ अध्याय, सप्तदश खंड, पृ० ४३४-४३५

२ वही चतुर्थ अध्याय षोडश खंड पृ० ४२८ उप० भा० खंड-२)

है क्योंकि प्रतीक-दर्शन ज्ञान की गरिमा को ही प्रकट करता है प्रतीकों द्वारा हम ज्ञान के तत्वों को रूप देते हैं।

देवासुर-संग्राम का जो संसार प्रसिद्ध पुराणों में एकछत्र राज्य है, उसका प्रतीकात्मक अर्थ ही अपेक्षित है। ये सारी कथाएँ कल्पना पर ही आश्रित हैं। इनका प्रतीकार्थ ही अपेक्षित है ये ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि भाष्यकार शंकर ने अपने छान्दोग्य-भाष्य में स्पष्ट संकेत किया है—

यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेवास्या एव संवादः सर्वशाखास्वेकरूपेणैव श्रूयेत् विरुद्धानेक-प्रकारेण न श्रोष्यत। श्रूयते तु तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम्।[1]

अर्थात् यदि यह संवाद (देवासुर संग्राम) हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओं में (अर्थात् सभी उपनिषदों में) एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से नहीं। परन्तु ऐसा सुना ही जाता है, इसलिये संवाद श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में नहीं है। यही बात अन्य पौराणिक उपाख्यानों के लिये सत्य है। इसी प्रकार सृष्टि-गाथाओं में जहाँ एक ओर विश्व-विकास का क्रमिक रूप प्राप्त होता है, वहाँ पर परम तत्त्व 'ब्रह्म' के एकत्व का विविधरूपों में संकेत प्राप्त होता है। उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि-विषयक वृहद् कथाओं का विकास सम्भव हो सका है। इन सृष्टि-उपाख्यानों का रहस्य माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है—

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥[2]

अर्थात् (उपनिषदों में) जो मृत्तिका, लौहखंड और विस्फुलिंगादि दृष्टान्तों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है, वह (ब्रह्म की एकता में) बुद्धि के प्रवेश कराने का उपाय है, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है। इस दृष्टि से, सृष्टि गाथाओं का ध्येय, उपनिषदों के अनुसार, जीव एवं परमात्मा का एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि का निर्माण है जिससे कि मानव, सृष्टि के रहस्य का अनुशीलन कर सके।

दूसरा तथ्य जो इन सृष्टि-कथाओं से ध्वनित होता है, वह है मिथुनपरक सत्य का प्रतिपादन। प्रजापति, जो उपनिषदों में अद्वय तत्त्व है, वही अपनी 'ईक्षण' से विभक्त होकर सृष्टि-कार्य में संलग्न होता है। यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा एवं नारायण के प्रतीक हैं। यह प्राणि-शास्त्र का अनादि नियम है कि सृष्टि चाहे वह कैसी भी हो, अकेले नहीं हो सकती, उसमें 'दो' की सहकारिता आवश्यक है। अवतार तथा लीला भावनाओं में इस मिथुन-तत्त्व का विशेष स्थान है। अवतार में 'एक' का महत्त्व 'दो' की धारणा में निहित है और यही कारण है कि देवताओं के साथ देवियों की परिकल्पना की गई है। इसी मिथुन रूप के सात्त्विक प्रतीक प्रकृति-पुरुष, मन-वाक्,

---

१. उपनिषद्भाष्य, खंड २, पृ० १४५-१४६ (छांदोग्योपनिषद्)
२ माण्डूक्योपनिषद्, पृ० १४४ (उप० भा० खंड २)

श्री-नारायण, शिव-शक्ति, ब्रह्मा-सरस्वती आदि हैं। छांदोग्योपनिषद् ने जो अंडे से सृष्टि का क्रम-वर्णन किया है,[१] उसमें भी अपरोक्ष रूप से, मिथुन तत्त्व का समावेश प्राप्त होता है, पर प्रधानता एक 'तत्त्व' की अधिक है जिससे सम्पूर्ण चराचर विश्व उद्भूत हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि या सर्ग, कार्यकारण की भावना को 'आदिकारण' के अभिव्यक्तीकरण के रूप में स्पष्ट करता है। इस समस्त चराचर प्रकृति में एक ही परमज्योति का स्पन्दन है। अतः सर्ग अनेकता में एकता की भावना को चरितार्थ करता है। इसी कारण पुराणों की कल्पनाप्रसूत सर्ग-कथाओं में आदि-तत्त्व ब्रह्म का व्यक्तिकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त, ये सर्ग-कथायें मानव-मन के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती हैं। मानव-उदय के साथ चेतना का विकास अधिक ऊर्ध्व क्षितिजों की ओर प्रयत्नशील होता है जिसे उपनिषद्-साहित्य में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं की संज्ञा दी गई है। भारतीय सृष्टि-कथाओं का महत्त्व इसी बात में है कि उनके द्वारा निम्नतर पदार्थों से लेकर उच्चतम विकासशील मानव नामधारी प्राणी के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

धार्मिक-प्रतीक-दर्शन

पौराणिक क्षेत्र मे मन की जिस विचारात्मक प्रकृति का विकास शुरू हुआ था, वह धार्मिक प्रतीकों के क्षेत्र में अपने उच्चतम रूप में प्राप्त होता है। उपनिषद् साहित्य में प्राप्त जिन धार्मिक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है, उनमें विचार तथा धारणा का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। इसी से, रिट्ची का मत है कि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है।[२] यह विचार तथा धारणा मूलतः अनेक देवी-देवताओं के स्वरूप-विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसी तथ्य को कदाचित् ध्यान मे रखकर धार्मिक देवी-देवताओं के प्रति छांदोग्य-उपनिषद् का निम्न श्लोक उनके प्रतीकार्थ को चिंतन का विषय घोषित करता है——

"यस्यामृचि तामृचं यदार्षेय तामृषि यां देवतामभिष्टोप्यन्स्यातां देवतामुपधावेत्।[३]"

अर्थात् (वह साम रूप रस) जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो, उस ऋचा का, जिस ऋषिवाला हो, उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करनेवाला हो, उस देवता का चिंतन करें। तत्त्वतः धार्मिक प्रतीकों का रहस्य उनके चिंतन करने में समाहित है। यह चिंतन मानव-मन की वह सबल प्रक्रिया है जो धारणा के स्वरूप को व्यक्त करती है। यही कारण है कि धार्मिक प्रतीकों में दार्शनिक भावभूमि का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो उन प्रतीकों के 'अर्थतत्व' की आधारशिला है।

उपनिषद्-साहित्य में अनेक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है जो धार्मिक एवं दार्शनिक भावभूमियों को स्पष्ट करते हैं। ऐसे विचारात्मक प्रतीकों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं——

(१) आदर्श अपरलोकों की धारणा

---

१. छांदोग्योपनिषद् पृ० ३४३-३४६ (उप० भा०, खंड ३)
२. द नेचुरल हिस्ट्री आफ माइंड द्वारा ए० डी० रिट्ची. पृ० २१
३ ,प्रथम अध्याय, तृतीय खंड पृ० ७४, श्लोक १ (उप० भा० खंड ३)

(२) अन्तर्दृष्टिपरक प्रतीक

१. आदर्श अपरलोकों की धारणा

चार-लोक—जब मानवीय चेतना दृश्यमान जगत् के पीछे रहस्य को जानने के लिए प्रयत्नशील हुई, तब उसने अनेक ऐसे लोकों की कल्पना की, जहाँ मृत्यु के बाद जीवन की भावना ने एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। मानव-मन यह प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के पश्चात् जीवन का क्या स्वरूप होता है ? इस जिज्ञासा के फलस्वरूप सभी धर्मों में स्वर्ग की कल्पना का उदय हुआ; "मृत्यु के परे" की भावना इसाई प्रतीकवाद की मूल आधारशिला है। हमारे यहाँ स्वर्गलोक से भी ऊपर अन्य लोकों की भावना प्राप्त होती है जो आध्यात्मिक दृष्टि से मानवीय चेतना के ऊर्ध्व-गामी अभियान-से प्रतीत होते हैं। हमारे यहाँ चार देवता प्रमुख हैं—इन्द्र, शिव, विष्णु और ब्रह्मा और उनके साथ क्रमशः चार लोकों—स्वर्ग, कैलाश, वैकुंठ और ब्रह्म लोकों की कल्पना की गई। इन चार लोकों के आदर्शीकरण में 'सत्यलोक' का स्थान सबसे प्रमुख है। ये सभी लोक आनन्द के क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से ये लोक, जो पृथ्वी से ऊपर माने गए हैं, वे मूलतः ऊर्ध्व-वातावरण के स्तरात्मक विभाग हैं। जिस प्रकार आकाश के वाता-वरण में निम्नतर स्तर अधिकतम सान्द्रयुक्त (डेन्सर) माना जाता है और जैसे-जैसे हम वातावरण (आकाश तत्त्व) के ऊपर जाते हैं, वैसे-वैसे 'भार' की मात्रा भी कम होती जाती है। इसी प्रकार इन्द्रलोक से लेकर सत्यलोक तक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर भार की न्यूनता प्राप्त होती है।

इन आदर्श-लोकों की धारणा में धार्मिक भावना का वह रूप प्राप्त होता है जो आत्मा के आनन्दपरक स्तरों का उद्घाटन करता है। यही कारण है कि उपनिषदों में स्वर्ग की भावना में 'आनन्द' का परिवेश है। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—

> स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
> उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥[2]

अर्थात् स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है। वहाँ आप का भी वश नहीं चलता। वहाँ कोई वृद्धावस्था से भी नहीं डरता। स्वर्गलोक में पुरुष भूख-प्यास दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठकर आनन्दित होता है। अस्तु, भारतीय धर्म में जितने भी आनन्द लोक हैं, उनके अंतराल में उपनिषद् का यह कथन अनुस्यूत प्राप्त होता है।

चार लोकों में ब्रह्मलोक सर्वोच्च है। यह सत्य का धाम है। उपर्युक्त तीन लोक (स्वर्ग, कैलाश, वैकुंठ) उस भूमिका को प्रस्तुत करते हैं जो 'आत्मा' को सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। इसी से, बृहद्-उपनिषद् में सत्य की मीमांसा इस प्रकार की गई है—

---

१. इनसाइक्लोपीडिया आफ इथिक्स एंड रिलीजन, वाल्यूम १२, क्रिश्चियन सिम्बालिज्म (न्यूयार्क १९२१)

२ कठोपनिषद्, पृ० २०, श्लोक १२ प्रथम अध्याय, प्रथम वल्ली

इद सत्यँ सर्वेषा मूताना मध्यस्य सत्यस्य सर्वाणि मूतानि मधु

अर्थात् यह सत्य समस्त मूर्तों का मधु है और समस्त मूत इस सत्य के मधु हैं। इस कथन मे उपर्युक्त तीन लोकों (भूत रूप) का अंतिम पर्यवसान 'सत्य लोक' में होता है क्योंकि यही लोक समस्त लोकों का मधु है,—सारतत्त्व है,—परम ज्ञान का प्रतीक है। इसी से, ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती ज्ञान की प्रतीक हैं। यही वह स्थान है जहाँ मानवीय-मन अपने उच्चतम गंतव्य-अतिचेतना के स्तर को स्पर्श करता है और इस प्रकार, 'दिव्य-पुरुष' का आविर्भाव होता है।[२]

सप्तलोक की धारणा

वैदिक धर्म में, सप्तलोक की धारणा के प्रकाश में अन्य सप्तक कल्पनाओं का रहस्य जाना जा सकता है। सप्तलोक, सप्तसिंधु, सप्तर्षि, सप्तस्वर, सप्तपाताल, सप्तदिवस, सप्तान्न की भावनायें, मूलत मानव-मन के आध्यात्मिक स्वरूप के प्रतिरूप हैं।

सप्त की धारणा का रहस्य "प्राण-विज्ञान" है क्योंकि भारतीय चिंतन मे प्राण को आत्म-रूप ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया है। समस्त इन्द्रियां प्राण की ही रूपांतर हैं। इसी से प्राण की समष्टि-भावना में समस्त 'इन्द्रिय-संघात शरीर' की परिणति प्राप्त होती है। शंकराचार्य ने वेदांत-भाष्य के अन्तर्गत कहा है कि 'शिशु-प्राण' का यह शरीर अधिष्ठान है क्योंकि इसमे अधिष्ठित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयों की उपलब्धि का द्वार होती है।[३] प्राण को नाना रूपों वाला "यश" की संज्ञा भी दी गई है।[४] यह यश क्या है? चमस रूप शिर में विश्वरूप यश निहित है। अतः यश के नाना रूप प्राण के ही अंग हैं। प्राण की संख्या सात मानी गई है—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना। ये सातों इन्द्रियाँ प्राण की 'अन्न' होकर ही अवस्थित रहती हैं जिसका यही अर्थ है कि सप्त इन्द्रियों का अन्योन्य सम्बन्ध प्राण के द्वारा ही कार्यान्वित होता है। इसी से, इन प्राणों को सप्तान्न भी कहा गया है। वृहद् उपनिषद् में प्राण की इसी सर्वव्यापकता को आधिदैविक रूप देने की लालसा से उन्हें सप्तर्षि भी कहा गया है जो मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। उपनिषद् कहता है—"ये दोनों (कान) ही गौतम और भारद्वाज हैं, यह ही गौतम है और दूसरा भारद्वाज। ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, यही विश्वामित्र है और दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों नासारन्ध्र ही वशिष्ट और कश्यप हैं, यह ही वशिष्ट है, दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, वह निश्चय ही 'अत्ति' नामवाला है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भक्षण करनेवाला) होता है, सब उसका अन्न हो जाता है।[४] यह सप्तर्षि-मंडल मानवीय भौतिक-पक्ष का उन्नायक रूप है। यह घोषित करता है कि प्रत्येक भौतिक अंश का उसी

---

१. वृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० ५९२, श्लोक १२, द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण (उप० भा० खंड ४)

२. उपनिषद् भाष्य, खंड ४, पृ० ५०४

३. वृहद्-उपनिषद्, पृ० ५०८-५०९, श्लोक ३ (उप० भा० खंड ४) सं० २०१४

४ वृहद् उपनिषद् पृ० ५१० श्लोक ४ उप० भा० खंड ४)

समय सत्य महत्त्व होगा जब वे दिव्य देव ऋषियों से गृहीत मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी अभियानों में योगदान दे सकेंगे। प्रत्यक्षतः मुख्य-प्राण ही है, जो सभी [illegible] (इन्द्रियों) को एक संतुलन प्रदान करता है। जो इस प्रकार इस प्राण को जानता है, वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। हिन्दू दार्शनिक विचारधारा में सभी सम्यक् आत्मवादी इसी सत्य-प्राण की विवेचना करती है जिससे सत्य का साक्षात्कार हो सके। बृहद् उपनिषद् में स्पष्ट रूप से, प्राण को देवता कहा गया है जो इन्द्रियरूप-देवताओं के पाप रूप मृत्यु को दूर करके फिर इन्हें मृत्यु के पार ले जाता है।[1]

इस सप्तक धारणा का पर्याय हमें सूफी साधना के सात-मुकामातों में भी मिलता है। एक अन्य दृष्टि से, इन सप्तकों की समानता योग प्रणाली में भी हो जाती है। योगानुसार शरीर के अन्दर सप्तखंडों या चक्रों की जो कल्पना की गई है, उनकी समानता उपनिषदोक्त सप्तक से स्पष्ट हो जाती है। सूफी साधना के सात पड़ाव एक अन्तर्दृष्टि-परक मानसिक आरोहण-अवरोहण है। राडल्फ आटो के शब्दों में यह मानसिक आरोहण ऊर्ध्व जीवन का एक नियम है, जिसका एक पृथक रूप प्रारब्ध है।[2] यही नहीं, पाश्चात्य विचारधारा में इस सप्त कल्पना का आभास रूप मिलता है। दाँते के "डिवाइन कामेडिया" में इसका एक स्थान पर संकेत मिलता है। जब महाकवि दाँते मार्जन प्रदेश (Purgatory) के सात स्तरों का परिष्कार वर्णित करता है जिसमें होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर बढ़ते हैं,[3] तब स्पष्ट रूप से, उपनिषदगत सप्तलोकों की समानता दृष्टिगोचर होती है।

सप्तक तथा चतुर्थ कल्पना के अतिरिक्त उपनिषद् में इन लोकों की भी धारणा मिलती है। इन लोकों की कल्पना में ब्रह्मलोक या आत्मलोक आध्यात्मिक आरोहण का शीर्षबिन्दु है। इस ब्रह्मलोक का संकेत याज्ञवल्क्य ने गार्गी से किया था। क्रमिक रूप से ब्रह्माण्ड का [illegible] विश्लेषण करना ही याज्ञवल्क्य को अभीष्ट था। ब्रह्मलोक से प्रथम नवलोक इस प्रकार बताए गए हैं--अन्तरिक्ष, गंधर्व, आदित्य, चंद्र, नक्षत्र, देव, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मलोक।[4] अस्तु, इन लोकों का विवेचन धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत होने के साथ-साथ एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

(२) अंतर्दृष्टिपरक-प्रतीक

इस वर्ग के प्रतीकों का धारणात्मक एवं तात्त्विक महत्त्व है। प्रायः ये सभी प्रतीक "आत्मज्ञान" की आधारशिला पर आश्रित हैं। इनमें चिंतन एवं अध्यात्म का समन्वय प्राप्त होता है। ये प्रतीक तात्त्विक चिंतन के "मधु" हैं।

भारतीय मनीषा ने मुख्य तैंतीस देवताओं का अन्तर्भाव एक ही 'परमदेव' में माना है।

---

१. वही, पृ० १२८, श्लोक १२, खंड ४
२. मिस्टिसिज्म, इस्ट एंड वेस्ट द्वारा राडल्फ आटो, पृ० १५७ (लंदन १९३२)
३. कामायनी—दर्शन द्वारा फतेह सिंह, पृ० ४०५ (कोटा सं० २०१०)
४ बृहद् उपनिषद्, श्लोक १, पृ० ७१७ (उप० भा० खंड ४)

वृहद् उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद मे विश्व में व्याप्त प्राकृतिक शक्तियो एव घटनाओं का मानवीकरण तैंतीस देवताओं में किया गया है। इनमें आठ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, दयुलोक, चंद्रमा और नक्षत्र), ग्यारह इंद्र (पुरुष की दस इन्द्रियाँ और मन), बारह आदित्य (संवत्सर के अवयवभूत १२ मास) और इन्द्र (विद्युत्) तथा प्रजापति (यज्ञ)--सब मिलाकर तैंतीस देवता माने गये हैं। इनका पर्यवसान 'एकदेव' की धारणा मे किया गया है जिसे ऋषि ने 'प्राण'---वह ब्रह्म है, उसी को त्यत् (ब्रह्म) ऐसा कहते हैं---[1] के द्वारा निरूपित किया गया है। परन्तु इस एकदेव की धारणा में अन्य देवों की क्रमिक परिणति होती है---तैंतीस से छः, छः से तीन, तीन से दो, दो से डेढ़, और डेढ़ से एक की धारणा का विकास होता है।[2] धार्मिक प्रतीकों के अनेकानेक रूप भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। 'ब्रह्म' की धारणा मे यह 'सत्य' अन्तर्हित है।

ब्रह्म-द्योतक-प्रतीक

ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सृजनात्मकता और सापेक्षता-निरपेक्षता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उपनिषदों में अनेक शब्द-प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत की गई है। ऐसे शब्द प्रतीक है---ओउम्, खं, वृक्ष तथा यक्ष।

ब्रह्म के दो रूप हैं---अक्षर और क्षर, सत् और त्यत्, एवं 'ॐ' अक्षर में इसी 'अपर' और 'पर' 'ब्रह्म' का समन्वय है। 'ब्रह्म' के 'अपर' रूप को केवल प्राप्त किया जा सकता है और 'पर' रूप को जाना जा सकता है। यही कारण है कि ब्रह्म के पर या क्षर रूप के अनेक प्रतीकगत अवतारो का भक्त-कवियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। श्रीलोकमान्य तिलक का इसी से यह मत है कि उपासक का अंतिम ध्येय ज्ञान प्राप्त करना है। यही कारण है कि परमेश्वर के किसी अवतार का महत्त्व, उपासक के लिये, एक प्रतीक का कार्य करता है।[3] ॐ, ओंकार, प्रणव, उग्दीथ--ये अक्षर, ब्रह्म के ज्ञान को ही प्रस्फुटित करते हैं। ये अक्षर वाच्य रूप में ब्रह्म के नाम ही हैं। यही कारण है कि प्रतीक रूप 'नाम' का महत्त्व नामी के समान ही माना गया है और हमारे भक्त कवियों ने 'नाम' को 'नामी' से भी अधिक महत्त्व दिया है। इस 'नाम' तत्त्व में वाणी से उद्भूत शब्द-ध्वनि का रूप प्राप्त होता है। इनके उच्चारण में शब्द का ध्वनि विषयक प्रतीकार्थ है। समस्त सृष्टि में ध्वनि की व्याप्ति है जो आधुनिक भौतिक-विज्ञान की भी मान्यता है। वाणी के विकास में शब्द का उच्चारण, ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है।[4] हिब्रू धर्म में "जिहोव्ह" की धारणा में इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।[5] इसी कारण से माण्डूक्योपनिषद् में 'ॐ' अक्षर को सब कुछ कहा गया

---

१. बृहद् उपनिषद् पृ० ७८५-७९४, नवम ब्राह्मण, तृतीय अध्याय
२. तैत्तिरीयोपनिषद्, पृ० ९७, श्लोक १, ब्रह्मानन्द बल्ली (उप० भा०, खंड २)
३. गीतारहस्य द्वारा तिलक, पृ० ५७७-५७८, वाल्यूम १ (पूना १९३१)
४. द मीनिंग आफ मीनिंग द्वारा आइजन रिचार्ड्स---परिशिष्ट, पृ० ३०७ (लंदन १९४६)
५ हिब्रू मैनर्स, कस्टम्स एंड सरीमनीज द्वारा क्यूबिम्स पृ० २०९ (आक्सफोर्ड १९०६)

के कारण है जिसकी व्याख्या महाप्रभु ने इस प्रकार की है मिति मान को कहते हैं जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकार का बाट) से जो तौले जाते हैं उसी प्रकार प्रलय और तेजस मापे जाते हैं क्योंकि ओंकार की समाप्ति पर उसका पुनः प्रयोग किये जाने पर मानों अकार और उकार, मकार में प्रवेश कर, उससे पुनः निकलते हैं।[1]" इस विवेचन से सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति का अंतिम पर्यवसान 'मकार' तत्त्व में हो जाता है। पुनः जब सृष्टि का उन्मेष एवं सृजन होता है, तब 'मकार' से दोनों सृष्टि-तत्त्व वहिर्गामी होते हैं। शिव की दो शक्तियों—संहार एवं लय का यहाँ स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो उसके रुद्र एवं महेश रूप के प्रतीक है। इसी का प्रतीकात्मक निर्देश माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—"सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह व इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।[2]" अर्थात् सुषुप्त जिसका स्थान है, वह प्राज्ञ, मान और लय के कारण ओंकार की तीसरी मात्रा है। जो उपासक ऐसा जानता है, वह इस सम्पूर्ण जगत का मान-प्रमाण कर लेता है और उसका लय स्थान हो जाता है।

ओंकार के इस वर्ण-प्रतीकार्थ के प्रकाश में त्रिमूर्ति (Trinity) की धारणा का संकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। त्रिमूर्ति में अकार, उकार और मकार का क्रमशः संकेत सृष्टि, संतुलन और संहार (निलय) के रूपों में प्राप्त होता है। प्रकृति की इन तीन प्रमुख शक्तियों का मानवीकरण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा हुआ है। प्रकृति-क्रियाओं में संतुलन का रहस्य इन तीन शक्तियों के समुचित कार्य-कारण सम्बन्ध पर आश्रित है जिसका प्रतीकात्मक निर्देशन "त्रिमूर्ति" की धारणा में निहित है। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म वाचक ओंकार एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करता है। ब्रह्म का यह अक्षर 'प्रतीक' मात्रा के द्वारा ज्ञेय तत्त्व है, पर अमात्र रूप परब्रह्म में किसी की गति नहीं है। उस परमगति की प्राप्ति तुरीय आत्मा के अन्तर्गत मानी गई है जो आत्मसंज्ञक ब्रह्म का स्थान है। मात्रारहित ओंकार तुरीय आत्मा ही है।[3] इस प्रकार जो भी ओंकार के इस महत् प्रतीकात्मक अर्थ का चिंतन करता है, वह आत्मरूप ब्रह्म में ही एकाकार हो जाता है। यही मोक्ष की स्थिति है।

ओउम् के अतिरिक्त भारतीय विचारधारा में अन्य प्रतीकों की भी कल्पना की गई है। ख रूप ब्रह्म "आकाश" का पर्याय है। यही आकाश ब्रह्म ओंकार है। ब्रह्म विशेष नाम है और ख उसका विशेषण। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आकाश जड़रूप नहीं है, पर वह सनातन परमात्मा का प्रतीक है। बृहद-उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—"ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणी पुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैरनेन यद् वेदितव्यम।[4] अर्थात् "आकाश ब्रह्म ओंकार है। आकाश सनातन है जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही खं है—ऐसा कौरव्यायणीपुत्र ने कहा। यह ओंकार वेद है, ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका उससे ज्ञान होता है।" जैसा कि प्रथम संकेत किया गया

---

१. शांकर भाष्य—माण्डूक्योपनिषद्, पृ० ७२, उपनिषद्भाष्य खंड २

२. माण्डूक्योपनिषद्, पृ० ७२, श्लोक ११, आगम प्रकरण

३. माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक १२, पृ० ७६ (उप० भा०, खंड २)

४ प्रथम ब्राह्मण पंचम अध्याय पृ० ११७५

कि ब्रह्म के अपर और पर दो रूप हैं उसी प्रकार इस ओम् का सनातन रूप एक तो ब्रह्म का प्रतीक है और दूसरा, आकाशरूप वायु से युक्त शब्दात्मक रूप है। फिर कहा गया है कि ओम् ही वेद है, अर्थात् वेद ज्ञातव्य होने से ज्ञान है। अतः ओंकार वेदात्मक ज्ञान का प्रतीक भी है।

खं शब्द सनातन आकाश तत्त्व का प्रतीक है। इस आकाश तत्त्व में द्युलोक, पृथ्वी, भूत, भविष्यादि सब ओत-प्रोत हैं। परन्तु गार्गी ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया था कि "यह आकाश किसमें व्याप्त है?" इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा था कि "अक्षर से भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मंता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है।[1]"

ब्रह्म द्योतक इन अव्यक्त प्रतीकों के अतिरिक्त उपनिषद्-साहित्य में अनेक ब्रह्मद्योतक व्यक्तप्रतीक प्राप्त होते हैं यथा अक्षर पुरुष, कार्य ब्रह्म का प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष और यक्ष। पुरुष (देवरूप) ब्रह्म का वह प्रतीक है जो सर्वभूतों में व्याप्त अन्तरात्मा का प्रतीक है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि "इस देवपुरुष का अग्नि मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशायें कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण है, तथा सारा विश्व जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है वह देवपुरुष सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है। इसे ही अक्षरपुरुष कहा गया है जिससे चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।[2]" सत्य में, ब्रह्म का यह अक्षर रूप ही है जो अभिव्यक्तीकरण की ओर अग्रशील है। इसी क्षर या कार्यरूप ब्रह्म का एक अन्य प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष है। जिस प्रकार कार्य (तूल) का निश्चय कर लेने पर उसके मूल का पता लग जाता है, उसी प्रकार संसार रूप कार्यवृक्ष के निश्चय से, उसके मूल ब्रह्म का रूप हृदयंगम हो जाता है। अतः ब्रह्म और जगत का अन्योन्य सम्बन्ध है जो इस वृक्ष प्रतीक के द्वारा सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। इस वृक्ष को सनातन भी कहा गया है जिसका मूल ऊपर की ओर, शाखायें नीचे की ओर हैं। वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा गया है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही निश्चय वह ब्रह्म है।[3]" इस कथन में सृष्टि-तत्त्व का संकेत प्राप्त होता है क्योंकि उसकी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के द्वारा, सृष्टि का प्रसार ही निर्दिष्ट है। इस दृश्यमान प्रसार का अस्तित्व उसके मूल-ज्योतिस्वरूप अमृत ब्रह्म पर ही आश्रित है। काव्य में भी इस वृक्ष का प्रतीकत्व मान्य रहा है जैसा कि सुन्दरी और कबीर में प्राप्त होता है।

केनोपनिषद् की एक लघुकथा में ब्रह्म को यक्ष (श्रेष्ठ) की भी संज्ञा दी गई है। देवासुर संग्राम में ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की और अहंकारवश देवगण यह समझने लगे कि विजय उन्होंने स्वयं प्राप्त की है। तब ब्रह्म देवगणों के इस अभिप्राय को जान गया और उनके सामने यक्ष रूप में प्रादुर्भूत हुआ। 'यह यक्ष कौन है?' देवता यह न जान सके। इसके बाद क्रमशः अग्नि और वायु यक्ष के पास गए, परन्तु वे उसके सत्य रूप का साक्षात्कार न कर सके। अन्त में, इन्द्र के आने पर वह यक्ष अन्तर्धान हो गया और इन्द्र उसी आकाश

---

१. वही, अष्टम ब्राह्मण, तृतीय अध्याय, पृ० ७७८

२. मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डक, प्रथम खंड, पृ० ९७ (उप० भा०, खंड १)

३. कठोपनिषद्, तृतीय वल्ली, पृ० १४६ (उप० भा०, खंड १)

में एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री 'उमा' (.................ब्रह्मविद्या) के पास गया जिससे उसे पता चला कि यह यक्ष कोई अन्य नहीं, स्वयं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म हैं।[1] इस कथा का प्रतीकार्थ यही है कि प्रकृति शक्तियों (जिसमें अग्नि, वायु और इन्द्र है) में ये देवगण ही प्रमुख है जो किसी विशिष्ट शक्ति के प्रतीक हैं। इन देवों की यह प्रमुखता इस कारण से है कि उन्होंने सबसे प्रथम 'ब्रह्म' का सक्षात्कार "ज्ञान" (उमा) के द्वारा किया। इससे यह भी ध्वनित होता है कि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानात्मक है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त जिन विविध प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का विहंगम विवेचन किया गया है, उनका समष्टि रूप ही उपनिषद् साहित्य में प्राप्त प्रतीक-दर्शन का परिचायक है। इन सभी प्रतीको का महत्त्व धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से है, क्योंकि भारतीय धर्म तथा दर्शन में इन प्रतीको का सदा से महत्त्व रहा है। अनुष्ठान, पुराण-प्रतीक, शब्द-प्रतीक और उनका ब्रह्मद्योतक प्रतीक--- इन सभी क्षेत्रों में प्रतीक का एक क्रमिक विकसित विचारात्मक एवं धारणात्मक रूप मिलता है। उपनिषद् साहित्य के प्रतीक-दर्शन में धर्म, दर्शन और अनुभूति का एक अत्यन्त मोहक रूप मिलता है। उपनिषद्-प्रतीकों का 'सत्य' केवल वहिरन्तर नहीं है, वह अभ्यन्तर होने से 'व्यंजनात्मक' अधिक है। यही बात कला और साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों के लिये भी सत्य है। डा० राधाकृष्णन् ने एक स्थान पर इसी सत्य की ओर संकेत किया है कि "यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नही है। वह अनन्त का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा स्वीकार करते हैं जो 'परम-सत्य' के साक्षात्कार करने का माध्यम है।"[2] अतः उपनिषद्-प्रतीकों का महत्त्व आत्म-सज्ञक ब्रह्म की अनुभूति करने में निहित है जिससे मानवीय-चेतना का ऊर्ध्वगामी आरोहण हो सके। इस प्रकार प्रतीकों का ध्येय मानवीय चेतना को 'श्रेय' की ओर अग्रसर करना है। भारतीय चिन्तन में 'धर्म' का अर्थ धारण करना है और इस धारण की भावना का मुख्य कार्य है, मनुष्य मात्र को श्रेय की ओर ले जाना। अतः धर्म, अपने प्रतीकों के द्वारा मानव-आत्मा को श्रेय की ओर ले जाता है। वृहद् उपनिषद् में कहा गया है—"स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्म [3]" अर्थात् तब भी ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने श्रयरूप धर्म की अतिसृष्टि की।

उपनिषद्-साहित्य में प्रतीक-दर्शन मूलतः ज्ञानपरक है। ज्ञान का ध्येय नित नवीन अभियानों का साक्षात्कार है, वह एक गतिमान चिन्तन कहा जा सकता है। यही कारण है कि इन प्रतीकों में अव्यक्त विचारों (Abstraction)तथा धारणाओं का समष्टीकरण प्राप्त होता है। अतः उपनिषद् प्रतीकों का स्वरूप संकल्पात्मक (Affirmative) है। इससे यह भी सकेत प्राप्त होता है कि प्रतीक-दर्शन की समस्त आधारशिला उनके उचित प्रयोग अथवा विवेचन पर भी आश्रित है। इसी समुचित विवेचन पर प्रतीक का अर्थ निहित रहता है, वह केवल कल्पना एव रुढ़िवादिता के दायरों में आबद्ध नहीं रहता है। उपनिषद प्रतीक-दर्शन इसी तथ्य को समक्ष रखता है जिसकी आधारशिला पर मैंने अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

---

१. केनोपनिषद् तृतीय खंड, पृ० १०७-१२२ (उप० भा०, खंड १)

२. रिकवरी आफ फेथ द्वारा डा० राधाकृष्णन्, पृ० १५२ (लंदन १९५६)

३ बृहद् उपनिषद, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण, पृ० २९२

अपभ्रंश कथाकाव्य और भविसयत्तकहा

प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन

कथा भारतीय साहित्य का अत्यन्त प्राचीन अंग है। कथा पहले है काव्य बाद में। बात या वस्तु पहले कही जाती थी, वर्णन उसका बाद में किया गया। कथा का सबसे पुराना नाम आख्यान मिलता है। कई पौराणिक कथाओं के बीज हमें वैदिक आख्यानों में बिखरे हुए मिलते हैं। इन आख्यानों का सम्बन्ध दैवी तथा अतिमानवीय घटनाओं से है। कालान्तर में लौकिक घटनाओं का समावेश भी उनमें यथास्थान हुआ है। इन कथाओं का प्राचीन काल में इस देश मे अत्यन्त महत्त्व था। समाज में वे आदर से कही-सुनी जाती थीं। आज भी भारतीय जनता की इन पर अटूट-श्रद्धा है। इन कथाओं के मुख्य तीन रूप देखे जाते हैं—धार्मिक, ऐतिहासिक और प्रेमात्मक।

यद्यपि कथाएँ रूपक-मात्र हैं। कथा के बहाने धर्म, नीति एवं उपदेश का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु भारतीय-संस्कृति तथा समाज का भीतरी-बाहरी चित्र स्वाभाविक रूप में उनमें प्रतिबिम्बित है। वस्तुतः आख्यान एवं कथाएँ श्रुति का अंग बनकर प्रचलित रही हैं। वेदकाल से लेकर पुराण युग तक उनमें बहुविध विकास हुआ है।[1] उनके अनुरूप ही नई आख्यानों की रचना समय-समय पर होती रही है। उनमें लोकजीवन का पुट होने पर भी वे धार्मिक युगों से पूर्णरूपेण सम्बन्धित होते थे। उनमें इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता थी। उपनिषदों की शैली इनसे भिन्न है। वे सूत्रात्मक हैं, किन्तु पौराणिक रचनाएं इतिवृत्त को लेकर विकसित हुई हैं। कुछ इतिवृत्त तो घटनाएँ मात्र हैं। अनुमान है कि पौराणिक काल में लोक-परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त जिन किवदन्तियों का चलन था, सम्भवतः उन्हें आगे चल कर कथा का चोला मिला और वे कथा नाम से विश्रुत हुईं। भारतीय-जीवन में आज भी ऐसी कथाएँ लोक-परम्परा का अंग बनी हुई हैं जिनमें वीर-पूजा, धार्मिक प्रभावना और सामाजिक घटनाओं का यथातथ्य वर्णन है। यही नहीं, अधिकांश आधुनिक भारतीय प्रबन्ध काव्यों की कथावस्तु लोकप्रख्यात वस्तु है।

प्रत्येक देश में कथाओं का प्रचलन मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर या अन्य किसी धार्मिक स्थान से हुआ है, जहाँ समाज मिलकर प्रेम-सूत्र का अनुबन्धन करता था। लोकवर्ती परम्परा में कथातत्त्व अत्यन्त विकसित हुआ है। जातीय भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का एक ऐसा योग कथाओं से मिल गया है कि वे कथाएँ बनकर जन मानस में व्याप्त हो गई हैं। केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, पाश्चात्य एवं योरोपीय साहित्य में भी लोक-गाथाओं के माध्यम से धार्मिक भावनाओं का प्रचार हुआ है। लोक-वार्ताएँ ही धार्मिक आख्यानों तथा स्मृतियों का परिधान धारण कर ग्रंथों में प्रतिष्ठित

---

१ एम० एम० [illegible], भूमिका, पृ० १५

दिखाई देती हैं। वैदिक युग के पूर्व भी वार्ताएँ श्रुति के रूप में प्रचलित थीं। मिश्र, इजिप्ट, चीन तथा अन्य देशों की अवदान कथाएँ मौखिक ही वर्षों तक लोक-जीवन में सुरक्षित रही है।[1] श्रुतियों और स्मृतियों में आख्यानों का यही रूप मिलता है। उनका परवर्ती विकास पौराणिक रचनाओं में सुरक्षित है। रोम, मिश्र, चीन, भारत आदि देशों में देवी-देवताओं की मान्यता प्राग्-ऐतिहासिक काल से बराबर बनी हुई है। इस सृष्टि का जन्म प्रायः सभी किसी देवी या देवता से हुआ मानते हैं। ऋग्वेद में ही देवत्व की प्रतिष्ठा एव स्थापना हो गई थी।[2] पुराणों में ऐसी कई रूपक कथाएँ मिलती हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्व बीज रूप में निहित हैं। इसलिए समाज मे आज भी वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय वाङमय में राम और कृष्ण जैसे आख्यान लोकप्रिय बने हुए हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि साहित्य की यह विधा लोक-वार्त्ताओ से विकसित हुई है। भारतीय साहित्य की भाँति अन्य भाषाओं के साहित्य में भी जातीय अभिप्राय (national motifs) लोक-वार्त्ताओं से ग्रहण किए जाते रहे हैं।[3] अनन्तर आख्यायिकाओं और कथाओं के वे ही अंग-रूप बन गये हैं।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शन्तनु आदि की कथाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है।[4] आख्यानों की दृष्टि से व्याख्या करने वालों को ऐतिहासिक कहा गया है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि लोक प्रचलित आख्यानों को इतिहास के रूप में माना जाता था। ब्राह्मणों में उपलब्ध आख्यान शब्द इतिहास-वाचक है। निरुक्त मे इतिहास और आख्यान शब्द सम्भवतः एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। आख्यान शब्द का स्पष्ट उल्लेख उसमें मिलता है।[6] निरुक्तकार ने प्रसंगवश ही ऐतिहासिको का मत दिया है। 'बृहद्-देवता' में कई वैदिक आख्यानों का सुन्दर संकलन है। मूल रूप में साहित्य आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक, कल्पित तथा निजन्धरी वृत्तों को लेकर ही भारतीय साहित्य की सृष्टि हुई है। साहित्य मात्र मे धार्मिक आख्यान और वृत्त अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाओं से अनुरंजित है। फिर कथन में भी भेद लक्षित होता है। साहित्य के अन्य अंगों की रचना इसीलिए सम्भव हो सकी है। शैली भेद से ही आख्यान, आख्यायिका तथा कथा आदि का नामकरण हुआ। इन तीनों का विकास एक ही परम्परा में हुआ प्रतीत होता है। इतिहास और पुराण भी इसी श्रेणी के हैं।[7] आख्यानो का वास्तविक विकास पुराणों में मिलता है। निजन्धरी तथा लौकिक कथाओं को लेकर विचारो

---

१. लॉरोसी—इनसाइक्लोपीडिया ऑव माइथॉलाजी, पृ० ९

२. त्रिवेणी प्रसाद सिंह—हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ११२, प्रथम संस्करण

३. डा० सत्येन्द्र—मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० ५२

४. यास्क—निरुक्त, अ० २, पाद० ३, खंड १२, २४

५. "तत्रैतिहासमाचक्षते। यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव तत्र इममितिहासं पुरावृत्तं निदानभूतमाचक्षते आचार्याः कथयन्ति। तथाहि—विश्वामित्र ऋषि, सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।"—निरुक्त, अ० २, पा० ७, खं० २४, दुर्गाचार्य की टीका।

६. दे०, वही, अ० ५, पा० ४, खं० २१

७ पुराणेभ्यश्च इति महाभाष्य पा० ४ २ ६०

का अच्छी उद्भावना पुराणों में है। विविध साहित्यिक अंगों की रचना और विधाओं (trends) का प्रस्फुटन हमें पुराण साहित्य में मिलता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि में सुन्दर आख्यानों के साथ काव्य सौष्ठव भरपूर है। उनमें आख्यान तथा उपाख्यान अंगों के बीच चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। पुराणों की संख्या अठारह है।[1] उनका स्रोत वैदिक आख्यानों में निहित है। मन्त्रभाग और विधि तत्त्व भी पुराणों के मूल में संचित दिखाई देते हैं। मूल रूप में कुछ देवी-देवताओं को लेकर ही पुराणों की रचना हुई है। पुराणों में अग्नि, विष्णु और शिव की उपासना ही मुख्यतः वर्णित है। लिंग, स्कन्द और अग्निपुराण में अग्नि तथा ब्रह्म, पद्म, विष्णु, नारद, ब्रह्मवैवर्त, वराह, एवं वामन में विष्णु तथा मार्कण्डेय और शिव पुराण में शिव की भक्ति का वर्णन है। बाद में उनके साथ कई प्रकार के आख्यान जुड़ते गये तथा कई अति मानवीय गुणों को नवीन आख्यानों का ढाँचा दिया गया। किसी न किसी रूप में वे लोक परम्परागत किंवदन्तियों में प्रचलित रहे थे। उन आख्यानों के सूत्र ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। यद्यपि पौराणिक आख्यान मानव जीवन को लेकर रचे गये हैं, किन्तु अति लौकिक घटनाओं का समावेश भी इनमें प्रचुर मात्रा में है। उपनिषद्कालीन विचारधारा में आत्मतत्त्व को समझाने के लिए उदाहरण शैली का विकास हो गया था। पुराणों में इन दोनों पद्धतियों का सुन्दर मेल दिखाई देता है। पुराणों की यह विशेषता प्रत्येक देश, जाति एवं समाज के पौराणिक-आख्यानों में देखी जाती है। रामायण और महाभारत बनने के पूर्व भी राम और कृष्ण की कथाएँ लोक-जीवन में व्याप्त थीं। महाभारत में कई कथाओं और आख्यानों का सुन्दर मेल दिखाई देता है। विश्व में महाभारत से बढ़कर कोई कथाकोश नहीं मिलता। रामायण में भी विविध अवान्तर कथाओं का संकलन है। किन्तु महाभारत उपाख्यानों से भरपूर है।[2] 'ज्ञातृधर्मकथा' में भी अनेक दृष्टान्तात्मक कथाएँ मिलती हैं। द्वादशांग में 'ज्ञातृधर्मकथांग' अत्यन्त उपादेय तथा सुरुचिपूर्ण माना गया है क्योंकि इन कथाओं में तत्त्वावबोध की सुन्दर संयोजना दृष्टान्तों के माध्यम से हुई है। ये मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखी गई हैं। इनमें लोक-जीवन का पूरा पुट मिलता है। इनको पढ़ने पर वही आनन्द मिलता है जो जातक कथाओं में अनुस्यूत है। पूर्ववर्ती ग्रन्थों में यह बात नहीं है। 'निर्युक्तियों' में अनेक कथानक तथा उपाख्यान प्राप्त होते हैं। व्याख्या भाग को पृथक् कर देने पर कई सुन्दर आख्यान

---

१. ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा,
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम्।
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा,
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं तथा॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दमत्र त्रयोदशं,
चतुर्दशं वामनं तु कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम्।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परं,
अष्टादशपुराणानां नामधेयानि यः पठेत्....॥४॥

२. चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः। १,१०१

निर्युक्तियों और चूर्णियों मे दिखाई देते हैं जैन शास्त्रों में कई प्रकार की कथाओं का यथ स्थान उचित सन्निवेश हुआ है जिनमे व्रत उपवास आदि धार्मिक आचार तथा ज्ञान का माहात्म्यवर्णित है। डा० उपाध्ये ने ऐसे ही सोलह कथाकोशों का परिचय दिया है।[१] हरिषेण की 'धम्मपरिक्खा' हरिभद्रसूरिका धूर्ताख्यान, राजेशखर सूरि का प्रबन्धकोश, जिनेश्वरसूरि का कथाकोष प्रकरण आदि इसी परम्परा की रचनाएँ हैं।

पुराणों की भाँति 'बृहत्कथाकोश' में इतिहास और आख्यान से समन्वित सुन्दर रचनाएँ मिलती हैं। जैन साहित्य में कई कथा संग्रहों का पता लगता है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, कन्नड़ आदि भाषाओं में कई कथा ग्रन्थों की जानकारी मिलती है। मुनि सिंहसूरि का 'वृहदाराधना' कथाकोश प्राकृत में लिखा गया है, जिसकी टीका कन्नड़ में प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ चार हजार श्लोक प्रमाण है। इसमें पन्द्रह कथाएँ निबद्ध हैं। अपभ्रंश में श्रीचन्द्र-कृत 'कथाकोश' उपलब्ध है, जिसकी रचना तिरपन संधियों में हुई है। 'पुण्याश्रवकथा' भी कोश की भाँति अपभ्रंश में लिखित कई कथाओं का संग्रह है।

गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखित 'वड्ढकहा' लौकिक आख्यानों का मनोहर संकलन है। जनरुचि के अनुसार जनभाषा में लिखा गया यह कथाकोश भारतीय जीवन मे अत्यन्त प्रचलित रहा है। कथासरित्सागर उसी का संक्षिप्त संस्करण मात्र है। उसमें कथातत्व को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए ही काव्यांश की संयोजना हुई है।[२] प्राकृत में कथाएँ इसी शैली में लिखी गई उपलब्ध होती हैं। क्षेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथामंजरी' और बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथा श्लोकसंग्रह' बृहत्कथा के ही अन्य संस्करण हैं।[३] इसी प्रकार जातकों तथा अवदानों के भी कई संग्रहों का पता लगता है। चीनी भाषा में भी उनके कई संस्करणों की जानकारी मिलती है। इसी परम्परा में आगे चलकर भोजप्रबन्ध, वैतालपंचविंशतिका, सिंहासन, द्वात्रिंशिका आदि रचनाएं लिखी गईं। हिन्दी मे इनको आधार मानकर शुकबहतरी, माधवानलकामकन्दला, सुदामाचरित जैसी लोक-कथाएँ लिखी जाती रही हैं, किन्तु पंचतन्त्र की शैली उन सबसे भिन्न है। उसमें लोक ज्ञान का पूरा पुट दिया गया है। यद्यपि दशकुमार चरित की रचना प्रौढ़ है; किन्तु कथाओं में सामन्तवादी भावना तथा शास्त्रीय प्रवृत्तियों का समावेश नहीं है। उसमे लोक-जीवन तथा समाज की पूरी झलक मिलती है। सम्भवतः बाणभट्ट तथा वसुबन्धु की कथाएँ भी इसी परम्परा की है। इन कथाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा का मूल जन-जीवन में सुरक्षित रहा है। जन-

---

१. देखिए, 'बृहत्कथाकोश' की भूमिका

२. यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
अन्थविस्तर संक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना॥
वैदग्ध्य ख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किन्तु नाना कथाजालस्मृति सौकर्य सिद्धये॥—कथासरित्सागर, १।१०-१२

३ वाचस्पति गरोला संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ९१९

वार्ताओं से ही उनकी सृष्टि हुई है। जहाँ अति मानवीय घटनाओं का संयोग हो गया है, वहाँ वे धार्मिक आख्यान बनकर पुराणों में एवं पौराणिक रचनाओं में निरूढ हो गई हैं। अतएव उनमें कथा का वह शुद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता जो लोक-साहित्य में देखा जाता है। वैदिक युग में असुर एवं दानवों से सम्बन्धित कई कथाएँ जन-जीवन में प्रचलित रही हैं।[1]

हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना लोक-कथाओं को लेकर ही हुई है। प्राकृत में ऐसी रचनाओं की एक लम्बी सूची मिलती है। मुख्य प्रेमाख्यानक रचनाएँ इसी प्रकार है— सुरसुन्दरी चरिउ (धनेसर सूरि) भुवनसुन्दरी चरिउ (विजयसिंह) रयणसेहरकहा (जिनहर्ष गणि), तरंगवई (पादलिप्तसूरि) लीलावई (कोऊहल) तथा मलयसुन्दरी कथा आदि। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति गुजराती भाषा में भी प्रेमाख्यानक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। कवि धाहिल रचित 'पउमसिरिचरिउ' अपभ्रंश का प्रसिद्ध प्रेमाख्यानक काव्य है। सन्देशरासक एक सबसे भिन्न प्रकार की रचना है। वस्तुतः वह सन्देश-काव्य है।[2] सन्देश-काव्यों की रचना मुख्य रूप से संस्कृत से प्राप्त होती है। लोक-शैली में कथानकों को ढाल कर संवाद तथा सन्देश की अभिव्यक्ति परवर्ती विकास कहा जा सकता है। उपलब्ध प्राकृत-साहित्य मुख्यतः कथा और चरित काव्य साहित्य है। प्राकृत का कथा साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। उसमें दृष्टान्त, अर्थकथा, धर्मकथा, परिकथा, आख्यान, आख्यायिका, अनुयोग पृच्छा, चरित, प्रबन्ध तथा उपन्यास आदि बीसियों रूप मिलते हैं। मूलतः कथा और चरित काव्यों का विकास प्रबन्ध के रूप में दिखाई देता है। प्राकृत-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—
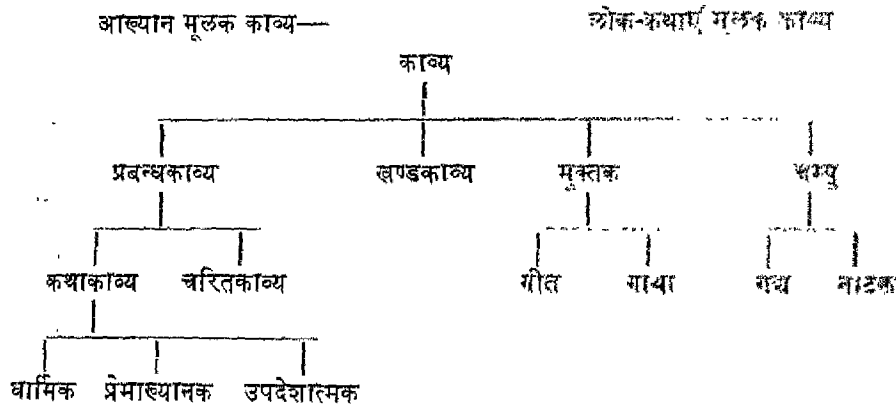
प्राकृत में आख्यान और कथा में कोई भेद नहीं देखा जाता है। उनमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार की कथाएँ सम्मिलित हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में विविध संक्षिप्त कथाओं का संकलन है। इसके संग्राहक संघदास क्षमाश्रमण कहे जाते हैं। यह गद्यबहुल रचना है। इसकी रचना पौराणिक

---

१. ई० वाशबर्न हॉपकिन्स—इपिक माइथोलाजी, पृ० ५१

२. विशेष द्रष्टव्य है, "अपभ्रंश काव्य—सन्देशरासक" शीर्षक मेरा लेख, हिन्दुस्तानी अ० २१ अंक ४

पद्धति पर हुई है। श्री हरिभद्रसूरि का 'धूर्ताख्यान' अत्यन्त ललित कथा रचना है। 'कथा-कोषप्रकरण' भी ऐसी ही रचना है। इसमें कुल मिलाकर छत्तीस कथानक हैं जो गद्य में निवद्ध हैं। इसके रचयिता जिनेश्वरसूरि हैं। उनकी अन्य रचना लीलावती कथा है। जयसिंह सूरि कृत धर्मोपदेशमाला तथा महेन्द्रसूरि की 'नर्मदासुन्दरी' कथा और सुमतिगणि का 'जिनदत्ताख्यान' भी प्राकृत की सुन्दर कथाकृतियाँ हैं। महेश्वर सूरि की ज्ञानपचमी कथा प्रसिद्ध कथाकाव्य है। लगभग इन सभी कथाओं की रचना पुराण पद्धति पर हुई है। जिसमें कथा और काव्य का सुन्दर मेल है। आलंकारिक शैली में लिखी गई प्राकृतिक कथाएँ निम्नलिखित हैं—

तरंगवई (पादलिप्त सूरि), समराइच्च कहा (हरिभद्र सूरि), कुवलयमाला कथा (उद्योतन सूरि,) भुवन सुन्दरी (विजयसिंह सूरि) तथा निर्वाण लीलावती (जिनेश्वर सूरि) आदि। इस प्रकार प्राकृत के कथाकाव्यों में लौकिक या जनपरम्परागत आख्यानों की रचनाएँ बहुत हैं। वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह न कर आख्यायिका की पद्धति पर विकसित हुई हैं। अपभ्रंश कथाकाव्यों में इसी परम्परा का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

कथा और आख्यायिका—प्राकृत में कथा के लिए 'कत्थ' तथा आख्यायिका के लिए 'आइक्खिया' शब्द मिलते हैं। 'ठाणांगसुत' में स्पष्ट रूप से 'कथा' काव्य का एक भेद कही गई है।[१] आख्यायिका का अर्थ अंग ग्रंथों में 'वार्त्ता' या 'विवरण' प्राप्त होता है।[२] यद्यपि आरण्यक ग्रथो तथा यास्क के 'निरूक्त' में भी 'कथा' शब्द दिखाई देता है, किन्तु वहाँ कथं (क्यों, कैसे) के स्थान मे उसका प्रयोग हुआ है।[३] इसी प्रकार 'आख्यान' शब्द कथन अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतीत होता है कि पुराण युग के पूर्व साहित्य में 'कथा' को महत्त्व नहीं दिया जाता था। जब से प्रवन्ध काव्यो मे रसाभिनिवेश के लिए कथा योजना का सन्निवेश हुआ है तभी से सम्भवतः वह साहित्य मे प्रतिष्ठित हुई है। प्रवन्ध काव्य के रूप में हमें आदि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण के दर्शन होते है। उसमें कथा कहने की प्राचीन परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[४] 'वार्त्ता' शब्द कथा से समीचीन जान पड़ता है। कालान्तर में 'वार्त्ता' विवरण कथा आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ मे किया जाता रहा है। महाकवि कालिदास ने 'वार्त्ता' अर्थ में इसका प्रयोग किया है।[५]

---

१. "चउव्विहे कव्वे-गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये।" स्थानाङ्गसूत्र, ४।४।४३ अर्थात्—काव्य के गद्य (शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन), पद्य-(विमुक्त अध्ययन), कथा (ज्ञाताधर्मसूत्र) और गेय (उत्तराध्ययनसूत्र) नाम के चार भेद हैं।

२. "अट्ठाइहेऊति पसिणाइं कारणाइं वाकरणाइं आइक्खंति।" ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, अर्थात्—अर्थ जानने के लिए प्रश्न, कारण और व्याकरण कहते थे, १।१।१३४, उनकी वार्त्ता करते थे।

३. यथा तु कथा च ब्रुवन्त्याऽब्रुवन्तं वा।
ब्रूयादभ्याशसेव यत्तथा स्यात्, इति॥—ऐतरेयारण्यकम्, ३।१।३

४. सनत्कुमारो भगवान् पुरा कथितवान्कथाम्।
भविष्यं विदुषां मध्ये तव पुत्र समुद्भवम्॥—रामायण, १।८।६

५. अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।—रघुवंश, ८।४३

श्रीमद्‌भावगत में 'वार्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हैं।[1] आचार्य चाणक्य के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी) तक कथा शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। आख्यान और कथा से अभिप्राय 'कथन' प्रचलित था।[2] भामह ने आख्यायिका और कथा दोनों का ही एक प्रयोजन माना है—अभिनेय।[3]

'आख्यान' शब्द से सामान्यतः 'वृत' या 'विवरण' अर्थ लिया जाता है। किन्तु कथा की भाँति इसका सम्बन्ध इतिहास और पुराण से होता है।[4] विश्वनाथ ने पूर्व वृत (पूर्व इतिहास) को 'आख्यान' कहा है।[5] वृत्त का अर्थ कथा भी है।[6] परवर्तीकाल में आर्ष काव्यों की रचना 'आख्यानों' में मानी जाती थी—"अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः।" सा०दर्पण, ६। ३२५ किन्तु इस प्रकार की रचना लोकप्रिय नहीं हुई, इसलिए उनका विकास नहीं हो सका। यद्यपि आख्यायिकों का विकास आख्यान से कहा जा सकता है पर साहित्य में वह भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है। किसी समय आख्यान, आख्यायिका और कथा तीनों शब्दो का अर्थ वार्ता वृत्तान्त, पूर्ववृत्त कथन या विवरण प्रचलित रहा होगा। पर आज तीनों विभिन्न अर्थों में देखे जाते हैं। 'आख्यान' का अर्थ पुराण कथा है। कथा का प्रयोग अब सीमित नहीं है। उपन्यास, नाटक, कहानी, प्रबन्ध काव्य, रूपक आदि में कथा या वस्तु की सुन्दर संयोजना देखी जाती है। आख्यायिका का स्थान इस युग में लघुकथा ने ले लिया है। छोटे-छोटे धार्मिक वृत्त भी किसी समय आख्यायिका कहे जाते थे। बाण का 'हर्षचरित' इस परम्परा की परवर्ती रचना है। शैली की दृष्टि से जो सूक्ष्म भेद आज दृष्टिगोचर होता है वह उनमें पहले भी था। शैली भेद के कारण ही उनके विविध नामरूपों का निर्वाचन किया गया है। सम्भव है कि उनमें पुनः परिवर्तन हो और नये नाम-रूपों का प्रत्याख्यान किया जाय। क्योंकि दिनोंदिन भाषा और शैली में नई रचनाएँ दृष्टिगत हो रही हैं।

अपभ्रंश में कथा को 'कहा' कहते हैं। धनपाल की 'भविसयत्तकहा' (भविष्यदत्तकथा) अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। स्वयम्भू ने रामकथा को आर्षोक्त विधि से काव्यनिबद्ध किया

---

१. यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत्।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तात्त्विकं तरुणायते ॥—श्रीमद्‌भागवत, ३।९
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्‌भागवतोद्‌भवा।
कोटिजन्म समुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥—वही, ३।४४

२. कथानुरूपं प्रतिवचनं।—चाणक्यसूत्र, ३२८
तथा—कथितं षष्ठ्युपाख्यानं ब्रह्मपुत्र यथागमम्।
देवी मङ्गलचण्डी या तदाख्यानं निशामय ॥
—ब्रह्मवैवर्त पुराण, ४१ अध्याय, प्रकृति खण्ड

३. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।—काव्यालंकार, १।१८

४. आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानिऽखिलानि च।—मनुस्मृति, ३।२३२

५. आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः।—साहित्यदर्पण, ६।२११

६. नाटकंख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितः। वही, ६।७

है।[1] अपभ्रंश कथा रचनाओं में भाषा और शैली की मिश्रता के साथ ही प्राकृत से वस्तु भिन्न देखी जाती है जीवन्त यथार्थ का चित्रण इन कथाओं की मुख्य विशेषता है प्राकृत की भांति अपभ्रंश में भी आख्यायिकाएँ लिखी गई होंगी, किन्तु उनका पता हमें अभी तक नहीं लगा है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'आख्यायिका' को 'कथा' जैसा माना है। कथा की भाँति वह गद्य में लिखी जाती है। उसमें कवि वंश आदि का विवरण रहता है। वह आश्वासों में निबद्ध होती है।[2] रूद्रट ने उसका स्वरूप इस प्रकार कहा है— जिस प्रकार कथा गद्य में लिखी जाती है वैसी ही आख्यायिका भी। अन्तर इतना है कि आख्यायिका में कवि का वंशवृत्त एवं आत्मचरित पद्य में नहीं होता है।[3] रूद्रट की इस मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए अधिकारी विद्वान् मनिसाधु ने लिखा है कि संस्कृत में कथा गद्य में तथा अन्य प्राकृतादि भाषाओं में अधिकांश पद्य में कही जानी चाहिए।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने आख्यायिका को गद्ययुक्त ही माना है। इस प्रकार कथा और आख्यायिका का मूल अन्तर छन्द, कथावस्तु तथा रचना शैली पर निर्भर है। कथा में कथावस्तु कल्पित, अधिकतर आश्वासादि रहित गद्य में लिखित (हेमचन्द्र के अनुसार पद्य में भी) तथा पद्यों मे लिखित कविवंशवृत्त से युक्त होती है। किन्तु आख्यायिका में वस्तु ऐतिहासिक, आश्वासादि मे विभक्त गद्य में निबद्ध तथा गद्य में ही लिखित कविवृत्त से युक्त होती है। किन्तु आख्यायिका मे वस्तु ऐतिहासिक आश्वासादि में विभक्त गद्य में निबद्ध तथा गद्य में ही लिखित कविवृत्त से युक्त होती है।

कथा का स्वरूप—कथा प्रबन्ध का एक अंग है। उसमें वस्तु विवरण मुख्य है। कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए काव्य में अन्य घटनाओं की योजना तथा अवान्तर कथाएँ भी देखी जाती है। इसलिए आलंकारिकों ने कथा को अलग से काव्य का भेद नहीं माना है। आचार्य भामह ने कथा को 'इतिहासाश्रय' कहा है।[5] इससे यह भी संकेत मिलता है कि पुरातत्व तथा पौराणिक आख्यान जन जीवन में प्रचलित थे।

---

१. तिहुअणलग्गणखम्भु गुरु परमेट्ठिणवेप्पिणु।
पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु॥—पउमचरिउ, १।१

२. आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनाञ्च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसां येन केनचित्॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।—साहित्य दर्पण, ६।३३५-३३६

३. अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यात्र स्वगद्येन॥—काव्यालंकार (रूद्रट), १६।२६.

४. "इत्थेवं संस्कृतेन कथां कुर्यात्। अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण त्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्।" इति ननिसाधु, काव्यालंकार टीका १६, २३

५. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी॥—काव्यालंकार, १।९

गद्यप्रबन्ध के दो भेद कहे गये हैं—आख्यायिका और कथा। दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद नहीं है।[1] हेमचन्द्र ने कथा और आख्यायिका का भेद नायक के अनुसार किया है। कथा का नायक धीरशान्त और आख्यायिका का ख्यात होता है। कथा सभी भाषाओं में कही जाती है पर आख्यायिका केवल गद्य में।[2] कथा में उच्छ्वासादिविभक्ति तथा वक्त्र, अपरवक्त्र में निबद्धता का नियम नहीं है।[3] संस्कृत में कथाएँ प्रायः गद्य में ही लिखी गई हैं। कथा में विकट बन्ध की प्रचुरता होने पर भी गद्य रस समन्वित तथा औचित्य पूर्ण होना चाहिए।[4] आचार्य आनन्दवर्धन की काव्य के सम्बन्ध में जो रसध्वनि की मान्यता है वही कथाविषयक भी। उनके ही शब्दों में—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा॥

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई हेतु नहीं होता। उसका सर्वोत्कृष्ट रहस्यभूत तत्त्व है—औचित्य। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश की कथाएँ गद्य, पद्य तथा चम्पू में भी लिखी गई हैं। वे संधियों में विभक्त तथा नाटकीय ढंग से वर्णित हैं। उनमें लोक-वर्ग और जीवन का यथोचित सन्निवेश मिलता है। वे लगभग सभी रसों में कही गई हैं। पर उनका अन्त शान्त रस में देखा जाता है। कर्तव्यपालन तथा सदाचार का विधान उनमें आदि से अन्त तक व्याप्त है। अधिकांश कथाएँ लोक-शैली में लिखी गई हैं।

कथा के भेद—संस्कृत में कथा गद्यकाव्य के अन्तर्गत परिगणित की गई है। क्योंकि संस्कृत भाषा में आख्यायिका और कथाएँ प्रायः गद्य में लिखी गई हैं। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में गद्य पद्य और चम्पू तीनों में लिखी मिलती हैं। स्थानांग सूत्र में कथा के सामान्यतः चार भेद कहे गए हैं।[5] किन्तु 'अग्निपुराण' में गद्य काव्य के पाँच भेदों में कथा की गणना हुई है—आख्यायिका,

---

१. "तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।"—काव्यादर्श, १।२८

२. "नायकख्यात स्ववृत्ताभाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका। यथा—हर्षचरितादि। धीरशान्तनायका गद्येनपद्येन वा सर्वभाषा कथा। गद्यमयी—कादम्बरी, पद्यमयी—लीलावती।"—काव्यानुशासन, अध्याय ८

३. आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद्विरहिता।
—ध्वन्यालोक की लोचन टीका, अभिनवगुप्त ३।७

४. कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।
—ध्वन्यालोक, ३।८

५. "चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ—इत्थिकहा, भत्तकहा, देस कहा, राय कहा।
—स्थानांगसूत्र, ४।२।६

अर्थात्—स्त्रीकथा, भक्त (भोजन) कथा, देश तथा राज्य कथा के भेद से कथा चार
कार की है।

कथा परिकथा और कथानक [1]आचार्य रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद माने है ---उत्पाद्य (कल्पित) और अनुत्पाद्य (ऐतिहासिक)। ये आकार में बड़े और छोटे दोनो तरह के होते हैं। आकार में बड़े महाकाव्य, महाकथा आदि कहे जाते हैं तथा छोटे लघुकाव्य, लघुकथा आदि।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने इसके सबसे अधिक भेद कहे हैं। उनके मत में आख्यान निदर्शन, प्रवहिलका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकल कथा और उपकथा ये नौ कथा के भेद हैं। इससे पता लगता है कि बारहवीं शताब्दी तक कथाओं के कई रूपों का विकास हो चुका था। प्राकृत में ऐसी कई कथाओं का उल्लेख मिलता है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इन कथाभेदों की ओर संकेत किया है।[3] इनमें रसाभिनिवेश के औचित्य का भी उन्होंने भलीभाँति प्रतिपादन किया है। मुख्य रूप से कथा के तीन भेद किए जा सकते हैं---पौराणिक या ऐतिहासिक लौकिक या निजन्धरी तथा कल्पित। प्रेमकथाएँ या तो निजन्धरी होती हैं अथवा कल्पित। हिन्दी के अधिकांश प्रेमाख्यान काव्य लोक-वार्ताओं के आधार पर लिखे गये है। कथा शैली का उत्तम निदर्शन उनमें प्राप्त होता है। इस प्रकार कथाएँ पौराणिक लौकिक तथा कल्पिक आख्यानो पर रची गई मिलती है। यद्यपि उसमें काव्य तत्त्व की संयोजना होती है पर वे काव्य नहीं कही जाती हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि काव्य तथा गद्य सामान्य शब्द हैं---और विशेष भी। फिर, संस्कृत में आख्यायिका रचना की जो शैली है वही प्राकृत तथा अपभ्रंश रचनाओं मे कथा काव्य की है। वस्तुत: कथाकाव्यों से ही प्रबंध काव्यों का विकास हुआ है। कथाओं में काव्य अश की योजना इसी लिए हुई है कि कथारस में विघ्न बाधा उत्पन्न न हो। यदि कथा रस में किसी भी प्रकार का विघ्न-प्रतीत हो तो वह काव्य का अनौचित्य माना जाता है। और ऐसी रचना अग्राह्य समझी जाती है। अतएव इतिवृत्तात्मकता के निर्वाह के लिए काव्य में वर्णन का समावेश आवश्यक तत्त्व माना गया है। मुख्य रूप से काव्य के दो ही अंग हैं---विवरण और वर्णन। किन्तु इन दोनों में साहचर्य तथा रसाभिनिवेश की योजना होने पर ही वह प्रबंध काव्य कहा जा सकता है; अन्यथा नहीं। प्राकृत तथा अपभ्रंश कथाओं में काव्य के ये दोनों ही अंग सपृक्त दिखाई देते हे। इसलिए ऐसी रचनाओं को जिनमें कथा-विवरण मुख्य है पर काव्य तत्त्व की अतिशयता है हम उन्हें कथा-काव्य नाम दे सकते हैं। अपभ्रंश की जिन छोटी-छोटी कथाओं में केवल वस्तु-विवरण ही मिलता है वे प्रकृत रूप में कथा मात्र हैं।

यद्यपि अपभ्रंश साहित्य में कथा और चरितकाव्यों की प्रचुरता है किन्तु साहित्य के अन्य अगों पर भी लिखी जाने वाली रचनाओं का संकेत उनमें मिलता है। अन्तर दर्शाने के लिए हम

---

१. गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्॥
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा॥---अग्निपुराण, ३३७।१२

२. सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥---काव्यालंकार (रुद्रट), १६।२

३. पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः। ---------- तत्प्रकटना विशेषवती भवति। ---------- तृतीय उद्योत, कारिका ७

चरित और कथा काव्य में केवल वस्तु-विवरण का ही भेद मान सकते हैं। चरितकाव्य तीर्थंकरों के समूचे जीवन से सम्बद्ध होते हैं और कथा काव्य जन सामान्य की घटनाओं से। पुराणों में महाभारत की भाँति विविध आख्यानों और जीवन चरित का काव्यात्मक वर्णन प्राप्त होता है। सम्भवतः पुराणों की रचना पहले हुई है, चरितकाव्य और कथाकाव्य की बाद में। जो भी हो, हिन्दी में लिखे गये प्रबंध चरित और कथाकाव्य की परम्परा से प्रभावित एवं शैली और भावराशि से समन्वित दिखाई देते हैं।

अपभ्रंश कथाओं का वर्गीकरण—यद्यपि जैन कथाओं का विकास धार्मिक प्रवृत्तियों को लेकर हुआ है, किन्तु उनमें जीवन-व्यापार का सटीक चित्रण मिलता है। कई कथाकाव्यों में तत्कालीन लोक-जीवन की अच्छी झलक दिखाई देती है। अपभ्रंश कथाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—पुराण कथा, धर्ममाहात्म्यकथा, रोमांटिक एवं कल्पित कथा। पौराणिक कथाओं को अपना कर लिखी जाने वाली मुख्य रचनाएँ हैं—सुभद्राचरित (अभयगणि), नेमिनाथचरिउ (अमरकीर्तिगणि), पासणाहचरिउ (असवाल), करकंडुचरिउ (कनकामर), पासणाहचरित (कवि देवदत्त), पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (चतुर्मुख), वज्रस्वामीचरिउ (जिनप्रभसूरि), स्थूलभद्रफाग (जिनपद्मसूरि), संभवणाहचरिउ, वरांगचरिउ (तेजपाल), पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (स्वयम्भु), सिरिपालचरिउ, णेमिणाह चरिउ, चंदप्पहचरिउ (दामोदर), पासणाहचरिउ (देवचन्द), संतिणाहचरिउ (देवदत्त), सुलोयणाचरिउ (देवसेनगणि), बाहुबलिचरिउ (धनपाल), जम्बूस्वामी रास (धर्मसूरि), पउमसिरिचरिउ (धाहिल), सुदंसणचरिउ, सयलविहि विहाण कव्व (नयनन्दी), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ (पुष्पदन्त), सुकुमालचरिउ (पूर्णभद्रमुनि), मृगांकलेखाचरिउ णायकुमारचरिउ अमरसेन चरिउ (कवि माणिक्कराज), चंदप्पहचरिउ (यशःकीर्ति), जिणदत्तचरिउ (लाखू), नेमिनाथचरिउ (लक्ष्मण), जम्बूस्वामीचरिउ (वीर), शान्तिनाथचरिउ, पासणाहचरिउ (श्रीधर), सुकुमालचरिउ (विबुध श्रीधर), जम्बूस्वामीचरिउ (सागरदत्तसूरि), पज्जुण्णचरिउ (सिद्धकवि), पज्जुण्णचरिउ (सिंह कवि), सनत्कुमारचरिउ, णेमिकुमारचरिउ (हरिभद्र) इत्यादि। यही नहीं अकेले कवि रइधू ने भी चरित ग्रन्थों की रचना की है। ये सभी पौराणिक कथाओं को लेकर लिखे गये हैं। धार्मिक माहात्म्य, सिद्धान्त तथा उपदेशात्मक रचनाएँ इनसे भिन्न हैं। इससे पता लगता है कि अपभ्रंश में पौराणिक रचनाओं की संख्या अधिक है। संख्या में ही नहीं परिमाण में भी ये विपुल हैं। रचनाकौशल की दृष्टि से उनका साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं है। धार्मिक माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाली कथाएँ इस प्रकार हैं।— अणथमी, पुण्णासव, सम्मतगुणणिहाणकहा (रइधू) निर्झर पंचमी कहा (विनयचन्द्र), सोखवइ विहाणकहा (विमलकीर्ति), भविसदत्तपंचमीकहा (विबुध श्रीधर) कोकिलापंचमी, मुकुट सप्तमी, दुधारसी, आदित्यवार, तीनचउबीसी, पुष्पांजलि, निर्दुखसप्तमी, निर्झर पंचमीकहा (साधारण ब्रह्म), पंचमी कहा (स्वयम्भू), अणत्थमीकहा (हरचंद), धम्मपरिक्खा (बुधहरिषेण), सवणबारसिविहाणकहा पक्खवइवय, णरकउतारी दुधारसकहा (भट्टारक गुणभद्र), णिदुखसत्तमी, सउडसत्तमी, पुप्फंजलि, रयणत्तयवय, दहलक्खणवय, अणंतवय, लद्धिविहाण, सोलहकारणवय, सुयंधदहमीकहा (भं० गुणभद्र), सिद्धचक्ककहा (पं० नरसेन), चंदण-

छट्ठी कहा (पं लाखू), णिद्दुक्खसतमीनरयउतारीदुद्धारसी (मुनि बालचन्द्र), रविवय कहा (कवि नेमचन्द), सुयंधदहमीकहा (कवि देवदत्त), पुरन्दरविहाणकहा (अमरकीर्तिगणि) रोहिणीवय कहा (देवनन्दि), भविसयत्तकहा (धनपाल), जिणरत्ति विहाणकहा (नरसेन), अनन्तवय कहा (नेमचन्द्र), संजममंजरी (महेश्वरसूरि), जिणरत्तिविहाण कहा, रविवउकहा (म० यशः कीर्ति), आदि।

रोमांटिक कथाओं के नाम हैं—पउमसिरीचरिउ (धाहिल), विलासवईकहा (सिद्धसेन), मदनराजय (हरदेव), सुकुमालचरिउ (विबुधश्रीवर), वरांगचरिउ (देवदत्त), सनत्कुमार-चरिउ (हरिभद्र) इत्यादि।

इनके अतिरिक्त रूपक कथाएँ, जीवन चरित, रास सम्बन्धी तथा कल्पित कथाए भी उपलब्ध हैं। प्राकृत के समान ही अपभ्रंश का साहित्य भी महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथाकाव्य रूपक काव्य, रासा काव्य, फागु, चाचरि, वेलि, कुलक, संधि, स्तुति, अनुप्रेक्षा, मुक्तक, दोहा, स्तोत्र, पाथडी, सुभाषित, कथाकोश व्याकरण, छन्द आदि विविध साहित्यिक अंगों से समृद्ध है। गद्य के नाम पर उद्योतन सूरि की केवल कुवलयमाला कथा मिलती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश का पूर्ण समन्वय है। यही एक सबसे बड़ी कमी है।

प्रबन्ध और कथा-काव्य—वस्तु रूप में प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई भेदक रेखा खींचना ही पड़े तो वह शैली भेद के अनुसार निर्धारित होगी। यद्यपि प्रबन्ध काव्यों का ढाँचा लगभग एक जैसा होता है पर इतिवृतात्मकता की न्यूनाधिकता से उसमें भी भेद देखा जाता है। वस्तुभेद से विवरण में भी अन्तर आ जाता है विवरण और वर्णन की रसात्मक सयोजना ही प्रबन्ध काव्य का मुख्य विधान कहा जा सकता है। इस दृष्टि से प्रबन्ध और कथा-काव्य एक ही हैं।

कथा-काव्य का स्वरूप—प्राकृत से ही कथाकाव्य प्रबन्ध के रूप में मिलने लगते है। अपभ्रंश के कथा-काव्यों में सन्धि निर्वाह तथा रूढ़ियों (motifs) का पूर्ण औचित्य दिखाई देता है। उपलब्ध सभी कथा-काव्य सन्धियों में विभक्त हैं। उनमें एक से अधिक रसों का समावेश है। यद्यपि कथा-काव्य में वस्तु-विवरण मुख्य होता है पर वर्णन भी कम महत्त्व पूर्ण नहीं होता। मुख्य कथा को गतिशील बनाये रखने वाली अवान्तर कथाओं की भी उनमें स्वाभाविक योजना रहती है। क्योंकि स्वभाविकता होने पर ही वे पूर्णतः संवेदनीय होती है। कथा-विकास में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण निर्वाह देखा जाता है। घटनाओं में भी कार्यकारण योजना समान रूप से होती है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों में भी यही बात दिखाई देती है, किन्तु उनमें इतिवृत्ति ही रसात्मक योजना की अपेक्षा संग्रहात्मकता मुख्य पाई जाती है। यद्यपि उनमें लौकिक तत्त्व भी रहते है। पर नाटकीय विधि से परिवर्तन हो जाता है। वे पूरी तरह पौराणिक शैली में लिखे मिलते है। सामान्य धार्मिक कथाओं में काव्यांश की योजना के साथ ही रसान्विति भी उनमें प्राप्त होती है। सक्षेप में, चरितकाव्य में घटना का विवरण मुख्य होता है और कथा-काव्य में कथा का औपन्यासिक वृत्त। प्राकृत और अपभ्रंश के कथा-काव्यों में कथानक नाटकीय विधि से आरम्भ होता है। उनमें प्रेमाख्यानक प्रवृत्ति भी मिलती है। शैली भी कहानी या उपन्यास की होती है। धार्मिक प्रभाव तथा कथा से लिपटा रहता है। की धूम इनका प्रधान

लग है कथानक के विकास में मनोविज्ञान का भी पुट मिलता है। इस प्रकार मानव विक की भांति कथा का विकास भी स्वाभाविक रूप से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसमें वृत्ति मुख्य होती हैं। सामाजिक वातावरण को लेकर इन कथाओं का विकास हुआ है। कथा-का पर तो पूरी तरह से सामाजिक छाप दिखाई पड़ती है। चरितकाव्य भी इससे अछूते नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं कल्पना का समावेश भी हुआ प्रतीत होता है परन्तु कादम्बरी की भांति ज जन्मान्तरों की अवान्तर कथाओं की योजना उनमें नहीं मिलती है। हाँ, चरितकाव्यों में अन पूर्वभावों का वर्णन है। साधारणत: कथाकाव्य की कथा मनुष्य हृदय को छूने वाली वह घटना हो है जिसमें पूर्ण रूप से लौकिक तत्वों का समावेश होता है। वह जीवन के किसी एक पक्ष का व दोनों पारिपार्श्विक पक्षों के यथार्थ रूप का उद्घाटन करती है। उनका उद्देश्य जीवन का स्वाभावि चित्र प्रस्तुत करना कहा जा सकता है। उनमें अलौकिकता नाममात्र के लिए निहित है। चरि काव्य अवश्य अलौकिक तत्वों से भरपूर है। कथाकाव्य भी जहाँ शास्त्रीय कथाओं से सम्बद्ध । वहाँ उनमें भी विस्मयकारी घटनाओं का योग मिलता है।

कथाकाव्य	चरितकाव्य
१—नाटकीय विधि से कथानक का आरम्भ—	शास्त्रीय रूप में कथावस्तु की योजना
२—काव्यतत्व की प्रचुरता	धार्मिक प्रभावना
३—गेयता	गीतितत्त्व
४—एक से अधिक रस संयोजना	कम से कम तीन रसों की अभिव्यक्ति
५—कल्पनातिरेक्य	वस्तुविवरण
६—लोकशैली	पौराणिक
७—लौकिकता	अलौकिकता

यद्यपि वाल्मीकि, तुलसी, स्वयम्भू आदि ने कथा को चरित ही कहा है पर कथात्मक वस्तु विधान को देखकर हम चरित और कथा-काव्य जैसे दो भेद कर सकते हैं। क्योंकि प्राकृत और अपभ्रंश तथा संस्कृत का विपुल भाग सत्यनारायणव्रत, रविव्रत, एकादशी, सुगन्धदशमी रात्रिभोजन, मुकुट सप्तमी, चन्दनषष्ठी, आकाशपंचमी, श्रावणद्वादशी, रोहिणीविधान आदि धार्मिक कथाओं से भरपूर हैं जिनमें घटनाओं के व्याज से धर्म का महत्त्व अंकित है। इस प्रकार कथा-काव्य मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त मिलता है। अपभ्रंश कथाओं का वर्गीकरण—
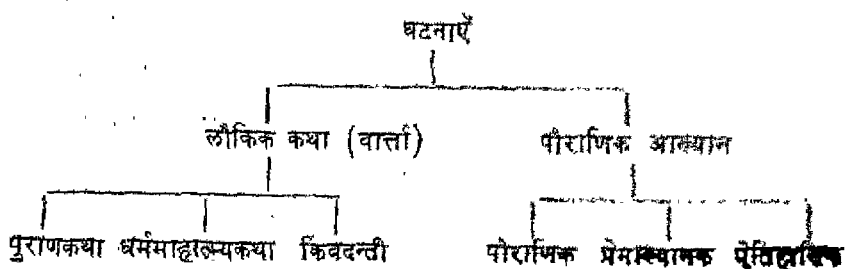
वस्तुतः चरितकाव्य और कथाकाव्य में कोई अन्तर नहीं है। केवल ग्रन्थ के पीछे 'कहा' या 'चरिउ' शब्द जुड़ा होने से हम उसे कथा या चरितकाव्य नहीं कह सकते हैं। चरित शब्द एक प्रकार से समूचे जीवन चरित्र का वाचक है। ऐसे चरितकाव्यों में हम अपभ्रंश के पार्श्वनाथचरित (असवाल), बाहुबलिचरित (धनपाल), चन्द्रप्रभचरित (म० यशः कीर्ति), रिट्ठणेमिचरिउ, पउमचरिउ (स्वम्यभू) णेमिणहचरिउ (लक्ष्मण), संभवणाहचरिउ (तेजपाल), आदि की गिनती कर सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य में चरितकाव्य का प्रचलन प्रबन्ध के रूप से भगवान् तथा तीर्थंकरों के जीवनचरित को लेकर हुआ है। केवल शैली भेद से उनके विविध नामरूपों की संज्ञा पड़ गई है। डा० शम्भूनाथ सिंह ने प्रबन्धकाव्य के मुख्यतः दो रूप माने हैं।[1] (१) शास्त्रीय प्रबन्धकाव्य (२) चरितकाव्य। किन्तु अपभ्रंश की छोटी-छोटी कथाएँ जिनमे विवरण मात्र है और जो शुद्ध धार्मिक भावना को लेकर लिखी गई हैं वे न तो चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं और न कथाकाव्य के ही। उन्हें पुराण-कथा ही कहा जा सकता है। ऐसी जैन कथाओ की रचना का उद्देश्य जनता में दान, शील, तप, सद्भाव रूप मार्मिक गुणों का विकास करना है। कथाकोषों में इन कथाओं का बृहत् संग्रह है। डा० वेबर, लॉयमान, जेकोबी, ब्युल्हर, हर्टेल, अल्सडोर्फ आदि ने जैन कथा साहित्य के इस महत्त्व का मूल्यांकन बहुत पहले किया था।[2] कथा साहित्य में हम पुराण तथा छोटी-मोटी धार्मिक कथाओं, पृच्छा, कथानक, प्रबन्ध, कोष इत्यादि रचनाओं की गणना करते हैं।

कथा-काव्य प्रबन्धकाव्य ही एक भेद है। यद्यपि उसमें कथा-विवरण ही मुख्य है, किन्तु कथा विकास के लिए विविध काव्यात्मक उपादानों का भी समावेश हुआ है। सामान्य रूप से प्रबन्ध और कथा-काव्य में कोई भेद लक्षित नहीं होता। क्योंकि प्रबन्ध की भाँति प्रकृति का जीवन का अंग बन जाना साहित्यिक रूढ़ियों का पालन, भाव और उसका पूर्ण सामंजस्य, अलंकारों का भावों के पीछे चलना, सन्धिबद्ध होना, सन्धि के अन्त में छन्द में परिवर्तन हो जाना, ग्राम नगर आदि का वर्णन आदि समस्त विशेषताएँ कथाकाव्य में मिलती है। लोक-जीवन की झाँकी उनमें विशेष होती है। अपभ्रंश और प्राकृत के कई कथा और चरितकाव्य महाकाव्य संज्ञक है। डा० श० ना० सि० ने पुराण चरित और कथाकाव्य ग्रन्थों को परम्परागत परिभाषा के अनुसार महाकाव्य कहा है। ऐसे महाकाव्यों की उन्होंने एक सूची भी दी है जो ६ सन्धि से लेकर ११२० सन्धियों में निबद्ध हैं।[3]

अपभ्रंश के कथा-काव्यों में भविसयत्त कहा, पुरन्दरविहाणकहा, पासणाहचरिउ (कवि देवदत्त) व्रजस्वामिचरिउ, भविसदत्तपंचमीकहा (विबुद्धश्रीधर) जम्बूस्वामीचरिउ, विलासवईकहा, पज्जुण्णचरिउ आदि को गिनाया जा सकता है।

भविसयत्तकहा—अपभ्रंश के प्रकाशित ग्रन्थों में यही एक कथा-काव्य उपलब्ध है। अपभ्रंश

---

१. हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम संस्करण, पृ० २८६

२. मुनिजिनविजय—कथाकोशप्रकरण का प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १५

३ डा० शम्भूनाथ सिंह—हिन्दी का स्वरूप-विकास पृ० १७६-७७

का यह सर्वप्रथम प्रकाशित ग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि धनपाल हैं। यह काव्य बाईस सन्धिय में निबद्ध है। विंटरनित्स ने इसे रोमांटिक महाकाव्य माना है।[1] इसका प्रकाशन सबसे पहले पहली बार एच० जेकोबी ने सन् १९१८ में जर्मन भाषा में कराया था। तब अपभ्रंश-भाषा की बहुत ही कम जानकारी विद्वानों को मिल सकी थी। साहित्य के नाम पर यह अकेली रचना आलोकवती हो सकी थी। इस सुन्दर रचना की उपलब्धि पर ही अन्य काव्यों की खोज के लिए विद्वत्समाज का मन आकृष्ट हुआ था। तदनन्तर अपभ्रंश की कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाश में आईं किन्तु इन रचनाओं के प्रकाश में आने का जो सबसे बड़ा व्यवधान पड़ा, वह भाषा का था। यथार्थ में अपभ्रंश भाषा के निजी गुण तथा विशेषताएँ होने पर भी वह प्राकृत के अधिक निकट है। साधारण रूप से पढ़ने पर प्राकृत और प्रारम्भिक अपभ्रंश में भेद लक्षित नहीं होता है। इसलिए भण्डारों में बहुत से अपभ्रंश-ग्रन्थ आज भी प्राकृत रचनाओं की श्रेणी में विराजमान हैं। छानबीन होने पर कई प्राकृत ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के निकल सकते हैं, क्योंकि अनुमानतः अपभ्रंश का साहित्य विपुल ही नहीं अतुल भी प्रतीत होता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में 'भविसयत्त कहा' का स्थान आज भी सबसे ऊँचा है। इसमें शास्त्रीय और लौकिक दोनों प्रकार की शैलियों का सुन्दर संयोग है। 'भविसयत्तकहा' में श्रुतपंचमी या ज्ञानपंचमी का माहात्म्य वर्णित है। अतएव इसे ज्ञानपंचमी कथा भी कहते हैं। डा० एच० डी० वेलणकर ने दस ज्ञानपंचमी कथाओं का उल्लेख किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं[2]—

१—ज्ञानपंचमी कथा (प्राकृत) महेश्वर सूरि २५०० श्लोकप्रमाण
२— —"— देवविजयगणि (तपगच्छ) संवत् १६५६
३— —"— मेघरत्नवाचक ३१० श्लोक प्रमाण
४— —"— धनचन्द्र संवत् १७०५
५— —"— सौन्दर्यगणि
६— —"— कनककुशल
७— —"— जिनहर्ष
८— —"— मुक्तिविमल प्रकाशित सन् १९१६।
९— —"— अज्ञात
१०— —"— धनपाल (अपभ्रंश)

धनपाल की ज्ञानपंचमी कथा को छोड़कर लगभग सभी कथाकाव्य प्राकृत के ज्ञात पड़ते हैं। अपभ्रंश में विबुध श्रीधर विरचित 'भविसयत्तपंचमीकहा' भी उपलब्ध है। भविष्यदत्त की कथा का वर्णन करने वाली यह सुन्दर रचना है। इसकी रचना संवत् १५३० में चन्द्रवाड़ नगर में हुई थी। ज्ञानपंचमी कथा की भाँति सात भविष्यदत्त कथाओं का उल्लेख मिलता है। पहली कथा के लेखक महेन्द्रसूरि हैं। सम्भवतः यह प्राकृत में है। दूसरी 'भविष्यदत्तचरित' के

---

१. एम० विन्टरनित्स: ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिटरेचर, १९३३ का संस्करण, खंड २, पृ० ५३२

२. जिनरत्नकोश भा० १, प्रथम संस्करण, पृ० १४८

रचयिता श्रीधर हैं। यह संवत् १५५८ की है। संस्कृत में लिखी हुई रचना है। तीसरी 'भविष्यदत्तकथा' धनपाल की अपभ्रंश में है। चौथी 'भविष्यदत्ताख्यान' है जिसके लेखक महेश्वर सूरि है। यह प्राकृत में है। पांचवी भविष्यदत्तचरित्र है, जिसके लेखक पद्मसुन्दर हैं। छठी अज्ञात है और सातवीं संवत् १२१४ की महेन्द्र सूरि रचित कही जाती है। इन कथाकाव्यों में धनपाल की 'भविसयत्तकथा' सबसे प्राचीन रचना जान पड़ती है। जैन साहित्य में धनपाल नाम के चार विद्वानों का पता लगता है। भविसयत्तकहा के लेखक धनपाल धक्कड़ वंश के वैश्य परिवार में उत्पन्न हुए थे। दूसरे धनपाल तिलकमंजरी के लेखक हैं। ये राजा भोज के समकालीन थे। इनकी अन्य रचना 'पाइयलच्छी नाममाला' है। यह ग्रन्थ वि० सं० १०२९ में लिखा गया था। सम्भवतः अन्य रचनाएँ भी कवि ने लिखी होंगी। तीसरे धनपाल अणहिलपुर निवासी थे। उन्होने स० १२६१ में 'तिलकमंजरीसार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] चौथे धनपाल अपभ्रंश भाषा के 'बाहुबलिचरित' काव्य के रचयिता हैं। यह अट्ठारह सन्धियों में निबद्ध प्रबन्ध काव्य है। इसकी रचना चन्द्रवाड नगर में वि० सं० १४५४ में हुई थी।[2] इस प्रकार धनपाल तथा ज्ञानपंचमी कथा की एक लम्बी परम्परा मिलती है। उपर्युक्त कथाओं के अतिरिक्त चतुर्मुख तथा स्वयम्भू कृत ज्ञानपंचमी कथा का भी उल्लेख मिलता है जिससे सहज में अनुमेय है कि आठवीं शताब्दी के पूर्व भी ज्ञानपंचमी बैशाख शुक्ल पंचमी[3] का माहात्म्य वर्णित करने वाले कथाकाव्य इस देश मे अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत भाषा में लिखे जाते रहे हैं। यही नहीं, कन्नड़ भाषा में भी विविध जैन कथाकाव्यों का पता लगता है। प्राचीन गुजराती और राजस्थानी साहित्य तो अपभ्रंश का ही है। प्राकृत तथा अपभ्रंश-भाषा और साहित्य की यह परम्परा हिन्दी में भी मिलती है। छन्दोबद्ध 'भाखा' कथाकाव्यों की संख्या सौ से भी अधिक है। अधिकांश रचनाएँ आज भी भण्डारों के कोषों में दबी पड़ी है। कुछ कथाकाव्य इस प्रकार हैं—श्रीपालचरित (परिमल), सीताचरित (पं० रायचन्द), चेतनकर्मचरित (भैया भगवतीदास), वरांगचरित (पाडेय लालचन्द), जीवनचरित (पं० भावसिंह) आदि।

भविष्यदत्तकथा के संस्करण—प्रो० एच० जेकोबी ने अपनी भारतवर्ष की यात्रा में मार्च १९१४ के मध्य अहमदाबाद में सबसे पहले अपभ्रंश ग्रन्थ 'भविष्यदत्तकथा' को प्राप्त कर पुत्र की भाँति आनन्द मनाया था। यही सन् १९१८ में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ था। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित करने का श्रेय श्री सी० डी० दलाल को है। उन्होंने दो-तीन प्रतियो के आधार पर इसका संशोधन कर प्रामाणिक रूप में सन् १९२३ में बड़ौदा सेंट्रल लाइब्रेरी से

---

१. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७०

२. पं० परमानन्द जैन शास्त्री; 'धनपाल नाम के चार कवि'—अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८५

३. श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार ज्ञानपञ्चमी कार्तिक शु० ५ को मनाई जाती है। किन्तु दिगम्बर आम्नाय में वह बैसाख सुदि ५ ही प्रचलित है। इससे कवि के दिगम्बर होने का पता लगता है।

इसे प्रकाशित कराया था[1] इसका दूसरा संस्करण १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रो० जैकोबी को इस रचना की एक ही प्रति उपलब्ध हो सकी थी और वह भी उन्होंने बड़े श्रम के साथ अपने हाथों से प्रतिलिपि कर आवश्यक संशोधनों के साथ प्रकाशित की थी, इसलिए अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक ही था। किन्तु दलाल का संस्करण भी निर्दोष नहीं है। भाषा की अशुद्धियों के साथ ही लिपि संबंधी कई त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए, 'र' के स्थान पर कई स्थलों पर 'त' मिलता है यथा—"कियवसविहेयघरवलयसातु"

यहाँ 'सातु' न होकर 'सारु' होना चाहिए, इसी प्रकार 'वणिवतु' का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है परन्तु वहाँ 'वणिवरू' अपेक्षित है। इसी तरह 'संपहातु' न होकर 'संपहारु' है। 'अहरू' के स्थान पर 'अहतु' का होना स्पष्ट कर देता है कि भाषा सम्बन्धी ज्ञान कितना कमजोर था?[2] 'घरू' का विचार न कर 'घतु' समझ कर लिख देना भी ऐसा ही है। इसी तरह के अन्य उदाहरण भी यथास्थान सन्निविष्ट हैं।

प्राचीन भाषाओं के संस्करण तैयार करने में कई तरह की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। सबसे बड़ी अड़चन लिखावट की है। एक ही शब्द अलग-अलग प्रतियों में विभिन्न रूपों में लिखा हुआ मिलता है।

दूसरी कठिनाई मात्रा की है। एक ही प्रतिलिपि में कई स्थानों पर 'गणे' में ग की मात्रा 'ए' की बोधक होती है और कहीं-कहीं वह इ के उच्चारण की वाचक। इससे शुद्ध पाठ के निर्धारण में बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो जाता है। किन्तु मेरी समझ में ऐसे स्थानों पर भाषा-विज्ञान की भरपूर सहायता लेनी चाहिए। सम्पादन सम्बन्धी अन्य कठिनाइयाँ स्थान-स्थान शब्दों के उचित प्रयोग तथा कम से कम तीन प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन पर निर्भर है।

भविसयत्तकहा के नवीन संस्करण की आवश्यकता—हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण में कई अंश छूटे हुए हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो वर्णनात्मक हैं और जिनके न होने पर कथानक के सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता है। किन्तु एक दो स्थल ऐसे भी हैं जिनके अभाव में काव्य का सौन्दर्य जाता रहा है यथा—

जो तह कंतु आसि गय सण्णउं मरिवि **ससुवहे** पुन्नप्पणउं।
वंधुयत्तु खलु खुद्दिवि कुक्किउ पुव्वविरत्तें ताहनदंसिकउ ॥४०.१०, २०.११
घोरु वीरु तव चरणु चरेप्पिणु चउविहु देवागमणु करेप्पिणु। २२.१०,

इसी प्रकार बड़ौदा की प्रति का पाठ है—

तं वइराउ तेवि मणि **माविवि** णियणियणंदण गिहपइ थाविवि।
विण्णिवि सुहमसुहाइं चएप्पिणु **मय** सियनयरि सरीरु मुएप्पिणु।

किन्तु आगरा की प्रति का लेख है—

तं वइराउ तेवि मणि भाविवि **णियणियवंसणु** पयसंथाइवि।

---

१. प्राप्त सूचना के अनुसार उनका यह संस्करण केवल पाटन की एक प्रति पर आधारित है।

घोरुवीरु तव चरणु चरप्पिणु चउविहु देवागमणु करप्पिणु
विण्णिवि सुहमसुहाइ चरेप्पिणु गय सिवलोइ सरीरु मुएप्पिणु

परन्तु जयपुर की प्रति का पाठ इस प्रकार है—

तं वइराउ तेवि मणि भाविवि णियणंदणु णिय पइ संथाविवि।
घोरु वीरु तव चरणु चरेप्पिणु चउविहु देवागमणु करेप्पिणु।
विण्णिवि सुहुमसुहाइं चएप्पिणु गय सिवलोइ सरीरु मुएप्पिणु।

इन पाठ रूपों को भलीभाँति देखने पर पता लगता है कि कोई भी प्रति सर्वथा निर्दोष नहीं है। किन्तु पाठालोचन करते समय हमें किसी न किसी प्रति को आधार मान कर मूल मे रखना पड़ता है। इसके लिए उसकी प्रकृति का अनुभव कर अन्तरंग सामग्री का प्रामाणिक अध्ययन करना होता है। यदि उसमें कोई कमी जान पड़े तो पाठ-चयन के अनन्तर पाठसुधार की दिशा में कार्य करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जब हम निर्णीत पाठों की सामान्य कल्पना अपने मन में कर लेते हैं।

भविसयत्तकहा की हस्तलिखित प्रतियों का विवरण—जैसा कि ज्ञात हुआ है उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में भविष्यदत्तकथा की अनेक हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ प्राप्त होती हैं। ये प्रतियाँ सामान्यतः दो वर्गों में दिखाई देती हैं—पश्चिमीय और उत्तरीय। पश्चिमीय प्रतियों की संख्या अधिक है जो अहमदाबाद, पाटण, सूरत, बड़ौदा, छाणी आदि के भण्डारों में आज भी सुरक्षित है। उत्तर में आगरा, दिल्ली, जयपुर, आमेर आदि भंडारों में कई प्रतियाँ मिलती हैं। इनमे लिखावट के साथ ही अक्षरों की बनावट में भी अन्तर दिखाई देता है। यदि पश्चिम की प्रतियो मे 'इ' का अतिशय प्रयोग मिलता है तो उत्तर की प्रतियों में 'ए' की बहुलता है। यहाँ पर केवल दो प्राचीन प्रतियों का विवरण देना पर्याप्त होगा। पता लगाने पर विदित हुआ है कि भ० क० की सबसे प्राचीन प्रति वि० संवत् १४९४ की है। सम्भव है कि इससे भी प्राचीन प्रति का जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी या सी० डी० दलाल ने उपयोग किया हो, किन्तु उसका कोई विवरण नहीं मिलता। सम्भवतः प्रकाशित दोनों प्रतियाँ किसी अर्वाचीन प्रतिलिपि के आधार पर सम्पादित हैं।

वि० स० १४९४ की अपभ्रंश भाषा के कवि बुध धनपाल की भविष्यदत्तकथा की हस्त-लिखित प्रति जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्र भण्डार की है। इसकी पत्र संख्या १५२ है, प्रति पूर्ण है। केवल ३५ संख्यक पत्र नहीं है। ग्रन्थ की दशा अच्छी है। अंतिम तीन पत्रों के कोने अवश्य जर्जर हो चले हैं और साथ ही अन्त के कुछ शब्द भी धुँधले एवं अस्पष्ट हो गये हैं। इसका लेखन-काल संवत् १४९४ ज्येष्ठ वदी १ है। इसमें ग्रन्थ संख्या ३२०० श्लोक प्रमाण कही गई है। यह ग्वालियर नगर में तोमर वंशी राजाओं के समय में लिखी गई है। अभी तक धनपाल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिल सकी है। ग्रन्थ के अन्त में स्वयं उन्होंने परिचय दिया है कि "धाकड़ नामक वैश्य वंश में उत्पन्न पिता माएसर और माता धनश्री देवी के पुत्र ने यथासम्भव सरस वाणी में इस काव्य की रचना की है।"[1] धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके

---

१. धक्कड वणिवंसि माएसरहो समुब्भविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण॥ भ० क०, २२।९

कई संकेत उनकी रचना में मिलते हैं। सोलहवें स्वर्ग का उल्लेख, पूजन विधि, सल्लेखनाभाव तथा समाधिमरण आदि का विवरण कवि ने दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार दिया है। एक वाक्य में इसका संकेत भी किया है।[1] इस प्रति का प्रारम्भ 'णमो वीतरागाय' से हुआ है। प्रति-लिपिकार ने इसे भविष्यदत्तकथा न लिखकर भविष्यदत्तचरित लिखा है। स्पष्ट है कि पहले चरित और कथा में कोई भेद नहीं था। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य एवं फल वर्णित है।[2] ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि उक्त प्रति सर्व प्राचीन नहीं है क्योंकि इसमें कई पत्र भिन्न प्रकार के हैं। कागज की भिन्नता के साथ ही लिखावट में भी अन्तर है। पुराना कागज मोटा और भारी है किन्तु नये पत्र पतले और हलके हैं। उनमें कहीं-कहीं अपभ्रंश शब्दों के अर्थ भी एक ओर लिखे मिलते हैं। ये अर्थ संस्कृत छाया में हैं, यथा-'अइमुत्तय' का अर्थ 'अति-मुक्त' दिया है। नये पत्र भी बिलकुल अच्छी दशा में नहीं हैं। कोने में वे दीमक के खाये हुए जान पड़ते हैं। कई पत्र बीच में कागज लगाकर जोड़े गए हैं। इन सब बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि बाद में लिखकर मिलाये गये कुछ पत्र भी बिलकुल नये नहीं हैं। परन्तु इनके मिलाये जाने का कारण स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि पुरानी प्रति के कुछ पत्र खो गये थे या खराब हो गये थे अथवा दीमक ने उन्हें चाट लिया था। जो भी हो, पुरानी प्रति के पत्रों पर धब्बों के अतिरिक्त भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अन्तिम तीन पत्रों के कोने का भाग अवश्य घिस गया है और कुछ अक्षर भी धुंधले पड़ गये हैं। कुछ पत्ते ठीक दशा में नहीं हैं। पत्र संख्या ६६ पर जलने के दो बड़े छेद और निशान बने हुए हैं जिससे पता लगता है कि कुछ पत्रों के जल जाने पर नये लिखकर मिलाये गये हैं। और भी कई पत्रों पर जलने के हलके निशान बने हुए हैं। नये पत्र ३१,४१, से ५७, ७३ से ७५, ९६ और ९७ संख्यक हैं। कुल मिलाकर इनकी संख्या १८ है। नये से पुराने पत्रों की प्रति की लिखावट सुन्दर है। पुराने पत्रों की प्रति का सौ-संख्यक पत्र बायीं ओर से घिसकर बहुत कुछ दुबला हो गया है। उसके दुबलेपन का प्रभाव दो चार अक्षरों पर भी पड़ा है। शेष भाग सुन्दर और स्वस्थ है। घत्ता और दुवई के नीचे तथा समाप्ति पर लाल स्याही का ऊपर से उपयोग किया गया है जिससे दूर दृष्टि से भी पता लग जाय कि विराम छन्द में बदलाव तथा सन्धि की समाप्ति कहाँ हुई है। इस ग्रन्थ में घत्ता देने की प्रवृत्ति सामान्य जान पड़ती है। कडवकों के बाद एक घत्ता या दुवई अथवा घत्ता और दुवई का प्रयोग कई ग्रन्थों में मिलता है। दुवई (द्विपदी) से ही आगे चलकर चउपई (चतुष्पदी) का विकास हुआ है।

पुराने पत्रों की प्रति का आकार "११ × ४" है, कुछ पत्र "१०।।। × ४" के भी हैं। ऐसे पत्र दाईं ओर किनारे पर घिसे हुए हैं। नये पत्रों में कुछ "११ × ४।" इंच के आकार के हैं और कुछ "१०।।। × ४।" के हैं। इनमें अन्य भी बहुत साधारण अन्तर हैं। पुराने पत्रों का आकार

---

१. पहु पुरु पवरु मज्झु भणुराइउ भंजिवि जेण वियंबरिल्लामउ—वही, ५।२०

२. जिणसासणि सारु णिद्धुअ पावकलंकमलु।
सम्मत्तविसेसु णिसुणहु सुयपंचमिहि फलु।।—वही १।१

ग्रन्थ को जमाने पर सम दिखाई देता है किन्तु बीच-बीच मे नये पत्रा की विषमता स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाती है। इस प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है—

"संधि॥२२ इति धनपाल कृत पंचमी भविसदत्तस्य समाप्तमिति ॥ ग्रन्थ संख्या शत ३२०० द्वात्रिंशति शतानि। संवत् १४९४ वर्षे ज्येष्ठवदि ॥० आषाढ़ वदि २ सोमवासरे श्रीगोपाचले अत्र तुमर राज्ये कथंभूते राम्ये राज्ये च हमीरे पै राज्ये जनवार्द्धके......र्शमानि प्राप्तानि तुवरे दानमानत:। वंदीकृतं द्विशतपञ्चसभा: शकेन्द्रै: राजन् समुद्धरण गोपगिरेन्द्र दुर्गं। श्रीवीरसिंह भवने यदि न च दीयं स्याज्जन्यकोऽपि न विमुंचयितुं [समर्थ:] ॥१॥ तस्मिन् वंशे नरेंद्र चूडामणौ श्रीगणेश्वरपुत्र कलिकाल चक्रवर्ती राजा श्री डुंगरे [च] कथंभूते।

अन्यायतिमिरदिनकरविधुरित जनशरणसज्जनानन्द।
नृपवरलक्ष्मी [तल्लसति] पुरोधर्म वृद्धिस्ते ॥२॥
सुधा चन्द्रे न पाताले न कान्ता धरपल्लवे।
अस्ति डोंगर राजेन्द्र [पीयूष] करपल्लवै: ॥३॥

अथ श्री डोंगरेंद्र राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीपमनन्दिदेवतत्पट्टे श्री शुभचन्द्रदेव। पणियारी वास्तव्य। वारहसेणी श्रावक। चतुर्विधदानदाइक। पंचमी उहरणधीर। संघवाभारहोरेश्वर। साधु जिनदास। भार्या महासिरि। अनेक भेषजदान। संपूर्ण तर्कग्रन्थसंयुक्त सा० महाराज। भार्या आमिणि। तस्य पुत्र सावोगण। तथावीधा। साधु धर्मु। भार्या जाहिणि। पुत्र भीमदेव तथा लक्ष्मण खेमती तृतीय भ्राता सा० करमू। तस्य भार्या न्योणी। पुत्र पहराज। तथा भावनिघोराज। चतुर्भ्राता। रतन। तस्य भार्या सते। पुत्र सा० चिरू। तथा पता छीतमा। . . . .॥"

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि धनपाल की भविष्यदत्तकथा दसवीं तथा ग्यारहवी शताब्दी के मध्य लिखी गई है। यद्यपि उक्त प्रति में प्रतिलिपिकार ने अपना नाम नही दिया है किन्तु भट्टारक श्रेणी में से किसी की लिखी हुई जान पड़ती है। भविष्यदत्तकथा की अन्य प्रति सवत् १५१९ की है। यह प्रति मुझे आगरा से उपलब्ध हुई है। यह पूर्ण प्रति है। कहीं भी किसी पत्र या अक्षर की कमी नहीं है। इसमें १६२ पत्र हैं। स्थिति ठीक है। पुष्पिका इस तरह है—

"संवत् १५१९ पौषवदि १ बुद्धवासरे सिउण्लपुरे श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री क्षेमकीर्तिदेवा तत्पट्टे श्री भट्टारक श्री हेमकीर्तिदेवा: तत्पट्टे श्री कमलकीर्तिदेवा. तताम्नाये मु० संजयकीर्तिदेवा तत्सिष्य मुनि देवसेन आर्या धर्मसिरि आर्या संजमसिरि क्षुल्लकबाई गुणी। इदं सु[स्व]परपठनार्थं।"

इस प्रति की विशेषता यह है कि इसके प्रारम्भ में मंगलवचन या नमस्कार कुछ भी नही है। ज्यों का त्यों पूरा ग्रन्थ प्रतिलिपिबद्ध है। इससे इस प्रतिलिपि पर विश्वास अधिक जमता है। इसमें 'इ' के स्थान पर 'ए' की बहुलता है। बड़ौदा से प्रकाशित 'भविसयत्तकहा' में उन कई स्थलों का पता नहीं लगता है जो इस प्रति में मिलते हैं। जयपुर की प्रति में वे सभी पाठ उपलब्ध हैं किन्तु एक दो ऐसे भी स्थल हैं जो आगरा की प्रति में नहीं दिखाई देते हैं। अतएव जयपुर की प्रति की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। अन्तरंग प्रमाणों से भी

यह स्पष्ट है। कई स्थल आगरा वाली प्रति में भी नहीं मिलते हैं जो जयपुर की प्रति में हैं। उदाहरण के लिए—"मयवइ किवहु मयउल मणइ जो मामय मयवाल जग्गार।" तथा–पुणु पुंडुच्छदंडरसुढालिउणं भवभमणविंदु दुहुखालिउ।"

यह पाठ प्रकाशित तथा आगरा की दोनों प्रतियों में नहीं है। ऐसे स्थलों को हम प्रक्षिप्त नहीं मान सकते हैं क्योंकि भाषा, शैली, भाव, प्रसंग निर्देश आदि में उनमें कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। पर कुछ स्थल आगरा से प्राप्त प्रति में इधर से उधर हो गये हैं जो सरलता से समझ में आ जाते हैं। यथा, उक्त दोनों पंक्तियां छठीं संधि के अंत में न होकर सातवीं के आरम्भ में सम्मिलित हैं। इनमें भाषा सम्बन्धी जो स्थूल-भेद दिखाई देता है वह वस्तुतः भाषा का न होकर उच्चारण का है। उससे शैली में कोई भी अन्तर लक्षित नहीं होता है।

इन सब तथ्यों का संकलन करने पर एक चित्र हमारे सामने खिंच जाता है जिसमें कई अभावों की रेखाएँ एक साथ स्पष्ट और अस्पष्ट रूपों में दिखाई देती हैं। इससे यह भी पता लगता है कि अभी तक इस दिशा में न तो विधिवत् संपादन का कार्य हुआ है और न यथोचित मूल्यांकन। वस्तुतः विद्वानों का ध्यान इस ओर कम ही गया है। किन्तु भाषा और साहित्य सम्बन्धी जो महत्व राजपूत युग में इसका बना हुआ था, वह आज भी है। यथार्थ में परिवेश की सीमाएँ तथा मान-भूमिकाएँ समझ में आने पर ही इसका समुचित समादर विद्वत्समाज में हो सकेगा।

शककालीन आर्थिक-जीवन

श्री प्रशान्तकुमार जायसवाल

भारतीयों ने जब तक शकों को बर्बर समझा उन्होंने वैसा ही बर्बरतापूर्ण परिचय दिया—देश को रौंद डाला, गांव के गांव उजाड़ डाले, खलिहानों में आग लगा दी, कत्लेआम किया। गार्गी संहिता के युगपुराण में कहा भी गया है—"तब लोहिताक्ष अम्लाट नाम का महाबली धनुमूल से अत्यन्त शक्तिमान् हो उठेगा और पुष्यनाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे सभी अर्थलोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चातुर्वर्णों को नष्ट कर देगा।"[1]

किन्तु बाद में जब भारतीयों ने उनको अपने में प्रश्रय दिया, मिला लिया और उनको मूलत क्षत्रिय बतलाया, जो ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से वृषलत्व को प्राप्त हुए थे,[2] तो उनमें भी श्रम-विभाजन हुआ।[3] धर्मशास्त्रों के अनुसार कृषिकर्म, व्यापारादि वह भी करने लगे। धर्मशास्त्रों के अनुसार इसलिये क्योंकि वह ब्राह्मणों के समाज में प्रविष्ट हुए थे (वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया था) और ब्राह्मणों ने अपने समाज में ग्रहण कर उनको गौरवान्वित किया था। सम्भवत इसीलिये रुद्रदामन प्रथम अपने जूनागढ़ लेख[4] में बार-बार कहता है—

धर्मानुरागेन, यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः, धर्म्मकीर्त्तिवृद्धधर्थं च अपीडयित्वा कर-विष्टि-प्रणयक्रियाभिः . . . . . ."

(१) कृषि—भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश है। कृषि की ओर राजा भी ध्यान देता था। राज्याभिषेक के समय उससे इस बात की प्रतिज्ञा करवायी जाती थी कि वह राज्य की कृषि, क्षेम, सम्पन्नता एवं वर्धन का ध्यान रखेगा।[5] धर्मशास्त्रों ने कृषि से होने वाली आय को भी

---

१. युगपुराण ६१-६७

२. शकायवनकाम्भोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥—अनु० प० ६८, २१

३. मगाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा,
मगाः ब्राह्मण भूयिष्ठाः मागधा क्षत्रियास्तथा
वैश्यास्तु मानसास्तेषं शूद्रास्तेषान्तु मन्दगाः।—वि० पु० २।४।६९

४. एपि० इं० ८।४२ आगे

५. इयं ते राट्।. . . .यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।—शतपथ ५।२।१ २५

निश्चित कर दिया था। धर्मशास्त्रों में राजा को 'षड्भागभृत्' कहा गया है। 'भाग' का तात्पर्य यहां खेती सम्बन्धी कर से है। भाग उस भूमि को कहते हैं जिस पर जोतनेवाले का मालिकाना हक़ रहता है और राज्य उससे उसकी सुरक्षा का छठाँ भाग लेता था, पर कभी-कभी विभिन्न दशाओं में यह 'कर' बढ़ भी जाता था। 'देवमातृका' पर कर की मात्रा कम थी। देवमातृका उस भूमि को कहते हैं जिसकी सिंचाई प्रकृति स्वयं करती हो। 'अदेवमातृका' पर कर की मात्रा राज्य निश्चित करता था, क्योंकि इस प्रकार की भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध राज्य स्वयं करता था। पेरिप्लस के अनुसार काठियावाड़ और उसके आसपास की भूमि में गेहूं, धान, गन्ना आदि की फसल हुआ करती थी।[1] गेहूं उनका मुख्य खाद्य-पदार्थ था।[2] फिर वे ऐसे स्थानों में बसे भी थे, जहां गेहूं की पैदावार बहुत होती थी।

(२) शिल्प—कृषि के बाद आर्थिक जीवन का आधार शिल्प था। शिल्प का तात्पर्य यहां उद्योगों से है। प्रायः बड़े-बड़े शिल्प राज्य के हाथ में होते थे। उनका संचालन राजकीय विभागों द्वारा होता था। देश के आर्थिक शासन के हेतु राज्य को उनसे शिल्प-सम्बन्धी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता था और साथ ही उनसे राज्य की आय भी बढ़ती थी। महाभारत में कहा भी गया है:—

"व्यापारियों की उत्पादन-शक्ति को सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिये। वे लोग राज्य को बलवान बनाते हैं, कृषि की वृद्धि करते हैं और व्यापार बढ़ाते हैं। इसीलिए बुद्धिमान् राजा उनके साथ बहुत ही दया और प्रीति का व्यवहार करते हैं। . . . . राज्य में व्यापारियों और वणिकों से बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं होती।[3]"

चमड़ा और फर पश्चिमोत्तर भारत का मुख्य उद्योग था।[4] यदि शकों की वेशभूषा पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि यह उद्योग उस काल खूब फला-फूला होगा। वे लम्बा ओवर कोट पहनते थे जो ठीक आजकल के मार्निंग ड्रेस की तरह होते थे, जिस पर फर लगा होता था। पैर तथा कटि-प्रदेश को ढकने के लिये वे लम्बा जूता और सलवार पहनते थे।[5]

वस्त्र-उद्योग भी था। वंग, पुण्ड्र, वाराणसी, मगध, मथुरा, अपरान्त, कलिंग, वत्स, मैसूर आदि इस उद्योग के मुख्य केन्द्र थे।[6] इस उद्योग में अधिकतर जुलाहे लगे हुए थे जिनको 'कोलीक'[7] कहा जाता था। मुख्य उद्योगों में आकर तथा धातु उद्योग भी थे। इसमें मूल्यवान हीरे-जवाहरातों

---

१. कें० हि० इं० २।४३१
२. बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
   मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः॥—चिकित्सा-स्थान ३०।३१६
३. महाभारत १२।८७।३८-४०
४. महाभारत २।२८।१६, २।४९।१९
५. मे० आर्कि० सर्वे इं० ३४।५
६. कैं० हि० इं० २।४३३
७. एपि० इं० ८।१२।८२ आगे

की प्राप्ति होती थी रुद्रदामन प्रथम का कोश कनक रजत-वज्र-वैदूर्य आदि रत्नों से भरा था[1] पेरिप्लस के अनुसार भारत का लौह और इस्पात अपनी धातु की किस्म और मजबूती के लिये मशहूर होने के कारण काठियावाड़ और उसके आसपास के बंदर से दूर पूर्वी अफ्रीका को जाया करते थे।[2] लौह और इस्पात उद्योग लोहवर्ण (लोहकार, लोहार) के हाथों में था।[3]

(३) वाणिज्य एवं व्यापार—देश को विभिन्न प्रदेशों और नगरों से मिलाने वाली सड़कें और मार्ग बने हुए थे। दक्षिण भारत में बैठन, नगर, नासिक, जुन्नर, कर्हाटक (करहाड) आदि नगर व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त उत्तर भारत में उज्जयिनी, मथुरा, कौशाम्बी आदि भी व्यापार के केन्द्र थे। व्यापारियों को कई नामों से जाना जाता था। यथा–(१) नैगम[4] (२) सार्थवाह (३) वाणिज (व्यवसायी)[5] (४) वणिक (व्यापारी) (५) वैदेहक आदि।

व्यापार भी खूब चलता था। पश्चिम के देशों से समुद्री व्यापार होता था। पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बंदरगाह भड़ोंच, सोपारा, कल्याण आदि थे जहाँ से जहाज पश्चिमी देशों के लिए रवाना होते थे और बाहर से जहाज आकर ठहरते थे। सोपारा जिला नहपान के अधिकार मे था और उसका शासक कोई 'संदने' था।[6] इसी काल व्यापार-सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी गयी—'पेरिप्लस आफ दी टीथ्रियन सी; जिसमें वाणिज्य की वस्तुओं का उल्लेख किया गया है।[7] इस पुस्तक के आधार पर पश्चिमी देशों—यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया आदि को भारत से हाथीदांत के सामान, रेशमी वस्त्र, मसाले, हीरे-जवाहरात जाते थे और वहाँ से सुरा और सुन्दरियाँ तेल-फ़ुलेल और उत्तम किस्म के वस्त्र आते थे।

(४) श्रेणियाँ—मौर्ययुग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणियाँ' थी। शिल्पी लोग श्रेणियों में संगठित थे और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखो मे इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। उनसे उस काल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखों में नासिक का गुहालेख विशेष महत्व का है–"सिद्धि। बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास मे राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीय पुत्र उषवदात ने यह गुहामंदिर चतुर्दिश संघ को अर्पण किया और उसने अक्षयनीवी तीन हज़ार कार्षापण चतुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा मे रहने वालों का कपड़े का खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिये होगा, और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलियों के निकाय में दो हज़ार, एक फी-सदी सूद पर, दूसरे कोलिक निकाय के पास, एक हज़ार, पौन फी सदी सूद पर। और ये कार्षापण

---

१. एपि० इं० ८।४२ आगे
२. कै० हि० इं० २।४३४
३. इं० क० १२।८२-८७
४. एपि० इं० ८।१२।८२ आगे
५. भावनगर अभिलेख, पृ० २३
६. इं० एं० १९१९, पृष्ठ ८२-८३
७ वही ८ १०७ आगे

लौटाये नहीं जायेंगे केवल उनका सूद लिया जायेगा। इनमें से एक फीसदी सूद पर दो हजार कार्षापण रखे गये हैं उनसे मेरे गुहामंदिर में रहने वाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह [illegible] दिये जायेंगे और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण हैं, उनसे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा कापुर प्रदेश में स्थित चितलद्रुग गांव से नारियल के ८००० पौधे लिये गये। यह सब निगम सभा में सुनाया गया और फलककार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।[1]

एक ही वस्तु के व्यापारी अथवा जाति के लोग 'श्रेणियाँ' बनाकर रहते थे। कुम्हार,[2] तेली,[3] जुलाहे,[4] नवकर्मिक,[5] लोहार[6] आदि की श्रेणियाँ थीं।

श्रेणियाँ बैंक का भी काम करती थीं।[7] इनके पास अक्षयनीवी (मूलधन) जमा किया जाता था। वह कभी क्षय नहीं होता था। उसके व्याज ही से काम लिया जाता था। ये श्रेणियाँ जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप से संचालन करती थीं, वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उस पर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और प्रामाणिक थी कि उसके पास ऐसा रुपया भी जमा होता था, जिसे फिर लौटाया नहीं जाता था, जिसका सिर्फ सूद ही सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता था। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप में बैंक करते हैं। उसके सूद की दर एक फीसदी और पौन फी सदी होती थी। नगर सभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध चरित्र की तरह (रजिस्टर्ड), कराया जाता था।

(५) **श्रेणियों का संगठन और उनका कार्य**—राष्ट्र संगठन की दृष्टि से श्रेणियों का बहुत महत्व था। इसके प्रधान या सभापति को 'श्रेष्ठिन्' कहते थे। मानव धर्मशास्त्र में जाति, जानपद और श्रेणी के नियम या कानून मान्य किये गये हैं।[8] याज्ञवल्क्य ने ऐसे लोगों को दण्ड देने का विधान भी किया है जो समूह के शुभचिंतकों के निश्चय के विरुद्ध काम करते हों।[9] श्रेणी अथवा नैगम का अपना निजी अधिवेशन भवन और कार्यालय होता था जिसे 'सभा' कहते थे।[10] एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि धनवान् और उदार व्यापारी ने नैगम सभा के अधिवेशन में यह लिखवाया था कि गोवर्धन नगर के कुछ श्रेणियों के पास मेरा जो धन है, वह अमुक-अमुक

---

१. एपि० इं० ८।१२।८२
२. लूडर्स लिस्ट नं० ११३७
३. एपि० इं० १।१६०
४. एपि० इं० ८।१२।८२
५. इं० क० ६।४२१-४२८
६. इं० क० १२।८२-८७
७. वही
८. जातिजानपदान्धर्म्मान्श्रेणीधर्म्मांश्च धर्म्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥८।४१
९. वीरमित्रोदय, पृ० १७१
१०. हिन्दू पोलिटी, डा० जायसवाल ६।२५९

दान कार्यों में लगाया जाय। इस वाक्य का अनुवाद सेनार्ट ने इस प्रकार किया है "यह सब निगम सभा के कार्यालय में नियम के अनुसार लिखा दिया गया है और इसकी रजिस्ट्री करा दी गयी है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सभा में एक लेखक या रजिस्ट्रार भी हुआ करता था, और वह जो लेख प्रमाण स्वरूप उपस्थित करता था, उसे सर्वोत्कृष्ट प्रमाण समझा जाता था।

न्याय या निर्णय का काम भी श्रेणियाँ करती थीं। मानव धर्मशास्त्र में उन लोगों के लिये दण्ड का विधान है जो सामूहिक संस्थाओं के निश्चयों अथवा समयों के विरुद्ध आचरण करते थे।[2] इनके निर्णयों का पालन होता था।[3] यदि वे राजा के बनाये हुए नियमों या धर्मों के विरुद्ध न हों।[4]

धर्मस्थान तथा सार्वजनिक स्थान भी उनके अधिकार में होते थे। वे मंदिरों की तथा अन्य पवित्र स्थानों की देख-रेख करते थे। इस प्रकार की इमारतों की वे मरम्मत भी कराते थे।[5]

(६) सिक्के—व्यवसाय एवं जन-जीवन में सिक्कों का महत्व लोग समझने लगे थे। लेनदेन के कार्यों में सिक्कों का प्रचलन होने लगा था। नहपान के नासिक गुहाभिलेख[6] में कार्षापण शब्द का उल्लेख हुआ है। कार्षापण सिक्के को कहा गया है। ये दो तरह के होते थे—ताम्बे के और चाँदी के। यहाँ चाँदी के कार्षापण सिक्कों से ही मतलब है। सोने के सिक्के सुवर्ण कहे जाते थे।[7] कार्षापणों का एक सुवर्ण होता था।[8]

शककालीन आर्थिक जीवन का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे भारतीय अर्थ-चिन्तकों के विचारों से प्रभावित थे। सम्भवतः इसीलिये रुद्रदामन प्रथम को सुदर्शन झील के मरम्मत कराने में अपने कोष से धन व्यय करना पड़ा था क्योंकि उस झील से सिंचाई का भी काम लिया जाता रहा होगा जिस पर 'कर' की मात्रा राज्य निश्चित करता था। ऐसी दशा में उसकी मरम्मत के लिये प्रजा से 'अनुग्रह' प्राप्त करना मुश्किल होता था। सम्भवतः इसीलिये रुद्रदामन

---

१. एपि० इं० ८।१२।८२

गोवर्धन—वाथवासु श्रेणिसु कोलीकनिकाये २००० वृधि पडिकशत........एत च सर्व स्रावित निगमसभाय निबध च फलकवारे चरित्रेति।

२. मनु० ८।२१८-२२१

३. देशस्थित्यनुमानेन नैगमानुमतेन वा।

क्रियते निर्णयस्तत्र व्यवहारस्तु बाध्यते॥—वीरमित्रोदय, पृ० १२० में उद्धृत.

४. याज्ञवल्क्य संहिता २।१८६

५. धर्मकार्यमपि संभूय कार्यमित्युक्तं तेनैव।

सभाप्रपादेवगृहतटाकारामसंस्कृतिः॥—वीरमित्रोदय में बृहस्पति, पृ० ४२५

इस सम्बन्ध में अभिलेख भी उद्धरणीय हैं, यथा—एपि० इं० ८।८२, ८।८८, आर्के० सर्वे० वे० इं० ४—जुन्नर अभिलेख।

६. एपि० इं० ८।१२।८२

७. इं० एं०, १९१९, पृ० ८१

८. वही

के कमसचिव और मतिसचिव उस ताल के मरम्मत के सम्बन्ध में उसके द्वारा जनता में आर्थिक सहायता की अपील के प्रश्न पर उसके विरुद्ध हो गये थे यही कारण है कि उसको अपने कोष से धन व्यय कर उस ताल को बनवाना पड़ा।

शककालीन आर्थिक जीवन पर इस प्रकार यदि हम एक सम्यक् दृष्टि डालें तो भारतीय आर्थिक जीवन और शककालीन आर्थिक जीवन में कोई भेद नजर नहीं आयेगा। यदि अन्तर कोई नजर आता है तो वह नामकरण का है जो कि केवल सहूलियत के लिये किया गया है, जिसको हटाया-बढ़ाया जा सकता है। ऐसा केवल काल-विशेष को दृष्टि में रखकर किया गया है। 'शककालीन' निकाल देने से वह शुद्ध भारतीय हो जाता है। इस प्रकार 'शककालीन आर्थिक जीवन' में हम भारतीय आर्थिक जीवन को ही परिलक्षित पाते हैं। और वह इसीलिये क्योंकि ब्राह्मणों का पुनः सम्पर्क उनको मिला था, वह ब्राह्मणों की वर्णव्यवस्था को मान चुके थे, जिससे उनका वृषलत्व जाता रहा।

शोध-सार

वैदिक आर्य और पूर्वी भारत

हरनचन्द्र चकलादार

'इण्डियन स्टडीज़, पास्ट ऐण्ड प्रजेंट' के
खंड ३, संख्या १,
अक्टूबर-दिसम्बर १९६१
अंक में प्रकाशित शोध-लेख
'आर्यन आकुपेशन आफ़ ईस्टर्न इण्डिया'
का सार

पूर्वी भारत और वैदिक आर्यों के सम्बन्ध को लेकर इतिहासकारों में काफ़ी बुनियादी मत-भेद है। कुछ लोगों का कहना है कि वैदिक युग में पूर्वी भारत में अनार्यों की ही बस्तियाँ थीं। उन लोगों की दृष्टि में पूर्वी भारत के वासी आज भी रक्त की दृष्टि से प्रधानतः अनार्य ही हैं। वे यह भी मानते हैं कि बिहार और बंगाल में व्याप्त हो उठने वाले महावीर और गौतम के धर्मान्दोलन भी वैदिक चिंतना और संस्कृति से सर्वथा अप्रभावित स्वतंत्र विकास के परिणाम थे। कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि पूर्वी भारत के वासी वैदिक संस्कृति और सभ्यता की तो परिधि के बाहर थे किन्तु आर्यों की एक परवर्ती लहर भी भारत आयी थी जिसने मध्य-देश में पहले से ही अपने पूर्वागत भाई-बन्धुओं को बसे देख और भी पूर्व में बढ़कर उड़ीसा, बंगाल और बिहार वाले क्षेत्र में पनाह ली थी। इस स्थापना के अनुसार पूर्वी भारतवासी आर्यों के एक अन्य जत्थे की संतानें हैं और आदिम पैतृकता की दृष्टि से पश्चिम भारतवासी बांधवों से भिन्न अवश्य हैं किन्तु है दोनों में एक ही आर्य रक्त।

प्रस्तुत प्रबंध के लेखक की स्थापना इन दोनों स्थापनाओं से पृथक् है। इस प्रबंध में यह प्रमाणित किया गया है कि आरंभिक वैदिक युग में भी, ब्राह्मण वाङमय के प्रणयन के भी पूर्व, आर्य पूर्वी भारत में आकर बस चुके थे। यही नहीं, पूर्वी भारत की धरती से उपजी हुई परम्पराएँ भी वैदिक सभ्यता में अंगभूत हो चुकी थी, जिससे यह साबित होता है कि वैदिक संस्कृति के परिपक्व और प्रौढ़ होने के भी बहुत पहले आर्य पूर्वी भारत में परिव्याप्त हो चुके थे। यह कहना भी ग़लत है कि आर्यों को पूर्वी भारत में प्रवेश पाने के लिए विंध्य मेखला के दक्षिण से चक्कर काट कर राह निकालनी पड़ी थी। वास्तव में पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत के गोल कपाल वाले आर्यों को आकर बसे एक अरसा गुज़र चुका था और नयी मिट्टी तथा नये जलवायु में उन्होंने अपनी नयी सभ्यता का भी विकास कर लिया था, जबकि उन्हें आर्यों की एक नवागत लहर के साथ और आगे

बढ़ चलना पड़ा। ये नवागत लोग लम्बे कपाल वाले आर्य थे जो एक लम्बे अरसे तक यहाँ आ गये, फैलते गये, बसते गये और अपने पूर्ववर्तियों से पायी हुई संस्कृति व सभ्यता को पचाते गये।

वैदिक आर्य अभी अनवस्थित, भ्रमणशील, यायावर जीवन ही बिताते थे। साहसिकता और विस्तार उनके जातीय तत्त्व थे। उत्तर-पश्चिम का एक जिला या प्रान्त उस दुर्दम, आकुल खोजी जाति को बाँध कर नहीं रख सकता था। उनके सामने गंगा-यमुना के ओर-छोर-हीन वनस्पति-बहुल, उपजाऊ मैदान का आकर्षण विद्यमान था और 'चरैवेति' का आह्वान हर आर्य के कंठ और कान में गूँज रहा था। हर आर्य यह जानता था कि चलने और चलते रहने से मधु की प्राप्ति होती है। चलने में उदुंबर (गूलर) का सा स्वादु गुण है। सूर्य भी भला चलने में कब तंद्रा या प्रमाद दिखाता है?—

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणम् यो न तन्द्रायते चरन् ।।—ऐतरेय ब्राह्मण, ७ । १५

पूर्वी भारत में आकर इन संचरणशील आर्यों के जीवन-विधान की माँग पूरी हो गयी जिससे यहाँ वे अवस्थित होने लगे, उनकी बस्तियाँ बसने लगीं। आर्य जहाँ-जहाँ भी फैले और बसे थे, आरम्भ में उस सारे क्षेत्र के लिए 'आर्यावर्त' शब्द का व्यवहार होता था। अर्थात् यह उनकी जातीय आवास-भूमि का नाम था और इसके अन्तर्गत एक व्यापक भूखंड शामिल था। बाद में चलकर 'आर्य' शब्द जाति-विशेष की संज्ञा के स्थान पर 'शिष्टता' का वाचक विशेषण और 'आर्यावर्त' आर्य जाति के आवास के स्थान पर आर्यों की शिष्ट संस्कृति के केन्द्र का नाम बन गया। धर्मसूत्रों मे 'आर्य' जाति-विशेष का नाम नहीं, 'शिष्ट' का पर्याय है और 'आर्यावर्त', गंगा-यमुना के दोआबे का वह सीमित भूखंड है जिसे मनु ने 'मध्यदेश' नाम से पुकारा है। वसिष्ठ और बौधायन के धर्मसूत्रों में 'आर्यावर्त' का यह परवर्ती आशय ही मिलता है। पतंजलि के 'महाभाष्य' में भी 'आर्यावर्त' शिष्टों की भूमि का ही नाम है।

'आर्यावर्त' के परवर्ती विशिष्ट अर्थ के बावजूद उसका मूल अर्थ आर्यों के जातीय प्रसार से ही संबद्ध था तथा मानव धर्मसूत्र के जमाने तक लोग उस अर्थ से अच्छी तरह परिचित थे। यह धर्मसूत्र संभवतः पतंजलि के महाभाष्य-काल की ही रचना है। अतः इस युग में 'आर्यावर्त' के जातीय अर्थ के साथ नये विशिष्ट अर्थ का भी प्रचलन हो चुका था। इसके दो अर्थों से भी दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं—एक का सम्बन्ध है आर्यों के प्रसार से, दूसरे का उनकी संस्कृति के केन्द्र से। स्पष्टतः इस एक भौगोलिक नाम के पीछे आर्य संस्कृति के आरम्भिक विकास के दो रहस्य छिपे हैं। एक तो यह कि आर्य उत्तर भारत के एक व्यापक भूखंड में चले, फिरे और बसे थे। दूसरा यह कि उनकी संस्कृति का केन्द्र पंजाब नहीं, मध्यदेश था।

वैदिक साक्ष्य के आधार पर हम जानते हैं कि आर्यों की आरम्भिक सभ्यता का केन्द्र 'सप्त-सिन्धवः' वाला भू-भाग था। ये सात नदियाँ आम तौर पर सिंधु-सरित्समुच्चय की नदियाँ ही मानी जाती रही हैं और इसी आधार पर वैदिक संस्कृति की उद्भव-भूमि पंजाब माना जाता रहा है। किन्तु यह मान्यता भ्रामक और तथ्य-विपरीत है। आर्य-संस्कृति का केन्द्र सरस्वती की भूमि थी, न कि सिंधु की। और वैदिक वाङ्मय की 'सात नदियों' में सिन्धु-सरित्समुच्चय की

नदियों के सिवा गंगा यमुना और सरस्वती भी सम्मिलित थी ऋग्वेद का ऋषि दूरवर्ती पूर्व से परिचित चाहे न रहा हो किन्तु वह समुद्र का छोर छूने वाले प्राच्य को अच्छी तरह जानता बूझता था। वितस्ता और विपाश का तो वह अपनी रचनाओं में जब-तब ही उल्लेख करता था किन्तु सरस्वती उसके लिए 'नदीतमा' (सर्वश्रेष्ठ नदी) थी (ऋग्वेद २।४१।१६, विल्सन द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित)। ऋग्वेद कोसल और मगध से सुपरिचित था, गंगा जानी-मानी नदी थी और ऋग्वैदिक नदियाँ पूर्ववाहिनी थीं (ऋ०५।८३।८)। 'सप्तसिन्धवः' में गंगा, यमुना, और सरस्वती भी शामिल थी हीं, जैसा कि ऋग्वेद की नदी-स्तुति (१०।७५।५) से स्पष्ट है। उसमें नदियों का वर्णन गंगा से आरम्भ किया गया है और पश्चिम की नदियों का नाम बाद में दिया गया है, हालाँकि उसमें किसी प्रकार के क्रम का निर्वाह नहीं किया गया है। गंगा, यमुना, शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता समेत मरुद्वृधा तथा सुषोमा समेत आर्जीकीया—ये हैं 'नदी-स्तुति' की नदियाँ। परुष्णी तो इरावती (रावी) ही है। मरुद्वृधा संभवतः असिक्नी (चेनाब) और वितस्ता (जेहलम) के संयुक्त हो जाने के बाद का नाम है। यास्क के अनुसार आर्जीकीया विपाश का नाम है तथा सुषोमा, सिंधु का, किन्तु यह मान्य नहीं। संभवतः सिंधु की ही ऊपरी धारा का नाम आर्जीकीया और तमाम नदियों के संगम के बाद की निचली धारा का नाम सुषोमा है, जिससे 'सिंधु' पूरी नदी का व्यापक नाम हुआ। स्पष्टतः पूर्वी भारत सप्तसिंधु-भूमि में न केवल सम्मिलित ही था, वरन् उसको प्राथमिकता और प्राधान्य भी प्राप्त था।

ऋग्वेद में तपस्वी 'मुनियों' का (१०।१३६) और अथर्ववेद में 'ब्रह्मचारियों' का (अथर्ववेद, ९।५, ६, ह्विटनी और लैनमैन द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित) प्रसंग भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वैदिक मुनि 'उभौ समुद्रौ आ क्षेति' (दोनों समुद्रों के बीच बसते थे) और 'पूर्व' से 'पश्चिम' सागर तक आते-जाते थे। अथर्ववेद का ब्रह्मचारिन् (संभवतः वेदपाठी) भी 'पूर्व' समुद्र से 'उत्तर' समुद्र जाता था। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा 'चतुरः समुद्रान्' से परिचित थे (९।३३।६, १०।४७।२), जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्वी भारत में पहुँच चुके थे। 'सप्तसिधवः' में पूर्ववाहिनी नदियों का सम्मिलित होना, सरस्वती का नदीतमा होना, मुनियों और ब्रह्मचारियों का पूर्व समुद्र से पश्चिम अथवा उत्तर समुद्र तक आना-जाना, चारों समुद्रों से ऋग्वैदिक आर्यों का परिचित होना इस बात का प्रमाण है कि आर्य न केवल पूर्वी भारत में पहुँच चुके थे, वरन् उधर ही उनका सांस्कृतिक केन्द्र भी विकसित हो चुका था।

सृजनात्मकता और मेधाविता

प्रमीला फाटक

'साइकोलॉजिकल स्टडीज' के
जनवरी १९६२
अंक में प्रकाशित शोध लेख
'एक्सप्लोरेटरी स्टडी ऑफ क्रियेटिविटी
एण्ड इंटेलिजेन्स
एण्ड स्कॉलेस्टिक अचीवमेण्ट'
का सार

साहित्यिक और कलात्मक सर्जना की मानव-विशिष्ट क्षमता नितान्त आभ्यन्तरिक [illegible] स्वात्मिक, विषयीगत है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक युग में भी इसकी सृजन-प्रक्रिया की ऐसी रहस्यमयी व्याख्याएँ की जाती हैं जो कभी-कभी तो गुह्यता की सीमा को छू लेती है। फिर भी आन्तरिकता के अतिवादी आग्रह के दायरे के बाहर ऐसे भी मनोवैज्ञानिक हैं जो इसके वैज्ञानिक अध्ययन का यत्न कर रहे हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिकों के दो वर्ग हैं—एक तो वे जो सृजन में क्रियाशील होने वाली मानसिक क्रियाओं का तथा मनोदशा या चेतना पर सर्जना के प्रभाव का अध्ययन करते हैं; दूसरे वे जो रचना के गुणात्मक पक्ष पर जोर देते हैं और सर्जना में अभिव्यक्त मानव-व्यक्तित्व की विशिष्टताओं तथा परिवेशगत तत्त्वों का अध्ययन करते हैं। मिनेसोटा विश्वविद्यालय के डॉक्टर ई० पॉल टॉरेन्स और उनके सहयोगियों ने इस दिशा में वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का तथा सृजनात्मकता के मापन की कुछ युक्तियाँ या विधियाँ खोजने का यत्न किया है। इन परीक्षण विधियों को लेकर अभी गवेषणा का कार्य चल ही रहा है तथा [illegible] शाब्दिक और अशाब्दिक दो परीक्षणों की औपचारिक रूपरेखा तैयार कर रखी गयी है। उनके नाम हैं (१) वृत्त-परीक्षण और (२) अपूर्ण आकृति-परीक्षण। इन्हीं परीक्षण-विधियों का प्रयोग बड़ौदा विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के विद्यार्थियों ने किया है और कुछ औपचारिक निष्कर्ष भी निकाले हैं। उनके निष्कर्षों को प्रस्तुत करने के पहले डॉ० टॉरेन्स की कुछ उन स्थापनाओं का परिचय दे देना अच्छा होगा जिन्हें उन लोगों ने भी अपना आधार बनाया है।

डॉ० टॉरेन्स ने सृजनात्मकता की परिभाषा इस प्रकार की है—"सृजनात्मकता कुछ विचारों के निर्माण, उनके परीक्षण और दूसरों के समक्ष परिणामों के निवेदन की प्रक्रिया (है)। यह किसी ऐसी चीज का निर्माण है जो (सर्वथा) नया हो, जिसका कम से कम व्यक्तिगत रूप से स्रष्टा के लिए पहले कहीं अस्तित्व न रहा हो।"—('एक्सप्लोरेशन्स इन क्रियेटिव थिंकिंग इन अर्ली स्कूल यर्स', षष्ठ, ब्यूरो ऑफ एजुकेशनल रिसर्च मिनेसोटा विश्वविद्यालय जून १९५९)

डा० टॉरेंस के अनुसार सजनात्मकता मे न्यनाधिक रूप से सम्मिलित होने वाले मानसिक तत्त्व ये है (१) समस्या के प्रति ग्राहिता (२) विचारणा की प्रवहमत्ता (३) विचारणा का लचीलापन (अर्थात् बहुरूपता, विविधता), (४) मौलिकता (अर्थात् नवीनता), (५) पुनर्परिभाषा तथा (६) विस्तार या विवरण।

डॉ० टॉरेन्स के अनुसार सृजन-प्रक्रिया के लिए घातक तत्त्व ये हैं—(१) बच्चों की कल्पना-शीलता के अकाल निवारण की चेष्टा, (२) परिचालन (वस्तुओं को उलटने-पुलटने, उठाने-धरने, उधेड़-बुन करने की) तथा जिज्ञासा पर रोक, (३) वर्जनाओं पर ज्यादा जोर, (४) भय या भीरुता उत्पन्न करने वाले तत्त्व, (५) शाब्दिक दक्षता पर ग़लत ज़ोर तथा (६) विचारों के विकास के लिए साधनों का अभाव।

बड़ौदा के विद्यार्थियों ने अपने अन्वेषण-कार्य की समस्या यह स्थिर की थी : कुछ परीक्षणो द्वारा मापित सृजनात्मकता का मेधाविता-परीक्षणों द्वारा मापित मेधाविता से तथा मापित शैक्षिक उपलब्धियों से कितना सम्बन्ध है ? इस अध्ययन के लिए बड़ौदा के प्रायोगिक हाई स्कूल की छठवी कक्षा के ३२ छात्र चुने गये थे जिनकी आयु ९ से ११ वर्ष के बीच थी और जिनमे १७ लडके तथा १५ लड़कियाँ थीं। उनकी मेधाविता और शैक्षणिक उपलब्धियों का तथा डॉ० टॉरेन्स की विधियों से सृजनात्मकता का परीक्षण और मापन किया गया और फिर उन आँकड़ों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले गये। ये निष्कर्ष अन्तिम नहीं, वरन् औपक्रमिक मात्र हैं तथा आगे के अध्ययन के लिए दिशा-निर्देश करते हैं।

उपर्युक्त प्रयोग के औपक्रमिक निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:—

(१) सृजनात्मकता के निर्लेखन (स्कोरिंग, मात्रांकन) के लिए काम में लायी गयी सामग्री वस्तुपरक माप के रूप में प्रशंसनीय थी।

(२) परीक्षणों द्वारा मापित सृजनात्मकता का मेधाविता मे अनति सम्बन्ध है।

(३) परीक्षणों द्वारा मापित सृजनात्मकता का परीक्षाओं में प्राप्त अंको से या कुशाग्रता-सम्बन्धी अध्यापकों के निर्णयों से कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं लक्षित होता।

(४) ९, १० और ११ वर्ष के वय की अवधि में आयु से सम्बन्धित विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। फिर भी वय के अन्तर सांख्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस विषय मे सामान्य नियम-निर्धारण के लिए वय की दृष्टि से यथेष्ट वृहत् निदर्शन (सैम्प्ल्) को लेकर अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

(५) जहाँ तक प्रस्तुत समुदाय का सम्बन्ध है, यौन अन्तर सांख्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु कुछ तथ्य इस बात की ओर संकेत अवश्य करते हैं कि इस दिशा में अधिक व्यवस्थित निदर्शनों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

(६) सृजनात्मकता-निर्लेखनों तथा साधारण परीक्षणों द्वारा मापित शैक्षिक उपलब्धियों के बीच कोई सम्बन्ध न होने तथा मेधाविता से केवल अनति (या अल्प) संबंध ही होने के कारण यह अच्छा होगा कि उच्च सृजनात्मकता तथा उच्च मेधाविता वाले समुदायों को लेकर व्यक्तित्व के अन्तरों, सामाजिक स्तर के अन्तरों, अभिरुचियों आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय।

एक प्राच्य सौर अभिप्राय और उसका पाश्चात्य प्रसार

बर्नार्ड गोल्डमैन

'जर्नल आफ़ नियर ईस्टर्न स्टडीज़' के
जिल्द २०, अक्तूबर १९६१,
अंक ४ में प्रकाशित शोध-लेख
'ऐन ओरिएण्टल सोलर मोटिफ़ एण्ड
इट्स वेस्टर्न एक्सटेंशन'
का सार

इस बात के अधिकाधिक प्रमाण लगातार मिलते जा रहे हैं कि प्राचीन युगों में पूर्व और पश्चिम के बीच काफ़ी निरंतरता के साथ सम्बन्ध बना था, और जब-तब ऐसे भी काल आते थे जब कि सम्पर्कों की घनिष्ठता और भी अधिक बढ़-चढ़ जाया करती थी। इसी प्रकार का एक युग ईस्वी-पूर्व की आठवीं शती के उत्तरार्ध तथा सातवीं शती के आरम्भ में आया था जब कि यूनानी कला के प्राच्य युग के समारम्भ की भूमिका के रूप में भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में प्राच्य संस्कारों के गहरे प्रभाव का दौर शुरू हो गया था। प्राच्य संस्कारों के आरम्भिक लक्षण यूनान और एट्रूरिया (इटली-स्थित टाइबर नदी के उत्तर का एक प्राचीन राज्य) के कांस्य भांडों में विशेष रूप से दिखाई पड़ते हैं। वहाँ के शंकु के आकार के टेक (स्थाम, स्टैंड) वाले कांस्य के बने सुप्रसिद्ध बड़े देगचे और उनमें अलग से जुड़े हुए उनके आलंकारिक अंग या तो निकट पूर्व से सीधे अपना लिये गये हैं या पश्चिम में ही उनका ऐसे हाथों से निर्माण हुआ है जिन्हें प्राच्य परंपरा में प्रशिक्षण मिल चुका था। इन देगचों में कीलों के ज़रिये पंख वाली जलपरियाँ (सायरन्स) तथा पूँछ वाली मानवाकृतियाँ (अत्मुर्स) जड़ी होती हैं। इन्हीं में देगचों के टँगनों के लिए कुल्ले या मुँदरियां बनी होती हैं। ये आकृतियाँ स्पष्टतः पूर्व की ही देन हैं।

पश्चिम के पादरी-पुरोहितों के हाथ में रहने वाली छोटी बाल्टियों के टँगनों के कुल्ले (संधर, क्लैम्प) के लिए पक्षियों की आकृति का मानक रूप असीरियाई कला की ही विशिष्टता है। ये असीरियाई पक्षि-आकृतियाँ नितांत प्रकृतिवादी प्रत्यंकन से लेकर [illegible] की उभरवाँ (रिलीफ़) क़िस्म की योजना-बद्ध आकृतियों तक तमाम तरह की मिलती हैं। कम से कम नवीं शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक बाल्टियों का यह संलग्न विहगाकृत अंग पंख वाले सौर बिम्ब से संयुक्त हो चुका था। पक्षी को और विशेष रूप से चील को इसके भी बहुत पहले से ही आकाश और सूर्य के प्रतीक के रूप में व्यवहृत किया जाता रहा। इसीसे इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बाल्टी के कुल्ले के रूप में कभी पक्षी को और कभी सौर बिम्ब को अदला-बदली करके प्रयोग में लाया जाता रहा। इसमें भी संदेह का कोई प्रश्न नहीं कि पक्षी और सौर बिम्ब दोनों सूर्य देवता से संबद्ध हैं। सूर्य

देवता के विहगाकृत रूप की ही तरह पश्वाकृत रूप सीरियाइ और मेसोपाटामियाइ परम्परा से उत्पन्न हो गयी हो, इसकी सम्भावना है। जहा तक मानवाकृत रूप का प्रश्न है, वह विहगाकृति पर आरोपित मात्र है।

उरार्टू, फ्रीजिया (एशिया माइनर का प्राचीन राज्य), सैमोस और यूनान में संलग्न विहगाकृति का एक और रूपान्तर देखने में आता है। यहाँ के कुछ कांस्य चुल्लों में पक्षियो के डैनो खुलने से बने T-आकार को तो बचा रखा गया है किन्तु उसके ऊपर से बैल का सिर जोड़ दिया गया है। यह रूपाकृति भी एट्रूरिया तक पहुँच गयी थी। वृषाकृत चुल्ला पक्षी और जलपरी वाले चुल्ले का ही रूपान्तर होने के कारण प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टि से सौर प्रतीकवत्ता से ही संबद्ध है। अनेक बार चुल्ले के निर्माण में जल्दबाजी कर दिये जाने पर उसकी पश्वाकृति तो उड़ जाया करती रही है लेकिन T -आकार हमेशा क़ायम रहा है जिसकी दोनों भुजाओं में कीलें जड़कर टँगने के लिए गोल छेद बना दिया जाता रहा है। इस प्रकार पूर्वी देशों में चुल्लों में प्रयुक्त होने वाले खुले डैने वाले पक्षी से उद्भूत आकृति के ये सारे रूपान्तर—विहगाकृति मात्र, या पंखे और पूँछ वाला सौर बिम्ब, या वृषभ-शिर-धारी विहगाकृति, या पक्षी की रूप-निःशेष- T-आकृति—एक सुस्पष्ट, एकान्वित समूह में आते हैं और पूर्व तथा पश्चिम में प्रचलित चुल्लों की अन्य तमाम आकृतियो से भिन्न हैं—यथा, ऊपर के देगचों के गोल चुल्ले, काकेशस के तितली-जैसे चुल्ले, मिस्र की बाल्टियो के चुल्ले और पश्वाकृतियाँ, यूनान के आयत चुल्ले।

पक्षधारी सौर बिम्ब को छोड़कर विहगाकृत T-चुल्लों के सारे विभेद बहुत ही अलंकृत बडे-बड़े देगचों-समेत भूमध्यसागरीय द्वीपों और तटवर्ती भूखण्डों में जा पहुँचे थे। जलपरी और अस्सुर आकृति वाले चुल्ले रोड्स, क्रीट, एथेन्स, माउट प्लाओस, डोडोना, ओलिंपिया, एट्रूरिया आदि में खूब प्रचलित थे। कालान्तर में तो प्राच्य विहगाकृत चुल्ला कला सम्बन्धी क्लासिकल योजना का भी अंग बन गया। वह पश्चिम के शिल्पियों के हाथों में पहुँच और अनेकानेक पशुओ और अवर देवताओं की आकृतियों में ढलकर तमाम की तमाम नितान्त काल्पनिक संरचनाओ के रूप में बिखर गया।

इस प्रकार T-आकृत पश्चिमी चुल्ले के सारे रूपों का आद्य उद्भव निकट-पूर्व में हुआ था। असीरियाई साक्ष्य के आधार पर हम यह मान सकते हैं कि इस चुल्ले का सम्बन्ध धार्मिक संस्कारो या कृत्यों में काम में आने वाले बर्तनों से था। इसीने सौर बिम्ब, अस्सुर आकृति और वृषभ आकृति के रूप में एक विशिष्ट सौर प्रतीकवत्ता ग्रहण कर ली। इसकी रूपविहीन आकृतियों में भी सौर ऊर्जा का आवेश अवश्य विद्यमान रहा होगा। यह मान लेने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है कि पश्चिमाभिमुखी संक्रमण के दौरान में इस अभिप्राय में निहित सौर प्रतीकवत्ता लुप्त हो गयी थी। यह अवश्य है कि प्रेरणा के मूल स्रोत से ये चुल्ले जितनी ही दूर बढ़ते गये, उतनी ही रूपविहीन सूक्ष्म आकृतियाँ अपनाते गये जिससे अंततः अवशेषभूत T-आकृति ही बाकी बच रही।

असीरियाई देगचे पुष्पालंकृत आधारों पर खड़े किये होते हैं लेकिन वे स्वयं अनलकृत होते हैं। उनकी उद्भावना वान झील-क्षेत्र में हुई थी और वहीं से वे फ्रीजिया और सागरवर्ती क्षत्रो में पहुँचे थे इस का काल निश्चित नही जा सकता किन्तु विभिन्न पुरा

तात्विक खोजों के आधार पर उन देगचों के सौर विषय-तत्त्व-मूलक चुल्लों के पश्चिम-गमन का काल-निर्धारण कहीं अधिक निश्चय के साथ किया जा सकता है। उनका ७वीं शती ई०-पू० के आरम्भ तक तो पश्चिम-गमन हो चुका था, किन्तु आठवीं शती ई०-पू० के पूर्वार्ध तक नहीं हो पाया था। इन प्राच्य देगचों के पश्चिम-गमन से यह भी जाहिर होता है कि प्राच्य व्यापारी अपना सारा माल दक्षिणी राह अपनाकर सीरियाई और फीनिशियाई समुद्र-तट पर ही लाते थे और अलमीना से भूमध्यसागर में भेजते थे। इसी से मिस्र से एट्रूरिया के बीच की द्वीप-माला पर आज चोंच वाले देगचों के तमाम अवशेष उपलब्ध होते हैं। इस तथ्य से यह भी स्पष्ट है कि काला सागर के बन्दरगाहों से उत्तरी मार्ग से इनका और अन्य व्यापारी वस्तुओं का निर्यात नहीं किया जाता था।

पश्चिम में चुल्लों में व्यवहृत ये सौर प्रतीक बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और इसी कारण इनकी इतनी अधिक संख्या में अनुकृति भी हुई थी। सातवीं शती ई०-पू० तक उत्तरी प्राच्य शिल्पियों द्वारा निर्मित कौशल-प्रसूत वस्तुओं का एट्रूरिया तक बहुत मान होने लगा था। एट्रूरिया में तो ये बाल्टे अपने संलग्न अलंकरण समेत कुलीनों की समाधियों पर रखे जाया करते थे। इससे यह भी अनुमित होता है कि इतने प्राचीन युग में ही एट्रूरियाई धर्म में सूर्योपासना के तत्त्वों को भी महत्त्व प्राप्त हो चुका था।

भारतीय भाषाओं के लिए

एक लिपि का प्रश्न

—एक परिसंवाद—

पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में भाषावादी संकीर्णता और राष्ट्र-विरोधी अलगाव की शक्तियों का ज़ोर काफ़ी बढ़ा है। इससे राष्ट्रीय अखण्डता के लिए मूलभूत भावात्मक एकता की स्थापना के उपायों की खोज का शुरू हो जाना भी स्वाभाविक ही है। गत वर्ष अगस्त मास मे इसी उद्देश्य को लेकर दिल्ली में मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था जिसने भारत की समस्त भाषाओं के लिए एक ही लिपि के अपनाये जाने के सुझाव का समर्थन किया था। उसकी दृष्टि में यह उपाय भावात्मक एकता लाने की दिशा में बहुत ही प्रभावकारी क़दम साबित होगा।

समस्त भारतीय भाषाओं की समान लिपि के इसी सुझाव पर भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मासिक 'कल्चरल फोरम' के अक्टूबर १९६१ के अंक में एक परिसंवाद आयोजित किया गया था जिसमें बारह विशेषज्ञों के विचार प्रस्तुत किये गये थे। यहाँ उस महत्त्वपूर्ण परिसंवाद मे अभिव्यक्त अभिमतों का सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

हुमायूँ कबीर

भाषा का व्यक्तित्व से एक भीतरी सम्बन्ध है तथा वर्णमाला का भाषा से एक ख़ास रिश्ता है और कुछ वर्णमालाएँ कुछ ख़ास प्रकार की ध्वनियों अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक सफलता से व्यक्त कर लेती हैं। किन्तु लिपि की तो प्रत्यक्ष अनुभव से दूरी तिहरी है। कोई भी वर्णमाला किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है जिससे यह भी जाहिर है कि कोई भी भाषा किसी भी लिपि मे लिखी जा सकती है, बशर्ते कि उसकी वर्णमाला में आवश्यक ध्वनियाँ विद्यमान हों। यदि न भी हों, तो ऐसी ध्वनियाँ जोड़ दी जा सकती हैं और उनके दृष्टिगत संकेत गढ़ या अपना लिये जा सकते हैं। इसलिए किसी लिपि को चुनने का एकमात्र आधार उसकी स्पष्टता, सुवाच्यता तथा हाथ के और यांत्रिक प्रकार के हर परिचालन की अधिकाधिक सक्षमता को बनाया जाना चाहिए।

सुनीतकुमार चटर्जी

भारत की तमाम लिपियों का अंततः दमन कर देने के इरादे से यहाँ की राष्ट्रीय लिपि के रूप में नागरी की प्रतिष्ठा करने की भला कोई ज़रूरत है भी ? क्या 'भावात्मक एकता' कृत्रिम रूप से लिपि की एकता को बढ़ावा दे देने मात्र पर निर्भर है ?

नागरी लिपि के पक्ष में केवल दो बातें हैं। एक तो इसको अपनी मातृभाषा के रूप में प्रयोग में लाने वालों की संख्या और दूसरा इसका भारत की पवित्र पारम्परिक भाषा संस्कृत के लिए अखिल-भारतीय लिपि के रूप में स्वीकृत होना। भारत के ४० करोड़ वासियों में से १८ करोड़ नागरी लिपि की परिधि में आ जाते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बंगला, तेलुगु और तमिल लिपियों का व्यवहार करने वाले लोगों के हृदय में अपनी-अपनी मातृभाषा की लिपियों के प्रति प्रेम और भक्ति है। इसलिए अभी वर्तमान समय में यथास्थिति को ही बने रहने देना चाहिए। अखिल-भारतीय लिपि के प्रश्न पर तो तर्कपूर्ण विधि से विचार करना होगा, न कि केवल भावनापूर्ण विधि से।

एस० एम० कात्रे

देवनागरी लिपि ने सारी भारतीय लिपियों के बीच सेतु का काम किया है। भारत में बोली जाने वाली सारी भाषाओं के लिए एक ही सरल लेखन-पद्धति का विकास कर लेने पर, हर भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं के बोलने वालों से कहीं अधिक सरलता से विचारों का आदान-प्रदान कर सकेगा और ऐसी भाषाओं में दक्षता हासिल करने में कम समय लगने लगेगा। हमारे भावात्मक एकता के संवर्धन के पक्ष में समान लिपि का अपनाया जाना बहुत ही उपयोगी होगा।

वी० राघवन्

मैं एक लिपि के पक्ष में हूँ, देवनागरी लिपि-माला के, जो अन्य सभी से अधिक प्राकृतिक रूप से व्यवस्थित है। किन्तु इसे लादा नहीं जाना चाहिए। स्थानीय भाषा और संस्कृत साहित्य के लिए स्थानीय लिपि को ही सर्वेसर्वा होना चाहिए। अखिल भारतीय व्यवहार, अनुभव और मूल्यांकन के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होना चाहिए। साथ ही साथ शैक्षिक और शोध परक कार्यों के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया जा सकता है।

वी० के० आर० वी० राव

भावात्मक एकता के हक़ में यह अनिवार्य है कि भारत के विभिन्न जन-समुदायों के विचारों के आपसी आदान-प्रदान के लिए कारगर तरीक़े प्रदान किये जायें। विभिन्न भाषाओं के बीच विचार-विनिमय में सुगमता लाने के लिए जो अन्यान्य भाषाओं का अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें समान लिपि के अपनाये जाने से सचमुच लाभ होगा। यह सर्वनिष्ठ लिपि देवनागरी ही होनी चाहिए।

वी० के० गोकाक

थोड़ा कुछ जोड़ दिये जाने के बाद देवनागरी लिपि हमारी सभी भाषाओं की ज़रूरतें पूरी कर सकती है। किन्तु, सभी राज्यों में सारे कामों के लिए तत्काल देवनागरी को लागू कर देने के स्थान पर आपस में बहुत ही मिलने-जुलने वाली आधुनिक भारतीय भाषाओं की लिपियों के परस्पर विलयन का यत्न किया जा सकता है।

एन० वी० कृष्ण वारियर

लिपि का संस्कृति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि सम्भव और उपादेय दोनों है। ऐसी सर्वनिष्ठ लिपि हमारी सारी भाषाओं को और भी सन्निकट ला देगी और भारत के विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों के बीच सच्ची चिरव्यापी भावात्मक एकता का मार्ग प्रशस्त कर देगी। इस मामले में देवनागरी का दावा निर्विवाद है। फिर भी यह आवश्यक है कि देवनागरी लिपि को और भी वैज्ञानिक बनाने के लिए उसमें कुछ सुधार किये जायें।

बाबूराम सक्सेना

किसी भाषा को सीखने में लिपि का विभेद बहुत बड़ी बाधा होती है। यदि उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाओं के बीच लिपि के व्यवधान न होते तो उनके बीच की शब्दावली की समानता उनकी आपसी बन्धुता को पूरी तरह व्यक्त होने देती। भारतीय भाषाओं के लिए एक सर्वनिष्ठ लिपि की वांछनीयता निर्विवाद है और वर्तमान लिपियों में से देवनागरी को चुन लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं। किन्तु इस हेतु देवनागरी को सुधारना आवश्यक होगा।

कृपानाथ मिश्र

यदि भारतीय एकता की रक्षा और संवर्धन करना आवश्यक है तो (और भावात्मक एकता के लिए तो हर हालत में) भारतीय भाषाओं के लिए एक ही लिपि का प्रयोग अनिवार्य और अपरिहार्य है। देवनागरी ही एकमात्र वह लिपि है जो समस्त भारतीय भाषाओं के लिए व्यवहृत हो सकती है। फिर भी इस उद्देश्य के लिए उसको अपनाने के पूर्व उसके थोड़े से छोटे-छोटे दोषों का निवारण आवश्यक है।

रघुवीर

वैसे हिमाचल, दक्षिणी पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र और दिल्ली में देवनागरी का व्यवहार होता है। पंजाबी और गुजराती की लिपियाँ देवनागरी से ही मिलती हैं। नेपाल में भी देवनागरी का ही प्रचलन है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य के लिए देवनागरी ही व्यवहृत होती है। किन्तु देवनागरी को केवल अतिरिक्त लिपि होना चाहिए। क्षेत्रीय लिपियों का स्थान देवनागरी को देना अबुद्धिमत्ता होगी।

सी० एन० वकील

वर्तमान अवस्था में एक सर्वनिष्ठ लिपि सम्बन्धी उन्मादी विवाद को ला खड़ा करने का मतलब होगा भाषाओं की विद्यमान समस्याओं को और भी जटिल बना देना, राष्ट्रीय एकता की स्थापना के बुनियादी मसले से ध्यान को अलग खींच ले जाना और विघटनमूलक शक्तियों को बढ़ावा देना।

एल० एच० अडवानी

इधर कुछ वर्षों में भारतीय राजनीति का सबसे विषाक्त तत्त्व रहा है भाषावाद, जिसने जातिवाद और संप्रदायवाद से ज्यादा क्षति पहुँचायी है। यदि हमें अपने देश के भीतर की विघटनकारी प्रवृत्तियों पर रोक लगानी है तो सबसे पहिले अपनाये जाने वाले उपायों में एक होना चाहिए समस्त भारतीयों में एक लिपि का प्रचार। इस देश की सेवा कर सकने वाली एक मात्र लिपि होगी देवनागरी, किन्तु वह देवनागरी बहुत ही संशोधित देवनागरी होगी जिसे नये वर्णों और संकेतों को जोड़कर सिंधी-जैसी उन भाषाओं के भी अनुकूल बना लिया गया होगा जिनमें ऐसी ध्वनियाँ पायी जाती हैं जो हिन्दी भाषा में नहीं हैं।

— बद्रीनाथ तिवारी
द्वारा
संकलित

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

अजय की डायरी

डॉ० देवराज का उपन्यास

प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स, काश्मीर गेट, दिल्ली-६। पृष्ठ-संख्या : ३३४। मूल : ५.०० रु०।

'अजय की डायरी' डायरी के रूप में लिखा गया डॉ० देवराज का नवीनतम उपन्यास है। इसके नायक अजय को डॉ० द्विवेदी की सहायता से एक इंस्टीट्यूट का फ़ेलो चुन लिया जाता है। स्वभावत: वह उनकी लड़की दीपिका के सम्पर्क में आता है। शीघ्र ही छोटी-सी एक पार्टी जिसमें नायक के अतिरिक्त दीपिका, उसकी मौसेरी बहिन हेम, कॉलेज की एक छात्रा इला, अवस्थी और पांडे सम्मिलित हैं, काश्मीर-यात्रा पर जाती है। यह यात्रा अजय और हेम के रोमांस की पृष्ठभूमि बनती है। घर लौटने पर इस भेद का पता अजय की पत्नी शीला को लगता है, जो स्पष्टत इस सम्बन्ध का विरोध करती है। इस काम में उसे दीपिका का समर्थन प्राप्त है। कुछ दिनो के उपरान्त अमरीका की संस्कृति के अध्ययन के लिए अजय को एक वृत्ति मिलती है और वह विदेश चला जाता है। प्रवास-काल में उसका पत्र-व्यवहार दीपिका तथा कॉफ़ीहाउस के अन्य मित्रों डॉ० मदन एवं निगम से चलता है; पर हेम उसे कभी कुछ नहीं लिखती। दीपिका के पत्र से उसे सूचना मिलती है कि हेम का विवाह एक इंजीनियर से होने वाला है और वह ठीक समय पर हो भी जाता है। अमरीका से लौटने पर अजय अपनी निराशा में एक पत्र हेम को लिखता है, जिसे वह प्रेषित नहीं कर पाता; पर उसे विश्वास है कि वह पत्र उसकी प्रेयसी तक कैसे भी पहुँचेगा अवश्य और अनेक बाधाओं के होते हुए उसका उत्तर किसी दिन उसे मिलेगा ही।

विचार के धरातल पर डॉ० देवराज का एक सिद्धान्त है जिसे वे 'ए क्रिएटिव प्रोसेस' कहते हैं। यह सिद्धान्त उस उच्चतर जीवन का निदर्शन है जिसमें उपयोगिता के स्थान पर सृजनशीलता को, वाह्यमुखी प्रवृत्तियों के स्थान पर आंतरिक जीवन की सुषमा को, संघर्ष के स्थान पर साधना को और वासना के स्थान पर प्रेम को महत्ता दी गई हो। संक्षेप मे इसे 'चेतना की खोज' कह सकते हैं। अपने प्रथम उपन्यास 'पथ की खोज' में लेखक जिस जिज्ञासा को लेकर चला था उसका उत्तर एक प्रकार से अब उसे मिल गया है। उसका पथ आलोकित और स्पष्ट है।

डॉ० देवराज के इस जीवन-दर्शन से किसी का विरोध नहीं हो सकता; पर इसमें नारी के स्थान वाली बात कहाँ तक संगत है, यह एक अलग प्रश्न है। उपन्यास में कई स्थानों पर नायिका द्वारा नायक के चरण छूने की बात उठायी गयी है यह बात इतनी नहीं लगती जितनी

आरोपित। डॉ० देवराज नारी का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में नारी के अस्तित्व की सार्थकता केवल इतनी है कि वह ऊर्ध्वचेता नर की प्रेरणा बन कर रहे। ऐसी समर्पित नारी आज कहाँ मिलेगी? वैसे भी उनकी यह भावना अत्यन्त रूढ़िवादी और मध्य-युग की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति की परिचायिका है। आज की प्रबुद्ध नारी इसे मान्यता प्रदान कर सकेगी इसमें मुझे सन्देह ही है। इतना होते हुए भी इस चिंतन को मौलिक और निजी कहा जा सकता है। बौद्धिक धरातल पर यह कृति काफ़ी गम्भीर और विचारोत्तेजक है।

उपन्यास का पूर्वार्द्ध जितना रोचक है, उत्तरार्द्ध उतना ही फीका और शिथिल। काश्मीर और अमरीका-यात्रा दो भिन्न प्रकार की यात्राएँ हैं। काश्मीर के वर्णन से पाठक का मानस आन्दोलित होता है, क्योंकि उससे लेखक का रागात्मक सम्बन्ध है। पर्वत, नदी, ग्लेशियर, झील, उद्यान और पहाड़ी ग्रामों तथा मन्दिरों के वर्णन मन को सौंदर्य की चेतना से छूकर परिपूर्ण कर देते हैं। पाठक इन वर्णनों के साथ बहा चला जाता है। यही बात न्यूयार्क, शिकागो एवं वाशिंगटन के वर्णन के लिए नहीं कही जा सकती। वहाँ की डेटिंग-प्रथा तथा नाइट-क्लबों तक का वर्णन ऊपरी मन से किया गया है। 'आर्ट गैलरी' का विवरण तो एकदम उबा देने वाला है। काश्मीर और अमरीका के वर्णन में अन्तर यह है कि एक को लेखक अपनी अनुभूति का अंग बना पाया है, दूसरे को नहीं; इसीसे पहला सौंदर्य-मूलक है, दूसरा मात्र सूचनात्मक; पहला एक महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय भाव से सम्बद्ध है, दूसरा उससे विच्छिन्न।

जहाँ तक सौंदर्य की भंगिमाओं और मन में उठे विकारों का सम्बन्ध है, डॉ० देवराज उन्हें पकड़ने, उनका सूक्ष्म चित्रण करने तथा हमारे राग-तत्त्व से उन्हें सम्बन्धित करने में दक्ष हैं; पर जीवन की मार्मिक घटनाओं को लेकर वह कोई मौलिक कल्पना नहीं कर सकते। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ प्रायः प्रचलित ढंग की हैं। विश्लेषण और वर्णन की शैली शक्ति उनमें है, वैसी कथोपकथन को सजीवता प्रदान करने की नहीं। प्रेम जब तक मन में है या संकेतों से प्रकट होता है, तब तक डॉ० देवराज उसके कुशल चितेरे हैं; पर जहाँ प्रेम के व्यवहार-पक्ष की बात उठती है, वहाँ वे कुछ खो-से जाते हैं। इनके सभी उपन्यासों के नायक न जाने क्यों कुछ 'नर्वस' टाइप के हैं? अतः संवेदन की दिशा में 'अजय की डायरी' में कुछ भी अनूठा नहीं है। डॉ० देवराज का अध्ययन जैसा गम्भीर और विस्तृत है, जीवन का अनुभव वैसा नहीं—विशेष रूप से प्रेम के क्षेत्र का। वह अभी तक कालर में गुलाब का फूल खोंसने, 'आप' के स्थान पर 'तुम' कहने और 'किस मी द किस' तथा 'किस मी' तक सीमित है। कथानक को उन्होंने काफ़ी ऊँचाई से उठाया है; पर अन्त में आकर वे उसी कैशोर मनोवृत्ति वाले स्थल पर, जहाँ आज के अधिकांश उपन्यासों का अन्त होता है, टूट जाता है। उपन्यास का नायक बहुत भावुक है; पर उसका भाव-जगत परिपक्व कोटि का नहीं है। बौद्धिक व्यक्ति का इतना भावुक होना कुछ समझ में नहीं आता। जहाँ तक अजय के मन की वासना का सम्बन्ध है, उसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है। शीला उसकी पत्नी है ही, हेम से कई बार वह चुम्बन माँगता है, अमरीका में सुन्दरी युवतियों के अर्द्ध नग्न और उभरे शरीर को बड़ी ललक की दृष्टि से देखता है तथा अपने एक परिचित द्वारा एक अमरीकन लड़की को बुलाकर वासना की तृप्ति करता है। ऊर्ध्व चेतना का विकास कहीं इस प्रकार होता है? इसी असंगति के कारण उपन्यास के मुख्य पात्र हताश-भावना के शिकार हैं। उपन्यास में प्रतिपादित सुमन-विकास

की प्रक्रिया का इस हताश-भावना से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। आलोकित अन्तर वाले व्यक्ति को तो इससे बहुत ऊपर उठा हुआ होना चाहिए तथा ऐसी चेतना से सम्बद्ध होने के उपरान्त तो मानवीय सम्बन्धों में एक और ही प्रकार की गरिमा आ जानी चाहिए। तात्पर्य यह कि आन्तरिक गठन की दृष्टि से इस उपन्यास में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध पाया जाता है। हमारा विचार है कि इस डायरी का अन्त अधिक उदात्त मनोभाव में होना चाहिए था—चाहे वह वृत्ति अपने मूल में कितनी ही ट्रेजिक क्यों न होती। यों कुल मिलाकर 'अजय की डायरी' प्रौढ़ चिंतन से युक्त एक महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक उपलब्धि है। डॉ० देवराज के उद्देश्य की पवित्रता और गम्भीरता में कोई सन्देह नहीं कर सकता।

—विश्वम्भर 'मानव'

सूने अँगन रस बरसै

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का कहानी-संग्रह

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ-संख्या : २०५। मूल्य : ३.०० रु०।

कला और साहित्य में टेकनीक के, कारीगरी के आग्रह का मतलब ही है यत्न का, आयास का आग्रह। टेकनीक का आग्रह कथ्य के खाते में टोटे का द्योतक है। लेकिन जो क़लम लेकर कुछ सिरजने बैठा हो, उसके पास कहने को कुछ नहीं हो, यह कैसे सम्भव ? भीतर कोई कुलबुलाहट, कोई पीड़ा उठी ही नहीं तो क़लम क्योंकर उठी ? पर पत्र या डायरी लिखने के पीछे छिपी कुलबुलाहट और साहित्य-रचना के पीछे छिपी वेदना में अन्तर भी तो होता है। कहने को कुछ होने का मतलब है साहित्य में कहने योग्य कुछ होना है। साहित्यिक कथ्य व्यक्ति-विशेष से व्यक्ति-विशेष के पास प्रेषितव्य न होकर व्यक्ति-विशेष से लोक-सामान्य के पास प्रेषितव्य होता है। यह व्यक्ति से लोक तक की यात्रा ही कथ्य और कथनकर्ता को सामाजिक संदर्भ में बाँध देता है। इसीलिए कथ्य के टोटे का मतलब है कथ्य तथा कथनकर्ता का सामाजिक संदर्भ से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से टूटा होना। यह मनोवैज्ञानिक संदर्भ-च्युति विशेष सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है और विधेयात्मक कथ्य के आवेग, प्रयोजन और मिशन के अभाव में रचनाकार को आस्थाहीन, खोखला, अहंवादी, समझौतावादी, प्रशस्तिवादी, कलाबाज आदि बनाती है।

कथ्य मूलतः एक दार्शनिक दृष्टि है जो घटिया रचनाओं में उपदेशात्मक, व्याख्यानपरक जैसे स्थूल रूपों में उभर आती है तथा अच्छी रचनाओं में अतीन्द्रिय और परोक्ष रह कर और अन्य कलेवर का अंगभूत होकर, अदृश्य और अटोह बनी रहती है। अब अगर यह कहा जाय कि 'सूने अँगन रस बरसै' की कहानियों के लेखक के पास कथ्य का नितान्त अभाव है, तो इसका सीधा मतलब यही हुआ कि वह दार्शनिक अन्तर्दृष्टिहीन है, और निजी तथा सामाजिक जीवन को किसी अन्तर्व्यवस्था में बँधा हुआ देख सकने में असमर्थ है। अब, चूँकि वह कारीगर भी घटिया है, इसलिए कथाकार के रूप में उसकी स्थिति और भी शोचनीय हो जाती है। जहाँ तक कथ्य का अभाव है, उसने अपनी चयन और संग्रहपरक वृत्ति से उसे जुटाया-जोड़ा है, पर जब टेकनीक का अभाव आ उपस्थित होता है तो वह जाने या अनजाने में फ़ार्मूलेबाज़ी का शिकार होकर रह जाता है। और फिर तो उसका नतीजा भी स्पष्ट ही है। जहाँ तक संग्रह-वृत्ति का प्रश्न है, किसी को कोई आपत्ति क्यों हो ? पर कला फ़ार्मूलों पर क़त्तई नहीं चलती।

'सूने अँगन रस बरसै' की कहानियों को चार बेतरतीब वर्गों में बाँटा जा सकता है—घटनाप्राण कहानियाँ (सूने अँगन रस बरसै, सफ़ेद हाथी), चरित्रप्राण कहानियाँ (बिया दीदी, सियार-पूजा, द्रौपदी, बबलू), दर्शनप्राण कहानियाँ (लोमड़ी, घर के बूढ़े), और भावप्राण कहानियाँ (सूरजकुण्ड की हिरनी, टूटता हुआ पुल, वसन्तप्रिया, वही चाँद और काँटे, तालाब का बाँध,

सूय क लाल नयन) तथाकथित भावप्राण कहानियो मे से कुछ स्त्री पुरुष क कुठाग्रस्त सम्बन्धो का अकन करती है, कुछ विशिष्ट भावदशाओ और भावात्मक प्रतिक्रियाओं का। दशनप्राण कहानिया मे भावुक पात्रों की भीरु, भाव-विगलित प्रतिक्रियाओं द्वारा जीव-हिंसा से विरति के भाव उपजाने का यत्न किया गया है। 'सूने अँगन रस बरसै' के कहानीकार ने एक ओर ग्रामांचलों की अनेक घटना एवम् चरित्रप्राण कहानियाँ लिखी हैं तो दूसरी ओर कथानकविहीन भाव-तंतुओं से भी कहानियों के ताने-बाने बुनने का प्रयोग किया है। आंचलिक कहानियों में चरित्रों और कथानकों का संग्रह करने में लेखक ने अच्छे कौशल का परिचय दिया है, किन्तु उन्हें कहानी में उतारने मे ?—यह न ही पूछिए। विद्या दीदी ('विद्या दीदी'), कलपा बुआ ('सियार-पूजा') और दुरपती ('द्रौपदी') के चरित्र तथा नौगढ़ा के ताल ('तालाब का घाव') के व्यक्तित्व को लेकर प्रेमचन्द और यशपाल द्वारा खींची गयी सीमारेखा को लाँघा जा सकता है, लेकिन यहाँ तो उन्हे निठुराई या बेबसी के साथ जूठा करके छोड़ दिया गया है। कथानक के स्थूल कलेवर से मुक्त कहानियों में से अधिकांश में लेखक की भावुकता स्वयं उसी पर आरूढ़ हो गयी है और अतीन्द्रियता तथा अमूर्तता का उसका आग्रह अस्पष्टता की परिधि में भटक गया है। 'तालाब का घाव' में इसी कारण प्रभाव का एकान्वय और सम्यक् परिणमन नही हो पाया है।

'सूने अँगन रस बरसै' का कथाकार आख्यान-कला के विभिन्न अगों को एक आन्तरिक सगति में न बाँध पाने के कारण नुस्खों और फ़ार्मूलों पर चलता मालूम पड़ता है। कथानक और चरित्रों का लोक-जीवन से चयन-संघटन, कहानी का उपखण्डों में विभाजन, स्मृतियों, स्वप्नों या दिवास्वप्नों के माध्यम से फ्लैशबैक द्वारा कथा-तंतुओं का चमत्कारिक जोड़-तोड़, गँवई नामों, शब्दों और गीतों का प्रयोग, ग्राम्य परिवेश और प्रकृति के वर्णन द्वारा लोकल कलर का विधान, भावुकता की अन्तर्धारा की व्यवस्था, कथानकहीन कहानियों पर भी हाथ आजमा लेना, ये सब स्थूल नुस्खे ही किसी रचना को कहानी और किसी कहानी को सफल कहानी बना देने के लिए यथेष्ट नहीं। यह सच है कि संग्रह-वृत्ति-लगन और परिश्रम द्वारा फ़ार्मूलों पर ईमानदारी से चल कर भी सिंथेटिक प्रक्रिया से कला को जन्म दिया जा सकता है, और प्रस्तुत संग्रह की 'बबलू' नाम की कहानी इस बात का सीधा-सादा उदाहरण भी है, किन्तु यह संयोग और साधना की बात अधिक है।

फ़ार्मूलेबाज़ी के कारण ही कहानीकार इन कहानियों के विभिन्न अवयवों में सम्यक् अन्विति और संगति का विधान नहीं कर पाया है। जहाँ अच्छा कथानक मिल गया, वहाँ चरित्रांकन प्रभाव-हीन रह गया। जहाँ अच्छा चरित्र मिल गया, वहाँ वर्णित घटनाओं के भीतर से चारित्रिक वैल-क्षण्य का प्रकाश नहीं फूट पाया। जहाँ भावुकता का दबाव बढ़ गया वहाँ सैलाब आ गया और कहानी डूब गयी। वातावरण में चरित्रों और कथानक के साथ बिंब-प्रतिबिंब-सम्बन्ध का, अन्विति का अभाव होने से तथा इस अभाववश ही स्थूल वर्णन के पीछे रागात्मक संयोजन के अन्तःतंतुओं के नदारद रहने से वह जीवंत, ध्वनि-बहुल, व्यंजकतापूर्ण नहीं बन पाया है। स्पष्टतः इन कहानियों की सबसे बड़ी कमजोरी ही है उनके विभिन्न अंगों में अन्विति और तदाश्रित गहराई का अभाव। कथानक को चरित्रों के क्रिया-प्रतिक्रिया से एक अनिवार्यता के साथ फूट कर बहना चाहिए। वातावरण को चरित्रों से निःसृत होने तथा समस्त कहानी पर फैल जाने वाली गोधूलि

बेला की सधिकालीन अन्त ज्योति की तरह होना चाहिए दमन और [illegible] का कहानी की इमारत मे रेडियम धर्मी गारे की तरह खप और खो जाना चाहिए और तज्जन्य [illegible] कान्ति ज्योति की तरह फूटना चाहिए। सूने अगन रस बरसै की कहानियों से ये सारी अपेक्षाएं करना दुराशा मात्र होगी।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर लिखी कहानियों में शाश्वत त्रिकोण की समस्या उठने पर भावुक और सरल-हृदय लेखक ने 'राधा-धर्मिता' से काम लिया है। 'राधा-धर्मिता' से मेरा मतलब है त्रिकोण में आने वाले तीन या द्वंद्व के दो चरित्रों में से एक स्त्री-चरित्र द्वारा कहानीकार की सुविधा या परितोष के लिए रुक्मिणी का आसन छोड़कर राधा-भाव का अपनाया जाना। यदि संयोगवश वहाँ चरित्रों का चतुष्टय उत्पन्न हो गया तो 'राधा' का प्रासंगिक पति भी आत्म-समर्पण कर देता है जिससे कथानक में औद्योगिक समाज की जटिलताएं न उत्पन्न हों, सामंती समाजतंत्र की ऋजुता बनी रहे, और सामंती भाव-संस्कारों से निर्मित सरल-हृदय कहानीकार का कहानी लिखने में कहीं कोई कठिनाई न आ पड़े। कहानी लिखने का अभ्यास करने में इससे सुविधा होती है। 'बसंतप्रिया' की मनो ऐसे राधा-धर्मी स्त्रीचरित्रों का आदर्श है। सच बात तो यह है कि वह साक्षात् राधा ही बन गयी है। 'टूटता हुआ पुल' की मानवती लीला, 'नदी बाँध और काँटे' की बाली और 'सूर्य के लाल नयन' की 'आप' भी इन्हीं राधा-धर्मी चरित्रों में आती हैं। 'नदी बाँध और काँटे' में तो बाली पर चढ़ा राधा-धर्मिता का बुखार उसकी जान ही ले लेता है, और उस बुखार के आवेश से उसका 'पत्नीव्रती' पति, 'एक पचास रुपये का डिपो का नौकर' रामनरेश भी इस सीमा तक आत्मनिवेदन कर देता है कि बड़ी खुशी से वह मरती हुई बाली को दिन भर उसके कृष्ण, बंशी की गोद मे लेटी रहने देता है और रात में बंशी को उसी की खाट से एक हाथ पर लिटा देता है जिससे 'बाली अपनी खाट के किनारे से चिपकी हुई अपने दायें हाथ को दूसरी खाट पर सोये हुए बंशी के सीने पर रक्खे रही—सोती रही—और स्वप्न देखती रही। उसकी सोई हुई आँखों में ब्याह के ढोलक बजते रहे, शहनाई बजती रही।'

यह राधा-धर्मिता शाश्वत त्रिकोण का कोई नैतिक समाधान नहीं, मनोवृत्ति-जन्य इच्छा-तोषण है। यह व्यावहारिक नहीं, मनोवैज्ञानिक समाधान है और 'मन को साफ हो जाने का' अच्छा मौका देता है। जब बाली बंशी की गोद में दिन भर खूब लेट ली और 'पत्नीव्रती' पति नरेश सारे काण्ड को खुशी-खुशी आँखो की ओट किये रहा, तो 'उसका (बाली का) मन साफ हो गया—फिर वहाँ शान्ति थी, चाँद था, चाँदनी थी, बंशी और बाली थे', किन्तु 'पचास रुपये का डिपो का नौकर' रामनरेश न था।

'सूने अँगन रस बरसै' की कहानियों में ग्राम्य अंचल का आग्रह एक विशेष दृष्टि से भी सार्थकता रखता है। लेखक ने कम से कम दो कहानियों में ('लोमड़ी' और 'घर के चूहे') अपनी जीव-हिंसा विरोधी सात्विकी मान्यता का प्रतिपादन करना चाहा है तथा 'सफेद हाथी' में टूटते सामंती ढाँचे की पीड़ाओं का अंकन किया है। इन सब में लेखक सामंतवादी समाजतंत्र के संस्कारों के घटाटोप में घिरा दीख पड़ता है। 'सफ़ेद हाथी' में तो इन संस्कारों ने एक विकृत अनुराग का रूप ले लिया है। नयी औद्योगिक सभ्यता की बौद्धिक चेतना और जिज्ञासा का नितान्त अभाव होने से वह समस्याओं पर नयी दृष्टि से सोचने और कुछ प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ है। सचाई

भावुकता और पराङमुखी दर्शन ने मिलकर ऐसी कहानियों की हत्या कर डाली है। 'लोमड़ी' और 'घर के चूहे', दोनों का कथानक एक ही है—जीवों की हत्या और बाद में शंकित मन का अवचेतन-स्तरीय अनुताप और अंतर्मन्थन। ऐसा कथानक बहुत ही मार्मिक बनाया जा सकता है, बशर्ते कि उसकी पूर्वापेक्षाएँ पूरी की जायँ, उसे नैतिक नहीं, मनोवैज्ञानिक रूप दिया जाय। 'सफ़ेद हाथी' का कथानक तो नया न होते हुए भी बहुत ही समर्थ और सम्भावना-गर्भित है, किन्तु पूर्वापेक्षाएँ उससे भी तो जुड़ी है।

'बबलू' के लेखक को बधाई दी जा सकती है, हालाँकि पूर्णिमा की कुढ़न को विकृति के उस असाधारण स्तर पर नहीं पहुँचाया जा सका है जिससे कि उसका बबलू की हत्या के रूप में पर्यवसित हो सकना समझ में आ जाय। फिर भी कथानक स्पष्टतः लेखक की अपनी सूझ और सर्जना की देन (मालूम पड़ती) है। साथ-साथ शिल्प और वर्णनों में भी अभ्यासजन्य काफ़ी चुस्ती और कसाव है। यदि लेखक की यही प्रौढ़ता विद्या दीदी, कलशा बुआ, दुरपती, हीरादास कथिक और ऊँचाडीह के राजा ('सफ़ेद हाथी') के चरित्रांकन के साथ सम्भव हो सकी होती तो इस कथा-संग्रह का रूप और स्तर दूसरा ही होता।

'सूने अँगन रस बरसै' की कहानियों के लेखक के समक्ष इन पंक्तियों का लेखक कुछ जिज्ञासाएँ करना चाहता है। इन जिज्ञासाओं का सम्बन्ध भाषा, व्याकरण, विरामांकन, शब्दार्थ, वर्तनी जैसी छोटी-छोटी बातों से है। वैसे जिज्ञासाओं की संख्या बड़ी विपुल है पर यहाँ अत्यल्प ही प्रस्तुत की जाएँगी।

कहानी-संग्रह की पहली ही कहानी में एक स्थल पर "एक ओर फूलमती, दूसरी ओर चम्पा और बीच में पारवाली—तीनों डर से एक ही रेखा में सम्पृक्त" (पृष्ठ २०) बतलायी गयी है। लेखक महोदय यह बतलाने का कष्ट करें कि यहाँ 'सम्पृक्त' का क्या अर्थ है? इसी प्रकार "मैं सद्यः अभियोगी की भाँति सर हिला रहा था" (पृष्ठ ५४) में क्रियाविशेषण 'सद्यः' 'अभियोगी' का विशेषण है क्या? "पितृव्य की मान्यताओं" (पृष्ठ ९७) में 'पितृव्य' का मतलब 'चाचा' ही है, 'पितृत्व' तो नहीं? "मजदूरों की घुड़कियाँ, फफोले और बातें सुननी पड़ रही थीं" (पृष्ठ १०९) में 'फफोले' कौन-सी सुनी जाने वाली चीज है? "वास्तव में हीरादास जो कर रहा था,. . . वह उसका स्वत्व न था" (पृष्ठ ११०) में 'स्वत्व' का अपनापन, अधिकार और स्वार्थ, इन तीनों सम्भावित अर्थों से पृथक् चौथा कौन-सा अर्थ है? "आधा अँगूठा और उसके नीचे एक लम्बा-गहरा घाव हो गया" (पृष्ठ ११०) में 'आधा अँगूठा कट गया' का 'कट गया' प्रूफ़ की ग़लती से कट गया है क्या?

कहानीकार महोदय यह भी बताने का कष्ट करें कि अगर "उस समय **पौ फट चुका था**" तो "वह **सहसा एकाएक रुक गयी** और पीछे मुड़ गयी" (पृष्ठ १६४) या "सहसा रुकी और पीछे मुड़ गयी"? "ज्योत्स्ना में लिपटी हुई उस पर एक युवती सोयी पड़ी थी अस्त-व्यस्त, और एकाकिनी बहुत करुण स्वर में गा रही थी . . ." (पृष्ठ १७७) में विरामांकन और इसका अन्वय पाठक को ही करना है क्या? या इसका यही मतलब है कि "उस पर एक युवती ज्योत्स्ना में लिपटी हुए सोयी पड़ी थी, और अकेले ही बहुत करुण स्वर में गा रही थी . . ."? क्या राजसिंह का रथ के जुए को खींचते हुए अकेले यह चिल्लाना कि "मुझे और मारो; और **बल और प्रतारणा से**

मारा मुझमें अभी सांस और बल दोनों है" (पृष्ठ १७६) सर्वनाम-लोपन का क्या शास्त्रीय प्रयोग है? "एक अति रंगीली सुचि चटक मटकीली सुगंध मय [illegible]" (पृष्ठ १२) यहाँ विशेषणावली की झड़ी कोई विशेष लाक्षणिक या व्यंजनात्मक अर्थबोध कराती है? "फूला **बड़ी तेजी से** दरवाजे के बाहर मुड़ी और **इतने वेग से** महुआरी में **झट** पहुँचने को हुई" (पृष्ठ ११) या "फूला इतनी तेज़ी से दरवाज़े से बाहर मुड़ी और महुआरी में पहुँचने को हुई"?

व्याकरण, अन्वय और शब्दार्थ-सम्बन्धी इन प्रयोगों की भाँति विराम-चिह्नों में भी अद्भुत प्रयोग सारी पुस्तक में खुले-आम बिखरे पड़े हैं। विरामांकन और शब्दों की वर्तनी के मामले में वैसे हम बहस नहीं उठाना चाहते, लेकिन अन्ततः हम यह पूछ लेना चाहते हैं कि ऐसे उदाहरणों को क्या प्रूफ़ की ही ग़लती मानी जाय, "गुलाबी दीदी का देवर जो है, मुँहजोर! अभी **अंग्रेजी की** आठवें **दर्जे** मे पढ़ता है लेकिन कलमुहाँ छुरा है छुरा . . . दुनिया को [illegible]। इसी थोड़ी उमर में **अजीब-अजीब** बातें करता है। और एक **तुम** हो! पाँच हाथ के जवान, **अंग्रेजी** के बारह **दर्जे** पढ़ने वाले; जबान ही नहीं हिलती। जैसे **इनकी** बहन कौरी बनी [illegible]। . . ." लेखक महोदय इस अंश में विरामांकन की समस्या सुलझा दें, मध्यम पुरुष के 'तुम' से अन्य पुरुष के 'इनकी' पर उतर आने के पीछे छिपे नाटकीय सौंदर्य का उद्घाटन कर दें, और 'कलमुहाँ', 'इसी' जैसे शब्द-रूपों का प्रयोग करने वाली बाली के मुँह से जकार की ग़लत-सही [illegible] तो भीरु पाठक बहुत ही समाहित और आश्वस्त हो जाएँगे।

भारत के लोकनृत्य

लक्ष्मीनारायण गर्ग का परिचय-ग्रंथ

प्रकाशक : संगीत कार्यालय, हाथरस। पृष्ठ-संख्या : ११०। मूल्य : ५.०० रु०।

यदि भारत को इसकी राष्ट्रीय अखंडता के प्रत्याख्यान के अर्थ में नहीं, वरन् क्षेत्र, भौगोलिक विस्तार, भू-रचना और जलवायु की विविधता, सांस्कृतिक [illegible] तथा भाषाओं और विभाषाओं की अनेकता को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से 'उपमहाद्वीप' कहा जाय तो इसके औचित्य में संदेह नहीं किया जा सकता। भारत के इस 'उपमहाद्वीपत्व' की एक अन्य दृष्टि से भी पुष्टि होती है। यहाँ अनुमानतः लगभग ५०० लोकनृत्य और उनमें प्रयुक्त होने वाले लगभग ३०० वाद्ययंत्र प्रचलित हैं। यह वास्तव में यहाँ की सांस्कृतिक बहुरूपता का ही [illegible] है।

लोकनृत्य दरबारी परिधि की कृत्रिमता से बाहर तथा शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त [illegible] फूली-फली हुई, स्वाभाविक सौंदर्य, स्वच्छंद गति और भावों के चरम अतिरेक वाले इन नृत्यों की परम्परा है जो जब-तब चमत्कार का भी रूप ले लेते हैं। शास्त्रीय नृत्य की पुरानी [illegible] में [illegible] नृत्य तथा अशास्त्रीय को अनिबन्ध पुकारा जाता था। प्रस्तुत पुस्तक में भारत के अनिबन्ध लोक-नृत्यों का 'नवसाक्षरों के हित का विशेष ध्यान रखते हुए' सरल संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है और छपाई मोटे टाइप में हुई है। संगीत कार्यालय के मासिक 'संगीत' की प्रतियाँ जिसने देखी-सुनी होंगी, वह इस पुस्तक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सरलता से अनुमान लगा सकता है। पुस्तक

मे नत्य मुद्राओ के फोटोग्र फिक ब्लाक भी काफी वडी सख्या मे दिये गये है किन्तु उनकी छपाई इतनी खराब हुई है कि वे पुस्तक के आकषण को बढ़ाने मे असफल ही रह हे.

तुलसीदल

डॉ० राजेश्वर गुरु तथा डॉ० ब्रजबासीलाल श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित मासिक

प्रकाशक : जगतपाल मिश्र, मानस प्रेस, इब्राहीमपुरा, भोपाल। प्रस्तुत अंक की पृष्ठ-संख्या : १२५। मूल्य : एक प्रति का ५० नये पैसे तथा वार्षिक ५·०० रु०।

सोच रहा हूँ, 'तुलसीदल' की सीरियसली समीक्षा करना कोई ज़रूरी नहीं। इसे निवटा देने के अनेक 'शार्ट कट' हो सकते हैं। श्रद्धा के लड्डू टेढ़े भी भले। राम-राम कह कर, सद्भावपूर्वक, मितव्ययिता के साथ ही सही, दो-चार आश्वासनप्रद या 'पैट्रनाइजिंग' प्रशंसाएँ लिख-लिखा देने में कोई नैतिक उलझन भी नहीं खड़ी होती दिखती। साथ-साथ बड़ी सहूलियत से, विना आपत्ति के, इसको 'ओवरलुक' या 'इग्नोर' भी किया जा सकता है। आखिर अगस्त १९६१ का अंक भी तो ठहरा, **'तुलसी स्मृति विशेषांक'** है तो क्या? पर भाई, इसके **'सम्पादन परामर्शदाताओं'** की नामावली को देख लेने के बाद ऐसा कर सकने में एक भीतरी कठिनाई महसूस होने लगी है। श्री गुलाबराय, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री वियोगी हरि, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ओर डॉ० भगीरथ मिश्र जैसे पाँच विदग्ध और वयस्वी व्यक्तित्वों के नाम इसके सम्पादन-परामर्शदाताओं के रूप में संकलित (?) हैं। फिर इसके सम्पादक-द्वय **अवैतनिक** ठहरे। दूसरे वर्ष का तीसरा अंक है यह। अर्थात् यदि अव तक इसका प्रकाशन जारी है, जैसा कि होगा ही, तो इसके २४ अंक छप कर बाज़ार में बिक चुके होंगे। ज़ाहिर है, इसके पीछे अर्थ और सगठन का भी यथेष्ट बल है। फिर भला **"भारतीय संस्कृति एवं तुलसी-साहित्य की इस मुख-पत्रिका"** को देखने पर कुछ गम्भीर प्रश्नों का उठ खड़ा होना क्या नितान्त स्वाभाविक नहीं है?

इस समय अनेक छोटे-बड़े सवालों के अन्तःक्वथन के बीच से दो सवाल खास तौर पर मेरे सामने उभरते आ रहे हैं। पहला सवाल यह है कि सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला जैसे बड़े साहित्यिकों (और सांस्कृतिकों) के नामों से पत्र-पत्रिकाएँ निकालने (या गोष्ठियाँ, संस्थान आदि चलाने) का फैसला करते समय हम अपने ऊपर कोई दायित्व भी ओढ़ लेते हैं या नहीं? इस प्रश्न को यहाँ लिखते-लिखते मेरा मन असंदिग्ध अंगीकार के रूप में उत्तर देने लगा है। मैं अनुभव कर रहा हूँ, ये नाम किसी की पैतृक सम्पत्ति या साम्प्रदायिक बपौती नहीं है, और इसीसे किसी एक व्यक्ति, वर्ग या सम्प्रदाय को इन नामों के साथ मनमाना करने का अनियंत्रित अधिकार भी नही प्राप्त हो सकता। अधिकार जितने ही व्यापक दायरे में बराबर बँटता है, स्वतंत्रता उतनी ही मर्यादित होती चलती है और ऐकान्तिक स्वच्छन्दता उतनी ही कम होती जाती है। पर यह तो मेरे पहले सवाल के नैतिक निर्णय वाले पहलू की ही बात ठहरी। इस नैतिक औचित्य-अनौचित्य से पृथक्, उसका एक एकेडेमिक पहलू भी है। तुलसी, प्रसाद या निराला के खास नाम से ही कोई पत्रिका निकालते समय हम इस वात पर तो ज़रूर ही विचार कर लेना चाहिए कि एसी पत्रिकाओ

का 'स्कोप' क्या है और उनका सबसे अच्छा स्वरूप कौन-सा हो सकता है। मेरी राय में ऐसी पत्रिकाएँ शुद्ध अनुसंधानपरक हों तो उनका प्रकृत और सबसे अच्छा रूप सामने आएगा। इनमें ललित साहित्य का समावेश करने पर दो खतरे रहते हैं—या तो सम्पादक और प्रकाशक पत्रिका के नाम को सार्थक करने के लिए अपने विषयों का दायरा संकीर्ण करके पिसे को पीसता रहता है, या उक्त नाम से सबद्ध साहित्यिक आंदोलन या युग को शाश्वत मूल्य-सम्पन्न मान कर उसकी रूढ़ियों की लीक में ही सर पटकता है। इसी से 'प्रसाद' और 'तुलसीदल' ने छायावाद को जो एक जमाने में विद्रोह का स्वर ऊँचा करता हुआ उठा था, अपनी अहैतुकी भक्ति (या अन्ध श्रद्धा ?) के वेग में निष्प्राण रूढ़ि बना कर रख दिया है।

'तुलसीदल' में शोधपरक रचनाएँ भी हैं अवश्य किन्तु कुल मिलाकर उसमें ललित रचनाओं का ही प्राधान्य है। उसकी दृष्टि में भी शोध-पत्रों की अप्रचारात्मक वस्तुपरकता का आत्यन्तिक अभाव है। इसका तो 'सम्पादकीय' आह्वान ही यह है कि **"सब को सियाराम मय जानकर" "आइए उस रज की खोज में निकल पड़ें" "जेहि रज मुनि पत्नी तरी"** (अंतिम उद्धरण 'सम्पादकीय' का शीर्षक है)। मजा तो यह है कि इसकी अधिकांश शोधपरक रचनाओं में भी भावुक भक्ति की अन्तर्धारा कहीं-कहीं सतह पर उभर आयी है और एकाध लेख तो रामायणियों के जोड़ पर तोड़ बैठाने की प्रवृत्ति के स्तर पर भी उतर आया है। कविताओं के विषय सीमित हैं—तुलसीदास, रामचरित मानस, राम और छायावादी 'तुम' और 'मैं'। उनकी शैली भी छायावादी ही है। इन निष्प्राण कविताओं को पढ़ जाने पर लगता है, हर वस्तु की नवीनता से परहेज रहने वालों ने रोमानी और विद्रोही छायावाद को ऐसी दृष्टि से देखने की आदत डाल ली है जैसे वे हर प्रत्यक्ष और परोक्ष तरीके से यह साबित करना चाहते हों कि "आधुनिकता से बचो। है तो छायावाद को देखो, कैसी 'क्लासिकल' छटा है!" रोमानी छायावाद में क्लासिकल काव्य का-सा अभिमान करने वाली इसी दृष्टि के कारण 'तुलसीदास' ने अहल्यातारिणी धूलि का अन्वेषण छायावादी पैटर्न की तुकबन्दियों के माध्यम से ही करना बेहतर समझा। सम्भव है, **"शत् शत् प्रणाम्! शत् प्रणाम! तुलसी महान्! तुलसी महान्!"** का कीर्तन करने में कोई [illegible] सिद्ध हो जाय!

जहाँ तक 'तुलसीदल' के इस तुलसी-स्मृति विशेषांकों में प्रकाशित लेखों का प्रश्न है, दो-एक ही पठनीय हैं। डॉ० राजकुमार पाण्डेय का लेख 'मानस के शास्त्रीय अध्ययन एवं भूमिका के पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा' खासा विचारोत्तेजक है। अगरचन्द नाहटा का 'राजस्थान में प्राप्त रामचरित मानस की प्राचीनतम प्रतियाँ' और डॉ० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव का 'तुलसी साहित्य—अनुलब्ध का अन्वेषण : उपलब्ध का पुनराख्यान'—ये दो लेख सूचनात्मक हैं। आचार्य प्रभाकर तकवले का लेख 'गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ रामदास की भक्ति-भावना' तथा देवकीनन्दन श्रीवास्तव का लेख 'मानसकार की विचारधारा का अध्यात्मरामायणकार से मौलिक भेद' भी जानकारी को बढ़ाते ही हैं।

'तुलसीदल' (का यह अंक) एक सवाल और भी उठाता है : क्या पत्र पत्रिकाओं के सम्पादकों, परामर्शदाताओं, संरक्षकों और पितामहों के औपचारिक शोभानामों की तालिका तैयार करने की परम्परा के पीछे कोई औचित्य आज भी शेष है? और ऐसी नामावली में भी लोग अपने

नाम कृपापूर्वक उधार दे देते हे उन पर भी कोई नैतिक दायित्व आ कर पडता है ? इन परस्पर सबद्ध प्रश्नों के मेरे उत्तर अनकहे भी कहे हुए हो है। मेरा तो बस इतनी पील है कि लोग इस फैशन की परम्परा में शामिल होने से पहले इस पर थोड़ी और नैतिक भीरुता से सोच कर देखा करें।

अब यह बतला देने से कोई खास फ़र्क नहीं पड़ जाता कि 'तुलसीदास' आदि से अन्त तक प्रूफ की गलतियों से भरा पड़ा है, और इसके ले आउट, मेक-अप, गेट-अप मे रुचि की परिष्कृति का नितान्त अभाव है। इस १२४ पृष्ठ की पत्रिका में केवल एक कहानी है—निर्गुण जी की—हनुमान।' स्पष्टतः ललित रचनाओं की दृष्टि से इसे खरीदने में कोई भी हिचकेगा। पर अनुसंधानपरक लेखों की नामावली पर निगाह पड़ जाने पर, संभव है, सम्बद्ध विषयों के शोधकर्ता रुचि का अनुभव कर ही लें।

—बद्रीनाथ तिवारी

खड़ी बोली काव्य में अभिव्यञ्जना (सन् १९२० तक)

डॉ० आशा गुप्ता

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। पृष्ठ-संख्या : ४७९ मूल्य : १६·०० रु०।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पंजाब विश्वविद्यालय का पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। लेखिका ने सात अध्यायों में अपने विवेच्य विषय को विभाजित किया है। पहले अध्याय में 'खड़ी बोली की व्युत्पत्ति, क्षेत्र तथा रूप' के सम्बन्ध में बड़े परिश्रम से सामग्री सकलित की गयी है। दूसरे अध्याय में खड़ी बोली कविता का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए यह बताया गया है कि भारतेन्दु से पूर्व अनेक कवि खड़ी बोली की कविता में प्रवृत्त रहे थे और इस प्रकार खड़ी बोली कविता की एक जीवन्त परम्परा के सूत्रों का क्रमबद्ध अध्ययन हुआ है। तीसरे अध्याय मे अभिव्यंजना का शास्त्रीय विवेचन, चौथे में खुसरो से लेकर कबीर, दादू, रहीम, घनानन्द, आलम, सीतलदास, वृन्दावन जैन, साह कुन्दन लाल आदि की खड़ी बोली कविताओं में अभिव्यंजना पक्ष का सम्यक् विश्लेषण है। पाँचवें अध्याय में भारतेन्दु युग और छठे में श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त की अभिव्यंजना-पद्धति और सातवें में द्विवेदी-युग के कवियों का विवेचन मिलता है।

इस प्रबन्ध में लेखिका के अध्ययन की तीन महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट उभर कर सामने आती हैं—(१) खड़ी बोली का नामकरण और अर्थ व्रजभाषा-सापेक्ष नहीं है। (२) खड़ी बोली कविता की परम्परा भारतेन्दु से नहीं वरन् खुसरो से प्रारम्भ होती है, उसकी अखण्ड परम्परा है और (३) खड़ी बोली कविता का अभिव्यंजना की दृष्टि से विश्लेषण। पहली बात के सम्बन्ध में, जैसा डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा है, मौलिकता की गुंजाइश कम थी फिर भी इस अध्याय के भाषावैज्ञानिक विवेचन में खड़ी बोली के नाम और अर्थ को लक्ष्य कर कई पहलुओं से विवेचन विश्लेषण किया गया है। खड़ी बोली कविता का इतिहास प्रस्तुत करते समय खुसरो से लेकर संतों तथा अन्य कई कवियों की कविता के विषय-वस्तु, अभिव्यंजना-सौष्ठव भाषा,

शब्द-शक्ति, काव्य-गुण आदि पर विस्तार से विचार हुआ है और इसी तरह भारतेन्दु-युग और उसके बाद के कवियों का भी।

विषय-विवेचन का दृष्टिकोण नितान्त शास्त्रीय है और वह भी अभिव्यंजना के संदर्भ में ही क्योंकि अन्य समस्याएँ वस्तुतः लेखिका ने उठाया ही नहीं है। जैसे अध्यायों के विभाजन में ही लेखिका के सामने समय का तत्त्व छोड़कर कोई दूसरा आधार नहीं है। भारतेन्दु-युग से पहले के कवि, भारतेन्दु युग के बाद संधिकाल के और द्विवेदी युग के कवि बहुत विस्तार से अलग-अलग विवेचित है। प्रत्येक कवि को संक्षिप्त परिचय, भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य गुण इत्यादि के बने-बनाये सिद्धान्तों के आलोक में देखा गया है और इससे हुआ यह है कि एक ही अध्याय में जितने भी कवि हैं उतनी बार भाषा, अलंकार, शब्द-शक्ति, काव्य-गुण इत्यादि के उपशीर्षक सामने आते हैं। लगता है जैसे अभिव्यंजना-सम्बन्धी कोई खास समस्याएँ कवियों के सामने नहीं रही हैं और न लेखिका के सामने अध्ययन की कोई समस्या। हर कवि को एक बने-बनाये ढाँचे में डाल दिया गया है, कहीं भी स्वतंत्र ढंग से अभिव्यंजना और भाषा की समस्याओं को उठाया ही नहीं गया है। भाषा की विशिष्ट प्रयोग-विधि विशेष अभिव्यंजना पद्धतियों को निर्धारित करती है और प्रत्येक कवि के अभिव्यंजना-शिल्प की कुछ खास समस्याएँ होती हैं, जो उसके सम्पूर्ण जीवन और साहित्यिक दृष्टियों की मौलिकता का कारण होती हैं। किसी कवि के साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं हुआ है, यहाँ तक कि भारतेन्दु जिनके सामने आधुनिक युग की उभरती आवश्यकताएँ और नये सांस्कृतिक महत्त्व-बोध के मूल्य को अभिव्यक्त करने की गंभीर [illegible] थी जिसके कारण भारतेन्दु ने भाषा का आमूल परिवर्तन ही नहीं किया वरन् अनेक साहित्य-रूपों को भी जन्म दिया—उनकी भी अभिव्यंजना पद्धति के साथ किसी समस्या को गम्भीर ढंग से नहीं लिया गया है। भारतेन्दु द्वारा खड़ी बोली के अपनाये जाने का कारण केवल राजनीतिक या ब्रजभाषा से उबास मात्र ही नहीं थी वरन् नयी जीवन दृष्टि का समावेश साहित्य में भारतेन्दु काल से ही होता है और इसी कारण उसे आधुनिक युग की संज्ञा भी दी गयी।

लेखिका द्वारा खड़ी बोली के अपनाये जाने का दिया गया यह कारण शोध प्रबन्ध की दृष्टि से कितनी 'गम्भीरता' रखता है, "भारतेन्दु युग में खड़ी बोली को गद्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने वाले कारण अव्यक्त रूप में शनैः-शनैः पद्य क्षेत्र को भी प्रभावित करने लगे। कदाचित् इसीलिए युग के लेखक तथा कवि क्रमशः ब्रजभाषा से हटकर खड़ी बोली की ओर उन्मुख होने लगे।" भाषा के साथ अनेक सांस्कृतिक और जीवन की वास्तविकताओं के आसंग (Associations) होते हैं जो नयी वास्तविकताओं को व्यक्त करने में अपर्याप्त ठहरते हैं। फलतः नयी भाषा और नयी अभि-व्यंजना-पद्धति की खोज प्रत्येक कवि के लिए अनिवार्य हो जाती है। और इस तरह की बात का तो ग्रन्थ में कहीं संकेत भी नहीं मिलता लेकिन "गद्य क्षेत्र में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने वाले कारण" जो "पद्य क्षेत्र" को प्रभावित करने लगे थे उन्हें भी कहीं नहीं बताया गया है सिवाय इसके कि "यथार्थ में खड़ी बोली को गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में काव्य-रचना की समर्थ भाषा के रूप में प्रति-ष्ठित करने का श्रेय भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को ही है।" और इस प्रकार यह प्रबन्ध एक डे नोट के रूप में प्रस्तुत हुआ है जिसमें हर कवि के काव्य में अलंकार, काव्य-गुण, शब्द-शक्ति आदि के उदाहरण छाँट कर रखे गये हैं।

तीसरे अध्याय मे जहाँ अभिव्यजना पर विचार किया गया है, लेखिका की घोषणा है कि "प्रस्तुत प्रसंग में स्वमत-प्रतिपादन से पूर्व भारतीय साहित्य के कतिपय मनीषियों के विचार उद्धृत करना विषयान्तर न होगा।" लेकिन पिष्टपेषण के अतिरिक्त कहीं भी स्वतंत्र चिन्तन की ताजगी के दर्शन नहीं होते।

नितान्त शास्त्रीयता ने पूरे प्रबन्ध में ऐसी एकरसता प्रस्तुत की है जिससे लगता है प्रारम्भ के तीन अध्यायों को छोड़कर शेष सभी अध्याय एक ही हैं। इससे न केवल एकरसता ही उत्पन्न हुई हो वरन् कहीं-कहीं लक्षणा-व्यंजना ढूँढ़ने में जिस किसी कविता के मूल मर्म को ही नहीं समझा गया है और उससे व्यंजना में जो विशिष्टता उभरी है उसकी नवीनता की जैसे पहचान ही नहीं हो पायी है। जैसे बालमुकुन्द गुप्त की निम्न पंक्तियों में प्रयोजनवती अगूढ-व्यंग्या, लक्षण लक्षणा बतायी गयी है—

चुने हुए मेम्बर होते तो ऐसा कब होने पाता।
इस प्रकार कौंसिल में कब नानी जी का घर बन जाता।
अच्छे-अच्छे कपड़ों से तुम अपने अंग सजाते हो।
इससे क्या हो सकता है जब नीचे कोढ़ छिपाते हो।

इस प्रकार काव्य-शास्त्र में इन पंक्तियों को ढालना बड़ा अजीब लगता है। इनके भीतर तत्कालीन परिस्थितियों में विकसित सामाजिक व्यंग्य है जिसने अभिव्यंजना में एक तीखापन और तीव्रता दी है किन्तु उस विशिष्टता की ओर जैसे लेखिका का ध्यान नहीं गया। पुरानी शास्त्रीय पद्धति में भी रस-परिपाक की दृष्टि से कहीं कुछ भी नहीं कहा गया है। ये लक्षणाएँ-व्यंजनाएँ केवल छाँटकर रख दी गयी हैं। उनमें काव्य-तत्त्व किस सीमा तक व्यंजित हुआ है कदाचित् इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। अगर यह आवश्यकता लेखिका के सामने होती तो अनेक समस्याएँ प्रस्तुत हो गयी होतीं जो विवेचन-विश्लेषण को इतना आसान और 'मेकेनाइज्ड' न बनने देतीं।

कुछ पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में बहुत असावधानी बरती गयी है जिससे शोध-प्रबन्ध में शब्द-प्रयोग का असंयम प्रकट होता है। उदाहरण के लिए—

पृष्ठ ८१ पर—Matter के लिए **अभिव्यंग्य** का प्रयोग।
Form ,, ,, **रूप** ,, ,,।
पृष्ठ ८२ पर—Matter के लिए आभ्यन्तर का प्रयोग।
Form ,, वाह्य ,, ।

पूरे प्रबंध में विषय और वस्तु को एक ही समझा गया है जबकि इनमें पर्याप्त भेद है। एक ही विषय होकर भी प्रत्येक लेखक का वस्तु-तत्त्व पृथक् होता है। रूप तत्त्व और शैली को भी गड्ड-मड्ड करके प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार लेखिका का यह वृहदाकार ग्रन्थ उसके अध्ययन की मौलिक दृष्टि को न प्रकट कर उसके परिश्रम को ही द्योतित करता है। यद्यपि यह प्रबंध हिन्दी के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है फिर भी इस विषय के विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से इसका महत्त्व संदिग्ध है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नित्यानंद तिवारी

सदल मिश्र ग्रन्थावली

नलिनविलोचन शर्मा द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ-संख्या : २०७ मूल्य : ५.०० रु०।

पंडित सदल मिश्र का नाम आधुनिक हिन्दी के उन्नायकों में लिया जाता है। इनके जन्म-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु इनकी मृत्यु का ८० वर्ष की वय में (सन् १८४७-४८ ई० में) होना प्रसिद्ध है। इस प्रकार इनका जन्म अनुमानतः सन् १७६७-६८ ई० में कभी हुआ होगा। कहा जाता है कि ये संस्कृत के विद्वान् थे। अर्थाभाव के कारण ये अपने जन्म-स्थान आरा से पटना जाकर किसी जमींदार के यहाँ पुराण की कथा सुनाया करते थे। इनकी कथा सुनने अंग्रेज भी आया करते थे। इन्हीं में से एक ने कलकत्ता जाकर नौकरी करने की प्रेरणा इन्हें प्रदान की। उस समय इनकी वय २४-२५ वर्ष की थी। सन् १७९८ ई० में गिलक्राइस्ट की नियुक्ति ओरियंटल सेमिनरी की स्थापना के बाद अध्यापक रूप में हुई। सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जहाँ गिलक्राइस्ट की नियुक्ति प्रधानाध्यापक के पद पर हुई। सन् १८०३ ई० मे मिश्र जी द्वारा चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान का संस्कृत से खड़ी बोली में अनुवाद कराया गया। कालेज मे मिश्र जी सन् १८०४ ई० से सन् १८०९ ई० तक कार्य करते रहे। इस बीच सन् १८०६ ई० में मोअट प्रधानाध्यापक पद पर आसीन हुए। इसी समय 'अध्यात्म रामायण' का खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिए मिश्र जी पुरस्कृत हुए। इसी प्रकार सन् १८०९ ई० में इन्हें हिन्दी-फ़ारसी की शब्द-सूची तैयार करने के लिए पुरस्कार मिला था। सन् १८१० ई० में 'रामचरित मानस' का एक संशोधित संस्करण इन्होंने छपवाया था जिसकी एक प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित बतलायी जाती है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार "ये स्वयं यह भी लिखते है कि उन्होंने 'कई-एक संस्कृत ग्रन्थों से भाषा और भाषा से संस्कृत किये' पर वे सब ग्रन्थ अब कहीं मिलते नहीं।' किन्तु अभी तक मिश्र जी द्वारा संस्कृत में किये गये किसी अनुवाद का प्रमाण नहीं मिल सका है। डॉ० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय ने इतना और भी सूचित किया है कि इन्होंने 'नकलियात-इ-लुकमानी' के अनुवाद में भी अपना योग दिया था। प्रस्तुत ग्रन्थावली में 'नासिकेतोपाख्यान' के साथ-साथ 'अध्यात्म रामायण' का अनुवाद 'रामचरित' के नाम से प्रकाशित है। इनमें से 'नासिकेतोपाख्यान' बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित होकर पहले भी प्रकाशित हो चुका था, किन्तु 'अध्यात्म रामायण' का अनुवाद 'रामचरित' डॉ० वार्ष्णेय को भी उपलब्ध न हो सका था।

गिलक्राइस्ट द्वारा फोर्ट विलियम कालेज की कौंसिल के विचारार्थ १९ अगस्त १८०३ ई० को लिखे गये एक पत्र से तत्कालीन अंग्रेजी की भाषा नीति पर किंचित् प्रकाश पड़ता है जिसमें लोकप्रिय हिन्दुस्तानी भाषा का अध्ययन सरल बनाने और भारतवर्ष में प्रचार तथा प्राचीन हिन्दुस्तानी रचनाओं के आधार पर निश्चित सिद्धान्त स्थिर करने की दृष्टि से हिन्दुस्तानी विभाग मे तैयार या तैयार हो रही पुस्तकों की चर्चा की गयी है। वास्तव में उन दिनों अंग्रेजों की भाषा-नीति स्वार्थमूलक अधिक रही है, ज्ञान अथवा जिज्ञासामूलक कम। विद्या का प्रचार तथा अंधकार मे

भटकने वाले प्राणियो को मार्गदर्शन कराना वे अपना नैतिक कर्तव्य मानते रहे है परन्तु सबके सब एक दृष्टिकोण स ही सचालित नही हुआ करते थे उनमे से कुछ तो निरपेक्ष विद्वान थे जो ज्ञान-पिपासा की शान्ति के लिए कार्य कर रहे थे। कुछ दूसरे ईसाई मिशनरी ऐसे थे जो अपने धर्म-प्रसार के लिए साधन-रूप में अध्ययन किया करते थे। इनसे भिन्न कोटि के वे लोग थे जो कम्पनी अथवा ब्रिटिश सरकार की सुविधा अथवा दृढ़ता के लिए अध्ययन में रुचि लिया करते थे। फिर भी इनका एक परिणाम ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार में सहायक ही सिद्ध हुआ जिसे हम 'ऐतिहासिक मोड़' की संज्ञा दे सकते हैं। इस मोड़ पर चलकर हम धर्म, दर्शन, शिक्षा, साहित्य, इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र में नयी दृष्टि से सम्पन्न हुए जो युग के अनुकूल जीवन-दर्शन बनाने में सहायक सिद्ध हुई है। इस जीवन-दर्शन का प्रभाव हमारे आधुनिक साहित्य पर भी पडे विना नहीं रह सका है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा तत्कालीन वस्तुस्थिति को जान रखना इस सन्दर्भ में इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उस स्थिति से परिचित हो जायँ जिसमें रह कर हमारे साहित्य-कारों को काम करना पड़ता था। इसे जाने बिना हम उनकी कृतियों के मूल्य और महत्त्व को हृदयंगम करने में असमर्थ ही समझे जायेंगे। वह काल नये साहित्य की भाषा के निर्माण तथा ग्रहण का था जिस पर शासकीय रीति-नीति का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था परन्तु जिसका स्वरूप लेखकों के कृतित्व और व्यक्तित्व के साँचे मे ढलता जा रहा था। यही कारण है कि एक ही काल तथा संरक्षण में पलने और पनपने वाली भाषा को हम एक ही आकार-प्रकार का नही पाते। डॉ० श्याम सुन्दर दास के शब्दों में, "लल्लू (जी) लाल ने तो ब्रजभाषा की मात्रा विशेष लिखी, परन्तु सदल मिश्र ने खड़ी बोली का आधिक्य रक्खा।" आचार्य शुक्ल के अनुसार "मुंशी सदासुख लाल की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिये थी, लल्लू (जी) लाल मे ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था।"

प्रस्तुत ग्रन्थावली का महत्त्व एवं उपयोग अत्यधिक है। आशा है, इस विषय के जिज्ञासु पाठक 'ग्रन्थावली' से पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे। ऐसे सुसम्पादित ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही हमारी बधाई के पात्र हैं।

—रेवाशंकर

खत्री-स्मारक-ग्रन्थ

आचार्य शिवपूजन सहाय तथा नलिन विलोचन शर्मा द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ-संख्या : ३२० मूल्य : ५·०० रु०।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में 'मिश्रबन्धु विनोद' से ही श्री अयोध्याप्रसाद खत्री का नामोल्लेख होने लगा था। मिश्रबन्धुओं के शब्दों में, "इन्होंने यावज्जीवन खड़ी बोली का पद्य में प्रचार करने और छन्दों से ब्रजभाषा उठा देने का प्रयत्न किया।" उनके अनुसार "इस आन्दोलन को पूर्ण बल के साथ पहले पहल इन्हींने उठाया। आपने इसमें इतना उत्साह दिखाया कि आपको देखते ही खड़ी बोली की याद आ जाती थी।"

यों तो पद्य-रचना में खड़ी बोली के प्रयोग के उदाहरण हमें नामदेव तथा कबीरादि की रचनाओं तक में मिल जाते हैं, किन्तु खड़ी बोली में पद्य-रचना करने का सजग प्रयास पंडित श्रीधर पाठक से पहले का हमें नहीं दिखायी देता। भारतेन्दु-काल में भी लेखकों का ध्यान नये-नये विषयों और उनके क्षेत्र-विस्तार की ओर जितना अधिक केन्द्रित था, उतना भाषा और छन्दों की नवीनता के प्रति नहीं। यही कारण है कि उन दिनों के हिन्दी-गद्य में खड़ी बोली का जितना प्रभाव हम पाते हैं, उतना पद्य-रचना के क्षेत्र में नहीं। यद्यपि भारतेन्दु के समय में ही यह चर्चा का विषय बन चुका था जिसका एक परिणाम हमें स्वयं भारतेन्दु की रचना 'दशरथ विलाप' में लक्षित होता है जिसकी भाषा खड़ी बोली और छंद फ़ारसी का है। यों 'रानी केतकी की कहानी' में भी उर्दू छंदों तथा खड़ी बोली के नमूने मिल जाते हैं। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी दुर्लभ नहीं है। परन्तु इतने पर भी यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु काल तक के कवियों पर पद्य-रचना के क्षेत्र में परम्परागत ब्रजभाषा का प्रचुर प्रभाव था और यह प्रभाव केवल भाषा तक ही सीमित न होकर प्रचलित छंदों तक विस्तृत था।

वास्तव में हिन्दी गद्य-पद्य के भाषा-भेद की बात जिस रूप में भारतेन्दु के बाद वाले लेखकों के सामने आयी उस रूप में पहले कभी नहीं आयी थी और उसके तत्कालीन कई कारण भी थे जिनमें राजनीतिक कारण कदाचित् सर्वप्रमुख था। एक ही लेखक अपने मनोभावों अथवा विचारों को विभिन्न भाषा के माध्यमों द्वारा व्यक्त करे यह बहुत कुछ असंगत सा था। जो भाषा दैनिक व्यवहार की बनती जा रही थी वही भावाभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम भी बन सकती थी। नये भावों को व्यक्त करने में नये प्रचलित शब्द ही समर्थ तथा सफल सिद्ध हो सकते थे। भाव और भाषा के अनुरूप उपयुक्त छंदों का प्रवेश भी अनिवार्य था। इस प्रकार छंदों की दृष्टि से उन दिनों हम तीन प्रणालियों को प्रचलित पाते हैं—हिन्दी के कवित्त-सवैया, ख्याल की तर्ज़ पर उर्दू के छंद और लावनी। वास्तव में एक प्रकार से ख्याल भी लावनी से पृथक नहीं है। दोनों ही लय-प्रधान है। छंदों के प्रयोग में भाषा बाधक न बन सकी और खड़ी बोली में अनेक छंद तथा के प्रयोग होने लगे। प्रारम्भिक काल में लावनी का प्रयोग कदाचित् ज्ञानोपदेश के लिए होने लगा था जिसकी भाषा अधिकतर खड़ी बोली ही हुआ करती थी। कालान्तर में लावनी के भी दो रूप सामने आये जिनमें से एक 'तुर्रा' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसका प्रधान विषय ब्रह्मज्ञान रहा करता था और दूसरे को 'कलगी' की संज्ञा प्राप्त हुई जो प्रेम और भक्ति भाव से ओत-प्रोत थी।

श्री अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली के जिस आन्दोलन का झंडा उठाया था उसका सूत्रपात उपर्युक्त सन्दर्भ में हुआ था। उनका जन्म ही १८५७ ईस्वी में हुआ जो विद्रोह काल था। उनके जन्म स्थान सिकन्दरपुर, बलिया तथा उसके पड़ोसी बिहार तक के लोग कुँवरसिंह के नेतृत्व में अंग्रेज शासकों के विरुद्ध डट कर लोहा ले रहे थे और इस विद्रोहाग्नि की लपटें देश के कोने-कोने तक में व्याप्त थीं। ऐसे विद्रोही वातावरण में खत्री जी का जन्म-ग्रहण करना अपना विशेष महत्त्व रखता था जो उनके स्वभाव का अंग बन गया था। वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त दृढ़ संकल्प तथा आस्थावान तो थे ही, साथ ही साथ उस महान यज्ञ में होम करते अपना हाथ जलाने में भी उन्हें कोई हिचक न थी। यही कारण है कि उन्हें आजीवन मिशनरी के रूप में काम करते हुए पाते हैं। मुजफ्फरपुर उनकी कर्मभूमि था।

खड़ी बोली के प्रचार की सफलता के लिए वे इस सीमा तक निष्ठावान थे कि उन्होंने 'खड़ी बोली का पद्य' का प्रकाशन अपने खर्च पर कराया और उसे बिना मूल्य के बँटवाया। 'चम्पारन चन्द्रिका' द्वारा उन्होंने यह सूचना प्रसारित करायी कि खड़ी बोली में जो रामचन्द्र का पद्यबद्ध वर्णन करेगा उसे प्रति पद्य दस रुपया पुरस्कृत किया जायेगा। इसी प्रकार 'रामचरित मानस' के खड़ी बोली में अनुवाद के लिए उन्होंने प्रत्येक दोहा और चौपाई पर एक रुपया पुरस्कार देने की घोषणा की थी। यही नहीं, उनका यह अनुराग यहाँ तक बढ़ गया था कि खड़ी बोली में सत्यनारायण की कथा बाँचनेवाले पंडितों तक को वे प्रत्येक वाचन के लिए दस रुपया का पुरस्कार प्रमाण-पत्र पाने के बाद दे दिया करते थे। इसी प्रकार रंगसाज को साथ लेकर अपने खर्च पर संकेत-पट्टों का हिन्दीकरण कराया करते थे। खत्री जी ने एक प्रकार से खड़ी बोली के प्रचार और प्रसार के लिए अपना जीवन ही अर्पित कर दिया था।

ऐसे व्रतनिष्ठ साधक की समस्त कृतियों के सम्पादित समवेत प्रामाणिक संस्करण को 'खत्री स्मारक ग्रंथ' के रूप में प्रकाशित कर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने अपने गौरव के अनुरूप ही कार्य किया है जिसके लिए उसके अधिकारी हमारे बधाई तथा धन्यवाद के पात्र हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के शोधकर्ताओं के लिए यह ग्रंथ संदर्भ-ग्रंथ का काम देगा, इसमें सन्देह नहीं।

— रेवाशंकर

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

भाग २३ अंक २ | अप्रैल-जून १९६२

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

सामयिक चर्चा

शोध-विषयक पत्रिकाओं में सम्पादकीय विचार प्रकट करने का नियम नहीं है। अन्य शोध-पत्रिकाओं की बात हम नहीं कहते, किन्तु 'हिन्दुस्तानी' में सामयिक प्रसङ्गों पर तो क्या, शोध के प्राचीन विषयों पर भी सम्पादकीय विचार नहीं दिये जाते रहे हैं। कारण जो भी रहा हो, वस्तुस्थिति यही है। हम उस परम्परा को बदल रहे हैं और इसका कारण भी प्रकट कर देना चाहते हैं। पहला यह है कि 'हिन्दुस्तानी' शोध-पत्रिका होते हुए भी उस प्रकार के शोध-कार्यों में नहीं लगी है, जो विवाद अथवा परस्पर विचार-विनिमय के क्षेत्र से सर्वथा पृथक् मान लिये जायँ। शोध का कदाचित् ही कोई विषय होगा जो सर्वथा निर्विवाद हो अथवा उसपर आगे और विचार-विनिमय की गुन्जाइश न हो अथवा जो सब प्रकार से सर्वमान्य तथ्यों को प्रकट या सिद्ध करते हों। मानव-क्रियाकलापों में कोई भी प्रयास सर्वमान्यता की इस कोटि में नहीं रखे जा सकते। अतः यह आवश्यक है कि शोध-कार्यों का निरीक्षण, विवेचन और आलोचन करते समय सम्पादक को भी अपने मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता रहे। दूसरा कारण यह है कि आज के सङ्कट के युग में 'हिन्दुस्तानी' जैसी पत्रिका के लिए एकाङ्गी अथवा निरपेक्ष जीवन बिताना कठिन है। आज देश की स्वाधीनता सङ्कट में है। हमारी राष्ट्रभाषा और उसका साहित्य भी सङ्कट में है। भाषा के प्रसार तथा प्रचार के काम में नयी-नयी बाधाएँ उपस्थित कर दी गयी हैं और हिन्दी साहित्य को हेय बतला कर उसपर दया की दृष्टि डाली जाती है। बड़ी उदारता दिखलाते हुए यह कहा जाता है कि भारत की राज और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी केवल इस आधार पर मान्य है कि वह भिन्न-भिन्न रूपों में देश के एक बड़े क्षेत्र में बोली और समझी जाती है। इस अपमानजनक अवस्था से हिन्दी का उद्धार करना उन सभी संस्थाओं और पत्र-पत्रिकाओं का काम है जो किसी भी रूप में या किसी भी मात्रा में हिन्दी की सेवा में लगी हैं। देश पर आयी बाहरी विपत्ति दूर हो कर रहेगी। हम उसे दूर कर के रहेंगे। इस विपत्ति ने हिन्दी के सङ्कट को कम कर दिया है, यह कहना सही न होगा। इसलिए हिन्दी की

रक्षा का प्रश्न देश की रक्षा के प्रश्न से किसी प्रकार कम गम्भीर नही है देश के बाहरी दुश्मनो को हम मार कर भगा देगे, किन्तु हिन्दी के विरोधियो को हम गले लगाकर उनका मत परिवर्तित करने का प्रयास जारी रखेंगे। प्रेम से विपक्षी पर विजय प्राप्त करना कुछ कठिन है, इस कारण इस प्रयास में शिथिलता ले आना या प्रयास को स्थगित रखना सम्भव नहीं है।

हिन्दी को दी जा रही चुनौती को स्वीकार करने का समय बीत नहीं गया है। यह चुनौती सबके लिए है। 'हिन्दुस्तानी' के लिए भी है। ठीक इसी कारण से 'हिन्दुस्तानी' को विशुद्ध प्राचीन साहित्य की शोध-पत्रिका के रूप में बनाये रखना सम्भव नहीं है। पिछले दो खण्डों से हम इस पत्रिका को नये आकार में, परिवर्धित रूप में प्रकाशित कर रहे हैं, जिससे यह शोध के प्रेमी अध्ययनशील महानुभावों के अधिकाधिक उपयोग की होते हुए भी समसामयिक साहित्यिक समस्याओं से सम्बन्ध बनाये रखने को इच्छुक सज्जनों के काम की भी हो। हमारा प्रयास है कि परिधि का विस्तार हो। हिन्दी-प्रदेशों में ही नहीं, उसके बाहर भी हिन्दी का काम जहाँ कहीं जो कुछ हो रहा है, उसका विवरण यथासम्भव संक्षिप्त रूप में ही सही प्रस्तुत किया जाय। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्राच्य विषयों पर हो रहे शोध-कार्यों का संक्षिप्त परिचय देने का उद्योग भी हम कर रहे है। सामयिक अथवा प्राचीन साहित्य के नये प्रकाशनों की आलोचना-चर्चा भी हम इसी विचार से कर रहे हैं कि इससे साहित्य के विकास तथा उन्नयन में सहायता मिले। अभी यह सब काम प्रारम्भिक अवस्था में है। यथाशीघ्र हम इनका और विस्तार करने की तथा इसमें प्रौढ़ता ले आने की चेष्टा करेंगे। गुणी पाठकों तथा विद्वान् आलोचकों से हम धैर्य रखने की याचना तो करेंगे ही, हमारे प्रयास में अपनी सद्भावना से सहयोग करने की भी प्रार्थना करेंगे।

श्रद्धाञ्जलियाँ

यह 'हिन्दुस्तानी' का १९६२ का अप्रल-जून अङ्क है जो कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण समय से बहुत पीछे प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रकाशन से पूर्व हिन्दी के दो महान् सेवकों—राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा डाक्टर रांगेय राघव—का स्वर्गवास हो गया। राजर्षि हिन्दी-भाषा के अद्वितीय और मूर्धन्य सेनानी थे तथा रांगेय राघव का हिन्दी-साहित्य-जगत् मे विशिष्ट स्थान था। हमें जहाँ इसका खेद है कि सम्पादकीय टिप्पणियों के प्रकाशन का आरम्भ करते हुए यह शोक-प्रकाश करना पड़ रहा है, वहीं हमें इसका सन्तोष है कि हम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के पुनीत कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।

पिछली १ जुलाई १९६२ को भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का स्वर्गवास हो गया। उस समय वे पूरे ७९ वर्ष ११ मास के थे। निधन के पूर्व वे प्राय: तीन वर्षों से रुग्ण थे और पाँच-छह मास तो वे रोग-शैया पर ही रहे। किन्तु रुग्णावस्था में भी उनका नैष्ठिक जीवन-क्रम यथापूर्व बना रहा उनका संकल्प-बल अक्षीयमाण रहा और अपनी हिन्दी-निष्ठा

के मूर्त प्रतीक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन—के भविष्य की उनकी वत्सल चिन्ता अक्षुण्ण रही। वे हिन्दी के भीष्म पितामह थे। जिस प्रकार भीष्म पितामह ने शर-शैया पर उत्तरायण की प्रतीक्षा में प्राण धारण कर रखा था, उसी प्रकार राजर्षि रोग-शैया पर पड़े-पड़े कठिन विवाद और गतिरोध में आ फँसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उज्ज्वल भविष्य की किरणों के फूटने की प्रतीक्षा करते रहे। अन्ततः केन्द्रीय शासन ने सम्मेलन-सम्बन्धी अधिनियम पारित किया और उसके अनुसार निर्मित अधिशासी निकाय के सदस्यों की एक बैठक में २८ जून को राजर्षि ने मरणावस्था में ही सम्मेलन की नियमावली की एक रूपरेखा तैयार करवायी और उसके प्रवर्तन में किसी प्रकार की बाधा न पड़ने का आश्वासन प्राप्त किया। रोग के कठिनतम दिनों में इतना सम्पादित करा लेने के बाद वे भार-मुक्त हो गये थे और कहा था: "अब तो सब ठीक हो गया है न!"

यह बात उन्होंने २९ या ३० जून को कही थी और १ जुलाई को उन्होंने पार्थिव बन्धन से मोक्ष ले लिया था।

वास्तव में राजर्षि टण्डन ने अपने समस्त जीवन को शर-शैया बना रखा था। क्या व्यक्तिगत जीवन, क्या राजनीतिक और सामाजिक धरातल, और क्या हिन्दी का राष्ट्रभाषा-पद के लिए संघर्ष। व्यक्तिगत जीवन में वे अत्यन्त सरल, संयमित, उदार, परदुःखकातर और त्याग-तपोमय थे। आशुविश्वासी होने के कारण वे बहुधा ठगे जाते थे, किन्तु वे कहा करते थे, ठगे जाना अच्छा है, ठगना आत्मद्रोह है। उन्होंने अर्थहीन रूढ़ियों में स्वयं को कभी नहीं बँधने दिया तथा हृदय की अवहेलना किये बिना बुद्धि को सदैव आगे रक्खा। उनकी निजी आवश्यकताएँ अल्पतम थीं, रहन-सहन तापसिक कठोरता से परिपूर्ण था, सदाचरण, नैतिकता और निर्भीकता उनके स्वभाव-भूत गुण थे, सिद्धान्त पर समझौता करना उन्होंने जाना नहीं। उनके वैयक्तिक गुणों का अनुचिन्तन करने पर उनका व्यक्तित्व आर्ष परम्परा में जा खड़ा होता है।

राजनीतिक धरातल पर टण्डन जी ने प्रयाग नगर-पालिका के प्रथम लोक-निर्वाचित अध्यक्ष के रूप में प्रवेश किया। असहयोग आन्दोलन आरम्भ होने पर वे वकालत छोड़ कर राजनीति में उतर पड़े तथा राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-संग्राम में आजीवन जूझे। कांग्रेस सङ्गठन में प्रवेश करके वे अपने आदर्शों की मर्यादाएँ स्वयं निर्मित करते हुए सोपान-क्रम से निरन्तर आगे बढ़ते गये। पहले जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुए। फिर संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुए। फिर संयुक्त प्रान्तीय विधानसभा के लिए निर्विरोध निर्वाचित किये गये और वहाँ विधानसभा के अध्यक्ष चुने गये जहाँ वे लम्बे अरसे तक रहे। अन्त में कुछ विशेष मतभेदों के कारण विधानसभा के अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दिया। बाद में भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। वहाँ भी मतभेद हुए तो त्यागपत्र दे दिया और राज्य-सभा के सदस्य हुए। इस प्रकार अत्यन्त उदार और आशुविश्वासी राजर्षि ने सिद्धान्त के मामले पर समझौता कर लेने की

उदारता कभी न दिखायी और अपने चारित्र्य तथा नीतिबल से ही अपनी राजनीतिक कार्य-परिधि में सदैव मूर्धन्य बन कर रहे। उन्होंने अपने लिए अपनी नैतिक मर्यादाओं की शर-शैया स्वयं तैयार की जिसने उन्हें नये युग के भीष्म की गरिमा से मण्डित कर दिया। वे अपनी मर्यादावादी गहरी निष्ठा के कारण एक साक्षात् आन्दोलन, एक विराट् संस्था और एक अमन्द प्रकाश-स्तम्भ बन गये।

टण्डन जी ने यद्यपि राजनीतिक धरातल पर अपनी अविचल नैष्ठिकता और ईमानदारी के मानदण्ड स्थापित किये, फिर भी उनके जीवन का मूलभूत सन्देश और सच्ची सार्थकता उनके राष्ट्रभाषा-प्रेम और हिन्दी के लिए आजीवन संघर्ष में सन्निहित है। शिवपूजन बाबू के इस कथन में अतिरञ्जना का लेश भी नहीं कि : "राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी के लिए जिए और हिन्दी के लिए मरे। हिन्दी उनकी जिन्दगी की साँस थी। हिन्दी उनकी आँखों की पुतली की ज्योति थी। हिन्दी उनके मस्तिष्क की चिन्ता-धारा थी। हिन्दी उनके हृदय का शाश्वत गीत थी।....हिन्दी उनके रोम-रोम में रमी हुई थी।"

हिन्दी की ही सेवा के लिए सन् १९१८ में उन्होंने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हिन्दी के लिए वे घर में, बाहर, जनता के बीच, सभाओं में, गोष्ठियों में, उत्सवों में, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशनों में, संसद् भवन में, हर जगह बोले, लड़े। हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनके हिन्दी-प्रेम का तथा हिन्दी के संवर्धन के लिए किये गये प्रयत्नों एवं संघर्षों का शरीरधारी प्रतीक है। सम्मेलन की परीक्षाएँ हिन्दी की रक्तवहा शिराएँ हैं, प्रकाशन उसकी चेतनवहा नाड़ियाँ हैं, और टण्डन जी उसकी आत्मा रहे हैं और उनका यशःकाय प्रेरक व्यक्तित्व आज भी उसमें प्राणों का सञ्चार कर रहा है। टण्जन जी के नाम के साथ हिन्दी-भाषा का तथा राष्ट्रभाषा पद के लिए उसके सुदीर्घ तथा जटिल संघर्ष का चित्र खिंच जाता है। वे राष्ट्रभाषा के संघर्षों के प्रतीक बन गये थे। भाषावादिता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता और ऐसी ही अनेक संकीर्णताओं तथा क्षुद्र स्वार्थों में बँटी हुई हमारी विक्षत भारतीयता की रक्षा के लिए अखण्ड रागात्मकता के वाहक के रूप में स्वदेशी भाषा की अविभक्त एकता के समर्थन में भी टण्डन जी ने समझौतावादी हीन उदारता को आजीवन, मरण-शैया तक प्रश्रय न दिया। अपने जीवन के हर पक्ष में मर्यादाओं की शर-शैया बिछाने वाले इस भीष्म की आर्ष आत्मा का हम सश्रद्ध अभिवादन करते हैं।

गत १२ सितम्बर को बम्बई में ही डॉक्टर रांगेय राव का दुःखद निधन हो गया। उनकी प्रतिभा अत्यन्त उर्वर, बहुमुखी और समधीत तथा उनकी दार्शनिक दृष्टि बहुत ही स्वस्थ थी। उनमें गम्भीर सांस्कृतिक चेतना विद्यमान थी और अन्तिम दिनों में भी उन्होंने अनेक नयी रचनाओं की विस्तृत योजना तैयार कर रखी थी। अतः उनके असामयिक स्वर्गवास से उनकी प्रतिभा की अनेक अनुद्घाटित सम्भावनाएँ भी पर्यवसित हो गयीं।

डॉ रांगेय राघव का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से अत्यन्त विशिष्ट और एकमेव था।

एक ओर वे मूक महत्त्वाकांक्षा से बेचैन आत्मा वाले सामाजिक स्वप्नद्रष्टा थे, दूसरी ओर एकाग्र स्वाध्याय और कठिन परिश्रम में लगे रहने वाले कुशल साहित्य-स्रष्टा भी थे। इन दोनों का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने बहुत बड़े परिमाण में तथा कहानी, उपन्यास, कविता, निबन्ध आदि अनेक विधाओं में साहित्य-रचना की। एक ओर उनमें अत्याधुनिक प्रगतिशील दार्शनिक दृष्टि और बौद्धिक चेतना विद्यमान थी, दूसरी ओर भाव-संस्कार तथा शिल्प-शैली से वे छायावादी ऐश्वर्य, उदात्तता और सौम्यता की परिधि में भी आबद्ध थे। इन दोनों का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने 'एपिक' प्रतिमान पर अनेक उपन्यास और काव्यग्रन्थ प्रस्तुत किये और इसके परिणामस्वरूप ही उनके साहित्य में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आग्रह तथा दार्शनिक जिज्ञासा सर्वत्र व्याप्त मिलती है। रांगेय राघव के साहित्य को पढ़ते समय न जाने क्यों प्रसाद का स्मरण हो आता है—दोनों की तमाम भिन्नताओं के बावजूद वैसी ही विराड्वर्तिनी दृष्टि, वैसा ही दार्शनिक अवबोध, वैसी ही सांस्कृतिक चेतना, वैसी ही बहुमुखता। यदि प्रसाद ने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन को छायावादी भाव-संस्कार में ढाला और सामरस्यमूलक आनन्दवाद की सृष्टि की तो रांगेय राघव ने आज के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को छायावादी भाव-भूमिका में ही ढाल कर उस 'विषदभूमि के सुन्दर सार' की उद्भावना की 'जहाँ जनता का होगा राज, जहाँ मानव होगा आजाद, जहाँ दुनिया होगी आजाद।'[1] किन्तु छायावादी भाव-संस्कारों के होते हुए भी रांगेय राघव छायावादी कवि कदापि नहीं हैं। और इसीमें उनकी अपनी विशिष्टता भी सन्निहित है।

रांगेय राघव मूक महत्त्वाकांक्षाओं और महती सम्भावनाओं से भरे हुए सक्षम साहित्यिक थे। उनके अन्तिम संस्कार के क्षणों के किसी अत्यन्त मर्मस्पर्शी संस्मरण के प्रसंग में हमें उनका इस प्रकार का कथन पढ़ने को मिला था: "मुझे विश्वास है कि मेरी रचनाएँ अभी नहीं तो मेरे मरने के बाद सिर पर उठायी जाएँगी। मैंने खून-पसीना बहा कर लिखा है। खेल नहीं किया।" उनके इन शब्दों में उनका आत्मविश्वास और अपने साहित्य और उसके मूल्यों के प्रति वेदनासिक्त और आहत किन्तु गहरी आस्था व्यक्त होती है और इसमें भवभूति के इस कथन की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है:—

येनामकेचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां।
जानन्ति ते किमपितान्प्रतिनैषयत्नः।।
उत्पस्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।
कालोऽह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी।।

रांगेय राघव एक प्रकार के रक्त के कैन्सर से पीड़ित थे। मृत्यु के तीन दिन पूर्व उनका

---

१. मेधावी १९४६ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा पुरस्कृत प्रबन्ध काव्य—हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा ही प्रकाशित।

कष्ट अत्यधिक बढ़ गया था और तब से वे अधिकांशतः अचेतन या अधचेतन अवस्था में ही बने रहे। मृत्यु के कुछ पहले नाड़ी की गति १२० तक पहुँच गयी थी, टाक्सीन सारे शरीर में व्याप्त हो चुका था और मस्तिष्क तथा कलेजे में पानी भर गया था। अन्त में १२ सितम्बर को ४ बजे शाम को बम्बई अस्पताल के रूम नम्बर ६५८ के बाहर यह तख्ती लगा दी गयी: "विजिटर्स नॉट अलाउड। पेशेण्ट ऐट कम्प्लीट रेस्ट"।

'गदल' जैसी अमर कहानी तथा 'मुर्दों का टीला' जैसे महाख्यान के अकाल दिवंगत रचयिता की आत्मा के प्रति हम अपनी श्रद्धा और अपना प्रेम अर्पित करते हैं और उसकी इन पंक्तियों के साथ उसकी निष्कुण्ठ आस्था के सहभागी बनते हैं :—

न था कल मैं—था किन्तु समाज।
न था कल मैं—थी सृष्टि अबाध॥
और कल भी फिर यह ही बात,
व्यक्ति के अहङ्कार में बद्ध
झुँठाता किसको, यह तो बोल![1]

१- मेधावी, सर्ग ७, पृष्ठ ८२।

अनुभूति एवं बोधत्रयी

- ऐन्द्रिक बोध
- परिचयात्मक बोध
- कलात्मक बोध

लक्ष्मीकांत वर्मा

कला को जन्म देने वाली उस निसर्गतः सुन्दर तथा आत्मोपलब्धिमूलक अनुभूति की मीमांसा, जो व्यक्ति-मर्यादा, युग-बोध, गतिशील यथार्थ एवं जीवन की समग्रता को एक साथ समाहृत करती है।

प्रत्येक भावबोध के दो स्तर होते है। पहला स्तर तो एक स्थिति-विशेष का परिचय (acquaintance) मात्र देता है। कलाकार देखता है कि कुछ ऐसे ऐन्द्रिक तत्त्व (sense data) है जो सौन्दर्य और वस्तु-जगत् में अस्तित्व तो रखते है किन्तु वे हमारे मानस-पटल पर केवल आते हैं और चले जाते हैं। उनसे हमारा परिचय मात्र हो पाता है, उनके अस्तित्व का हमें केवल भास ही मिल पाता है। ये ऐन्द्रिक तत्त्व न तो हमारे भाव-जगत् को आन्दोलित करते हैं और न हमारे अनुभव के उस स्तर को जागृत करते हैं जहाँ उनका समवेत रूप किसी नये सत्य का उद्‌घाटन कर सके। वे नित्य के जीवन-व्यापार में यों ही चले आते हैं और एक प्रति-भावनात्मक (impressionistic) प्रभाव डाल कर मिट जाते हैं। साथ-साथ यह हमारी चेतना पर भी निर्भर करता है कि वह किससे प्रभावित होती है और किससे नहीं। इस स्तर की चेतना में जो, ऐन्द्रिक तत्त्व हमारे सामने प्रस्तुत होता है वह मूलतः अपनी वस्तुपरक स्थिति का ही परिचय देता है। वह हमारे अस्तित्व (existence) को आन्दोलित नहीं कर पाता। हमारे अस्तित्व और ऐन्द्रिक तत्त्व के बीच अस्तित्व की एक वस्तुगत पृथक्ता बनी रहती है। इसीलिए वे ऐन्द्रिक तत्त्व न तो हमारे गहरे अन्तर को छू पाते हैं और न अपनी गतिशीलता से हमारे अस्तित्व को प्रभावित कर पाते हैं। दूसरे शब्दों में ये ऐन्द्रिक तत्त्व हमारे अस्तित्व को सूचना (information) मात्र देते हैं। ये सूचनाएँ केवल कुछ वस्तुपरक परिस्थितियों तक ही सीमित रहती हैं और इनका महत्त्व इससे अधिक नहीं होता। शायद इससे अधिक वे कुछ और कर भी नहीं सकती।

एक प्रबुद्ध कलाकार के जीवन में ऐसी सूचनाएँ असंख्य होती हैं। वह आँख से देखता है, कान से सुनता है, बोलता है और असख्य स्थितियों का उद्‌बोधन कराता है। अधिकांश स्थितियाँ

सूचनात्मक मात्र हो कर रह जाती हैं कुछ ही ऐसी होती हैं जो हमारे अस्तित्व के स्तर को छू पाती हैं लेकिन जो अस्तित्व को छूती या आन्दोलित करती हैं वे मात्र सूचना देने वाली नहीं रहतीं। वे हमें किसी नये सत्य का साक्षात्कार (realisation) कराती हैं। इसलिए वह ऐन्द्रिक तत्त्व, जो परिचयात्मक सूचना के भी बाद हमारी सम्पूर्ण अस्तित्व-चेतना को किसी साक्षात्कार की सीमा तक पहुँचा देता है, अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है। अनुभूति के इस रूप एवं विशिष्ट स्थिति से कलाकार को उसके अपने जीवन के विभिन्न सत्यों का अनिवार्यतः आन्तरिक साक्षात्कार हो जाता है। यह भावबोध का दूसरा स्तर है जो कलाकार को उसकी प्रज्ञा अथवा अपने को नये सन्दर्भ से जोड़ने का अवसर प्रदान करता है।

अस्तु, जब कोई भी ऐन्द्रिक तत्व परिचयात्मक सीमा से उठ कर कलाकार के मानस-पटल पर नये सन्दर्भों की सम्भावना प्रस्तुत करता है तब वह परिचयात्मक स्थिति से उभर कर अनुभूत सत्य की सीमा तक बढ़ चलता है। प्रत्येक अनुभूत सत्य में एक प्रकार की गतिशील स्व-चेतना (self-conscious) का तत्त्व विद्यमान रहता है। स्वचेतना के ये तत्त्व कलाकार के व्यक्तित्व का स्वत्व और उसके व्यक्तित्व की अहं-भावना से—जिसे मैं अस्तित्व-बोध का मुख्य अंग मानता हूँ—जन्म ले कर नये परिवेश के सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। यही अनुभूति को मूर्त (concrete) भी बनाते हैं। किसी व्यक्ति-विशेष की अनुभूति को हम तटस्थ वस्तुपरक दृष्टि मात्र से देख सकते है किन्तु उसका साक्षात्कार हमें उस समय होता है जब हम उसके भोगे हुए सत्य को अपनी स्वचेतना और अहं की सजग संगति से अपने में मूर्त कर लेते हैं। यही सह-भोग और सह-अनुभूति की मार्मिक व्यंजनाएँ भी साकार हो उठती है। यह स्थिति परिचयात्मक ऐन्द्रिक तत्त्वों से नहीं विकसित होती वरन् उनके समवेत साक्षात्कार जब हमारे अस्तित्व की सापेक्षता में एक नया प्रतीक उत्पन्न कर के हमारी और दूसरों के संवेदनाओं को आन्दोलित कर देते है तभी हमें अपनी अनुभूति मूर्त होती प्रतीत होने लगती है। इसीलिए मूर्तन (concretisation) की प्रक्रिया में हमारी स्वचेतना का एक बहुत बड़ा अंश प्रतीक के माध्यम से भोग्य होता है। यह भोगने की ही प्रक्रिया किसी कल्पना-जन्य स्थिति से विकसित हो कर सह-भोग और सह-अनुभूति की भावना को जन्म देती है।

सूचनाप्रधान परिचयात्मक बोध में यह क्षमता नहीं होती कि वह हमें किसी सत्य का साक्षात्कार करा सके। इसीलिए वह अधूरी, अपूर्ण और कलाकार की दृष्टि से पिघलते हुए सत्य के समान होती है। लेकिन जब हमारी संवेदना उसे धारण करती है तो उस धारणा में ही हमारा स्वचेतन तत्त्व एक नया आयाम प्रस्तुत कर देता है। उस पिघलते सत्य को हमारी स्वचेतना अपना आधार दे कर एक ऐसा प्रतीकात्मक रूप देती है जो हमारे अपने सत्य से टकराता है। इसी प्रतीक के माध्यम से हमारी कल्पना हमें उस सह-भोग और सह-अनुभूति की स्थिति तक ले जाती है जहाँ हम मानसिक स्तर पर क्रियाशील हो कर किसी दूसरे के दुख-दर्द से लेकर व्यापक स्तर पर भावना (feeling), संवेग (emotion), विचार (idea) और चिन्तन (thinking) को अपने में दीपित करते हैं। वह चाहे काव्य का क्षेत्र हो या संगीत का, या चित्रकला का, जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है, वह इसी प्रकार हमें सह-भोग और सह-अनुभूति की सीमा तक पहुँचाता है।

लेकिन यह सम्भव तभी हो पाता है जब हम अपनी भी अनुभूति को निस्संग भाव से देखने के अभ्यस्त होते हैं। जिस अनुभूति को हम वहन करते हैं उसके साथ हम रागात्मक सम्बन्ध तो रखते ही हैं, साथ-साथ यह भी जानते रहते हैं कि इस रागात्मकता की हम अनुभूति ही नहीं करते वरन् यह भी जानते हैं कि हम उसे भोग रहे हैं। जो प्रक्रिया भावुकता (sentimentation) से अनुभूति (experience) की सहभोग-स्थिति को पृथक् करती है, वह यही निस्संगता है। एक नितान्त भावुकता से ओतप्रोत व्यक्ति भी यही कह सकता है कि वह जिस सीमा तक किसी दूसरे की संवेदनशीलता से स्वयं को सम्बद्ध पाता है, उस सीमा तक उसका ही हो रहता है। सह-अनुभूति की स्थिति ऐसी नहीं है। सह-अनुभूति में अनुभूति का साहचर्य होता है, किन्तु व्यक्तित्व की पृथगात्मता (identity) उसमें नष्ट नहीं होती। इसके विपरीत भावुकता में यथार्थ की अवहेलना होती ही है और इस निस्संग स्थिति के न रहने के कारण व्यक्तित्व की मर्यादा की रक्षा भी नहीं होती। भावुकता में मनुष्य बह जाता है। उसमें टिककर सब कुछ वहन करने की सम्भावना और क्षमता की अपेक्षा केवल डूब जाने की भावना ही प्रधान होती है। अनुभूति में एक परिचयात्मक संवेदना का साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही अपने अस्तित्व का स्वचेतन-बोध भी होता है। इन दोनों धरातलों पर एक साथ क्रियाशील होने के नाते ही उस सम्पर्कात्मकता के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टि जागृत होती है जो भावुक की भावुकता से ऊपर उठ कर उसे अव्यवस्थित एकांगी भंगिमा के अतिरिक्त व्यवस्थित भावना और उसके मूर्त तत्त्व का बोध कराती है। बहुधा लोग भावुकता और अनुभूति की इन सीमाओं को एक में मिला कर अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदा कर देते हैं।

परिचयात्मक ऐन्द्रिक तत्त्वों में जो अस्पष्ट, पिघलता एवं बहता हुआ सत्य हमें दिखलायी देता है, उसे मूर्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उस संवेदन-विन्दु के साथ हमारे अस्तित्व-बोध की पकड़ का आयाम नितान्त निस्संग भाव-स्थिति पर आधारित हो। भावुकता, जैसा कि मैंने पहले कहा है, उस परिचयात्मक संवेदन-विन्दु में अपने अस्तित्व-बोध को छोड़ देता है। वह उस परिचयात्मक संवेदन-विन्दु का अनुभव या साक्षात्कार नहीं करता वरन् उसमें स्वयं अपने को ही मिला देता है। अभिन्नता की इस सीमा को ही बहुत से लोग कला या साहित्य की उपलब्धि मानते है। वे समझते हैं कि ऐसा करने से वे कला और साहित्य के धरातल पर किसी सत्य की उपलब्धि कर लेंगे। वास्तव में यह भ्रम है। कला या साहित्य की सीमा-रेखाएँ उदित ही वहाँ होती है जहाँ हम किसी वस्तु-स्थिति का साक्षात्कार करते हुए भी यह चेतना सुरक्षित रखते हैं कि हम साक्षात्कार कर रहे हैं और हमारा 'हम' इस प्रवाहित, अमूर्त, पिघलते हुए सत्य को एक निस्संग स्थिति में भोग रहा है। डूबने की भावना को व्यक्त करने के लिए यह जानना, कि हम डूब रहे है, परमावश्यक है। अनुभूति का विशेष गुण प्रज्ञा का प्राधान्य है। सूचना-मात्र प्रज्ञा नहीं है तथा मात्र डूबने, बह जाने, तिरोहित हो जाने, अभिन्न हो जाने में प्रज्ञा की उत्कृष्टता नहीं है। प्रज्ञा की स्थिति मूलतः दृष्टि-बोध की स्थिति होती है। दृष्टि-बोध में अव्यक्त का व्यक्त स्तर पर साक्षात्कार करने की क्षमता होती है। अव्यक्त के गतिशीलता से सम्पन्न साक्षात्कार की प्रक्रिया मे जब तक हमारी अपनी चेतना और अनुभूति निस्संग नहीं होगी, तब तक यथार्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को भी हम नहीं वहन कर पाएँगे। इसीलिए कला में जब निरी भावुकता होती है

तो वह यथार्थ से पृथक तो हो ही जाता है साथ ही वह पतनशील और मूल्य-च्युत भी हो जाता है। साहित्य और कला के सभी आन्दोलनों मे यह पाया गया है कि जब एक नयी विधा नये धरातलों का अन्वेषण कर चुकती है तब काफ़ी दिनों तक वह स्थिर ही रहती है। यथार्थ के एक धरातल के अन्वेषण से दूसरे के अन्वेषण के बीच का अन्तराल प्रायः भावुकता का काल रहता है। इसीलिए यह भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि इस विराम-काल में प्रायः रीतिवादी और इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियाँ जन्म पाने लगती हैं। वास्तव में अनुभूति एक निस्संग गहराई की माँग करती है जो अपेक्षाकृत कठिन होती है। जब कलाकार को अपनी अनुभूति का सार-तत्त्व नहीं उपलब्ध हो पाता और वह सम्यक् यथार्थपरक परिप्रेक्ष्य नहीं बना पाता, तभी इस प्रकार की अनर्गल प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगती हैं। भावुकता से उद्भूत जो वास्तविक विकृतियाँ प्रकारान्तर से साहित्य या कला में देखने को मिलती हैं, उन्हे हम इस प्रकार भी रख सकते हैं:—

(१) भावुकता में प्रज्ञा की दृष्टि देने के स्थान पर भाव-स्थिति और कलाकार को तदात्म कर देने की प्रवृत्ति होती है। यह तादात्म्य कृत्रिम कला-विधाओं में निम्न स्तर की भाव-व्यजनाओं में व्यक्त होती है। प्रातिनिधिक कला (representative art) या आनुकृतिक कला (imitative art) में उसके प्रमाण भली प्रकार व्यक्त होते हैं। किन्तु सृजनात्मक कला (creative art) में यह भावुकता नहीं पनप पाती, क्योंकि वह प्रज्ञा के स्तर पर सत्य को जानने का प्रयास हुआ करती है।

(२) इसीलिए भावुकता अनुभूति को खण्डित करती है। भावुकता मूलतः एक ऐसी स्थिति की स्वीकृति होती है, जिसमें क्रियाशील विवेकपूर्ण भाव-स्थितियों की अपेक्षा चमत्कार के प्रति मोह अधिक होता है। मोह और प्रज्ञा की स्थितियों में सदैव अन्तर रहता है। चामत्कारिक कला (magic art) का गुण प्रज्ञाशून्यता है। इसीलिए वह औपचारिक भी अधिक होती है। भावुकता इस चामत्कारिक गुण के निकट होने के कारण सत्य की अपेक्षा औपचारिकता पर बल देती है।

(३) भावुकता की अन्तिम परिणति रीतिवाद (mannerism) है। इसके विपरीत अनुभूति की अन्तिम परिणति सदैव मूल्यान्वेषित सत्य में होती है। रीतिवाद विचारों की स्थिरता की स्थिति में पनपता है तथा उसमें अनुकृति और पुनरावृत्ति का अनिवार्यतः बाहुल्य होता है। किन्तु अनुभूति आत्मसत्य होती है, जिससे न केवल उसकी सीमा में अनुकृति या पुनरावृत्ति की पैठ ही नहीं होती वरन् अन्वेषित सत्य का अस्तित्व होता है।

(४) भावुकता यथार्थ से पलायन करने की प्रवृत्ति है। अनुभूति यथार्थ की सापेक्षता मे स्वचेतन कला को प्रज्ञा-दृष्टि देती है। अनुभूति को स्वचेतन व्यक्तित्व ही ग्रहण करता है। भावुकता में पहले तो स्वचेतना होती ही नहीं। और यदि हुई भी तो वह विवेकहीन होगी और दृष्टि (vision) की प्रेरणा से उद्भूत नहीं होगी। अनुभूति की सफलता दृष्टि-प्राप्ति है। भावुकता मात्र व्यंजना है—साक्षात्कार नहीं।

(५) भावुकता में साक्षात्कार की भावना नहीं रहती, इसीलिए वह प्रायः निम्न स्तर पर केवल वाह्य सम्बन्ध स्थापित कर के समाप्त हो जाती है। अनुभूति यथार्थ के आत्म-सम्बन्ध से विकसित होती है और आत्मोपलब्धि की मर्यादाएँ स्वीकार करती है। भावुकता प्रायः आत्म-

हीनता से पनपती है इसलिए उसमे का प्रश्न ही नहीं उठता भावुकता आत्मा को नही, इन्द्रियजन्य उपलब्धि को ही साधक समझती है।

(६) भावुकता की क्रियाशीलता स्वय भावुक में नहीं होती वरन् वह कहीं उसके अस्तित्व-बोध (existence) के बाहर होती है। भावुकता में प्रेरणा को अनुभूत सत्य की सीमा तक ले जाने की भी क्षमता नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक प्रेरणा को अपने अस्तित्व-बोध की सापेक्षता में वहन करने के बजाय वह अस्तित्व को ही खण्डित कर के पंगु बना देती है।

. क्रियाशीलता से आत्मनिष्ठा, व्यक्ति-निष्ठा और मानव-निष्ठा का आभास मिलता है। भावुकता में निष्ठा के स्थान पर निम्न स्तर की क्षणिक पूर्ति की ही भावना निहित रहती है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि इस भावुकता में कलात्मक प्रयोजन (artistic motive) होता ही नहीं, अर्थात् कलात्मक प्रयोजन के होते हुए भी भावुकता-प्रधान साहित्य या कला कर्म-काण्डी पद्धति की अनुगामी होती है। भावुकता-प्रधान व्यक्तित्व और उसकी समस्त स्वचेतन शक्ति पराश्रित होती है, मुक्त नहीं होती। इसीलिए वह प्रयोग और अन्वेषण के माध्यम को भी नहीं स्वीकार पाती।

यहीं पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अनुभूति एक भोग की स्थिति है—यह भोग की कामना सत्यान्वेषण और यथार्थ की मर्यादा से अनुशासित हो कर विकसित होती है। किसी भी स्थिति को पूर्णतः भोग लेना, निस्संग रूप से उसका अनुभव ग्रहण करना है। किसी स्थिति मे पूर्णतः डूब जाना या किसी स्थिति के बाह्य परिचय से ही उसमें प्रवाहित हो जाना भावुकता है। अनुभूति इसीलिए व्यक्ति-मर्यादा से अनुशासित होती है। वह न तो अतिरेक से द्रवित होती है और न विवेक की हत्या पर अपना आचरण ही निर्धारित करती है। अनुभूति प्रायः इसीलिए चमत्कार, इल्हास और इस प्रकार की दैवी (अतिमानवीय) भावनाओं से न तो द्रवित होती है और न उस ओर उन्मुख ही हो पाती है। अनुभूति और भ्रम (illusion) के भेद को यथार्थ की सापेक्षता स्पष्ट करती है। भावुकता प्रायः भ्रम के उद्गार की अभिव्यक्ति होती है। यथार्थ इस बौद्धिक भ्रम को खण्डित कर के जिस सत्य के आयाम को अनुभूत तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करता है, वह वास्तव में अनुभूति होती है। भ्रम से उपजी हुई संवेदना, भावुकता हो सकती है, स्वप्न हो सकती है, कुण्ठा हो सकती है, किन्तु वह सौन्दर्यानुभूति से द्रवित, प्रज्ञायुक्त अनुभूति नही हो सकती।

प्रज्ञायुक्त अनुभूति परिचयात्मक अनुभूति की स्थानापन्न नहीं होती। प्रज्ञा वास्तव मे अनुभूति के क्षणों के सार्थक प्रतीकों द्वारा व्यक्त होती है। इन प्रतीकों की प्रकृतिगत अवस्था मात्र वैयक्तिक अवश्य होती है किन्तु इनमें अभिव्यक्ति की एक अकुलाहट विद्यमान रहती है। कला की अनुभूति और साहित्य की अनुभूति में हमारा ऐन्द्रिक बोध प्रायः दो प्रकार की स्थितियों का साक्षात्कार करता है।

पहली प्रकार की स्थिति में हमारा ऐन्द्रिक बोध सुख, आनन्द, सन्तोष, उपलब्धि, तुष्टि और तृप्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार की संवेदनाओं से विकसित अनुभूति को हम आनन्द-मूलक अनुभूति कह सकते है।

दूसरी प्रकार की स्थिति में हमारा ऐन्द्रिक बोध पीड़ा, विषाद, असन्तोष, निराशा,

अन्धकार वितृष्णा आदि की संवेदनाओं से उद्भूत अनुभूति होती है इस प्रकार की अनुभूतिय को करुणा-मूलक अनुभूति कह सकते हैं।

कलाकार की समग्रता में यद्यपि ये दोनों भाव-स्थितियाँ समान रूप से विद्यमान रहती है, लेकिन इनकी व्यापक यथार्थ-सापेक्ष स्थितियों में बड़ा अन्तर है। एक में मानव-चेतना परिष्कृत हो कर सर्वथा नये सत्य का साक्षात्कार करती है, उसकी स्मृतियों में उगती है और अनेक भावनाओं को जन्म देती है। दूसरी भाव-स्थिति भी इन्हीं परिस्थितियों में आगे बढ़ती है। इसलिए संक्षेप में इन दोनों भावस्थितियों के अनुभूत सत्य का विवेचन कर लेना आवश्यक है।

आनन्दमूलक अनुभूति की भाव-व्यंजना (feeling tone) प्रायः उत्स से विकसित होकर सहज उदात्त परिकल्पना में व्यक्त होती है। अनन्दमूलक भावना से ही प्रायः समस्त रागात्मक प्रवृत्तियों के अंकुर विकसित होते हैं। आनन्द-प्राप्ति की भावना मानव-प्रकृति की आधार-भूत भावना है। यदि मनोवैज्ञानिक स्तर से विवेचन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस आनन्दमूलक अनुभूति का साक्षात्कार प्रज्ञा की स्थिति का प्रधान तत्त्व है। वस्तुतः एक सीमा पर पहुँच कर आनन्दमूलक अनुभूति और विषादात्मक अनुभूति अपनी चरम परिणति की सीमा पर एक हो जाते हैं। मूल अनुभूति आनन्द की ही हो सकती है। विषादात्मक अनुभूति मूल्यगत प्रेरणा से समस्त वेदनाओं और पीड़ाओं की सीमा में जिस सजल निर्मल करुणा को जन्म देती है, वह किसी आनन्द की स्थिति से कम नहीं होती। वस्तुतः आनन्द का पूर्ण परिपाक इसी करुण में होता है । आनन्द की भाव-स्थिति भी अपनी अन्तिम सीमा पर उसी करुणा के आंचल में विराजमान दिखता है जिसमें कि अखण्ड विषादों से आच्छन्न पीड़ा की अनुभूति सीमाओं से टकरा कर सर्वथा नये परिप्रेक्ष्य से जीवन और उसमें सापेक्ष तत्त्वों को देखने की दृष्टि देती है। ये दोनों स्थितियाँ यों तो उत्पन्न होती हैं दो विभिन्न भावबोधों से, लेकिन यह भी सत्य है कि दोनों की भिन्नता उत्कर्ष पर पहुँच कर एक सी हो जाती है, या दो विभिन्न स्रोत विभिन्न मार्गों की लम्बी एवं यातनापूर्ण यात्रा समाप्त करने के बाद एक ही स्थान पर समाविष्ट हो जाते हैं। मात्राएँ चाहे यातनाओं की हों, चाहे सुविधाओं की, दोनों ही कहीं अपूर्ण और खण्डित होने के कारण उपलब्धि में समान हो जाती हैं।

सौन्दर्यानुभूति (aesthetic experience) की दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस आनन्दमूलक अनुभूति के प्रधान गुणों में सन्तुलन, क्रियाशीलता और बौद्धिक साहचर्य का प्रधान रूप से आचरण मिलेगा। एक चौथा तत्त्व जो आनन्दमूलक अनुभूति में सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से सर्वमान्य रूप में विद्यमान रहता है, वह है आत्म-मुक्ति की भावना, जो प्रायः आनन्द की आत्मानुभूति को बौद्धिक स्तर पर विकसित कर के किसी भी महत्त्वपूर्ण अनुभूति को सार्थक सन्दर्भों से जोड़ती है। इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम कह सकते हैं कि :—

सन्तुलन की भावना (harmony)—जब कभी आनन्दमूलक अनुभूति से प्रचालित हो कर हम अपने और अपने परिवेश (environment) के बीच की पारस्परिक मर्यादा को ध्यान में रखते हुए आचरण करते हैं, तो हम यह अनुभव करते हैं कि हमारे और परिवेश के बीच हमेशा एक प्रकार का सन्तुलन स्थापित होता चल रहा है। आनन्द या आत्मतुष्टि की भावना का

जागत होना ही इस बात का परिचय देना है कि अनुभवकर्ता और वस्तुजगत के बीच जो गहरी खाई है वह कही सिमट कर समाप्त हो रही है

क्रियाशीलता (activity)—आनन्दमूलक भावना की दूसरी विशेषता यह है कि अनुभव-कर्ता और अनुभूत सत्य की सापेक्षता में सृजनात्मक प्रक्रिया और रचनात्मक प्रबुद्धता ही प्रश्रय पाती है। सौन्दर्य सन्तुलित चेतना का द्योतक है। इसलिए जब कभी किसी आनन्दमूलक अनुभूति का साक्षात्कार होगा तो निश्चय ही उस सन्तुलन से ओतप्रोत एक सौन्दर्य-प्रधान रागात्मकता विकसित होगी। यह रागात्मकता केवल, क्रियाशील रचनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा ही व्यक्त हो कर गतिशील हो सकेगी। सौन्दर्य के गतिशील तत्त्व की स्थापना बिना इस सम्भावना के सम्भव नही हो सकती। इसीलिए प्रत्येक आनन्दमूलक अनुभूति का क्रियाशील रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा व्यक्त होना अनिवार्य है। यथार्थ की सापेक्षता में भी इस प्रक्रिया का रागात्मक सत्य विकसित होता है। आनन्दमूलक अनुभूति की यथार्थ-सापेक्ष दृष्टि ही अनुभूति को जीवन्त शक्ति देती है। यथार्थ की गतिशीलता और आनन्द की गतिशीलता दोनों के ही घात-प्रतिघात से साक्षात्कृत सत्य मूल्य-सम्पन्न भी हो सकता है। इसीलिए आनन्द की भाव-स्थिति स्थिर नहीं गतिशील रूप मे व्यक्त होती है। यह आनन्दमूलक अनुभूति उपलब्धि को नया अर्थ दे देती है।

बौद्धिक साहचर्य (intellectual participation)—जैसा कि ऊपर कहा गया है, सौन्दर्य और आनन्द दोनों ही मूलतः एक बौद्धिक प्रक्रिया की समरसता की परिणति हैं। सौन्दर्य की कोई भी संवेदना बौद्धिक चेतना के बिना अनुभूति नहीं बन सकती। वस्तुतः प्रत्येक सौन्दर्य-बोध एक मानसिक भावान्तरण (transformation) में व्यक्त होता है। सुन्दर को देख कर आत्मिक एव ऐन्द्रिक आनन्द तो मिलता ही है, किन्तु उस आनन्द की मूल स्थापना बौद्धिक साहचर्य से स्थापित होती है। सौन्दर्य की आधारभूत कल्पना अथवा उसके पूर्णत्व में आनन्द की कल्पना का आधार ढूँढने की प्रवृत्ति बौद्धिक स्तर पर ही सम्भव है। ऐन्द्रिक बोध, अनुभूति और आनन्द का साक्षात्कार करने की क्षमता इस बौद्धिक साहचर्य से ही मिलती है। विवेक, विश्लेषण और प्रत्यक्ष भोगने की क्षमता भी बिना बौद्धिक साहचर्य के सम्भव नहीं है। साहित्य और कला में तो प्रत्येक भाव-स्थिति की परिणति ही बौद्धिक अनुरंजन से व्यक्त होती है।

आत्म-मुक्ति (self-elevation)—प्रत्येक अनुभूत क्षण पूर्ण रूप से भोग लिये जाने के उपरान्त एक आत्मिक तुष्टि देता है। उच्च स्तर पर यही आत्म-तुष्टि आत्म-मुक्ति की भावना के रूप में व्यक्त होती है। अनुभूति में प्रज्ञा-तत्त्व का साक्षात्कार सदैव व्यक्तित्व को मुक्ति की स्थिति का बोध कराता है। आनन्द की अनुभूति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व इसी आत्म-मुक्ति की स्थिति का परिष्कृत रूप है। मानसिक या बौद्धिक तनाव (tension) से सहसा उपलब्धि की सीमा तक पहुँचते-पहुँचते यह आत्म-मुक्ति की भावना समस्त रस-बोध को प्रौढता प्रदान करती है। इसीलिए आत्म-मुक्ति में मूर्त प्रत्यक्ष साक्षात्कार (intimate realisation) के नितान्त सुप्रेषितव्य गुण विद्यमान होते हैं। उत्सर्ग और उपलब्धि की परिणति आनन्द में ही होती है। लेकिन ये सारी स्थितियाँ विचार-स्थितियों (idea situations) के पल्लवित रूप हैं। बौद्धिक क्रियाशीलता भी इसी आत्म-मुक्ति की मूल भावना से मूल्यगर्भित बन जाती है।

आत्म-पूर्ति (self-fulfilment)—मनुष्य के आन्तरिक जगत् में व्याप्त अभाव

का भी एक महत्त्व है वाह्य और आन्तरिक अवस्थाए जब एकाकार होती है और मनुष्य अपनी अनभतिये द्वारा ही अपने अभावो की प्रतिपूर्ति compensation) कर लेता है तो फिर इसी प्रात पूर्ति की भावना मे आत्म-पूर्ति की भावना भी उपलब्ध होती है। यही नही, प्रत्यक आनन्द की स्थिति आन्तरिक अभावों की पूर्ति कर के सर्वतोसन्तुलित भावना का बोध करा देती है। आत्म-पूर्ति की यह स्थिति प्रत्येक कलाकार की महत्त्वपूर्ण गति है। मूलतः यह आत्म-पूर्ति ही प्रज्ञा (knowledge) का कारक है। सन्तुलन कलाकार के व्यक्तित्व और उसके वस्तु-जगत् की सापेक्षता का सत्य है।

आनन्दमूलक अनुभूति की इन विशेषताओं में जीवन जिन सत्यों का अन्वेषण करता है वे ही प्रज्ञा और दृष्टि को परिमार्जित करते हैं। बौद्धिक साहचर्य जिस क्रियाशीलता से परिचालित होती है, उसकी पूर्ण स्वीकृति आत्म-मुक्ति और आत्म-पूर्ति के माध्यमों से होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि आनन्दमूलक अनुभूति की मूल सन्तुलन की जिज्ञासा तभी स्थापित होती है जब कि वर्तमान व्यवस्थाबद्ध भावनाओं का सन्तुलन स्थापित होता है।

लेकिन यही आनन्दमूलक अनुभूति जब अनुभूत सत्य के साथ अपना सन्तुलन नही स्थापित कर पाती तब वही कई विकृतियों के रूप में व्यक्त होने लगती है। साहित्य और कला के क्षेत्रों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ आनन्द की कल्पना को सस्ते और निम्न स्तर के सन्दर्भों मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। कलानुभूति के मर्मस्पर्शी क्षण कलाकार के व्यक्तित्व के व्यक्तिगत क्षण होते हैं। इसीलिए प्रत्येक कलाकार की अपनी भाषा, अपने प्रतीक और अपनी व्यजनाएँ भी हो जाती हैं। मनोरंजन एक नाटकीय भ्रम से हमारी भावनात्मक तुष्टि करता है। आनन्दमूलक अनुभूति एक साक्षात्कृत अनुभूत सत्य से हमारी बौद्धिक तुष्टि कराने की चेष्टा कराता है। मनोरंजन तो किसी भी वस्तु से हो सकती है, किन्तु आनन्द की कल्पना सर्वथा नये आयामों से हो कर विकसित होती है।

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि आनन्दमूलक अनुभूति मनोरंजन की अनुभुति नहीं। यदि आनन्दमूलक अनुभूति को देखा जाय तो उसका साक्षात्कार एक पीड़ाजनक प्रक्रिया है। अव्यवस्था (chaos) से व्यवस्था (order) की ओर बढ़ने का प्रयास, अराग की स्थिति से अनुराग की स्थिति तक की यात्रा, असन्तुलन से सन्तुलन की ओर उन्मुखता की सम्पूर्ण अनुभूति प्रक्रिया से निम्न स्तर का मनोरंजन नहीं उत्पन्न होता। कलाकार के व्यक्तित्व की तड़प और उसकी आत्मवेदना की माँग मनोरंजन नहीं होता। वह अपने अन्तर्जगत् और वाह्य जगत् को जिस तदात्मरूप में मूर्त करना चाहता है वह उसकी विवशता होती है। इसीलिए जब वह अपने इस लक्ष्य में सफल होता है तो उसे आनन्द की अनभूति होती है, उपलब्धि का बोध होता है। अस्तित्व-बोध की समस्त गतिशीलता जब आनन्दमूलक अनुभूति का साक्षात्कार करती है तो वह स्थिति आह्लाद, उन्मेष, आवेश की स्थिति नहीं होती, क्योंकि बौद्धिक साहचर्य में विवेक, विश्लेषण और प्रत्यक्षता का बोध जिस रागात्मक भावना को जन्म देता है या जिस प्रज्ञा की ओर उन्मुख होता है वह सरल मनोरंजन नहीं होती वरन् सम्पूर्ण अस्तित्व और भाव-स्थिति का प्रज्ञा-प्रधान तादात्म्य होती है।

मनोरंजन की स्थिति ऐन्द्रिक बोध को अन्तिम सत्य मान कर चलता है इसलिए इसमे

कल्पना के माध्यम से सत्यान्वेषण की दृष्टि नहीं होती है। मनोरंजन मूलतः यथार्थ जीवन से पलायन कर के, भावहीनता की ओर ले जाता है। जीवन के यथार्थ और उसमें निहित सौन्दर्य की अपेक्षा केवल कल्पनाहीन, स्थूल और एकदम ऐन्द्रिक तुष्टि के भाव से परिचालित भावना एक प्रकार की विकृति है, जिसमें नैतिक साहस नहीं होता। अनुभूति की आत्म-मर्यादा में जो नैतिक ऐक्य है, वही उसे सत्यान्वेषण की ओर अग्रसर करती है। मनोरंजन में न तो आत्म-मर्यादा को स्थान मिलता है और न इस नैतिक आस्था को। इसीलिए वह प्रायः असामान्यता (abnormality) का पोषक हो जाता है।

मनोरंजनार्थ रची गयी कला सदैव उपयोगितावादी ही होती है। उसमें पूर्व-निश्चय (pre-determination) और पूर्व-निश्चित मन्तव्यों का इस प्रकार योग प्रस्तुत किया जाता है कि वह अनुभूत सत्य हो ही नहीं सकता। इसीलिए वह अनुकरण-प्रधान साहित्य होता है। कला में भी जब यह अनुकरणात्मक सत्य ही उसका लक्ष्य बन जाता है तब उसमें सम्भवतः साहित्य अथवा कला से इतर मन्तव्यों का विकास होने लगता है। इसीलिए उसमें कला के स्थान पर कौशल (शिल्प) मुख्य स्थान ग्रहण करने लगता है। अनुकरणात्मक साहित्य कभी मूल्यों के स्तर पर नहीं विकसित होता। मनोरंजन-प्रधान कला इसीलिए केवल एक प्रकार की निश्चित भावना से परिचालित हो कर एक निश्चित लक्ष्य को ही अवतरित करती है। उसका उद्देश्य ही कुछ भावनाओं को जागृत कर के उनकी विकृति में रस लेना है।

इसी प्रकार करुणामूलक अनुभूति की भाव-व्यंजना (feeling tone) प्रायः बाह्य और आन्तरिक असन्तुलन से परिव्याप्त हो कर आक्रोश और व्यंग्य में व्यक्त होती है। एक दृष्टि से तो यह आक्रोश और व्यंग्य उस उत्स का अंश ही है लेकिन संवेगात्मक तीव्रता के कारण उसकी परिणति विषादमूलक हो जाती है। वस्तु-स्थिति की सापेक्षता में इस विषादमूलक अनुभूति की भावसंगति को त्याज्य नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक आनन्दानुभूति जिस मन्थन और तादात्म्य के सत्य से जनमती है, उसमें असत्, असन्तुलन, विपर्यय और विकृतियों के प्रति जितनी भी क्रियाशील रागात्मक भावनाएँ समस्त चेतना को अन्दोलित करती हैं, सब की सब विद्यमान होती हैं। इसीलिए मैं आनन्दानुभूति की स्थिति को शून्य की अवस्था न मान कर उस क्रियाशील स्वचेतना का रूप मानता हूँ जिसमें विद्रोह, सह-भोग, सह-अनुभूति, करुणा और आत्मनिष्ठा के तत्त्व विद्यमान हों।

विद्रोह की क्रियाशीलता एक गतिशील स्तर पर अर्जित सत्य और व्याप्त असन्तुलन के बीच से आविर्भूत होने वाली एक निष्ठा को अभिव्यक्ति देती है। विद्रोह कलाकार की प्रकृति का अंग है, क्योंकि वास्तव में कला-दृष्टि प्रधान वस्तु है और कलाकार द्रष्टा के बोधगम्य साहस का वहन करता है। मूल्यों के स्तर पर जितना भी प्राप्त हो चुका होता है उसके अतिरिक्त कलाकार कुछ भविष्य की सम्भावनाओं को भी लक्षित करता है। जो है और जो होना चाहिए, इसी को वहन करने में कलाकार कहीं न कहीं विद्रोह करता है, खण्डित और निर्माण करता है, तोड़ता है और बनाता है। इसी दृष्टि से वह अराजकता का भी पोषक होता है। मूल्यों के प्रज्ञा-प्रधान सतत विकास के प्रति जागरूक स्वचेतन व्यक्ति होने के नाते ही विद्रोह उसका सहज धर्म बन जाता है

कलाकार विद्रोह के मानवीय स्तर पर वर्तमान की पीड़ा, वेदना और अवसादों को तो भोगता ही है, साथ ही वह कहीं सम्भाव्य को भी कल्पना के स्तर पर अनुभव करता है। सम्भाव्य की मार्मिकता ही उसे वह दृष्टि देती है जिससे वह दूसरों की पीड़ा, सुख-दुख का आत्म-साक्षात्कार कर लेने की शक्ति पाता है। यह सह-भोग विद्रोह की वह प्रक्रिया है जिसमें एक अनेक की पीड़ाओं को झेल कर नये मूल्यों का सन्दर्भ बनाता है। वह एक कलाकार की अनुभूति है जिसमें इतनी शक्ति होती है कि वह युग के व्याप्त दंश को सामान्य स्तर पर अनुभव करता है। विद्रोह की कोई भी स्थिति उस समय तक सार्थक नहीं हो सकती जब तक कि उसकी सह-भोग की पूरक भावना भी उसके साथ नहीं हो।

प्रत्येक मानव-व्यक्तित्व की पावनता में आधारभूत आस्था से ही अनुभूति की वैयक्तिक प्रकृति स्थापित होती है। वैयक्तिक अनुभूति की व्यक्तिगत आस्था को एक सामान्य धरातल पर सहानुभूत्यात्मक रूप में अनुभव करना ही सह-अनुभूति की स्वीकृति है। किसी भी दूसरे की अनुभूति को अपनी अनुभूति के स्तर पर भोग लेने की क्षमता ही मानवीय संवेदना की मूल-स्थिति है। कलाकार इस सह-अनुभूति की सीमा को व्यापक सन्दर्भ में ग्रहण कर लेता है और वह उसी भाव-स्थिति को मूल्य के रूप में स्थापित करता है। जीवन कुछ इतने व्यापक सन्दर्भों से जुड़ा हुआ अस्तित्व है कि उसकी पूर्णता बिना सह-अनुभूति के सम्भव नहीं हो सकती। मानव-प्रज्ञा भी इस सत् से अनुप्राणित होती है।

करुणा विषाद-मूलक अनुभूति की परिष्कृत स्थिति है। अपनी पीड़ा अपनी वेदना को व्यापक धरातल पर साक्षात्कार करना ही करुणा की प्रेरणा है। सह-भोग और सह-अनुभूति की स्थितियों में हमें जितना भी दिखलायी पड़ता है वही हमारे व्यक्तित्व को वह दृष्टि प्रदान करती है जिससे हम अविश्वास, अन्धकार और पशुता के वातावरण में भी मानवीय संवेदना को अंगीकार कर लेते हैं। यथार्थ की विवशता और कल्पना-शक्ति के अजस्र ओज के बीच सीमाबद्ध मानवीय अनुभूति की अकुलाहट, दृष्टि-बोध और मूल्य-निष्ठा का जन्म ही करुणा से होता है।

आत्मनिष्ठा के क्षणों में ये सभी तत्त्व अपनी जागरूक सत्ता से हमें अनुप्राणित कर के जीने की शक्ति और अस्तित्व की सार्थकता का बोध करा देते हैं। करुणा की प्रत्येक स्थिति मनुष्य को कहीं न कहीं आत्मनिष्ठ बना देती है।

बहुत से लोग कह सकते हैं कि करुणा की यह कल्पना और अनुभूति केवल आत्मपरक हैं और इसलिए इस आत्मपरक तथ्य को वस्तुपरक स्तर पर वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिकता का मैं भी क़ायल हूँ और उसके सत्य को स्वीकार भी करता हूँ, लेकिन कला और साहित्य के क्षेत्र में वस्तुपरकता और वैज्ञानिकता की एक सीमा होती है और उसी सीमा में बद्ध रह कर ही मूल्यों का अन्वेषण नहीं किया जा सकता। मन और चेतना दोनों आत्मपरक ही हैं। कला और साहित्य में आत्मसाक्षात्कार के क्षणों को जैसे मात्र अचेतन अवस्था कह कर सम्बोधित नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार उस स्थिति को नितान्त वस्तुपरक चेतना नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह कहना, कि करुणा की अनुभूति एकान्ततः आत्मपरक स्थिति है, ग़लत है। वास्तव में अपनी व्यक्तिगत संवेदना को जब हम व्यापक स्तर पर अपनी सहज कल्पना से दूसरे के व्यक्तिगत सत्य की सापेक्षता में स्थापित करते हैं तभी हमें आनन्द अथवा करुणा की

भावना का साक्षात्कार होता है। करुणा या आनन्द की स्थितियाँ समान और अभिन्न होती है। दोनों की परिणतियाँ मानवीय संवेदनाओं से उपजती हैं। कलाकार के व्यक्तित्व को दोनों ही अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है।

कलात्मक अनुभूति व्यक्ति-सत्य से सार्वभौम सत्य की ओर उन्मुख होती है। कलाकार अपनी पीड़ा और अपनी वेदना को एक व्यापक धरातल पर ला कर उसके माध्यम से सार्वभौम विश्व-चेतना का साक्षात्कार करता है। यह सत्य-बोध की वस्तुपरक प्रक्रिया है। लेकिन इस प्रक्रिया में न तो वह एकान्ततः वस्तुपरक ही रहता है, न एकान्ततः आत्मगत ही। व्यक्ति-सत्य का ही साक्षात्कार वह व्यापक विश्व-स्तर पर भी करता है। व्यक्ति-सत्य के साक्षात्कार के समय भी वह व्यक्तित्व और यथार्थ की संवेदनाओं को देखता-समझता है, उसमें लीन हो कर विसर्जित नहीं हो जाता।

व्यक्तिगत अनुभूति के दो स्तर होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। बाह्य स्तर के साक्षात्कार का वहन आन्तरिक संवेदना करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम केवल आन्तरिक अनुभूति के व्यक्तिगत स्तर पर ही प्रतीकात्मक रूप में बहुत-सी वस्तुओं को ग्रहण कर के अर्थ दे देते हैं। किन्तु ऐसे प्रतीक प्रज्ञा का पूर्ण तत्त्व निहित न होने से प्रज्ञा-बोधक नहीं हो पाते। अर्थात्, कलाकार अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच उस निस्संगता को नहीं स्थापित कर पाता जो प्रज्ञा का अनिवार्य अंग है। इसीलिए या तो वह भावुकता-प्रधान हो जाता है, या मनोरंजन के स्तर का हो जाता है, या फिर नितान्त आत्मलीन बन कर एकांगी रह जाता है।

बाह्य स्तर की कोई भी अनुभूति मूल्यवान् उसी समय हो सकती है जब कि वह व्यक्तिगत स्तर पर भावनाओं के विभिन्न पक्षों के साथ विकसित हुई हो। यदि वह मात्र व्यक्तिगत बन कर रह जाती है और अपने प्रतीकों में इतनी भी सम्भावना नहीं छोड़ती कि समस्त मानव-समाज में एक भी व्यक्ति उसकी सार्थकता समझ सके तब उसकी स्थिति नितान्त एकांगी, अमूर्त और अप्रामाणिक हो जाती है।

आन्तरिक स्तर की अनुभूति को भी इसी दृष्टि से व्यापक चेतन विश्व से कुछ न कुछ सापेक्षता स्थापित करना पड़ता ही है, क्योंकि ऐन्द्रिक बोध व्यापक विश्व के सन्दर्भ में ही विकसित होता है। भाव-स्तर के प्रतीकों को भी मात्र व्यक्तिगत स्तर पर ऐसे प्रतीकों की स्वीकृति से अनुबन्धित होना पड़ता है जो अर्थ-बोध की सक्रियता को स्वीकार करें। व्यक्तिगत अनुभूति और अर्थाभिव्यक्ति की सापेक्षता ही प्रतीक वहन करती है। भाषा, छन्द, गति, लय, सभी उसी सार्थकता के वाहन हैं। इसीलिए कला में यह तो सम्भव होता है कि हमारे व्यक्तिगत प्रतीक मात्र व्यक्तिगत बन कर रह जायँ किन्तु माध्यम के ही कारण उनमें इतनी ऐकान्तिक एकांगिता नहीं आने पाती।

करुणा की मूल प्रकृति के विषय में एक बात और कह देना आवश्यक है। यहाँ पर जिस करुणा का उल्लेख किया गया है वह मात्र कला और साहित्य के सन्दर्भ में ही है। धर्म, चमत्कार या भावुकता की स्थिति में जिस संवेग का विकास होता है, उसे मैं प्रायः अनुवासित (conditioned) भावना मानता हूँ। अनुभूति के आयाम का उसमें विकास न हो पाने का कारण प्रज्ञा का अभाव

ही है। उसकी प्रामाणिकता पौरुषेय न हो कर दैवी होती है। इसीलिए धर्म-निर्दिष्ट साहित्य का मानवीय पक्ष ही करुणा-जन्य हो पाया है। शेष सब का सब यथार्थ की सापेक्षता में उतना पूर्ण नहीं उतर पाता।

सह-अनुभूति की भावना भी इसी प्रकार है। इस सह-अनुभूति से ही मानव-संवेदनाओ को सर्वप्रथम मानवीय आधार पर आचरित होने का अवसर मिला है। साहित्य जिस मानव-सापेक्ष अनुभूति का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें इस सह-अनुभूति की व्यंजना को ही मूल्यगत स्थापना मिल पाती है। साहित्यकार की प्रज्ञा जब अपनी और अपने साथ-साथ दूसरों की दशा का काल्पनिक स्तर पर साक्षात्कार करता है तो अपनी अनुभूति को भी एक नये अर्थ-बोध की सज्ञा दे देता है। करुणा इस संगीत की परिणति होती है। ठीक उसी प्रकार आनन्द की स्थिति भी होती है। कुछ सीमा तक यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्येक कलाकार या साहित्यकार मात्र अपनी व्यक्ति-मर्यादा के अनुसार अपनी ही संवेदना नहीं बाँटता, वह कहीं सब की संवेदनाओ को बटोरता भी है। अपने और अपने से परे को जब वह सह-सम्बन्धित करता है तभी सह-अनुभूति भी सम्भव हो पाती है।

सह-अनुभूति कलाकार और साहित्यकार की कल्पना-शक्ति की वह अभिव्यक्ति है जिसमें वह अपने व्यक्तिगत अनुभूत प्रतीकों को अभिव्यंजना देने के लिए उनकी व्यक्तिगत प्रकृति को सामूहिक धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। सह-अनुभूति आत्म-साक्षात्कार की वैयक्तिक मर्यादा को पुनः संस्कार के रूप में स्थापित करने की चेष्टा कर के कलाकार स्वयं जीवन के व्यापक यथार्थ में भाग लेता है। सह-अनुभूति कलाकार की सार्वभौम मानवीय दृष्टि का अनुभूत सत्य है, उसकी व्यक्ति-मर्यादा की पूर्णतम उपलब्धि है, उसके दृष्टि-बोध की सक्रिय क्रिया-शीलता का परिणाम है, तथा मानव-सापेक्ष जीवन के संवेदनशील अस्तित्व की स्वीकृति है। मनुष्य केवल मनुष्य के ही साथ सह-अनुभूति रख सकता है। किसी भेड़ और बकरी के साथ मानव-चेतना की सह-अनुभूति की स्थापना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक रागात्मक अस्तित्व की पहचान से ही कलाकार की मानव-सापेक्ष मर्यादा स्थापित होती है। साथ-साथ सह-अनुभूति भावान्तरण की स्थिति भी है। प्रत्येक अनुभूति अपने अस्तित्व के साथ ही साथ कलाकार की प्रज्ञा को परिष्कृत कर के नये सन्दर्भ की व्याख्या के साथ जोड़ देती है। भावान्तरण की यह स्थिति ही जीवन को निष्ठा देती है।

जैसा कि ऊपर कही गयी बातों से स्पष्ट है, अनुभूति की प्रक्रिया में व्यक्ति-सत्य और वाह्य-सत्य के कक्ष बाँटे नहीं जा सकते। जो जितना बड़ा कलाकार होता है और जितनी कोमल भाव-शक्ति उसमें होती है, उसी सीमा तक वह सह-अनुभूति की स्थिति प्राप्त करता है। साथ ही अपनी व्यक्ति-मर्यादा के अनुसार ही वह सह-भोग की स्थितियाँ चुनता है। इन दोनों को एक साथ मिला कर कोई भी साधारण नियम नहीं घोषित किया जा सकता। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कला या साहित्य के क्षेत्र में इस अंश तक वाह्य सत्य और इस अंश तक आन्तरिक सत्य होना ही चाहिए। वाह्य और आन्तरिक के अनुपात या परिमाण का निर्धारण कलाकार का व्यक्तित्व ही कर सकता है। साहित्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र केवल इतना ही कह सकते हैं कि कलाकार की व्यक्ति-मर्यादा कला में आन्तरिक सत्य और वाह्य सत्य की

सापेक्षता का जितनी ही निस्संगता के साथ निर्वाह करती है, उसी सीमा तक वह सह-भोग और सहअनुभूति का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

करुणा मूलतः सह-भोग और सह-अनुभूति की चरम परिणति है। करुणा की सह-भोग-भावना से ही मानव-इतिहास में उदात्त की परम्परा स्थापित होती रही है और वह चाहे बुद्ध की वाणी में हो चाहे क्राइस्ट की सद्‌भावना में, मूलतः मानव-सापेक्ष विचार ही है। कला या साहित्य में करुणा की इस भावना का होना नितान्त आवश्यक है। कला या साहित्य का वास्तविक मानदण्ड ही सह-भोग की क्षमता और उसकी व्यंजना पर आधारित है। दूसरे शब्दों मे हम यह भी कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति-अनुभूति में व्यापक स्तर की भावना पर किसी दूसरे की अनुभूति के साथ सहयोग की भावना होती है, वहीं आनन्द की अथवा करुणा की स्थिति होती है। मनुष्य का रागात्मक विकास ही इस पर आधारित होता है।

जब करुणा हमारी समस्त सद्‌भावनाओं के साथ मानवीय स्तर पर यथार्थ और मानव की सापेक्षता में व्यवहृत होती है तभी उसमें रचनात्मक और सार्थक शक्ति विकसित होती है। करुणा की भावना जब मानवेतर सन्दर्भ में प्रयुक्त होती है अथवा वह मात्र शिष्टाचार का प्रतीक बन जाती है तब वह सत्य की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो पाती।

करुणा वास्तव में हमारी सह-भोग की स्थिति का परिचायक होती है। विवेक-रहित निरपेक्ष करुणा प्रायः पतनशीलता में भी बदल जाती है। करुणा अश्रु-अभिनन्दन नहीं है, वह हृदय-मन्थन की सन्तुलित व्यंजना है।

करुणा की अनुभूति कोई रहस्यात्मक अनुभूति नहीं होती। जीवन एक स्पष्ट यथार्थ है। उसकी दुर्बलता उसकी सीमा भी है और विशेषता भी। करुणा में उन सीमाओं को सशक्त रूप में वहन करने की क्षमता है। नैसर्गिक भावना कला और करुणा दोनों को अयथार्थ बना देती है। करुणा आत्महीनता (*self-pity*) नहीं, आत्मबल, उत्सर्ग-कामना और क्रियाशील स्वचेतन का प्रतिनिधित्व करती है। करुणा पुरुषार्थ, विवेक और आत्म-निवेदन की प्रज्ञा से द्रवित भाव है। करुणा की उदात्तता को दया की भावुकता मान लेना भी भ्रामक है।

जीवन की पुंजीभूत अनुभूति इन्हीं तत्त्वों में ढल कर कला के नये रूप ग्रहण करती है। जितने नये रूपों में कला व्यक्त होती है उतने ही नये रूपों में जीवन, अनुभूति, रागात्मकता और मानव-सापेक्ष सत्यों के अंश हमारे समक्ष व्यक्त होते हैं। इसीलिए अनुभूत सत्य पर अधारित उपलब्धियों के लिए कोई एक मापदण्ड नही निश्चित किया जा सकता। वास्तव में अनुभूति की विविधता ही जीवन की गतिशीलता का द्योतक है। इन विविधताओं को एक सूत्र में संयोजित करने वाली शक्ति को उदार होना चाहिए। इसी उदारता के कारण ही सह-भोग और सह-अनुभूति सम्भव हो सकती है।

अनुभूति स्वयं सापेक्ष सत्य की रागात्मक प्रतिकृति है। इसीलिए अनुभूति को कभी भी निरपेक्ष धारणा के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। योग और हमारे यहाँ की अन्य विचार-पद्धतियों में अनुभूति और आनन्द की जिस निरपेक्ष स्थिति का वर्णन किया गया है, उसकी और कला की स्थिति से तुलना करने में भी यही कठिनाई है। कला अनुभूति-सापेक्ष सत्य है। कलाकार निरपेक्ष माध्यम नही है, वह सक्रिय भोक्ता है। इसीलिए वह शून्य की स्थिति, आह्लाद की

स्थिति, आनन्द की मोक्ष-स्थिति का वाहक न हो कर यथार्थ-सापेक्ष, जीवन-सापेक्ष और दृष्टि-सापेक्ष सक्रियता का सूत्रधार है। अनुभूति के क्षण उस पर अवतरित नहीं होते वरन् वह स्वयं क्रमश: अपने भाव-बोध के स्तर को विकसित कर के अनुभूत सत्य ग्रहण करता है। इसीलिए वह एक अचेतन या अर्धचेतन माध्यम मात्र रह ही नहीं सकता। वह यथार्थ का भोक्ता और सत्य का साक्षी होता है। वह ऐन्द्रिक बोध से अनुभूत सत्य के बीच अपनी समस्त चेतनाओं का साक्षी और उनका सतत प्रणेता होता है। करुणा उसकी निजी भोग-शक्ति से द्रवित हो कर सत्य-दर्शन के रूप में क्रियाशील होती है। आनन्द उसकी निजी अनुभूति की सह-अनुभूति की परिणति है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि करुणा सह-भोग की स्थिति है। प्रत्येक अनुभूति एक भोग्य सत्य होती है। उपलब्ध क्षणों की सहज प्रज्ञा को जब हम अपने भीतर स्थित कर के उसको बाहर प्रक्षेपित करते हैं, तो उसी की प्रक्रिया में करुणा हमें सह-भोग की दृष्टि देती है। करुणा ही सह-भोग की निष्कृति है और उसकी जननी भी है।

इसी प्रकार आनन्द भी सह-अनुभूति की स्थिति है, किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, आनन्द की स्थिति कलाकार की वैयक्तिक मर्यादा की स्थिति है। आनन्द की स्थिति को मूलतः प्रज्ञा की स्थिति ही कहा जा सकता है। किन्तु कला के क्षेत्र में और आधुनिक सन्दर्भ में प्रज्ञा क्रियाहीन शून्य की स्थिति नहीं है। प्रज्ञा उत्स है, ज्ञान और आचरण (becoming) का सापेक्ष सम्बन्ध है। इस 'बिकमिंग' की भाव-स्थिति में ही वह सह-अनुभूति उपलब्ध होती है जो आत्मसत्यसापेक्ष प्रज्ञा को विस्तृत भाव-क्षेत्र तक ले जाता है।

करुणा और आनन्द की भाव-स्थितियों में ही कलाकार मूल्यों का निर्माण करता है। प्रज्ञा, दृष्टि, विवेक और सत्य के तत्त्वों को मानव-सापेक्ष, जीवन-सापेक्ष और यथार्थ-सापेक्ष सन्दर्भ में ग्रहण करने में ही कलाकार की मौलिकता है। कला पाण्डित्य नहीं है। इसीलिए कला में प्रज्ञा, दृष्टि, या विवेक-निरपेक्ष मूल्य सम्भव नहीं है। इन्हीं से सम्पृक्त करुणा और आनन्द से कलाकार को सापेक्ष सत्य की उपलब्धि होती है।

जीवन की समग्रता भी करुणा और आनन्द की स्थितियों में प्राप्त होती है। समग्रता ही करुणा और आनन्द का स्रोत है और बिना इस व्यापक दृष्टि के कलाकार सह-भोग और सह-अनुभूति की वृत्तियों का वास्तविक साक्षात्कार नहीं कर सकता।

आज जिस युग और जिन परिस्थितियों में हम रह रहे हैं वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अन्तरिक्ष की विजय-कामना से ले कर धरती की ठोस और कटु परिस्थितियों तक आज की मानवीय कल्पना एक साथ विभिन्न भाव-स्तरों पर क्रियाशील हो रही है। आज हमारी जिज्ञासा का उद्रेक हमें एक ऐसी सीमा पर ले जा कर छोड़ देता है, जहाँ हमारे हाथ में केवल अनुमान और कल्पना के ही सूत्र रह जाते हैं। दूसरी ओर कहीं इसी प्रयास में ऐसा भी लगता है कि हमारी पकड़ जीवन की यथार्थ सत्ता को सर्वथा छोड़ कर किसी वायव्य धरातल पर बढ़ने का प्रयास कर रही है। इस प्रयास में जो वास्तविक द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ है, वह है अनुभूत सत्य और सम्भाव्य सत्य का। इसी के साथ संस्कार और मूल्यों के विभिन्न आयामों का एक विचित्र संघर्ष अपने आप विकसित होने लगा है। यदि आज क्वैण्टम फ़िज़िक्स यथार्थ के क्षेत्र में सूक्ष्म तत्त्वों को विभिन्न प्रतीकात्मक पदावलियों में बाँध कर एक सत्य व्यक्त करती है और यथार्थ के सन्दर्भ सम्पर्क और

संवेदना को आन्दोलित कर कुछ निष्कर्षों पर पहुँचती है तो उसी के साथ यह अनुभूति के स्तर पर इन सबकी छाप छोड़ कर कुछ संक्रमणात्मक स्थितियों को भी जन्म दे जाती है। ऐसा इसलिए है कि बदलते हुए यथार्थ परिवेश प्रतिक्षण जिज्ञासा और ज्ञान के माध्यम से मूल्यों को आन्दोलित और विस्फोटित कर रहे हैं। इस विस्फोट, इस आन्दोलित क्रान्ति, इन नये उभरते आयामों से मानव-जीवन को नयी उपलब्धियाँ होती हैं।

वस्तुतः आज की मौलिक समस्या का सम्बन्ध ज्ञान की तृष्णा या जिज्ञासा की मूल्यवत्ता से नहीं, वरन् समस्त ज्ञान की वर्धमान परिधि से है जो अभी से समग्रतः मानवग्राह्य नहीं रह गयी है। ठीक इसी प्रकार अनुभूति के क्षेत्र में आज यह समस्या नहीं है कि अमुक अनुभूति क्या है, क्यों है, कैसी है, वरन् यह कि वह अपनी सीमा में कहाँ तक मानव-सापेक्ष है और कहाँ वह निरपेक्ष हो कर केवल एक स्थिति की प्रतिक्रिया मात्र रह गयी है। मानव की विकास यात्रा की वर्तमान स्थिति ने हमारी अनुभूतियों को जितना परिष्कृत किया है और उसमें जिस सीमा तक आधुनिकता का समावेश किया है, आज वह सबका सब हमारे अध्ययन-क्षेत्र का अंग बन गया है। इसीलिए कलात्मक अनुभूति की व्याख्या अथवा विश्लेषण करते समय हमें इसके समस्त सन्दर्भों को कई पक्षों से जाँचना-परखना होगा। वैसे इस विषय का विस्तार स्वयं में अत्यधिक व्यापक है, किन्तु यहाँ हमें अनुभूति के कला और साहित्य-पक्ष को ही लेना है। यद्यपि आज की कलानुभूति और साहित्यिक अनुभूति भी सीमाबद्ध नहीं रह गयी हैं, फिर भी विषय को अधिक वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे अनुभूति के स्तर को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्वों की विषद व्याख्या की जाय। वास्तव में मानव-चेतना आज के व्यापक युग-बोध से इतनी सलग्न है कि उसको विशिष्टताओं की परिधि में घेर कर और खण्ड-खण्ड कर के देखने में ग़लतियाँ हो सकती हैं। फिर भी यहाँ कला और साहित्य की रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रश्नों तक ही अनुभूति को सीमित मान कर चलना ही उचित होगा। दूसरे शब्दों में अनुभूति के विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा एक ओर तो उसकी व्यापक व्याख्या करना और दूसरी ओर उस व्याख्या को कला और साहित्य की समस्याओं से संसक्त रखना उचित होगा। व्यापकता का भी आग्रह बनाये रखना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि अनुभूति वास्तव में प्रकृति से ही विशिष्ट नहीं रह सकती और साथ-साथ वह व्यापक परिवेश में ही परिचालित होती है। आज की बौद्धिक चेतना के लिए इन्द्रधनुष मात्र इन्द्रधनुष ही नहीं है, वरन वह ज्योति-किरण में अन्तर्भूत श्वेत रंग की विशिष्ट प्रक्रिया भी है जो सतरंगिनी के रूप में दीख पड़ती है। आज का चाँद भी मात्र चाँद नहीं रह गया है। उससे सम्बन्धित अनगिनत मान्यताएँ और पौराणिक प्रतीकों की परिकल्पनाएँ आज झूठी पड़ गयी हैं। अतः आज की सृजनात्मक अनुभूति का अध्ययन प्रस्तुत करते और अनुभूति से आधुनिक युग-बोध का सम्बन्ध स्थापित करते समय ज्ञान के इन मूलभूत स्तरों को व्यापक रूप में स्वीकार एवं आत्मसात् किये बिना उसका कोई अर्थ नहीं बन पाएगा। इसी कारण अनुभूति की विवेचना करते समय हमारे लिए इन समस्त स्थितियों के सन्दर्भित तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है।

जहाँ तक कला और साहित्य का सम्बन्ध है, उसमें निश्चय ही हमारे विचारों का वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण नहीं हो पा रहा है। आज की अनुभूति भी कई दृष्टियों से खण्डित लगती है।

वस्तु स्थिति यह है कि जिस प्रकार आज का समस्त जीवन एक विचित्र प्रकार से टूट टूक हो कर नये परिप्रेक्ष्य की सापेक्षता मे उभरने का प्रयास कर रहा है ठीक उसी प्रकार कलाकार या साहित्यकार का अनुभूति भी उसी सक्रमण के कारण मूलतः खण्ड-खण्ड ता है ही, साथ-साथ उसमे कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो उनकी खण्डित स्थिति को एक सूत्र में बाँध देते हैं। और यह बन्धन लेखक की अपनी मर्यादा का बन्धन है। यह मर्यादा उसकी स्वकल्पित स्थिति है। इसीलिए इन समस्त संक्रमणों के बावजूद वह एक मर्यादा अपने आप में अत्यन्त मूल्यवान् हो सकती है।

जहाँ तक कला और साहित्य का सम्बन्ध है, यह मर्यादा भी उसी अनुभूति से जनमती है। आज की अनुभूति और उसके समस्त विस्तृत सन्दर्भ केवल कवि या कलाकार की व्यक्तिगत मर्यादाओं से ही सुरक्षित और संचालित होते हैं। आज व्यक्ति-मानव की समस्त जटिलताओ की उपेक्षा कर के अनुभूति की कोई भी ऐसी व्याख्या नहीं की जा सकती जो मात्र प्रायोगिक या वस्तुपरक ही हो। साहित्यिक और कलात्मक पक्षों की विवेचना करने के साथ अनुभूति के इन विभिन्न पक्षों को भी जानना आवश्यक है। इन विभिन्न पक्षों के आधार पर जीवन का सारा अस्तित्व-बोध अभिव्यक्ति पाता है। इसीलिए आज के यथार्थ एवं संवेदनाओं का मूल्य भी व्यक्ति-अनुभूति के स्तर पर ही आँका जा सकता है। युग-बोध का सन्दर्भ और उसकी अनिवार्यता जीवन के विभिन्न आयामों को प्रतिपादित करने के साथ-साथ उसको प्रतिष्ठित भी करती है। यदि आज की कला-अभिरुचि को और आज के सौन्दर्य-तत्त्व को जानने के साथ-साथ उसमें निहित दृष्टि को भी जानना है, तो अनुभूति के महत्त्वपूर्ण परिवेश को जानना अनिवार्य है। इसी लिए जब कभी हम अनुभूति की व्याख्या करें तो हमें चाहिए कि अनुभूति को प्रयोगशाला का सत्य मात्र न माने, वरन् एक जीवन्त तत्त्व के रूप में स्वीकार करें और उसके चार पक्षों को विशेष रूप से ध्यान मे रखे —

(१) **व्यक्ति-मर्यादा**, जो अनुभूति को अनुशासित और अनुप्राणित करती है तथा अस्त-व्यस्त अनुभव (chaotic experience) को सामान्य व्यवस्था (order) प्रदान करती है।

(२) **युग-बोध के प्रभावों की सापेक्षता**, जो सस्कार और परम्परा को नये भाव-स्तर पर स्वीकार या अस्वीकार करते हुए भी, व्यक्ति-मर्यादा को **आज्ञापक शक्ति** (sanctioning power) मानता है।

(३) **यथार्थ के गतिशील आयामों के प्रति जागरूकता**, जिससे उसमें सार्थकता आ सके।

(४) **जीवन की समग्रता और उसकी व्यंजनाओं में व्यक्त विभिन्न स्तरों के सामंजस्य की क्षमता**, हम चाँद देख रहे हैं किन्तु जिस सन्दर्भ में चाँद देख रहे हैं उसके कई आयाम हो सकते हैं। एक तो यह कि चाँद हम इस समय देख रहे हैं, दूसरा यह कि चाँद को हम बराबर देखते आये हैं, तीसरा यह कि चाँद को विभिन्न स्थितियों और परिधियों में भी देखा है। आज जिस क्षण हमारे अनुभूति के स्तर पर चाँद साक्षात्कृत सत्य के रूप में प्रस्तुत हो रहा है, उसमें यह तीनो स्थितियाँ—वर्तमान, अतीत और क्षण-प्रधान—समान रूप से मौजूद हैं। इन तीनो के सामरस्य अथवा सामंजस्य से चाँद का एक सामान्य अर्थ हमारे सामने प्रस्तुत होता है। स्मृति, संवेदना और अनुभव को मिला कर ही अनुभूति की सार्थकता ज्ञेय हो पाती है।

और तब प्रस्तुत सन्दर्भ में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति का वास्तविक अर्थ उस समस्त ज्ञान से है जो विभिन्न परिवेशों से छन कर हमारे व्यक्तित्व तक आता है और ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म आधारों द्वारा प्राप्त होता है। दृष्टि, स्पर्श, गन्ध, वाणी और ध्वनि के माध्यम से जितनी भी संवेदनाएँ हमें प्राप्त होती हैं वे किसी न किसी रूप में हमारी अनुभूतियों की अश बनती हैं। किन्तु मात्र इतने से पूर्ण अनुभूति निर्मित नहीं हो जाती। हम जो कुछ देखते, सुनते अथवा कहते हैं, या जो कुछ हम वहन करते और भोगते हैं, जब वह हमें यथार्थ के नये सन्दर्भ से जोड़ता है तभी हमारी अनुभूति पूर्ण और सार्थक होती है। दूसरे शब्दों में, मात्र संवेदना और सवेदना से उद्भूत परिवेक्षण अनुभूति नहीं बन पाता। परिवेक्षण जब हमारे बौद्धिक और रागात्मक अस्तित्व को संस्कार देते या उसमें नये तत्त्व जोड़ते हैं, तब वे अनुभूति के स्तर पर पहुँच पाते है। वस्तुतः अनुभूति में उपलब्धि का अंश मिला होता है। कला और साहित्य में कृति उसी अंश तक सार्थक होती है जिस अंश तक उसमें अनुभूति का समावेश होता है। जो संवेदना सृजनकर्ता की दृष्टि को मूल्यगत जागरूकता प्रदान करती है, या जो सौन्दर्य-बोध के रागात्मक स्तर से उत्पन्न हो कर एक कल्पना-जन्य आवेग के साथ बौद्धिक तुष्टि दे पाती है, वही अन्तिम रूप में अनुभूति होती है। वास्तव में अनुभूति सौन्दर्य-बोध की वह विवेकशील प्रज्ञा है जो क्षण के यथार्थ और आत्मोपलब्धि की सीमाओं का साक्षात्कार करा देती है। जब किसी कवि को सहसा यह अनुभव होता है कि 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' तो उसमें यही प्रक्रिया अपनी अन्तिम सीमा में जा कर आत्मोपलब्धि के स्तर पर सत्य के सर्वथा नये आयाम का बोध करा देती है। यह बोध एक अनुभूति है जो सार्थक भी है और सौन्दर्य-बोध को एक नये आयाम तक ले जाने में समर्थ भी।

यदि देखा जाय तो जीवन का अस्तित्व इन्हीं सार्थक अनुभूतियों की ग्राह्यता में ही व्यक्त होता है। यह सार्थक अनुभूति कला का वास्तविक मानदण्ड भी है। जीवन के प्रवाह में जितनी भी गतिशीलता मुखरित होती है, वह इसी की अभिव्यक्ति है। जितने भी जीवन्त तत्त्व कला या साहित्य में निखरते हैं, वे हमारी प्रज्ञा को भी नये सन्दर्भ से जोड़ते रहते हैं। इस प्रकार अनुभूति की वास्तविक शक्ति एक सीमा पर अस्तित्व-बोध से अंकुरित होती है, किन्तु दूसरे छोर पर वह जीवन की सापेक्षता में नये प्रतीकों और भाषाओं को भी जन्म देती है। ये प्रतीक उसी अनुभूति के प्रवाह में आत्म-सत्य के रूप होते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी हमें एक-दूसरे की अनुभूति को ग्रहण करने में कठिनाई भी होती है। अनुभूति का साक्षात्कार तो कवि और लेखक को होता है, किन्तु जब वह उसे परिचालित या व्यक्त करता है, तो अपनी प्रतीका-त्मकता के कारण वह बहुधा अपनी बात समझा नहीं पाता, व्यक्त नहीं कर पाता। लेकिन मात्र इतने से कोई भी अनुभूति गलत या सही नहीं कही जा सकती, क्योंकि अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच की खाई को पूरा करने में सृजनकर्ता अपनी ही भाषा और प्रतीकों के माध्यम का सम्बल ले सकता है। यह माध्यम की सीमा कृतिकार के व्यक्तित्व की सीमा है। जो जितना सार्थक होता है, वह उतना ही बड़ा शिल्पी भी बन पाता है। इसके अनेक कारण है जो नीचे दिये जाते हैं।

(१) अनुभूतियाँ व्यक्तिगत होती हैं। जब मैं किसी भी वस्तु का साक्षात्कार करता

हू तो वह मेरा अपना अनुभव होता है उसकी सवेदन-स्थिति और उसके द्वारा प्राप्त बिम्बो का यथाय हमे एक व्यक्तिगत बोध और अय तक ले जाता है। इस अनुभूति की उपलब्धि हमारी व्यक्तिगत उपलब्धि होती है। 'मेरी अनुभूति' में चेतन, क्रियाशील एवं जागरूक 'मैं' मात्र 'मैं' नहीं है। उसका 'मैं' न जाने कितनी अनुभूतियों का एक क्रमिक रूप है जो एक बिन्दु पर आ कर प्रस्फुटित होता है।

(२) अनुभूति वास्तव में स्थिति विशेष होती है, क्योंकि जिस बिन्दु पर आ कर मेरी समस्त अनुषंगोद्भूत प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है, वह स्वयं अपने में एक सगुण स्थिति होती है। इसी लिए वह विशेष स्थिति के ही नाम से सम्बोधित की जा सकती है। जब मैं यह कहता हूँ कि 'यह मेरी अनुभूति है', तो वह निश्चय ही शेष औरों की अनुभूतियों से भिन्न होगी। ऐसी स्थिति में वह साक्षात्कार का क्षण भी विशेष मेरा ही क्षण होगा।

(३) अनुभूति की प्रवृत्ति अनुषंग-प्रक्रिया से ऊपर (above association) होती है। स्थिति-विशेष होने के नाते ही वह विविध अनुषंग-प्रक्रियाओ से उपज कर भी उनसे पृथक् होती है। वह अनुषंगों की परिणति भी होनी है, और उनसे पृथक् भी होती है। अनुषग केवल अस्तित्व-बोध की स्वीकृति है, जबकि अनुभूति अस्तित्व बोध की सार्थकता का बोध है।

(४) अनुभूति की उपलब्धि प्रतीक-प्रधान होती है। प्रतीक जटिल मनःस्थिति को बोधगम्य बनाते हैं और आत्म-तुष्टि देते हैं। प्रतीक इसी लिए प्रायः गम्भीर और मित्यर्थी होने के साथ-साथ एक सम्पूर्ण अनुभूति को पुंजीभूत भी करते हैं।

(५) अनुभूति स्वयं में एक सम्पूर्ण प्रक्रिया होती है।

(६) अनुभूति की व्यंजना और उसका आवेग सामंजस्य-प्रधान होता है। अनुभूति की मूल प्रकृति में स्मृति-पटल पर अंकित विभिन्न भाव-स्थितियों को सहसम्बद्ध कर लेने की क्षमता होती है। एक अनुभूति दूसरी अनुभूति की पोषक भी होती है और साथ ही वह स्वय प्रेषक भी होती है। एक साथ ही पोषक और प्रेषक की यह स्थिति अनुभूति की समग्रता को जन्म देती है।

(७) नैरन्तर्य अनुभूति की मूल प्रकृति है। अनुभूति की यह अनवरामी मूल प्रकृति ही हमें स्थितियों और मूल्यों के नये सन्दर्भो तक ले जाती है और इसमें कलात्मक सन्तुलन की निष्ठा पैदा करती है। सन्तुलन स्वयम्भूत या किसी अलौकिक शक्ति द्वारा नियोजित नहीं होता। वह तो मूलतः प्रक्रिया के नैरन्तर्य की देन होता है।

अनुभूति की मूल प्रकृति के इस अध्ययन और विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया कि वह मूलतः वैयक्तिक होती है और उसकी अभिव्यक्ति केवल आंशिक रूप में ही सम्भव हो पाती है, क्योंकि मनुष्य स्वयं अनुभूति की प्रक्रिया का एक जीवन्त अंश होता है—वही माध्यम भी होता है और प्रेषक भी। इसलिए वह सम्पूर्णतः तटस्थ दृष्टि से कुछ भी नहीं व्यक्त कर सकता। उसकी स्थिति मेले में खड़े हुए उस व्यक्ति के समान है जो स्वयं को मेले के अंश के रूप में भी अनुभव करता है और साथ ही साथ उस मेले को भोगता और देखता भी है। वह एक ही साथ दो स्थितियों का परिवहन करता है। उसके लिए यथार्थ और उसकी समग्रता केवल उसके आत्मसाक्षात्कार की सीमा तक ही सार्थक महत्त्व रखते हैं।

अनुभूति की प्रकृति के साथ-साथ जो ज्ञान हमारी चेतना वहन करती है वह मूलत दो स्थितियो के समबोध से उपजती है एक तो अस्तित्व-बोध और दूसरा संवेदनशीलता (sensitivity) अस्तित्व की चेतना और संवेदनशीलता की ही दोनों सीमाओं में भावना, परिवेक्षण, कल्पना, विचार आदि हमें हमारे रागात्मक स्तर से उठा कर एक समवेत स्थिति पर ला कर प्रस्तुत करते है। किन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अस्तित्व-बोध केवल निजी अस्तित्व तक ही सीमित नहीं है। हमारा अपने निजी अस्तित्व का ज्ञान ही हमारी कल्पना को यह अनुभव प्रदान करता है कि हमारे जैसे अन्य लोगों का भी अस्तित्व है। और फिर इसीसे यह सत्य भी अपने आप निकलता है कि कुछ लोग ऐसे भी हो सकते है जो हमारी तरह न हो किन्तु उनके न होने की स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा अस्तित्व-बोध जब अपनी कल्पना में उनको भी अस्तित्व प्रदान करता है तब निश्चय ही हमारी अनुभूति एक समग्रता के स्तर पर विकसित होती है। जहाँ तक कला और साहित्य का सम्बन्ध है, हम इन दोनों भाव-स्थितियों के बीच केवल अनुभूति को परिष्कृत कर के अपनी प्रज्ञा-शक्ति को और भी मूल्यवान् बना सकते हैं। अतः हमारी निजी अनुभूति में हमारे अतिरिक्त भी बहुत कुछ है जो मार्मिक सवेदना से द्रवित हो कर जनमता है। लेकिन उस सबका मूल्य केवल आत्मसाक्षात्कार की सीमा से बँधा होता है। उसकी कोई वृहद् व्याख्या नही की जा सकती, क्योंकि वह मूलतः अपने अस्तित्व के साथ-साथ कहीं केवल वैयक्तिक ही होती है। बिना इस वैयक्तिकता के अनुभूति में विशिष्टता न आ पाने का कारण यह है कि अनुभूति वहन करने वाला एक समूचा वर्ग ही क्यों न हो, उसको निष्ठा मिलती है अपनी व्यक्ति की चेतना में ही, उसकी प्रज्ञा बुद्धि में ही। इन्हीं व्यक्तियों की चेतना जब एक स्तर पर समान हो जाती है तब भले ही वह एक वर्ग की समान अनुभूति बने, किन्तु यह सब होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति नितान्त.अपनी ही होती है और उस अपनेपन की वैयक्तिकता में ही उसकी विशिष्टता और सार्थकता होती है।

इसी आधार पर अनुभूति की प्रकृति ही अविभाज्य मानी जाती है। प्रत्येक अनुभूत सत्य अनुभव करने वाले की सापेक्षता में उसके लिए नितान्त व्यक्तिगत सत्य होता है। हम अपनी अनुभूति को खण्ड-खण्ड कर के नहीं व्यक्त कर सकते, क्योंकि मूलतः प्रत्येक अनुभूति हमे खण्ड-खण्ड कर के उपलब्ध नहीं होती। वह हमारे व्यक्तिगत अहं की एक परिणति होती है। इसीलिए एक सम्पूर्ण, समग्र, ऐकात्म्य की भावना से उद्भूत हो कर व्यक्त होती है।

अनुभूति वास्तव में अनुभूति तभी होती है जब वह हमारे भाव-बोध को सहसा एक नये परिवेश का दर्शन करा दे। इस भावान्तरण (transformation) की स्थिति में ही हमारा अतीत और वर्तमान दोनों नये सिरे से ढल कर सम्भाव्य भविष्य की दृष्टि देते हैं। यह दृष्टि भावान्तरण की सीमा से ही विकसित होती है और इससे अनुभूति का सन्दर्भ ही नहीं, जीवन की मूल भाव-सत्ता ही नयी और परिष्कृत हो जाती है।

भावान्तरण हमारी प्रज्ञा की वह कल्पना-शक्ति है जिससे हम एक भाव-स्थिति को पूर्णतया भोग कर दूसरी स्थिति को कल्पना-जन्य दृष्टि से अपने समीप पाते हैं। यह सामीप्य मानवीय सामीप्य होता है और इसमें एक भाव-स्तर पर पूर्णतः जी लेने के बाद दूसरे भाव-स्तर की दृष्टि का बोध ही हमारी अनुभूति को महत्त्व प्रदान कर देता है। जिस समय किसी भी कवि

ने दर्द को पूर्णतः भोग लेने के बाद उसकी मूलप्रकृति में दवा का बोध पाया होगा उस समय निश्चय ही उसके दर्द की कल्पना बदली होगी। दर्द की अनुभूति सार्थक तभी हुई होगी जब उसने अपने चरम संघर्ष के क्षणों में उसकी पीड़ा और वेदना का एक प्रशामक तत्त्व भी पाया होगा। दर्द की इस उपलब्धि ने ही अनुभूति के रूप में भावान्तरण उत्पन्न कर के उस कवि को दवा और दर्द, दो विभिन्न स्वादों को एक रस बनाने में योग दिया होगा।

दृष्टि की सत्ता इसी प्रकार के विभिन्न आयामों में निहित रहती है। जब कभी हमारे भाव-जगत् में ऐसी स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं कि वे एक-दूसरे में प्रविष्ट हो कर अपने अर्थों को नया आयाम प्रदान कर दें, तब वहीं हमारी अस्तित्व-चेतना को सहसा एक नया आधार मिल जाता है। यह आधार स्वतः नहीं उगता, वरन् हमारे अस्तित्व-बोध और अनुभूति के पारस्परिक घात-प्रतिघात से विकसित होता है। जब हमारा अस्तित्व संवेदना के विभिन्न माध्यमों से विकसित हो कर नये अर्थों और सन्दर्भों से जुड़ता है, तब हमें किसी भी वस्तु-स्थिति का सर्वथा नया अनुभव प्राप्त होता है। इस नयेपन की तुष्टि और इसकी सम्भावनाओं के स्रोत ही अनुभूति में झलकते है। जब हमारी समस्त प्रज्ञा अनन्त अर्थों का अजस्र प्रवाह ले कर एक ऐसे बिन्दु पर आ खड़ी होती है जहाँ से अतीत के समस्त सन्दर्भ एक नयी दिशा को उन्मुख से दीखने लगते हैं, तब यह व्यक्तिगत और समग्र अनुभूति हमें एक दृष्टि देती है जिसमें हमारी समस्त संवेदना अनुभूति में बदल जाती है। इसीलिए जहाँ हम यह आसानी से कह सकते हैं कि अनुभूति हमें दृष्टि देती है वहीं हम यह भी कह सकते हैं कि दृष्टि ही अनुभूति को सार्थक बनाती है। आत्म-साक्षात्कार का वह क्षण यथार्थ के सापेक्ष तथ्यों को जिस गत्यात्मकता के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है और जिन तीव्र व्यंजनाओं का अंगीकरण करने का अनुभव उस क्षण के पूर्णत्व में हमें होता है, वे हमारे समस्त भावों को अपनी गहरी अन्तर्वेदना के साथ सर्वथा नये मूल्यों की झलक दे देती हैं।

ऐसी स्थिति में काल का वास्तविक मूल्य भी सनिष्ठ भावना के साथ हमें और हमारे सन्दर्भ को भावान्तरित कर के समस्त सीमाओं को तोड़ भी सकता है। अनुभूति की आग में तपी दृष्टि काल की अनुभूति को भी बढ़ा सकती है। समय का प्रवाहमय विस्तार गहराई के स्तर पर अधिकाधिक गहरा हो कर व्यक्त हो सकता है। वस्तुतः काल-क्रम का माप भी अनुभूति के प्रतिमानों से घटता-बढ़ता है। आज जीवन की सार्थकता और उससे सम्बद्ध काल की समग्रता को भी दिन, रात, घड़ी में न नाप कर अनुभूत सत्यों की घटना से अंकित किया जाना चाहिए। अनुभूति के महत्त्वपूर्ण आधारों में प्रायः परम्पराएँ छूटती भी हैं और टूटती भी हैं, क्योंकि कला का अस्तित्व जिस गतिशीलता के साथ आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में एक पिघलते, गहरे और आन्दोलित प्रवाह का प्रतीक बन कर प्रस्तुत होता है, उसमें परम्परा, इतिहास, संस्कार, सबके सब पिघल कर, टूट कर इतने दुर्दम आवेग के अनुगामी हो जाते हैं कि उनको किसी भी स्थिर जड़ और संबलहीन बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता।

किन्तु व्यवस्था की माँग स्वयं अनुभूति की आत्ममर्यादा से अनुशासित सत्य की माँग है। मात्र अव्यवस्थित संवेदनाओं का अव्यवस्थित पुञ्ज सार्थक अनुभूति की गरिमा नहीं पा सकता। अव्यवस्थित स्थिति की संवेदना केवल प्रारम्भिक स्थिति हो सकती है, उपलब्धि नहीं।

प्रज्ञा की वास्तविक प्रकृति ही व्यवस्था से प्रस्फुटित होती है। जहाँ और जिस सीमा तक कोई भी संवेदना इस व्यवस्था को नहीं ग्रहण कर पाती, वहाँ तक न तो वह अनुभूति की प्रकृति को ग्रहण कर पाती है और न प्रज्ञा की विश्वासजनित शक्ति को स्वीकार कर पाती है। समस्त अनुभूतियों का केन्द्र-बिन्दु इसी व्यवस्था से सौन्दर्यानुभूति के मर्म की ओर विकसित होती है। प्रत्येक साक्षात्कार का क्षण एक पैटर्न को गला कर दूसरा सन्तुलन स्थापित करने में जब कभी भी सफल होता है तो उसकी अभिभूत प्रज्ञा भी उसी के आधार पर विकसित होती है। हो सकता है कि एक पैटर्न को अछूता छोड़ कर उसके समकक्ष ही वह एक सर्वथा दूसरा पैटर्न स्थापित कर दे और मात्र उस स्थापना से ही पूर्व पैटर्न अपने आप ही नष्ट हो जाय, प्राणहीन हो जाय। जो भी हो, अनुभूति की आत्ममर्यादा स्वयं इस व्यवस्था के तारतम्य को सन्तुलित करती रहती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अनुभूति की व्यवस्था वाह्यारोपित न हो कर 'केलेडेस्कोपिक' होती है। उसकी आत्ममर्यादा ही उसे व्यवस्थित करती है।

साहित्य और कला के क्षेत्र में तो अनुभूति का यह योगदान ही कलाकार के व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने में सफल होती है, किन्तु इस सम्बन्ध में सावधानी वरतने की आवश्यकता है। व्यवस्था को किसी रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त करने से अनुभूति की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। अनुभूति का आन्तरिक ढाँचा ही अपने आवश्यकतानुसार व्यवस्था स्थापित करता है। उसके लिए किसी वाह्यारोपित व्यवस्था का मानदण्ड कभी भी पर्याप्त नहीं होता। उसकी प्रकृति से जो व्यवस्था उपजती है, वही उस अनुभूति की आत्ममर्यादा को निर्धारित करती है। इस अंश में ही कलाकार और साहित्यकार को अराजकतावादी होना आवश्यक है। यदि वह नहीं है तो केवल पैटर्निस्टिक कला की पुनरावृत्ति कर के ही वह तुष्ट हो जाएगा। समस्त कलात्मक संवेदनशीलता को जो वस्तु जड़ और निष्प्राण बनाती है वह वाह्यारोपित व्यवस्था का प्रशासन है। रीति-प्रधान कला इसी लिए पतनशील भी हो जाती है, क्योंकि उसमें व्यवस्था की बारीकियों के प्रति कलाकार सचेत रूप से भाग लेता है। वह अनुभूति के माध्यम से व्यवस्था को मूल्य नहीं दे पाता। इसके विपरीत वह व्यवस्था के माध्यम से अनुभूति को अंकित करने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि रीति-प्रधान हो कर वह गतिशील शक्ति के रूप में किसी भी सत्य को उद्घाटित नहीं कर पाता। कला या साहित्य के प्रणेता जब इस गतिशीलता को नष्ट कर के कुछ भी स्थापित करने का प्रयास करते है तो वे स्थिर, ठण्ढे हो कर प्राणवान् सत्ता को नष्ट कर देते हैं।

थोड़ी-सी बात अनुभूति के आन्तरिक ढाँचे के विषय में भी कह देना आवश्यक है। अनुभूति मूलतः व्यक्तिगत और पूर्ण इकाई होते हुए भी सर्वथा समरूप नहीं होती। प्रत्येक अनुभूति की वस्तु-स्थिति और उसकी प्रकृति में विविधता का ही महत्त्व है। बहुधा लोग इस विविधता से उद्भूत आन्तरिक ढाँचे के नाम से चौंक कर विविधता मात्र के महत्त्व की उपेक्षा कर एकरूपता पर आग्रह करते हैं। कला और साहित्य में यदि इस एकरूपता को ही सर्वमान्य मूल्य मान कर चला जाएगा तो विकास तो रुकेगा ही, साथ ही अनुभूति की कृत्रिमता भी व्यक्त होगी। ऐसी अनुभूति और कुछ भले ही हो, वह महत्त्वपूर्ण कला अथवा साहित्य से परिचालित अनुभूति नहीं हो सकती। विविधता के स्तर पर ही हमारी वैयक्तिक निष्ठा पनप सकती है। कला में यदि इस विविधता को मूल्यवान बनाना है तो उसके साथ-साथ उसकी इस माँग (आन्तरिक ढाँचे

की स्थिति) को भी स्वीकार करना पड़ेगा जो भी मानदण्ड स्वय अनुभूति से न उत्पन्न हो कर अनिवाय रूप से वाह्यारोपित होती है, वह दृष्टि और शक्ति को खण्डित कर के उसे अव्यवस्थित कृत्रिम और अमानवीय स्तर पर ला कर छोड़ देती है। कला या साहित्य की परम्परा स्थापित करने वालों को किसी भी परम्परा को स्थापित करने से पूर्व अनुभूति से सम्बन्धित उसकी आन्तरिक स्थिति और उसके आन्तरिक विधान से अनुप्राणित आत्ममर्यादा को ध्यान में रखना होगा। बिना इसके शायद उपलब्धियों में विकृति और विवेक में कृत्रिमता आ जाएगी।

अनुभूति के इस व्यापक पक्ष को जान लेने के बाद यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी कि कला और साहित्य के विभिन्न प्रकारों में उसकी मर्यादा के अनुकूल जो अनुभूतियाँ कलाकार या साहित्यकार को होती है वे मात्र इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होतीं। वह कभी-कभी इससे आगे की भी बात करती है। आगे की बात करना ही कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग की सार्थकता स्वीकार करना है। जीवन की व्यापकता में जहाँ सब कुछ घटित होता है, वहीं कला और साहित्य की विशिष्टता मे उन सबका तत्त्व-दर्शन होता है। इसीलिए कला और साहित्य उस प्रकार जीवन के प्रतिरूप नही होते जिस प्रकार कि किसी फ़ोटोग्राफ़ या चलचित्र के दृश्य होते हैं। इन दोनों क्षेत्रो मे प्रतीकों, बिम्बों, व्यंजनाओं और भंगिमाओं का इतना बृहद् विस्तार होता है कि बिना उनका महत्त्व समझे हर व्यक्ति उसे ग़लत समझने का दोषी होता है। जैसे प्रत्येक अनुभूति अपनी निजी आत्ममर्यादा से प्रशासित होती है, वैसे ही कला का प्रत्येक अंग जीवन की सापेक्षता को अपनी प्रकृति के अनुसार ग्रहण करता है। जैसे अनुभूति की व्यवस्था वाह्यारोपित नहीं हो सकती, वैसे ही साहित्य या कला में दर्शित सापेक्ष जीवन-सत्य भी वाह्यारोपित नहीं हो सकता। कलाकार या साहित्यकार विचारों और भावनाओं का संरक्षक तो हो सकता है किन्तु वह उनका स्टोरकीपर नही हो सकता। यह संरक्षण रचनात्मक तो होता है किन्तु विधायक नही होता। ●

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. **अलेग्जेण्डर :** आर्ट ऐण्ड विजुअल पर्सेप्शन।

२. **बोसांके :** हिस्टरी ऑफ इस्थेटिक्स।

३. **ए० सी० ब्रैडले :** ऑक्सफर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री।

४. **क्रोचे :** इस्थेटिक्स।

५. **कॉलिंगवुड :** प्रिंसिप्ल ऑफ़ आर्ट।

६. **जे० ड्युवे :** आर्ट ऐज़ एक्सपीरिएन्स।

७. **ऑग्डन ऐण्ड रिचार्ड्स :** दि मीनिंग ऑफ़ मीनिंग।

८. **जी० संतायन :** दि सेन्स ऑफ़ ब्यूटी।

९. **ऑस्कर फ़िस्टर :** एक्सप्रेशनिज़्म इन आर्ट : इट्स साइकॉलॉजिकल ऐण्ड बायोलॉजिकल बेसिस। ●

लोकगाथा और सूफ़ी प्रेमाख्यान

परशुराम चतुर्वेदी

लोकगाथाओं एवं कथारूढ़ियों की पृष्ठभूमि में सूफ़ी प्रेम-साधना तथा दर्शन के आख्यानपरक आधार की अन्वीक्षा

हिन्दी के सूफ़ी-प्रेमाख्यानों का विषय प्रारम्भ से ही लोक-कथाओं जैसा रहता आया था। अत इन्हें साहित्यिक लोकगाथा मान लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। तदनुसार इसके लिए अनेक उपयुक्त लक्षण भी निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कहा जा सकता है कि मुल्ला दाऊद से ले कर ईसवी सन् की वीसवीं शताब्दी के कवि नसीर तक सभी ने अपनी-अपनी कृतियो के लिए या तो अपने समय में प्रचलित उन लोक-कहानियों को चुना है जिन्हें लोक-साहित्य का अगभूत होने के कारण लोक-मानस की सृष्टि तक कहा जा सकता है अथवा ऐसी कहानियो के मूल-सूत्र या ढाँचे या वर्णन-शैली मात्र का ही उपयोग कर लिया है। प्रत्येक दशा में उन्होंने इस बात का प्रायः बराबर ध्यान रखा है कि उस कथा को कोई न कोई लोकानुमोदित रूप ही प्रदान किया जाय। इसमें संदेह नही कि ऐसी रचनाओं को प्रस्तुत करते समय उन्होने अपनी कल्पना का भी न्यूनाधिक प्रयोग अवश्य किया होगा और कम से कम उनके पात्रों और स्थानों का नाम-निर्देश करते समय तो उन्होंने बहुत कुछ स्वतंत्रता से भी काम लिया होगा। परन्तु इसके कारण उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं लक्षित होता और न केवल उतने के ही आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि उनमें कोई नवीनता आ गयी है। उनमें विभिन्न कथा-रूढियों का समावेश लगभग पहले जैसा ही होता चला जाता है, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों को प्रायः पूर्ववत् ही स्थान मिलता आता है, कई अंधविश्वासों को लगभग उसी प्रकार उदाहृत किया जाता है तथा ऐसी अति-प्राकृतिक बातों का विशद वर्णन भी होता आता है जिन्हें केवल जनसाधारण में ही प्रश्रय मिल सकता है। इसके सिवाय उनके द्वारा किये गये नायकों के असीम साहस एवं ऐश्वर्य के प्रदर्शन, नायिकाओ के अनुपम सौ दर्य के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा विविध घटनाओं के वैचित्र्यपूर्ण विवरण भी इस बात की ही ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। अतएव हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन साहित्यिक लोकगाथाओं के वास्तविक स्वरूप के विषय में भी कुछ विचार कर लें।

लोकगाथा और बैलेड

'लोकगाथा' शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ अधिकतर अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' (ballad) के स्थान पर किया जाता रहा है जिसका अर्थ होता है कोई ऐसा काव्य-रूप जिसमें एक सरल कथा केवल साधारण छन्दों द्वारा कह दी गयी हो। ऐसी रचनाएँ प्रायः छोटी-छोटी हुआ करती हैं। इनमें कथात्मकता के साथ-साथ गीतात्मकता भी पायी जाती है। साधारणतः इनका प्रचार मौखिक रूप में ही चलता आया है। वास्तव में ऐसी रचनाएँ हमें उस प्राचीन कहानी-साहित्य का स्मरण दिलाती हैं जो मानव-समाज की प्रारम्भिक दशा में प्रचलित रहा होगा। प्रायः ऐसी लोक-गाथाओं के मूल रचयिताओं का पता नहीं चला करता और इसीलिए ये लोक-मानस की उपज तक ठहरा दी जाती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह अनुमान भी किया जा सकता है कि पीछे चल कर कतिपय लोकप्रिय कवि भी ऐसी रचनाओं का निर्माण करने लगे हों। किसी एक ही कथा का देशकालानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से रूपान्तर होने के कारण उसकी अनेक बातें प्रायः घटती-बढ़ती भी चली गयी होंगी। यदि कभी किसी दरबारी कवि ने उसकी रचना की होगी तो स्वभावतः उसमें दरबारी जीवन से सम्बद्ध विशिष्ट व्यक्तियों के नाम भी जुड़ गये होंगे। इसके सिवाय रचयिता कवियों के प्रमुख उद्देश्यों के आधार पर भी ऐसी रचनाओं में कुछ न कुछ अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, यदि गायक कवि का अभीष्ट किसी के शौर्य को प्रधानता देने का रहा होगा तो उसकी लोकगाथा वीरगाथा बन गयी होगी; यदि किसी प्रेमी-हृदय का परिचय देने का रहा होगा तो वह प्रेमगाथा बन गयी होगी; यदि किसी स्त्री के सतीत्व को महत्त्व देने का रहा होगा तो वह सतीगाथा बन गयी होगी; तथा यदि केवल भाग्य के फेर का प्रभाव दरसाना रहा होगा तो वह नियतिगाथा बन गयी होगी। परन्तु इसके कारण उनके सामान्य काव्य-रूप मे कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया होगा। अधिकतर जन-साधारण में ही उनका प्रचार होते आने के कारण उनमें सदा केवल वैसे ही प्रसंगों का समावेश किया जाता रहा होगा जिनकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है। साहित्यिक लोकगाथा (literary ballad) का नाम केवल इसी प्रकार की लोकगाथाओं को दिया जाता आया है।

पँवारा

परन्तु ऐसी दशा में यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि 'लोकगाथा' शब्द को हम अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' का अर्थबोधक मानते हैं तो फिर इसके लक्षणों में हमें उसके लघुता, सरलता और गेयत्व आदि जैसे मान्य गुणों की भी गणना करनी चाहिए। किन्तु यदि हम ऐसा मान कर चलते है तो इसका प्रयोग किसी सूफ़ी प्रेमगाथा के लिए तो कम से कम कभी नहीं किया जा सकता। इन रचनाओं में हमें न तो कभी आकार-लाघव की ओर किया गया यत्न ही दीख पड़ता है, और न वाह्य प्रसंगों की वृद्धि में कमी ला कर इनमे जटिलता न आने देने की कोई चेष्टा ही, प्रत्युत् कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि इसके विपरीत ही प्रयास किया गया है। इसलिए 'बैलेड' शब्द का अर्थ हिन्दी में व्यक्त करने के लिए यदि हम चाहें तो 'गाथागीत' या ऐसे ही किसी अन्य शब्द का व्यवहार कर सकते हैं। इसके लिए हिन्दी का 'पँवारा' शब्द भी उपयुक्त नहीं ठहरता

क्योंकि उसके साथ 'विस्तार' का भी जो अर्थ जुड़ा हुआ है वह 'बैलेड' की प्रकृति के विरुद्ध जा सकता है। इस 'पँवारा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'प्रवाद' से लायी जाती है जिसका अभिप्राय लोकापवाद, बातचीत, काल्पनिक या पौराणिक कथा आदि के रूपों में निर्दिष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार यह 'बैलेड' की अपेक्षा 'लोकगाथा' का ही कहीं अधिक समानार्थक सिद्ध किया जा सकता है। मंझन कवि की 'मधुमालती' में जहाँ उसके नायक मनोहर द्वारा अपनी प्रेमपात्री के प्रति कहलाया गया है, "तुम्हारा रूप और मेरा विरह-दुख ये दोनों देश-देशान्तरों तक पहुँच कर पँवारा बन गये हैं, अर्थात् इन दोनों के विषय में लंबी चर्चाएँ की जाने लगी हैं",[१] वहाँ पर यह शब्द इसी अर्थ का सूचक हो सकता है। परन्तु जहाँ तक पता चलता है, यह साधारणतः केवल किसी ऐसी लोकगाथा की ही ओर संकेत करता है जिसे उपर्युक्त गाथा की संज्ञा दी जाती है। इस दूसरे अर्थ में ही इसका प्रयोग मराठी भाषा के 'पोवाड़ा' तथा गुजराती के 'पँवाड़ो' जैसे शब्दों के रूपों में भी किया जाता दीख पड़ता है। इसका प्रयोग कभी स्पष्ट रूप में किसी 'प्रेमगाथा' के लिए भी किया गया नहीं सुना जाता। मनोहर के मुख से कहलाये गये उक्त वाक्य से भी केवल इतना ही ध्वनित होता है कि दोनों प्रेमियो के सम्बन्ध में 'विस्तृत चर्चा' ही प्रचलित है, न कि कोई 'प्रेमगाथा' भी। फलतः 'लोकगाथा' अंग्रेजी के 'बैलेड' से अधिक व्यापक अर्थ सूचित करता प्रतीत होता है और यह 'पँवारा' का भी ठीक समानार्थक नहीं जान पड़ता।

रोमांस-साहित्य

'लोकगाथा' कही जाने वाली रचनाओं का निर्माण स्वभावतः लोक-भाषा में हुआ करता था जिससे उसमें लोक-तत्त्व की प्रतिष्ठा और भी अधिक सरल थी। इस दृष्टि से विचार करने पर यह अनुमान कर लेना असंगत न होगा कि इसका विकास कदाचित् उसी प्रकार हुआ होगा जिस प्रकार 'रोमांस' साहित्य का मध्यकालीन यूरोप में और विशेषतया फ्रांस में हुआ था। अंग्रेजी का 'रोमांस' (romance) शब्द वस्तुतः प्राचीन फ्रेंच शब्द 'रोमाँ' (Romans) का प्रतिनिधित्व करता है जिसका मूल अर्थ फ्रेंच भाषा अथवा उसमें रचित वे कविताएँ होती थीं जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक वृत्तान्तों से रहता था। उस शब्द का प्रयोग अधिकतर उन देशों की भाषाओं के लिए भी होता आ रहा था जो मूलतः रोमन शासन के अधीन रहते आये थे तथा जिनका मूल-स्रोत लैटिन भाषा रह चुकी थी। कहते हैं कि ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी तक फ्रांस का पूरा साहित्य लैटिन भाषा में रचा जाता था। जब इसके लिए वहाँ की लोक-भाषा का भी प्रयोग किया जाने लगा और इसका विषय ऐतिहासिक वृत्त बन गया तो ऐसी कृतियों को भी उक्त 'रोमाँ' नाम ही प्राप्त हो गया। वहाँ आज भी इस शब्द का प्रयोग सम्भवतः ऐसे साहित्य के ही लिए किया जाता है जिसे अंग्रेजी में 'नॉवेल' (novel) तथा हिन्दी में 'उपन्यास' कहा करते हैं। इसका एक दूसरा रूपान्तरित शब्द 'रोमांस' (Romance) आजकल सभी प्रकार के कल्पना-प्रधान साहित्य के लिए प्रयुक्त होने लगा है। वैसे कदाचित् रोमाँ-साहित्य के रचयिताओं की यह धारणा आरम्भ से ही रही कि इसमें कुछ रोचक प्रसंगों का भी समावेश किये बिना इसे यथेष्ट लोकप्रियता नहीं मिल सकती। इसी कारण उन्होंने इसमें ऐतिहासिक वृत्तों के अतिरिक्त पौराणिक कथाओं, लोकवार्ताओं तथा अन्धविश्वासों को भी स्थान देना आरम्भ किया जिसका एक

परिणाम यह हुआ कि इनकी ऐतिहासिकता नष्ट होने लग गयी।[२] वास्तव में उस मध्यकालीन समाज की दृष्टि में इतिहास, पौराणिक कथा और काल्पनिक साहित्य के बीच का कोई अन्तर भी स्पष्ट न था। इन कृतियों में अधिकतर दैव पर भरोसा प्रकट किया जाता था और साधु-वृत्तिक कठोर जीवन को महत्त्व दिया जाता था। उनके चमत्कारों का उल्लेख किया जाता था और भक्ति-भाव के प्रदर्शन में अधिक से अधिक आवेश से काम लिया जाता रहा।[३] इसी प्रकार उस युग के विशिष्ट पात्रों को ऐसे रूपों में चित्रित किया जाता था जिन्हें शूरवीर (chivalrous) कहा जाता है। ऐसी रचनाओं के नायकों का प्रेम सदा अपना कोई विशिष्ट आदर्श लिये रहता था जिसके अनुसार किसी विहित नियम का पालन भी आवश्यक था और जिसका सम्बन्ध न तो यौन-प्रवृत्ति मात्र से था, न जिसे उतना सेवा-मूलक ही कहा जा सकता था। उसमें ऐसी ही सारी बातों का एक मधुर सम्मिश्रण आ जाया करता था जिस कारण ए० बी० टेलर ने उसे 'कृत्रिम साहित्यिक प्रेम' (*artificial* literary love) तक की संज्ञा दे डाली है तथा उसका एक विश्लेषणात्मक परिचय देने का भी यत्न किया है।[४] ऐसे रोमांसों के विषय में उस लेखक ने यह भी कहा है कि इनकी कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती, प्रत्युत् इनके विषय में केवल कुछ अनुभव मात्र किया जा सकता है। कुछ इस प्रकार समझ लिया जा सकता है कि इनके पात्र सर्वसाधारण से कहीं दूर रहने वाले होंगे तथा इनके सम्बन्ध की घटनाएँ भी इस भौतिक जगत् से कहीं ऊपर घटती रहीं होंगी।

भारतीय सूफ़ी प्रेमाख्यान

हमें ऐसा लगता है कि हमारे यहाँ भी उपर्युक्त साहित्यिक लोकगाथाओं की रचना करने वाले कुछ इसी प्रकार सोचते रहे होंगे। बल्कि यहाँ ऐसे साहित्य का विषय ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक या कथात्मक अधिक होते चलने के कारण उन रचनाकारों के लिए ऐसा करना और भी स्वाभाविक बनता गया होगा। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं के सामने कोई ऐसा आदर्श भी उपस्थित हो जिसका अनुसरण करना उन्हें स्वाभाविक जान पड़ता हो। यह विशेषत: उस युग तक प्रचलित उन विशिष्ट अपभ्रंश तथा प्राकृत आख्यानों के रूप में रहा होगा जिनमें से कुछ की रचना का उद्देश्य धार्मिक प्रचार भी रहा हो। सूफ़ी कवियों ने अपनी रचनाओं का ढाँचा अधिकतर इन्ही के अनुरूप खड़ा किया होगा। इन्हींके आधार पर अनेक प्रचलित कथा-रूढ़ियों का भी उपयोग किया होगा जिस कारण उनकी रचनाओं के अन्तर्गत ये सारी बातें आपसे आप आ गयी होंगी जो इनके लिए सामान्य समझी जा सकती थीं। परन्तु ऐसा करते समय उनका ध्यान सम्भवत: उन फ़ारसी सूफ़ी प्रेमाख्यानों की ओर भी अवश्य आकृष्ट हुआ होगा जिनका निर्माण अधिकतर निज़ामी (मृत्यु सन् १२०३ ई०) के समय से होने लगा था और जिनकी कुछ बातों को अपने यहाँ समाविष्ट कर लेना उनके लिए स्वाभाविक भी था। उन्होंने इनमें से किस ओर से कितना ग्रहण किया और उस पर कहाँ तक अपनी कल्पना का प्रयोग किया, ये बातें ऐसी हैं जिनपर अभी तक पूरा अनुसन्धान नहीं किया जा सका है, न इस रोचक प्रश्न को अभी उचित महत्त्व प्रदान गिया गया है। अतएव अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत के हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानों के

लिए कोई न कोई पूर्व-प्रचलित भारतीय रचनादर्श वर्त्तमान रहने के कारण फ़ारसी-साहित्य का उन पर प्रभाव उतना नहीं पड़ सका जितना दक्खिनी हिन्दी की ऐसी रचनाओं पर पड़ा।

उत्तरी और दक्खिनी सूफ़ी प्रेमाख्यान

परन्तु इसका परिणाम भी केवल इसी रूप में लक्षित होता है कि दक्खिनी हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों का बाह्य रंगढंग उत्तरी भारत की ऐसी रचनाओं से बहुत कुछ भिन्न जान पड़ता है और भाषा-शैली, काव्यरूप एवं छंद-प्रयोग जैसी बातों में वे एक दूसरे के समान नहीं हैं। जहाँ तक वर्ण्य विषय तथा दोनों के कवियों के मूल उद्देश्य का प्रश्न है, उनमें बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दक्खिन वाले शामी संस्कृति और शामी आदर्शों द्वारा अवश्य अधिक प्रभावित हैं और उनमे कभी-कभी इस्लामी कट्टरता तक दीख पड़ने लगती है। किन्तु अपनी रचनाओं के अन्तर्गत लोक-तत्त्व की प्रतिष्ठा करते समय ये कभी उत्तर वालों से किसी प्रकार भिन्न नहीं जान पड़ते। ऐसी बातें इन दोनों क्षेत्रों में न केवल भारत से, अपितु अरब एवं ईरान जैसे पश्चिमी देशों से भी ग्रहण कर ली जाती हैं और उनका यथास्थल उपयोग कर लिया जाता है। इनमें यदि कभी प्राचीन बेदुइन अरबों के प्रेम की स्वच्छन्दता दीख पड़ती है तो उसके साथ ही ईरानी प्रेम की आध्यात्मिकता भी दृष्टिगोचर होती है और इन दोनों का संयोग अत्यन्त मनोरम रूप ग्रहण कर लिया करता है। इसके सिवाय जब कभी ये किसी निजन्धरी कथा को अपनाते हैं अथवा उनका अधूरा प्रयोग भी करते हैं तो ये भरसक यही चाहते हैं कि उन्हें उनके मौलिक रूपों में ही चित्रित किया जाय तथा इसके द्वारा अपने पाठकों में कौतूहल की वृद्धि की जाय। परन्तु ऐसा करने में वे एक ही पद्धति नहीं अपनाते। 'सबरस' का रचयिता दक्खिनी कवि मुल्ला वजही जहाँ पात्रों और घटनाओं के चित्रण में तथा मूल आदर्शों के निकट बने रहने में विशेष सजगता प्रदर्शित करता है, वहीं 'हंस जवाहर' का उत्तरी कवि क़ासिमशाह ऐसा न कर इस प्रकार के वर्णनों पर भारतीय रीति-परम्पराओं की छाप तक डालने लगता है। फिर भी यहाँ पर प्रश्न केवल यह नहीं है कि ऐसी रचनाओं का विषय कहाँ तक अपने मूल आधार का अनुसरण करता है अथवा किस मात्रा में वह मानव-समाज के किसी स्तर-विशेष का प्रतिनिधित्व करता या उसके अनुकूल पड़ता है। यहाँ पर तो हमें यह देखना है कि कहाँ तक ऐसी रचनाओं का विषय स्वभावतः कोई न कोई ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है जिसका आकार-प्रकार साधारण जन-समाज की मानसिक प्रयोगशाला में निर्मित कहा जा सकता हो, और जिसका चित्रण भी साधारण लोक-कथाओं के अनुकूल पड़ सकता हो। इस दृष्टि से देखने पर हमें ऐसा लगता है कि इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों को साहित्यिक लोकगाथा की कोटि में रखना कदाचित् अनुचित न कहा जाएगा और इस बात को उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है।

बीसवीं शती का सूफ़ी प्रेमाख्यान : 'प्रेमदर्पण'

इस सम्बन्ध में यहाँ पर इतना और भी कहा जा सकता है कि मध्यकालीन यूरोप के रोमांस-साहित्य का एक रूप जहाँ आज की 'नॉवेल' कही जाने वाली ऐसी रचनाओं में भी विकसित हो चुका है जिनका उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्य का यथार्थवादी प्रतिपादन रहा करता है, वहाँ दूसरी

ओर हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानो का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रेमदर्पण नाम की आज से केवल ४५ वर्ष पूर्व निर्मित रचना मे भी हमें ऐसी कोई बात लक्षित नही होती इसका कवि नसीर अपने लिए प्रसिद्ध नबी यूसुफ़ और उसकी प्रेमिका जुलेखा का कथानक चुनता है, उसके आरम्भ मे अन्य आराध्यों के प्रति श्रद्धा-भाव प्रकट करने के साथ पौराणिक महापुरुष ख्वाजा खिज्र का उल्लेख करता है, तथा ऐनुल अहदी नामक अपने पीर की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उसके सम्बन्ध में यहाँ तक कह डालता है कि 'जिस पानी को वे फूंक देते थे वह केवड़े का जल बन जाया करता था।' वह बतलाता है कि स्वयं उसे भी ऐसे जल की एक बूंद प्राप्त हुई थी जिसकी सुगन्धि की स्मृति उसे बनी रही। इस रचना के अन्तर्गत कतिपय अन्य ऐसे आत्मकथात्मक प्रसंग अवश्य आ गये हैं जिनका रूप आधुनिक लग सकता है। यदि इसकी तुलना इससे सवा सौ वर्ष पहले इसी विषय पर लिखे गये शेख़ निसार के प्रेमाख्यान 'यूसुफ़ जुलेखा' के साथ की जाय तो उस दशा मे भी ऐसा अन्तर कुछ न कुछ अवश्य हो जाएगा, किन्तु केवल उसी के कारण इसकी परम्परागत रचना-शैली में कोई स्पष्ट विकास लक्षित नहीं होने पाता, प्रत्युत् ऐसा लगता है कि अभी तक वही पुराना टकसाल काम देता चला आ रहा है जिसकी स्थापना सम्भवतः इससे लगभग छह सौ वर्ष पूर्व हुई थी।

पता नहीं, 'प्रेमदर्पण' के बाद भी कोई सूफ़ी प्रेमाख्यान लिखा गया है या नहीं। अत हमारे पास ऐसा अन्य कोई साधन भी नहीं है जिसके आधार पर ऐसी रचनाओं के भविष्य का अनुमान लगाया जा सके। उपलब्ध सामग्री पर विचार कर केवल उसके मूल्यांकन से अथवा भावी मानव-समाज के लिए उसकी उपयोगिता पर विचार किया जा सकता है। हिंदी-भाषा मे इसके निर्माण की परम्परा का आरम्भ उस समय हुआ जब कि हिन्दी में एक ओर केवल फुटकल रचनाओं का और दूसरी ओर पौराणिक ग्रन्थों के अनुवाद—जैसे तथा अपभ्रंश के 'चरिउ' या 'रासो' के अनुकरण पर प्रबन्ध-कथा का निर्माण किया जा रहा था। इनमें से चरिउ-काव्यों में उनके नायकों के जीवन की घटनाएँ विस्तार के साथ दी जाती थीं। उनके वंश-परिचय, बाल्यावस्था, तीर्थ-भ्रमण, शास्त्राभ्यास, शासन-कार्य, सम्मान एवं देहान्त जैसे विषयों का समावेश कर के, ग्रन्थ का उपसंहार दे दिया जाता था। किन्तु रासो-ग्रन्थों के अन्तर्गत अधिकतर उन्हीं बातों की चर्चा की जाती थी जिनका उनके जीवन में विशेष महत्त्व होता था। इसके सिवाय इन दोनों प्रकार की रचनाओं के अंग-विभाजन में भी कुछ अन्तर होता था, क्योंकि प्रथम श्रेणी की रचनाओं का विभाजन जहाँ सर्गों, संधियों एवं कांडों में पाया जाता है, वहाँ द्वितीय को ठवणि, वाणि आदि में। कभी-कभी तो इनकी अभिनेयता को दृष्टि में रखते हुए इनका विभाजन विभिन्न 'ढालों' में भी कर दिया जाता था। गुजराती-लेखक केशवराम शास्त्री के अनुसार बन्ध की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे बृहत्काव्यों के केवल दो ही प्रकार मिलते हैं—पहला कड़वा, भासा, ढवणि या ढालयुक्त गेय 'रासा' काव्य और दूसरा क्रमबद्ध 'पवाड़ो' जिसमें मुख्यतया चौपाई और बीच-बीच में क्वचित् अन्य छद भी आ गये हों।[१] यह बहुत कुछ हिन्दी के उत्तरी सूफ़ी प्रेमाख्यानों-सा भी लगता है। शास्त्री जी ने अपनी एक पुस्तक में[२] गुजराती साहित्य के अन्तर्गत लोक-कथानकों की चर्चा करते समय किसी भीम कवि की ऐसी ही 'सदयवत्स कथा' नामक रचना तथा हीरानंद के 'विद्याविलास पवाड़ो' का भी परिचय दिया है। दोनों काव्य मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' के समसामयिक जान पड़ते हैं।

इनमें से प्रथम का रचना-काल सं० १४६६ (सन् १४०९ ई०) दिया गया है और दूसरे का स० १४८५ (सन् १४२८ ई०) जो सन् १३७९ ई० के कुछ ही पीछे आते हैं। शास्त्री जी ने इन दोनों के पहले विजयभद्र सूरि की रचना 'हंसराज बच्छराज चउपई' (रचना-काल सं० १४११ अर्थात् सन् १३८४ ई०) तथा असाइत नायक-रचित 'हंसाउलि' (रचना-काल सं० १४१७ अर्थात् १३६० ई०) की भी चर्चा की है जो 'कथासरित्सागर' की किसी कथा पर आधारित है।

प्राचीन कथा-रूढ़ियाँ

हिन्दी के इन सूफ़ी प्रेमाख्यानों की रचना के पहले से ही कुछ कथा-रूढ़ियाँ प्रचलित थी जिनका उपयोग अधिकतर लोकगाथाओ में होता आ रहा था और जिन्हें इनके पूर्ववर्ती रासो-ग्रन्थो मे भी स्थान मिलता आ रहा था। प्रसिद्ध चन्द बरदायी की रचना 'पृथवीराज रासो' के लिए कहा जाता है कि उसमें ऐसी कथा-रूढ़ियों का प्रवेश उसके प्रारम्भिक रूप की रचना के समय से ही होने लगा होगा, किन्तु यह प्रवृत्ति पीछे क्रमश. और भी अधिक बढ़ती चली गयी। इसी प्रकार ऐसे रासो-ग्रन्थों में, जिन्हें उनके नायकों के शौर्य-प्रदर्शन के कारण 'वीरगाथा' का नाम दिया जाता है, ऐसे अनेक प्रेम-प्रसंगों का भी समावेश किया जाने लगा जिनमें शृंगार-रस की अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रा में रहा करती थी और जिन्हें यदि मूल ग्रन्थ से पृथक् कर के कोई स्वतंत्र रूप दे दिया जाय तो एक साधारण 'प्रेमगाथा' पुकारा जा सकता है। इनमें प्रदर्शित प्रेमाकर्षण, विरह-वेदना, प्रेमिका के लिए किये गये यत्न और मार्ग में आयी बाधाओं तथा विभिन्न चामत्कारिक प्रसंग आदि जैसी बातों की तुलना सूफ़ी प्रेमाख्यानों में पाये जाने वाले वैसे ही अनेक अंशो के साथ की जा सकती है। जहाँ तक प्रचलित कथा-रूढ़ियों की बात है, इनका समावेश हम उन रचनाओं में भी पाते है जिनका उद्देश्य तो प्रत्यक्षतः है जैन-धर्म के माहात्म्य का वृत्तान्त, किन्तु जिनमें प्रासंगिक रूप मे प्रेमकथाएँ भी आ जाया करती है। उदाहरण के लिए, 'ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन'[७] अग्रवाल कवि-रचित 'प्रद्युम्न-चरित' (रचना-काल सं० १४११ अर्थात् सन् १३५४ ई०) को लिया जा सकता है। इसकी कथा-वस्तु का आधार पौराणिक ठहराया जा सकता है, किन्तु इसके अनेक प्रसंग, जैसे बचपन में ही नायक का माता-पिता से बिछुड़ जाना, अनेक स्त्रियों का उसके प्रति आकृष्ट होना, उसका अनेक साहसिक कार्य करना तथा अन्त में विवाह कर के घर वापस आना आदि, कथा-रूढ़ियों से ही लगते हैं। ऐसी बातें सूफ़ी प्रेमाख्यानों में भी कभी-कभी बहुत विस्तार से पायी जाती हैं। 'प्रद्युम्न-चरित' के नायक को श्रीकृष्ण एवं यादवों के विनाश का समाचार सुन कर जिनेन्द्र से दीक्षा लेना और कठिन तप करना पड़ता है और तब कहीं उसे कैवल्य-पद की प्राप्ति हो पाती है। यह बात सूफ़ी कवियों की दृष्टि में अनावश्यक अवश्य है।

प्रेम-साधना : प्राक्-सूफ़ी और सूफ़ी

हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों में हमें प्रेम-साधना का जो उदाहरण मिलता है उसे सभी ने बहुत महत्त्व दिया है और यह बात बहुत कुछ निर्विवाद-सी है कि प्रेमा-भक्ति का ऐसा उत्कृष्ट रूप अन्यत्र कहीं कदाचित् ही उपलब्ध हो। इसीलिए अनेक लेखकों की तो यह धारणा-सी बन गयी है कि भारतीय भक्ति-साधना की प्रेम-लक्षणा धारा का काव्य सूफ़ी आदर्श का ही अनुसरण करने वाली होगी। परन्तु यदि हम भारतीय भक्ति के प्रेम-परक पक्ष पर विचार करते हुए उसके मूल-

स्रोत का पता लगाने का यत्न करें तो हमारे लिए सहसा कोई ऐसा मत प्रकट कर देना तर्क-संगत नहीं जान पड़ेगा, न उस दशा में सूफ़ी प्रेम के अन्तर्गत हम कोई नितान्त मौलिक नवीनता ही देख पाएँगे। कम से कम वैष्णव भक्तों द्वारा कल्पित रासलीला की भावना तथा प्रमुख आळवारों की प्रेमा-भक्ति इसके उदाहरण हैं। यही नहीं, 'बृहदारण्यक' जैसी पुरानी उपनिषद् में याज्ञ-वल्क्य कहते हैं, **"स्वयं वह परमात्मा (अकेला) रममाण नहीं हुआ और इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता, उसने दूसरे की इच्छा की। वह, जिस प्रकार परस्पर आलिंगित कोई स्त्री और पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया और उसने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर डाला।"**[८] ऐसा लगता है कि यह 'रमणेच्छा' उस प्रेमावेगपरक भक्ति का आद्य रूप है जिसने आगे चल कर रासलीला की प्रक्रिया में पूरी अभिव्यक्ति पायी। रासलीला की भावना में हमें न केवल क्रीड़ा एवं विनोद मात्र का ही अंश उपलब्ध होता है, प्रत्युत् उसके साथ इसमें हमें उस विरहौत्सुक्य के भी दर्शन होते हैं जिसके कारण श्रीकृष्ण के अकस्मात् अन्तर्हित हो जाने पर उनकी प्रेमिका गोपियाँ उनका क्षणिक विरह भी सहन नहीं कर पातीं और सर्वथा अधीर और बावली बन कर इधर-उधर भटकने लग जाती हैं। उन्हें उस 'बेहोशी' का भी अवलम्ब नहीं मिल पाता जिसकी दशा में किसी प्रेमी या प्रेमिका को ला कर उसे किंचित् अवकाश प्रदान करने की चेष्टा प्रायः सूफ़ी कवियों द्वारा की गयी देखी जाती है। इसी प्रकार यदि सूफ़ी कवियों के प्रेमी एवं प्रेमिकाओं का प्रेम-भाव उनके किसी पूर्वकालीन मूल सम्बन्ध पर आश्रित माना जाता है तो यहाँ हमारी दृष्टि उपर्युक्त भारतीय धारणा की ओर चली जाती है जिसके अनुसार उन प्रेमिकाओं का प्रेम-पात्र (परमात्मा श्रीकृष्ण) किसी दिन अकेला 'रममाण' न हो पाया होगा। इस कारण यहाँ पर भी 'दैवीपन' कम कठोर नहीं सिद्ध होता, न हमें यह उससे किसी प्रकार कम अनिवार्य ही लगता है। अतएव किसी वैष्णव की प्रेमा-भक्ति भी, जो रासलीला की भावना का आधार ले कर चलती है और उसकी मधुरोपासना में परिणत होती है, तत्वतः उस इश्क़-हक़ीक़ी की ही कोटि की हो सकती है जो किसी सूफ़ी साधक के यहाँ इश्क़-मजाज़ी के माध्यम से आरम्भ हो कर अन्त में पूर्ण विकास पाता है। प्रेमादर्श की यह स्थिति सहज और स्वाभाविक है और इसके लिए किसी वैवाहिक सम्बन्ध की योजना भी अपेक्षित नहीं। यहाँ न तो परकीया और स्वकीया के अन्तर का कोई प्रश्न उठा करता है न जार एवं धर्मपति के बीच कोई भेद-भाव ही रह जाता है।

निष्कर्षापण

जिस समय हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों की रचना आरम्भ हुई उस समय तक उनके रचयिताओं के लिए ऐसी अनेक बातें प्रस्तुत की जा चुकी थीं जिनका वे किसी न किसी रूप में बड़ी सरलता से उपयोग कर सकते थे। क्या कथा-वस्तु, क्या काव्य-रूप, क्या रचना-शैली और कथा-रूढ़ियों जैसी सामग्री, इनमें से कदाचित् किसी के भी लिए उन्हें न तो कोई सर्वथा नवीन मार्ग निर्मित करने की आवश्यकता थी और न अधिक प्रयास ही करने की। जहाँ तक ऐसी रचनाओं के लिए प्रचलित अवधी भाषा के प्रयोग की बात है, हमें पता है कि इस ओर भी कुछ न कुछ कार्य आरम्भ हो चुका था। उनके लिए केवल इतना ही करना शेष था कि यथासम्भव पूर्वागत

परम्पराओं का ही अनुसरण करते हुए उस जनप्रिय माध्यम के द्वारा एक ऐसे साहित्य का सूत्रपात कर दें जो न केवल रोचक ही तो प्रत्यु ्‌ जिसके द्वारा उनके मत-प्रचार का कार्य भी अग्रसर किया जा सके। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्हें न तो किसी पण्डित-समाज की शरण लेनी थी न किसी के साथ तर्क-वितर्क करने जाना था। वैसे लोगों के प्रति व्यवहार करने का काम तो उनके सहधर्मी एवं संरक्षक शासकों के सिपुर्द था जो चाहे प्रलोभन चाहे प्रताड़न द्वारा अपनी ओर से मनमानी भी कर सकते थे और जिनके ऊपर इसके विरुद्ध कोई अंकुश भी नहीं हो सकता था। परन्तु सूफ़ी कवियों का काम उनसे कई बातों में भिन्न समझा जा सकता था और वह एक समझौते-जैसा भी था। ये किसी ऐसे मत का परिचय देना चाहते थे जिसकी अनेक बातें सब किसी को प्रत्यक्षतः मान्य एव स्वीकृतव्य लगें और जिनका मूल आधार एक मात्र परमात्मा तथा उसके प्रति स्वाभाविक प्रेम-भाव होने के कारण बिना आपत्ति के अपनाया जा सके। ऐसी दशा में इसके लिए किसी लोकगाथा को माध्यम बनाना सोने को सुगन्धि डाल देने अथवा किसी अमृत-जैसे अलभ्य पदार्थ को जन-सुलभ पात्रों में ढाल कर सर्वसुलभ बना देने के समान था। स्वभावतः इसे सभी ने पसन्द किया होगा। अतएव इस प्रकार की रचना-शैली की नवीनता यही है कि इसके द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व को भी सुबोध बना देने की चेष्टा की गयी है तथा साथ ही प्रेम-तत्त्व के उस रूप का निरूपण भी किया गया है जिसके व्यापक क्षेत्र में एक बार प्रवेश पा जाने पर हमारे जीवन में काया-कल्प की दशा लायी जा सकती है तथा भूतल एवं स्वर्ग का भेद-भाव तक दूर किया जा सकता है। इन प्रेमगाथाओं के माध्यम से सूफ़ियों के लिए जन-सम्पर्क स्थापित करना बहुत सरल हो गया और इनकी रचना द्वारा हिन्दी में एक ऐसे साहित्य का सृजन भी आरम्भ हो गया जिसने उसके वाङ्मय की समृद्धि में बहुत बड़ी सहायता की।

टिप्पणियाँ

१. रूप तुम्हार मोर दुख वारा। देस देस गे भयऊ पँवारा।—मधुमालती (मित्र प्रकाशन, प्रयाग, १९६१ ई० का संस्करण, पृ० २७३)।

२. A. B. Taylor : An Introduction to Medieval Romance, London, 1930, पृष्ठ १-२।

३. वही, पृष्ठ १६७–७६।

४. वही, पृष्ठ २३०।

५. डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वयी काव्य' (वाराणसी, सं० २०१६), भूमिका-भाग, पृ० २१।

६. 'गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन', खण्ड १लो (अहमदाबाद, १९५१ ई०), पृ० ५६।

७. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' (वाराणसी १९५८ ई०), पृ० १३४।

८. "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः।" इत्यादि। (—प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण और तृतीय अंश)।

भाणों की परम्परा और चतुर्भाणी

••

शङ्करदत्त ओझा

भाण, जो कि संस्कृत के एकपात्रीय एकाङ्की नाटक होते थे और जिनमें समाज के उपेक्षित वर्ग के बहुविध चरित्रों का हास्य और व्यंग्य में लिपटा हुआ अङ्कन होता था...

संस्कृत में रूपक के उपभेद, एकपात्रीय एकांकी नाटक भाण का जन्म अन्य काव्यांगों की अपेक्षा बाद में हुआ। अतएव सन् १९२२ ई० में श्रीरामकृष्ण कवि तथा श्री एस० के० रामनाथ शास्त्री द्वारा 'चतुर्भाणी' नामक चार भाणों की खोज एवं प्रकाशन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों विद्वानों ने इन भाणों की तिथि भी पर्याप्त प्राचीन ठहरायी है। इनकी वास्तविक तिथि जो भी हो, इतना तो असन्दिग्ध है कि इन चारों की रचना परवर्ती भाणों से पर्याप्त प्राचीन है। 'चतुर्भाणी' के अन्तर्गत 'उभया-भिसारिका', 'पद्मप्राभृतक', 'धूर्तविटसंवाद' तथा 'पादताडितक' आते हैं। परम्परा-नुसार 'उभयाभिसारिका' के लेखक वररुचि, 'पद्मप्राभृतक' के शूद्रक, 'धूर्तविटसंवाद' के ईश्वरदत्त तथा 'पादताडितक' के श्यामिलक कहे जाते हैं। प्रोफ़ेसर ए० बी० कीथ ('संस्कृत ड्रामा', पृ० १८५, पादटिप्पणी ३) प्रथम दो के लेखकों पर सन्देह व्यक्त करते हैं और धुन में आ कर वे यहाँ तक कह गये हैं कि इन चारों भाणों में से कोई भी १००० ईसवी सन् से पहले का नहीं है। दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् एफ़० डब्ल्यू० टॉमस द्वारा (जे० आर० ए० एस०, १९२४, पृ० २६२-२६५) 'पादताडितक' के रचयिता श्यामिलक को काफ़ी प्राचीन लेखक ठहराया गया है। वे श्यामिलक को कन्नौज के राजा हर्ष या गुप्तवंशीय परवर्ती राजाओं का सम-कालिक ठहराते है। उनका यह निर्णय 'पादताडितक' नाटक में वर्णित तथ्यों तथा महाकवि

बाण के साथ उनकी शब्द एवं शैलीगत समानता पर आधारित है। यहाँ उपर्युक्त चारों भाणों की कतिपय मनोरञ्जक विशेषताओं पर विचार किया जायगा जो कि इन्हें बाद के भाणों से पृथक् कर देती हैं। इससे इन चारों भाणों के कालनिर्धारण और उनकी पूर्वापरता को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

भाण के विशिष्ट स्वरूप की ख्याति से यह प्रतीत होता है कि एक समय इसकी रचना तथा अभिनय बहुत ही प्रचलित थे। उपर्युक्त चार भाणों को छोड़ कर बाद में लिखे गये सारे भाण तेरहवीं शताब्दी के पूर्व के नहीं प्रतीत होते। आज जो भाण हमें प्राप्त हैं, उन्हें देख कर यह लगता है कि इनकी रचना सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी ईसवी में सर्वाधिक प्रचलित थी। भाण अधिकतर दक्षिण भारत में लिखे गये। दक्षिण भारत इस प्रकार के साहित्य-निर्माण में अपना वैशिष्ट्य भी रखता है। वहाँ के इन भाणों के स्वरूप एवं विषय पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि ये 'दशरूपक'—जैसे नाट्य-समीक्षा-ग्रन्थों द्वारा निर्धारित नियमों का सामान्य रूप से अनुसरण-अनुकरण करते थे।

आचार्य भरत की परिभाषा

युगानुसार साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गयी साहित्य के अंग-उपांगों की परिभाषाएँ परिवर्तित-संशोधित होती रही हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र-प्रणेता आचार्य भरत से ले कर आचार्य विश्वनाथ के समय तक भाण की परिभाषा ज्यों की त्यों बनी रही। अतएव लक्षण-ग्रन्थों से हम भाण के विकास के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल पाते। फिर भी निरीक्षण से विदित होता है कि परिभाषा तथा स्वरूप में भी साहित्यशास्त्रियों ने कतिपय सूक्ष्म परिवर्तन किये हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आचार्य भरत ने भाण की व्याख्या निम्न रूप से की है जिसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है :—

आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु।
द्विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च॥
परवचनमात्मसंस्थैः प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः।
आकाशपुरुषकथितैरंगविकारैरभिनयैश्चापि॥
धूर्तविटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव।
एकांको बहुचेष्टः कार्यो बुधैर्भाणः॥

—नाट्यशास्त्र, २८।१५२-१५४

इसका अर्थ यह है कि एक पात्र द्वारा अभिनेय भाण या तो किसी आत्मानुभव का या किसी अन्य व्यक्ति का वर्णन करता है। नट अपनी आंगिक चेष्टाओं से शून्य में स्थित अन्य व्यक्ति के आकाशभाषित वचनों का स्वयमेव उच्चारण कर प्रश्नोत्तर के रूप में उत्तर-प्रत्युत्तर देता है। धूर्त, विट पात्रों से युक्त, एक अंक में अभिनेय, विविध अवस्थाओं एवं चेष्टाओं वाले रूपक-विशेष भाण की रचना करनी चाहिए। एक स्थान पर भरत ने भाण का एक विशेष गुण लास्य (हाव-भाव-युक्त नृत्य) को बतलाया है। इसमें केवल मुख तथा निर्वहण नामक दो ही

नाट्य-सन्धियाँ प्रयुक्त होनी चाहिए तथा कैशिकी (शृंगार-वर्णनोपयोगी)-वृत्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि भरत के समय में भाण की विशेषता निम्न प्रकार की थी—भाण वह रूपक-विशेष है जिसमें एक ही अंक में दो सन्धियों द्वारा एक पात्र रंगमञ्च पर (अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही) शून्य में स्थित व्यक्ति के प्रश्नों को स्वयं ही उद्भावित करता तथा आंगिक चेष्टाओं द्वारा क्रम से उनके उत्तर देता है। उसकी क्रियाएँ नाना प्रकार की चेष्टाओं तथा विविध अवस्थाओं से युक्त होती है। इसमें किसी एक व्यक्ति की आपबीती या अन्य का अनुभव वर्णित होता है। भाण का एक मात्र पात्र धूर्त या विट होता है जो कवि, सरस-हृदय, भाषण-पटु, तीक्ष्ण-मति, प्रणय-व्यापार में कुशल तथा वेश्या-व्यापार में परम विशारद होता है। यद्यपि लास्य के सारे तत्त्व भाण में विद्यमान रहते हैं किन्तु कैशिकी-वृत्ति की प्रणय एवं वीर की पोषिका शृंगार-रसोचित मधुर शैली नहीं प्रयुक्त होती। स्टेन कोनो के अनुसार लास्य की आवश्यकता भाण की उत्पत्ति एवं विकास का कारण है, क्योंकि सम्भवतः भाण की उत्पत्ति प्राचीन अनुकरणात्मक स्वांगों के प्रदर्शन से हुई होगी; किन्तु जो भाण हमें आज मिलते हैं उनमें यह विशेषता नहीं मिलती है। भाण में एक मात्र पात्र विट का होना इस बात का सूचक है कि भाण का स्वरूप सामान्यत हास्यात्मक एवं शृंगारात्मक होता है। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भरत ने स्पष्ट रूप से भाण को कैशिकी-वृत्ति से रहित बतलाया है, और यह कैशिकी-वृत्ति शृंगारपरक नाटक के लिए सर्वथा अत्याज्य है। भरत ने भाण के रस तथा कथानक के बारे में कुछ भी निर्देश नहीं किया है।

भाण के नये स्वरूप का आविर्भाव

भाण के लक्षण का उपर्युक्त अभाव 'दशरूपक' (दसवीं शताब्दी ईसवी) में पूरा किया गया। दशरूपककार धनञ्जय ने भरत का ही अनुसरण किया है। उनके अनुसार भाण की रचना भारती-वृत्ति में होनी चाहिए। धनञ्जय ने तो यहाँ तक कहा है कि भारती-वृत्ति-प्रधान होने के नाते ही इसे भाण कहा जाता है—**'भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः'**। 'भाण' शब्द 'भण्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'बोलना' और इसीलिए यहाँ एक ही पात्र रंगमञ्च पर स्वयं प्रश्नों को उद्भावित कर आंगिक चेष्टाओं के सहारे उत्तर देता है। धनञ्जय के अनुसार भाण का अंगी रस वीर या शृंगार होना चाहिए तथा क्रमशः वीरता एवं सौभाग्य (प्रणयादि) का वर्णन होना चाहिए। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि शृंगार रस सभी भाणों में व्याप्त मिलता है किन्तु वीर का सर्वथा अभाव देखा जाता है। भाण के हास-पक्ष पर न तो भरत और न धनञ्जय ने ही विशेष विचार किया है, जबकि भाण प्रकृति में बहुत कुछ प्रहसन से मिलता-जुलता है, और ऐसे पात्रों से युक्त होता है जो निम्नस्तरीय हास्य के योग्य हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव-भारती' में भाण में विट-जैसे पात्रों की योजना को हास्योचित बतलाया है और भाण को प्रहसन के साथ समान योग-क्षेम वाला कहा है। एक स्थान पर उन्होंने यह कहा है कि उत्सृष्टांक, प्रहसन तथा भाण के अंगी रस करुण, हास्य और विस्मय होने चाहिए, किन्तु शृंगार को कहीं भी अत्याज्य नहीं बतलाया है। भाण की रचना कथन-व्यापार वाली भारती-वृत्ति में होनी चाहिए। इस बात पर दशरूपककार ने सम्भवतः इसलिए बल दिया है कि उनके समय तक भाण में हास्य का बाहुल्य रहा होगा जो बाद के भाणों में नहीं मिलता क्योंकि भारती-वृत्ति के चार तत्त्वों में से एक

प्रहसन है जो स्वयं एक रूपक-विशेष है। यह भारती-वृत्ति, जो पूर्ण रूप से वाक्-प्रधान होती है, केवल पुरुषों द्वारा ही प्रयुक्त होती है। साथ ही इसकी भाषा भी सर्वत्र संस्कृत ही होती है।

दशरूपककार धनञ्जय के बाद के आचार्यों ने उनकी परिभाषा के शब्दों को अदल-बदल कर उसे ही कायम रखा। धनञ्जय के बाद भाण की परिभाषा पिटी-पिटायी हो गयी। विश्वनाथ ने धनञ्जय के कथन 'भूयसा भारती वृत्तिः' का अर्थ यह केवल कह कर स्पष्ट किया है कि भाण में प्रायः भारती-वृत्ति प्रयुक्त होती है, परन्तु कहीं-कहीं कैशिकी भी आ सकती है—'प्रायेण भारती क्वापि कैशिक्यपिवृत्तिर्भवति'। इससे स्पष्ट है कि विश्वनाथ भरत के मत की उपेक्षा कर रहे है, क्योंकि भरत के अनुसार भाण में कैशिकी-वृत्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए। विश्वनाथ द्वारा किया गया यह परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कैशिकी-वृत्ति श्रृंगार-रस के समग्र क्रिया-कलाप के सर्वथा उपयुक्त है। इस वृत्ति में गीत एवं नृत्य, विभ्रमादि तथा पुरुष एवं नारी दोनों पात्रों का समावेश होता है। इसमें वचन-विन्यास, वेश, हास तथा समस्त क्रिया-कलाप से उत्पादित विदूषक-व्यापार एवं प्रणय के अन्य सुकोमल व्यापारों का पूर्ण चित्रण सम्भव है। अत यह स्पष्ट है कि भाण के लिए केवल भारती तथा कैशिकी दो ही वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। सात्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ, जिनका अद्भुत तथा उग्र वर्णन से सम्बन्ध है, भाण के लिए अनावश्यक है। प्राचीन समीक्षकों ने भाण में विशेषतः हास्य की अधिकता के कारण सात्त्वती वृत्ति को ही स्वीकार किया है, और परवर्ती समीक्षकों ने जब यह देखा कि भाण में उत्तरोत्तर श्रृंगार-वर्णन घर करता जा रहा है तो उन्होंने तदनुकूल कैशिकी के लिए स्वर उठाया। यही कारण है कि समय के परिवर्तन के साथ आये हुए रुचि-परिवर्तन के लिए विश्वनाथ ने कैशिकी को भाण के लिए उपयुक्त माना।

भाण की परिभाषा यद्यपि भरत से ले कर प्रायः परवर्ती सभी आलंकारिकों ने एक समान ही की है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि सभी आलंकारिक अपने पूर्वाचार्यों के कथन की ही दुहाई देते रहे हैं और भाण की परिभाषा को वास्तविकता से दूर करते रहे हैं। समय-समय पर आलंकारिकों ने भाण की वास्तविकता तथा समाज के बदलते नियमों तथा मान्यताओं के अनुसार ही भाण के स्वरूप में भी परिवर्तन-परिवर्धन किया है। यहाँ पर 'चतुर्भाणी' के चार भाणो तथा बाद के दक्षिण भारत के भाणों पर विचार किया जाएगा तथा यह भी देखा जाएगा कि आलंकारिकों के विचार कहाँ तक भाण के विकास की व्याख्या करने में सहायक सिद्ध हुए है। 'चतुर्भाणी' के बाद भाण जो अब तक प्रकाशित हुए हैं, ये हैं—(१) वामनभट्ट बाण (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी ई०) द्वारा विरचित 'श्रृंगार भूषण', (२) काशीपति कविराज-रचित 'मुकुन्दानन्द' (इसकी प्रस्तावना में इसे मिश्रभाण कहा गया है), (३) काञ्ची के वैष्णवाचार्य वरदाचार्य-विरचित 'वसन्ततिलक', (४) वसन्ततिलक की ही स्पर्धा में रामभद्र दीक्षित (सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी ई०) द्वारा विरचित 'श्रृंगारतिलक', (५) नल्ला कवि (१७०० ई० के लगभग) द्वारा विरचित 'रससदन', (६) कालञ्जर के वत्सराज (बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी ई०) द्वारा विरचित 'कर्पूरचरित'। सम्भवतः यह बाद के लिखे गये समस्त भाणों मे प्राचीनतम है

चरित्रहीन नायक

'कर्पूरचरित' और 'मुकुन्दानन्द' को छोड़ कर, जो कि इन सबमें प्राचीनतर हैं और दक्षिण में लिखे गये हैं, स्वरूप, विषय तथा देश में ये सभी एक दूसरे से पर्याप्त समानता रखते है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाणों को चरित्रहीन व्यक्तियों की सफलताओं का वृत्तान्त कहना सर्वथा संगत है, क्योंकि इनमें चरित्रहीन विट के दिन भर के साहसपूर्ण कृत्यों का वर्णन मिलता है। यही विट इनका नायक है। इन भाणों में विट के नाम 'विलासशेखर', 'भुजंगशेखर', 'शृंगार-शेखर', या कभी-कभी केवल 'विट' ही मिलते हैं। यद्यपि भाण एकपात्रीय होता है किन्तु इसकी प्रस्तावना में भी सूत्रधार तथा पारिपार्श्वक या सूत्रधार तथा नटी में परस्पर वार्तालाप होता है। इस प्रकार के वार्तालाप के बाद ही विट-नायक का रंगमञ्च पर कामासक्त दशा में प्रवेश होता है। फिर वह प्रातःकाल के शृंगारिक वातावरण का वर्णन करता है। इसके बाद वह अपने आगमन का कारण बतलाता है जो कि प्रायः इस प्रकार होता है---अपनी प्रेयसी (वेश्या) या चरित्रहीना विवाहिता से वियोग हो जाने के दुःख के कारण या परिस्थिति-विशेष से बाध्य हो कर या किसी मित्र के घर जाने के लिए या उसके प्रणय-व्यापार के सहायतार्थ घर से निकल कर वह वेश्या-बाज़ार (वेश-हाट) में भ्रमण करता है जिसका बड़ा ही प्रशस्त वर्णन किया जाता है। आकाश-भाषित के माध्यम से शून्य में पूछे गये पुरुष-स्त्री मित्रों के प्रश्नों का स्वयं ही उत्तर देते हुए वह काल्पनिक वार्त्तालाप जारी रखता है और अपने धूर्त मित्रों और दुश्चरित्र स्त्री-पुरुषों के बहुविध निन्दनीय वेश्या-वृत्ति, सुरापान, केलि इत्यादि विषयों पर अकेले ही वार्त्तालाप करता है। ये विषय प्रायः मुर्गों की लड़ाई, सर्पों का खेल, कुश्ती, जुआ, जादूगरों के तमाशे, स्त्रियों की क्रीड़ा तथा अन्य अद्भुत् निम्नस्तरीय कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। विट का कार्य वेश्या तथा उसकी माँ या उसके धोखेबाज प्रेमी के झगड़ों का निबटारा करना होता है। वह वीणा-वादन में आनन्द लेता है तथा नृत्यशाला में घुस कर नर्तकियों से मधुरालाप करता है। अन्त में वह अपने दैनिक प्रयोजन की सिद्धि कर लेता है। उसके बाद सन्ध्या-चन्द्रोदय वर्णन करते हुए विट अपना वृत्तान्त समाप्त करता है। इस प्रकार उसका एक सफल दिन बीत जाता है। इन भाणों के घटना-स्थल दक्षिण भारत के काञ्ची-जैसे प्रसिद्ध नगर होते हैं। कहीं-कहीं काल्पनिक 'कोलाहलपुर' (शोरगुल से भरा नगर)-जैसे नगर में यह दृश्य दिखाया जाता है। अभिनय किसी देवता-विषयक उत्सव पर आयोजित किया जाता है।

इन भाणों में व्यंग्य (satire) पर्याप्त मात्रा में रहता है। दुराचारी पौराणिक, वृद्ध श्रोत्रिय, कपटी ज्योतिषी, शैव एवं वैष्णव इन व्यंग्यों के मुख्य विषय होते हैं। वत्सराज के 'हास्य चूडामणि' में भागवतों का बड़ा उपहास किया गया है। 'मुकुन्दानन्द' में गुर्जरों पर गहरा व्यंग्य किया गया है, किन्तु व्यंग्य इन भाणों का सामान्य विषय नहीं बन सका। बाद के भाणों मे व्यंग्योपहास-गर्भित सुखान्त वृत्तान्त नहीं के बराबर ही मिलते है। इनमें शृंगारिकता ही पूर्णतः व्याप्त रहती है। इनके पात्र भी बहुविध नहीं हैं। वे बहुधा साधारण नागरिक तथा वेश्याएँ है जो कि केवल लक्षण-ग्रन्थों के छाया मात्र हैं। उनमें अपना जीवित व्यक्तित्व नहीं है। वर्णन कहीं-कहीं पर ही काव्यात्मक है, नहीं तो शृंगार ही प्रायः सर्वत्र मिलता है। यह शृंगारिकता

प्रायः सभी भाणों में ज्यों की त्यों मिलती है जिससे उनमें कोई नवीनता नहीं रह गयी है। वे पिटे-पिटाये तथा शुष्क लगते हैं। इनमें शृंगार को छोड़ कर अन्य कोई मनोरञ्जक प्रसंग नहीं और न अन्य रसों की व्यंजना है। इनमें क्रमशः अश्लील एवं अमर्यादित वर्णन बढ़ते ही गये। अतः इसकी लोकप्रियता कम हो गयी। फलतः भाण की रचना परम्परा धीरे-धीरे लुप्त होती गयी। यही कारण है कि बाद में ये भाण तथा लक्षण-ग्रन्थों के नियमों पर आश्रित रूढ़ि-ग्रस्त ढाँचे मात्र रह गये। ये समाज के जीवित प्रतिबिम्ब न बन सके। फिर भी यह कदापि सत्य नहीं कि भाण समाज के निम्न या मध्यम वर्ग के लोगों के यथार्थ वृत्तों को चित्रित करने के कारण लुप्त हो गये। समाज के ये नीच-मध्यम पात्र यदि अपने जीवित स्वरूप को लिये हुए शृंगार-उपहास-मिश्रित अन्य प्रसंगो की उद्भावना करते हुए, भाण की विषय-परिधि को बढ़ाते हुए समाज के उपेक्षित वर्ग का यथार्थ साहित्यिक चित्रण करते तो इनकी लोकप्रियता कभी न घटती, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इसके विपरीत, इनके वर्ण्य-विषय, शैली एवं टेकनीक, सभी कुछ एक-से होने लगे। अतः निश्चय ही इनमें जान न रह गयी। ये उस उपेक्षित (सुरा-वेश्यामय जीवन) की यथार्थ, स्वस्थ, साहित्यिक वर्णना में सफल न हो सके। उल्टे वे अश्लील, अनियन्त्रित, कामुकों की लम्पटता के वर्णन से दूषित हो गये। यही कारण है कि भाण का विषय इतना मनोरञ्जक होते हुए भी कभी लोकप्रिय न हो सका।

'कर्पूरचरित'

'कर्पूरचरित' को ध्यान से पढ़ने पर उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि उसे दक्षिण के भाणों से पृथक् कर देती हैं तथा प्राचीनता में उसे 'चतुर्भाणी' के पास ले जाती हैं। उदाहरणार्थ, (१) कर्पूरचरित की प्रस्तावना में एक ही पात्र (सूत्रधार) आता है। यह विशेषता 'चतुर्भाणी' में है, और ऊपर गिनाये गये दक्षिण के अन्य भाणों में नही मिलती। साथ ही इसमें आकाशभाषित का प्रयोग मिलता है जो कि न तो 'चतुर्भाणी' और न अन्य भाणों में मिलता है। (२) सम्भवतः यही एक ऐसा भाण है जिसके वार्तालाप में प्राकृत का पूर्ण प्रयोग मिलता है (यद्यपि 'मुकुन्दानन्द' में भी कहीं-कहीं प्राकृत के गाथागीत मिलते हैं)। (३) इसका कथानक भी दक्षिण के भाणों से भिन्न है, क्योंकि उनकी तरह यह पिटी-पिटायी शृंगारपरक रचना ही नही है। इसका विट वेश्या-बाजार में भ्रमण नहीं करता, बल्कि सीधे मञ्च पर आ कर अपने काल्पनिक मित्र से प्रश्नोत्तर के रूप में वार्तालाप करने लगता है। यद्यपि इसमें भी प्रणय-व्यापार, द्यूत इत्यादि विषय आते हैं, किन्तु हास-तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जिससे रस-प्रवाह बहुविध तथा अक्षुण्ण बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि 'कर्पूरचरित' 'चतुर्भाणी' से अधिक समानता रखता है, तथा दक्षिण के अन्य नाटकों से इसकी समानता बहुत थोड़ी है। किन्तु साथ ही इसकी अपनी भी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं।

'चतुर्भाणी' पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ये दक्षिण के अन्य भाणों से विषय तथा शैली में पर्याप्त रूप से भिन्न हैं। इनके विषय विविध हैं, भाषा-शैली सरल तथा पात्र समाज के जीवित पात्र हैं, लक्षण-ग्रन्थों की छायामात्र नहीं। शैली जन-साधारण की रुचि के अनुकूल है एव सच्ची कविता की उद्भाविका है। इनकी विशेषताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है

कि ये चारो भाण दक्षिण के भाणों से काफ़ी भिन्न हैं तथा अपने आप में एक जाति हैं। यहाँ उनकी उन विशेषताओं का उल्लेख किया जाएगा जो उन्हें दक्षिण के परवर्ती भाणों से पृथक् सिद्ध करती हैं और उनके काल-निर्णय में बड़ी सहायता देती हैं।

चतुर्भाणी

पहली बात तो यह है कि इनकी प्रस्तावना (स्थापना) अपेक्षाकृत छोटी है और एकपात्रीय भाण के सर्वथा उपयुक्त है जिसमें कि सूत्रधार अकेला मंगल-श्लोक पढ़ता है किन्तु वह आकाश-भाषित का प्रयोग नहीं करता, जैसा कि 'कर्पूरचरित' में मिलता है। 'पादताडितक' को छोड़ कर कहीं भी लेखक का नाम तथा अभिनय का अवसर नहीं सूचित किया गया है। पहले भाण की प्रस्तावना में पाँच श्लोकों द्वारा कामदेव की प्रशंसा है; दूसरे में कोई मंगल-श्लोक नहीं है, अपितु मनोरञ्जनार्थ वर्णन एक श्लोक में वर्षा-ऋतु का मिलता है। तीसरे में एक श्लोक द्वारा श्रेष्ठ युवतियों की प्रशंसा के बाद सूत्रधार एक श्लोक में अचानक विट के प्रवेश की सूचना देता है, और फ़ौरन स्टेज से चला जाता है। केवल चौथे में भाण के नाम तथा उसके लेखक का उल्लेख मिलता है।

'धूर्तविटसंवाद' को छोड़ कर विट कहीं भी नायक नहीं है। वह नायक का मित्र एवं दूत है जो स्वयं नायक के स्थान पर उसकी भूमिका पूरी करता है। 'पद्मप्राभृतक' में उसे 'शश' की संज्ञा मिली है, किन्तु साधारणतया उसे 'विट' ही कहा गया है। इन नाटकों का प्रारम्भ प्रातःकाल के वर्णन से नहीं होता। 'पद्मप्राभृतक' का वसन्त के प्रादुर्भाव से, 'धूर्तविटसंवाद' का वर्षा से तथा 'उभयाभिसारिका' का प्रौढ़ वसन्त से प्रारम्भ होता है। 'पादताडितक' के प्रारम्भ में किसी ऋतु का वर्णन नहीं है वरन् सीधे कथानक आरम्भ हो गया है। कथानक में पिटी-पिटायी बात नायक-नायिका-मिलन नहीं होता। इसमें अनेक ढंग देखने को मिलते हैं। 'पद्मप्राभृतक' में कर्णी-पुत्र मूलदेव अपनी प्रेमिका देवसेना को पाने के लिए विट को भेजता है। विट उज्जयिनी के बाज़ार से गुज़रता, विभिन्न लोगों से मनोहर वार्तालाप करता हुआ, तरह-तरह के व्यापार के बाद देवसेना से कमल का पुष्प उपहार के रूप में लिये हुए वापस लौटता है। इसी पर भाण का नाम भी आश्रित है। 'धूर्तविटसंवाद' में चतुर विट पावस ऋतु की मनहूसी दूर करने और मन बहलाने के लिए बाहर आता है। धनाभाव के कारण वह न द्यूत-क्रीड़ा कर सकता है और न मदिरापान ही। उसके वस्त्र तक फट गये हैं। अतः वह वेश्या-बाज़ार से गुज़रता और लोगों से मिलता हुआ अपने मित्र-दम्पति विश्वलक एवं सुनन्दा के यहाँ जा पहुँचता है। वहाँ विश्वलक द्वारा पूछे गये काम-शास्त्र के अनेक विषयों पर वाद-विवाद करता है। भाण का नाम यहाँ भी विषयपरक है। 'उभयाभिसारिका' में अपने मित्र कुबेरदत्त से आदेश पा कर विट अपने मित्र की रुष्ट प्रेयसी नारायण-दत्ता को मनाने के लिए निकल पड़ता है किन्तु वह वहाँ देखता क्या है कि कामोद्दीपक ऋतु ने दोनों को बेचैन कर दिया है और दोनों एक दूसरे को ढूंढ़ने निकल पड़े हैं। 'पादताडितक' की कथा-वस्तु नूतन तथा अधिक मनोरञ्जक है। विट घर से निकला है धूर्तों एवं विटों के द्वारा आयोजित सभा में जाने के लिए। सभा का आयोजन इसलिए हुआ है कि नायक ने सौराष्ट्र की एक मदिरोन्मत्ता वेश्या को प्रणय-क्रीड़ा के समय पैर से अपने सिर-जैसे पवित्र स्थान पर लात

मारने के लिए अनुमति दे दी थी। अतः इसके लिए नायक को क्या प्रायश्चित करना चाहिए—यही निश्चित करने के लिए विटों की सभा बुलवायी गयी।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अत्यावश्यक है कि इन नाटकों के घटना-स्थल दक्षिण भारत के नगर नहीं अपितु उज्जयिनी, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) जैसे उत्तर भारत के मुख्य नगर थे। एक स्थान पर लेखक नगर का नाम छिपाने के लिए उसे 'सार्वभौमनगर' के काल्पनिक नाम से पुकारता है जो सम्भवतः पश्चिम भारत का कोई नगर था। इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्भाणी के नाटकों में कुछ नूतनता है। यद्यपि यहाँ भी विट वेश्या-बाजार में घूमता है और उसी तरह काल्पनिक वार्तालाप करता है, फिर भी इनके पात्रों में विविधता है जिससे नाटक नीरस नहीं होने पाये हैं।

प्रोफ़ेसर टॉमस ने 'पादताडितक' भाण में आये हुए अनेक पात्रों के नाम तथा उनकी विशेषताओं का सविस्तार विवरण दिया है। यहाँ पर अन्य तीन भाणों के विविध पात्रों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा। 'चतुर्भाणी' के पात्रों की विशेषताएँ समझ लेने पर ही हम जान सकेंगे कि इन पात्रों का अपना एक वर्ग विशेष था जो दक्षिण के परवर्ती भाणों में नहीं मिलता।

पद्मप्राभृतक

'पद्मप्राभृतक' नाटक में हमें निम्नलिखित पात्रों का वर्णन मिलता है: – कात्यायन गोत्र का शारद्वती-पुत्र सारस्वतभद्र, जो घर की चौखट पर बैठा भावना-जगत् में लीन हो कर आकाश की ओर घूर-घूर कर काव्य-रचना किया करता था; दर्दरक नामक पीठमर्द (नाट्याचार्यों के द्वारा पीठमर्द पात्र का उपयोग बतलाया गया है, किन्तु संस्कृत के नाटक-कारों ने प्रायः इस पात्र का प्रयोग कम किया है। भवभूति का मकरन्द पीठमर्द की कोटि का पात्र है। यहाँ पर पीठमर्द उपनागरक के रूप में आया है। वात्स्यायन के अनुसार पीठमर्द का कार्य है नायक के प्रणयव्यापार में सहायता पहुँचाना।); विपुला का एक मित्र, जिसका मूलदेव ने देवदत्ता के लिए परित्याग कर दिया है, और जिसे कामदत्ता का प्रेमी बतलाया गया है, परन्तु उसका नाम नहीं दिया गया है; दत्तकलशि नामक पाणिनि का अनुयायी वैयाकरण, जो बड़ी दुरूह वाक्य-रचना करता है और साथ ही साथ वह धोखेबाज़ एवं झगड़ालू प्रकृति का है, क्योंकि वह सदा तान्त्रिकों से युद्ध ही ठाने रहता है; धर्मासनिक का पुत्र पवित्रक, जो अपनी पवित्रता का ढिंढोरा पीटता है, लेकिन स्वयं महापतित, धूर्त एवं विश्वासघाती है; वृद्ध का स्वाँग रचने वाला युवक पात्र मृदंगवासुलक, जो विट की भूमिका अदा करता है और जिसे वेश्याओं द्वारा 'भावजरद्गव' की संज्ञा मिली है; शैषिलक नामक एक पतित, धूर्त, ब्राह्मण युवक जो द्यूतशाला से बाहर निकलता है और जिसने एक शाक्य भिक्षुकी का जबर्दस्ती अपहरण किया है; सन्धिलक नामक दुराचारी शाक्य भिक्षु जो यह बहाना बनाता है कि वह संघ दासिका नामक वेश्या को, जिसकी माता अभी हाल में मरी है, भगवान् बुद्ध के वचनों से ढाढ़स बँधाने उसके घर आया है, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं; वसन्तवती की पुत्री वनराजिका जो कामदेव के मन्दिर से निकलती हुई दिखायी गयी है; इरीम तथा ताम्बूलसेना जो प्रणय-केलि में रत दिखाये गये हैं; भंडीरसेना की पुत्री कुमुद्वती, जो मौर्य राजकुमार चन्द्रोदय से प्रेम करती है

और चन्द्रोदय के सामन्तों से युद्ध करने के लिए बाहर चले जाने पर जिसे प्रोषितपतिका नायिका के रूप में दिखाया गया है; पञ्चाल दासी की पुत्री प्रियंगुयष्टिका, जो कन्दुक (गेंद) से खेलती है; नागरिका की पुत्री शोणदासी, जो वियोगावस्था में विरह-गीत गाती है और जिसने अपने प्रेमी चन्द्रधर से झगड़ा कर लिया है और उससे मिलने के लिए उत्कण्ठित है (उसका गीत कैशिक शैली में है जो कि एक प्रकार का विलाप ही माना गया है—'कैशिकाश्रयं हि गानं पर्याय शब्दो रुदितस्य।'); नागरिका की पुत्री मगधसुन्दरी, जो वासकसज्जा नायिका है और 'वल्लभा' नाम की चतुष्पदा गाती हुई दिखायी गयी है; एक नटी का पुत्र दर्दुरक, जो कि नाट्याचार्य गन्धर्वदत्त का शिष्य है; देवसेना की परिचारिका प्रियवदतिका; देवदत्ता की बहन देवसेना, जो नायक मूलदेव से, (जो वैसे तो पाटलिपुत्र का निवासी बतलाया गया है किन्तु उज्जयिनी का वह प्रमुख नागरिक है), प्रेम करती है।

धूर्तविटसंवाद

'धूर्तविटसंवाद' में अपेक्षाकृत कम पात्र आये हैं जो निम्नलिखित हैं:—श्रेष्ठीपुत्र कुण्णिलक, जो लापरवाह युवक था और परशुराम की तरह ही अपने वर्णसंकर पिता का सिर काटकर विश्व को पितृविहीन करना चाहता था, क्योंकि उसका पिता उसके सुरा-सुन्दरी-द्यूत के भोग में बाधक सिद्ध हो रहा था; मदनसेना की सेविका वारुणिका; बन्धुमतिका, जो मेखला लिये चतुरिका के साथ अपने घर की चौखट पर बैठी है; रामदासी खंडितानायिका के रूप में; शराब की खुमारी से जाग कर अँगड़ाई लेती हुई रतिसेना; रामिलक के घर से निकलती हुई प्रद्युम्न-दासी; दम्पति विश्वलक एवं सुनन्दा, जिनके घर के दरवाजे अतिथियों के भय से हमेशा बन्द रहते हैं। विश्वलक निर्धन हो गया है (नग्नश्रमणक)। वह वेश्याओं में आसक्त था किन्तु बीमारी से नपुंसक हो जाने के कारण उस कौए की तरह जो गाँव के ईर्द-गिर्द ही मँडराता है, अपनी पत्नी सुनन्दा को नहीं छोड़ता। उधर सुनन्दा, जो सूखी नदी की तरह अपना यौवन खो चुकी है और अब उसके पीछे रसिक लोग नहीं घूमते, विवश हो कर विश्वलक की अनुगामिनी हो गयी है।

उभयाभिसारिका

'उभयाभिसारिका' में ये पात्र आये हैं:—विष्णुदत्ता की पुत्री अनंगदत्ता, जो धन की लालची माँ द्वारा जबर्दस्ती समुद्रदत्त के गले डाल दी गयी थी, क्योंकि समुद्रदत्त नगर का नया धनिक (अद्यतनकालवैश्रवण) धनदत्त का पुत्र है; बिलासकौण्डिनी नाम की बौद्ध परिचारिका, जो चरित्रहीना है किन्तु वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन का उद्धरण देती है; चारणदासी की माता राम सेना, जो यद्यपि अधेड़ उम्र की हो गयी है किन्तु युवती होने का दम भरती है और अपने दामाद, धनिक, के घर अपनी बेटी को संगीत सिखाने के बहाने इसलिए बुलाने जाती है कि अब वह निर्धन हो गया है और उसे पसन्द नहीं रह गया है; सुकुमारिका नामक चालाक वेश्या, जिससे सभी डरते तथा कतराते थे, और जो राज्य-रपालक रामसेन को उसके विश्वासघात करने पर फटकारती है; व्यापारी पार्थक का पुत्र धनमित्र, जिसे रतिसेना ने धोखा दे कर लूट लिया; नायिका नारायणदत्ता की बेटी कनकलता तथा विश्वावसुदत्त नामक वीणाचार्य। इस प्रकार समाज के

उपेक्षित वर्ग तथा अन्य निम्न पात्रों का बड़ा ही उपेक्षात्मक वर्णन 'चतुर्भाणी' के नाटकों में मिलता है। इनकी कोटि के पात्र बाद के भाणों में नहीं मिलते। अतएव इनका स्वरूप तथा इनकी अपनी विशेषता भाण के क्रमिक विकास में सदा ही महत्त्वपूर्ण रही है।

पादताडितक

'पादताडितक' में निम्न मध्य स्तरीय समाज का बहुरंगी जीवन अंकित करने वाले विविध प्रकार के पात्र प्रयुक्त हुए हैं। इन्हीं पात्रों का प्रयोग हम इसके बाद 'मृच्छकटिक' नामक शूद्रक के प्रकरण में पाते हैं। इस भाण के नाना प्रकार के पात्रों की सूची प्रोफ़ेसर टॉमस ने गिनायी है। बाद के भाणों में विदेशियों का उल्लेख बहुत कम मिलता है जबकि भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोगों की गणना 'वसन्ततिलक' में मिलती है। उसके एक अनुच्छेद में चोल, केरल, नेपाल, मालव, मगध, कलिंग एवं कर्नाटक का उल्लेख किया गया है। इधर 'पादताडितक' में राजधानी में रहने वाले शक, यवन, तुषार, पारसीक, मगध, किरात, कलिंग, वंग, काश, माहीषक, चोल, पाण्ड्य, यौधेय, रोहितक, बाह्लीक, कोंकण (या अपरान्त), लाट, शौर्पारिक, सिंहली, हूण, आभीर, गर्ग, निषाद, आवन्तिक, सौवीर, दासेरक, काम्बोज, बर्बर, कांरूशमलद, विदर्भ, काशी, कोसल, सुराष्ट्र तथा गान्धार के लोगों का उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त भाण में नाटककार ने छल-कपट और धोखेबाजी की निन्दा और शराबियों एवं वेश्याओं के चरित्रों का चित्रण बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण तथा उत्तम कोटि के हास्य से युक्त शैली में की है। विदेशियों एवं लाटदेश के निवासियों के वर्णन में सफल हास्य का उपयोग किया गया है। प्रोफ़ेसर टॉमस का यह कहना सत्य है कि राजधानी को उज्जयिनी नाम से अभिहित करने के बजाय उसका सार्वभौमनगर जैसा काल्पनिक नाम रखने के पीछे तात्पर्य ही यही था कि वहाँ देश के हर भाग से आ कर बसे हुए धूर्तों, लम्पटों, दुराचारियों आदि का पूर्ण निस्संकोच और निर्भीक हो कर निष्पक्ष एवं अविकल चित्रण किया जा सके।

हास्यपरक जीवन्त पात्र

तरह-तरह के तमाम पात्रों का चरित्रांकन 'चतुर्भाणी' के नाटकों की एक विशेषता है जिसका बाद के दक्षिण के भाणों में सर्वथा अभाव है। 'चतुर्भाणी' के नाटक में निम्नांकित पात्रों की कोटि के पात्र परवर्ती भाणों में नहीं मिलते :—सारस्वतभद्र, जो आकाश की ओर घूर-घूर कर कविता करता था तथा वसन्त-ऋतु-परक एक श्लोक को दीवाल पर अंकित किये था; पाणिनि का अनुयायी वैयाकरण, दत्तकलशि, जो लच्छेदार लम्बे-लम्बे वाक्य लिखने का प्रेमी था तथा कातन्त्रिकों से सदा युद्ध ठाने रहता था; धूर्त शाक्यभिक्षु सन्धिलक; जर्जर-गात्र मृदंगवासुलक नामक 'नाटकविट' जिसका उपनाम 'भावजरद्गव' था; मूर्ख, दुराचारी श्रेष्ठीपुत्र कृष्णिलक, जिसने विवाह नहीं किया था; धूर्त दम्पत्ति विश्वलक एवं सुनन्दा; विलासकौण्डिनी नामक बगुला-भक्त बौद्ध परिव्राजिका, जिसका कोई चरित्र नहीं था मगर बात-बात में धर्म-ग्रन्थों की दुहाई देती थी। विशेष बात तो यह है कि ये नानाविध पात्र लक्षण-ग्रन्थों में वर्णित पात्रादर्शों के छाया मात्र नहीं अपितु समाज के जीवित चरित्र थे। शाक्य भिक्षु तथा भिक्षुकी जो 'भगवदज्जुकीय'

एव मत्तविलास' नाटको में आये हैं बाद के भाण एव प्रहसन में नहीं दिखायी पड़ते उनके स्थान पर कभी-कभी मूर्ख श्रोत्रिय, धूत पौराणिक, शैव, वैष्णव एव भागवत लोग प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही बौद्ध धर्म की व्यंग्यपूर्ण आलोचना तथा उसके विरुद्ध शत्रु-भावना हमें उस काल का ध्यान दिलाती है जब कि इस प्रकार की धार्मिक शत्रुता चल रही थी और अन्य धर्म इतने प्रसिद्ध नहीं हो सके थे कि वे स्वयं व्यंग्यपूर्ण आलोचना के विषय बन सकते।

बाद के भाणों में 'धूर्तविटसंवाद' और 'पादताड़ितक' जैसे नाटक दृष्टिगोचर नहीं होते जो समाज के एक ऐसे विशेष वर्ग के लोगों की कुत्साओं तथा उसकी उपेक्षित प्रवृत्तियों के जीते-जागते नमूने हों जो बड़े-बड़े नगरों में बड़ी संख्या में भरे पड़े थे। यही रहस्य है 'मृच्छकटिक' की सफलता का कि वह अपने युग के वर्ग-विशेष का जीवित साक्षी है। 'धूर्तविटसंवाद' सौन्दर्य-शास्त्र एवं नीतिशास्त्र के मनोरञ्जक नियमो का उल्लेख करता है जिनसे धूर्त विटों का जीवन अनुशासित था। इनके कुछ मनोरञ्जक विषय यहाँ दिये जाते हैं—यदि धनोपार्जन ही वेश्या का लक्ष्य है तो उसे उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा की कोटियाँ क्यों दी जाती हैं? वेश्या-प्रणय में प्रेम के लक्षण क्या हैं? क्या कारण है कि प्रथम मिलन सदा सुखदायी नहीं होता? रूठी हुई नायिका को किस तरह मनाया जाता है?—इत्यादि। इन समस्याओं के बड़े ही मनोरञ्जक समाधान भी दिये गये हैं। अन्तिम प्रश्न के उत्तर में विट कहता है कि स्त्री-रोष अँतरा दे कर आने वाले बुखार की तरह है जिसकी दवा वैसे तो कठिन है पर फिर भी वह कुछ उपाय बतलाता है। वह कहता है कि लज्जावश क्रुद्धा वेश्या के चरणों पर गिरना ठीक नहीं। कुछ लोग जो शपथ लेने की राय देते हैं वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेश्या तो दूर रही, साध्वी ग्रहिणी भी धूर्त की शपथ में रत्ती भर विश्वास नहीं करती। हाँ, किसी तरह चतुर वचन एवं इशारे से नायिका को हँसा देने से कुछ काम बन सकता है। परन्तु विट अपने अनुभव से अन्त में कहता है कि किसी रुष्टा नायिका को मानने के लिए सफल उपचार है—चुम्बन!

चतुर्भाणी का विट

वस्तुतः चतुर्भाणी का विट घृणित पात्र नहीं था। वह बाद के भाणों-जैसा कायर, मूर्ख विट कभी नहीं था। चतुर धूर्त विट होने के अतिरिक्त वह कुशाग्र-बुद्धि और सभ्य था। आनन्द-मय जीवन-यापन की कला से वह पूर्णतः अभिज्ञ था। वैशिकी-कला या वैशिकी-उपचार (वेश्याओ के बहुविध ज्ञान) में वह पारंगत था। वैसे इस विषय पर कामशास्त्र के लेखकों तथा आचार्य भरत ने बहुतेरे नियम बनाये हैं, किन्तु व्यक्तिगत जीवन मे उन नियमों का पालन करने के लिए मानव-व्यक्तित्व का सूक्ष्मतम एवं गहन अध्ययन है और विशेषतः नारी के स्वभाव की प्रत्येक गतिविधि का पूर्ण ज्ञान उपेक्षित है और ये सभी गुण समवेत विद्यमान थे 'विट' में। विट का अभ्युदय-काल भाणों में दिखायी देता है। विट पहले भाण का नायक नहीं था। भरत ने भी भाण को 'धूर्तविटसम्प्रयोज्य' कहा है, उसे नायक बनाने पर जोर नहीं दिया है। 'चतुर्भाणी' के भाणों में वह वस्तुतः नायक नहीं है। विट भाणों का एक मात्र पात्र होने के कारण कालान्तर मे भाणों में नायक बन बैठा तथा अपने सभ्य जीवन के प्रासाद से उतर कर धूर्त, दुराचारी,

अविवेकी, कामी तथा वेश्यावीथी का 'हीरो' मात्र रह गया। उसका प्राचीन स्वरूप तथा प्रतिष्ठा आमूल बदल गयी।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि 'चतुर्भाणी' के नाटकों में हास्य तथा व्यंग्य का पर्याप्त स्थान था, किन्तु बाद के भाणों में यह गुण लुप्त होता गया और उसके स्थान पर केवल 'शृंगार' का साम्राज्य छा गया। यद्यपि भरत भाण में शृंगार के प्रयोग पर मौन हैं, फिर भी प्राचीन काल से ही शृंगार भाण का वर्ण्य-विषय बनता आया है, क्योंकि विट-जैसे पात्र तथा द्यूत, वेश्या, सुरा जैसे विषयों के लिए शृंगार अत्याज्य था। बाद में चल कर तो भाण की काया ही शृंगार मे रँग गयी! 'शृंगार-भूषण', 'शृंगार-तिलक', 'शृंगार-मंजरी', 'शृंगार-सर्वस्व', 'पंचबाण-विजय', एव 'रससदन'—जैसे भाणों के नाम ही बतला देते हैं कि शृंगार का क्या स्थान था परवर्ती भाण-साहित्य में।

चतुर्भाणी का रचना-काल

अतएव उपर्युक्त तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'चतुर्भाणी' का रचना-काल वह युग था जब कि भाण के रचयिता को प्रतिभा-विस्तार की काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी जिससे वह शृंगार के अतिरिक्त हास्य इत्यादि रसों का भी उनमें समावेश करता था। इस प्रसंग में भरत के मौन का मतलब यही है कि उन दिनों भाण में रसों के प्रयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। बाद में धनञ्जय ने यह नियम बना दिया कि भाण का अंगी रस शृंगार के होना चाहिए। उससे स्पष्टत- परवर्ती भाणों के रचयिताओं को काफ़ी परतन्त्र हो जाना पड़ा। विश्वनाथ द्वारा कैशिकी-वृत्ति का भाण में अपवाद-स्वरूप प्रयोग, इसी तथ्य की पुष्टि करता है। इन सभी तथ्यों से यह ज्ञात हो जाता है कि 'चतुर्भाणी' की रचना धनञ्जय के काफ़ी पहले हो चुकी थी; क्योंकि धनञ्जय के समय तक शृंगार का प्रयोग पूर्णत: प्रसिद्ध हो गया होगा।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में एक और सहायक प्रमाण है। धनञ्जय तथा अन्य साहित्य-शास्त्रियों के अनुसार भाण की कथावस्तु कल्पित होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि वह वास्तविक ऐतिहासिक या पौराणिक घटनाओं पर आधारित न हो। कथावस्तु विषयक यह नियम भरत ने नहीं बाँधा था। 'चतुर्भाणी' के लेखक धनञ्जय इस नियम से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उन्होने कथावस्तु-सम्बन्धी उक्त नियम का पालन नहीं किया। 'धूर्तविटसंवाद' तथा 'पादताडितक' से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि उनमें वर्णित समाज कल्पित था, वास्तविक नहीं। 'पद्मप्राभृतक' नाटक मूलदेव कर्णी-सुत की पौराणिक कथा पर, जिसका उल्लेख बाण ने किया है, आधारित है। परम्परानुसार कर्णी-सुत चौर्यशास्त्र का प्रणेता था। इन भाणों से यही ज्ञात होता है कि इनका उद्देश्य था तत्कालीन समाज का सच्चा चित्रांकन एवं उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों का व्यंग्यात्मक विवरण। बाद के भाणों में यह बात न रही। वे धनञ्जय के लक्षणों में बँध गये थे। इससे उनकी कथा विशुद्ध काल्पनिक है। उनमें कलात्मकता तथा कृत्रिमता का, जो कि बाद के समस्त संस्कृत साहित्य की विशेषता बन गयी थी, तथा श्रम-साध्य कविता का प्रदर्शन मात्र है। उसमें वह सहजता, सरसता एवं व्यञ्जना नहीं जो 'चतुर्भाणी' में है।

'चतुर्भाणी' के लेखक कामशास्त्र से परिचित थे। प्रथम दो भाणों में वात्स्यायन के

पूर्वाचार्य दत्तक के दो सूत्रों का उल्लेख मिलता है। बाद के भाणों में वात्स्यायन का उद्धरण कई स्थलों पर किया गया है। बाद के 'चतुर्भाणी' में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु काम-शास्त्र का ज्ञान तथा उसके नियमों का पालन 'चतुर्भाणी' के लेखकों ने किया है। कामशास्त्र उनके लिए एक निर्जीव विज्ञान मात्र नहीं था जो केवल वासनात्मक कविता करने तथा कामुक वाता-वरण उत्पन्न करने के लिए ही उपयोगी रहा हो। अतः यह स्पष्टतः सिद्ध है कि 'चतुर्भाणी' स्वयं अपने में एक समूह है तथा उसके एवं दक्षिण के अन्य भाणों के रचना-काल में समय का पर्याप्त अन्तर है। बाद के भाणों में सर्व-प्राचीन भाण तेरहवीं शताब्दी के पहले का नहीं प्रतीत होता। 'मुकुन्दानन्द' तथा 'कर्पूरचरित' की सूक्ष्म परीक्षा से यह पता चलता है कि ये दोनों 'चतुर्भाणी' तथा अन्य भाणों के बीच के संक्रान्ति-काल में रचे गये, क्योंकि इनमें कुछ विशेषता तो 'चतुर्भाणी' की तथा कुछ बाद के नाटकों की दिखायी पड़ती है। 'चतुर्भाणी' के 'पादताडितक' की रचना दश-रूपककार धनञ्जय से काफ़ी पहले ही हो चुकी थी। अतः इन सभी तथ्यों के आधार पर विद्वान्-समालोचक ए० बी० कीथ का यह मत कि कोई भी भाण ईसवी सन् १००० के पूर्व का नहीं है, असंगत सिद्ध हो जाता है। प्रोफ़ेसर टॉमस की यह धारणा युक्ति-संगत है कि 'पादताडितक' का रचना-काल जान लेने से अन्य तीनों भाणों का भी वही समय स्वतः सिद्ध हो जायगा; क्योंकि 'पादताडितक' तथा अन्य तीनों भाणों में कथ्य तथा कथन-प्रकार दोनों में पर्याप्त समानता है।

'पादताडितक' के प्रसंग में प्रोफ़ेसर टॉमस का एक अन्य संकेत भी बिलकुल न्यायसंगत प्रतीत होता है, जो साथ ही अन्य तीनों भाणों के बारे में भी समान रूप से सही है। उनका कथन है कि इन भाणों में कहीं भी मुसलमानों का उल्लेख नहीं मिलता। 'पादताडितक' में तो एक और विशेष बात है कि उसमें एक स्थान पर जब पश्चिम भारत का दृश्य चित्रित किया जा रहा है तो वहाँ गुर्जरों का कोई उल्लेख नहीं किया गया जबकि लाट-जनों का विशद विवरण दिया गया है। बाद के भाण 'मुकुन्दानन्द' में गुर्जर स्त्री-पुरुषों का बड़ा ही निन्दापूर्ण वर्णन किया गया है, किन्तु इसमें लाटों का कोई भी उल्लेख नहीं है। 'पादताडितक' में वर्णित गुप्त-वंशीय राजाओं की निन्दा यहाँ विशेष महत्त्व की बात भले ही न सिद्ध हो, लेकिन इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि समाज के उस वर्ग-विशेष के लोगों के वर्णन या उपेक्षा का, जो इन चारों नाटकों में की गयी है, बाद के भाणों में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

चतुर्भाणी की प्राचीन भाषा

इसके अतिरिक्त प्रोफ़ेसर टॉमस ने शब्दों एवं शैली के आधार पर 'चतुर्भाणी' के नाटकों को प्राचीन काल की रचना सिद्ध की है। इस प्रकार की शब्द एवं शैलीगत विशेषताएँ प्राचीन नाटकों में, विशेषतः 'मृच्छकटिक' में, प्रायः समान रूप से मिलती हैं। इनमें अश्रुत एवं अस्पष्ट शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है, जैसे 'कौरुकुची' जिसका अर्थ है विश्वासघात, 'वान्त्र' जिसका अभिप्राय है भाई-बन्धु। यहाँ युवती को सम्बोधित करने के लिए 'वारु' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका ज्ञान बाद के नाटककारों को तो बिलकुल नहीं है, मगर 'मृच्छकटिक' में, जो स्वयं उतनी ही प्राचीन रचना है, यह शब्द मिलता है। अन्यपुरुष में आदरात्मक सम्बोधन करने के लिए 'पद्मप्राभृतक' में 'देवानाम्प्रियः' का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का अर्थ बाद के

साहित्य में कुछ का कुछ ही हो गया था। नाटक के अंकों के नाम में 'मृदंग' शब्द का प्रयोग किया जाता था (पद्मप्राभृतक)। इसके अतिरिक्त इनमें व्याकरण-सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए 'कोकिला गान्ति गीतम्' वाक्य लिया जा सकता है।

इन भाणों की भाषा सर्वत्र संस्कृत है। केवल 'पादताडितक' में दो अनुच्छेद प्राकृत भाषा में मिलते हैं। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई, सरल, दैनिक व्यवहार एवं कथोपकथन के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इनकी भाषा 'वासवदत्ता' एवं 'कादम्बरी' की प्रौढ़, साहित्यिक, परिमार्जित-प्रसाधित एवं समासगर्भित भाषा से नितान्त भिन्न है। 'पद्मप्राभृतक' में विट पाणिनि के अनुयायी वैयाकरण की भाषा का मजाक उड़ाता है। उस भाषा को वह काष्ठ एवं वज्र के समान कर्ण-कटु एवं कर्कश कहता है तथा उससे बोलचाल की सरस भाषा का प्रयोग करने की प्रार्थना करता है। विट के कथन का उत्तर वैयाकरण यह देता है कि अनेक वावदूकों को परास्त करने वाली अपनी समास-बहुला भाषा को वह स्त्री की तरह मधुर एवं नाजुक नहीं बनाना चाहता; क्योंकि ऐसी भाषा में फिर वाग्मियों को परास्त करने का सामर्थ्य न रह जाएगा। दोनों पात्रों का मनोरञ्जक वार्तालाप इस प्रकार चलता है:—

विट—**प्रसीदतु भवान् नार्हस्यस्मान् एवंविधैः काष्ठनिष्ठुरैर्वागशनिभिरभिहन्तुम्। साधुव्यवहारिकया वाचा वद, अभाजनं हि वयमीदृशानां करभोद्गारदुर्भगानां श्रोत्रविष-निषेकभूतानां वैयाकरणवाग्व्यसनानाम्।**

विट के इस कथन का उत्तर वैयाकरण महोदय ने इस प्रकार दिया है:—

कथमहमिदानीमनेकवावदूकवादिवृषभविघट्टनोपार्जितामनेकधातुशतजनीं वाचमुत्सृज्य स्त्रीशरीरमिव माधुर्यकोमलां करिष्यामि?

इन भाणों की सुललित भाषा को 'अमृतमयी' कह कर प्रोफ़ेसर टॉमस ने उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

'चतुर्भाणी' के नाटकों का वातावरण, उनकी भाषा-शैली, उनका साहित्यिक सौन्दर्य, उनका स्वाभाविक हास्य, उनमें वर्णित स्त्री-पुरुष तथा ऐसे ही अन्य तथ्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और इन भाणों के रचना-काल का निर्णय करने में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि 'पादताडितक' की रचना कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन के समय या बाद के गुप्तवंशीय राजाओं के समय अर्थात् ईसा की छठीं या सातवीं शताब्दी में हुई होगी। इसके साथ ही साथ चारों भाणों की पारस्परिक समानता देखते हुए यह भी सम्यक् प्रतीत होता है कि शेष तीन भाण भी इसी युग की कृतियाँ हैं। इससे यह निष्कर्ष निकल जाता है कि 'चतुर्भाणी' के नाटकों की रचना भी संस्कृत के अन्य नाटकों के उत्कर्ष-काल में ही प्रारम्भ हो गयी थी। अतएव स्पष्ट है कि संस्कृत में एकांकी, एकपात्रीय नाटक, भाण का प्रणयन अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ; किन्तु चतुर्भाणी के बाद अन्य भाणों की रचना में शताब्दियों का व्यवधान रहा और तेरहवीं शताब्दी से ले कर पुनः हम दक्षिण में भाणों का प्रणयन देखते हैं जो कि कथावस्तु, पात्र तथा रस, नाटक के इन सभी तत्त्वों में चतुर्भाणी से पर्याप्त भिन्न एवं उनकी अपेक्षा अवस्था में अर्वाचीन हैं।

हिन्दी पर अपभ्रंश का प्रभाव

•

देवेंद्रकुमार जैन

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के आनुपूर्वी तथा पारस्परिक सम्बन्ध-विषयक नयी गवेषणात्मक प्रस्थापना तथा हिन्दी पर अपभ्रंश के प्रभाव का नयी दृष्टि से अध्ययन

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में अपभ्रंश का अत्यन्त महत्त्व है। केवल शब्दों की दृष्टि से ही नहीं, भाषा-रचना और तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों के विविध रूपों में जो हेर-फेर दिखायी देता है, वह किसी भी भारतीय भाषा के अध्ययन के लिए अनिवार्य है, क्योंकि 'अपभ्रंश' जनता की बोली थी और यह केवल पूरब में ही नहीं, देश के पच्छिम, दक्षिण, मध्य तथा उत्तर-पच्छिम भागों में भी बोली जाती थी। समय-समय पर इसमें कई प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं, जिनका मुख्य कारण यहाँ का जातीय जीवन कहा जा सकता है। विभिन्न जातियों के मेल-जोल से इस देश की भाषाओं में बहुल अन्तर आ गया है। वैदिक युग में वेदों की और अवेस्ता की भाषा में अत्यन्त साम्य था। भरत मुनि के समय में सौवीर और सिन्ध प्रदेश से ले कर गुजरात तक सामान्य रूप से एक ही बोली प्रचलित थी। जातियों के संस्कार, भौगोलिक प्रभाव तथा उच्चारण आदि के भेद से उस समय भी बोल-चाल की भाषा के कई रूप थे। फिर भी, समूचे देश में संस्कृत और प्राकृत जाति-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थीं।[1] चारों वर्णों के सभ्य लोग संस्कृत तथा प्राकृत का साहित्यिक भाषा के रूप में अध्ययन करते थे। संस्कृत मुख्य थी, प्राकृत गौण। शिष्ट जन संस्कृत के पक्षपाती थे, क्योंकि संस्कृत 'संस्कारयुक्त' भाषा थी। प्राकृत की साज-सम्हार तो बहुत हुई पर उसका 'संस्कार' कभी नहीं हो सका। किन्तु प्राकृत पर कालानुसार संस्कृत का पानी अवश्य चढ़ता रहा है। संस्कृत की समता में अपना प्रभाव अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी था कि प्राकृत का विकास संस्कृत की शैली या पद्धति पर हो; और ऐसा हुआ भी। इसीलिए आगे चल कर वैयाकरणों ने भाषाओं की 'मूल प्रकृति' संस्कृत को ही माना है।[2] जो भी हो, प्राकृत और अपभ्रंश के भाषावैज्ञानिक अध्ययन से स्पष्ट जान पड़ता है कि मूलतः ये देशी भाषाएँ हैं। जहाँ प्राकृत-साहित्य में प्राकृत भाषा स्वाभाविक रूप से चलती हुई दिखायी देती है वहाँ

वह ठेठ बोली है, पर जहाँ वह काव्यात्मक अनुबन्धों से युक्त तथा संस्कृत से प्रभावापन्न है, वहाँ कृत्रिम प्रतीत होती है। श्री रिचर्ड पिशल का मत है, "यह जनता के द्वारा बोली गयी किसी भाषा के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाय। केवल संस्कृत को ही इसका मूल समझना, जैसा कि होएकर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी आदि कई विद्वान् समझते हैं भ्रम पूर्ण है। वैदिक व्याकरण और शब्दों से सभी प्राकृत भाषाओं का नाना स्थलो में साम्य हैं, जो बातें संस्कृत में नहीं पायी जातीं।"[१]

प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किसी भी भाषा के बल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नहीं लेती है। जो भी भाषा आज विद्यमान है उसका मूल रूप अवश्य ही किसी न किसी बोली में प्रतिष्ठित रहा होगा। यही नहीं, यदि भाषाविज्ञान की दूरबीन लगा कर देखें तो बोलियों में घुले-मिले तत्त्व किसी न किसी रूप में पूर्वकालिक भाषा से मिलते-जुलते दिखायी देंगे। इसलिए भाषा की मध्य अवस्था में से किसी अन्य भाषा का स्वतन्त्र जन्म मान लेना उचित नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः तथ्य यह है कि बोली और भाषा एक साथ जन्म लेती और बढ़ती हैं। जो भाषा बन्धनों में अधिक जकड़ जाती है, उसका विकास रुक जाता है और जो बोली भाषा की पद्धति पर चलने लगती है वह धीरे-धीरे साहित्य की 'भाषा' बन जाती है। वैदिक-कालीन बोलियाँ इसी प्रकार विकसित हो कर विविध नाम-रूपों से समन्वित हुई।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख सामान्य रूप से मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु इनका मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में तथा समकालीन अन्य भाषाओं में इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। पाँचवी शताब्दी से भी पूर्व 'देशी' भाषा के रूप में 'अपभ्रंश' का पता लगता है। भरत मुनि ने इसे 'उकार-बहुला' भाषा कहा है।[४] देशी भाषा की यह प्रवृत्ति सिंधी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी और ब्रजभाषा में ही नहीं, बिहारी की 'सतसई' तथा तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में भी दिखायी देती है। यही नहीं, दक्षिण की भाषाओं में तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ में भी 'उकारान्त' प्रवृत्ति लक्षित होती है। कहा तो यह भी जाता है कि पाली भाषा में निबद्ध गाथाओं में भी उकारान्त शब्द-रूप मिलते हैं। परन्तु भाषा की जो स्पष्ट प्रवृत्ति हमें 'उकार-बहुला' के रूप में अपभ्रंश में मिलती है वह किसी अन्य भाषा में नहीं है।[५]

अपभ्रंश क्या है ?

सामान्यतः प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के बीच की कड़ी का नाम 'अपभ्रंश' है। यद्यपि अपभ्रंश का स्रोत 'प्राकृत' है पर वह स्वयं प्राकृत नहीं है। समझने के लिए हम भले ही उसे प्राकृतों का अन्तिम रूप कह लें पर प्राकृत और अपभ्रंश दोनों का विकास-निकास एक ही बोली से हुआ है। यदि इन दोनों में अन्तर कुछ है तो यही कि प्राकृत का विकास संस्कृत के साथ समानान्तर रूप से हुआ है और अपभ्रंश का लोक-साहित्य के माध्यम से। प्राकृत का साहित्य विपुल और समृद्ध है तथा उसे राज्याश्रय भी मिला पर

अपभ्रंश मे यह बात नही है। हाँ, अपभ्रंश द्वारा प्राकृत भाषा और साहित्य की परम्परा का निर्वाह होने के कारण कुछ विद्वान् प्राकृत को ही अपभ्रंश कहते हैं।[६] वस्तुतः यह आभीरी भाषा थी। आचार्य भामह ने इसकी पहिचान 'आभीरादि वचन'[७] से करायी है। 'नाट्यशास्त्र' में भी इसका संकेत मिलता है।[८] 'प्राकृतचन्द्रिका' और 'प्राकृतसर्वस्व' में 'आभीरी' नामक प्रदेशीय भाषा का उल्लेख है।

छठी सदी से ले कर सोलहवीं तक इस देश में अनेक प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित रही है। व्याकरण, काव्य तथा नाटक-ग्रन्थों में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। सम्भवतः चौथी शताब्दी से लोक-भाषाओं में रचना होने लगी थी। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र', मार्कण्डेय के 'प्राकृतसर्वस्व' एवं काव्यादर्श,' 'काव्यालंकार', 'षड्भाषा-चन्द्रिका' तथा 'काव्यमीमांसा' आदि ग्रन्थों मे भाषाओं और विभाषाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु अभी तक प्राप्त प्रमाणों से यह निश्चय नहीं हो पाया है कि आभीर-प्रदेश कहाँ था। फिर भी, हम मध्य देश या उसके निकटवर्ती प्रदेश को ही आभीर-प्रदेश मान लेते हैं।

आचार्य मार्कण्डेय ने 'मध्य देश' और गुजरात के बीच किसी प्रदेश को 'आभीर'[९] कहा है। 'आभीर जाति' का सम्बन्ध' अहीर' से है। पहले ये क्षत्रिय थे। यादव वंश के क्षत्रिय आगे चल कर 'अहीर' कहे गये हैं। यदुवंशी क्षत्रियों का जन्म 'आहुक' से हुआ कहा जाता है। 'आहुक' श्रीकृष्ण के वंशज थे। 'बृहत्संहिता' में 'कोङ्कण' को 'आभीर' कहा गया है।[१०] आभीर जाति किसी समय उत्तर-पच्छिम से ले कर पूरब-दक्खिन तक फैली हुई थी। इसी प्रादेशिक भिन्नता के कारण अपभ्रंश भाषा के कई रूप थे।

अपभ्रंश : देशीभाषा

भरत मुनि (चतुर्थ शताब्दी) से ले कर सोलहवीं सदी तक बराबर आचार्य, कवि तथा आलंकारिक 'देशीभाषा' का उल्लेख करते रहे हैं। 'नाट्यशास्त्र' में जाति-भाषा के साथ ही 'विभाषा' के रूप में देशीभाषा का पूरा विवरण मिलता है।[११] अपभ्रंश के प्रायः सभी कवियों ने इसे 'अपभ्रंश' या 'भाषा' न कह कर देशी ही कहा है। तथाकथित आदि कवि स्वयम्भू, पद्मदेव, लक्ष्मणदेव, पादलिप्त, उद्योतन और कोऊहल आदि सभी इसे देशी कहते हैं।[१२] इसी परम्परा में, आगे चल कर विद्यापति ने 'देसिलवअना' कह कर इसका स्मरण तथा प्रयोग किया है।[१३]

प्राचीन आचार्य और वैयाकरण इसमें एक मत हैं कि संस्कृत को छोड़ कर सब कुछ प्राकृत है। इसलिए आज भी महाराष्ट्र में मराठी को 'देशी' या 'प्राकृत भाषा' कहने का चलन है। मराठी के प्रसिद्ध सन्तों ने भी अपनी भाषा को 'देशी' कहा है।[१४] वस्तुतः वैदिक भाषा तथा परम्परागत भाषाओं में ही नहीं, आर्मेनियन, ग्रीक, लेटिन, फ़ेञ्च आदि में भी बोलियाँ सुरक्षित हैं। प्राकृत-भाषा का व्याकरण लिखने वालों ने स्पष्ट रूप से तीन प्रकार के शब्दों का अभिधान किया है—तत्सम, तद्भव और देशी।[१५] यही नहीं, शब्दों का निर्वचन तथा अनुशासन करने के लिए सभी को लोक-भाषा का आश्रय लेना पड़ा है। प्राकृत-व्याकरणों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[१६] मार्कण्डेय ने तो यहाँ तक कहा है कि देशी भाषाओं का कोई अन्त ही नहीं है।[१७] देशी भाषाओं मे सपृक्त होने के कारण अपभ्रंश के भी चौथी शताब्दी में अनन्त रूप थे।

यद्यपि अपभ्रंश का भाषा के रूप में प्राचीनों ने स्वतन्त्र रूप से प्रत्याख्यान एवं निर्वचन किया है, किन्तु प्रायः सभी ने प्राकृतभाषाधिकार के अन्तर्गत उसका प्रतिपादन किया है। इससे प्राकृत और अपभ्रंश की एकरूपता का पता लगता है। जब इस देश में 'देशी' को 'भाषा' कहने का चलन व्यापक हो गया था, तब अपभ्रंश-रचनाओं को भी 'भाषा-रचना' कहा जाने लगा था। सम्भवतः तब 'भाषा' को 'भाखा' कहते थे। कबीरदास ने इसका निर्देश भी किया है।[१८]

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास में अपभ्रंश का महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है। भारत की अधिकांश भाषाओं का विकास अपभ्रंश की विभिन्न धाराओं से हुआ है। उदाहरण के लिए: महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोङ्कणी; मागधी अपभ्रंश की पूर्वीय शाखा से बँगला, उड़िया और असमी तथा पश्चिमी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरी; अर्धमागधी अपभ्रंश से हिन्दी की पूर्वी भाषाएँ अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी; शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रज, बाँगरू और खड़ीबोली; नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाती, मारवाड़ी, जयपुरी और गुजराती; टाक्की अपभ्रंश से लहँदा और पञ्जाबी; एवं पैशाची अपभ्रंश से कश्मीरी और सिन्धी। वस्तुतः अपभ्रंश के उक्त प्रादेशिक रूप अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थे। किन्तु जब उनमें भेद अधिक आ गया तब उनका नामकरण किया गया। इसलिए ऐकान्तिक रूप से अपभ्रंश से सभी भारतीय आर्य-भाषाओं का जन्म मान लेना असंगत प्रतीत होता है।

प्राकृत, संस्कृत का विकृत रूप नहीं

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राकृत संस्कृत का ही विकृत रूप है। इसके प्रमाण में वे वैयाकरणों का विवरण देते हुए 'संस्कृतं प्रकृतिः' का उल्लेख करते हैं। किन्तु प्राकृत निश्चित रूप से वैदिककालीन भाषा है। तब वह सामान्य जनसाधारण की बोली (dialect) थी। संस्कृत बाद में ही नहीं, पहले भी केवल शिष्ट जनों की ही भाषा थी। कश्मीरी शैव सम्प्रदाय में प्राकृत-भाषा को विशेष सम्मान प्राप्त था। यह पालि के रूप में केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय की ही भाषा नहीं थी, वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चण्डाल आदि से ले कर राज-दरबार और रनिवास तक में बोली जाती थी। यही कारण है कि नाटककारों को विवश हो प्राकृत को स्थान देना पड़ा है—भले ही उन्होंने नीच पात्रों के मुख से ही उसे कहलाया हो। प्राकृत मीठी बोली थी, क्योंकि वह जनता में भली भाँति घुल-मिल गयी थी। पं० राजशेखर के समय तक प्राकृत में मिठास बनी हुई थी। प्राकृत की यह परम्परा बहुत बाद तक मिथिला में बनी रही है। विद्यापति के गीतों में उसी का पानी चढ़ा हुआ है। उनकी 'कीर्तिपताका' देशी भाषा में और 'कीर्तिलता' अवहट्ठ में निबद्ध हैं। पूरबी भाषाओं पर ऐसी रचनाओं का बहुत प्रभाव रहा है।

कश्मीरी शैवागम को देखने से पता लगता है कि उसमें प्राकृत भाषा और धर्म का अत्यन्त महत्त्व था। श्री महेश्वरानन्द ने प्राकृत और अपभ्रंश का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[१९] स्पष्ट है कि संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ वैयाकरणों की दृष्टि में अपभ्रंश हैं। प्राकृत भी अपभ्रंश है और अपभ्रंश प्राकृत होने से अपभ्रंश है। यद्यपि प्राकृत का मॉडल संस्कृत का है पर वह संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई है। जिस समय तक वैयाकरणों ने प्राकृत का व्याकरण नहीं लिखा था तब तक वह जन-बोली ही थी। फिर, वैयाकरण भाषा के विकास को 'विकार' कहते हैं।

भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इस परिवर्तन को आज तक न तो कोई रोक सका है और न रोक सकेगा। महर्षि पाणिनि ने भाषा-सम्बन्धी यही सबसे बड़ा कार्य किया था। किन्तु अन्त में उन्हे भी 'पृषोदरादि गण' बना कर यह काम छोड़ देना पड़ा था। कालिदास, हर्ष जैसे महाकवियों की रचनाओं में भी अनेक व्याकरणिक अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। इतना ही नहीं, संस्कृत भाषा में असीरियाई, मिस्री, चीनी तथा लोक-भाषा आदि से बहुत-से शब्द ग्रहण किये गये हैं। यथार्थ में किसी भाषा में अन्य भाषा के शब्दों के आ जाने से उसका महत्त्व घटता नहीं है, बढ़ ही जाता है, क्योंकि सजीव भाषा में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अन्य भाषाओं के शब्द-रूपों को आत्मसात् कर सके, अपनी प्रकृति में ढाल सके। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत और अपभ्रंश में यह क्षमता अधिक दिखायी देती है। फिर, प्रकृति के अनुकूल परिवर्तन कर लेना भाषा का विशेष गुण माना जायगा। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका, गोपोता आदि शब्द-रूपों को देख कर क्रोध से सन्दीप्त हो 'अपभ्रंश' नाम दे डाला।[२०] संस्कृत के प्राय: सभी कोशकारों ने उनके इस प्रमाण को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है।[२१] विद्वानों ने अपभ्रंश को भाषा के रूपों में बहुत बाद में माना है। पहले 'अपशब्द' कह कर ही इसका प्रत्याख्यान किया जाता था। आचार्य व्याडि से ले कर भट्टोजी दीक्षित तथा लक्षणग्रन्थकारों तक सभी ने शब्द-संस्कार से हीन होने के कारण ही इसे 'अपभ्रंश' नाम दिया है।[२२] किन्तु शब्दों का स्वभाव है बदलते जाना। इसी को संग्रहकार ने 'शब्दप्रकृतिरपभ्रंश.' कह कर वस्तुगत तथ्य का प्रकाशन किया था। वस्तुत: वैयाकरणों को इस बात का बड़ा खेद था कि लोक में 'अपशब्द' बहुत हैं और शब्द थोड़े। यही नहीं, शब्द भी अपशब्द बनते जाते हैं। कौण्डिनि भट्ट तथा नागेश ने इसका विस्तार से विवेचन किया है।

क्या संस्कृत हिन्दी की जननी है?

मैं इस बात को ऊपर कह चुका हूँ कि संसार की कोई भी भाषा किसी अन्य बोली को जन्म देने में समर्थ नहीं है। फिर, संस्कृत जो कि अपने सजीव रूप को खो चुकी है, कैसे हिन्दी को जन्म दे सकती है? लेकिन अभी तक अधिकांश शिक्षित लोग हिन्दी का जन्म संस्कृत से मानते चले आ रहे हैं। यों तो अपभ्रंश भी हिन्दी की जननी नहीं है पर देशी शब्द-रूप, सर्वनाम, क्रिया-पद और वाक्य-रचना को ध्यान से देखने पर यह सहज में ही अनुमान हो जाता है कि मेरठ के आस-पास की बोली के 'खड़े' होने में अपभ्रंश का बहुत कुछ हाथ रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि खड़ीबोली की प्रकृति तथा प्रवृत्तियाँ परम्परा से चली आने वाली वृत्तियों से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, लिंग की गड़बड़ी, परसर्गों का विकास, विशेषण-विशेष्य में लिंग-सम्बन्धी अनुशासन का अभाव, कृदन्त क्रियाओं की व्यापकता तथा भाववाचक पण् और त्तण और स्त्रीलिंग-बोधक ई आदि नये प्रत्ययों का चलन भाषा-सम्बन्धी ऐसी उपलब्धियाँ है जो संस्कृत में नहीं पायी जाती।

अपभ्रंश छठीं सदी के लगभग पच्छिम-उत्तर प्रदेश की बोली थी। इसका विकास पच्छिम से पूरब की ओर हुआ है। साहित्य की भाषा बन जाने पर यह समूचे मध्य देश और गुजरात में फैल गयी थी। दक्षिण के कुछ भागों में भी सम्भवत: यह व्यवहृत होती थी। इसमें

तत्कालीन भाषागत प्रायः सभी रूपों के उदाहरण दिखायी देते हैं। अपभ्रंश का उपलब्ध साहित्य प्राकृत के समान मधुर तथा काव्यात्मक सौन्दर्य से अनुरञ्जित है। भाषा की मधुरता के कारण इसका फैलाव मध्य देश के चारों ओर दूर-दूर तक था। इसीलिए अपभ्रंश में यदि एक ओर पैशाची और राजस्थानी शब्दों की बहुलता है तो दूसरी ओर गुजराती, मालवी और मराठी की। यह नहीं कहा जा सकता है कि मुस्लिम-युग में भाषाओं की स्थिति वियोगात्मक थी इसलिए कि सभी प्रादेशिक भाषाओं से अपभ्रंश ने कुछ न कुछ ग्रहण कर लिया था, क्योंकि बहुत समय पहले ही वाग्भट स्पष्ट निर्देश कर चुके थे कि पृथक्-पृथक् प्रदेशों में बोली जाने वाली शुद्ध बोली अपभ्रंश कही जाती है।[२३] अतएव लोक-बोलियों में अपभ्रंश की विविध धाराओं के बीज ढूंढे जा सकते हैं। केवल भाषा में ही नहीं, अपभ्रंश-साहित्य में भी विभिन्न प्रादेशिक लोकगीत तथा शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए, मराठी के ढवलगीत और पवाड़ा तथा लावनी, फाग, बारहमासा एवं चचारी आदि उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में परसर्गों का विकास स्पष्ट रूप से प्राकृत और अपभ्रंश के प्रत्ययों से सम्बन्धित है। सम्बन्ध कारक में अपभ्रंश में **अप्पहो** और **अप्पकेरको** दो रूप बनते हैं। **केर** की भाँति **तण** प्रत्यय भी अपभ्रंश में व्यापक रहा है। अवधी तथा छत्तीसगढ़ी में आज भी इन प्रत्ययों से बने हुए बहुत से शब्द-रूप प्रयुक्त होते हैं। 'वीसलदेवरास' में **क, का, कइ, तणा, रा** आदि सब तरह के प्रयोगों का समावेश है। गुजराती में भी **तणा** प्रत्यय प्रयुक्त होता है। श्री किशोरीदास वाजपेयी बँगला के **एर** प्रत्यय से इसका विकास मानते हैं। किन्तु बँगला के कई प्रत्यय तथा सर्वनामों का विकास अपभ्रंश से माना जा सकता है। अपभ्रंश में **डार** प्रत्यय लगा कर **अम्हार, तुम्हार** आदि रूप बनते हैं। बंगला का **आमार**, गुजराती का **म्हेर**, राजस्थानी का **म्हारा** आदि अपभ्रंश-प्रत्ययों से विकसित हुए हैं।[२४] अवधी में **कर**, भोजपुरी में **क**, असमिया में **र** और छत्तीसगढ़ी में **के** एवं **कर** तथा राजस्थानी में **रा** को अपभ्रंश के **केर** का अंश माना जा सकता है। 'रामचरितमानस', 'पद्मावत' और कबीर की रचनाओं में स्पष्ट रूप से **केर** या **केरा** प्रत्यय मिलता है।[२५] अपभ्रंश का **काँइ (क्यों)** यदि राजस्थान और मालवा में प्रचलित है तो **कवण (कवण > कवन > कउन > कौन)** पूरब तथा उत्तर में। यदि हिन्दी संस्कृत से बनी होती तो ब्रज के **हो**, खड़ीबोली के **मैं, वह, जो, सो, कोई, मुझ, तुझ, हम** तथा बँगला के **आमार, तोमार,** और राजस्थानी के **म्हारा, थारा** आदि सर्वनामों को तथा वाक्य-रचना-विधान को संस्कृत से मिलता-जुलता होना चाहिए था, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं, उल्टे वह अपभ्रंश से बहुत-कुछ मिलता है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं में विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ बनाने के लिए अलग-अलग प्रत्ययों का उपयोग हुआ है। प्राकृत में संस्कृत के **ता** के स्थान पर **आ** होता था, इसलिए **पीनता** को **पीणआ** बोला जाता था। कहीं-कहीं इसे **पीणदा** कर देते थे। इसी प्रकार **पीनत्वम्** के तीन रूप बनते थे—**पीणत्तं, पीणत्तणं, पीणिमा**। अपभ्रंश में इनके कई रूप मिलते हैं। **तण** की भाँति **त्तण, त्तणं, त्तणेण** तो व्यापक थे ही, पर **इम, त्तणु, त्तणेण** और **प्पणु** आदि का भी प्रचलन था। अपभ्रंश के **प्पणु** प्रत्यय से ही हिन्दी के भाववाचक **पन** प्रत्यय का विकास हुआ है।[२६] ऐसे कई प्रत्ययों की लम्बी सूची दी जा सकती है। यह एक तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

केवल हिन्दी भाषा पर ही नहीं साहित्य पर भी अपभ्रंश का बहुत प्रभाव है। मराठी, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में निहित है। 'भाखा' में निबद्ध कई रचनाओं के बारहमासे, षड्ऋतु-वर्णन, चरित-वर्णन, रासो, फागु आदि की विविध शैलियाँ हमें परवर्ती जायसी, तुलसीदास, सूरदास, विद्यापति आदि की रचनाओं में लक्षित होती हैं। सूरदास का भ्रमर-गीत शैली की दृष्टि से 'सन्देश-रासक' से प्रभावित जान पड़ता है। सम्भव है कि वे शैलियाँ उनके समय लोकगीतों के रूप मे प्रचलित रही हों। सूर में ही नहीं, घनानन्द तथा स्वच्छन्द-धारा (रीति-मुक्तक) के कवियों मे लोकोक्ति एवं व्यंग्यमूलक वचन-वक्रता पद-पद पर दिखायी देती है। सन्देश-रासककार की भाँति सूर की रचनाओं में भी शास्त्रीय और लौकिक दोनों प्रकार की शैलियों का सुन्दर मेल दिखायी देता है।[२६] यही बात जायसी के 'पदमावत' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। 'पदमावत' की रचना 'मसनवी' शैली में न हो कर अपभ्रंश की 'कडवक' शैली में हुई है। यही पद्धति 'रामचरित-मानस' में दिखायी देती है।

हिन्दी और अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में काव्य-रूढ़ियाँ समान रूप से व्यवहृत हैं। वर्णन-शैली में भी बहुत कुछ समानता लक्षित होती है। प्रतीक-विधान के भी इस साहित्य में जो बहुत पहले प्रयोग में आ चुके थे वे बाद में हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश के प्रतीकों में शरीर के बोधक चरखा, पिंजरा, काँच, मोम आदि मुख्य हैं। सुआ, हंस, पंछी आदि आत्मा के प्रतीक थे। कालान्तर में इन प्रतीकों को कबीर, जायसी तथा सन्त कवियों ने निर्बन्ध रूप से अपनाया है। इसी प्रकार अनेक लौकिक उपमान, जो केवल प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य में प्राप्त होते हैं, हिन्दी-साहित्य में दिखायी देते हैं। वस्तुत: अपभ्रंश का साहित्य शास्त्रीय और लौकिक दोनों परम्पराओं के बीच का है। हिन्दी का सिद्ध-साहित्य तो निश्चित रूप से अपभ्रंश का है। यही नहीं, प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती तथा उनके साहित्य अपभ्रंश हैं। नीचे लिखे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश-कवियों के कई भावों को हिन्दी कवियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। यथा :—

पर रमणीयण रूव भर पिक्खिवि जे विहसंति।
राग निबंधण ते नयण जिण अम्मिण नहु हुंति॥
(—सज्जममञ्जरी, १५)

तुलना कीजिए :—

पर योषित परसे नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय तक्कत रैन दिन, ते हारे जग बीच॥
(—पृथ्वीराजरासो)

इसी प्रकार :—

जे मइँ दिण्णा दिअहडा, दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउ, जज्जरि आउ णहेण॥
(—आ० हेमचन्द्र)

मिलान कीजिए :—

सखि मोर पिया अजहुँ न आओल कुलिश-हिया।
नखर खो आयलु दिवस लिखि-लिखि,
नयन अँधायलु पिय - पथ पेखि।
(—विद्यापति)

इसी प्रकार 'सन्देशरासक' और 'रामचरितमानस' में वर्षा-वर्णन की बातें समान हैं। 'सन्देशरासक' में उक्ति है—हे प्रिय! मेरा हृदय रत्न-निधि है। तुम्हारा गुरु विरह-मन्दराचल उसे मथा करता है। उसने उसे मथ कर सम्पूर्ण सुख-रत्न निकाल लिये हैं।'[२८] यह भाव 'मानस' में प्रकारान्तर से दो स्थलों पर मिलता है।[२९] 'भविसयत्तकहा' में वर्णित भाव और शैली के भी दर्शन उसमें होते हैं। उदाहरण के लिए :—

सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम गयपयहिणंति उड्डेवि साम।
वामंगि सुत्ति रुहुरुहइ वाउ पियमेलावउ कुलुकुलइ काउ॥
वामउ किलिकिंचिउ लावएण दाहिणउ अंगु दरिसिउ मएण।
दाहिणु लोयणु फंदइ सबाहु णं फणइं एण मग्गेड जाहु॥
(—भ० क०, ४।५)

तुलना कीजिए :—

दाहिन काग सुखेत सुहावा, नकुल दरसु सब काहूँ पावा।
सानुकूल बह त्रिविध बयारी, सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा, सुलभी सनमुख सिसुहि पिआवा।
मृगमाला फिरि दाहिनि आई, मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥
(—मानस, बालकाण्ड, ३०३)

इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ 'मानस' तथा अपभ्रंश-रचनाओं में ढूँढ़ी जा सकती हैं। कहीं-कहीं वर्णन-साम्य भी दिखायी देता है। 'सन्देशरासक' की नायिका पथिक से कहती है कि प्रिय से कहना कि तुम्हारे प्रवास का फल मुझे विरह की अग्नि के रूप में प्राप्त हुआ है। तब भी तुम चिर काल तक वरदान-स्वरूप जीवित रहो। यहाँ तो एक-एक दिन वर्ष तुल्य बीतता है।[३०] यह भाव भ्रमरगीत और घनानन्द-कवित्त में भी मिलता है।[३१]

इस प्रकार परवर्ती परम्परा के सूर, तुलसी, जायसी और घनानन्द तथा देव, सेनापति आदि कवियों की रचनाओं में परम्परागत कई बातें प्रभाव-रूप में प्राप्त होती हैं। अभी तक भाषा और शैली की दृष्टि से हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों का गम्भीर अध्ययन नहीं हो सका है। उसका मुख्य कारण यही कहा जा सकता है कि पारिपार्श्विक प्रवृत्तियों का आलोचन एवं अध्ययन भली भाँति हुआ ही नहीं है। अपभ्रंश-साहित्य की उपलब्ध रचनाओं में से अधिकांश नयी-नयी शैलियों में आबद्ध हैं। उनमें वर्णन भाषा के बीच चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भाषा सरल तथा व्यंग्य एवं ध्वनि से भरपूर है। अकेले महाकवि पुष्पदन्त के 'महापुराण' तथा 'जसहरचरिउ'

मे कई प्रकार की लोकगत गेय काव्य की शैलिया लक्षित होती है प्रबन्ध-काव्य मे सवाद योजना चरित्र चित्रण तथा वणन की सजीवता के लिए विभिन्न शलिया का अपनाना आवश्यक ही नह अनिवार्य भी है।

भाषा और साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि हिन्दी साहित्य के आदि काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश-काव्य-धारा से विकसित हुई हैं। उनमें जो भी हेर-फेर हुए है वे कुछ समय के लिए ही हो कर रह गये हैं। वस्तुतः वे प्रवृत्तियाँ आज तक क्रियाशील हैं पर उनका ढाँचा बदल गया है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य ने रिक्थ में जो भी प्राप्त किया है वह वस्तु के तल में आज भी झलमलाता दिखायी देता है। जिस प्रकार प्राचीन युग में परिस्थितियों की परवशता के कारण प्राकृत ने संस्कृत की चादर ओढ़ ली थी, उसी प्रकार आधुनिक युग में भी सो कर उठी हुई हिन्दी ने संस्कृत का पल्ला कस कर पकड़ लिया है और अब वह दूसरे हाथ में न जाने क्या-क्या धारण किये हुए है। किन्तु उसका पुराना साहित्य जिस बढ़ी-चढ़ी दशा में आरम्भिक काल में था और उससे भी बढ़ कर वह भक्ति-काल में था वह उतना अच्छा रीति-काल में नहीं रहा और तब से अब तो बहुत कुछ बदल गया है। इसका एक मात्र कारण परम्परा से हट कर शास्त्रीयता की ओर बढ़ना है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी प्राकृत-साहित्य आलकारिकता की ओर बढ़ा है, आम जनता से उसका सम्बन्ध हटता गया है और इसीलिए अपभ्रंश ने अपने चरण उसके स्थान पर जमा पाये थे। और तब से बराबर सोलहवीं-सत्रहवीं सदी तक अपभ्रंश की रचनाएँ लिखी जाती रहीं। उसके बाद की अनेक अपभ्रंश-मिश्रित रचनाओं का पता लगता है।

संक्षेप में, हिन्दी भाषा और साहित्य के पनपने में अपभ्रंश का अत्यधिक योग रहा है। हिन्दी की मध्यकालीन विविध काव्य-पद्धतियाँ पारस्परिक रूप से अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यो से विकसित हुई हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि अपभ्रंश के प्रवन्ध-काव्य संस्कृत के नियमों से अनुशासित नहीं हैं। उनका प्रणयन निर्बन्ध रूप में हुआ है, और वही प्रवृत्ति हिन्दी के 'पदमावत', 'रामचरितमानस' आदि में दिखायी पड़ती है। यही नहीं, आदि काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ भक्ति-काल और रीति-काल में भी मिलती हैं। यदि हम इन्हें लोक-प्रचलित विशेषताएँ एवं शैलियाँ मानते हैं तो वे भी अपभ्रंश की सिद्ध होती हैं, क्योंकि मूलतः अपभ्रंश-भाषा और साहित्य ने जो कुछ भी ग्रहण किया है वह अधिकांशतः लोक-परम्परा का था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि जन-रुचि के अनुसार उसके ढाँचे में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है और ऐसा हुआ भी है। हिन्दी भाषा और साहित्य की वास्तविक जानकारी के लिए इसका सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। ●

टिप्पणियाँ

१. संस्कारपाठ्यसंयुक्ता सम्यङ्न्याय्यप्रतिष्ठिताः।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृताः॥ (—नाट्यशास्त्र, १७।२८)

२. प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। (—सिद्धहेमशब्दानुशासन, १।१)
कृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (—मार्कण्डेय: प्राकृतसर्वस्व, १।१)
कृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्। (—धनिक : दशरूपक की टीका, २।६०)

संस्कृतादागत प्राकृतम। (—सिद्धदेवगणिन की टीका २।२
. संस्कृतम्। तत्र भवत्वात्प्राकृतं स्मृतम्। (—प्राकृतचन्द्रिका, पीटर्सन की तीः
, ३४३।७)। प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (—नरसिंह: प्राकृ
दीपिका)। प्राकृतस्य तु सर्व एव संस्कृतं योनिः। (—वासुदेव: कर्पूरमञ्जरी की संजीवि
प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (—लक्ष्मीधर: षड्भाषाचन्द्रिका, २५
त्प्राकृतं इष्टं ततोऽपभ्रंशभाषणम्? (—रसिकसर्वस्व: गीतगोविन्द की नाराय
५।२।२)।

३ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण: मूल—रिचर्ड पिशल, अनु०—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ०

४ हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥ (—नाट्यशास्त्र, १७।६२)

५ विशेष विवरण के लिए, दे० 'है और था' शीर्षक मेरा लेख, 'त्रिपथगा', अक्तूबर व
पृ० २७–३१।

६ तथा प्राकृतमेवापभ्रंश। (—नमिसाधु: रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार की टीका, २।१२

७. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥ (—काव्यालंकार, १।३६)

८ मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः॥
(—भरतमुनि: नाट्यशास्त्र, १७।४९

शकाराभीरचण्डाल शबरद्रमिलान्ध्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥ (—वही, ५०)
गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी वनचारिषु॥ (—वही, १७।५६)

आचार्य भामह ने जिसे 'आभीरादिवचन' कहा है वह सम्भवतः 'आभीरोक्ति'
आभीरविभाषा' और 'आभीरोक्ति' एक ही हैं।

९. वाचडो लाटवैदर्भा उपनागरनागरी।
वार्बराऽवन्त्यपाञ्चालटाक्कमालवकैकयाः।
गौडोड्रावैव पाश्चात्य पाण्ड्य कौंतल सैंहलाः।
कालिंग्य प्राच्य कार्णाट कांच्य द्राविड गौर्जराः।
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदा व्यवस्थिता। (—प्राकृतसर्वस्व, प्रथम अध्याय)

१० कोङ्कणाऽऽभीराः। (—बृहत्संहिता, १४।१२)।

११ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्।
भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगत॥ (—भरतमुनि १७।२६)

१२. देखिए, 'पाहुड़दोहा' की भूमिका : डॉ० हीरालाल जैन।

१३. देसिलवअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा। (—कीर्तिलता)।

१४. देखिए, प्रो० भी० गो० देशपांडे-लिखित मराठी का भक्ति-साहित्य।

१५. इह प्राकृत शब्दास्त्रिधा। संस्कृतसमाः संस्कृतभवा देश्याश्चेति। (—सिंहराज : प्राकृतरूपावतार)।

१६. सिद्धिर्लोकाच्च। प्राकृतशब्दसिद्धिर्लोकाद्भवति। (—प्राकृतरूपावतार, १।१।२; षड्भाषाचन्द्रिका, १।१।१; प्राकृत शब्दानुशासन, १।१; प्राकृतमणिदीप, १।१।१)।

१७. संस्कृतं प्राकृतं चैव गीतं द्विविधमुच्यते।
अपभ्रष्टं तृतीयं तु तदनन्तं नराधिप।
देशभाषाविशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते। (—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३।२।१०–११)

१८. कबिरा संसकिरत कूपजल, भाखा बहता नीर।

१९. इह हि विद्यायां त्रिष्वपि बीजेष्ववस्था तृतीयमस्ति सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात् प्राकृतभाषाविशेषत्वाच्च यथासम्प्रदायं व्यवहार इत्युपदेशः इति। तथा संस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वापि भाषापभ्रंशाः। शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोच्यते। (—महार्थमञ्जरी, १९२।३)।

२०. भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः। (—महाभाष्य, अ० १। पा० १। आ० १)।

२१. अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयोः। (—विश्वप्रकाश, ३०।३७)।
अपभ्रंशस्तु पतने भाषाभेदापशब्दयोः। (—मेदिनी, ३०।३१)।
अपभ्रंशोऽपशब्दः स्यात्। (—अमरकोष, १।६।२)।
अपभ्रंशो भाषाभेदाऽपशब्दयोः। (—अनेकार्थसंग्रह, ४।३२३)।

२२. कः पुनरपभ्रंशोनामेत्यत आह—
शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
(—भर्तृहरि : वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १४८)

२३. अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। (—वाग्भटालंकार, २।३)।

२४. विशेष जानकारी के लिए देखिए 'हिन्दी परसर्गों का विकास' शीर्षक लेख, सप्तसिन्धु, दिसम्बर, ६१ का अंक, पृ० १०–१४।

२५. बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर मनि ढेरी॥
(—अयोध्याकाण्ड, ११३।३)

निठुर होइ जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डर आवा॥
(—)

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात। (—कबीरदास)

२६. देखिए, "अपभ्रंश के 'प्पणु' और 'तण' प्रत्यय" शीर्षक मेरा लेख, **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, वर्ष ६५, अंक ४। राजस्थानी और डिंगल में यह 'पण' रूप में प्रयुक्त हुआ है। यथा :—

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी॥ (—पृथ्वीराज)

२७. विस्तृत विवरण के लिए 'सूरदास का भ्रमरगीत और सन्देशरासक' नामक लेख, 'साहित्य सन्देश', जून १९६० के अंक में द्रष्टव्य है।

२८. मह हियय रयणनिही महियं गुरु मन्दरेण तं णिच्चं।
उम्मूलिय असेसं सुहरयण कड्ढियं च तुह पिम्मे॥ (—सन्देशरासक, ११९)

२९. पेम अमिअ मन्दरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥
(—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २३८)

तथा—

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर ग्यान सन्त सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहिं॥ (—वही, उत्तरकाण्ड, १२०)

३०. फलु विरहग्गि पवासि तुअ, पाइय अम्हिहि जाइ वियह भणु।
चिरु जीवन्तउ लद्ध वरु, हुअउ संवच्छर तुल्लउ इक्कु दिणु॥
(—सन्देशरासक, ११४)

३१. चिरंजीव रहौ, सूरनन्दसुत, जीवत मुख चितए। (—भ्रमरगीतसार, ३५८)
नित नीके रहौ, तुम्हें चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजिये जू। (—पद, ६८)

अध्यात्म-रामायण : परम्परा एवं प्रभाव

●

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

राम-भक्ति-परम्परा के भागवत—अध्यात्म-रामायण पर भागवत एवं अन्य पुराणों के प्रभाव का अनुसन्धानपूर्ण अध्ययन एवं विश्लेषण

राम-भक्ति और राम-कथा के विकास की दृष्टि से 'अध्यात्म-रामायण' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। उत्तरवर्ती राम-साहित्य पर जितना प्रभाव इस ग्रन्थ का है, सम्भवतः वाल्मीकि-कृत 'रामायण' को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं। अनेक सन्दर्भों में इसका विविध राम-सम्बन्धी रचनाओं पर प्रभाव स्पष्ट है और कथा से पृथक् भक्ति की पृष्ठभूमि पर वाल्मीकि-कृत 'रामायण' के तुल्य ही इसका भी व्यापक प्रभाव है। उत्तरवर्ती संस्कृत ग्रन्थों पर ही नहीं, आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं की कृतियों पर भी इसका प्रभाव अक्षुण्ण है। इस स्थिति में राम-कथा के समग्र अध्ययन के लिए इसका विशद विवेचन अपेक्षित है। यह साम्प्रदायिक रामायणों में अन्यतम है। इसके रचना-काल और रचयिता-सम्बन्धी खोज की आवश्यकता की ओर राम-कथा के वरिष्ठ आलोचकों ने ध्यान आकृष्ट किया है।[1] लेकिन अभी तक पूरी सतर्कता के साथ इस कृति-सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य नहीं किया गया। प्रस्तुत निबन्ध में 'अध्यात्म-रामायण' के रचना-काल एवं रचयिता पर विहंगम दृष्टि डाल कर अब तक के समस्त तत्सम्बद्ध अध्ययन-अन्वेषण के आधार पर इस ग्रन्थ की परम्परा का विवेचन एवं इसके प्रभावों का निरूपण किया जायगा।

परम्परा के अनुसार 'अध्यात्म-रामायण' 'ब्रह्माण्डपुराण' का एक भाग माना जाता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में उपलब्ध माहात्म्य सर्ग 'ब्रह्माण्डपुराण' के उत्तरखण्ड से सम्बन्धित बतलाया जाता है, जिसका उल्लेख स्वतः इस भाग में उपलब्ध है। लेकिन 'ब्रह्माण्डपुराण' के अब तक के उपलब्ध किसी भी पाठ में (प्रकाशित अथवा पाण्डुलिपि) यह 'अध्यात्म-रामायण'-प्रसंग नहीं मिलता और न 'नारदीय पुराण' में उल्लिखित 'ब्रह्माण्डपुराण' की सूची में ही इसका कोई स्थान है। इसीसे विद्वानों ने इसके बारे में अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'ब्रह्माण्डपुराण'

मे परिगणित विकीर्ण भागों को बाद की रचना माना है और उनकी आधुनिकता की पुष्टि करते हुए उन्हें तथाकथित महापुराणों के नामों से जुड़े हुए उपपुराणों से सम्बन्धित बतलाया है। इन्हीं मे से एक भाग 'अध्यात्म-रामायण' भी है।[२] डॉ० रामकृष्ण भण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शैविज़्म, वैष्णविज़्म ऐण्ड माइनर रेलिजस सेक्ट्स' में मराठी-कवि एकनाथ के आधार पर इसको प्राचीन शैली में लिखी गयी आधुनिक कृति माना है, क्योंकि सोलहवीं शती के 'भावार्थ-रामायण' के रचयिता ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि 'अध्यात्म-रामायण' एक आधुनिक रचना है।[३] लाला बैजनाथ ने अपने 'अध्यात्म-रामायण' के संस्करण की भूमिका में इसके भाषा-वैदग्ध्य, वेदान्त-दर्शन और भक्ति-पथ की अभिव्यक्ति की प्रशंसा की है। इस ग्रन्थ में लक्षित तांत्रिक प्रभाव तथा इसकी भाषा और विचार-धारा की भंगिमा के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने इसे 'श्रीमद्भागवत' के उपरान्त की रचना माना है और स्वयं 'भागवत' को वैष्णव सम्प्रदाय में की गयी रचना कह उसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दी ठहराया है।[४] लाला बैजनाथ की यह धारणा पूर्वग्रहपूर्ण और अवैज्ञानिक थी। सामान्यतया पुराण-साहित्य के अध्येताओं ने भागवत का समय आठवीं-नवी शताब्दी माना है और सम्प्रति पुराणों के अधिकारी विद्वान् डॉ० राजेन्द्रचन्द्र हाजरा ने इसका रचना-काल छठवीं शताब्दी सिद्ध किया है।[५]

सम्प्रति 'अध्यात्म-रामायण' के कई प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं, लेकिन उनमें सर्वोत्कृष्ट संस्करण कलकत्ता संस्कृत सिरीज़ से प्रकाशित है जिसका सम्पादन नगेन्द्रनाथ सिद्धान्तरत्न ने किया है और उसमें डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची की एक भूमिका है। डॉ० बागची ने 'अध्यात्म-रामायण' के स्रोत का अन्वेषण करते हुए डॉ० फ़र्कुहर के साक्ष्य पर यह निष्कर्ष निकाला है कि इस रामायण के रचना-काल के समय 'भागवत पुराण' के अतिरिक्त 'पम्पा-रामायण' (कन्नड भाषा में निर्मित रामकथा का एक जैन संस्करण), 'योगवाशिष्ट','अद्भुत रामायण' और 'भुशुण्डि-रामायण' आदि रचनाएँ सम्भवतः विद्यमान थीं।[६] "तुलसीदास-रचित रामचरितमानस का मूलाधार एवं रचना-विषयक समालोचनात्मक एक अध्ययन" नामक प्रबन्ध में डॉ० कुमारी शार्लोत वोदविल ने डॉ० बागची के प्रभाव वाले अभिमत को अक्षरशः उद्धृत किया है।[७] प्रासंगिक रूप से इस पद्धति का उल्लेख करते हुए डॉ० बागची द्वारा प्रस्तुत इस ग्रन्थ का रचना-काल अवश्य ही विवेचनीय है। इस ग्रन्थ में पायी जाने वाली पवित्रता की विशिष्ट भावना, राम-नाम-स्मरण पर अधिक बल, भक्ति-विषयक चैतन्य-सम्प्रदायगत रागात्मक भाव, वैष्णवों में वृन्दावन की पुन. माहात्म्य-वृद्धि एवं वेदान्त-आन्दोलन के सक्रिय प्रवर्तकों की चैतन्य-भावना के तथा तुलसी पर पडे इसके व्यापक प्रभाव के कारण इसका रचना-काल १४९० से १५५० के बीच ठहराया है।[८] डॉ० बागची का यह अन्तःसाक्ष्य-मूलक अभिमत बहुत कुछ सार्थक प्रतीत होता है। राम को अवश्य प्राचीनतम युगों में भी विष्णु माना जाने लगा था, किन्तु फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि वासुदेव की पूजा-पद्धति का जो संविधान सात्वत धर्म में था उसी की प्रतिक्रिया एवं अनुकृति पर रामावत सम्प्रदाय की सृष्टि हुई। रामानुजाचार्य ने परम्परा से राम और कृष्ण की एकता का सूत्रपात किया और रामानन्द ने उसे अधिक सशक्त एवं साम्प्रदायिक रूप प्रदान किया। कृष्ण और राम के साम्प्रदायिक समन्वय की समकालीन स्थिति की ही देन यह ग्रन्थ है, इसका स्पष्ट उल्लेख अन्तःसाक्ष्य के आधार पर मिलता है। **'वृन्दारण्ये वन्दित वृन्दारकवृन्दम्'** (यु.

काण्ड, सर्ग १३, श्लोक १६) एवम् 'वन्दे रामं मरकतवर्णं मथुरेशम्' (वही, श्लोक १७) कह कर राम और कृष्ण की एकता का रूप प्रतिपादित किया गया है। तुलसी के समकालीन जीवन से भी इस प्रकार की ऐक्य-वृत्ति की स्पष्ट पुष्टि होती है—"तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बाण लेहु हाथ।" साथ ही तुलसी के 'रामचरितमानस' पर इस ग्रन्थ का प्रभाव तो स्वयं ही एक प्रतिपाद्य विषय है। हम यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ की रचना किसी स्पष्ट काल-निर्देश के अभाव मे रामानन्द के बाद और तुलसीदास के पूर्व की मानी जा सकती है। यह कथा भी डाक्टर बागची के काल-निर्धारण का ही अनुमोदन करता है।

'अध्यात्म-रामायण' के रचना-काल के अतिरिक्त इसके रचयिता का भी प्रश्न उठाया गया है। परम्परा के अनुसार इसे 'ब्रह्माण्ड-पुराण' का अंश मानने वाले धर्मनिष्ठ लोग वेदव्यास को इसका प्रणेता मानते हैं, लेकिन 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में यह वस्तुतः उपलब्ध नहीं होता। इन्ही कारणो से श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ने इसके पृथक् रचयिता का अन्वेषण किया और प्रचुर सामग्री का पर्यवेक्षण कर रामानन्द को इस ग्रन्थ का रचयिता प्रतिपादित किया।[९] शास्त्री जी के अधिकतम अध्यवसाय पर भी प्रामाणिक निष्कर्ष नहीं निकल सका और ठोस सामग्री के अभाव में स्थान-स्थान पर उन्हें अनुमान मात्र का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। शास्त्री जी ने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए दो प्रकार के तथ्यों का आश्रय लिया—आधार-सापेक्ष और कोरे काल्पनिक। उनके इन मतों के प्रत्याख्यान के लिए सामान्यतः डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव का 'हिन्दी अनु-शीलन' में प्रकाशित 'क्या अध्यात्म-रामायण स्वामी रामानन्द-कृत है' लेख द्रष्टव्य है।[१०] शास्त्री जी द्वारा निर्दिष्ट 'रामतापनीय उपनिषद्' से 'अध्यात्म-रामायण' का सामीप्य, तुलसीदास पर 'अध्यात्म-रामायण' का प्रभाव, 'रामानन्द' शब्द का उसमें अविभक्त रूप में एक बार और विभक्त रूप में ८० बार उल्लेख आदि कारणों के आधार पर रामानन्द को इसका रचयिता सिद्ध करना अनुमान मात्र है। 'भविष्य-पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के आधार पर शास्त्री जी ने रामानन्द को इस ग्रन्थ का रचयिता मान लिया है। शास्त्री जी के अभिमत में 'भविष्य-पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के एक प्रसंग के अनुसार 'अध्यात्म-रामायण' का लेखक रामशर्मन् नामक कोई व्यक्ति था जो प्रारम्भ में शैव-मतानुयायी था किन्तु आगे चल कर वैष्णव-मत का पोषक बन गया था। 'भविष्य-पुराण' की इसी सूचना को प्रामाणिक मानते हुए उन्होंने रामशर्मन् को वैष्णव-मतावलम्बी रामानन्द मान लिया है। रामशर्मन् और रामानन्द को डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव एक नहीं मानते हैं, क्योंकि रामशर्मन् को इसी पुराण में शिवोपासक और दाक्षिणात्य आचार्य शर्मन् का पुत्र तथा रामानुज का भ्राता कहा गया है। शंकराचार्य द्वारा पराजित होने वाले इन्हीं रामशर्मन् ने कृष्ण चैतन्य के आदेशानुसार 'अध्यात्म-रामायण' का प्रणयन किया था। दूसरी ओर रामानन्द उत्तर भारत में भक्ति के प्रचारक कबीर, रैदास आदि के गुरु थे। इन्हें डॉ० श्रीवास्तव ने कान्यकुब्ज ब्राह्मण देवल के पुत्र से पृथक् ठहराया है।[११]

'भविष्य-पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के सन्दर्भ में रामानन्द को 'अध्यात्म-रामायण' का लेखक मानना, कई कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम यह कि यद्यपि इस प्रतिसर्ग पर्व उल्लेख 'भविष्य-पुराण' के प्राचीन अंशों में है, फिर यह प्रक्षेप ही है और इसकी रचना निश्चित रूप से बहुत बाद में हुई थी, क्योंकि इसमें आदम, नोह, आकूत की कथा, तैमूरलंग, नादिरशाह, अकबर

के शासन-काल की चर्चा, जयचन्द और पृथ्वीराज की कहानी, सत्यनारायण की धार्मिक पूजा-कथा, वराह मिहिर, शङ्कराचार्य, रामानुज, कबीर, रैदास आदि सभी का उल्लेख मिलता है। यही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य-कालीन कलकत्ते की पार्लियामेण्ट का भी वर्णन इस पुराण-भाग में उपलब्ध है। अतः इसकी अर्वाचीनता निर्विवाद सिद्ध है। इसकी प्रस्तुत सन्दर्भ से सम्बन्धित सामग्री के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि किसी चैतन्य-मतानुयायी भक्त ने रामानन्द से चैतन्य का सम्बन्ध जोड़ कर उनकी महत्ता की वृद्धि करनी चाही है, क्योंकि वह नाना प्रकार की वस्तु-स्थितियों का पर्यवसान चैतन्य में करना चाहता है। लेकिन रामानन्द के चैतन्य से प्रभावित होने की बात काल की दृष्टि से सबसे बड़ी अड़चन प्रस्तुत करती है। डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव ने उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करते हुए लगभग एक दर्जन अधिकारी विद्वानों (मोनियर विलियम्स, कैम्पबेल, डॉ० भण्डारकर, परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एवं साम्प्रदायिक विद्वानादि) के साक्ष्य पर रामानन्द की जन्म-तिथि सन् १२९९ सिद्ध की है।[13] प्रसिद्ध विद्वान् डा० दिनेशचन्द्र सेन ने एक ओर रामानन्द की जन्मतिथि-सम्बन्धी डॉ० भण्डारकर के मत को स्वीकार किया है,[14] दूसरी ओर चैतन्य का समय १८ फरवरी, १४८६ ई० माना है।[15] अतः स्पष्टतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह व्यवधान चैतन्य से रामानन्द के सान्निध्य या सम्पर्क की पुष्टि नहीं करता। यदि रामानन्द की जन्मतिथि को कुछ ढील दी जाय तो भी यह भला कैसे मान लिया जा सकता है कि एक अनुभव-सिद्ध वयोवृद्ध महात्मा द्वादश-वर्षीय बालक कृष्ण चैतन्य से इतना प्रभावित हो गया। स्थिति तो उल्टी ही दीख पड़ती है और हम स्वयं कृष्ण चैतन्य को अप्रत्यक्षतः रामानन्द से प्रभावित पाते हैं। दाक्षिणात्य रामानुजाचार्य की परम्परा में दीक्षित रामानन्द ने राम और कृष्ण को विष्णु रूप में अपनाते हुए उनकी अर्चना की और उत्तर भारत में उनका भेद-भाव मिटाने का प्रयास किया। लगभग यही कार्य बँगला के प्रसिद्ध भक्त-कवि मुरारी गुप्त और उनके अनुसरणकर्ताओं ने किया। मुरारी गुप्त ने रामार्चन को पदों की संस्कृत में रचना की जिसे सुनकर आह्लादित हो चैतन्य ने मुरारी को रामदास की संज्ञा प्रदान की।[16] यह तथ्य भी इस बात की ओर संकेत करता है कि चैतन्य के पूर्व रामानन्द की प्रतिष्ठा एक वैष्णवाग्रणी भक्त सन्त के रूप में हो चुकी थी। अतः द्वादश-वर्षीय कृष्ण चैतन्य की प्रेरणा से 'अध्यात्म-रामायण' के लिखे जाने की बात प्रामाणिक नहीं सिद्ध हो पाती और धार्मिक कौतूहलवर्धक महत्त्वाख्यापन करने वाली कथा बन कर रह जाती है।

'अध्यात्म-रामायण' के रामानन्दी सम्प्रदाय में प्रचार की बात की भी अकाट्य पुष्टि नहीं हो पाती, क्योंकि साम्प्रदायिक समाज में इसके पठन-पाठन या समादर की विशिष्ट उत्कण्ठा नहीं दिखायी देती। वस्तुतः इसके साम्प्रदायिक महत्त्व की बात तुलसी पर इसके प्रभाव को देख कर ही कही जाती है, किन्तु सम्प्रदाय में लिखे ग्रन्थों ने इसपर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की है। यदि सचमुच इसका साम्प्रदायिक महत्त्व भी होता तो इसके अनेक कौतूहलजनक स्थलों पर रामानन्दी सम्प्रदाय के वैष्णवों का ध्यान अवश्य गया होता और वे अपनी खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में कुछ आख्यान अवश्य गढ़ते।

डॉ० वी० राघवन् ने अपने 'न्यू कैटलॉगस कैटलॉगोरम' में 'अध्यात्म-रामायण'-विषयक संक्षिप्त सूचना दी है। 'भविष्योत्तर-पुराण' (वेंकटेश्वर संस्करण) के सन्दर्भ में उन्होंने भी चौदहवीं

शती के रामानन्द को ही इसका रचयिता स्वीकार कर लिया है।[१७] डॉ० राघवन्-जैसे गम्भीर विचारक ने विषय का विस्तृत विवेचन लक्ष्य न होने के कारण ही सम्भवतः 'भविष्य-पुराण' की इस नोटिस को स्वीकार कर लिया, अन्यथा वे केवल लेखक के नाम और उसके समय को दे देने के स्थान पर अपनी मान्यता के कारणों का भी विवेचन करते।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने सद्य: प्रकाशित 'मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन' में 'अध्यात्म-रामायण' के गुप्त-युग की रचना होने का संकेत किया है, क्योंकि इसमें (६।४।५१) भारत को कर्मभूमि कहा गया है और गुप्त-कालीन अन्य रचनाओं में भारत के लिए यह संज्ञा प्रयुक्त हुई है। उन्होंने इस शब्द के प्रयोग का हवाला सातवीं शताब्दी ईसवी के 'वरांग-चरित' नामक काव्य (सातवाँ अध्याय), 'मार्कण्डेय-पुराण' (५५।२१।२२), 'महाभारत-आरण्यक' (२४७।३५), बाण-कृत 'कादम्बरी' (वैद्य-संस्करण, पृ० ३१९) इत्यादि से दिया है। लेकिन इस एक शब्द के प्रयोग मात्र के आधार पर कोई बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वैसे तो यह शब्द 'भविष्य-पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के चतुर्थ खण्ड में कलियुगी-इतिहास-समुच्चय भाग के इक्कीसवें अध्याय में भी प्रयुक्त है जो निश्चित ही बाद की रचना प्रतीत होती है :—

वैष्णवः पुरुषो भूत्वा शंकरं लोकशंकरम्।
कर्मभूम्यां समागम्य न पूजयति नारकः।।
(—भ० पु०, प्र० स० १९।४०-५०)

यह गुप्त-काल के परवर्ती साहित्य में इस शब्द के प्रयोग का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वस्तुतः ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ की परम्परा और इसके अन्तः साक्ष्य का अनुशीलन महत्त्वपूर्ण है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'अध्यात्म-रामायण' के अनुशीलनकारों का एक वर्ग 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में उसकी अनुपलब्धि तथा अन्य पुराणों द्वारा तद्विषयक निर्देश के अभाव के कारण यह विश्वास नहीं कर पाता कि यह ग्रन्थ 'ब्रह्माण्ड-पुराण' का ही एक भाग है। किन्तु साथ-साथ विद्वानों का एक वर्ग इस 'ब्रह्माण्ड-पुराण' से अधिकाधिक संयुक्त कर के देखने में प्रवृत्त लगता है। श्री रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' में 'नारद-पुराण' के अनुसार 'ब्रह्माण्ड-पुराण' की सूची प्रस्तुत करते हुए उसकी एक टिप्पणी में लिखा है—"विश्वकोष में लिखा है कि इसी 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में से रामायणी कथा 'अध्यात्म-रामायण' के नाम से अलग कर ली गयी है। रामायण की कथा और पुराणों में भी दी हुई है परन्तु 'अध्यात्म-रामायण' में विस्तार अधिक है। जो पोथी हमारे सामने है उसमें 'अध्यात्म-रामायण' नहीं है और न 'नारदीय-पुराण' की सूची में रामायण की चर्चा है। रामायण की चर्चा में अनुमान होता है कि परशुराम की कथा के बाद ही रामायणी कथा रही होगी जिसे रामायण के रूप से अलग कर लिया गया है। श्लोक संख्या भी बिना 'ललितोपाख्यान' और 'अध्यात्म-रामायण' के कथितांक तक नहीं पहुँच सकेगी। इन दो अंशों के अतिरिक्त नीचे लिखे छोटे-छोटे ग्रन्थ पुराण से निकले हुए बतलाये गये हैं।"[१९] और फिर उन्होंने कुछ स्फुट ग्रन्थों का परम्परागत उल्लेख किया है।

वी० वरदाचार्य ने अधिकृत ढंग से लिखा है 'ब्रह्माण्ड-पुराण' उपाख्यानों और तीर्थ-माहात्म्यों का संग्रह मात्र है। इसमें पुराणों की वर्णन वाली बातें कम हैं। इसमें सात खण्डों

में 'अध्यात्म-रामायण' दी हुई है। यह 'महाभारत' आदि के तुल्य शिव और पार्वती के सम्वाद के रूप में लिखा गया है। इसका कथन है कि अद्वैत-बुद्धि और राम-भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है।"[२०] 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में 'अध्यात्म-रामायण' के उपलब्ध होने की सूचना का स्पष्ट आधार क्या है, इसका यहाँ भी अभाव है।

आड्यार लाइब्रेरी में संकलित 'ब्रह्माण्ड-पुराण' की हस्तलिखित प्रति का परिचय देते हुए श्री० ए० एन० कृष्ण आयंगर ने उसकी तुलना मद्रास विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सुरक्षित प्रति एवं वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित प्रति से की है और निष्कर्षत: लिखा है कि प्रकाशित प्रति मे कुल १२८०० 'ग्रन्थ' (श्लोक) मिलते हैं जब कि आड्यार की हस्तलिखित प्रति यह सूचित करती है कि इसमें कुल ८५००० 'ग्रन्थों' की उपलब्धि होनी चाहिए। निश्चित ही यह एक बहुत बडा व्यवधान है। पुन: उन्होंने डॉ० आफ्रेक्ट के 'कैटलॉगस कैटलॉगोरम' के सन्दर्भ में उसी के आधार पर 'ब्रह्माण्ड-पुराण' के कई भागों का नाम गिनाया है जिसमें सात काण्डों वाले 'अध्यात्म-रामायण' की भी गणना सन्निहित है।[२१]

'अध्यात्म-रामायण' का माहात्म्य-खण्ड 'ब्रह्माण्ड-पुराण' के उत्तर खण्ड से सम्बद्ध बतलाया जाता है और इसी कारण उसे 'ब्रह्माण्ड-पुराण' का एक भाग मानने की एक परम्परा चली, किन्तु इससे 'अध्यात्म-रामायण' 'ब्रह्माण्ड-पुराण' की देन तो सिद्ध नहीं होता। 'अध्यात्म-रामायण' क्या यह महात्मा-भाग भी ब्रह्मण्ड-पुराण की किसी प्रति में उपलब्ध होता तो उसकी उपयोगिता होती। 'अध्यात्म-रामायण-माहात्म्य' मात्र की दो पृथक् हस्तलिखित प्रतियों की सूचना डॉ० राघवन् ने अपने 'न्यू कैटलॉगस कैटलॉगोरम' के पहले भाग में दी है।[२२] ऐसा प्रतीत होता है कि ये 'अध्यात्म-रामायण' के सन्दर्भ में ही लिखे गये थे।

'अध्यात्म-रामायण' 'ब्रह्माण्ड-पुराण' से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध न होते हुए भी पौराणिक परम्परा से पूरी तरह से उपोद्वलित है। डॉ० भण्डारकर, प्रबोधचन्द्र बागची, रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री इत्यादि ने इस ग्रन्थ पर 'श्रीमद्भागवत' के प्रभाव की चर्चा की है। डॉ० बागची ने तो 'अध्यात्म-रामायण' पर 'श्रीमद्भावगत' के निश्चित प्रभाव की चर्चा की है और कई अन्य ग्रन्थों को भी इसके स्रोत के रूप में स्वीकार किया है, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। पौराणिक परम्परा और विशेषतया 'श्रीमद्भागवत' के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ का अनुशीलन अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि की कथा या काव्यत्व की पृष्ठभूमि मे प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने कृष्ण-विषयक भागवती भक्ति-चेतना राम में प्रतिष्ठित करनी चाही है। लगभग यही कार्य कुछ समय बाद तुलसीदास ने भी करना चाहा था। अन्तर इतना है कि काव्य का प्रबन्धात्मक सन्दर्भ उन्होंने वाल्मीकीय 'रामायण' से अधिक 'अध्यात्म-रामायण' से लिया था और भक्ति-चेतना 'अध्यात्म-रामायण' से भी सूक्ष्मता से 'भागवत' से ग्रहण की थी। इस प्रकार 'अध्यात्म-रामायण' संस्कृत में 'भागवत' के वजन पर कृष्ण की जगह पर राम के लिए की गयी रचना है, जब कि तुलसी का 'रामचरितमानस' बहुत कुछ इसी उद्देश्य से अनुप्राणित हिन्दी का महाकाव्य है। वैसे प्रस्तुत कृति पर 'श्रीमद्भागवत' के अतिरिक्त पौराणिक परम्परा का समग्रता से भी यत्किंचित् प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है।

स्वत: 'अध्यात्म-रामायण' के माहात्म्य-भाग में इसे **'पुराणोत्तम रामायणमिति स्मृतम्'**

(श्लोक १९) अर्थात् सर्वोत्तम पुराण कहा गया है, लेकिन बालकाण्ड के प्रारम्भ होते ही इसे **'रामायणं सर्वपुराणसम्मतम्'** (श्लोक ३) कहा गया। इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं से इसके पुराण-साहित्य से प्रभावित होने की बात सिद्ध होती है। फिर भी इस कृति में स्थान-स्थान पर इसे 'रामायण' की ही संज्ञा अधिक मिली है और आगे चल कर उत्तरकाण्ड के अन्त में **'रामायणं काव्यमनन्तपुण्यं'** (श्लोक ७१) कहा गया है। वाल्मीकि-कृत 'रामायण' और 'अध्यात्म-रामायण' के उद्‌घाटन-कालीन स्थिति में भी कुछ असाम्य मिलता है। वाल्मीकि नारद से राम-कथा श्रवण करते हैं और बाद में राम की आराधना के उपरान्त कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ब्रह्मा के आदेशानुसार नारद द्वारा गृहीत कथा को ले कर 'रामायण काव्य' रचते हैं। लेकिन 'अध्यात्म-रामायण' की कथा पौराणिक सूत-परम्परा के समान प्रस्तुत की जाती है। यहाँ नारद कलियुग से पीड़ित हो कर ब्रह्मा से मुक्ति के लिए 'अध्यात्म-रामायण' का पाठ सीख-रूप में प्राप्त करते हैं। यहाँ ब्रह्मा के संवाद में यह उल्लिखित है कि स्वतः पार्वती ने शंकर जी से रामतत्त्व की जिज्ञासा की थी। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रारम्भ शिव-पार्वती के संवाद-स्वरूप आगम (तंत्र)-परम्परा से ही हुआ है। इसीसे विद्वान् लोग इसे पुराण और आगम-परम्परा की समन्वय का देन समझते हैं। यों तो 'उमा-महेश्वर-संवाद' 'महाभारत' एवं पुराणों में प्रचुर मात्रा में मिलता है लेकिन अपने यथार्थ रूप में शिव-पार्वती-संवाद तांत्रिक संस्कृति की ही देन है। तांत्रिक संस्कृति का प्रादुर्भाव बौद्धधर्म के विकास के साथ ही होने लगा था। पुराणों में 'स्कन्द', 'ब्रह्म-वैवर्त', 'कालिका' तथा अन्य उपपुराणों में तांत्रिक-धर्म एवं जीवन-दर्शन का रूप देखने को मिलता है, लेकिन जिस प्रकार सम्पादन की दृष्टि से वैदिक साहित्य के उपरान्त पौराणिक साहित्य का स्थान आता है, उसी प्रकार परम्परा से पुराणों के बाद ही तांत्रिक साहित्य के सम्पादन की बारी आती है, यद्यपि तांत्रिक साधना पुराणों में फलवती रूप में स्पष्ट देखने को मिलने लगती है।[२३] तंत्रों की रचना सामान्यतया शिव और पार्वती के संवाद के रूप में हुई है। वैष्णव तंत्र भी इसी शिव-पार्वती के वक्ता-श्रोता-प्रणाली में विरचित हैं। अतः 'अध्यात्म-रामायण' की इस भूमिका पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ-रचना का एक अन्य वैशिष्ट्य दिखलायी देता है—वह यह कि यह 'रामायण' की भाँति सर्ग और काण्ड की परम्परा का निर्वाह करता है, पुराणवत् स्कन्धों का नहीं। पुराण की परम्परा से 'उवाच' का स्थान-स्थान पर निश्चित उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कुमारी डॉ० शार्लोत बॉदविल ने डॉ० बागची के आधार पर संवाद या शैली की दृष्टि से इस ग्रन्थ की जो पुराण आगम की दोहरी भूमिका स्वीकार की है,[२४] वह शैलीगत दृष्टिकोण को अपनाते हुए कहीं तिहरी हो जाती है और इसमें काव्य-परम्परा का परिगणन भी आवश्यक हो जाता है।

'श्रीमद्‌भागवत' में श्रीकृष्ण की हरि-रूप में प्रतिष्ठा के लिए नाना स्थानों पर कई पात्रों, देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों द्वारा उनकी स्तुति के प्रसंग आये हैं, कई प्रकार के दार्शनिक उपदेश एवं गीत-विधान किये गये हैं। इस प्रसंग को 'अध्यात्म-रामायण' ने अधिक निकट से ग्रहण किया है। प्राकृत में 'भागवत' के मुख्य स्थलों का प्रभाव देखने के बाद इन स्तुतियों का विवेचन किया जाएगा। 'अध्यात्म-रामायण' के माहात्म्य-सर्ग में आया हुआ नारद जी द्वारा कलियुग-वर्णन, जो 'ब्रह्माण्ड-पुराण' की किसी भी पोथी में अनुपलब्ध है, 'श्रीमद्‌भागवत' के 'पद्मपुराण' में उल्लिखित

माहात्म्य में नारद जी द्वारा वर्णित कलियुग-प्रसंग से बिल्कुल मिलता-जुलता है। यों कलियुग का यह प्रसंग अन्य कई पुराणों में अलग से माहात्म्यों में आनेवाले इसी संक्षिप्त सन्दर्भ की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करता है।

विविध पुराणों में ब्रह्मा आदि देवताओं सहित राक्षसों की मार से पीड़ित पृथ्वी के विष्णु-लोक जाने और भगवान् द्वारा आकाशवाणी से उनके परित्राण का वचन देने का वर्णन है। 'भागवत' के दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के १७ से २५ तक के श्लोकों में वर्णित इस प्रसंग के अनुसार ब्रह्मा भाराक्रान्त आँसू बहाती हुई गोरूपा पृथ्वी को देवताओं सहित क्षीर-सागर-तट पर विष्णु-लोक ले जाते हैं और वहाँ आकाशवाणी द्वारा ईश्वरों के ईश्वर का यह आश्वासन सुनते है कि वे पृथ्वी की रक्षा के लिए वासुदेव के घर में प्रकट होंगे। अतः देवता-गण भी अपने-अपने अश से यदुकुल में अवतार ग्रहण कर उसकी लीला में सहायता करें। संसार का मोहन करने वाली विष्णुमाया भगवती का भी यहाँ उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अध्यात्म-रामायण' (बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग) में प्रसंग उसी परम्परा से अपेक्षाकृत अधिक प्रार्थनापरक और विकसित रूप में ले कर आया है। यहाँ भार-पीड़िता पृथ्वी को ले कर जब ब्रह्मा जी देवताओं सहित क्षीर-सागर के तट पर पहुँच कर भगवान की आराधना करते हैं तो शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा अपूर्व वनमाला-धारी भगवान स्वयं प्रकट होते है और ब्रह्मा द्वारा बार-बार स्तूयमान होने पर वे यह आश्वासन देते हैं कि कश्यप को वरदान के अनुरूप वे स्वयं राजा दशरथ के पुत्र रूप में अवतीर्ण होंगे, उनकी योग-माया सीता जनक के घर अवतीर्ण होंगी। तभी से वे समस्त देव-कार्य सिद्ध करेंगे। एतत्पश्चात् ब्रह्मा देवताओं को वानर-वंश में संतति उत्पन्न कर भगवान की सहायता करने की आज्ञा देते हैं।

'अध्यात्म-रामायण' के (बालकाण्ड के तृतीय सर्ग) में मातृ-गर्भ से भगवान् के प्राकट्य के समय आकाश से पुष्प-वर्षा का, तथा भगवान् के शंख, चक्र, गदा, पद्म-धारी रूप का और माता की प्रार्थना पर इस रूप के तिरोभाव इत्यादि का वर्णन है। यह प्रसंग निश्चय ही 'भागवत' के दशम स्कन्ध, तृतीय अध्याय से प्रभावित है। दोनों ग्रन्थों में माताएँ समान शब्दावली मे भगवान् से उनके अलौकिक रूप के उपसंहार का निवेदन करती हैं:—

> **उपसंहर विश्वात्मन्तदो रूपमलौकिकम्।**
> **(—भागवत, १०।३।३)**
> **उपसंहर विश्वात्मन्तदो रूपमलौकिकम्।**
> **(—अ०-रा०, बा० का० ३।१९)**

लगता है, 'अध्यात्म-रामायण' ने 'श्रीमद्भागवत' के श्लोक की निचली पंक्ति की पुनरावृत्ति अमौलिकता के भय से नहीं की। आगे भी राम-लीला-प्रसंग में राम के क्रोधित हो कर डंडे से भाण्ड फोड़ने, दही-दूध बिखराने और बाँटने (अ०-रा०, बा० का० ३।५२-५४) आदि के उल्लेख 'भागवत' के दशम स्कन्ध, अध्याय ९ के श्लोक ६ से ८ में उल्लिखित कृष्ण-लीला से पूर्ण-रूपेण प्रभावित हैं।

वैसे तो 'भागवत' के भक्ति-विषयक प्रसंगों का अपना अन्यतम महत्त्व है जिसका अलग

से निरूपण अपेक्षित है किन्तु यहां आनुषंगिक रूप से -कृत भक्ति के नौ प्रमुख साधनों का वर्णन द्रष्टव्य है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणम्
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(—भा० ७।५।२३–२४)

भक्ति के इन्हीं साधनों के अनुकृति पर 'अध्यात्म-रामायण' ने इसका उपबृंहण करते हुए राम द्वारा शबरी से नौ प्रकार की भक्ति का उल्लेख कराया है। इस प्रसंग में 'अध्यात्म-रामायण' का दशम सर्ग द्रष्टव्य है।

क्रिया-योग का वर्णन कुछेक पुराणों का विषय रहा है। 'पद्म-पुराण' में उपलब्ध क्रिया-योग-खण्ड को डॉक्टर हाजरा ने बाद में जोड़ा हुआ माना है। उनका विचार है कि 'क्रिया-योग-सार' एक स्वतन्त्र उप-पुराण है जिसकी रचना सम्भवतः नवीं-दशवीं शताब्दी को हुई थी। इस 'क्रिया-योग-सार' उपपुराण से 'महाभारत', 'रामायण' और 'श्रीमद्भागवत' के माहात्म्य-गायन की पुष्टि होती है।[२५] 'अध्यात्म-रामायण' का क्रिया-योग 'भागवत' की परम्परा और प्रक्रिया दोनों से पुष्ट है। 'श्रीमद्भागवत' के एकादश स्कन्ध के सत्रहवें अध्याय में क्रिया-योग का वर्णन है। श्रीकृष्ण उद्धव से कहते है कि कर्म-काण्ड का अधिक विस्तार होने के कारण अपनी पूजा-विधि संक्षेप में कहता हूँ :—

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्यचोद्भवः।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
(—भागवत ११।२७।६)

—और फिर कृष्ण द्वारा क्रिया-योग का समस्त वर्णन है। ठीक इसी प्रकार 'अध्यात्म-रामायण' में भी किष्किन्धा काण्ड के चतुर्थ सर्ग में राम लक्ष्मण से कहते हैं, हे रघुनन्दन, मेरी पूजा-विधि का कोई अन्त नहीं है, फिर भी मैं संक्षेप में उसका वर्णन करता हूँ :—

मम पूजा विधानस्य नान्तोऽस्ति रघुनन्दनः।
तथापि वक्ष्ये संक्षेपाद्यथावदनुपूर्वशः॥
—(अ०-रा०, कि० का० ४।११)

—और फिर राम द्वारा क्रिया-योग का समस्त वर्णन है। एकमात्र अन्तर यह है कि 'अध्याम-रामायण' में 'भागवत' के क्रिया-योग का संक्षिप्तीकरण कर दिया गया है। इस प्रकार 'अध्यात्म-रामायण' के क्रिया-योग से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि यह रामायण किसी पुराण का घनिष्ठ अंग होता तो इसमें क्रिया-योग का प्रसंग अलग से आता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अतः स्पष्टतः इसमें इसका आयोजन कृष्ण-विषयक प्रसंग से ही प्रेरित है। इस प्रसंग का वर्णन भी द्रष्टव्य है।

राम अपने अनन्य भक्त शेषावतार से क्रिया-योग का वर्णन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार कृष्ण अपने अनन्य भक्त और सखा उद्धव जी से करते हैं। 'भागवत' के तृतीय स्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय में भगवान् कपिल ने अपनी माँ देवहूति के द्वारा भक्ति-योग की महिमा का वर्णन किया है। ठीक इसी प्रकार 'अध्यात्म-रामायण' के उत्तरकाण्ड के सातवें सर्ग में संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रश्न किये जाने पर भगवान् राम ने भक्ति-योग का वर्णन किया है। दार्शनिक दृष्टि से ये दोनों प्रसंग चरमोत्कर्ष के द्योतक हैं। यहाँ कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग का वर्णन भी किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' में तो एकादश स्कन्ध के अंतर्गत ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग से सम्बन्धित एक पृथक् (बीसवाँ) अध्याय ही है 'अध्यात्म-रामायण' का भक्ति-योग-विषयक यह प्रसंग 'श्रीमद्भागवत' के उपर्युक्त सन्दर्भो में विकसित प्रतीत होता है।

ऊपर यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि माता कौशल्या के गर्भ से विष्णु-रूप में राम के प्रकट होने की घटना 'अध्यात्म-रामायण' में आयोजित की गयी है। साथ ही उन्हींके यहाँ चार अशों में पृथक्-पृथक् प्रकट होने का भी उल्लेख हुआ है:—

चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयो पृथक्।
(—अ०-रा०, बा० का० २।२७)

यह कथन भी भागवत की परम्परा का प्रतीत होता है। भागवतकार ने राम को श्रीहरि मान कर अंशावतारों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

तस्यापि भगवानेव साक्षात् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशानेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः॥
(—भागवत ९।१०।१)

'अध्यात्म-रामायण' की सीता का विकसित चरित्र भी अपनी एक परम्परा रखता है। डॉ० फ़ादर कामिल बुल्के के अनुसार वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु जैसे प्राचीन महापुराणों में सीता तथा लक्ष्मी की अभिन्नता की ओर निर्देश नहीं किया गया है, यद्यपि इन रचनाओं में राम विष्णु के अवतार माने गये हैं। 'हरिवंश' (अ० ४१), 'भागवत पुराण' (९, १०) तथा अधिकाश अर्वाचीन रचनाओं के अनुसार सीता तथा लक्ष्मी अभिन्न ही हैं[२६] 'अध्यात्म-रामायण' मे भी सीता का योगमाया और लक्ष्मी का प्रतीक होने के कारण स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है।

एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता।
(—अ०-रा०)

नृग राजा की कथा 'भागवत' का परम प्रिय आख्यान है और इस कथा का वर्णन भागवत के छियालिसवें अध्याय में अलग से उपलब्ध होता है जिसमें दान की महिमा और उसके ब्राह्मण के समक्ष स्खलन के दुष्परिणाम का चित्रण किया गया है। अध्यात्म-रामायणकार ने उत्तरकाण्ड

की प्रसिद्ध रामगीता पाँचवे सर्ग) में ब्राह्मण और दान की महिमा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है

इन स्फुट प्रसंगों को छोड़ कर यदि 'अध्यात्म-रामायण' की स्तुतियों का सर्वेक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसपर 'भागवत' की स्तुति-शैली एवं भाव-सम्पदा की स्पष्ट छाप है क्योंकि भागवत में प्रतिष्ठित कृष्ण के हरि-रूप की अनुवर्तिता यहाँ राम के प्रसंग मे सर्वत्र दिखलायी पड़ती है। अतएव देव, ऋषिगण, मानव सभी दाशरथि राम के परब्रह्मत्व का उपाख्यान करते हैं। इस भावना का मनोहर रूप तब देखने को मिलता है जब कि हनुमान दुर्बुद्धि रावण को समझाते हुए कहते हैं:—

अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं
रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्॥
(—अ०-रा०, सु० का० ४।२३)

प्रस्तुत निबन्ध के कलेवर में हम केवल नारद-कृत एक स्तुति का विवेचन कर रहे हैं। 'अध्यात्म-रामायण' के युद्धकाण्ड में कुम्भकर्ण के अवसान पर भगवान् राम के समक्ष नारद उपस्थित हो उनकी स्तुति करते हैं। यह स्तुति भक्ति-परक है तथा भगवान् के स्वयंप्रकाश रूप की व्याख्या करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भागवत' के दशम स्कन्ध में कोशी के मरण के उपरान्त नारद-कृत कृष्ण-स्तुति की ही प्रस्तुत ग्रन्थकार ने दार्शनिक व्याख्या की है। **"त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम्।"**—अर्थात् जिस प्रकार एक ही अग्नि सभी लकड़ियों में व्याप्त रहती है, उसी प्रकार एक ही आप समस्त प्राणियों की आत्मा हैं"—'भागवत' की इसी सूत्रबद्ध मान्यता की बुनियाद पर ही इस ग्रन्थ के सारे आध्यात्मिक कथन निखार पा सके हैं। 'अध्यात्म-रामायण' के राम-हृदय और रामगीता अद्वैत-दर्शन से प्रभावित हैं और गीता की छाप भी इनपर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। समस्त 'अध्यात्म-रामायण' में अद्वैतवादी दर्शन का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन मिलता है, जो निश्चित रूप से शंकर की परम्परा की देन है। लेकिन कई प्रसंगो मे दार्शनिक स्तर पर ईश्वर-विषयक कथन 'भागवत' में प्रस्फुटित अद्वैतवत् विचार-धारा से प्रतीत होते हैं। 'भागवत' के दशम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में देवताओं द्वारा की गयी गर्भस्थ भगवान् कृष्ण की स्तुति का यह भाग द्रष्टव्य है:—

न तेऽभवस्येश भवस्यकारणं
विना विनोदं बद तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितश्चविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥

"हे प्रभु, आप अजन्मा हैं। यदि आपके जन्म के कारण इस सम्बन्ध में हम कोई तर्कना करें तो यही कह सकते हैं कि यह आपका एक लीला-विनोद है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आप

तो द्वैत के लेश से रहित सर्वाधिष्ठान-रूप हैं और इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय अज्ञान के द्वारा आप में आरोपित है।" और फिर इसी क्रम में देवताओं तथा लोक-रक्षक ईश्वर के अवतारों **'मत्स्याश्वकच्छप नृसिंह वराह हंस राजन्य विप्र विबुधेषु कृतावतारः'** की चर्चा की है। लगभग इसी परिप्रेक्ष्य में 'अध्यात्म-रामायण' में अयोध्याकाण्ड के पंचम सर्ग में ऋषिवर वामदेव ने माया के गुणों से युक्त होने के कारण ही ईश्वर की उत्पत्ति, स्थिति और पालक रूप की चर्चा कर किंचित् भेद सहित 'भागवत' की भाँति लोक-रक्षक अवतार का उल्लेख किया है।

'रामतापनीय उपनिषद्', 'अध्यात्म रामायण' तथा अन्य अर्वाचीन राम-काव्यों मे रावणादि की जिस द्वेष-बुद्धिमूलक भक्ति का उल्लेख मिलता है, उसका श्रीगणेश भी सम्भवत 'भागवत' से ही हुआ, क्योंकि 'भागवत' में कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में एक स्थल पर स्पष्ट उल्लिखित है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, चाहे जिस ढंग से हो, भगवान् में अपनी वृत्तियों को जोड़ देना चाहिए और एक अन्य स्थल पर विपरीत बुद्धि से शिशुपाल की भक्ति का भी उदाहरण दिया गया है :—

> **उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः।**
> **द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।**
> **नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।**
> **अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।**
> **कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।**
> **नित्यं हरौ विदधातो यान्ति तन्मयतां हि ते॥**
> **(—भागवत १०।२९।१३–१५)**

'भागवत' में स्थान-स्थान पर ईश्वर-विषयक ज्ञान को रहस्यमय एवं गुह्य बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परम्परा उपनिषदों से विकसित हो कर पुराणों में आयी और पुराणों के समकालीन-सम्पादित तांत्रिक साहित्य में इसने अधिक सशक्त रूप ले लिया और **'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः'** की सीमा तक पहुँच गया। ऐसी दशा में 'अध्यात्म-रामायण' मे भी आध्यात्मिक ज्ञान को रहस्यमय एवं गुह्य कहा जाना स्पष्ट है।

'अध्यात्म-रामायण' के अन्य कई प्रसंगों पर कुछ इतर पुराणों की भी छाप है। 'रामायण की अहल्या का चरित पुराणों की अहल्या के चरित से भिन्न है। अहल्या के अध्यात्म-रामायण-गत आख्यान के पूर्वार्ध पर वाल्मीकि की छाप है। इनमें इन्द्र अहल्या के पास जार-कर्म के लिए तो इन्द्र अथवा गौतम के ही रूप में जाता है, किन्तु गौतम के समक्ष भी वही रूप रखता है जबकि पुराणों में वह मार्जार का रूप ले लेता है। इस आख्यान के उत्तरार्ध पर पौराणिक परम्परा का यत्किंचित् प्रमाण है। इसमें ऋषि इन्द्र को शाप देते हैं और अहल्या को अदृश्य रहने तथा आश्रम से दूर हो जाने की आज्ञा देते हैं, जबकि 'ब्रह्मवैवर्त', 'स्कन्द' आदि पुराणों में उसके शिला या पाषाण रूप में रहने का उल्लेख मिलता है। 'अध्यात्म-रामायण' की तपोलीन अहल्या राम के चरणों से शिलास्पर्श हो जाने से मुक्त हो जाती है। इस कथ्य पर निश्चित रूप से पौराणिक परम्परा का यत्किंचित प्रभाव है।

सीता-हरण के प्रसंग में वाल्मीकीय 'रामायण' और पुराण-वर्णित चरित में अन्तर दिखायी देता है। यह सारी बातें पुराणकारों की हैं, रामायणकार की नहीं कि रावण ने छाया-सीता का अपहरण किया था, न कि प्रकृत सीता का तथा प्रकृत सीता को अग्नि ने छिपा लिया था। माया-सीता के अपहरण का उल्लेख सर्वप्रथम 'कूर्म-पुराण' (७वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है।[२८] बाद में इसी पौराणिक पृष्ठभूमि में 'अध्यात्म-रामायण' (अरण्यकांड, सप्तम सर्ग) में माया-सीता का विकास हुआ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अध्यात्म-रामायण' पर सामान्यतः पौराणिक परम्परा का और विशेषतः 'भागवत' का प्रभाव सुस्पष्ट है। भागवत का रचना-काल यों आठवीं-नवीं शताब्दी तक माना जाता है और इसका सबसे उत्तरवर्ती काल, ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। पुराणों के गम्भीर अध्येता डॉ० राजेन्द्रचन्द्र हाजरा ने 'श्रीमद्भागवत' का रचना-काल छठवीं शती ई० माना है।[२९] १८ पुराणों में से अन्त में गिनाये जाने वाले 'ब्रह्माण्ड' का रचना-काल डॉ० हाजरा के अनुसार लगभग चतुर्थ शती ई० है। इसी समय के आसपास इस पुराण वंशानुचरित के आधार पर वायुपुराण से अलग होना प्रारम्भ हुआ था अन्यथा वायु और ब्रह्माण्ड में अद्भुत साम्य है और ये साम्प्रदायिक कारणों से ही अलग हुए होंगे।[३०] अतः पौराणिक परम्परा से भी 'अध्यात्म-रामायण' का 'ब्रह्माण्ड पुराण' से सम्बद्ध होना सही नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तब 'भागवत' की राम-कथा का रूप ही कुछ दूसरा होता। अतः 'अध्यात्म-रामायण' अलग से रचित है और इसको अनुपलब्ध ब्रह्माण्ड पुराणोक्त माहात्म्य से सम्बद्ध कर ग्रन्थ के महत्त्वाख्यान के लिए प्राचीन कहा गया है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि 'भागवत' और 'अध्यात्म-रामायण' के बीच एक बहुत बड़ा कालगत अन्तराल है और ऐसी दशा में प्रभाव-ग्रहण की दृष्टि से अध्यात्म-रामायणकार के लिए 'भागवत' के प्रति आकर्षण क्यों था ? स्पष्टतः अध्यात्म-रामायणकार ने कृष्ण-भक्ति के लिए व्यापक रूप से सम्मान्य भागवत को उपजीव्य बनाया होगा, क्योंकि परवर्ती युगों में सूर पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा था।

टिप्पणियाँ

१. रामकथा : डॉ० फ़ादर कामिल बुल्के, पृष्ठ १६४।

२. अष्टादश पुराण दर्शन, (वेंकटेश्वर, संस्करण, बम्बई) पृष्ठ ४१४।

३. शैविज्म, वैष्णविज्म ऐण्ड माइनर रेलिजस सेक्ट्स : डॉ० रामकृष्ण भण्डारकर, पृष्ठ ६७—६८।

४. अध्यात्म-रामायण, लाला बैजनाथ-संस्करण, भूमिका-भाग।

५. पुराणिक रिकॉर्ड्स ऑन दि हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स : हाजरा, पृष्ठ ५५।

६. अध्यात्म-रामायण, डॉ० बागची द्वारा सम्पादित कलकत्ता-संस्करण, भूमिका-भाग।

७. तुलसीदास-रचित मानस का मूलाधार, प्रथम भाग, पृष्ठ १५—१६।

८. अध्यात्म-रामायण, क०-सं०, भू०-भा०।

९. दि ऑथरशिप ऑफ दि अध्यात्म-रामायण, जर्नल आफ गंगानाथ झा इन्स्टिट्यूट, भाग १, पृष्ठ २१५—२९।

१० हिन्दी अनुशीलन (भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग) अक्टूबर-दिसम्बर १९५७ –२२।

११. वही, पृष्ठ २०।

१२. भविष्य-पुराण, बम्बई-संस्करण, पृष्ठ ३५८–५९।

१३. रामानन्द सम्प्रदाय (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय), पृष्ठ ६९–७०।

१४. चैतन्य ऐण्ड हिज एज (कलकत्ता विश्वविद्यालय), पृष्ठ ३६–३७।

१५. वही, पृष्ठ १०७।

१६. वही, पृष्ठ ३६–३७।

१७. न्यू कैटलॉगस कैटलॉगोरम (मद्रास विश्वविद्यालय), भाग १, पृष्ठ ११५ ए।

१८. मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, (हिन्दुस्तानी एकेडेमी) पृष्ठ ४–५

१९. हिन्दुत्व : रामदास गौड़, पृष्ठ ३७९–८२।

२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वी० वरदाचार्य, पृष्ठ ८४।

२१. ब्रह्मविद्या, ग्यारहवाँ खण्ड (दि आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन), भाग १, पृष्ठ ४१

२२. न्यू कैटलॉग्स कैटलॉगोरम : डॉ० राघवन्, पृष्ठ ११७।

२३. हिन्दुइज्म : मोनियर विलियम्स, पृष्ठ १२२।

२४. तुलसीदास-रचित मानस का मूलाधार व रचना-विषयक समालोचनात्मक : शार्लोत बॉदविल, पृष्ठ १५–१६।

२५. भारतीय विद्या, बारहवाँ खण्ड, पृष्ठ ५५–५८।

२६. डॉ० कामिल बुल्के : राम-कथा, पृष्ठ २७१–७२।

२७. डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री : रामायण के आख्यान (आगरा विश्वविद्यालय का शत शोध-प्रबन्ध), पृष्ठ २५२–५५।

२८. कूर्म-पुराण, (कलकत्ता-संस्करण), ३४।१६।२२।

२९. हाजरा : पुराणिक रिकॉर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृष्ठ ५४–५५

३०. वही, पृष्ठ १८–१९।

तंत्र-साधना और मादन-भाव

●

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

●

समस्त तन्त्र-साधना में,
चाहे वह शाक्त हो या शैव, बौद्ध हो या वैष्णव,
नारी को शक्ति या प्रज्ञा या राधा के रूप में
एक अपरिहार्य अङ्ग माना गया है।
वैष्णवागमों में पुरुष को मदन तथा
नारी को मादन माना गया है।
प्रस्तुत लेख में तन्त्र में मादन-पक्ष के स्थान की मीमांसा की गयी है।

भारतीय धर्म-साधना की तांत्रिक धारा के आविर्भाव-काल तथा उद्‌गम-स्थल को ले कर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। तथ्य चाहे जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उक्त धारा एक समय इतनी प्रबल एवं वेगवती हुई कि धर्म-साधना के क्षेत्र में अपना अंचल बचाना किसी के लिए भी सभव नहीं रह गया। प्रायः सभी साधनाओं के आचार अथवा विचार किसी न किसी सीमा तक प्रभावित हुए बिना न रह सके। रहस्य-भावना से अनुप्राणित साधनाओं में गुह्य साधनाओ का विधान गृहीत हुआ और उसके अन्तर्गत 'काम' को भी महत्त्व प्राप्त हो गया। काम को सहज मान कर मनुष्य की जन्मजात विषय-वासना को ही उसके परिमार्जन तथा पवित्रीकरण का साधन स्वीकार किया गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि तंत्र-मत से प्रभावित सम्प्रदायों में यौन-भावना के रसास्वादन का विधि-विधान अगीकृत हुआ। 'विज्ञान-भैरव' के अनुसार यौन-समागम से उद्‌भूत आनन्द पात्र अथवा परिस्थिति के अनुसार भिन्न समझा जाना चाहिए। इस भावना से अभिभूत हो जाने पर मन स्थिर हो जाएगा, तब वैद्यान्तर सम्पर्क शून्य हो कर अन्तःकरण आनन्द की अनुभूति से ओतप्रोत हो जाएगा। इस प्रकार उसमें केवल आनन्द ही आनन्द रह जाएगा। यौन-समागम अथवा परिस्थिति इस शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र रह जाएगा। इस अतीन्द्रिय मूर्त अभिव्यक्ति के अन्तर्गत स्त्री के प्रेम और सौन्दर्य-अलंकरण तथा आमोद-प्रमोद आदि की गणना की जाती है।

तंत्र-साधना मे शक्ति का विशिष्ट स्थान है फिर भी शिव और शक्ति को अभिन्न ठहराया गया है। वे परस्पर एक अथवा अविभाज्य है:—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तिश्चाभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥
(--सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति ४।२६)

शिव एवं शक्ति

इस प्रकार शिव एवं शक्ति दोनों ही तांत्रिकों के उपास्य हैं। वास्तव में शक्ति ब्रह्म का गतिमान् सामर्थ्य है तथा शिव उसका स्थिर स्थाणु। ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने के कारण सृष्टि मिथ्या नही, अपितु सत्य है। ब्रह्म तथा विश्व में वही नाता है जो कार्य-कारण में है। तंत्र-ग्रन्थो मे महाशक्ति अथवा महाकाली को सृष्टि की जननी, पालनकर्त्री तथा संहारिणी माना गया है जो शिव अथवा महाकाली की अर्धांगिनी है। कहीं-कहीं शक्ति को देवी अथवा महादेवी भी सूचित किया गया है। देवी के रूप एक नही, तीन है। इनमें से पहले 'पर-रूप' को कोई नहीं जानता, दूसरा है सूक्ष्म 'मंत्र-रूप' और तीसरा, नख-शिख-समन्वित 'स्थूल रूप'। तंत्र तथा पुराण-ग्रन्थो मे इसी को दुर्गा, अन्नपूर्णा तथा त्रिपुर-सुन्दरी आदि कहा गया है। ब्रह्म का अवतार मानी जाने वाली सभी देवियों के लिए यह समान रूप से लागू है। परन्तु देवी वास्तव में रूपातीत एव गुणातीत है।

शिव की अर्धांगिनी-रूप में देवी को सती, उमा तथा गौरी के नाम से अभिहित किया जाता है। उसने दक्ष-यज्ञ के पूर्व अपने को शिव के सम्मुख दस रूपों में प्रकट किया था—काली, तारा, बगला, मातंगी, षोडशी, भैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी तथा त्रिपुर-सुन्दरी। इन्हीं नामों से दस महाविद्याएँ भी प्रसिद्ध हैं। शक्ति की भाँति शिव के भी उतने ही स्वरूप है। एक को प्रसन्न कर लेने के बाद दूसरे को अनुकूल बना लेना सरल हो जाता है।

भाव-त्रयी और कौलाचार

जगत्-जननी रूप में शक्ति की उपासना वामाचार-पद्धति से विहित है। यहाँ पर वामा (शक्ति) की साधना आत्मा का पर्याय मान कर की जाती है। इन साधकों के स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं: पशु-भाव, वीर-भाव, दिव्य-भाव। इनमें से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के आधार पर दिव्य-भाव की साधना सर्वश्रेष्ठ है। इस भाव का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो नित्य स्नान-सध्या करता है, स्वच्छ वस्त्र धारण करता है, भस्म अथवा रक्त चन्दन का त्रिपुण्ड अंकित करता है, रुद्राक्ष की माला धारण करता है, जप तथा अर्चन करता है, नित्य दान देता है, वेदादि, गुरु एव देवता में आस्था रखता है, वह दिव्य-भाव का साधक है। यह साधक नारियों के चरणों का वदन-स्तवन करता है, उन्हें नित्य गुरुवत् मानता है। रात में देवी की पूजा करता है, भोजन कर के जप करता है, कुल-वृक्ष (मंत्र-तंत्र की ज्ञाता कुल-नारी) का अभिनन्दन करता है, आद्या को सर्वस्व अर्पित कर देता है, इस विश्व को शक्ति-सम्पन्न देव तुल्य मानता है, इस प्रकार शिव सबमे है और शिव-शक्ति दोनों अखिल विश्व में व्याप्त हैं इस भावना से अनुप्रेरित हो कर वह देवता

भाव उपलब्ध करने को सदा यत्नशील रहता है।[1] ऐसी साधना को 'कौलाचार' अथवा 'कौल-मार्ग' की संज्ञा प्रदान की गयी है। इस 'कौलाचार' को साधना के क्षेत्र में सर्वोपरि ठहराया गया है। वह गुह्य से भी गुह्य तथा सार से भी सार वस्तु है जो साक्षात् परमतत्त्व है। जो सुकृतीजन 'कौलाचार' में प्रवेश करते हैं वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[2] इस मत में 'कुल' तथा 'अकुल' महत्त्व के विशिष्ट शब्द हैं। कुल यदि शक्ति है तो अकुल शिव। इस साधना का परम लक्ष्य इन दोनों में 'समरस' का स्थापित करना है।[3] जीव के सांसारिक प्रपंच से क्षुब्ध एवं पीड़ित रहने का कारण दोनों के संयोग का अभाव है। इस प्रपंच से छुटकारा पाने का उपाय दोनों में सामरस्य स्थापित करना है।

पञ्च-मकार

शक्ति-साधना में पंच तत्त्वों के साथ-साथ पंच-मकारों का भी उल्लेख पाया जाता है। गुरु-तत्त्व, मंत्र-तत्त्व, मनस्तत्त्व, देव-तत्त्व तथा ध्यान-तत्त्व—इन्हें पंच-तत्त्व कहा गया है और मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा एवं मैथुन को पंच-मकारों में गिनाया गया है। इनके सेवन का उद्देश्य सदाशिव से ऐक्य स्थापित करना है जिसके द्वारा साधक मोक्ष की प्राप्ति करे। 'कामाख्या-तंत्र' के अनुसार साधु पुरुष को जगदम्बिका का अर्चन नारी के साथ इन पंच-मकारों की सहायता से करना चाहिए।[4] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जो लोग पंच-मकारों से रहित हो कर देवी की पूजा करते हैं, उनकी आयु, विद्या, यश और धन का नाश हो जाता है।[5] तंत्र-ग्रन्थों में इनकी सेवन-विधि का विस्तृत निरूपण भी किया गया है। साधक किस मंत्र द्वारा शैय्या पर त्रिकोण बनाए, किस मंत्र से आदि-शक्ति की पूजा मानसिक भाव से सम्पन्न करे, किस मंत्र द्वारा शैय्या को नमस्कार करें, कैसे मूल-मंत्र का जप करे,[6] कैसे शक्ति (साधना के लिए नियत नारी) का आवाहन, अभ्यंग, स्नान, सज्जा, शैय्या पर स्थापन, षडंगन्यास, मातृकान्यास आदि करे—इन सबका विधान प्रस्तुत किया गया है।

यह सारा विधान ऐहिक भोग के रूप में नहीं, निस्संग साधना के रूप में प्रतिपादित किया गया है। स्पष्टतः इस साधना में चंचल चित्त का साधक असफल ही रह जाएगा। 'रुद्रयामल' में बतलाया गया है कि जो साधक शक्ति (नारी-विशेष) को मातृ-रूप में न ग्रहण कर नारी-रूप में स्वीकार करता है और उसके अनुरूप आचरण करता है वह सौ करोड़ जन्मों तक घोर नरक में निवास करता है।[7]

इस प्रकार तांत्रिक उपासक अपनी उपासना में षोडशी शक्ति के रूप में तत्कालीन सभी द्वन्द्वों में सामरस्य का अनुभव करता है और अन्त में विश्व की अनन्य-सापेक्ष अनिर्वचनीय पूर्णता को प्राप्त कर वह शिव से अभिन्न बन जाता है।

नारी और पुरुष-तत्त्व

बौद्ध धर्म पर तंत्र-साधना का प्रभाव उस समय पड़ा जब महायान सम्प्रदाय प्रचलित हो चुका था। फलस्वरूप नागार्जुन के 'विज्ञानवाद' के दुरूह सिद्धान्तों का स्थान लोकप्रिय तत्त्व लेने लगे थे। बौद्ध देवी-देवताओं एवं उनकी पूजा का विधि-विधान होने लगा था। काम-भावना की

आनन्दवादी मनोवृत्ति से अनुप्रेरित हो कर वज्रसत्त्व और महातारा जैसी मूर्तियाँ तैयार की जाने लगी थीं। एक ओर भूत-प्रेत, पिशाचादि की पूजा और मोहिनी, मारिणी आदि विद्याओं में विश्वास जोर पकड़ता गया तो दूसरी ओर हठयोग, लययोग, मंत्रयोग जैसी साधना-पद्धतियों का समावेश हुआ। मंत्र और मुद्रादि का प्रचलन पहले से ही था, अब पंचमकार की प्रधानता हो गयी। वज्रयानी उपासना में तो इनका उपयोग खुल कर किया जाने लगा। हठयोग के प्रचलित शब्दों को नये अर्थ प्रदान किये गये, किन्तु जनता द्वारा इनका अभिधार्थ ही गृहीत हुआ। सहज, मिथुन और युगनद्ध जैसी आख्याएँ पर्यायवाची बन गयीं। सहज-साधना में आत्म-अनात्म-निरपेक्ष होने के कारण परात्पर तत्त्व सहज बन गया। प्रज्ञा तथा उपाय लक्षण-स्वरूप समझे जाने लगे जो वास्तव में शून्य और करुणा से अभिन्न थे। इनमें से प्रज्ञा नारी-तत्त्व है और उपाय, पुरुष-तत्व। सहज-साधना का लक्ष्य इन दोनों का मिलन तथा सामरस्य है। किसी कुमारी तरुणी के साथ मुद्रा बनाने की प्रक्रिया चलती है। सिद्ध कण्हपा ने तरुणी का सम्बोधन इस प्रकार किया है :—

> हे तरुणी, इस पार्थिव जीवन में तुम्हारे निरन्तर स्नेह-दान के बिना दिव्य ज्ञान की उपलब्धि कैसे सम्भव है ?
>
> जिस (साधक) ने नारी का वरण कर अपने चित्त-रत्न को अविचलित बना लिया है, वही वास्तव में 'वज्रनाथ' है। जिस प्रकार पानी में नमक घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार यदि वह उस तरुणी के साथ सम्पृक्त रहे, तो उसका चित्त सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर पूर्ण समरस में विलीन हो जाता है।[८]

किन्तु जैसा कि 'प्रज्ञोपाय'-विनिश्चय-सिद्धि में वर्णित है, यह स्मरणीय है कि साधक इस पूरी प्रक्रिया में इस प्रकार सक्रिय हो कि उसका चित्त अविचलित बना रहे, क्योंकि अन्य दशा में पूर्णत्व की प्राप्ति उसे न हो सकेगी।[९]

इन्द्रभूति-कृत 'ज्ञान सिद्धि' के अनुसार साधक को उस नारी से भी घृणा नहीं होनी चाहिए जिसके सारे शरीर में कोढ़ रोग हो और वह समाज की किसी भी श्रेणी की क्यों न हो। इतना ही नहीं 'मन की निर्विकल्प दशा में' पूर्णता प्राप्त करने के लिए ऐसी कुमारी का उपभोग भी वर्जित नहीं है जो अभी रजस्वला न हुई हो, किन्तु बोधिचित्त से सम्पन्न हो।[१०]

हर्बर्ट गुन्थर ने साधना नारी के इस समावेश की व्याख्या इस प्रकार की है :—

> इस नारी-पूजा तथा स्त्री-सेवन के मूल में यौन-वासना की पार्थिव तुष्टि की भावना उपस्थित नहीं है, अपितु मुद्रा, वज्र और बोधिचित्त जैसे शब्द केवल ऐसे ही प्रसंगों प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ मनुष्य के नवीन संस्कार की चर्चा की गयी है। इन शब्दों द्वारा विश्व तथा मनुष्य की पहेली के समाधान का प्रयास नहीं, वरन् साधकों द्वारा आत्मज्ञान से प्राप्त सत्यों का परिचय देने का यत्न किया गया है। सामान्य भाषा की असमर्थता के ही कारण गहरी भावानुभूतियों को शब्द के माध्यम से व्यक्त करने के प्रयास में शुद्ध धार्मिक भावना से अनुप्रेरित हो कर ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया गया समझा जाना चाहिए।"[११]

वैष्णव धर्म पर प्रभाव

उपर्युक्त प्रभावों से वैष्णव धर्म भी अछूता न रह सका। उसकी सहज-भावना पर स्पष्ट ही तांत्रिकों का प्रभाव लक्षित होता है। शाक्त मत वाले तांत्रिकों में जो स्थान शिव तथा शक्ति को मिला है, वही महत्व बौद्ध सहजयानियों मे प्रज्ञा एवं उपाय को प्राप्त है। इसी प्रकार वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में राधा तथा कृष्ण का ऐसा ही स्थान दिखायी देता है। तात्त्विक दृष्टि से इनमे परस्पर कोई अन्तर नहीं है। संसार भर के नर-नारी राधा तथा कृष्ण का प्रतिनिधित्व करते है। कृष्ण यदि मदन हैं तो राधा मादन। कृष्ण रस हैं और राधा रति। एक भोक्ता है तो दूसरा भोग्य। इसी राधा-कृष्ण-तत्त्व की विलास-लीला, आमोद-प्रमोद युक्त संयोग-संभोग का आनन्द सहज-साधना का परम काम्य है। यह लीला निरन्तर मन-वृन्दावन और नित्य-वृन्दावन मे चला करती है। यहाँ पर नित्य-वृन्दावन में नित्य-लीला की मान्यता है, किन्तु वे यह भी मानते है कि उक्त नित्य-लीला की अवतारणा न केवल वन-वृन्दावन में हुआ करती है, अपितु प्रत्येक नर-नारी के लौकिक मिलन में वह राधा-कृष्ण के प्रणय-मिलन जैसा चरितार्थ हुआ करती है। प्रत्येक पुरुष के भीतर कृष्ण का 'स्वरूप' है जो वास्तविक सत्य है और 'रूप' उसका बाह्य जीवन है। इसी प्रकार प्रत्येक नारी के अन्दर राधा का 'स्वरूप' है और उसका बहिर्मुख जीवन 'रूप' है। फिर भी 'रूप' में 'स्वरूप' स्थित है। फलस्वरूप नर-नारी के मिलन में तात्त्विक दृष्टिकोण से राधा-कृष्ण की विलास-लीला फलवती होती रहती है। यही कारण है कि यहाँ पर प्रत्येक नारी को राधा और प्रत्येक नर को कृष्ण की मान्यता प्राप्त है। नर-नारी का परस्पर सहज आकर्षण वास्तव में राधा-कृष्ण की मिलनेच्छा है। सहज का स्वरूप इस आकर्षण की निर्बाध परिणति है और इसकी सार्थकता तभी संभव है जब कि नर-नारी अपने को अन्तःकरण से राधा-कृष्ण मान सके। ऐसी दशा में लौकिक भी अलौकिक बन जाता है।

परकीया-भाव

मानव के आध्यात्मिक जीवन का सूत्रपात वहीं से आरम्भ हो जाता है, जहाँ से वह 'रूप' मे 'स्वरूप' की उपलब्धि कर लेता है। ऐसी दशा में मानव-जीवन भी आदरास्पद बन जाता है और पार्थिव सौन्दर्य तथा दिव्य सौन्दर्य का भेदभाव समाप्त हो जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय मे काम को 'निजेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा' और प्रेम को 'कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा' कहा गया है। यह भेद भी तभी तक बना रहता है, जब तक नारी-नर के मिलन और राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला में अन्तर का बोध बना रहता है। मिलन-अनुभूति के एक होते ही उसकी प्रकृति दिव्यत्व प्राप्त कर लेती है। सहजिया सम्प्रदाय वालों की दृष्टि में 'निजेन्द्रिय-तर्पण' और 'कृष्णेन्द्रिय-तर्पण' दोनों एक एवं अभिन्न हैं। उनकी मान्यता के अनुसार प्रेम की उत्पत्ति काम से होने के कारण ही वह हेय अथवा त्याज्य नहीं है। उनकी दृष्टि में मनुष्य से भिन्न भगवान् की कोई पृथक् स्थिति नहीं है। इस प्रकार यौन-भावना के स्वच्छन्द और स्वाभाविक प्रवाह को छूट मिल गयी है। यही कारण है कि 'राग-साधना' अथवा 'नायिका-साधना' स्वकीया के साथ प्रायः असंभव है। वैवाहिक मर्यादा

अमर्यादित यौन-विलास को बढ़ावा तथा प्रश्रय देती है, अतएव सहज प्रेम में परकीया-भाव को ही महत्त्व प्राप्त है।

वैष्णव धर्म-साधना पर तंत्र का प्रभाव कृष्णभक्ति धारा तक ही सीमित नहीं है। वैष्णव तंत्रों के अनुसार उनका विषय दो प्रकार का है: एक का सम्बन्ध यदि सृष्टि विषयक सिद्धान्तों से है तो दूसरे का उसके साधन-मार्ग से। 'नारद पांचरात्र'[१२] द्वारा 'रात्र' शब्द का अभिप्राय 'ज्ञान वचन' जान पड़ता है जिसका समर्थन अहिर्बुध्न्य संहिता'[१३] द्वारा प्राप्त होता है। इसमें जितना सृष्टि तत्त्व को महत्त्व प्राप्त है, उतना जीव एवं जगत्-तत्त्व के रहस्योद्घाटन को नहीं। इसके साधन मार्ग में भी जो स्थान 'क्रिया' तथा 'चर्या' को प्राप्त है वह 'योग' को नहीं। 'बैखानस आगम' में इसकी भरपूर चर्चा मिलती है। 'सात्वत तंत्र' के अनुसार ज्ञान, क्रिया और लीला के भेद के आधार पर भक्ति के तीन रूप सामने आते हैं—निर्गुण, कर्मजा और प्रेममयी[१४]। फिर भी 'अहिर्बुध्न्य संहिता' 'न्यास' अथवा 'शरणागति' को ही भक्ति का वास्तविक रूप स्वीकार करती है।

प्रतीक तथा रूपक के रूप में नर-नारी के संयोग-संभोग का वर्णन प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। 'ऋग्वेद' (१०।१२९।५) में स्वधा एवं प्रयति का संयोग इसी कोटि का है। 'छान्दोग्योपनिषद्' (२।१३।१-२) में वामदेव्यसाम की उपासना के प्रसंग में ऐसा ही भाव व्यक्त है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'(४।३।२१-२२) की उक्ति भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। 'पद्मपुराण' उत्तराखण्ड, (६४-६८) तथा 'भागवत' (१०।२९।१३-१५) में भी 'काम' का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसे भगवत्प्राप्ति का एक साधन स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में भी मैथुनोपासना के प्रमाण मिल जाते हैं। 'कथावत्थु' मे कहा गया है कि 'एकाधिपायेन मेथुनो धम्मो सेवितब्बो' अर्थात् संकल्पनिष्ठ होकर धर्म के लिए नर-नारी मैथुन-रत हो सकते हैं। इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में मादन-भाव तंत्र-साधना की एकान्त विशेषता नहीं है।

हर्बर्ट गुन्थर का मत है कि "ये सभी साधनाएँ इस मान्यता पर अवलंबित हैं कि यौन-वासना का न तो एकदम दमन संभव है, न विसर्जन। यह स्पृहणीय भी नहीं है। इसलिए उसके परिष्कार अथवा उन्नयन द्वारा मानव की मौलिक आनन्दवृत्ति को प्रबुद्ध एवं विकसित कर उसे चिन्मय आनन्दानुभूति के दिव्यलोक में प्रतिष्ठित करना संभव है। इन गुह्य साधनाओं की एक विशिष्ट मान्यता यह है कि जिस प्रकार सृष्टि का मौलिक तत्त्व एक था और रमणेच्छा से अभिभूत हो कर वह दो बना, उसी प्रकार वह फिर द्वैत-भाव से परावर्तन कर एक तथा अद्वैत बनने को आतुर है। इसी अद्वैत स्थिति को, जिससे द्वन्द्व का उद्वेलन तिरोहित हो गया रहता है, सहज, मिथुन अथवा युगनद्ध आदि संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है। सहज, मिथुन अथवा युगनद्ध की यह अवस्था विरोधी तत्त्वों (नर-नारी) के पूर्ण सामरस्य तथा उनकी अतिक्रान्ति का प्रतीक है।[१५] ●

टिप्पणियाँ

१. कुब्जिका तंत्र, सप्तम अध्याय।

२. दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि॥२०॥

गुह्याद् गुह्यतमं देवि सारात्सारतरं परम्।
साक्षात्परतरं देवि कर्णात्कर्णगतं कुलम्॥२१॥
प्रविशन्ति कुलधर्मं ये वै सुकृतिनो नराः।
ते पुनर्जननीगर्भं न विशन्ति कदाचन॥२३॥
(—कुलार्णव, द्वितीय समुल्लास)

३. कुलं शक्तिरिव प्रोक्तम् कुलमकुलं शिव उच्यते।
कुले कुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥
(—सौभरिय भास्कर, पृ० ५३)

४. मदैर्मांसैस्तथा मत्स्यैः मुद्राभिर्मैथुनैरपि।
स्त्रिया सार्द्धंसदा साधुरर्चयेज्जगदम्बिकाम्॥७६॥

५. चण्डिकां पूजयेद् यस्तु विना पंचमकारकैः।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशोधनम्॥ (—कौलावलि १)

६. ॐ प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीमुचाम्।
धर्माधर्मकलास्नेह पूर्णमग्नौ जुहोम्यहम् स्वाहा॥ (—प्राणातोषणी)

७. मातृरूपां परित्यज्य स्त्रीरूपां शक्तिमा चरेत्।
स याति नरकं घोरं जन्मकोटिशतानि च॥९१॥

८. H. V. Gunther: Yugnaddha: The Tantric View of Life Introduction, p. IV.

९. वही, पृष्ठ ४५
१०. वही, पृष्ठ ४८
११. वही, पृष्ठ ४६-४७
१२. रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।—१।४४।५
१३. अहिर्बुध्न्य संहिता, ११।६४
१४. सात्त्वत तंत्र, ४।१२।१६

प्राकृतिक भूगोल की प्राचीन भारतीय विकास-परम्परा

●

मायाप्रसाद त्रिपाठी

प्राचीन भारतीयों के मस्तिष्क में पृथ्वी के निर्माण, संरचना और स्वरूप, महाद्वीपों औ समुद्रों के उद्‌भव, भूकम्प, भूगर्भ और ज्वालामुखी आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ उठती ही थीं, साथ-साथ वे तर्क, अनुमान और कल्पना के द्वारा उन जिज्ञासाओं के समाधान भी खोजते रहते थे। इस प्रकार वे कभी तो दुर्बोध्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं की चमत्कारपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या खोज निकालते थे, कभी सत्य का प्रातिभ आभास-मात्र पा कर रह जाते थे और अनेक बार अनुमान और कल्पना के आधार पर पुराख्यानों का वास्तु निर्मित कर डालते थे। इसीका विवरण इस लेख में प्रस्तुत किया गया है।

ऋग्वैदिक प्रश्नकर्ता अत्यन्त से भूगोल के बहुत ही साम्प्रत ायुक्त प्रश्न उठाता है[1] :—

"पुरोहित ! मैं तुमसे पूछता हूँ—पृथ्वी का अन्तिम छोर क्या है? मैं तुमसे पूछता हूँ—पृथ्वी की नाभि क्या है? मैं तुमसे पूछता हूँ—वृष्टि प्रदान करने वाले अश्व की गर्भाधानशक्ति क्या है. . . ?"

किन्तु पुरोहित इन प्रश्नों का सम्यक् उत्तर नहीं दे पाता। प्रश्नकर्ता को केवल कर्म ; बातों के गहन जंगल में भटका कर छोड़ देता है।

फिर भी वैदिक मन्त्रों में भूगोल शास्त्र की कुछ बातें इतस्ततः बिखरी हुई हैं। उन्हें संकलि तुत किया जा रहा है। ऋग्वेद १०।८१।१ में यह भावना अभिव्यक्त है कि अत्यन्त काल में किसी समय पृथ्वी आग का जलता हुआ गोला थी। १।५९।२ में कहा गया . ी की नाभि का केन्द्र अग्निमय है। ७।४।५ सूचित करता है कि "पृथ्वी में अग्नि विद्यमा ़चा २।१२।२ में "पृथ्वी के दृढ़ीकरण", "पर्वतों के स्थिरीकरण" तथा "आकाश ए

ऊर्ध्वलोकों को ठोस" बनाने की बात कही गयी है। १०।१२१।४-५ में ससागरा पृथ्वी के ठोस रूप धारण करने का परिनिर्देश आया है। इन तीन ऋचाओं में कदाचित् यह इंगित किया गया है कि आरम्भ में पृथ्वी "पिघली वस्तु के रूप" में तथा वायव्य एवं द्रव रूप में थी, ठोस रूप में नहीं।

मन्त्र १।३७।७-८ में निश्चित रूप से भूकम्प की चर्चा की गयी है और उसका कारण मरुत बताया गया है। परवर्ती काल की ज्ञान-विज्ञान की बातें इसकी और पुष्टि करती हैं। इस भावना की सन्ततता उशना (ईसवी शताब्दी के आरम्भ के आसपास) की पंक्तियों में इस प्रकार निहित है[२] :—

चत्वारीमानि भूतानि कम्पयन्ति वसुन्धराम्।
आपःशचीपतिश्चैव हव्यवाहः प्रभञ्जनः ।।

मंत्र ८।२०।५ भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद के लोगों को ज्वालामुखी का ज्ञान था अथवा नहीं। किन्तु उसमें अग्नि और पर्वतों के सम्बन्ध की चर्चा आयी है और एक पद इस प्रकार है—"पर्वतों को धारण करने वाली अग्नि।"[३] दो मंत्रों में[४] अग्नि को पुर-विध्वंसक कहा गया है। किन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि इनमें ज्वालामुखीय उद्गार का ही परिनिर्देश है।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में पर्वतों को भूधर कहा गया है और उपाख्यानों में यह भी वर्णन है कि पहले पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा भी सकते थे। कहा नहीं जा सकता कि इन कथनों का निहितार्थ क्या है; किन्तु ऋग्वेद में भी इन दोनों बातों की चर्चा आयी है। यदि दोनों बातों का वैज्ञानिक अर्थ लगाने की चेष्टा की जाय, यह मानते हुए कि ऋग्वेद में बहुसंख्यक प्राकृतिक, भौगोलिक तथा ऋतुभौतिकीय बातों का आलङ्कारिक तथा प्रतीकात्मक ढंग से निदर्शन किया गया है, "जैसा वर्गन ने दर्दुर का अर्थ कोई ऋतुभौतिकीय बात लगाया[५] है" तो उपर्युक्त कथनों में समस्थिति सिद्धान्त (Theory of Isostacy)[६], महाद्वीपो के स्थानान्तरण (continental drift), ज्वीशेनबर्ग (Zwischengebirge)[७] तथा पर्वत-निर्माण की भौतिक प्रक्रियाओं के बीजरूप वर्णन की कुछ झलक मिलती है।[८] यदि उपर्युक्त दोनों कथनों को उपाख्यानात्मक रूप में न भी ग्रहण किया जाय, तो भी उनकी पदावली वही बात द्योतित करती है।

तैत्तिरीय संहिता कहती है कि पहले लोगों को पृथ्वी के अल्पांश मात्र का ही ज्ञान था और उस पर पेड़-पौधे न थे। कालान्तर में अधिकाधिक प्रदेशों का ज्ञान प्राप्त होता चला तथा तरु-गुल्म भी उगने लगे।[९] ऋग्वेद की भाँति[१०] शुक्ल यजुर्वेद[११] से द्योतित होता है कि आर्यों को ज्ञात था कि भूगर्भ अग्नि से व्याप्त है। अधोलिखित मन्त्र से इस बात की और भी पुष्टि होती है—**मातेव पुत्रं पृथ्वी पुरीष्यमग्नि स्वे योनावभारुखा।**[१२]

अथर्ववेद में पर्वतीय भागों की उत्क्रान्ति और टूट-फूट का परिनिर्देश है।[१३] आगे चल कर भूकम्प का भी संकीर्तन आया है।[१४] तदनन्तर एक स्थान पर ऐसा इंगित है जिससे परिलक्षित होता है कि ऋषि यह जानते थे कि पृथ्वी के उद्भव के दीर्घ काल के पश्चात् उसका दृढ़ीकरण हुआ

और वह ठोस हो पायी।[१५] तत्पश्चात् एक प्रसंग में[१६] स्यात् ज्वालामुखी का भी नाम आया है। सामवेद दिखाता है कि तत्कालीन भारतीयों को भूकम्प तथा भूपटल के उपप्लवों (tectonic movements) का भी ज्ञान था।

महाकाव्य

रामायण के कई छन्दों के निर्वचन से लक्षित होता है कि तत्कालीन लोग यह जानते थे कि पृथ्वी अपने जीवनेतिहास की किसी न किसी अवस्था में आग का गोला थी अथवा रहती है।[१८] यद्यपि १।३७।१६-१७-१८ में प्रायेण उपाख्यानात्मक बातें ही कही गयी हैं, फिर भी उनमें पर्वत-रचना-सम्बन्धी प्रक्रियाओं (orogenetic processes) तथा आग्नेय, ज्वालामुखीय एव वायव्य क्रिया-कलापों के भी कुछ तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। रामायण से ज्वालामुखी का ज्ञान स्पष्ट परिलक्षित होता है। एतदर्थ ५।३५।४३ विशेष अवलोकनीय है। ६।२२।३४ और ४० में भूपटल की व्यापक और आकस्मिक धसक, भूगर्भ से जल के सवेग उद्गार, पृथ्वी की गड़गड़ाहट, राम के बाण अथवा ज्वालामुखी के विस्फोट से स्थान-विशेष के जलने अथवा आक्रान्त होने और एक विशिष्ट प्रकार के भूविन्यास वाले मरुस्थल के उद्भव की बात निश्चित रूप से कही गयी है। एक स्थान पर[१९] "एक पर्वत के दो प्रज्वलित ज्वाला-विवरों" (craters) का स्पष्ट उल्लेख है, यद्यपि टीकाकार ने उसका अर्थ 'दावाग्नि' लगाया है, जो भ्रान्तिपूर्ण है।

भूकम्प की चर्चा तो रामायण में कई बार आयी है।[२०] ५।३५।४५ में एक भयंकर भूकम्प का उल्लेख है जिसमें एक विशाल पर्वत आन्दोलित हो उठा था। एक स्थल पर[२१] भूकम्प और उसके साथ पर्वत के टूटने-फूटने का स्पष्ट उल्लेख है। भूकम्प के कारण के सम्बन्ध में एक छन्द[२२] कहता है, "जब पुनीत अवसरों पर क्लान्ति से दिग्गज अपना सिर हिलाते हैं तो भूचाल होता है।" यह कारण भार्गवीय में दिखाये हुए कारण से भिन्न है, जहाँ कहा गया है कि भूचाल इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा मरुत् की क्रियाओं के परिणामस्वरूप होते हैं।[२३] इससे यह भली भाँति सिद्ध है कि रामायण-कालीन लोगों को ज्वालामुखी के क्रिया-कलापों, भूकम्प तथा भूपटल की बनावट में उसके प्रभाव और एतत्सम्बन्धी बहुत से तथ्यों का अच्छा ज्ञान था।

रामायण में समुद्र-गह्वर की उत्पत्ति का किञ्चित् वर्णन मिलता है।[२४] इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से महाद्वीपों के उद्भव की ओर भी वह संकेत करता है। परन्तु वह सर्वथा उपाख्यानात्मक है, उसमें वैज्ञानिकता का पूर्ण अभाव है। वह केवल इतना ही दिखाता है कि तत्कालीन लोग एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भौगोलिक बात के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने लगे थे और उस सम्बन्ध में कार्य-कारण की दिशा में भी कुछ सोचने लगे थे। उक्त वर्णन का इसके अतिरिक्त कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। १।४० में खुदाई की जो बात कही गयी है वह भी औत्सर्गिक रूप से भूतत्त्व के सम्बन्ध में केवल जिज्ञासा ही अभिव्यक्त करती है।

रामायण में भूपटल के हिलने और धँस जाने (submergence)[२५] की, समुद्र-गह्वर से एक पर्वत के निकलने[२६] की, भूपटल और पर्वत की क्षैतिज एवं लम्बप्रस्थ गति[२७] की, समुद्र के समीपस्थ भाग में तथा उसके मध्य में भूकम्प के कारण भूमि के धँस जाने तथा एक उत्तुंग पर्वत के

घसकने और मैदान की उत्पत्ति की स्पष्ट चर्चा की गयी है [२] ६ ७४ ५६ मे
ढग से भूमि के अन्तरग भाग और केन्द्र का भी वणन है

एक प्रसंग में सूखे हुए समुद्र-तल्प की सूचना उपलब्ध है।[३०] एक छन्द[३१] में अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान और उसके सूखने तथा गंगा द्वारा उसके पुनः भरे जाने की बात कही गयी है।

आदिकाण्ड के सैंतीसवें सर्ग में खनिज द्रवों की उत्पत्ति, आग्नेय तथा जलीय कार्यो एव एतत्सम्बन्धी अन्य प्रक्रियाओं का वर्णन मिलता है। "तदनन्तर हुतभुक् अग्नि ने गंगा से कहा, 'तुम हिमवान् के पार्श्व में अपने गर्भ का मोचन करो।' अग्नि के इन शब्दों को सुन कर, हे निष्पाप! परमशक्तिमती गंगा ने अपने अप्रतिम रूप से भास्वर गर्भ का अपनी धाराओं से मोचन किया। जिस समय वह गंगा के शरीर से निकला उस समय वह उत्तप्त द्रवीभूत काञ्चन की आभा का था; और उसके जाज्वल्यमान् गुणों के कारण उसके समीपस्थ तथा दूरस्थ पदार्थ समुद्भासित सुवर्ण और रजत में परिणत हो गये, तथा जो द्रव्य उससे बहुत दूर स्थित थे, वे ताम्र और लौह बन गये। गगा के गर्भ से निकले हुए मलादि सीसे में रूपान्तरित हो गये। इस प्रकार पृथ्वी पर नाना प्रकार की धातुएँ अभिवर्धित होने लगीं। जैसे ही गर्भ पृथ्वी पर उन्मुक्त हुआ था, वैसे ही उसकी शक्ति के सम्पर्क से पर्वत के निकटस्थ वन स्वर्ण में परिवर्तित हो गये!"[३२] यह यथार्थ है कि यह वर्णन अधिकांशतः उपाख्यानात्मक है। इसमें वैज्ञानिक तथ्य का जो थोड़ा अंश है, वह केवल इतना ही है कि खनिज द्रव्य प्रायः आग्नेय शिलाओं में पाये जाते हैं और वे मिश्रित रूप में मिलते है। इससे दूसरी बात यह विदित होती है कि तत्कालीन लोग सम्पर्क-शिला-रूपान्तरण (contact metamorphism) के विषय में कुछ जानते तथा अनुमान लगाते थे।

महाभारत में एक स्थल पर द्रवीभूत धातु उगलने वाले ज्वालामुखी पर्वत की चर्चा आयी है।[३३] यह निश्चित रूप से ज्वालामुखी के उद्गार का द्योतक है। भूकम्पों की भी असकृत् चर्चा बिखरी मिलती है। भूपटल के ऊपर उठने की बात इस प्रकार कही गयी है—"......सप्त-द्वीपों, पर्वतों, नदियों और वनों सहित पृथ्वी चार हाथ ऊपर उठ गयी।"[३४] अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान की घटना का इतिवृत्त[३५] यह दिखाता है कि कभी अत्यन्त प्राचीनकाल में किसी स्थान का समुद्र-तल्प सूख गया था जिसका परवर्ती काल में लोगों ने निरीक्षण और अनुशीलन करने की चेष्टा की थी। एक प्रसंग में यह कहा गया है कि पर्वत पृथ्वी-तल के नीचे भी बहुत दूर तक धँसे और फैले हुए हैं।[३६] यह कथन आधुनिक समस्थिति सिद्धान्त (Theory of Isostacy) से पूर्णतया मेल खाता है।

कदाचित् हरिवंश के विष्णु पर्व में[३७] कृत्रिम ढंग से समुद्र-तल्प के सुखाने की बात कही गयी है, जैसा आजकल नेदरलैंड में डाइकों के निर्माण में किया जाता है।

मनुस्मृति

मनुस्मृति के सृष्टि-उत्पत्ति-वर्णन के विवेचन में मनुस्मृतिकार ने समुद्र-तल्पों तथा महाद्वीपों के उद्भव के विषय में बड़ी ही सुष्ठु बौद्धिक जिज्ञासा अभिव्यक्त की है और उस सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त भी उपस्थित किया है।[३८] मनुस्मृति का प्रथम अध्याय

सूचित करता है कि पृथ्वी के निर्मित हुए लगभग १,९६,९१,९३,००० वर्ष बीत चुके। आधुनिक भूतत्ववेत्ताओं ने भी गणना द्वारा पृथ्वी की वर्तमान आयु इतनी ही निर्धारित की है।[39]

पुराण

मार्कण्डेय पुराण में[40] महाद्वीपों तथा पर्वतों के उद्भव एवं सन्तरण (floatation) की भावना इस प्रकार व्यक्त की गयी है :—

> **"पृथ्वी एक विशालकाय नौका की भाँति समुद्र-तल पर तिरती रही, अपने विपुल विस्तार के कारण डूबी नहीं। तत्पश्चात् उन्होंने पृथ्वी को समतल किया और पर्वतों की रचना की। प्राचीनकाल में जब प्रलयाग्नि ने उसे भस्मीभूत कर डाला था, तो उस पर स्थित पर्वतवृन्द भी उस अग्नि द्वारा सर्वथा क्षार कर दिये गये थे। शिलाएँ उस महासमुद्र मे विलीन हो गयी थीं और पवन ने जल को एकदम उछाल दिया था; जहाँ कहीं शिला-राशियाँ अवशिष्ट रह गयी थीं, वहाँ पर्वत उत्पन्न हो गये। फिर उन्होंने पृथ्वी के विभाग किये, उसे सप्तद्वीपों से अलंकृत किया, तथा . . . ।"[41]**

इस अनुच्छेद के अनुशीलन से तीन बातें दृष्टिगोचर होती हैं—(१) पर्वत किसी आदिम काल में ब्रह्मा द्वारा निर्मित किये गये थे। (२) कालान्तर में वे शिला-राशियों की परिणति से वर्तमान रूप में आये। इसमें पर्वत-निर्माण की शक्तियों के क्रिया-कलाप का उल्लेख सन्निहित है। 'अवशिष्ट रह गयी थीं'—इस पद में ज्वीशेनबर्ग (Zwischengeberge) की भावना की ओर इंगित है।[42] (३) मूलतः समग्र स्थल-भाग एक इकाई था। कालान्तर में वह महाद्वीप-रूपी कई खण्डों में विभक्त हो गया। यदि इन पंक्तियों में १९१२ में जर्मन भूतत्ववेत्ता वेगनर द्वारा प्रतिपादित पैंगिया-भावना तथा महाद्वीप-पृथक्करण-सिद्धान्त को पढ़ने की चेष्टा की जाय तो कदाचित् वह दूरारूढ़ कल्पना न होगी।[43]

इसी विषय का प्रायः सदृश पदावलियों में निदर्शन करते हुए वायुपुराण कहता है[45] कि कठोर शिलाओं से पर्वतों की रचना की गयी थी।

मनुस्मृति की भाँति पुराणों में भी पृथ्वी की आयु के सम्बन्ध में सूचनाएँ उपलब्ध हैं। पुराणों के इन अध्यायों में काल-स्वरूप (काल-मापन) तथा मन्वन्तरों[46] का निरूपण है। ये विवेचन पुराण-साहित्य की प्रमुख विशेषताओं में से हैं। इन विवेचनों में पृथ्वी की जो आयु निर्धारित की गयी है, वह आधुनिक विज्ञान की गणनाओं से पूर्णतया मेल खाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणो को पृथ्वी के स्थल-मण्डल, अधः-स्थल-मण्डल (psysosphere) तथा भूगर्भ-मण्डल (barysphere) जैसे विभागों की भी कुछ भावना थी। उन्होंने पृथ्वी की समस्त गहराई या मुटाई को सात मण्डलों या स्तरों में विभक्त करने की चेष्टा की है और उन्हें सप्त-पाताल (अन्तरग-मण्डल या अञ्चल) के नाम से अभिहित किया है। विष्णुपुराण की अधोलिखित पंक्तियाँ[47] द्रष्टव्य हैं :—

विस्तार एष कथितः पृथिव्या भवतो मया।
सप्ततिस्तु सहस्राणि कथ्यते १।

दशसाहस्रमेकैकं पातालं मुनिसत्तम।
अतलं वितलं चैव नितलं च गभस्तिमत्॥
महाख्यं सुतलं चाग्र्यं पातालं चापि सप्तमम्॥२॥

इनकी विष्णुचित्तीय व्याख्या में कहा गया है—"विस्तार इति। सप्तति सहस्रोच्छ्रायत्व सप्तभूमिकप्रासादन्यायेन॥१॥ दशसहस्रमिति॥ दशसहस्रेण भूमितद्विवरमान-विभाग:... ।—"सततल्ले सौध की कथन-पद्धति की भाँति सत्तर सहस्र की ऊँचाई।" इससे स्पष्ट है कि पुराण-कारों के मस्तिष्क में आधुनिक भूतात्त्विकों के स्थल-मण्डल, अध:स्थल-मण्डल तथा भूगर्भ-मण्डल की भाँति विविध स्तरों की भावना अवश्य विद्यमान थी। भूतात्त्विक बनावट के वर्णन की चेष्टा इसे और भी प्रतिपादित कर देती है—"शुक्लाकृष्णारुणा: पीत: शर्करा: शैलकाञ्चना:।" [८]

पुराणों के काल तक भारतीयों को ज्वालामुखी, ज्वालामुखीय उद्‌गार, क्रियाओं तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातों एवं भूकम्प का पर्याप्त ज्ञान हो चुका था। किन्तु ज्वालामुखी कैसे उत्पन्न होते हैं, इस सम्बन्ध में तत्कालीनों ने जो कारण दिये हैं, वे केवल उपाख्यानात्मक हैं। वैसे यदि उन उपाख्यानात्मक तथ्यों का प्रतीकात्मक अर्थ लगाया जाय तो उनमें यत्किंचित् वैज्ञानिक सत्यता भी दृष्टिगत हो सकती है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने के लिए तार्किक आधार भी उपलब्ध हैं, जैसा तथ्यों के चित्रोपम वर्णन की शब्दावलियों से द्योतित होता है।

ब्रह्मपुराण एक स्थल पर ज्वालामुखी का इस प्रकार वर्णन करता है[९] :—

अन्तर्भूमिगतस्तत्र बालुकान्तर्हितो महान्॥६२॥
× × ×
संवत्सरस्य पर्यन्ते सनिश्वासं विमुञ्चति।
यदा तदा मही तत्र चलतिस्म नराधिप॥६४॥
तस्य निश्वासवातेन रज उद्‌धूयते महत्।
आदित्यं प्रथमावृत्य सप्ताहं भूमिकम्पनम्॥६५॥
सविस्फुलिङ्गसाङ्गारं सधूममतिदारुणम्।
तेन तात न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्वाश्रमे॥६६॥
मुखयेनाग्निना क्रोधाल्लोकानुद्वर्तयन्निव॥

यहाँ क्षार, अग्नि, स्फुलिंग तथा धूम के उद्‌गार के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्वाला-मुखी-सम्बन्धी समस्त बातों का पूर्ण और सूक्ष्म निरीक्षण किया गया था। 'निश्वासवातेन' पद का प्रयोग इंगित करता है कि लोग यह समझने लगे थे कि ज्वालामुखी के उद्‌गार में वायव्य शक्तियों या वाष्पोद्‌गार का हाथ होता है। यहाँ ज्वालामुखी के उद्‌गार के साथ होने वाले भूकम्प का भी उल्लेख है जो वर्णन को पूर्णता तथा नैसर्गिकता प्रदान करता है।

इसी प्रकार वायुपुराण[१०] में भी एक ज्वालामुखीय भूभाग का चित्रवत् वर्णन किया गया है :—

मध्ये तस्यां शिलास्थल्यां त्रिंशद्योजनमण्डलम्।
ज्वालासहस्र-कलिलं वह्नि-स्थानं सुदारुणम्॥३९॥

सदा ज्वालामाली विभाश्च ।
ज्वलत्येव सदा देव. शश्वत्तत्र हुताशनम् ॥४०॥
अधिदेवकृते योऽसावग्रे भागो विधीयते ।
स तत्र ज्वलते नित्यं लोकसंवर्तकोऽनलः ॥४१॥

'त्रिशंद्योजनमण्लम्' से ध्वनित होता है कि उस भूभाग का क्षेत्रफल कम से कम २०० वर्गमील था।

कदाचित् समस्त भारतीय साहित्य में 'ज्वालामुखी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग शिवपुराण मे किया गया है :—[५१]

पतिता पर्वते तत्र पूजिता सुखदायिनी ॥४१॥
ज्वालामुखीति विख्याता सर्वकर्मफलप्रदा ॥४२॥

एक सुप्रसिद्ध पौराणिक ज्वालामुखी पर्वत का नाम 'वैभ्राज' है। इसका यह नाम आग्नेय प्रक्रियाओं के कारण रखा गया था।[५२]

यस्माद् विभ्राजते वह्निर्विभ्राजस्तेन स स्मृतः।

ज्वालामुखियों के प्रसंग में भूकम्प का परिनिर्देश किया गया है। पूर्ववर्ती अनुच्छेदो से यह भी निरूपित हो चुका है कि दोनों प्राकृतिक बातें युगपत् भी दृष्टिगोचर होतीं हैं। आगे भूकम्प, पर्वतों के टूटने-फूटने तथा पृथ्वी के परिवल्कीय उपप्लवों (tectonic disturbances) का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"....पर्वतों के उच्छिन्न हो कर गिरने के कारण पृथ्वी काँप उठी; और पृथ्वी काँपने से समुद्र मे जलौघ उत्पन्न हो गया; फिर पृथ्वी पाताल की दिशा मे नीचे की ओर झुक गयी।"[५३] भूकम्प के कारण के सम्बन्ध में विष्णु पुराण कहता है—"जब शेषनाग आनन्द विभोर हो कर जँभाई लेते है, तो सागर एवं वनों से घिरी हुई पृथ्वी काँपने लगती है।"[५४]

यह बात कई पुराणों में कही गयी है कि पर्वत पृथ्वी-तल के नीचे बहुत दूर तक धँसे हुए है।[५५] भागवत पुराण कहता है कि मेरु की जड़ पृथ्वी के नीचे बहुत दूर तक गयी है।[५६] वायु पुराण[५७] घोषित करता है कि भूधर पृथ्वी को सन्तुलित रखते हैं। इन पंक्तियों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि पुराणकारों को समस्थिति सिद्धान्त का कुछ न कुछ भान अवश्य था। जब हम ऋग्वैदिक काल से आरम्भ होने वाली दीर्घकालिक परम्परा पर सम्यक् दृष्टिपात करते हैं, तो यह बात और भी युक्तियुक्त तथा साधार दिखायी पड़ती है।

स्कन्दपुराण की एक पंक्ति में समुद्र-जल के हटने का इस प्रकार संकीर्तन आया है[५८] —

समुद्रेण प्रदत्ता मे भूमिर्द्वादशयोजना ॥२५॥

भूकम्प-विज्ञान

प्राचीन भारत में ज्योतिष तथा गणित की ही भाँति भूकम्प-विज्ञान के भी अध्ययन-अध्यापन की बहुत ही सुव्यवस्थित परिपाटी प्रचलित थी। ख्रीष्टाब्द के आरम्भ के पर्याप्त पूर्व

भूकम्प विज्ञान की नींव पड चुकी थी किन्तु इसके अनुशीलन का ढंग सर्वथा वही था जो ज्योतिष का भूकम्प विज्ञान का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जाता था फलित विधान के लिए तथा वैज्ञानिक उद्देश्य से। साधारणतया दोनों उद्देश्यों को मिला दिया गया है, जिससे अधिकांश विवेचन उपाख्यानात्मक तथा काल्पनिक हो गया है। उसमें बहुधा अपरिमार्जित, अविकसित तथा उथली जिज्ञासा की गन्ध आती है। फिर भी प्राचीन भूकम्प-विद्या का विश्लेषण कम महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार के विध विज्ञानों से सम्बद्ध प्राय: सभी प्राचीन वैज्ञानिकों ने इस शास्त्र पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। ऐसे वैज्ञानिकों में काश्यप, गर्ग, वशिष्ठ, उशना, पराशर, बृहस्पति तथा वराह मिहिर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वराह मिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में भूकम्प पर पूरा एक अध्याय (बत्तीसवाँ) लिख डाला है और उसका शीर्षक रखा है 'भूकम्प-लक्षणाध्याय:'। बारहवीं शताब्दी का बल्लाल सेन-विरचित 'अद्‌भुतसागर' इस विज्ञान के विषय में प्रभूत सूचनाएँ देता है। इस ग्रन्थ में इस विषय पर पचीस पृष्ठों का एक पृथक् अध्याय है--'भूकम्पाद्‌भुतावर्त'। इसमे विविध अति प्राचीन ग्रन्थों तथा स्रोतों से सूचनाएँ संगृहीत की गयी हैं।

भूकम्प के कारण के विषय में बृहत्संहिता में अनेक मत उद्‌धृत किये गये हैं:[५९]—"कुछ लोगों का विचार है कि भूकम्प भूगर्भ में वर्तमान विविध शक्तियों (सत्त्व) के कारण होता है; दूसरे लोगों का कथन है कि जब पृथ्वी का भार वहन करने वाले दिग्गज क्लान्त हो कर उच्छ्‌वास करते हैं, तो भूचाल होता है; एक दूसरे वर्ग का मत है कि भूकम्प की उत्पत्ति पृथ्वी-गर्भ में घोर गर्जन करने वाली वायु के उपप्लव के परिणाम-स्वरूप होती है; कतिपय विशेषज्ञों की धारणा है कि भूकम्प का कारण हम लोगों के ज्ञान के परे है।"

यहाँ 'सत्त्व' शब्द का अर्थ बहुधा 'जीव' लगाया जाता है। किन्तु इस शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात यह कि सभी विशेषज्ञों ने 'सत्त्व' शब्द का ही व्यवहार किया है—उसके पर्यायों का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। दूसरी बात यह कि 'सत्त्व' का अर्थ 'ऊर्जा' या शक्ति भी होता है।[६०] इसी सन्दर्भ में काश्यप कथन भी उद्‌धृतव्य है:—

अर्णवस्योपरि पृथिवी सशैलवन-कानना।
स्थितातन्मध्यगाः सत्त्वाः संक्षोभाच्चालयन्ति ताम्॥

गर्ग श्रान्तदिग्गजों के उच्छ्‌वास की बात कहते हैं।[६१] वशिष्ठ का मत है, "जब कोई प्रबल प्रभञ्जन अन्तरिक्षस्थ वायुमण्डल से टकराता है, तो वह तुरन्त नीचे आ जाता है, और इससे प्रभञ्जन द्वारा उत्पन्न गड़गड़ाहट होती है। जब वह उतरता हुआ प्रभञ्जन उस भूभाग के सम्पर्क में आता है जिसमें पानी रिस-रिस कर व्याप्त हुआ रहता है, तो गड़गड़ाहट होती है और सम्पर्क या टकराहट से भूकम्प आता है।"[६२] यद्यपि वशिष्ठ ने 'पानी के रिसने का' उल्लेख कर भूचाल के यथार्थ कारण के एक अंश के ज्ञान का आभास दिया है, परन्तु यह नहीं समझ में आता कि उपर्युक्त समग्र भावना उनके मस्तिक में आयी कहाँ से, क्योंकि वह अधिकांशत: बड़ी विचित्र और अनर्गल हैं।

इन सभी विशेषज्ञों में उशना का मत सबसे अधिक वैज्ञानिक और तर्कप्रतिष्ठ है; यद्यपि [illegible] भी काल्पनिक भावनाओं से पूर्णतया विमुक्त नहीं हो पाये हैं। वे कहते हैं[६३]:—

चत्वारीमानि भूतानि कम्पयन्ति वसुन्धराम्।
आपःशचीपतिश्चैव हव्यवाहः प्रभञ्जनः॥
पूर्वां सहस्रनयनो दक्षिणां हव्यवाहनः।
आपः पश्चाद् उदीचीं च स चचाल प्रभञ्जनः॥

"भूकम्प चार कारणों से उत्पन्न होता है—जलात्मक, ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य।" दूसरे छन्द में बताया गया है कि किस कारण से किस दिशा में भूचाल होता है। उशना के बताये हुए जलात्मक, आग्नेय तथा वायव्य कारण सर्वथा वैज्ञानिक हैं।[६४] इसमें आधुनिक भूतत्त्ववेत्ताओं का 'तापज कारण' (thermal cause) समाविष्ट है। ऐन्द्र प्रक्रिया के उल्लेख में बहुत सम्भवतया प्रतीकात्मक ढंग से पृथ्वी के परिवल्कीय या गत्यात्मक उपप्लवों की बात कही गयी है। किन्तु दूसरा छन्द सर्वथा काल्पनिक या भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। यदि उसका दूरारूढ प्रतीकात्मक अर्थ निकाला जाय तो बात दूसरी है, अर्थात् भूकम्प का कारण पूर्व (आसाम क्षेत्र) में परिवल्कीय उपप्लव है; दक्षिण (पठार) में आग्नेय क्रिया है; पश्चिम (समुद्री भागों तथा मलक्का आदि द्वीपों) में जल का रिसना है; तथा उत्तर (काश्मीर क्षेत्र) में वायव्य (gaseous) क्रिया है।

बराह मिहिर ('मयूर-चित्रक' में), पराशर, गर्ग, वृहस्पति, भार्गवीय, अथर्वणाद्भुत तथा अन्य अनेक स्रोत[६५] भूकम्प के सम्बन्ध में और भी बहुत सी सूचनाएँ देते हैं। परन्तु वे सभी फलित ज्योतिष की बातों की भाँति उपाख्यानात्मक, काल्पनिक और अनर्गल हैं। इन विविध प्रसगों में बताया गया है कि विभिन्न प्रकार के भूकम्प रात्रि या दिन के किन प्रहरों में होते है। तदनन्तर भूकम्पों के काल तथा दिशा के शुभ-अशुभ फलों पर विचार किया गया है। यहाँ उन सभी बातों की विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वे सर्वथा निराधार एव अवैज्ञानिक हैं।

भार्गवीय में भूकम्प से होने वाले हानि-लाभ का भी निदर्शन है।[६६] परन्तु उसमें सर्वत्र फलित ज्योतिष की ही आत्मा प्रतिविम्बित है, उसमें भूतात्त्विक तथा भौगोलिक हानि-लाभ को ढूँढ़ने का श्रम निरर्थक है; यद्यपि यह सत्य है कि ऐसे सभी ग्रन्थकारों को व्यावहारिक जगत् के निरीक्षण के आधार पर बहुत-सी यथार्थ बातें अवश्य विदित रही होंगी।[६७]

भार्गवीय तथा वृहत्संहिता में यह भी बताया गया है कि चारों प्रकार के भूकम्पों का कितने-कितने क्षेत्र में प्रभाव होता है। भार्गवीय[६८] में सूचित किया गया है कि वायव्य, आग्नेय, ऐन्द्र तथा वारुण भूकम्पों का प्रभाव-क्षेत्र क्रमशः १२०, ९०, ८०, तथा ७० योजनों में होता है। वृहत्संहिता में प्रभाव-क्षेत्र-सम्बन्धी आँकड़े कुछ भिन्न हैं। वह कहती है कि इन चारों प्रकार के भूकम्पों का प्रभाव क्षेत्र क्रमशः २००, ११०, १८० तथा १६० योजन होता है।[६९]

राजतरंगिणी में भूकम्प और आनुषंगिक बातों का बड़ा ही वैज्ञानिक वर्णन दिया हुआ है। कदाचित् उसके रचयिता कल्हण ने अपनी आँखो से शिला-द्रवों को प्रवाहित होते देखा था—**भूकम्पैर्गण्डशैला नानाधातुद्रवैरिव**—"......जैसे भूकम्प के कारण वृहत् शिलाओं में से नाना प्रकार की द्रव धातुएँ पृथक् हो जाती हैं।"[७०]

प्राचीन भारत में रत्न-विद्या तथा खनिज-विज्ञान भी पर्याप्त विकसित दशा में थे। **कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र ४०० ई०-पू० पुराणो के विविध अश यथा गरुड पुराण का अध्याय**

६८), वैद्यक-ग्रन्थों (रसार्णव तथा रत्न-समुच्चय आदि) के अनेकानेक अध्याय एवं रत्न-विज्ञान तथा रत्न परीक्षा के अनेक ग्रन्थ इस बात का सुनिश्चित साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इन विज्ञानों की विविध बातों—रत्नों तथा धातुओं की समुपलब्धि-विधि (modes of *occurrence*), समुपयोजन (exploitation) तथा वितरण (distribution) आदि—का सम्यक् अनुशीलन निर्विवाद सिद्ध कर देता है कि प्राचीन भारत में प्रायोगिक या व्यावहारिक भूतल[1] सदैव उत्कर्षोन्मुख रहे। भूगर्भस्थ जल तथा जल-तल सम्बन्धी विज्ञान के स्वतन्त्र ग्रन्थों की उपलब्धि, बृहत्संहिता में वराह मिहिर द्वारा पूरे एक अध्याय में उनका विवेचन[61] तथा तत्सम्बन्धी मनु के[72] परिनिर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि भूतत्त्व तथा एतादृश विज्ञान के अध्ययन और व्यवहार की परिपाटी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

वास्तु-विद्या के स्रोत

भोज-कृत 'समरांगणसूत्रधार'[64] में भी महाद्वीपों, समुद्र-तल्पों, पर्वतों तथा नदियों के उद्भव का वर्णन है। उसमें एतद्विषयक परम्परागत ज्ञान में यथेष्ट संशोधन किया गया है तथा कुछ नयी बातें जोड़ कर वैज्ञानिक सैद्धान्तिक परिमार्जन और परिष्कार की भी नूतन चेष्टा की गयी है। उसमें कहा गया है, "सर्वप्रथम पृथ्वी आग का गोला (युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था में) थी। तदनन्तर वह एकार्णवी अवस्था (एक समुद्र की अवस्था) में आयी। फिर वायु ने सूर्य की प्रचण्ड किरणों की सहायता से उस जल को सुखाया और पृथ्वी का नवोदय हुआ तथा अनन्तनाग (एक उपाख्यानात्मक सर्प या प्रतीकात्मक अर्थ के अनुसार आकाश) विष्णु-शैया के रूप में उसका आधार बना। जहाँ-जहाँ जल नहीं सूखा, वे ही स्थान सागर बन गये। महाबलवाली विपुल लहरों से ताड़ित एवं अत्यन्त प्रचण्ड वायु के झोंकों से उद्वेलित पृथ्वी के विविध विषम स्थल यत्र-तत्र पर्वतों के रूप में परिणत हो गये। पर्वतों ने पृथ्वी को चर्मावरण के समान तान दिया तथा धरातल पर सन्तुलन स्थापित करने का कार्य-भार ग्रहण किया। पर्वतों का सीमा-विभाजन करने वाली नदियों का प्रादुर्भाव हुआ। सागरों और महाद्वीपों के बीच द्वीपों का जन्म हुआ। इस प्रकार सरिताओं, सागरों, पर्वतों एवं महाद्वीपों तथा द्वीपों में विभक्त पृथ्वी का निर्माण हुआ।"

यहाँ स्पष्टतया 'मध्यगत पदार्थ' (median mass) की भावना अभिव्यक्त की गयी है। बीसवें छन्द में आने वाली एक पदावली 'जगाम घनतां पयः' इस मत को और पुष्टि प्रदान करती है। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन में आधुनिक पर्वतोत्पत्ति सिद्धान्त (Theory of Orogenesis) स्पष्ट दृग्गोचर होता है।[65] तदनन्तर पर्वतों को धरातल पर सन्तुलन स्थापित करने वाला कहा गया है। इस कथन में निश्चित रूप से समस्थिति-सिद्धान्त (Theory of Isostacy) की कुछ भावना अभिव्यक्त दीखती है।

जैन-साहित्य

जैनों ने स्थल-मण्डल, अधः-स्थल-मण्डल तथा भूगर्भ-मण्डल के सम्बन्ध में भी कुछ जाँच-पड़ताल तथा सोचने की चेष्टा की थी। 'तत्त्वार्थाधिगम',[66] 'तिलोयपण्णत्ती'[67] (पाँचवीं शती) तथा 'जीवजीवाभिगमोपाङ्गम'[68] (२५० ई० पू० के पूर्व) तीनों में ही इस सम्बन्ध में एक ही बात

कही गयी है। उसमें थोड़े-बहुत वैज्ञानिक तथ्य के साथ-साथ काल्पनिक बातें भी बहुत-सी मिली हुई हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों ने पृथ्वी की समस्त मुटाई को सात भागों या स्तरों में विभक्त किया है—(१) **रत्नप्रभा**, इसके तीन उपस्तर हैं—खर-भाग, पंक-भाग तथा अव्वहुल-भाग; खर-भाग मे सोलह स्तर हैं; (२) **शर्कराप्रभा** (कँकड़ीला भाग)[७९]; (३) **बालुकाप्रभा** (बालुकामय भाग); (४) **पंकप्रभा** (पंकिल या तरल भाग); (५) **धूमप्रभा** (वायव्य भाग); (६) **तमःप्रभा** (अज्ञात); तथा (७) **तमस्तमप्रभा** (महातमःप्रभा—सर्वथा अज्ञात)। इन तीनो ग्रन्थों में इन विभिन्न स्तरों की काल्पनिक मुटाई भी दी हुई है। 'तत्त्वार्थ' के तृतीय अध्याय के सूत्र की टीका में कहा गया है कि पृथ्वी-गर्भ में इतना अधिक ताप है कि उसमें हिमालय के बराबर ताम्रपिण्ड पिघल जा सकता है।

बौद्धों की विचारधारा

'दीघ-निकाय' में एक शब्द आता है 'लोकाख्यायिका'।[८०] टी० डब्लू० आर० डैविड्स ने इसका अनुवाद किया है '...speculations about the creation of the land or sea' अर्थात् 'समुद्रों तथा महाद्वीपों के उद्भव से सम्बद्ध बातों पर कल्पनाएँ'। यह शब्द इस बात की ओर इंगित करता है कि बौद्धों ने महाद्वीपों तथा समुद्र-तत्त्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुमान-मूलक विचारणा या गवेषणा आरम्भ कर दी थी।

बौद्ध-वाङमय में भूकम्प, ज्वालामुखी और उनकी आनुषंगिक बातों एवं परिणामों का असकृत् उल्लेख आया है। 'शीलवनाग जातक'[८१] के अनुसार एक बार पृथ्वी फट गयी और उसमे विशाल दरार हो गयी तथा उससे भयावह लपटें निकलने लगीं। एक और जातक,[८२] 'मिलिन्द-पञ्हो',[८३] 'महावंश',[८४] 'दिव्यावदान',[८५] तथा 'दीघनिकाय'[८६] में भी भूकम्प का उल्लेख मिलता है। "मिलिन्दपञ्हो"[८७] कहता है कि भूकम्प के आठ कारण हैं, परन्तु उसमें गिनाये हुए एक के सिवा सभी कारण उपाख्यानात्मक मात्र हैं। उक्त एक कारण के अनुसार पानी में क्षोभ होने (पानी के रिस-रिस कर भूगर्भ में पहुँचने) से भूकम्प होता है। इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'दिव्यावदान' मे भी यह बात कही गयी है।[८८] 'मिलिन्दपञ्हो' और 'दिव्यावदान' में पृथ्वी-परिवल्कीय टूट-फूट (crumblings) या उपप्लवों की भी चर्चा है। 'मिलिन्दपञ्हो' कहता है—"**सिनेरु-गिरिकूट सैलसिखरो विनमानो होति।**"[८९] 'दिव्यावदान' कुछ और विशद वर्णन प्रस्तुत करता है—"**षड्विकारः पृथ्वीकम्पो जातः। इयं महापृथ्वी चलति, संचलति, व्यधति, प्रव्यधति, संप्रव्यधति। पूर्वदिग्भाग उन्नमति, पश्चिमोऽवनमति, पश्चिम उन्नमति, पूर्वोऽवनमति, दक्षिण उन्नमत्युत्तरोऽव-नमति।...**"[९०] एक आगे के अवदान में भी इस कथन की पुनरावृत्ति की गयी है।[९१] महा-वस्तु में भी भूमि के धसकने और उठने की बात कही गयी है।[९२] 'दिव्यावदान' के आठवें अवदान मे ज्वालामुखी की चर्चा आयी है। 'दीघ-निकाय' के एक स्थल से[९३] परिलक्षित होता है कि तत्कालीन लोग भूकम्प के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना जानते थे। पता नहीं उनके इस कार्य मे वैज्ञानिकता का आधार कितना होता था। कोवेल तथा नील के कथनानुसार 'दिव्यावदान' के अन्तिम भाग में भूकम्प-विद्या-सम्बन्धी कई बातों का समावेश था।[९४] पाण्डुलिपि की जीर्णता तथा भ्रष्टता के कारण उसका न हो सका।

टिप्पणियाँ

१ १।१६४।३४।

२. वल्लालसेन के 'अद्‌भुतसागर' के पृष्ठ ३८५ पर उद्‌धृत। विशेष दे०, उसी ग्रन्थ के इसके पूर्ववर्ती पृष्ठ।

३. ७।६।२।

४. ७।६।१–२।

५. Vedic Mythology, p. 151

६. ७।९९।३।

७. २।१७।५।

८. 'The Physical Basis of Geography' by Wooldridge and Morgan, Chap. VI, Mountain Building.

९. २।१।२।३।

१०. ६।७।१।

११. ७।२४।

१२. वही १२।६१।

१३. २।५।५।

१४. १९।९।४।

१५. १९।३२।९।

१६. २०।३४।२।

१७. २।३।७।

१८. १।५५।२८; १।५६।१९।

१९. ५।१।५६ म० ना० दत्त कृत अनुवाद, पृ० ८७७।

२०. १।६५।१४; ४।३९।९ तथा ६।७७।१३।

२१. १।६७।१८।

२२. १।४०।१५।

२३. वल्लालसेन के 'अद्‌भुतसागर' में उद्धृत। यहाँ इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा मरुत् का प्रतीकात्मक अर्थ इस प्रकार लगाया जा सकता है—इन्द्र = उपप्लव, भीषण गति; वरुण = जल और उसकी क्रियाएँ; अग्नि = अग्नि और ताप तथा उनके कार्य; तथा मरुत् = वायव्य क्रिया-कलाप।

२४. १।५।२ तथा ७।२३।२१।

२५. १।४५।२७।

२६. ३।३३।६।

२७. ५।१।९२।

२८. ५।१।११८–११९।

२९. ५।५६।४९–५०।

३०. २।४७।१८।

३१. १।२४।४ (टीका भी देखिए)।

३२. १।३७।१६–२१।

३३. महाभारत ५।१८१।३० पृष्ठ २४९।

३४. महा० ८।९०।१०४।

३५. वही ३।१०५।

३६. वही १।१८।३।

३७. २।५८।३८।

३८. १।२३–२४ : "किन्तु अग्नि, पवन तथा सूर्य से उन्होंने (सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने) . . . समुद्रों, पर्वतों, मैदानों तथा विषम भूमियों का निर्माण किया।"

३९. विशेष दे० 'Manu Dharma Shastra' by K. Motawani, p. 231.

४०. इसकी तुलना आधुनिक सियाल (Sial) तथा सीमा (Sima) के सन्तरण-सिद्धान्त से कीजिए (Theory of Isostacy—'The Physical Basis of Geography, by Wooldridge and Morgan)। डॉ० हे० च० रायचौधुरी ने भी गरुड़ पुराण की एतादृश पंक्तियों (५४।४) का ऐसा ही अर्थ लगाया है—'Studies in Indian Antiquities' p. 64—65.

४१. मार्कण्डेयपुराण ४७।१०–१४।

४२. पिछले पृष्ठों में वर्णित वैदिक भावना से तुलना कीजिए।

४३ Chap IV 'Physical Basis of Geography' as referred above.

४४. अंश १।४। तुलना कीजिए—स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड, अध्याय ३७।१४–१
, ८।१२–१६ तथा अन्य पुराण। ४५. ८।१४ (...शिलाभिरचिनोद्‌गिरीन्)

४६. विष्णुपुराण, अंश १, ३।८ से २८; अंश ३, अध्याय १, तथा अन्य पुराण।

४७. विष्णुपुराण, अंश २, अध्याय ५; अग्निपुराण १२०।१ :—

तलानां चैव सर्वेषामूर्ध्वतः सप्त सप्तमाः।
क्ष्मातलानि धरा चापि सप्तधा कथयामीव।—लिङ्गपुराण ४५।२३।

ना कीजिए—'सिद्धान्त-शिरोमणि', भुवनकोश २३।

४८. विष्णुपुराण, अंश २,५।३। ४९. अध्याय ७।

५०. अध्याय ३८। और दे० शिवपुराण उत्तर० ५।३७।१६–१७।

५१. २।२।२।४१–४२। ५२. मत्स्यपुराण १२२।१८।

५३. मार्कण्डेय ९।१६–१७। ५४. अंश २, ५।२३।

५५. मार्कण्डेय ५४।१५; लिङ्ग ४८।२; तथा अन्य पुराण।

५६. ५।१६।७। ५७. ३५।११।

५८. प्रभास० द्वा० मा० ४।२।२५।

५९. क्षितिकम्पमाहुरेके महान्तर्जलनिवासिसत्वकृतम्।
भूभारखिन्नदिग्गजनिःश्वाससमुद्‌भवं चान्ये।
अनिलोऽनिलेन निहतः क्षितौ पतन् सस्वनं करोत्यन्ये।
केचित् त्वदृष्टकारितमिदमन्ये प्राहुराचार्याः॥—अद्‌भुत सागर, पृ० ३८३

६०. "द्रव्यासु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु"—अमरकोश। मॉनियर विलियम्स ने
पने कोश में 'सत्त्व' का एक अर्थ ऊर्जा दिया है। दे० उनका संस्कृत-अंग्रेजी कोश, पृ० ११३५

६१. अद्‌भुतसागर, पृ० ३८३।

६२. वही, पृ० ३८४ :—

यदातिबलवान्वायुरन्तरिक्षानिलाहतः। पतत्याशु सनिर्घातो भवते वायुसंभवः॥
तस्य योगान्नियततश्चलत्यद्म्यो हताक्षितिः। सोऽभिघातसमुत्थः स्यात् सनिर्घातमहीचलः॥

६३. अद्‌भुतसागर, पृ० ३८५।

६४. इन्द्र को पर्वतों या उत्तुंग भूमियों को तोड़ने वाला (गोत्रभिद्) कहा गया है

६५. अद्‌भुतसागर, पृ० ३८५ से आगे। ६६. वही, आगे के पृष्ठ।

६७. किन्तु रामायणकार को भूकम्प तथा ज्वालामुखी के हानि-लाभ का पर्याप्त
स्थित ज्ञान था। दे० पूर्व पृष्ठ। ६८. अद्‌भुत सागर, पृ० ४०८।

६९. बृहत्संहिता ३२।२८। ७०. ८।१८८१।

७१. दे० प्रस्तुत अनुसन्धान-प्रबन्ध का सप्तम अध्याय।

७२. अध्याय ५३, और उसकी भट्टोत्पल-कृत टीका।

७३ दे० प्रस्तुत का चतुर्थ —

प्रस्तुत लेखक ने भारतीय विदुषी नामक (मणिलाल गंगोपाध्याय लिखित तथा इंडियन प्रेस प्रयाग द्वारा प्रकाशित) एक छोटी किन्तु बड़ी रोचक पुस्तक देखी है। वह यह दिखाती कि वराह मिहिर और उनके पुत्र मिहिर के समय के आसपास भूतत्त्व का बड़ा सुचारु औ सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाता था। उक्त पुस्तिका में एक आख्यानात्मक वर्णन में कहा गया है कि केवल मिहिर ही नहीं, अपितु उनकी पत्नी खना भी भूतल के विशिष्ट अध्ययन के लिए विदेश गयी थी। उस क्षेत्र में वह अपने पति से भी बाजी मार ले गयी थी। इससे इतना तो पता चलत ही है कि महिलाएँ भी भूतत्त्व का विशिष्ट अध्ययन करती थीं। उस आख्यान में यह भी कहा गया है कि गुरु के भूतत्त्व-सम्बन्धी विविध प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न दे सकने के कारण मिहिर ने अतिशय क्षुब्ध तथा ग्लानि-संतप्त हो कर भूतल के तमाम बहुमूल्य ग्रन्थों को समुद्र में फेंक दिया। यह सारा आख्यान सत्य हो या असत्य, किन्तु वह इतना तो संकेत करता ही है कि भूतत्त्व के अनुशीलन की परिपाटी बहुत प्राचीन है।

७४. अध्याय ४, छन्द २० से २७।

७५. Chap. VI, 'Physical Basis of Geography' as referred above.

७६. १।२१; सूत्र १ तथा २ और उनकी टीका; तथा अध्याय ३।

७७. द्वितीय मताधिकार।

७८. सूत्र ६९, ७३ तथा उनकी टीका। इस ग्रन्थ में 'काण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है। टीका कहती है, "काण्डं नाम विशिष्टो भूभागः"—'पृथ्वी के विशिष्ट स्तर का नाम काण्ड है।'

७९. वे १६ स्तर या काण्ड ये हैं :—(१) रत्न-काण्ड, (२) वज्र-काण्ड, (३) वैदूर्य-काण्ड, (४) लोहित-काण्ड, (५) मसारगल्ल-काण्ड, (६) हंसगर्भ-काण्ड, (७) पुलक-काण्ड, (८) सौगन्धिक-काण्ड, (९) ज्योतिरस-काण्ड, (१०) अंजन-काण्ड, (११) अंजन-पुलक-काण्ड, (१२) रजत-काण्ड, (१३) जातरूप-काण्ड, (१४) अंक-काण्ड, (१५) स्फटिक-काण्ड तथा (१६) रिष्टरत्न-काण्ड।

८०. १।१।१७, पृ० १४।

८१. जातकों का अँग्रेजी अनुवाद, कोवेल द्वारा सम्पादित। जिल्द १, सं०, ७२, पृ० १७६।

८२. वही, जिल्द ६, सं० ५४७, पृ० २५३, २६५।

८३. ४।१।३५, पृ० १७०।

८४. गिगर तथा बोड-कृत अँग्रेजी अनुवाद, १९२०, ३।३९-४०।

८५. पृ० ३६५।

८६. डेविड्स तथा कारपेण्टर द्वारा सम्पादित मूल १६।३।१३, पृ० १०७।

८७. ४।१।३५, पृ० १७०।

८८. पृ० २०४।

८९. बडेकर द्वारा सम्पादित, १९४०, पृ० १२१।

९०. 'दिव्यावदान', पृ० ४।

९१. वही, पृ० ३६५।

९२. जे० जोन्स-कृत 'महावस्तु' का अँग्रेजी अनुवाद, १९४९, । जिल्द १, पृ० ३४।

९३. भाग १, ११।२४० पृ० २०।

९४. कोवेल तथा नील द्वारा सम्पादित, पृ० ६४९-५०।

प्रतिपत्तिका

'प्रतिपत्तिका' के अन्तर्गत हम नियमित रूप से अपने लेखकों की सामयिक टिप्पणियाँ, शोधोपयोगी सूचनाएँ और तत्सम्बन्धी सामग्रियों का परिचय, नवान्वेषित कृतिकारों या कृतियों का परिचय तथा नयी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ प्रकाशित किया करेंगे। यह कार्य सुदुष्कर है, किन्तु हम कला, संस्कृति एवं साहित्य के हर अन्वेषी से इस क्षेत्र में सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। हमारा विश्वास है, यह स्तम्भ उपयोगी सिद्ध होगा और हमारे पाठक 'शोध-सार' और 'नये प्रकाशन : समीक्षकों की दृष्टि में' की ही भाँति इसका भी स्वागत करेंगे।

एक

अचलदास खीची री बचनिका

डॉ० हरीश

हिन्दी-साहित्य के आदि-काल के लौकिक-काव्यों में एक विशिष्ट कृति पन्द्रहवीं शताब्दी की 'अचलदास खीची री बचनिका' है। यह कृति प्राचीन राजस्थानी की है। इस कृति की हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, मे सुरक्षित है। इसकी प्रतिलिपि अभय जैन ग्रन्थालय में भी प्राप्त है। पूरी रचना १२१ छन्दो का एक वीर-रस-प्रधान ऐतिहासिक काव्य है जिसमें कवि ने वात-शैली का प्रयोग किया है। वात-शैली के अन्तर्गत आने वाला इसका गद्य-भाग भी काव्य की ही भाँति महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित था किन्तु श्री अगरचन्द नाहटा ने इसका सम्पादन कर इसके उद्धार का बहुत ही स्तुत्य और अभिनन्दनीय कार्य किया है।

'अचलदास खीची री बचनिका' के रचयिता श्री शिवदास है। शिवदास चारण थे तथा राज्याश्रय में रह कर ही उन्होंने यह बचनिका लिखी। कोटा राज्य के अन्तर्गत गागरोण के शासक श्री अचलदास ही इनके आश्रयदाता थे। कवि शिवदास का समय टॉड तथा टेस्सीटोरी सन् १४१८ ई० मानते हैं और मोतीलाल मेनारिया सन् १४२८ ई०। जो भी हो, यह निर्भ्रान्ति है कि रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण की है। इसमें कवि शिवदास ने अपने आश्रयदाता के युद्ध में स्वय उपस्थित रह कर उसके आँखो देखे रोमाञ्चक चित्र उपस्थित किये हैं

सारत कथानक इस प्रकार है माण्डू के सुल्तान ने गागरोण को अपने अधिकार में करन चाहा उसने से उसकी अधीनता स्वीकार करने को कहा राजपूती खून उबल पड़ा अचलदास ने युद्ध का सन्देश भेजा तथा आक्रमण को रोकने के लिए क़िले के द्वार बन्द करवा दिये। सुलतान की फौज का हमला हुआ और दोनों दलों में घोर युद्ध छिड़ गया, जिसमें अचलदास अन्ततः वीर-गति को प्राप्त हो गये। अचलदास के बलिदानी रक्त से भूमि रँग गयी। शेष सभी राजपूतों ने उस जौहर में अपने प्राणों की आहुति दी। कवि शिवदास चारण भी युद्ध में अपने आश्रयदाता के साथ थे। अन्य सभी राजपूतों को जौहर करना पड़ा परन्तु राजकुमारों के जीवन-निर्माण के लिए तथा अपने आश्रयदाता की इस वीर-गति को वाणी दे कर अमर कर देने के लिए शिवदास को जौहर से मुक्त होना पड़ा। यह युद्ध सं० १४८५ के आसपास ही हुआ था। अतः अनुमानतः रचना का सृजन भी इसी काल में हुआ होगा।

'अचलदास खीची री बचनिका' का कथानक इस दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: युद्ध-भाग और जौहर-भाग। कवि शिवदास ने स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक सत्यो की रक्षा कर कृति के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है। यही नहीं, उसने अपनी अभिव्यक्ति को ईमानदारी से वाणी देने के लिए माण्डू के बादशाह की सेना का वर्णन पहले किया है।

पूरी कृति कविता और वात दोनों शैलियों में लिखी गयी है और इसमें गाहा, दूहडा कवित्त, कुण्डलिया आदि छन्द तथा 'वात' के अन्तर्गत आने वाले गद्य-भाग प्राप्त होते हैं। यो 'बचनिका' भी राजस्थानी गद्य की एक शैली-विशेष ही है। 'वात' शीर्षक से कवि ने जहाँ-जहाँ रोमाञ्चक चित्र खींचे हैं, वे इसके गद्य की सजीवता के जीवन्त उदाहरण हैं। पूरी रचना चारण-शैली में लिखी गयी है। यों भी तत्कालीन रचनाएँ चारण और जैन, इन दो शैलियों में विभक्त की जा सकती हैं। अजैन लेखकों ने जैन-शैली में और कुछ जैन लेखकों ने चारण-शैली में रचनाएँ की हैं। परन्तु अधिकतर जैन लेखकों ने वर्णन की चारण शैली नहीं अपनायी और इस ओर उदासीन ही रहे।

रचना का प्रारम्भ कवि युद्ध की स्वामिनी महिषासुर-मर्दिनी महादेवी भैरवी तथा सरस्वती दोनों को नमन कर के करता है। कवि ने सरस्वती से पहले दुर्गा को सिर नवाया है। इससे काव्य की युद्ध-प्रधान प्रवृत्ति और चारण-शैली स्पष्ट होती है।

तउ बीस हाथ बिरोलि पै बीस हथ बिरोलिए
भावठि भामै तू तणइहि ज्यौं सुकाइ ही गौलि
पउठिम परहसियाह आरभकारी ऊपरि असुरू
देवि दुवारिथि याह बोवंति था इत बीस हथि
महिषासुरि जू माइ मरजइ महिषासुर मरै
सुर छूटे सु साहिइ बार तुहारी बीस हथि
जपइ तुहाल इकालि डहडहिया डमरूतणा
छाडे असुरि सु आलि तै बाजा रथि बीस हथि
रामायण हो रामि जे हूती कन्है सकलि
विहूणौ सामि विहूण न होइ बीस हथि॥ (१५)

रचना की प्रतिलिपि का प्रामाणिक वणन कृति की पुष्पिका मे मिल जाता है —

संवत् १६३१ वर्षं श्रावण सुदि ८ सोमदिने घटि १९ पल ३५ विशाल नक्षत्र घटी ३१।४४ ब्रह्मनामा योग घटी ५४।१० अचलदास खीची री बचनिका महाराजाधिराज महारय श्री रार्यसिह जो विजैराज्ये जाणियाढा गांव मध्ये महाराजाधिराज महारइ श्री जोधा तत्पुत्र राज श्री बीदा तत्पुत्र राज श्री संसारचंद्र तत्पुत्र श्री सांगा तत्पुत्र राज श्री सांबलदास लिखितम्। आत्मपठनाथ। सुभं भवतु। कल्याणमस्तु॥ श्री रामचन्द्रजी। (प्रतिलिपि लेखक को उपलब्ध हुई—अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर के सौजन्य से—)

'अचलदास खीची री बचनिका' का जिस प्रकार काव्य-ग्रन्थों में स्थान है, ठीक इसी प्रकार इसका गद्य-ग्रन्थों में अक्षुण्ण योग-दान है। इस कृति का गद्य अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है तथा बचनिका-शैली में लिखा गया है। बचनिका-शैली गद्य की काव्यात्मक शैली होती है। इसमें ठीक उसी प्रकार का गद्य-भाग मिलता है जैसा पद्मनाभ के आदिकालीन राजस्थानी प्रबन्ध-काव्य 'कान्हड दे प्रबन्ध' में बीच-बीच में मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में उपलब्ध रोडा या राउल-कृत शिलालेख का भी (**'हिन्दी अनुशीलन'** का धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ, १९६० में डॉ० माताप्रसाद गुप्त का **'रोडा या राउल-कृत शिलालेख'** शीर्षक लेख) आधा भाग काव्य में और आधा गद्य में है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् पद्य और गद्य-शैलियों में वस्तुवर्णन या कथा-वर्णन करने की यह प्रवृत्ति उस काल की एक विशिष्ट शैली ही थी।

दो

•

कबीर के कुछ अप्रकाशित दोहे

•

अगरचन्द नाहटा

कबीर के कुछ स्फुट पदों और दोहों का संग्रह अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर की पंचवाणी की अनेक प्रतियों में प्राप्त हुआ है। उनमें से सबसे प्राचीन प्रति सन् १५६५ ई० से १५७७ तक की लिखी हुई है। उसमें कबीर के ३६ दोहे हैं जिनमें से कुछ बाबू श्यामसुन्दर दास की 'कबीर-ग्रन्थावली' तथा डॉ० पारसनाथ तिवारी के अधिप्रबन्ध के संकलन में पाठभेद के साथ मिल जाते हैं। यहाँ उक्त ३६ दोहे पाठभेद-सहित प्रकाशित किये जा रहे हैं:—

(कबिरा) राम नाम धन पाइ करि, मतरि गमावै खोलि।
विनि पाटणि विणि पारिखू विणि गाहक विणि मोल॥१

कबिरा राम नउ लग्यौ, बात विणंठि मूलि।
मूलि हूरत गंवायौ देख तइ, परतख रह गई धूलि॥२॥

(कबिरा) गुनह[1] पराया[2] देख करि, चल्यौ[3] हसंत हसंत।
आपणा गुनह न चिंति करै[4], तिन्हि कउ पार न अंत[5]॥३॥

[पाठ-भेद—(१) दोख। (२) पराये। (३) चल्या एवं चला। (४) एवं अपनें चीति न आवइ। (५) जिनको आदि न अंत।]

(कबिरा) केसव कहि कहि कूकीयै, न सोइयै निसार।[1]
रात[2] दिवस कै कूकण[3], मत[4] कबहू सुणइ[5] पुकार॥४॥

[पाठ-भेद—(१) ना सोइयै असरार। (२) राति। (३) कूकणें। (मत) कबहूँ एवं कबहुँक। (५) लगै।]

(कबिरा) काची कारी क्या करइ, दिन दिन वधइ विराधि।
राम नाम सौं रुचि हुई, यौ ही ऊखध साधि॥५॥

(कबिरा) पाटण सुवस वसइ, आणंद ठांवै ठाइ।
राम सनेही बाहिरौ, ऊजड़ मेरइ भाइ॥६॥

कबिरा हरि सेव्यऊ नहीं, पाल्यौ कटक कुटंब।
सूंघउ करता मरि गया, बाहर भई न बूब॥७॥

कबिरा कठिणइ तउ हुइ, हरि लगण मन नाथि।
सूली ऊपर नट विद्या, डिगउ तु थाहर नाथि॥८॥

(कबिरा) सपने मांहि सामी मिल्यौ, सूती सेज बिछाइ।
डरती आँख म खोल ही, मत स्वामी उठि जाइ॥९॥

[पाठ-भेद—कबीर सुपिन हरि मिला, मोहिं सूतां लिया जगाइ।
आंखि न मीचौं डरपता, मति सुपिनां होइ जाइ॥
—सं० डॉ० पारसनाथ]

(कबिरा) महिंदी होइ कर, घाल्यौ आंख पिसाइ।
स्वामी बात न बूझइ, कदे न लाइ न पाइ॥१०।

(कबिरा) दिवस गंवायौ खाय करि, रात गंवाई सोय।
हीरा कैसउ जनम हइ, सु कवड़ी बसट न खोइ॥११।

कबिरा[1] माया डाकणीं[2], फंद[3] ले बैठी हाट।
अवरौ[4] जग धंधै पड़यौ[5], गयौ कबीरौ काट[6]। १२।

[पाठ-भेद—(१) कबीर। (२) पापणीं एवं पापिनीं (३) फंध। (
तो फंधै पड़्या एवं फंदै फंदिया। (६) गया कबीरा काटि।]

कबिरा मंद करमिया, नख सिख पाखर जाइ।
वाहण हांरौ क्या करै, जे तीर न लागै ताइ॥१३॥

(कबिरा) क्या तूं सोवै निसह भरि, उठि न झूरै दुख।
जांह वसेरा गोर विचि, से क्यौं सोवै सुख॥१४॥

कबिरा मन्दिर मांहे उजासरौ[1], दीपक कैसी जोत[2]।
खिण अेक अंधियारौ भयौ[3], काढउ[4] घर की छोति॥१५॥

[पाठ-भेद—(१) मंदिर मांहीं झलकती। (२) दीवा की सी जोति।
वलि गया। (४) अब काढौ।]

(कबिरा) साकत तैं सूवर भलउ[1], आछौ करै जु गांव[2]।
साकत बूडउ बापड़उ[3], लेय स भरणी नांव[4]॥१६॥

[पाठ-भेद—(१) सूकर भला। (२) राखै सूचा गांडं। (३) बपुरा म
गोई न लेइहै नांउं।]

(कबिरा) कोठै ऊपर कि दउरनी, सुख नींदरी न सोइ।
पुण्य पाप ए दिवस रै, उछै ठांइ म खोइ॥१७॥

कबिरा वीरा सत न छोडियै, सत छोडै वित जाइ।
सत की चेरी संपदा, बहुरि मिलेगी आइ॥१८॥

(कबिरा) भूख्यउ भूख्यउ[1] क्या करै, क्या रे सुवैण[2] लोग।
सामा[3] घड़ि जिमि[4] मुख दियौ, सोई कछु पावण[5] जोग॥१९॥

[पाठ-भेद—(१) भूखा भूखा। (२) कहा सुनावै। (३) भांडा। (
.। (५) पूरण एवं पुरवन।]

सोई सांई तन मांहे बसै, भ्रमयउ बूझै न कोई।
भाग बड़े तिन नरन्ह के, जिणि घटि परगट होइ॥२०॥

(कबिरा) सोइ[1] सांई तन मांहिं बसै, भ्रम्यउ बूझै न[2] तास।
कस्तूरी के मृग जिम[3], सूंघत डोलइ[4] घास॥२१॥

[पाठ-भेद—(१) सो। (२) मरम न जानैं। (३) का मिरिग क्यौं। (
]

कबिरा हरिणी दूबलो[1] इन हरियाले ताल
एक जीव सउ पारधी[3], केतीहेक टाल भाल[4] ॥२२॥

[पाठ-भेद—(१) कबीर हरिनीं दूबरी। (२) इस हरियारै। (३) लाख
(४) केतिक टारैं भालि।]

कबिरा काया प्राहुणी, हंस बटाउ मांहि।
क्या जाणू कह मारसी, मोय भरोसा नांहि॥२३॥

(कबिरा) माटी की ढेरी भई, नाव धरयौ तस कोट।
हंसा जोगी उडि चल्या, खोट रे लोगां खोट॥२४॥

(कबिरा बीरा) जा हम जाए से चले[1], हम भी चालणहार।
हमह जू पीछे जाइये[2] तिण भी घते[3] भार॥२५॥

[पाठ-भेद—(१) जिनि हंम जाए ते मुए। (२) हमरैं पाछैं पूंगरा। (३

(कबिरा) मन नहिं मारयउ आपणउ, जउ सात टूक हुइ जाइ।
विषय की क्यारी सींचि करि, लुणता क्यों पछताइ॥२६॥

कबिरा गाहक बाहिर्यउ, उही कह्यउ हाट बिकाइ।
आइ मिलैगो जौहरी, तब मोलि मुंहगौ थाइ॥२७॥

(कबिरा) हम जाण्यउ पढिवा[1] भला, पढिबा तैं भला[2] जोग।
कबिरा रामहि रम रह्या[3], धंधै लागा भोग[4]॥२८॥

[पाठ-भेद—(१) मैं जानौं। (२) भल। (३) भगति न छांडौं रांम की। (
जोग।]

(कबिरा) जिहि कारण जात हो, सोई पायौ ठउर।
सोई फिरि आपन भयौ, जासउ कहतउ और॥२९॥

(कबिरा) पढिया गुणिया[1] दूरि करि, पुस्तक[2] देहि[3] बहाय।
बावन आखर[4] सोझ[5] करि[6], ररै ममै चित लाइ॥३०॥

[पाठ-भेद—(१) कबीर पढिबा। (२) पुसतग। (३) देह एवं देहु। (४)
धि। (६) कै।]

(कबिरा) सब धरती कागद करउ, लेखणि करौ बणराइ।
सात समंदा मसि करउ, तो हरि गुण लिख्या न जाइ॥३१॥

[पाठ-भेद—इस दोहे का पाठान्तर चारों चरणों के आगे पीछे होने से इस
:— सात समुंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं तऊ हरि गुन लिखा न जाइ]

कबिरा[1] मंदिर दहि पड़्यौ[2], ईंट भई सैंवार।
कोई चिजारौ चिन गयौ[3], वल्यौ न बीजी बार[4]॥३२॥

[पाठ-भेद—(१) कबीर। (२) ढहि पड़्या। (३) करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी। (४) ज्यूं ढहै न दूजी बार।]

(कबिरा) हाड जलै[1] जिम[2] लाकड़ी, केस जलै[1] जिम[2] घास।
सब जुग[3] जलता देख करि, भया कबीरा उदास॥३३॥

[पाठ-भेद—(१) ख. जरै। (२) क. ज्यूं एवं ज्यौं। (३) तन एवं जग।]

(कबिरा) काया मंजन क्या करइ, कपरे धोइ म धोइ।
ऊजल हुवौ[1] न छूटियै, इनी[2] नींदरी में[3] सोइ॥३४॥

[पाठ-भेद—(१) ख. ऊजर भए। (२) ख. सुख। (३) ख. म।]

कबिरा हरि सेवउ नहीं, मोटी लागी खोरि।
काया हांडी काठ की, नांही चढ़ै बहोरि॥३५॥

कबिरा केसव की कृपा, संसै मेटै खोइ।
जे दिन भगति बिना गये, ते दिन सालै मोहि॥३६॥

तीन

•

ध्वनिग्रामशास्त्र तथा पदग्रामशास्त्र

कुछ प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का परिचय

•

महावीरसरन जैन

(१) ध्वनिग्रामशास्त्र

ध्वनिशास्त्र के अन्तर्गत हम किसी विशिष्ट भाषा की महत्त्वपूर्ण, सार्थक अथवा व्यवच्छेदक वाग्ध्वनियों का वर्णन करते हैं। ध्वनिशास्त्र तथा ध्वनिग्रामशास्त्र में अन्तर है। ध्वनिशास्त्र में मानव की वागिन्द्रिय द्वारा उत्पादित हो सकने वाले समस्त स्वनों अथवा ध्वनियों का अध्ययन

किया जाता है ध्वनिशास्त्री किसी विशिष्ट भाषा की नही अपितु भाषा मात्र की ध्वनियो का अध्ययन करता है ध्वनिग्रामशास्त्री के अध्ययन का क्षत्र किसी विशिष्ट भाषा की केवल अथभेदक शक्ति रखने वाली ध्वनियो तक सीमित होता है। दूसरे शब्दो मे ध्वानग्रामशा परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आयी हुई ध्वनियों को ध्वनिग्राम-रूप में गठित करता है और इन ध्वनिग्रामों का अध्ययन करता है। ये ध्वनिग्राम एक दूसरे से व्यतिरेकी वितरण मे होते हैं, इसी कारण परस्पर अर्थभेदक होते हैं।

(२) स्वन, वाग्ध्वनि एवं ध्वनिग्राम

मानव वागिन्द्रियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक उत्पादित "कुछ निश्चित श्रौत प्रभावों से युक्त ध्वनियाँ ही वाग्ध्वनियाँ हैं।"[१]

भाषाशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि कोई भी वक्ता किसी भी ध्वनि को प्रत्येक दूसरी बार यत्किंचित् भिन्न रूप में उच्चरित करता है। वाग्ध्वनि का प्रत्येक उच्चार एक स्वन है। वस्तुत एक ध्वनि का जितने वक्ता जितने वार उच्चार करेंगे, वे उच्चार उतनी ही बार भिन्न-भिन्न स्वन होंगे। इस प्रकार प्रत्येक वक्ता असंख्य एवं अपरिमित स्वनों का उच्चारण करता है। वागिन्द्रिय द्वारा उत्पादित साम्य एवं वैषम्य तथा वातावरण के श्रौत प्रभावों के आधार पर ध्वनिशास्त्री अपरिमित स्वनों को परिमित समूहों में वर्गीकृत करता है जिसका प्रत्येक सदस्य उस भाषा की एक ध्वनि होती है। किसी भाषा के अन्तर्गत प्रत्येक ध्वनि व्यतिरेकी नहीं होती। ध्वनियों के वितरण के आधार पर ध्वनिग्रामों का निर्धारण होता है। "ध्वनिग्राम ध्वनियो का समूह है। समूह के सदस्य सहस्वन कहलाते हैं।"[२] एक ध्वनिग्राम के जितने सदस्य होते हैं वे एक दूसरे से परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में वितरित होते हैं। कुछ भाषाशास्त्री यह भी मानते हैं कि इनमें ध्वन्यात्मक समानता का कोई गुण भी होना चाहिए। इस प्रकार ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ऐसी ध्वनियों का समूह है जिनका वितरण परिपूरक अथवा मुक्त रूप में होता है।

ध्वनिग्राम का भाषा के उच्चरित रूप से सम्बन्ध है; लिखित रूप से नहीं। वह ध्वनिग्राम किसी विशिष्ट भाषा अथवा बोली की ध्वनिग्रामिक प्रणाली का ही अङ्ग होता है। दो भिन्न भाषाओं के ध्वनिग्राम भिन्न होते हैं। यद्यपि ध्वनिग्राम का अपना कोई अर्थ नहीं होता है, तथापि ये अर्थभेदक क्षमता रखते हैं।

(३) वितरण : परिपूरक, मुक्त एवं व्यतिरेकी

वितरण से तात्पर्य कुछ भाषीय रूपों—स्वन, ध्वनिग्राम, पद, पदग्राम आदि—के घटित होने के स्थानों से है। अर्थात् जिस परिवेश की जिस स्थिति में कोई भाषीय रूप घटित होता है, वही उस भाषीय रूप की वितरण-अवस्था का द्योतक है।

जब भिन्न ध्वनियाँ सदैव भिन्न ध्वन्यात्मक परिवेश में ही घटित होती हैं तो उनके वितरण को **परिपूरक वितरण** कहते हैं। अर्थात् **परिपूरक वितरण** से तात्पर्य ऐसे वितरण से है जिसमे जहाँ एक ध्वनि वितरित होती है, वहाँ दूसरी ध्वनि कभी वितरित नहीं होती।

जब दो ध्वनियाँ बिलकुल समान परिवेश मे घटित होती हैं और उनके घटने से ही उच्चार भिन्न हो जाते हैं, तब ऐसी ध्वनियों के वितरण को **व्यतिरेकी वितरण** के नाम से अभिहित करते है। समान परिवेश में घटित हो कर व्यतिरेक करने वाली ध्वनियाँ सदैव भिन्न ध्वनिग्राम की सदस्य होती हैं।

कभी-कभी कोई उच्चार जब दो बार उच्चरित किया जाता है तो उसमें एक या अधिक ध्वनियाँ भिन्न हो जाती हैं, किन्तु उच्चार का अर्थ समान ही रहता है। अर्थात् समान परिवेश मे दो भिन्न ध्वनियों के घटित होते हुए भी उनके अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता है। उन ध्वनियो के इस प्रकार के स्थिति-वितरण को **मुक्त वितरण** कहते हैं। अर्थात् मुक्त वितरण से तात्पर्य दो ध्वनियों के समान ध्वनिग्रामिक परिवेश में ऐसे रूप में घटित होने से है, जिससे अर्थ में कोई अन्तर न पड़ने पाये।

(४) पदग्रामशास्त्र

पदग्रामशास्त्र भाषाशास्त्र का वह अङ्ग है जो हमें किसी उच्चार को सार्थक इकाइयो मे विभाजित करने के नियम बताता है।

प्रत्येक भाषा का एक सामाजिक दायित्व होता है—वक्ता से श्रोता तक किसी विचार या मनोभाव को प्रेषित कराना। विचार अथवा भाव के प्रेषण के लिए वाक्य अथवा उच्चार होते हैं। ये उच्चार उस भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों के क्रम से (जिन्हें ध्वनिग्राम अथवा उसके सदस्यों के नाम से पुकारा जा सकता है) निर्मित होते हैं। ये ध्वनिग्राम एक विशिष्ट क्रम से संयोजित होने पर एक विशिष्ट अर्थ का ही उद्घाटन करते हैं, किन्तु इन ध्वनिग्रामो का अपना कोई अर्थ नहीं होता। ये अर्थभेदक होते हुए भी स्वयं अर्थशून्य होते हैं, किन्तु इन्ही के विशेष क्रमों से निर्मित होने वाले पद, पदग्राम, शब्द, वाक्य तथा उच्चार भाषा के अर्थवान् तत्त्व होते हैं और भाषा की 'अर्थ' अथवा 'वैयाकरणिक प्रणाली' से सम्बन्ध रखते हैं।

किसी भी भाषा की गठन-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए हम वाक्य को शब्द, पद एव ध्वनियों में विभाजित करते हैं। किसी भी भाषा का इन्हीं इकाई-रूपों में अध्ययन सम्भव है। भाषा की अर्थहीन इकाई 'ध्वनि' तथा अर्थयुक्त इकाई 'पद' है। जिस प्रकार ध्वन्यात्मक समानता रखते हैं तथा परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आने वाली ध्वनियों को एक ध्वनिग्राम मे आबद्ध किया जाता है, उसी प्रकार एक दूसरे को स्थानापन्न कर सकने वाले अर्थात् अर्थगत समान परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में आने वाले पदों को एक पदग्राम में आबद्ध किया जाता है। इस प्रकार पदग्रामशास्त्र उच्चारों के अल्पतम सार्थक इकाइयों में विश्लेषण एव उन सार्थक इकाइयों के वर्गीकरण की कला है।

(५) पद एवं पदग्राम

ध्वनिग्रामों के न्यूनतम अर्थ-सहित आवर्तन को पद कहते हैं। अर्थात् पद भाषीय उच्चारों के ऐसे अंग हैं जिनमें समान ध्वनिग्रामों का समान क्रम तथा समान न्यूनतम अर्थ होता है

जो पद परिपूरक अथवा मुक्त वितरण में वितरित होते हैं, एक पदग्राम का निर्माण करते हैं। अर्थात्, पदग्राम ऐसे पदों का समूह है जो या तो एक दूसरे को स्थानापन्न करते हैं या परिपूरक वितरण में वितरित होते हैं। पदग्राम के प्रत्येक सदस्य को सहपदग्राम कहते हैं।

(६) पद तथा शब्द में अन्तर

किसी भाषा की अर्थ-प्रणाली अथवा वैयाकरणिक प्रणाली का अध्ययन करते समय सर्वप्रथम उस भाषा के उच्चारों को पदों में विभाजित किया जाता है। शब्द भी भाषा का एक अर्थवान् तत्त्व ही है, किन्तु वह पद से सर्वथा भिन्न इकाई है। वैसे कभी-कभी पद और शब्द अभिन्न भी हो जाते थे। यहाँ स्मरणीय यह है कि संस्कृत-व्याकरणों में प्रयुक्त 'पद' एवं आधुनिक भाषाशास्त्रीय 'मार्फ़' के पर्याय 'पद' में भी अन्तर है। संस्कृत-व्याकरणों के अनुसार जब शब्द को वाक्य में प्रयुक्त होने की क्षमता प्रदान कर दी जाती है तब वह पद कहलाता है। अर्थात् विभक्ति-सहित शब्द पद है। किन्तु संस्कृत के इस पद-स्वरूप को अधुनातम भाषाशास्त्र में 'विभक्तिमय' (Inflexion) के नाम से अभिहित करते हैं।

वस्तुत: भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'शब्द' किसी भी ऐसे भाषीय रूप के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो वितरण तथा अर्थ में अपने आप में स्वतंत्र हो किन्तु 'पद' किसी भाषा के न्यूनतम अर्थवान् तत्त्व होते हैं। एक शब्द में एक या एक से अधिक पद भी हो सकते हैं, किन्तु कोई पद किसी भी दशा में एक शब्द से बड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि वह न्यूनतम अर्थवान् तत्त्व होता है।

(७) पदग्रामिक विश्लेषण

पदग्रामिक विश्लेषण प्रत्येक उच्चार में प्राप्त पदग्रामों को विभाजित करने की विधि है।[१] अत: पदग्रामिक विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा किसी उच्चार के अर्थवान् तत्त्वों का अध्ययन सम्भव है। किसी भी उच्चार का पदग्रामिक विश्लेषण करते समय दो प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। एक तो यह कि प्राप्त उच्चार के खण्डों का अन्य उच्चारों में लगभग समान अर्थ में प्रयोग होता है अथवा नहीं? और दूसरा यह कि खण्डित रूप अन्य अर्थवान् रूपों में विभाजित किया जा सकता है अथवा नहीं?

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, यदि उच्चार के खण्डों का अन्य उच्चारों में लगभग उसी समान अर्थ में प्रयोग नहीं होता तो ऐसी अवस्था में पदग्रामिक विश्लेषण करना भी असम्भव है। इसका कारण यह है कि ऐसी अवस्था में हम उस उच्चार को किसी भी रीति से विभाजित कर सकते हैं। सम्यक् रूप से पदग्रामिक विश्लेषण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके कुछ खण्ड अन्य उच्चारों में लगभग समान अर्थ में प्रयुक्त हों। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, अर्थवान् तत्त्वों में तभी विभाजित किया जा सकता है, जब कि वह एक पद से अधिक बड़ा है।

(८) पदग्रामिक वर्ग-बन्धक

यह सत्य है कि परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आये हुए पदों को एक पदग्राम में वर्गबद्ध करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरणीय हैं:—

(क) यदि समान ध्वनिग्राम क्रम वाले पदों का अर्थ समान है, तो वे समस्त पद एक ही पदग्राम के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त किये जाएँगे।

(ख) यदि भिन्न ध्वनिग्राम-क्रम वाले पदों का अर्थ भिन्न है, तो ऐसे पद सदैव भिन्न पदग्रामों के सदस्य के रूप में वर्णित होंगे।

(ग) यदि दो पदों में समान ध्वनिग्रामों का समान क्रम पाया जाता है किन्तु अर्थगत भिन्नता पायी जाती है तो ऐसी दशा में निम्न विकल्प हो सकते हैं:—

(अ) यदि अर्थगत विभिन्नता पदग्रामिक वितरण के अनुरूप हो तो वे दो या दो से अधिक पद एक ही पदग्राम में वर्गबद्ध किये जाएँगे तथा उस पदग्राम के सहपदग्रामों के रूप में वितरित होंगे। उदाहरणार्थ संस्कृत ।कर। पद को लिया जा सकता है जिसका अर्थ सूर्य के सन्दर्भ में 'किरण', मानव शरीर के सन्दर्भ में 'हाथ' तथा हाथी के सन्दर्भ में 'सूँड़' होता है। इस प्रकार ।क् अ र् अ। ध्वनिग्रामों के समान क्रम से निर्मित ।क। उच्चारण के पृथक् अर्थों वाले तीन पद हैं। तथापि यह अर्थगत विभिन्नता सन्दर्भगत आधार पर वितरित है। अतः तीनों भिन्नार्थक पद एक ही पदग्राम-रूप में वर्गबद्ध किये जायेंगे तथा एक पदग्राम के तीन सहपदग्राम होंगे।

हिन्दी : ।काम्। = काम्
।काम्। = कार्य
।कनक्। = स्वर्ण
।कनक्। = धतूरा

(आ) यदि अर्थगत विभिन्नता वाले समान ध्वनिग्रामों के समान क्रम से निर्मित पदों का वितरण विशेष अर्थवान् इकाइयों के रूप में है तो वे भिन्न पदग्रामों के साथ वर्गबद्ध किये जाएँगे। यथा:—

(घ) यदि भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पदों में कुछ अर्थगत समानता पायी जाती है तो ऐसी दशा में निम्न विकल्प सम्भव हैं:—

(अ) उन पदों का मुक्त विवरण हो सकता है। यथा:—

संस्कृत	:	कोश् ~ कोष्
हिन्दी	:	ज्ञान ~ ज्यान्
ब्रजभाषा	:	रणवीर् ~ रनवीर्
		सड़क् ~ सरक्
बँगला	:	पास् ~ पाश्

(आ) यदि व्याकरणीय अर्थ समान है तो भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पद एक ही पदग्राम के सहपदग्रामों के रूप में वर्गबद्ध किये जाएँगे।

(इ) यदि भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पदों में यत्किंचित् अर्थ-वैभिन्य भी प्राप्त हो तो पद सदैव व्यतिरेकी वितरण में आकर पृथक्-पृथक् पदग्रामों के सदस्य रूप में वितरित होंगे। यथा :—

हिन्दी : ।पानी।
।जल्।
ब्रजभाषा : ।बुहारना।
।सकेरना।

चार

●

एशियाई नाटक में संघर्ष के रूप

●

हैनरी डब्ल्यू वेल्स

नाटक में संघर्ष, द्वन्द्व, विरोध, विप्रतिपत्ति, विग्रह परमावश्यक है। यदि संगीत चरम पूर्णता के लिए संघर्ष है तो नाटक विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्व का प्रकाशन है। इसके विविध रूपों में बहुत ही अन्तर मिलता है। यदि पाश्चात्य मेलोड्रामा में यह नितान्त सुस्पष्ट होता है तो अपेक्षाकृत विकृत्रिम (सोफ़िस्टिकेटेड) रंगशाला में अत्यन्त सूक्ष्म। एशियाई नाटक में यह 'संगीत की तुमुलकारिता या घोषत्व' के समानान्तर हो जाता है। जापानी क्लासिकल नाटक बाह्यतः तो सर्वाधिक मर्यादित होता है किन्तु इसकी मर्यादाओं के समतल के नीचे तीखा तनाव, क्षोभ, उद्वेग विद्यमान रहता है। चीनी नाटक अविरोधपूर्वक उल्लासमय और साथ ही साथ मेलोड्रैमेटिक होते हैं। भारतीय नाटकों में अधिकतम संवेदच्छायाओं (nuances, न्यान्स, अर्थात् किसी भी इन्द्रियबोध अथवा बुद्धि-ज्ञान के सूक्ष्म अन्तरों) के माध्यम से संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय नाटक में शेक्सपीयर के आग्नेय द्वन्द्व या शॉ के सत्यासत्य के विग्रह नहीं पाये जा सकते। इसके नायक-नायिकाएँ या तो नैतिक दृष्टि से निर्दोष या किसी अत्यन्त नगण्य चूक के दोषी मात्र होते हैं और उनके अमित्र सामान्यतः एक जादुई सरलता के साथ वशंवद हो जाते हैं। नाटकों के दोष संयोगघटित होते हैं, पाप आकस्मिक होते हैं, और मृत्यु चरम दुर्भाग्य का प्रतीक नहीं वरन् पुनर्जन्म और पुनर्भोग का वाचक होता है। गम्भीर शेक्सपीरियन नाटक का लक्ष्य स्वयं वीरोचित संघर्ष ही होता है जबकि संस्कृत नाटक का लक्ष्य होता है आत्मिक शान्ति की प्रतीति। सन्तुलनों की सुयोजित शृंखलाओं द्वारा वह एक मानसिक साम्यावस्था का एक

उल्लास और आत्मिक सौख्य के बोध का सृजन कर देता है ऐसा संघर्ष नीतिशास्त्र के कटु सत्यों अथवा वादविवाद की कठोरताओं की अपेक्षा संगीत के सौन्दर्यशास्त्र अथवा नृत्य के अमूर्त प्रतिमानों के अधिक निकट होता है।

पाश्चात्य पारस्परिक नाटक 'भीषण विरोधों' की शक्तियों पर जोर देता है। चीनी राजनीतिक नाटकों के प्रेक्षक षड्यन्त्र के बुद्धिकौशल में अधिक रुचि लेते हैं तथा तात्त्विक या आवेगात्मक शक्तियों की अपेक्षा विविध रणनीतियों या कूटनीतियों के विग्रह को प्राधान्य देते हैं। चीनी कौटुम्बिक नाटकों में सामान्यतया सदसद् मूल्यों का संघर्ष अंकित होता है। प्रायः समस्त चीनी नाटक उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य मेलोड्रामों से अधिक वाक्चातुरी-सम्पन्न तथा विकृत्रिम (सोफिस्टिकेटेड) हैं।

जापानी दुःखान्त नोह-नाटकों का स्वरूप और प्रकृति नितान्त विशिष्ट है। भारतीय नाटकों में तो यहाँ के दर्शन के कारण तथा चीनी नाटकों में चीनियों की लचीली प्रकृति के कारण दुःखान्त चेतना का ही अभाव है। नोह-नाटक इन दोनों की अपेक्षा अधिक अन्तर्मुख तथा वैयक्तिक हैं। इस दृष्टि से भारतीय तथा चीनी नाटकों की अपेक्षा ये पाश्चात्य दुःखान्त अवधारणा के अधिक सन्निकट है, यद्यपि इनमें कालिदास, शूद्रक, हर्ष तथा भवभूति की सौम्य आध्यात्मिक उदात्तता नहीं मिलती।

पाश्चात्य दुःखान्त-साहित्य चीनी रूमानी नाटक की भाँति धार्मिक की अपेक्षा धर्मनिरपेक्ष या कम से कम रहस्यवादी की अपेक्षा ऐहिक और व्यावहारिक अधिक है। दुःखान्त में रहस्यवाद को दूर रख कर भाग्य के साथ मनुष्य के अथवा अपने ही लोगों के विरुद्ध नायक के संघर्ष का अकन किया जाता है। दुःखान्त एक प्रकार की आक्षोभ-चिकित्सा (shock treatment) है और उसमें व्यक्ति-प्रेक्षक के प्रति सम्बोधन भी अन्तर्निहित रहता है जो कि प्राच्य चिन्तना की निर्वैयक्तिकता से सर्वथा पृथक् है। नोह-नाटकों का भी तात्त्विक संघर्ष आध्यात्मिक ही है, न कि लौकिक। उनके नायकों का दुर्भाग्य ही यही है कि वे धर्मनिष्ठ तथा ऐहिक, द्विविध जीवन नही निभा सकते। अतः वे पाश्चात्य दुःखान्त के सामीप्य के बावजूद तत्त्वतः प्राच्य चिन्तना से मुक्त नहीं हैं और इसी कारण वे पाश्चात्य आदर्श की उपलब्धि नहीं कर सके हैं। प्राच्य नाटक मे समस्या का समाधान धार्मिक या रहस्यवादी आदर्शवाद के द्वारा किया जाता है, न कि आवेगों के चिकित्सोपचार द्वारा।

प्राच्य एवं पाश्चात्य नाटकों में एक अन्य आधार पर भी अन्तर है। पाश्चात्य चिन्तना के बुद्धिवादी एवं नैतिक पक्ष के कारण नायक स्वयं अपने भाग्य का विधाता या कम से कम उत्तरदायी अवश्य होता है। दोष उसके चरित्र के अङ्गभूत होते हैं। इसके विपरीत पूर्व मे व्यक्तिपरक चरित्रविश्लेषण, कारणत्व अथवा बौद्धिक मूल्यांकन के प्रति रुचि का अभाव दिखाई पडता है। प्राच्य नायक तो नाटक के दौरान में कोई नयी बात नहीं सीखता जिससे कि उसका चारित्रिक रूपान्तरण हो, वरन् उस दृश्य कला द्वारा प्रेक्षक को ही प्रबोध की प्राप्ति होती है।

नोह-नाटकों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनके नायक-नायिका दो रूपो मे सामने आते हैं—नाटक के पूर्वार्ध में एक अपेक्षाकृत सामान्य व्यक्ति के रूप में तथा उत्तरार्ध मे एक महान पुरुष की [illegible] के रूप में दीन [illegible] तथा [illegible] दैवी रूप इन दोनों

चरम स्थितियों के बीच की कड़ी का उनमें कहीं कोई स्थान नहीं होता। मध्यवर्ती शृंखला के इस अभाव के कारण ही मध्यवर्ग के आविर्भाव के साथ इसकी सृजनात्मक शक्ति का लोप हो गया।

नोह्-नाटक का प्रेक्षक पूर्वार्ध में नायक की परवर्ती गरिमा को पूर्वानुमित कर लेता है तथा उत्तरार्ध में पूर्ववर्ती संघर्ष के स्मृति-संस्कारों को बनाये रहता है। इस प्रकार उनमें द्विविध अवतरण पर आधारित उपस्थापनात्मक (presentational) कला का प्रयोग मिलता है। इस विधान में विकास, वैपरीत्य और तुलना के तत्त्व चाहे विद्यमान हों किन्तु इसे नाटकीय कथानक का प्रकृतिगत संघर्ष कदापि नहीं कहा जा सकता। तत्त्वतः यह जितना नाटकीय होता है उतना ही प्रगीतात्मक भी होता है। फिर भी चिकामत्सु के नाटक तथा प्राचीन काबुकी कठपुतली-नाट्य नोह्-नाटकों की अपेक्षा अधिक पाश्चात्य हैं। नोह्-नाटक कौटुम्बिक नाटक पुकारे जाते हैं किन्तु वे न तो कौटुम्बिक हैं और न दुःखान्त, वरन् अत्यधिक भावनापूर्ण होने के कारण पाश्चात्य मध्य-वर्गीय मेलोड्रामा के अधिक निकट हैं।

संस्कृत नाटक पूरी लम्बाई वाले पूर्ण नाटक होने के कारण नोह्-नाटकों से भिन्न हैं तथा अत्यधिक साहित्यिक होने के कारण चीनी क्लासिकल नाटकों से भी भिन्न हैं और इसी दृष्टि से वे पाश्चात्य नाटक के अधिक निकट हैं। चीनी और नोह्-नाटकों में गायन एवं वाद्य संगीत तथा नृत्य को प्राधान्य प्राप्त होता है। इसके विपरीत संस्कृत नाटकों में वस्तुतः गायन नहीं के बराबर होता था। अधिक से अधिक यह होता था कि नाटक के बीच में पद्यांश जुड़े होते थे तथा नाटक के सामान्य प्रभाव के अभिवर्धन के लिए निरन्तर वाद्य-संगीत चलता रहता था जो शब्द तत्त्व को प्रेक्षक की दृष्टि में गौण कदापि नहीं बनने देता था। चेष्टानुकरण तथा प्रतीकात्मक चेष्टाओं का वैसे संस्कृत-रंगमंच में महत्त्वपूर्ण स्थान था किन्तु वह चीनी और नोह्-नाटकों के समकक्ष नहीं था। इसीसे उसका स्वरूप अधिक शुद्धतः नाटकीय था तथा संघर्ष के प्रदर्शन-सम्बन्धी नाटक की परिभाषा के अधिक अनुरूप था।

(—'जर्नल ऑफ़ ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट,' खण्ड ११, संख्या ३, मार्च १९६२, के लेख 'वैरायटीज़ ऑफ़ कॉनफ़्लिक्ट इन एशियन ड्रामा' के आधार पर बद्रीनाथ द्वारा प्रस्तुत)।

तन्त्रों की सन्धा-भाषा

●

'जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी' के खण्ड ८१, संख्या ३, अगस्त-सितम्बर १९६१ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख 'इण्टेंशनल लैंग्वेज इन दि तन्त्रज़' का सार

●

ए० भारती

सन्धा-भाषा तन्त्रों में प्रयुक्त विशिष्ट भाषा का नाम है। सन्धा-भाषा और मन्त्र सर्वथा पृथक् हैं। मन्त्र का प्रयोजन कल्पित आन्तरिक या वाह्य शक्तियों को प्रेरित या चालित करने का हुआ करता है, किन्तु सन्धा-भाषा वर्णनात्मक या मूल्याङ्कनपरक पद्धति की विशिष्ट पदावली मात्र है। पुराने विद्वान् इसे 'सन्ध्या-भाषा' नाम से अभिहित करते हैं, जिसका आशय हुआ "प्रकाश और अन्धकार की भाषा, जो अंशतः आलोकित हो, अंशतः तमसाच्छन्न; जिसके कुछ खण्ड समझे जा सकें, अन्य नहीं।" (—स्व० पं० हरप्रसाद शास्त्री) वैसे हरप्रसाद शास्त्री ने 'सन्ध्या-भाषा' शब्द का प्रयोग इसके वैकल्पिक रूप को न जानने के कारण ही किया है, किन्तु इस नाम के कुछ समर्थक-विशेष भी हैं जिनमें लामा अङ्गारिक गोविन्द और पी० के० बनर्जी उल्लेख्य हैं। वैसे स्नेलग्रोव, हरप्रसाद शास्त्री, विनयतोष भट्टाचार्य आदि भी इसी अभिधान के पक्ष में हैं तथा वी० भट्टाचार्य, एम० इलिएड, पी० सी० बागची आदि 'सन्धा-भाषा' के पक्ष में।

'सन्ध्या-भाषा' के समर्थक इस नाम की सार्थकता को अनेक प्रकार से समझाते हैं। पी० के० बनर्जी का कहना है कि यह 'सन्ध्या' नामके ही भूभाग की विभाषा है। "यह भूभाग भागलपुर के दक्षिण-पूर्व में है। इसमें वीरभूमि का पश्चिमी क्षेत्र तथा सन्थाल परगने सम्मिलित हैं। यह प्राचीन आर्यावर्त तथा स्वयं बङ्गाल का सीमाक्षेत्र था और सन्ध्या-देश पुकारा जाता था।" वी० भट्टाचार्य ने इस स्थापना को कोरी कल्पना मात्र माना है।

हरप्रसाद शास्त्री, विनयतोष भट्टाचार्य और अन्य परम्परावादी विद्वानों का कहना है कि सन्ध्या-भाषा के प्रयोग का प्रयोजन होता था ऐसे साम्प्रदायिक उपदेशों को अबोध्य बना देना जिनको लेकर कट्टर बौद्ध तथा हिन्दू जन-साधारण में तथा तन्त्रवाद में अदीक्षित सभी लोगों मे ही रोष फैल सकता था। इसके विपरीत सहानुभूतिपूर्वक विचार करने वाले विद्वानों का कहना है कि सन्ध्या-भाषा का प्रयोग इसलिए किया जाता था, जिससे उसके आशय को दीक्षा-प्राप्त शिष्य ही समझ सकें और दीक्षाहीन लोग उसके साथ खिलवाड न करने पायें नहीं तो उन्हें

क्षति पहुँच सकती है ब्राह्मणवादी विचारधारा के अधिकार भेद सम्बन्धी सिद्धान्त से यह मत मेल खाता है। धार्मिक प्रयोगों को निस्सार मानने वाले तथा ऐहिक विद्वान् शब्दों के आलङ्कारिक अर्थ पर जोर देते हैं, चाहे तान्त्रिक लेखकों और सम्प्रदाय-गुरुओं का अभिप्राय मुख्य अर्थ से रहा हो या गौण अर्थ से।

बी० भट्टाचार्य 'सन्ध्या-भाषा' को वर्तनी-दोष का परिणाम ही मानते हैं। संस्कृत और पालि-ग्रन्थों में भी 'सन्ध्या' का ही अधिकांश प्रयोग मिलता है। पी० सी० बागची ने चीनी अनुवाद से भी इसी रूप की पुष्टि की है। 'सन्धा' वस्तुतः संस्कृत के 'सन्धाय' का लघु रूप है जिसमे से '–य' का लोप हो गया है। बौद्ध संस्कृत में यह पालि का प्रभाव-संस्कार प्रायशः देखने को मिलता है। बी० भट्टाचार्य के अनुसार 'सन्धा' 'आभिप्रायिक', 'अभिप्रेत्य', 'उद्दिश्य'-जैसे अतान्त्रिक शब्दों का ही पर्याय है।

सन्धा-भाषा के प्रयोग के पीछे ऊपर उल्लिखित प्रयोजनों के अतिरिक्त दो और भी प्रयोजन छिपे थे। एक तो, इसकी पदावली विलक्षण और असम्बन्ध-सी होती थी और ऐसी सामग्री एक ओर अधिक समय तक स्मरण रहती है, दूसरी ओर प्रत्यास्मृत भी बहुत ही सरलता से की जा सकती है। दूसरे, कभी-कभी इसका कट्टर धार्मिकों को चिढ़ाने के लिए भी अवश्य ही प्रयोग किया जाता रहा है। आरम्भ में तो यह एक गुह्य दीक्षागम्य भाषा ही थी, किन्तु बाद में चल कर सभी को ज्ञात हो गयी। तब इसको व्यंग्य-विनोद के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा होगा। इस प्रकार स्मृति-सहायक युक्ति तथा व्यंग्य-विनोद, इन दो प्रयोजनों से भी सन्धा-भाषा का प्रयोग हुआ। नास्तिक और तान्त्रिक लोग इसका प्रयोग गर्वोक्तियों के रूप में एक प्रकार के भाषापरक आत्मिक विरेचन के लिए भी करते रहे।

अब इस पृष्ठभूमि में सन्धा-भाषा की इलिएड-कृत परिभाषा द्रष्टव्य है: "तान्त्रिक ग्रन्थ प्रायशः आभिप्रायिक भाषा से भरे पड़े हैं—द्विविध अर्थों वाली एक गुह्य, गूढ़ भाषा से, जिसमे एक विशिष्ट चेतनावस्था की ऐसी शृङ्गारिक शब्दावली में निरूपण किया गया है जिसकी पुराख्यानों और संसृति-विज्ञान से ली गयी पदावली, हठयौगिक तथा यौन दोनों स्तरों पर, अर्थ-गर्भित है।"

सन्धा-शब्दावली के दो वर्ग किये जा सकते हैं: अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। वस्तुतः किसी भी पद के सन्धा-भाषा में सम्मिलित किये जाने के लिए यह आवश्यक शर्त है कि वह या तो अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी हो ही। एक ही पद एक सन्दर्भ में सन्धा-पद हो सकता है, अन्यत्र नही भी हो सकता है। इस सन्दर्भ का अक्ष है तान्त्रिक चिन्तना का वह केन्द्रीय प्रत्यय जिसे शैव आगम मे 'पराशिव' और वज्रयान में 'शून्य' नाम से तथा चरम परिणति के पहलू से हिन्दू-परम्परा में 'कैवल्य' या 'निर्विकल्प समाधि' आदि नामों से और वज्रयान में 'असम्प्रतिष्ठित निर्वाण' के नाम से अभिहित करते हैं। "ऐसा सन्धा-पद अन्तर्मुखी होता है जो वस्तुपरक भाषा को प्रयोग में लाता है और प्रत्ययात्मक या रहस्यात्मक परात्पर को अभिप्रेतव्य बना रखता है, जैसे 'ललना' का अर्थ है 'निर्वाण'। विलोमतः ऐसा सन्धा-पद, जो दार्शनिक या धर्मशास्त्रीय भाषा का व्यवहार करता है किन्तु वस्तुगत पदार्थ, घटना या कार्य को उद्दिश्य रखता है, बहिर्मुखी होता है, जैसे 'शुक्र' के अर्थ में 'बोधिचित्त'।" "समस्त सन्धा-प्रयोग तत्त्ववादी अवधारणाओं के साथ उन

भौतिक घटनाओ के सादृश्य पर अवलम्बित हैं जो रहस्यात्मक भाषा के विकास क्रम मे उन अवधारणाओ के इन्द्रियग्राह्य प्रतिमाओ के रूप मे स्वीकार कर लिये गये थे।"

कट्टर ब्राह्मण-वर्ग के वाममार्गी और दक्षिणमार्गी आचार-सम्बन्धी द्वन्द्व-विभाजन को सन्धा-भाषा के ही आधार पर समझा जा सकता है। मुख्यार्थ को प्रधानता देने वाली पद्धति दक्षिणाचार है तथा गौणार्थ को प्रधानता देने वाली पद्धति, वामाचार। —बद्रीनाथ

कलाकृति में सम्प्रेषण एवं प्रतीक

●

'जर्नल ऑफ इस्थेटिक्स ऐण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' के खण्ड १५, संख्या ३, मार्च १९५७ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख 'कम्यूनिकेशन ऐण्ड सिम्बल इन दि वर्क ऑफ आर्ट' का सार

●

गिलो डॉर्फ़्ल्स

आज की समसामयिक कला एक बहुत ही द्रुतगामी संक्रमण से गुज़र रही है। पद-विन्यास, वाक्य-विभाजन, शब्द-चयन तथा गद्य और कविता के सम्बन्ध की दृष्टि से कलात्मक एव साहित्यिक अभिव्यञ्जना का अनवरत तेज़ी के साथ क्षय होता चल रहा है जिससे एक सङ्कट की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। जेम्स ज्वॉयस, वर्जीनिया वुल्फ़, एज़रा पाउण्ड आदि का ध्यान भी इस ओर गया है। इस सङ्कट के कारण ही आज कला और साहित्य के सन्दर्भ में सम्प्रेषण और अर्थवत्ता की समस्या भी उठ खड़ी हुई है। इस समस्या पर विचार करने के पूर्व हमें यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि दो चेतन व्यक्तियों के बीच या 'अन्तर्विषयीगत सम्प्रेषण' (inter-subjective communication) के बिना कला सम्भव ही नहीं है। साथ-साथ यह भी स्मरणीय है कि कला का सम्प्रेषणात्मक स्वभाव और प्रतीकात्मक पक्ष, दोनों सहचारी हैं। किसी वस्तु का प्रतीक उस वस्तु को सन्दर्भित या निर्दिष्ट करता है, अर्थात् किसी अर्थ की ओर सङ्केत करता है, किन्तु वह स्वयं वह वस्तु नहीं होता।

कला के आधुनिक व्याख्याताओं में सूक्ष्म किन्तु सैद्धान्तिक भेद हैं। अर्न्स्ट कैसायरर कला को एक प्रकार की भाषा मानता है, किन्तु 'संवेदनाओं के रूपों की भाषा', न कि प्रत्ययो (concepts) की। उसने प्रत्ययीकरण (conceptualisation) को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया है। चार्ल्स मॉरिस कला को प्रतीक, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार का प्रतिमा-प्रतीक मानता है। उसने 'प्रतीक' के स्थान पर 'सङ्केत' या 'लक्ष्म' (sign) का प्रयोग किया है। लक्ष्म 'किसी ऐसी वस्तु को सूचित करता है जिसमें उसके स्वाभाविक गुण-धर्म ही पाये जायँ।' कलाकृति लक्ष्म या लक्ष्मों की सरचना है इन प्रतिमा-लक्ष्मों या प्रतिमा-प्रतीको द्वारा जो कुछ

अभिप्रेत होता है वही मूल्य है इससे भी आगे बढ़ कर सूसेन लैंगर ने तो शाब्दिक कला को सुनिश्चित सन्दर्भ से रहित और अर्थहीन माना है. वे कला को एक समस्त .... प्रतीक (presentational symbol) मानती हैं। उनके अनुसार कला वाचनिक भाषा के तार्किक प्रतीकों से भिन्न, अविभाज्य या अव्याख्येय होता है और पूर्ण अर्थ को अखण्डतः प्रस्तुत करता है। अर्थात् कला अखण्ड साक्षात्कार से उद्भूत, अभाषाग्राह्य तथा भाषेतरवर्ती प्रतीक है।

कला और भाषा के बीच विभेद करने में अर्थपरक रूपकों से भिन्न प्रतिमा-रूपक विशेष सहायक होते हैं क्योंकि ये तत्त्वतः भाषापरक ही होते हैं। युग-जीवन के परिवर्तन के साथ इन प्रतिमा-रूपकों या इनमें सन्निहित प्रतिमा-प्रतीकों का प्रतीकार्थ क्षय या लुप्त हो जाता है जिससे उनका महत्त्व सांकेतिक या लाक्षिमक (emblematic) मात्र रह जाता है। रूपकों या लक्षणाओं की इस 'मृत्यु' से ही भाषा का 'क्षय' होता है और कालान्तर में इन्हींके कारण अर्थबोध-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं।

"हम लैंगर से इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि संवेदना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में कला एक ऐसी प्रतीक-क्रिया से उद्भूत होती है जिसका विकास प्राग्भाषीय अवस्था मे होता है। हम इस बात से भी सहमत हो सकते हैं कि भाषा का भी जन्म मन की उसी प्रतीक-क्रिया से हुआ किन्तु एक परवर्ती, भाषीय अवस्था में चल कर। श्रीमती लैंगर ने कलात्मक प्रतीक को अनिवार्यतः प्राग्भाषीय तथा अतार्किक मानने में ही भूल की है।" अतार्किक पर अनन्यत निर्भर हो जाने का मतलब है अपनी विवेक-बुद्धि या समालोचनक्षमता को ही गँवा देना। इसी प्रकार यह मानते हुए भी कि कला में शाब्दिक भाषा का प्रयोग सम्भव है तथा शब्द एवं वाचनिक भाषा कला में रूपान्तरित हो सकती हैं, कला और भाषा के बीच स्पष्ट भेद कर देना भी वाञ्छनीय हैं। वास्तव में कला का रूप ले लेने पर शब्द और वाचनिक भाषा, भाषा नहीं रह जाते हैं। फिर भी, भाषा और कलाकृति कितनी भी अधिक प्रतीकात्मक क्यों न हों, वे पूर्णतः अभिन्न नही हो जाती। कला का भाषा से भेद करने के लिए उसकी अप्रत्ययात्मक प्रकृति पर अनावश्यक जोर देना भी कदापि युक्तियुक्त नही। "यदि शब्द प्रत्ययों के प्रेषण का और अतएव अन्तर्विषयीगत सम्प्रेषण का सर्वाधिक समर्थ साधन है, तो हमें यह भी स्वीकार्य होना चाहिए कि कला के भी माध्यम से प्रत्ययों का प्रेषण सम्भव है। यह ऐसी विधि से सम्भव है जो अपेक्षाकृत कम सुनिश्चित और बुद्धिसङ्गत किन्तु फिर भी यथेष्ट स्पष्टता के साथ सन्धानित होता हो।"

यद्यपि कला बीच-बीच में प्रत्यात्मक रूप ले लेती है और वाचनिक भाषा के साथ अन्योन्य-क्रियाशील भी होती है, फिर भी इसके बावजूद यह सम्भव है कि उसे भाषा से पृथक् माना जाय। जब स्वयं कविता प्रत्ययित या प्रत्ययगर्भित हो जाती है तो वह अर्थपरक क्षमता तो बढ़ा लेती है किन्तु कलात्मक प्रभावशालिता को गँवा बैठती है। कविता का अर्थपरक महत्त्व उसके ध्वनि एव प्रतीकपरक मूल्यों की अपेक्षा गौण ही होता है, जैसा कि वैलेरी और टी० एस० इलियट ने भी लक्षित किया है। साथ-साथ काव्यात्मक शब्दार्थिकी (Semantics) के अस्तित्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक सम्प्रेषण का प्रश्न है, कला-बोध अंशतः सहजात, ऐषणिक (instinctive) और स्वतन्त्र है। कला का सीखा जाना आवश्यक है, तथा कला के माध्यम से सम्प्रेषण के लिए सक्रिय चेष्टा भी आवश्यक है।

सक्षपत कला भाषा चाहे न हो किन्तु सार्वभौम अभिव्यञ्जना का एक माध्यम अवश्य है। कला को समझने के लिए उसे सीखना, अशतः ही सही, आवश्यक है। कला के माध्यम से एक प्रकार का सम्प्रेषण सम्पन्न होता ही है। वह भाषा की अपेक्षा ऐतिहासिक सत्य से कहीं अधिक असम्पृक्त होती है, क्योंकि वह सम्प्रेषण की एक नितान्त विशिष्ट रीति है। कला में भाषात्मक तत्त्व एक भाषेत्तर तत्त्व का सहवर्ती होता है, और सम्प्रेषण में दोनों का योग होता है। सम्प्रेषणात्मक शक्ति का क्षय या अपचय विशेषतः भाषात्मक तत्त्व के कारण होता है।

कला की प्रत्ययात्मकता तथा अप्रत्ययात्मकता-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विरोध का समाधान इसी परिकल्पना के आधार पर सम्भव है कि सम्प्रेषण के दो प्रकार हैं—विवेचनात्मक और साधारण। अध्ययन-शिक्षण में प्रथम श्रेणी का अत्यधिक महत्त्व है। विवेचनपरक साहित्य के कलात्मक मूल्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सौन्दर्यमूलक मूल्याङ्कन तथा सम्प्रेषण में प्राग्विवेचनात्मक तथा उत्तरविवेचनात्मक दो अवस्थाएँ होती हैं। उत्तर-विवेचनात्मक अवस्था भाषात्मक तत्त्व के सन्निवेश के बाद ही आती है, जबकि प्राग्विवेचनात्मक अवस्था मे यह भाषात्मक तत्त्व अनुपस्थित रह सकता है।

प्रतीकों का प्रत्ययात्मक मूल्य क्षयिष्णु है और बाद में वह पण्डितों द्वारा युक्तिपूर्वक पुनर्निमित मात्र किया जा सकता है, किन्तु सौन्दर्यमूलक मूल्य कहीं अधिक समय तक जीवित रहते है। प्रतीकात्मक वस्तुओं का सौन्दर्यमूलक मूल्य उनकी विन्यास-क्षमता-या रूपात्मक सत्ता (formative power) में ही सन्निहित होता है। इसीसे कुछ रूपात्मक या विन्यासात्मक मूल्य, एक युग से दूसरे युग में अथवा एक शैली से दूसरी शैली में काफी कुछ बदल जाने के बाद भी, अपने आद्यरूपात्मक स्तर पर अपनी प्रकृति को बनाये रखते हैं। वस्तुतः "कलात्मक सर्जना का आधार है एक ऐसी सार्वभौम विन्यासात्मक या संरूपणात्मक प्रक्रिया जो सभ्यताओं के परिवर्तन के साथ एक युग से दूसरे युग में बदलती रहती हैं। यह कलात्मक वस्तुओं के उद्भव, रूपान्तरण तथा विकास का नियमन एवं नियन्त्रण करती है। हम जिसे सामान्यतया प्रतीक के नाम से अभिहित करते हैं, वह इस संरूपणात्मक या सर्जनात्मक शक्ति से आवेशित रहता है।"

यौन तत्त्व से सर्वतोप्रधान प्राकृतिक आद्यरूप विनिर्मित होते हैं। इसीसे कला और साहित्य के ही नहीं धर्म के भी प्रतीक-तन्त्र में उनका बहुशः प्रयोग होता है। प्राकृतिक, दैवी तथा कला-सिद्ध मानवीय—इन तीनों श्रेणियों की सर्जनात्मकता का एकात्मीकरण भी स्वभावसिद्ध है। मनोविश्लेषण ने बुनियादी चूक की है यौन सर्जना को अपवित्र मान कर तथा प्राचीन रहस्यवादी संस्कारों को यौन प्रतीकवत्ता का 'उदात्तीकरण' बतला कर। वस्तुतः वह तो देवत्व तथा कला का खुला हुआ एकात्मीकरण था जिसे भ्रान्त शुद्धाचारवाद के नैतिक निरोधों ने दुरूह बना डाला। "कला में यौन प्रतीकवक्ता का समावेश एक चीज़ है तथा विम्ब-सृष्टि का यत्नसिद्ध, मस्तिष्कीय यौनीकरण, जैसा अनेक अतियथार्थवादी करते हैं, दूसरी चीज़।"

समाज, दर्शन और धर्म के रूपान्तरण की ही भाँति कलात्मक रूपों का भी निरन्तर रूपान्तरण होता रहता है। इससे तमाम रूपों का अपचय भी होता ही रहता है। साथ-साथ भाषात्मक अभिव्यञ्जना में अनवरत परिवर्तन होता रहता है, तथा नये संवादी अनुषङ्गी

tions नये शब्द-बर्गो नये आलङ्कारिक प्रतीकों तथा नये शिल्प-रूपों की उद्भावना

की जाती रहती है इन रूपों में नयी सौन्दयक्षमता लाने के लिए सम्प्रेषण के किसी साधन की स्थापना आवश्यक है अन्यथा बिना विकसित पुष्पित हुए ही वे रूप लुप्त हो जाएंगे

कला की सम्प्रेषण-विधा के भाषात्मक तथा भाषेतर दोनों प्रकार के तत्त्व हमारे सुस्पष्ट चेतन स्तर की अपेक्षा अचेतन या अवचेतन स्तर पर क्रियाशील होते हैं। "इसे हम जुङ्ग के शब्दों में 'सामूहिक अचेतन' कह सकते हैं अथवा भावनाओं, आवेगों, ईषणाओं तथा सङ्कल्पों का ऐसा अस्फुट प्रवाहोत्प्रवाह मान सकते हैं जो कभी भी प्रमस्तिष्क तक नहीं पहुँच पाता और इसीसे उसका बौद्धिकीकरण नहीं हो पाता। फिर भी वे हमारे अहम् पर प्रभाव और दबाव डालते हैं और हमारे आन्तरिक, वैयक्तिक व्यक्तित्वों के नैतिक एवं सौन्दर्यपरक आधार होते हैं, चाहे हम पसन्द करें या नापसन्द।" अनुभावन (suggestion), प्राचीन सस्कारों और दीक्षाओं तथा आधुनिक सम्मोहन के अतिरिक्त कला ही एक ऐसा साधन है जिसमें हम "एक अचेतन स्तर के सम्प्रेषण" को प्राप्त कर सकते है। इसीसे कला का शैक्षणिक महत्त्व भी स्पष्ट है। कला सम्प्रेषण की एक ऐसी विधि को अपनाती है जो बुद्धि को समावृत किये रहने वाली तर्क-बुद्धि को लाँघ जाती है। यह बौद्धिक क्रिया की उपेक्षा भी कर सकती है। यह अपनी ही प्रतीकात्मक एव सर्जनात्मक प्रकृति के माध्यम से एक गम्भीर स्तर पर प्रभाव डालती है तथा ऐसी जानकारी प्रदान करती है जो कि हमारी भावनाओं को अभिभूत और व्याप्त कर लेती है किन्तु साथ-साथ नाजुक और जीवन्त भी होती है।

—बद्रीनाथ

काव्यास्वादन के तत्त्व

●

'जर्नल ऑफ इस्थेटिक्स ऐण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म' के खण्ड १५, संख्या ३, मार्च १९५७ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख 'एप्रीसिएशन ऑफ पोएट्री : ए प्रपोज़ल ऑफ़ सर्टेन इम्पिरिकल इंकायरीज़' का सार

●

एरिक गोटलिण्ड

सौन्दर्यपरक संवेदनशीलता के क्षेत्र में आनुभविक प्रयोग का कार्य बहुत ही क्लिष्टसाध्य और जटिल है। अतः ऐसे प्रयोग करते समय अपेक्षाकृत कम जटिल स्तर ही चुना जाता है। ऐसे ही प्रयोगों में से एक है भूदृश्यों, प्रकाश-प्रभावों आदि बारह प्रकार की वस्तुओं के साथ किसी व्यक्ति के सौन्दर्य-बोधगत सम्बन्धों के वर्गीकरण के माध्यम से उसका सौन्दर्यपरक परिरेखण। सौन्दर्यपरक परिरेखा (profile) वस्तुतः सौन्दर्यास्वादन में अन्तर्ग्रस्त ऐसी अनेक योग्यताओं का माप प्रस्तुत करने वाली संवेदनशीलता की परिरेखा है जो अपेक्षाकृत सरल होते हुए भी अधिकांश

सौन्दर्यपरक अनुभवो का कारक है। उदाहरणार्थ चाक्षुष कलाओं के लिए लगभग सर्वतो समान कान्ति (shade) वाले रङ्गों तथा आवकाशिक सरचनाओ (spatial structures) के प्रभेद की योग्यता की, रङ्गकान्तियों, समतल संरचनाओं तथा आवकाशिक संरचनाओं की स्मृति की, तथा स्पर्श-बोधपरक गुणों की प्रत्याशा और स्मृति आदि से सम्बद्ध योग्यताओं की परीक्षा की जा सकती है। ऐसे ही अन्य अनेक परीक्षणीय तत्त्व भी हो सकते हैं, जैसे सङ्गीत के आस्वादन के तत्त्वो में केवल श्रवण-योग्यताएँ ही नहीं, संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं, अन्यक्षेत्रीय सरचनात्मक अनुभवों, प्रेरक तन्त्रिकाओं से उत्पन्न व्यवहार आदि सम्मिलित होते हैं। इन तत्त्वो के शरीरक्रियात्मक यन्त्रों की भी गवेषणा आवश्यक होती है। साथ-साथ संवेदनशीलता की परिरेखाओं और सौन्दर्यपरक व्यवहार के विभिन्न प्रकारों के सहसम्बन्ध की भी खोज आवश्यक है।

ई० एम० एप्पेल ने काव्यगत संवेदनशीलता के तत्त्वों के निर्धारण के लिए एक प्रयोग आयोजित किया था (जो 'ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ एडुकेशनल सॉयकॉलॉजी', खण्ड २०, भाग २, जून १९५० में 'ए न्यू टेस्ट ऑफ़ पोएट्री डिस्क्रिमिनेशन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था), जिसके निकर्षो मे से एक यह था कि काव्यगत संवेदनशीलता कैशोर और तारुण्य के वय में लगातार बढ़ती चलती है। इससे आगे के वय के बारे में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकल पाया था। डूगलस गन ने एक अन्य प्रयोग-रीति निकाली थी (जो ब्रि० ज० ऑफ़ ए० सॉ०, खण्ड २१, भाग २, जून १९५१ मे 'फैक्टर्स इन एप्रीसिएशन ऑफ़ पोएट्री' शीर्षक से छपी थी), जिसके निष्कर्षों में से एक यह था कि तारुण्य-काल में अनुप्रास, शब्द-सङ्गीत तथा ताल के प्रभावों का बोध कराने वाली शरीर-क्रियात्मक परिस्थितियों का समानान्तर विकास होता है।

ऐसे आनुभविक प्रयोगों के आधार पर काव्यानुभव के उद्भव, विस्तार, एकात्मता तथा तीव्रता के सम्भाव्य कारक तत्त्वों की एक संक्षिप्त सूची निम्नलिखित होगी:—

(१) **ताल या लय (रिद्म्), अर्थात् स्वराघातों के प्रायः नियमित अनुक्रम को अनुभव करने की क्षमता**—इसमें तीन पृथक् तत्त्व सन्निहित हैं—(क) किसी विशिष्ट ताल के प्रति कायिक प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध तालमय अनुभूति, जिसका चरम रूप है 'पैशिक सुख'। तालबद्ध नृत्य के समय अनुभूत होने वाला कायिक उत्साह इसी का उदाहरण है। (ख) विशिष्ट भावनाओ, अभिवृत्तियों (ऐटिट्यूड्ज़) या भावदशाओं के अभिव्यञ्जक विशिष्ट ताल-क्रमों को पहचानने की क्षमता, जो हमारी दैनन्दिन बातचीत तथा पैशिक प्रतिक्रियाओं (motor reactions) के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसी क्षमता से हम संवेगात्मक पक्ष के साथ वर्णन-वृत्त की सङ्गति का परिज्ञान कर पाते हैं। (ग) तालस्मृति, जिसके द्वारा हम किसी कविता के उत्तरांश की लयानुभूति का उसके पूर्वांश की लय की स्मृति के साथ मेल बैठाते हैं अथवा सम्पूर्ण के लय को हृदयङ्गम करते हैं।

(२) **वाग्ध्वनियों के समुपयोग की क्षमता**—इसके अन्तर्गत भी तीन तत्त्व सम्मिलित है—(क) विभिन्न श्रव्य क्रियाओं की परिमाणगत सुखकरता के अनुभव की क्षमता। इसके अन्तर्गत ध्वनियों से उत्पन्न अनुषङ्गों से निरपेक्ष, उनके सौन्दर्य या असौन्दर्य का बोध आता है। वैसे माधुर्य की दृष्टि से अधिकांश शब्द तो उदासीन ही होते हैं। (ख) विभिन्न भावदशाओ

की अभिव्यञ्जक ध्वनियों को पहचानने की क्षमता। सम्भवतः इस क्षमता के शरीरक्रियात्मक यन्त्र अपेक्षया दुर्बल और अविकसित हैं और इन पर वैयक्तिक विलक्षणताओं या 'झकों' का प्रभाव प्रबल होता है। (ग) ध्वनिस्मृति तथा समान ध्वनियों या ध्वनि-श्रेणियों में विभेदक्षमता। ध्वनि-अनुकरण में इसका महत्त्व होता है। वैसे आवर्ती ध्वनि-श्रेणियों के अनुकरण में इस तत्त्व के साथ-साथ ताल का तत्त्व भी अन्तर्ग्रस्त होता है। वस्तुतः स्वराघात के ताल तथा ध्वनि-श्रेणियाँ दोनों संयुक्त हो कर एक प्रायः एकरूप-सी अनुभूति को जन्म देती हैं।

(३) **अवश्लेषण** (synthesiae)—अवश्लेषण का अभिप्राय है दो "भिन्न संवेदन-क्षेत्रों की ऐसी क्रियाओं का अव्यवहित संयोजन जिनके बीच पारस्परिक अनुषङ्गों का कोई बन्धन न हो या न प्रतीत होता हो"। रङ्ग को तीक्ष्ण या मन्द अनुभव करना अथवा ध्वनि को नुकीला अनुभव करना अवश्लेषण का उदाहरण है। यह प्रक्रिया सामान्य अनुषङ्ग-प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न है। "अवश्लेषण काव्यात्मक संवेदनशीलता का एक परमावश्यक अङ्ग है।"

(४) **अनुषङ्ग-गति**—व्यापक सन्दर्भ-परिसर तथा जटिल विचारों के ग्रहण के लिए अनुषङ्ग की एक विशिष्ट तेज़ी भी आवश्यक प्रतीत होती है।

(५) **शैली का समाहार तथा संहृति**—यह तत्त्व अभिव्यक्ति के साधनों की स्थूलता के अपेक्षित परिहार से सम्बद्ध है और इसमें अनुषङ्ग-गति का अत्यधिक महत्त्व है।

(६) **विविध विचारों को युगपत् मन में बनाये रहने की तथा कविता से उद्भूत विभिन्न अनुषङ्गों का विलयन करने की क्षमता**—काव्यानुभूति की सङ्गति और एकात्मता इस तत्त्व पर भी निर्भर है।

ऊपर जो छह तत्त्व बतलाये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन अधिकांशतः प्रशिक्षा एवं ज्ञान-भण्डार पर निर्भर हैं, किन्तु परवर्ती तीन प्रशिक्षा नहीं वरन् चैतसिक यन्त्र पर निर्भर करते हैं।

(७) **संवेगात्मक गतिशीलता**—काव्यास्वादन के लिए यह भी आवश्यक है कि कविता की अन्तर्वस्तु के साथ संवेगात्मक समायोजन तथा उसमें उद्घाटित दृश्य-पटल के परिवर्तनों का अनुवर्तन होता चले।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व भी गिनाये जा सकते हैं, जैसे मनसा दर्शन या श्रवण आदि।

ऊपर जिन तत्त्वों को विच्छिन्न एवं विविक्त कर के निरूपित किया गया है वस्तुतः उनकी विविक्तता पूर्वकल्पित नहीं है। काव्यानुभूति तो अखण्ड ही होती है तथा ये तत्त्व सहयोगपूर्वक काव्यानुभूति के तन्तु को विनिर्मित करते हैं। यहाँ तो प्रयोगशाला-कर्म के लिए ही उन्हें विच्छिन्न कर के प्रस्तुत किया गया है। किसी व्यक्ति में जिस अंश तक इनमें से विभिन्न तत्त्व विद्यमान होंगे, उसीके आधार पर उसकी संवेदनशीलता का परिरेखण किया जा सकेगा। फिर इससे भी आगे बढ़ कर संवेदनशीलता-परिरेखाओं की तुलना तथा संवेदनशीलता-परिरेखा एवं सामाजिक परिस्थितियों आदि के बीच सहसम्बन्ध की स्थापना भी की जा सकती है। सम्भवतः इन समस्याओं के समाधान के लिए इस प्रकार का प्रयत्न करने पर काव्यानुभूति-सम्बन्धी कुछ उपयोगी तथ्य प्राप्त हो सकते हैं। **—बद्रीनाथ**

भारतीय तर्कशास्त्र का परिभाषा-सिद्धान्त

•

'जर्नल आफ़ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी' के खण्ड ८१, संख्या २, अप्रैल-जून १९६१ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख 'दि थियरी आफ़ डेफिनिशन इन इण्डियन लाजिक' का सार

•

जे० एफ० स्टॉल

लक्षण-लक्ष्य पद तथा परिभाषा-सिद्धान्त तर्कशास्त्र के अङ्ग हैं किन्तु इनका उद्‌भव और आरम्भिक विकास व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत हुआ था। इनके इस व्याकरणक्षेत्रीय प्रागितिहास का कारण यह है कि भारत में सबसे पहले वैज्ञानिक पद्धति विकसित करनेवाला शास्त्र व्याकरण-शास्त्र ही था। अतः इसने भारतीय चिन्तन के अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित तथा उनके पूर्वलक्षणो को प्रस्तुत किया।

लक्षण-लक्ष्य का व्याकरण-ग्रन्थों में उल्लेख द्रष्टव्य है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' (चौथी शती ई०-पू०) में 'लक्षण' का आशय है व्याकरण का नियम। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में कात्यायन के 'वार्त्तिक' (तीसरी शती ई०-पू०) से उद्धृत किया है कि **'शब्दो लक्ष्यः सूत्रं लक्षणम्'**। क्षीर-स्वामिन् के अनुसार **'लक्ष्यमूलं लक्षणम्'** तथा नागोजी भट्ट के अनुसार **'लक्ष्यानुसारी व्याख्यानम्'**। भारतीय सङ्गीत-सिद्धान्त में इस अवधारणा को और भी विकसित किया गया।

"संस्कृत वैयाकरणों ने परिभाषा की अवधारणा का उपयोग व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का निरूपण करते समय किया। पारिभाषिक शब्द को वे 'संज्ञा' पुकारते है तथा ऐसे शब्द को परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करनेवाले पाणिनि के सूत्र को 'संज्ञासूत्र' कहते है।" इस प्रकार संज्ञा और सूत्र, ये तत्त्व अधिभाषा (metalanguage) में अन्तर्भूत हैं। पाणिनि के बाद की समस्या थी ऐसी परिभाषाओं को खोज निकालना जिनके द्वारा पाणिनि के सूत्रों का इस प्रकार प्रयोग किया जा सके कि उनका परिणाम लक्ष्य के अनुरूप हो। परिभाषा का प्रयोजन था लक्षण को न बदल कर वरन् उसके निर्वचन में ही परिवर्तन ला कर लक्षण और लक्ष्य का पुनर्मेल स्थापित करना। इस प्रकार व्याकरण एक ऐसा विज्ञान था जो लक्ष्य को महत्त्व प्रदान करने तथा उस पर निर्भर करने के कारण आनुभाविक था तथा एक बार किसी लक्षण के स्थापित हो जाने के बाद उसी का अनुसरण करने के कारण रूढ़िवादी भी था।

'परिभाषा' को ही 'न्याय' भी कहा जाता था। कालान्तर में 'न्याय' का अभिप्राय तर्क या तर्कशास्त्र हो गया। इसी प्रकार मीमांसा की परिभाषाएँ भी 'न्याय' पुकारी जाती हैं। 'न्याय' के प्राचीन काल में 'परिभाषा' के पर्याय के रूप में प्रयोग से यह लक्षित होता है कि भारतीय तर्क-शास्त्र के तत्त्वों एवं नियमों का उद्‌भव प्राचीन शास्त्रों और विशेषतः व्याकरण में भाषा तथा अधिभाषा की समस्याओं की चर्चाओं से हुआ।

परवर्ती तर्कशास्त्रीय मतवादों में परिभाषा-सिद्धान्त लक्षण तथा लक्ष्य के विविध सम्बन्धों का निरूपण करता है। 'तर्कदीपिका' के अनुसार सही लक्षण वह है जो लक्ष्य का सहभावी हो (**लक्ष्यतावच्छेदक समनियतत्वम्**) तथा 'तर्कभाषा' के लक्षण को **दूषणत्रयरहित** होना चाहिए। ये तीनों दोष हैं (१) अतिव्याप्ति (**अलक्ष्यवृत्तित्वम् अतिव्याप्तिः**), (२) अव्याप्ति (**लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वं अव्याप्तिः**) तथा (३) असम्भव (**लक्ष्यमात्रासत्त्वं असम्भवः**) सम्यक् एवं निर्दोष लक्षण का गुण है लक्ष्यवृत्तित्व या लक्ष्यसत्त्व, अर्थात् लक्ष्य का सहभावत्व। दूषणयुक्त लक्षण अतिव्याप्ति की दशा में लक्ष्य को समाविष्ट करके उसके बाहर तक व्याप्त अर्थात् अलक्ष्यवर्ती भी होता है, अव्याप्ति की दशा में लक्ष्य के एक अंश-विशेष को ही समाविष्ट कर पाता है अर्थात् लक्ष्यैकदेशवर्ती मात्र होता है, तथा असम्भव की दशा में लक्ष्य के बाहर ही व्याप्त होता है अर्थात् लक्ष्यमात्र में उसका असत्त्व या अवृत्तित्व होता है।

इन तीन दूषणों से पृथक् एक चौथा दूषण और भी होता है जिसमें लक्षण-लक्ष्य में आंशिक व्याप्ति और आंशिक अव्याप्ति होती है। क्या इस चौथे दोष के बिना दोषों का यह वर्गीकरण पूर्ण माना जा सकता है? वास्तव में यह आंशिक व्याप्ति या सङ्कर व्याप्ति अव्याप्ति में ही समाविष्ट है तथा अन्यत्र इसकी परिभाषा और दृष्टान्त भी दिये गये हैं। एक परिभाषा के अनुसार "अन्य जाति के साथ पारस्परिक आत्यन्तिक अभाव या अवृत्तित्व का समान आधिकरण्य या अधिष्ठानत्व होते हुए भी समान आधिकरण्य या अधिष्ठानत्व का होना" (**परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये सति जात्यन्तरेण सामानाधिकरण्याम्**) सङ्कर व्याप्ति है। एक अन्य ऐसी ही परिभाषा के अनुसार "पारस्परिक आत्यन्तिक अभाव के समान अधिकरणत्व वाले दो धर्मों का एकत्र समावेश" (**परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्रसमावेशः**) सङ्कर व्याप्ति हैं। उदाहरण के लिए भूतत्व तथा मूर्तत्व में सङ्कर व्याप्ति है, क्योंकि भूतत्व पृथिव्यादिचतुष्टय में है तथा आकाश में है और मूर्तत्व पृथिव्यादिचतुष्टय में तथा मनस् में है। सङ्करता तथा अनवस्थिति या अनवस्था (infinite regression) किसी भी वस्तु के जातित्व में बाधक होती है। यह सिद्धान्त भी आधुनिक तर्कशास्त्र से समानता रखता है।

बोखन्स्की (Bochenski) के अनुसार भारतीय तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्र के बीच अन्तर इसी बात पर है कि भारतीय तर्कशास्त्र स्वगुणार्थक (intensional) है। यह तथ्य बहुत अंशों में सही है किन्तु ऊपर वर्णित सिद्धान्तों का स्वरूप स्पष्टतः वस्त्वर्थक है।

—बद्रीनाथ

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

सामर्थ्य और सीमा

भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ संख्या : ३४८। मूल्य : ७.५० रु०।

कई वर्ष हुए एक बार प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के छात्रों और प्राध्यापकों ने श्री जैनेन्द्रकुमार को (जो चन्द दिनों के लिए प्रयाग आये हुए थे) 'आधुनिक हिन्दी-उपन्यास' विषय पर एक व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया था। जैनेन्द्र जी का भाषण तीसरे पहर ढाई-तीन बजे होने वाला था। मध्याह्न का भोजन उन्हें मेरे यहाँ करना था। अतः भोजन के बाद मैं भी उनके साथ चला गया और इस प्रकार वहाँ उपस्थित होने का अवसर मुझे भी मिल गया।

जैनेन्द्र जी ने अपने भाषण के आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि भाषण के लिए निर्धारित विषय को वे कितना महत्त्व देने जा रहे हैं; उन्होंने श्रोताओं से साफ़-साफ़ बता दिया था कि वे 'आधुनिक हिन्दी-उपन्यास' विषय को मर्यादा के रूप में न ले कर केवल एक नागदन्त मात्र मानेंगे। उन्होंने कहा कि 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' का विषय एक खूंटी है जिस पर मैं अपने विचार टाँगने-लटकाने जा रहा हूँ। दिये हुए विषय का, मेरी दृष्टि में, इससे अधिक मूल्य और महत्त्व नहीं है। उनके शब्द तो मुझे ज्यों के त्यों याद नहीं हैं—रह भी भला कैसे सकते थे!—पर बात जो उन्होंने कही वह स्पष्ट याद है। और अपने भाषण में सचमुच ही उन्होंने विषय को खूंटी ही माना, 'आधुनिक हिन्दी-उपन्यास' के नागदन्त पर नाना प्रकार की बातें टाँगी-लटकायीं।

भगवती बाबू के नवीनतम उपन्यास की चर्चा करते समय इस घटना का अनायास ही उल्लेख हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि जहाँ जैनेन्द्र जी ने विषय को खूंटी माना वहाँ भगवती बाबू ने विधा को। न जैनेन्द्र जी के उस अवसर पर व्यक्त किये गये विचारों के लिए 'आधुनिक हिन्दी-उपन्यास' का विषय अपेक्षित था, न ही भगवती बाबू के विचारों के प्रतिपादन के लिए यह आवश्यक था कि वे एक उपन्यास लिखें 'सामर्थ्य और सीमा' की रचना एक उद्देश्य की पूर्ति के

लिए की गयी है, पर उस उद्देश्य की पूर्ति (जिस अर्थ में और जिस सीमा तक उसकी पूर्ति हो सकी है) उपन्यास के माध्यम की माँग नहीं करती थी। कम से कम भगवती बाबू यह प्रमाणित नहीं कर पाये हैं।

उपन्यास की दृष्टि से 'सामर्थ्य और सीमा' की सबसे बड़ी कमी, उसके लेखक की प्रधान असफलता यही है कि उसके पाठक को, पुस्तक पढ़ लेने के बाद, यह समझ में नहीं आता कि लेखक ने अपने इन दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक विचारों को व्यक्त करने के लिए उपन्यास लिखना आवश्यक क्यों समझा। किसी भी साहित्यिक कृति की सफलता की पहली शर्त यह है कि उसके भावक के मन में यह प्रश्न उठ ही न सके कि आखिर यह रचना हुई क्यों, अथवा लेखक ने भला यह विधा क्यों चुनी, यह माध्यम क्यों अपनाया।

यह बात नहीं है कि 'सामर्थ्य और सीमा' के पाठक को कहानी नाम की चीज़ मिलती ही नहीं—मिलती अवश्य है। पर जिस रूप में वह मिलती है उस रूप में वह उपन्यास के उपन्यासत्व को निखारने-सँवारने की जगह उसकी कमियों और कमज़ोरियों को ही उभार कर सामने रख देती है। कहानी की नींव पर विचारों की अट्टालिका खड़ी करना और बात है, विचारों के नाना प्रकार के छोटे-बड़े बर्तनों को कहानी की चादर में बाँधना और है। चादर का बर्तनों से कोई सहज सम्बन्ध नहीं होता—न 'सामर्थ्य और सीमा' में है—और अगर चादर ज़्यादा झीनी और कमज़ोर हुई तो गठरी बाँधने की प्रक्रिया उसके लिए घातक भी हो सकती है। 'सामर्थ्य और सीमा' के साथ यही हुआ है। कहानी की झीनी चादर कई जगह से फट गयी है।

पात्र स्वाभाविक और विश्वसनीय हैं या नहीं, घटनाएँ सहज और अनिवार्य जान पड़ती हैं या नहीं, ये सारे प्रश्न 'सामर्थ्य और सीमा' के लिए आवश्यक ही नहीं, प्रायः निरर्थक हैं। लेखक ने अधुनातन सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ उठायी हैं, अतः उसें ऐसे कथानक और ऐसे पात्रों का निर्माण आवश्यक जान पड़ा जो हमारे आज के परिचित समाज में सम्भव हों। पति की अकाल मृत्यु और ज़मीन्दारी-उन्मूलन के आघातों से त्रस्त और क्षुब्ध सुसंस्कृत रूपमयी महिला रानी मानकुमारी, चतुर और अवसर का लाभ उठाने की कला में प्रवीण मन्त्री जोखनलाल, उद्योगपति मकोला, पत्रकार ज्ञानेश्वर राव, 'आर्टिस्ट' मंसूर, विश्वख्यात इन्जीनियर देवलङ्कर, साहित्यकार-राजनीतिज्ञ शर्मा जी, सभी ऐसे हैं जो आज के समाज और परिवेश में सम्भव हैं, खप जाते हैं। पर सभी 'टाइप' हैं, एक न एक ऐसे वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिस वर्ग पर भगवती बाबू कुछ कहना या जिसके माध्यम से कुछ कहलाना चाहते थे। इनमें से किसी पर इतना विश्वास नहीं जमता, किसी के भाग्याभाग्य में इतनी रुचि उत्पन्न नहीं होती कि पाठक को उनके बारे में कुछ जानने की सहज इच्छा हो। सभी पात्र आरम्भ से अन्त तक लेखक द्वारा परिचालित यन्त्र मात्र बने रहते हैं। लेखक ने चाहा कि इन सारे वर्गों के प्रतिनिधियों को कुछ दिनों के लिए एक साथ रखा जाय, अतः सब इकट्ठे हो गये। उसने चाहा कि दिन-रात, मौक़ा-बेमौक़ा, सभी पात्र सामयिक और शाश्वत समस्याओं पर विचार-विनिमय करते रहें, अतः वे यही करते रहे। उसने चाहा कि एक साथ सभी (मात्र मन्त्री जोखनलाल को छोड़ कर) रानी मानकुमारी से प्रेम करने लगें, अतः सभी प्रेम करने लगे। उसने चाहा कि पुस्तक का अन्त एक सर्वनाशी जल-प्रलय से हो जिसमें उपन्यास के सभी पात्र एक साथ डूबे मरें, अतः सभी डूब मरे। कई जगह वर्णन बहुत सुन्दर हुआ

है, जैसे रोहिणी की घाटी का और अन्तिम जल-प्लावन का। पर दो-चार अच्छे स्थलों से उपन्यास की मौलिक कमी तो दूर नहीं हो सकती।

बूढ़े मेजर नाहरसिंह अवश्य 'टाइप' नहीं कहे जा सकते पर वे स्पष्ट ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो लेखक के कल्पना-लोक में ही साँस ले सकते हैं, वहीं रह सकते हैं। ग्रीक पौराणिक शब्दों की अभिशप्त राजपुत्री कैसाण्ड्रा की तरह भावी अमङ्गल का पूर्वाभास उन्हें यदा-कदा हो जाया करता है, उसीकी तरह वे सबको सावधान करने की चेष्टा करते हैं, उसीकी तरह उनकी भविष्यवाणी भी एक कान से सुन कर दूसरे से निकाल दी जाती है। और उसी केसाण्ड्रा की तरह नाहरसिंह भी एक आकर्षक किन्तु अविश्वसनीय कवि-मानस-प्रसूति बन कर रह जाते हैं।

फिर भी इस पुस्तक का एक महत्त्व है। भगवती बाबू के विचारों और उनकी चिन्तन-शैली से परिचित होने के लिए 'सामर्थ्य और सीमा' का अनुशीलन आवश्यक माना जायगा।

—बालकृष्ण राव

हिन्दी नवलेखन

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का समालोचना-ग्रन्थ

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ-संख्या : २४८। मूल्य : ४·०० रु०।

'हिन्दी नवलेखन' डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की नवीनतम आलोचनात्मक कृति है। वैसे सिद्धान्ततः यह पुस्तक किसी भी प्रकार से नयी प्रवृत्तियों की सैद्धान्तिक विवेचना नहीं प्रस्तुत करती। बल्कि यह मात्र प्रवृत्ति-विश्लेषण भी नहीं प्रस्तुत करती। मूलतः इस पुस्तक में सम-सामयिक साहित्य की प्रचलित गतिविधियों को अङ्कित करने की चेष्टा की गयी है। चेष्टा इसलिए कि समसामयिक साहित्य की गति स्वयं इतनी पिघलती हुई, नर्म और गर्म आँच और धातु की होती है कि उसपर न तो अनुमानात्मक रूप में कुछ कहा जा सकता है और न निश्चयात्मक रूप से ही उसपर कोई निर्णय लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में नवलेखन पर जो भी पुस्तक लिखी जायगी, उसमें या तो कुछ खतरे या कुछ साहसिक भविष्यवाणियाँ ही सम्भव हैं। परिचयात्मक ज्ञान के लिए सूक्ष्म रूप में कुछ सैद्धान्तिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के दबे हुए या परोक्ष प्रभावों को भी आँका जा सकता है। शायद इसीलिए लेखक का कहीं भी यह आग्रह नहीं है कि वह अन्तिम रूप में कोई सैद्धान्तिक मीमांसा या स्थापना करे। स्वयं पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कहा है—**"अपने समवर्ती साहित्य के बारे में कुछ लिखना खतरे से खाली नहीं होता, यह जानते हुए भी मैंने इस जोखम को स्वीकार किया है, विशेष रूप से इसलिए कि मैं इस जनश्रुति को नहीं मानना चाहता जिसके अनुसार समकालीन रचनात्मक उन्मेष को ठीक-ठीक नहीं परखा जा सकता।"** डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस कथन में जिस साहस और प्रयास का सङ्केत है, वह वास्तव में सराहनीय है: यह बात और है कि वैसा कर पाने में उन्हें सफलता मिली है या असफलता।

सफल और असफल होने में और एक सर्वथा नये प्रयास में अन्तर किये बिना बहुधा हम गलतियाँ कर जाते हैं मेरा यह मत है कि लेखक के इस कथन की कि "हिन्दी के व्यापक साहित्य के आधार पर उसका उपलब्ध व्यवस्थित समीक्षाशास्त्र विकसित हो सके, इसलिए किसी ऐसे ही प्रारम्भ की आवश्यकता थी," अवहेलना कर के नवलेखन का मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। समसामयिक साहित्यिक गतिविधियों के साथ उसकी प्रारम्भिक समीक्षा और समालोचना के रूप में हमें इस पुस्तक की सीमाओं और अनिवार्य असफलताओं को समान रूप से स्वीकार करना चाहिए।

प्रस्तुत आधार पर इस पुस्तक को तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है : (१) किस सीमा तक इसमें नवीन प्रवृत्तियों को प्रस्तुत किया गया है; (२) प्रस्तुतीकरण में लेखक का दृष्टिकोण नये भाव-बोध को किस सीमा तक आत्मसात् कर सका है; तथा (३) विषय-विस्तार की दृष्टि से किन-किन सीमाओं को लेखक ने परम्परा से स्वीकार किया है और कहाँ वह सीमाओं को तोड़ कर नयी मर्यादाओं को स्थापित या प्रतिपादित या परिलक्षित करने में सफल हुआ है।

जहाँ तक नवीन प्रवृत्तियों के प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ, लेखक की दृष्टि उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि ऐसे ग्रन्थ के लेखन में होनी चाहिए। आजकल हिन्दी-साहित्य मे नयी प्रवृत्तियाँ शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से एक निश्चित मानदण्ड प्रस्तुत कर चुकी हैं। स्पष्ट रूप से यह भी देखा जा सकता है कि कुछ लेखक पुराने होते हुए भी उन शैलियों का रूपात्मक अनुकरण कर रहे हैं और विषय-वस्तु और भाव-बोध मे बिना परिवर्तन लाये मात्र अनुकरण के ही आधार पर नयी प्रवृत्ति में शामिल हो जाना चाहते हैं। ऐसी पुस्तक में इस बात की अपेक्षा थी कि विद्वान् लेखक इन दोषों का उनके भाव-बोध और परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से विवेचन करता। वैसे अपनी स्थापना में डॉ० चतुर्वेदी इस मत से सहमत हैं और कहते हैं कि "'नव' शब्द लेखक अथवा युग का परिचायक न हो कर नवीन परिप्रेक्ष्य का द्योतक है, इसीलिए नवलेखन में पुराने तथा नये सभी श्रेणियों के लेखकों का सहयोग एक साथ दिखायी देता है।" किन्तु पहले तो 'सहयोग' का ही अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। लेखन में सहयोग क्या है ? इसके अतिरिक्त सारी पुस्तक मे कहीं भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती नहीं दीख पड़ी है। इसके विपरीत उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'नवलेखन' में पंत, बालकृष्ण राव, उदयशंकर भट्ट आदि सब आ सकते है। प्रश्न यह उठता है कि यदि उदयशंकर भट्ट भी नये लेखक हैं तो आचार्य मम्मट्ट क्यों नहीं हैं ? वस्तुतः इसकी आशा करना मेरे लिए अनुचित भी नहीं है। आश्चर्य तो वहाँ होता है जहाँ डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी पंत जी की 'अतिमा' या बालकृष्ण राव की 'हमारी राह' या 'विक्रान्त सैम्सन' या शम्भूनाथ सिंह के काव्य-सङ्कलन 'माध्यम मैं' को नयी कविता के अन्तर्गत मानते हैं। 'अतिमा' में पंत जी को अपनी रोमैण्टिक प्रवृत्ति से कहाँ मुक्ति मिली है, इसका उल्लेख किये बिना उसे नयी कविता की कृति घोषित करना कुछ समझ में नहीं आता। इसी प्रकार 'विक्रान्त सैम्सन', घोर धर्मवादी ओल्ड टेस्टामेण्ट की काव्य-कथा का अनुवाद, क्या मूल ग्रन्थ से इतना अलग हो गया है कि उसे हम नयी कविता की श्रेणी में रख दें ? यदि 'विक्रान्त सैम्सन' का अनुवाद नयी कविता है, तो डॉ० रघुवंश द्वारा अनूदित 'सेतुबन्ध' या दिनकर का प्रबन्ध-काव्य 'उर्वशी' क्यों नहीं है ? वस्तुतः डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह प्रयास उतना ही गलत है जितना कि डॉ० रामविलास

शर्मा या प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'रामचरितमानस' में मार्क्स के 'कैपिटल' का समर्थन ढूँढ़ना। पंत जी की सम्पूर्ण संवेदना रोमैण्टिक थी, रोमैण्टिक है और यदि उनके सूक्ष्म अन्तर्मन में कोई बड़ी अन्तर्क्रान्ति नहीं हुई तो रहेगी भी। यही बात बालकृष्ण राव के भी विषय में कही जा सकती है। फिर रोमैण्टिक भाव-बोध का प्रतिनिधि कवि होना क्या इतनी बुरी बात है कि बिना नयी कविता में शामिल हुए प्रतिष्ठा ही न मिल पाये ?

'नवलेखन' की सबसे बड़ी कमी यही है। लेखक ने स्थान-स्थान पर इसी प्रकार की लम्बी छूटें ली हैं, जिसमें विचारों की परिपक्वता नहीं टपकती। इसी प्रकार नयी कविता और प्रयोगवाद में भेद उत्पन्न करने की चेष्टा भी युक्ति-सङ्गत नहीं हो पायी है। यदि अज्ञेय अपने को प्रयोगवादी कहते हैं तो मात्र इतने से वह प्रयोगवादी तो नहीं हो सकते और न मैं नयी कविता को घोषित कर के नया कवि ही हो सकता हूँ। तर्कसङ्गत और वस्तुपरक विवेचना के आधार पर ही प्रयोगवाद और नयी कविता में अन्तर किया जा सकता है। इन स्पष्टीकरणों के न होने के कारण ही 'अन्धा युग' को उन्होंने नयी कविता की उपलब्धि और सम्भावना एक साथ दोनो ही मान ली है।

रामस्वरूप जी ने हिन्दी-कथा-साहित्य को असमय-वृद्ध कहा है। समझ में नहीं आता कि हिन्दी-साहित्य में कथा-साहित्य को असमय-वृद्ध कहने की कौन-सी आवश्यकता थी, क्योंकि यहाँ लाख प्रयोगशीलता का नारा लगाने के बावजूद न तो किसी में जेम्स ज्वाइस से प्रभावित होने की प्रवृत्ति मिलती है और न वर्जिनिया उल्फ से। अज्ञेय, भारती, रेणु या कोई अन्य लेखक इस धरती और इस मिट्टी को छोड़ कर लिख ही नहीं सकता। अमरीकन कथा-साहित्य से हिन्दी-उपन्यास की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि एक ओर किसी अर्थ में अमरीकन-साहित्य के पास परम्परा, माइथॉलॉजी, नेशनल कैरेक्टर का अभाव रहा है तो दूसरी ओर भारत के साथ ऐसी बात नहीं कही जा सकती। चाहे 'शेखर' हो, या 'संन्यासी', 'नदी का द्वीप' हो या 'अँधेरे बन्द कमरे', इन सब में भारतीय धड़कन बोलती है, संस्कार बोलते है, नेशनल कैरेक्टर बोलता है। शेखर आत्महत्या नहीं करता, फाँसी के तख्ते पर भी दर्शन सोचता है, नायक कुएँ में डूब कर नहीं मरता, 'नदी के द्वीप' का भुवन अपने च्वायस में संस्कारहीन नहीं हो पाता। फिर अमरीकी साहित्य और उपन्यास से इसकी तुलना कैसे की जा सकती है? हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति इतनी नहीं है। क्षेत्रीय भाषाओं में जो उपन्यास अनूदित हो कर आये है उनमें भी हमें यह अभाव नहीं मिलता। फिर इस कथन के प्रमाण रामस्वरूप कैसे देंगे, यह मेरी समझ में नही आता। प्रयोगशीलता उपन्यास के आकार पर आधारित है या उसके कथन पर? शायद इसका जवाब भी उतना सरल नहीं है जितना कि रामस्वरूप जी मान बैठे हैं।

इस पुस्तक का बहुत-सा अंश मात्र इसलिए सङ्कुचित और कृत्रिम लगता है कि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी यूरोपीय साहित्य के सन्दर्भ में हिन्दी-साहित्य की विवेचना करना चाहते है। इसी कारण कहीं-कहीं उनसे बड़ी भूलें भी हुई हैं। आधुनिक चिन्तन, फ्रॉयड और मार्क्स के बाद शुरू होता है, इसकी प्रामाणिकता ढूँढना कठिन है। आधुनिकता की परिभाषा, इतिहास का दर्शन आदि कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनकी व्याख्या स्पष्ट नहीं हुई है। यदि मार्क्स और फ्रॉयड से मुक्त होना ही आधुनिकता मान ली जाय तो प्रश्न यह उठता है कि [illegible] सा

भट्ट क्यों आधुनिक हैं और क्यों प्रेमचन्द नहीं हैं। इसी प्रकार 'राष्ट्रवाणी' में 'जलते प्रश्नों' के लेखक क्या उतने ही रूढ़िवादी हैं जितने कि 'ऐंग्री यङ्गमेन' का आन्दोलन चलाने वाले ऑस्बोर्न और उसके साथी? क्या विजयदेव नारायण साही और धर्मवीर भारती द्वारा उठाये गये प्रश्न उतने ही दकियानूसी थे जितने कि ताज की समस्या को ले कर इंगलैण्ड में उठाये गये प्रश्न? वस्तुतः जैसा मैंने ऊपर कहा है, यह अति यूरोपीय होने की कुण्ठा है। ऐसा लगता है कि जैसे हमारी साहित्यिक गतिविधि का सञ्चालन यूरोप की धड़कन से होता है। वास्तव में न तो मुझे ऐसा मानने का कोई कारण ही दीख पड़ता है और न उसे स्वीकार करने की इतनी आवश्यकता ही। हमारा फ्रस्ट्रेशन, हमारी निराशा, हमारा सङ्घर्ष, गान्धी, नेहरू, प्रेमचन्द, शङ्कराचार्य और नागार्जुन के सन्दर्भ में ही हो सकता है। युद्ध का भी प्रभाव हम पर पड़ा है, किन्तु उसका वह रूप नहीं है जो रामस्वरूप जी ने दिखाया है।

इस पुस्तक को मैं एक दूसरी दृष्टि से भी देखता हूँ और वह दृष्टि है लेखक की अपनी गहराई और उसकी संवेदना का। इस दृष्टि से जहाँ मुझे रामस्वरूप जी में विश्लेषण की शक्ति दीख पड़ती है, वहीं लगता है, व्याख्या से वे घबराते हैं। कहीं-कहीं तो वे व्याख्या सूत्र-रूप में कर देते हैं। यही कारण है कि विश्लेषण प्रामाणिक नहीं हो पाता, सिद्ध नहीं हो पाता। और तब निष्कर्ष के प्रति भी सन्देह हो जाता है। व्याख्या के अभाव में विश्लेषण भी गलत लगने लगता है। बिना व्याख्या या नवलेखन की प्रवृत्तियों के गुणात्मक विवरण के उनके कई वक्तव्य मुझ-जैसे व्यक्ति की समझ में ही नहीं आ पाते। उदयशंकर भट्ट और लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास एक कोटि के तो माने जा सकते हैं, लेकिन नवलेखन की सीमाओं में वे आते हैं, इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता है जो इस पुस्तक में नहीं दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त भी कई बातें हैं जो खटकती हैं, जैसे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण। जहाँ लेखक के प्रयास और 'एप्रोच' की सराहना की जा सकती है, वहीं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में गिनाये गये तत्वों के प्रभावें बड़े सतही हैं। युद्ध, राजनीतिक सङ्घर्ष, आर्थिक विपर्यय, सामाजिक संक्रान्ति या बौद्धिक क्रान्ति का, जो कि सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत आते हैं, केवल नाम मात्र ले लिया गया है, उसे गहराई के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की गयी है। आवश्यक था कि नवलेखन की स्थापना सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बद्ध होती और विद्वान् लेखक यह समस्या कुछ और गहराई के साथ उठाते। इसी प्रकार नवलेखन के वातावरण वाले अध्याय की सूझ सराहनीय है, किन्तु उसमें भी मात्र घटनाओं का अङ्कन और तथ्यों का वर्णन मात्र कर दिया गया है, उसके विस्तृत रूप और आन्दोलन को वास्तविक सन्दर्भ के साथ नहीं दिया है, जिससे बात सही होते हुए भी अधूरी और अपर्याप्त लगती है। मिसाल के लिए आधुनिकीकरण की ही समस्या विचार की दृष्टि से न प्रस्तुत की जाकर तथ्य के रूप में प्रस्तुत की गयी है। यदि देश के यन्त्रीकरण की समस्या तथा अभी तक के कृषि-प्रधान 'मोटिफ़' (अभिप्राय) एवं संवेदनाओं को और भी व्यापक रूप में तथा गहराई के साथ प्रस्तुत किया गया होता तो निश्चय ही नवलेखन के आधारभूत तत्त्व और भी सजीवता के साथ स्पष्ट हो गये होते। शायद अधिकांश भ्रम, या अधिकांश तर्क भी, जिन्हें रामस्वरूप जी ने प्रस्तुत किये हैं, उनके प्रकाश में और भी अधिक स्पष्ट और सुव्यवस्थित हो गये होते। यदि 'मादा कैक्टस' की समस्या और नागार्जुन के अञ्चलिक उपन्यास दोनों ही नवलेखन के अन्तर्गत आते हैं तो फिर

'सीजर एक जीवनी' और भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास एक वर्ग में क्यों नहीं आ सकते हैं यह प्रश्न सजीव ही, नहीं काफी महत्त्वपूर्ण भी है! ऐसा लगता है कि लेखक में उदारता के कारण सीमा निर्धारित करने की वह सुस्पष्टता नहीं आ पायी है जो कि नयी संवेदना को सटीक और उचित सीमाओं में प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत अभावों में पुस्तक का प्रस्तुतीकरण शिथिल हो गया है। इसमें जिस कसाव की अपेक्षा थी, वह भी नहीं आ पाया है। लगता है, लेखक ने नवलेखन की संवेदना को उसके पूर्ण परिवेश में न सोच कर खण्डों में सोचा है और फिर उन खण्डों के माध्यम से एक समवेत दृष्टि प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसे मैं दृष्टि और प्रस्तुतीकरण दोनों की ही कमी मानता हूँ। प्रस्तुतीकरण में छायावाद से मुक्ति, नये परिवेश का अर्थ-ग्रहण, नयी संवेदना का प्रकृतिजन्य गुणात्मक विश्लेषण नहीं है। आज का नया भाव-बोध और समूची नयी संवेदना यदि इतनी सतही है तो फिर उसकी उपलब्धि भी बड़ी नहीं हो सकती। मैं व्यक्तिगत रूप से इसे इतना हलका-फुलका नही मानता। आज की संवेदना में सङ्घर्ष, विपर्यय, संक्रमण, घुटन मात्र ही नहीं है। यदि एक ओर उसमें गान्धी का दर्शन है तो दूसरी ओर वह जीवनी-शक्ति भी है जिसमें सतत विकसित होने की कामना है। सम्पूर्ण परिवेश मात्र द्वन्द्वात्मक गति से ही नहीं चल रहा है—कहीं उसमें मूल्यों के प्रति आग्रह है, सत्य के नये पक्षों को खोजने की अटूट कामना है, जीवन के यथार्थ को भोगने का सामर्थ्य है। ये सारी धारणाएँ-उपधारणाएँ आज की नयी संवेदना का निर्माण करती हैं। छायावाद में क्या बुराई थी, वह क्यों नये लेखक की दृष्टि और धड़कन का अङ्ग नहीं बन सका, इसका विश्लेषण करना होगा। मेरा अपना अनुभव यह है कि अभी इस दिशा में हमारे मनीषियों का ध्यान ही नहीं गया है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह कृति इस अर्थ में तो सराहनीय है ही कि इसमें कम से कम इन समस्त सम्भावित सन्दर्भों को अङ्कित करने की चेष्टा की है, किन्तु इसके साथ-साथ आवश्यकता थी अधिक परिपक्वता की, अधिक मननशीलता की और उन सबसे अधिक आज के लेखक की मनःस्थिति और उसके 'मूड' के साथ-साथ समूचे अन्तर्द्वन्द्वों का साक्षी बनने की।

यह साक्ष्य सम्भव कैसे है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कवि या लेखक की कृति में उसके संस्कार और उसकी कल्पना एवं दृष्टि, दोनों ही मिले रहते हैं। इनका विवेचन और इनके आधार पर मूल्याङ्कन नितान्त धीरज का काम है। पत्रकारिता के स्तर पर न तो इस विषय मे मत देना ही उचित है, और न मात्र लक्षणों के आधार पर ही इसपर मत व्यक्त कर देना ही। अनुकरण साहित्य और कला का कभी-कभी ऐसा अङ्ग बन जाता है कि रूपगत लक्षण से ही बहुत से लेखक समान मालूम होते हैं, किन्तु क्या मात्र इतना किसी नयी संवेदन के मूल्याङ्कन के लिए पर्याप्त है? शायद नहीं। इसीलिए यद्यपि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का प्रयास प्रशंसनीय है, तथापि उनके निष्कर्षों से सहमत हो पाना कठिन है।

इस पुस्तक में जो तीसरी कमी स्पष्ट दीख पड़ती है, वह विषय-विस्तार और नयी मर्यादाओं की है। वह कौन-सी मर्यादा है जिसे मदन वात्स्यायन और डॉ० धर्मवीर भारती दोनो ही मानते हैं? या नितान्त सामन्ती प्रवृत्तियों और मूल्यों के प्रति आग्रह रखने वाले डॉ० लक्ष्मीलाल नागार्जुन के वर्ग में न आ कर सीधे अज्ञेय के भाव-बोध के निकट प्रस्तुत कर दिये

जाते हैं? नरेश मेहता स्वयं लेखक के प्रयोगवादी होते हुए भी क्यों नयी कविता की सीमा में आ जाते हैं और उनको विशुद्ध रौमैण्टिक कवि क्यों नहीं माना जाता? इस दृष्टि से भी ऐसा लगता है कि विद्वान् लेखक ने लक्षण को अधिक प्रामाणिक माना है, भाव-बोध को कम। लक्षणों के आधार पर हो सकता है कि पंत, निराला, नागार्जुन और भारती, नरेश और नलिन-विलोचन शर्मा, सब एक कोटि के कवि मालूम हों, किन्तु लक्षण मात्र भाव-बोध और मर्यादा को स्थापित नहीं कर सकते। भाव-बोध इससे भी आगे, मानसिक दृष्टि, आन्तरिक मूल्यों के प्रति जागरूकता के परिचायक हैं। जैसे मात्र 'अणुवम' का प्रयोग करने से कोई आधुनिक नही हो सकता, उसी प्रकार मात्र कुछ आधुनिक अभिप्रायों के प्रयोग से नये और पुराने की पहचान नही की जा सकती। लगता है, रामस्वरूप जी ने नवलेखन के विश्लेषण में लक्षण और भाव-बोध को या तो एक मान लिया है या उन दोनों को अधिक गहराई के साथ नहीं देखा है।

आधुनिकता की व्याख्या में भी रामस्वरूप गहरे नहीं उतरे हैं। जेम्स ज्वॉयस, टी० एस० इलियट, एज़रा पाऊण्ड पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग करने के बाद भी क्यों अधिक आधुनिक हैं और अनेक नये लेखक समस्त आधुनिक लक्षणों का प्रयोग करने के बावजूद क्यो आधुनिक नहीं हो पाते हैं, इसपर भी विचार करना चाहिए था। मानव-स्वतन्त्रता और व्यक्ति-स्वतन्त्रता की चर्चा तो की गयी है जो आवश्यक ही है, लेकिन ये आधुनिकता के अनिवार्य अङ्ग कैसे हैं, क्यों हैं, इसकी भी कुछ विस्तार से व्याख्या की आवश्यकता थी। इसके बिना किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।

परिवेश के विश्लेषण में जहाँ प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसी दो विरोधी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, वहीं कुछ ऐसे तत्त्व भी हमें मिलते है जो इन वर्गों में आये बिना भी नये परिवेश से प्रभावित हैं। शमशेर जैसे कवि, जो अपने को प्रगतिवादी मानते हैं, विशुद्ध प्रयोगवादी हैं और कई ऐसे प्रयोगवादी लेखक हैं जो इन पूर्वग्रहों के बावजूद भी शायद विशुद्ध प्लेटिट्यूड्स के ही कवि हैं। परिवेश के अध्ययन में इस विरोधाभास का भी उत्तर अपेक्षित था। नकेनवादी, जो अपने को सर्वथा प्रयोगवादी कहते हैं, किस प्रकार रीति-परम्परा से बँधे हैं, इसका कारण क्या है जो हमारे संस्कार और स्वभाव दोनों को प्रभावित करता है—इसपर भी विचार करना चाहिए था। आशा है इन तत्त्वों पर और अधिक निश्चिन्त हो कर रामस्वरूप जी कभी अवश्य लिखेंगे।

लेखकों के वर्गीकरण में भी कुछ बातें खटकती हैं। इस दिशा में भी तथ्य और कथन के स्तर पर, शिल्प और प्रवृत्ति के स्तर पर, विचार और संस्कार के स्तर पर कुछ कमियाँ रह गयी हैं। जहाँ लेखक ने इतना बड़ा साहस किया था और इतनी बड़ी जिम्मेदारी को ओढ़ने का काम किया था, वहीं अधिक सतर्कता की भी आवश्यकता थी। ऐसे कई स्थान हैं जहाँ वर्गीकरण आधा सही लगता है और आधा ग़लत, जैसे जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी को प्रयोगशील कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि में रखने की बात, या नवलेखन में परम्परावादी लेखकों की सूची में कतिपय नामों का उल्लेख। अज्ञेय किस अर्थ में परम्परावादी नहीं है और अन्य कवि हैं, इसका भी आधार शायद और अधिक सतर्कता से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुतीकरण की उपर्युक्त त्रुटियों के आधार पर पुस्तक की कई अच्छी बातें भी दब जाती

हैं। जहाँ समीक्षा के नये स्तर का परिचय हमें इस पुस्तक में मिलता है, वहीं दृष्टि साफ़ न होने के कारण बहुत-सी बातें हमें स्पष्ट नहीं हो पातीं या आधी सही प्रतीत होती हैं।

लेकिन इस विश्लेषण का यह मतलब नहीं है कि इस पुस्तक का कोई महत्त्व ही नहीं। वस्तुतः नवलेखन हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में सर्वथा नया प्रयास है। जहाँ विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों मे गड़े मुर्दे ही उखाड़ने की प्रवृत्ति है, वहाँ उस परम्परा से भिन्न सर्वथा समवर्ती साहित्य पर लिखने का साहस ही प्रशंसनीय है। पुस्तक का विषयगत विभाजन और नये सन्दर्भों की पृष्ठभूमि में मूल्याङ्कन करने का प्रयास भी समीक्षा के नये धरातलों का परिचय देता है, किन्तु यह सब होते हुए सम्पूर्ण पुस्तक का 'इम्पैक्ट' न जाने क्यों लेखक के व्यक्तिगत 'नोट्स' के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता। व्यक्तिगत नोट्स से भी साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में काफी सहायता मिलती है, किन्तु व्यक्तिगत नोट्स के नाते वे किसी भी ऊँचे स्तर या मूल्यों की दृष्टि से अपना कोई भी महत्त्व नहीं सिद्ध कर पाते। वैसे कई अन्य दृष्टियों से मै इस पुस्तक को मूल्यवान् भी मानता हूँ। सर्वप्रथम इसलिए कि नवलेखन से सम्बन्धित समस्त प्रवृत्तियों का परिचय (विश्लेषण या व्याख्या नहीं) हमें इस पुस्तक में एक साथ मिल जाता है। दूसरे इसलिए कि इससे समवर्ती साहित्य के विषय में एक योग्य और समवर्ती समीक्षक के विचारों का परिचय मिलता है। तीसरे इसलिए कि पुस्तक के विषय-विभाजन और विचार-प्रवर्तन के भी सूत्र सर्वथा नये रूप में मिलते हैं। चौथे इसलिए कि समवर्ती लेखकों की कृतियों की सूची और उनकी पुस्तकों की परिचयात्मक टिप्पणी एक स्थान पर मिल जाती है।

इन बातों के अतिरिक्त २४२ पृष्ठों की इस पुस्तक में हमें उस प्रयास का भी परिचय मिलता है जो नये साहित्य की नयी समीक्षा-दृष्टि के लिए आवश्यक है। लेकिन हमारे आलोचक सिद्धान्त पर न जा कर 'कोल्ड एकेडेमीशियन' के रूप में बातों पर विचार करना चाहते है। 'कोल्ड एकेडेमीशियन' की तटस्थता में कोई आग्रह नहीं होता। आजकल उल्टी प्रवृत्ति चल पड़ी है। 'कोल्ड एकेडेमीशियन' के नाम पर आधुनिकता से लेकर प्रयोगवाद तक में, भारतेन्दु से ले कर नये से नये लेखक को जोड़ने की प्रवृत्ति-सी बन गयी है। समवर्ती साहित्य का विश्लेषण करते समय जब तक नवलेखन की कड़ी में पंत जी नहीं आएँगे, तब तक जैसे नवलेखन का मूल्याङ्कन हो ही नहीं पाएगा। रामस्वरूप जी ने भी उसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत नवलेखन मे समस्त विषय-वस्तु को उसी प्रकार प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। होना यह चाहिए था कि इस पुस्तक में नवलेखन के कुछ 'इशूज़' उठाये जाते और उनका विवेचन किया जाता। यदि ये 'इशूज़' स्पष्ट होते तो रामस्वरूप जी इस पेचीदा चक्रव्यूह में न फँसते। जो भी हो, अन्त मे रामस्वरूप जी के इस प्रयास की प्रशंसा ही की जायगी और साथ ही यह आशा भी कि आगामी पुस्तकों में वे समस्या के इस पहलू पर विशेष रूप से सजग रहेंगे।

——लक्ष्मीकान्त वर्मा

आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य

केशवचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित सङ्कलन

प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी। पृष्ठ: २५६। मूल्य: ६·०० रु०।

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। एक ओर प्रबुद्ध पाठकों की शिकायत है कि हमारे यहाँ हास्य-व्यंग्य की कमी है, दूसरी ओर हमारे लेखक इस बात से असन्तुष्ट हैं कि साहित्य के इतिहासकार उनकी उपेक्षा करते चले आ रहे हैं। एक ओर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हास्य-व्यंग्य की सामग्री पर संस्कृत रुचि के पाठक नाक-भौं सिकोड़ते हैं, दूसरी ओर लेखकों का कहना है कि गम्भीर साहित्य की तुलना में उनके साथ सौतेले भाई का-सा व्यवहार किया जाता है।

कविता, उपन्यास, नाटक की भाँति हास्य-व्यंग्य साहित्य की कोई विधा नहीं है, वह एक प्रवृत्ति मात्र है; अत: उसे सम्पूर्ण साहित्य से पृथक् स्थान नहीं दिया जा सकता। इस तर्क के आधार पर तो फिर शृङ्गार, वीर, और शान्त रस के लेखक भी पृथक् विवेचन के लिए आग्रह करेंगे। प्राचीन काव्य में परिमाण की दृष्टि से हास्य-व्यंग्यपरक काव्य कम ही पाया जाता है। हमारे कवि इसे प्रमुख विषय बना कर नहीं चले। इसके छींटे प्रसङ्गों के रूप में यहाँ-वहाँ पाये जाते हैं। जहाँ ऐसा हुआ है, उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' के नारद-मोह में, सूर के 'भ्रमर-गीत' और केशव की 'रामचन्द्रिका' के रावण-अङ्गद-संवाद में, वहाँ उसका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समीक्षकों ने मुक्त-हृदय से किया है। हास्य-व्यंग्य की ओर हमारे लेखकों का विशेष झुकाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। उसका मूल कारण साहित्य में गद्य का प्रवर्तन था। खड़ीबोली-आन्दोलन का सबसे क्रान्तिकारी चरण उसमें गद्य का विकास है। किसी भाषा में कविता के साथ गद्य का प्रादुर्भाव उसकी अभिव्यञ्जना-शक्ति के लिए नयी भूमियों का प्राप्त होना है। दुर्भाग्य से ब्रज और अवधी का गद्य कभी विकसित ही नहीं हो पाया; अत: भारतेन्दु-काल से खड़ीबोली-गद्य के विकास के साथ विदेशी और प्रान्तीय भाषाओं के स्वस्थ सम्पर्क ने जहाँ उपन्यास, नाटक, निबन्ध के लिए मार्ग प्रशस्त किया, वहाँ हास्य-व्यंग्य के लिए भी नये वातायन खोल दिये। यह बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि पिछले अस्सी वर्षों में इस प्रवृत्ति का जैसा विकास हुआ है, वैसा पिछले आठ सौ वर्षों में भी नहीं हो पाया था। परिणाम यह हुआ कि इधर हास्य-व्यंग्य के अनेक सङ्कलन ही नहीं आये, वरन् तद्विषयक दो-एक शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं। यों ये सङ्कलन व्यवसाय-वृत्ति के परिचायक हैं, तथा शोध-प्रबन्ध सूचनात्मक मात्र, पर हैं तो। सच बात यह है कि हिन्दी में अभी न श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य की परम्परा स्थापित हो पायी है और न स्वस्थ आलोचना की। आलोचना तो साहित्य का आधार ही ले कर चल सकती है, अत: हिन्दी में पहली आवश्यकता हास्य-व्यंग्य के श्रेष्ठ सङ्कलनों की है। श्री केशवचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ उस अभाव की अनेक अंशों में पूर्ति करता है।

हास्य-व्यंग्य के साहित्य के स्वतन्त्र विवेचन के पक्ष में एक बात कही जा सकती है और वह यह कि आज का लेखक रस पर दृष्टि रख कर लिखता ही नहीं; अत: आधुनिक साहित्य की

समीक्षा रस-सिद्धान्त के आधार पर करना उसके साथ अन्याय करना है। ऐसी दशा में इन लेखकों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। मेरा विश्वास है कि भविष्य का आलोचक इनके साथ अधिक न्याय कर सकेगा।

इस सङ्कलन में बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र, तीन लेखक उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। इनकी रचनाओं का मुख्य स्वर है देश-भक्ति। इनमें देशद्रोहियों पर व्यंग्य कर के देश की दुर्दशा की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाने वालों में इन लोगों की निर्भीकता आश्चर्य-चकित करने वाली है। यद्यपि शैली मे इन्होंने स्वप्नों और प्रतीकों का सहारा लिया है; पर व्यंग्य स्फटिक की भाँति पारदर्शी है। वाग्वैदग्ध्य और विनोद की छटा देखने योग्य है। मुहावरों का प्रयोग खुल कर हुआ है और शब्दों पर यहाँ-वहाँ श्लेष की छाया है। गद्य उस समय तक अधिक परमार्जित नहीं हुआ था; अतः भाषा के अशुद्ध प्रयोग जैसे 'कौशल्य', 'हुई', 'प्रगट' आदि पाये जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के लेखकों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पुरानी पीढ़ी मे एक वर्ग है शिवपूजनसहाय, गुलाबराय और जहूरबख्श का, दूसरा है काशी के बेढब, भुशुण्डि और भैया बनारसी का, तीसरा लखनऊ के भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर आदि का। इन्हींके साथ अन्नपूर्णानन्द और अलबर्ट कृष्णअली को समझना चाहिए। शिवपूजन सहाय की भाषा लालित्यपूर्ण है। बाबू गुलाबराय एक बहुपठित व्यक्ति का आभास देते हैं। इनका विनोद सरल ढङ्ग का होता है जिसमें द्वेष का लेश नहीं रहता। ये स्वयं अपने पर हँस-हँस कर व्यंग्य के तीखेपन को कम कर देते हैं। जहूरबख्श मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार के चित्र देने में दक्ष है। इनकी रचनाओं में मुसलमानी घरानों की जुबाँदानी देखने योग्य है। काशी के तीनों लेखक पुराने ढङ्ग का 'टिपिकल' मज़ाक करते हैं। भाषा इनकी साधारण कोटि की होती है। उसमें विशेष भङ्गिमा नहीं पायी जाती। भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर दोनों के हास्य में क़िस्सा-गोई का आनन्द निहित रहता है। इस सङ्कलन में दोनों का हास्य गप्पों पर आधारित है। अन्न-पूर्णानन्द और अलबर्ट कृष्णअली के लेख पाण्डित्यपूर्ण हैं।

नये लेखकों ने साहित्य और राजनीति के साथ विज्ञापन, बोरडम, सौन्दर्य-बोध आदि के नये और अछूते विषयों को भी लिया है। ये विषय कहीं कहानी, कहीं संस्मरण, कहीं डायरी, कहीं कथोपकथन, कहीं यात्रा-विवरण, कहीं पत्र और पैरोडी के रूप में प्रस्तुत किये गये है। मुक्त-प्रवाह और फ़्लैश-बैक की टेकनीक भी इनमें अपनायी गयी है। इन रचनाओं में से कुछ केवल मनोरञ्जन करती हैं, कुछ राजनीतिक और सामाजिक जीवन की विषमताओं को उभार कर सामने रखती हैं, कुछ विशेष व्यक्तियों के स्वभाव की सीमाओं पर प्रकाश डालती हैं, कुछ रूढ़ियों पर आघात करती हैं, और सब मिल कर युग की असङ्गतियों का इतिहास बताती हैं।

हास्य-व्यंग्य के लेखक को गम्भीर साहित्य के रचयिता के साथ जो स्थान नहीं मिल पाता, उसका एक ही कारण मेरी समझ में आता है और वह यह कि हास्य-व्यंग्यकार कभी भी सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाता। वह जीवन और जगत् की कुरूपता को अतिरञ्जित रूप में प्रस्तुत कर लोक में मङ्गल का विधान करता है। अत जहाँ वह अपने लक्ष्य से थोड़ा भी

चूका कि उसके लक्ष्य की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। हास्य और करुणा का घोर विरोध है; अतः हास्य के लेखक को उस क्षेत्र से दूर ही रहना चाहिए। उदाहरण के लिए भगवतीचरण वर्मा की रचना 'मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी' को लीजिए। इसमें एक ही बात को बार-बार दुहराने से ऊब उत्पन्न होने लगी है। गप्प का लक्ष्य मुग़लों की अव्यावहारिकता और अंग्रेज़ों की कुटिलता चित्रित करना है। इससे कहानी करुणा की ओर मुड़ गयी है। परिणाम यह हुआ है कि सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया है। विजयदेवनारायण साही के लेख में भी रिक्शेवाले के प्रसङ्ग से सहानुभूति का तत्त्व उभर आया है, जिससे व्यंग्य अवसाद की कोर छूने लगा है। साही वैसे भी बहुत बारीक़ कातते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा मूडी व्यक्तित्वों के चित्रण में तटस्थ नहीं रह पाते—कहना चाहिए कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को नहीं दबा पाते। धर्मवीर भारती के सन्दर्भ और सङ्केत इतने स्पष्ट हैं कि व्यंग्य व्यक्तिगत हो गया है। यह लेख एक ओर श्रद्धा से प्रेरित है, दूसरी ओर प्रहार की ठण्ढी निर्दय वृत्ति से। नामवर सिंह का निबन्ध काफ़ी तीखा है। वे तो संस्थाओं और लेखकों के नाम लेने से भी नहीं चूके हैं। यह ठीक है कि व्यंग्य किसी न किसी के प्रति प्रेरित होता है और उसकी एक सामाजिक उपयोगिता है। फिर भी उसका उपयोग हम अपने मन की जलन बुझाने के लिए नहीं कर सकते। हास्य-परिहास और बात है, विद्रूप-उपहास और बात।

इस सङ्कलन में सभी लेखकों को स्थान देना तो कठिन था, फिर भी अधिक से अधिक श्रेष्ठ और लोकप्रिय लेखक इसमें सम्मिलित हो गये हैं। छायावादी युग के हास्यकारों में मुझे केवल एक ही लेखक का अभाव खटकता है और वे हैं विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'। कौशिक जी उन्नीसवीं शताब्दी और नये युग के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। उनकी 'दुबे जी की चिट्ठी' से कुछ देना था। नये लेखकों की संख्या आवश्यकता से कुछ अधिक है। इनमें कुछ ऐसे लोग भी प्रवेश पा गये हैं जिन्हें या तो लोग साहित्यिक नहीं मानते या जो हास्य-व्यंग्य के लेखक हैं ही नहीं। उनके स्थान पर प्रभाकर माचवे या किसी अन्य अधिकारी को रखा जा सकता था। चयन में वैसे तो सम्पादक की रुचि ही सब कुछ है; फिर भी हरिशंकर परसाई और श्रीलाल शुक्ल की और अच्छी रचनाएँ चुनी जा सकती थीं।

'आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य' एक सुसम्पादित ग्रन्थ है। हास्य-व्यंग्य के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में यह सङ्कलन बहुत अच्छा बन पड़ा है। रचनाएँ सुरुचिपूर्ण हैं, उनका अपना एक स्तर है, वे हास्य-व्यंग्य की विविधता की ही नहीं, समृद्धि की भी परिचायक हैं। मेरे देखने में अभी तक जितने सङ्कलन आये हैं, उनमें इसे सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।

—विश्वम्भर 'मानव'

रङ्गनाथ रामायण

ए० सी० कामाक्षि राव द्वारा अनूवादित
अवधनन्दन द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ संख्या : ४७७। मूल्य : ६.५० रु०।

दक्षिण में ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के प्रथम चरण के अन्तिम भाग में 'महाभारत' का अनुवाद हुआ और इसी युग में आलोच्य ग्रन्थ 'रङ्गनाथ रामायण' का भी प्रणयन हुआ। आदि-कवि वाल्मीकि के पूर्व से प्रचलित रामकथा क्रमशः इतनी लोकप्रिय हुई थी कि अपनी भौगोलिक सीमा का उल्लङ्घन कर विश्वव्यापी बन गयी थी। इस उक्ति की पुष्टि बहुत कुछ वर्तमान तथ्यो द्वारा हो जाती है। ऐसी मनोरम कथा यदि उत्तरापथ से दक्षिण भारत तक फैली दिखायी देती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? यह कथा केवल पौराणिक रूप में ही उपलब्ध नहीं है, इसके अन्य कई रूप भी प्रचलित हैं। अकेले तेलुगु भाषा में ही पद, प्रबन्ध, पुराण, द्विपद, शतक, वचन, दण्डक, सङ्कीर्तन एवं यक्षगान के अतिरिक्त लोकगीतों तक में इस कथा के विविध रूप पाये जाते है। किन्तु इस कथा का साहित्यिक रूप वहाँ तेरहवीं शताब्दी के पूर्व का देखने में नहीं आता।

'रङ्गनाथ रामायण' की रचना सन् १३८० ईसवी के आसपास बोथान नगर (बूदपुर) के सूर्यवंशी राजा विट्ठल राजु के आदेश पर राजकुमार गोनबुद्ध द्वारा सम्पन्न हुई थी। इसकी कथा वाल्मीकीय रामायण पर आधारित होने पर भी कई बातों में उससे भिन्न है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि लेखक ने अपने क्षेत्र में प्रचलित कथा के तत्कालीन रूप से सहायता ली होगी। यह भी असम्भव नहीं कि यह कथा खण्डशः कई रूपों में प्रचलित रही हो। अनुवादक महोदय ने अपनी 'प्रस्तावना' में इस बात का ठीक ही सङ्केत दिया है कि किन-किन विशिष्ट प्रसङ्गो मे वह वाल्मीकीय रामायण से भिन्न है। कुछ ऐसे भी प्रसङ्ग हैं जिनके सन्दर्भ जैन-ग्रन्थों में पाये जा सकते हैं। ऐसे प्रसङ्गों में जाबुमाली का वृत्तान्त, कालनेमि का वृत्तान्त, रावण के समक्ष अङ्गद का मन्दोदरी को घसीट कर लाना, आग्नेयास्त्र का प्रयोग करने की विभीषण की सलाह आदि ऐसे हैं, जो मूल-कथा की घटनाओं को अधिक तर्क-सङ्गत सिद्ध करने के निमित्त जोड़े हुए प्रतीत होते हैं। रावण से तिरस्कृत हो कर विभीषण का अपनी माता के पास जाना, कैकेसी का हितोपदेश और सुलोचना का वृत्तान्त आदि रावण के परिवार के लोगों के चरित्र पर प्रकाश डालने के साथ ही साथ इस ओर भी इङ्गित करते हैं कि रावण भूत-प्रेतों का वंशज एवं भूत-प्रेतों का राजा नहीं था, किन्तु एक विलक्षण परिवार में उत्पन्न हुआ विशिष्ट व्यक्ति था। रावण द्वारा राम की धनुर्विद्या की कुशलता की प्रशंसा, मन्दोदरी का रावण के समक्ष श्रीराम की महिमा एवं पराक्रम की प्रशंसा, गिलहरी का वृत्तान्त आदि प्रसङ्ग राम के उस लोकोत्तर व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, जो शत्रुओं की भी प्रशंसा प्राप्त करने की क्षमता रखता था। साथ ही साथ वे रावण तथा मन्दोदरी के चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं। इस रामायण में ऐसे प्रसङ्गों के भी अभाव नहीं हैं जिनका उद्देश्य वैदिक धर्म के प्रति लोगों में निष्ठा का भाव जागरित करना प्रतीत होता है।

'रङ्गनाथ रामायण' की काव्य-रचना की न केवल उद्देश्य में नवीनता है, अपितु कथावस्तु विधान तथा चरित्र-चित्रण तक में नयापन है। यह प्रबन्ध-काव्य मूलतः देशज छन्द 'द्विपदी में लिखा गया है। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में इतना लोकप्रिय हुआ है कि इसका कुछ भाग 'तोलुबोम्म लाटा' (पुतली नृत्य) तक में प्रयुक्त होता है। ऐसी उत्तम कृति के प्रकाशन के लिए हम बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के अधिकारियों को बधाई दिये बिना नहीं रह सकते। —रेवाशंकर

गोस्वामी तुलसीदास

स्व० शिवनन्दन सहाय द्वारा लिखित जीवन-वृत

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ संख्या : ३५१। मूल्य : ५·५० रु०।

प्रस्तुत पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' का प्रथम प्रकाशन सन् १९१६ ईसवी में आरा से हुआ था। उसी का यह संशोधित पुनर्मुद्रित संस्करण है जो ४५ वर्ष बाद कायाकल्प करा के प्रकाश में आया है। निस्सन्देह यह अपने युग की बहुप्रशंसित पुस्तकों में एक रही है। हिन्दी मे इस विषय की इसके पूर्व की दो ही पुस्तकें मिलती हैं जिनमें से एक श्री विश्वेश्वरदत्त शर्मा-लिखित 'तुलसी चरित प्रकाश' १८७७ की है और दूसरी रानी कमल कुँआरी रचित 'तुलसीदास का जीवन-चरित्र' है जो १८९५ में प्रकाशित हुई थी। सहाय जी की पुस्तक में केवल कवि तुलसी का जीवन-परिचय ही नहीं है, अपितु मूल्याङ्कन-सहित उनकी कृतियों का विस्तृत विवरण भी है। लेखक ने जीवन-वृत्त लिखते समय लोक-प्रवादों का भी युक्ति-संगत उपयोग किया है।

पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सत्रह परिच्छेद हैं, जिनमें तुलसीदास के जन्म से ले कर मृत्यु तक का क्रमबद्ध वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। इसे तैयार करने में अंतस्साक्ष्य तथा लोक-प्रवाद दोनों से ही सहायता ली गयी है। इस पद्धति द्वारा लिखित पुस्तक 'भक्तमाल' की कोटि की न हो कर जीवनी की श्रेणी की बन गयी है। इसी प्रकार द्वितीय खण्ड में कवि की कृतियों के साहित्यिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। कवि के प्रति लेखक की श्रद्धा-भावना फूटी पड़ती है। फिर भी वह अपने को बहकने से बचा सका है।

इस संस्करण के सुयोग्य सम्पादक स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा का शोधपूर्ण सम्पादकीय बड़े काम का है। यदि नये संस्करण की विशेषता, अर्थात् इसके संशोधित अंशों का एक स्थान पर भी उल्लेख कर दिया गया होता तो अधिक अच्छा होता। इसी प्रकार 'शब्दानुक्रमणी' भी पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा देती। फिर भी पुस्तक का अपना महत्त्व है। इस जीर्णोद्धार के लिए परिषद् के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं। —रेवाशंकर

मुद्रक
●
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

भाग २४	जुलाई-सितंबर
अंक ३	१९६२

प्रबन्ध सम्पादक	प्रधान सम्पादक
विद्या भास्कर	डॉ० माताप्रसाद गुप्त
मंत्री	●
एवं कोषाध्यक्ष	सहायक सम्पादक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी	डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य

एक अंक : २.५० रु०

वार्षिक : १०.०० रु०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

●

हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार-संग्रह एवं समाचार-लेखन

ऐतिहासिक अनुदृष्टि में

●

श्रीप्रकाश

"If a dog bites a man, that's not news; if a man bites a dog, that's news."

पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में प्रचलित तथा सर्वमान्य इस फ़ार्मूले को यदि मान लिया जाए और इसके आधार पर समाचार की यह परिभाषा कर दी जाए कि असाधारण और आश्चर्यजनक घटना को ही समाचार की संज्ञा दी जा सकती है, तो शायद समाचारपत्रो के सस्करण ही प्रकाशित न हो सकें।

समाचार की यह अव्यावहारिक कसौटी समय के साथ-साथ अपनी मौत मर चुकी है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि असाधारण घटनाएँ समाचार की परिधि में आती ही नहीं। ऐसी घटनाएँ भी निस्सन्देह समाचार हैं, किन्तु केवल वे ही समाचार नहीं हैं, उनके अतिरिक्त भी बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हैं, जो समाचार की परिधि में आती हैं।

डीन एम० लाइल स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'न्यूज राइटिङ्ग' में कहा है:—

"News may be defined as any accurate fact or idea that will interest a large number of readers."

'क्लीवलैण्ड प्लेन डीलर' के भूतपूर्व सम्पादक एरी सी० हॉपवुड का कथन है:—

"News is the first report of significant events which have interest for the public."

विलियम एस० माल्सबी ने अपनी पुस्तक 'गेटिङ्ग दि न्यूज़' में कहा है:—

News may be defined as an accurate, unbiased account of the significant facts of a timely happening that is of interest to the readers of the newspaper that prints the account."

और इसी तरह अपनी पुस्तक 'न्यूजपेपर राइटिङ्ग ऐण्ड एडिटिङ्ग' में डॉ० विलर्ड जी० ब्लेयर ने कहा है:—

"In actual practice the definition of news for a given newspaper amounts to this : News is anything timely that is selected by the news staff because it is of interest and significance to their readers or because it can be made so."

यद्यपि समाचार की ये चारों परिभाषाएँ एक-दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न हैं, फिर भी इन सबमें पाठक की रुचि तथा विवरण की यथार्थता की बातें समान रूप से विद्यमान हैं।

पाठक की अभिरुचि

पाठक की रुचि समाचार की सामयिकता, उसके घटना-स्थल, उसके प्रकाशन-स्थल तथा उसके विषय पर निर्भर करती है। पाठक को स्वभावत: उसी समाचार में दिलचस्पी होती है जो एकदम ताजा हो। पत्रकारिता के आरम्भिक काल में समाचार हफ्तों और कभी-कभी महीनों बाद पत्रों में प्रकाशित होते थे किन्तु उस काल के पाठक के लिए वे समाचार ही ताजे होते थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में महाजनी का काम करने वाली मद्रास-स्थित एक संस्था अर्बुथ नॉट एण्ड कम्पनी का दिवाला निकल गया। भारत सरकार इस संस्था में रुचि रखती थी किन्तु उसे भी लम्बे अरसे तक इसके दिवाला निकल जाने की बात मालूम नहीं हुई। महीनों बाद एक छोटे सरकारी कर्मचारी ने मद्रास के एक छोटे-से समाचारपत्र में जब इस समाचार को पढ़ा तो भारत सरकार को सूचित किया। सूचना पा कर वाइसराय तथा उसकी कार्यकारिणी के वित्तीय सदस्य सर विलियम मेयर बहुत चिन्तित और इस समाचार के विस्तृत हवाले के लिए उत्सुक हो उठे। किन्तु लम्बे अरसे तक उन्हें इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। उन दिनों का साधारण पाठक महीनों बाद किसी घटना का विवरण पढ़ कर सन्तुष्ट भी हो जाता था, किन्तु आज स्थिति बदल गयी है। विज्ञान की प्रगति ने देशगत दूरी को निष्प्रभाव कर दिया है। आज के इस वैज्ञानिक युग में दुनिया के एक कोने में घटित हुई घटना का समाचार मिनटों में सारे संसार में प्रसारित हो जाता है। ३० जनवरी सन् १९४८ को दिल्ली-स्थित बिड़ला-भवन में सायंकाल ५ बज कर १० मिनट पर गांधी जी की हत्या हुई थी और दो मिनट से भी कम समय में यह समाचार विश्व भर में प्रसारित हो गया था।

आज संसार में घटनाएँ ऐसी तीव्र गति से घटित होने लगी हैं और परिवहन-व्यवस्था भी इतनी विकसित हो चुकी है कि आज का समाचार कल ही पाठक के लिए बासी पड़ जाता है। अक्सर तो चन्द घण्टे पहले का समाचार भी ताजा नहीं रह जाता। अक्सर ऐसा भी होता है कि पत्रों को किसी समाचार के प्राप्त होते-होते घटना-चक्र इतना आगे बढ़ चुका रहता है कि वह समाचार बेकार हो जाता है और उसकी जगह दूसरा समाचार भी पत्रों के पास आ जाता है।

पहले का पाठक महीनों पुराने समाचारों को पढ़ कर केवल इसलिए सन्तुष्ट हो जाता था कि उसका अस्तित्व और उसके चारों ओर बिखरा सब-कुछ बहुत धीमी गति में चलता था। किन्तु अन्तरिक्ष-यानों के इस तीव्रगामी युग की सन्तानें सामयिकता को घण्टे भी नहीं वरन् मिनटों की कसौटी पर आँकती हैं।

अक्सर ऐसी घटनाएँ भी घटित होती हैं जो काफ़ी समय तक सामयिक बनी रहती हे। इन घटनाओं में कुतूहल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि पाठक की रुचि उनमें बराबर बनी ही रहती है। किसी घटना अन्त का क्या होगा, यदि यह अन्धकार में रहे तो कुतूहल अपने आप उत्पन्न हो जाता है और उससे सम्बन्धित समाचार कई-कई दिनों और अक्सर हफ्तों तक ताजे ही बने रहते हैं। राजनीतिक आन्दोलनों, चुनावों, दुर्घटनाओं तथा स्पोर्ट्स के मैचों के समाचारों मे कुतूहल किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है।

घटना-स्थल और प्रकाशन-स्थल

पाठक की रुचि किसी समाचार के घटना-स्थल और उसके प्रकाशन-स्थल पर भी बहुत अधिक निर्भर करती है। घटना-स्थल पाठक से जितनी ही कम दूरी पर होगा, उस समाचार मे उतनी ही अधिक रुचि होगी। इसीलिए स्थानीय समाचारों में साधारण पाठकों को सबसे ज्यादा दिलचस्पी होती है। यदि इलाहाबाद के किसी मुहल्ले में आग लग जाय, या डाका पड जाए, या हत्या हो जाए, या ऐसी ही कोई अन्य घटना हो जाए तो उसमें वहाँ के पाठक को दूसरे किसी नगर में हुई ऐसी ही किसी घटना के समाचार की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी होगी। इसीलिए समाचारपत्रों के स्थानीय संस्करणों में स्थानीय समाचार काफ़ी बड़ी मात्रा में दिये जाते है। इनमें से अधिकांश में तो समाचारत्व होता ही नहीं। यह बात बड़े शहरों की अपेक्षा छोटे शहरो और क़स्बों में अधिक देखने को मिलती है, क्योंकि वहाँ का पाठक अपने शहर के चप्पे-चप्पे से परिचित होता है और वहाँ के अधिकांश निवासियों को वह जानता रहता है और उनसे सम्बन्धित समाचारों में उसकी व्यक्तिगत दिलचस्पी रहती है। स्थानीय महत्त्व के अधिकांश समाचार बाहर के समाचारपत्रों में तो स्थान ही नहीं पाते क्योंकि घटना-स्थल की पाठक से दूरी जितनी बढती जाती है उसी अनुपात में पाठक की उसमें रुचि भी घटती जाती है। इन स्थानीय समाचारों में से एकाध अगर बाहर के पत्रों में स्थान पाते भी हैं तो उनका रूप बहुत संक्षिप्त होता है और उन्हें समाचारपत्र में कम महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

कभी-कभी समाचारों के घटना-स्थल स्वयं में इतने महत्त्वपूर्ण या दिलचस्प होते हैं कि वहाँ के समाचारों में पाठक सहज ही रुचि लेने लगते हैं। उदाहरणार्थ न्यूयार्क के किसी भी समाचार में पाठक को अवश्य रुचि होगी, क्योंकि वहाँ संयुक्त राष्ट्रसङ्घ का प्रधान कार्यालय है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों से उसका अटूट सम्बन्ध है। इसके अलावा हॉलीवुड के समाचारों में किसी दूरस्थ देश का पाठक भी उतनी ही दिलचस्पी लेगा जितनी स्वयं हॉलीवुड का पाठक, क्योंकि हॉलीवुड अमेरिकी फ़िल्म-उद्योग का केन्द्र होने के कारण विश्व भर में अपनी रङ्गीनियों के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार दिल्ली के समाचारों में हर समाचारपत्र-पाठक को अभिरुचि होगी, क्योंकि दिल्ली भारत की राजधानी है और वहाँ के समाचार का प्रभाव पूरे देश

पर भी पड़ सकता है और उसकी प्रतिक्रियाएँ विश्व की राजनीति में भी दिखायी पड सकती हैं।

समाचारों की पाठक-केन्द्रिकता

कभी-कभी पाठकों की आर्थिक तथा सांस्कृतिक अभिरुचि पर भी समाचारों का महत्त्व निर्भर करता है। किसी समाचार में दी गयी कोई छोटी-सी बात भी यदि पाठकों की आर्थिक अथवा सांस्कृतिक रुचि की तुष्टि करती है तो वह पाठकों के लिए महत्त्वपूर्ण समाचार बन जाएगा और इसलिए समाचारपत्रों के लिए भी उसका महत्त्व होगा।

समाचार का विषय और उसका विवरण ऐसा होना चाहिए कि पाठक के विचारों तथा भावनाओं में उथल-पुथल मच जाय। किसी भी समाचार को पढ़ कर यदि पाठक के मस्तिष्क के तन्तु किसी भी रूप में उत्तेजित हो गये तो वह उसमें अवश्य ही रुचि लेगा। यदि किसी समाचार की प्रतिक्रिया बौद्धिक रूप में होती है और उसमें मस्तिष्क कुछ सोचने-विचारने को मजबूर हो जाता है, या यदि उसकी प्रतिक्रिया भावनात्मक होती है, अर्थात् क्रोध, अवसाद या आनन्द की सृष्टि होती है तो पाठक की रुचि उस समाचार में बराबर बनी रहेगी।

मनुष्य को स्वभाव से ही स्वयं अपने आप में और अपने आप से सम्बन्धित अन्य सभी बातों में सबसे अधिक रुचि होती है। 'अमेरिकन मैगज़ीन' के सम्पादक जॉन एम० सिडैल ने इस सम्बन्ध में कहा है:——

"What interests people ? One thing only interests all human beings always, and that is the human being himself.

"There you have the gist of the matter. No prescription can beat it—if you want to know how to get at people and grip their attention.

"Every human being likes to see himself in reading matter—just as he likes to see himself in a mirror....

"Newspapers are read widely because the individual reader sees himself constantly, in the paper...He reads about things happening to individuals which might happen to him, and he keeps comparing himself with what he reads."

तात्पर्य यह कि समाचार का विषय यदि स्वयं पाठक की समस्याओं और उसके आस-पास की किसी चीज़ से सम्बन्धित है तो उसमें पाठक की दिलचस्पी होना अवश्यम्भावी है।

समाचार के अन्य तत्त्व

अनेक घटनाएँ असाधारण होने के कारण समाचार की परिधि में आ जाती हैं और पत्रों में प्रकाशित होती हैं। आशा के विपरीत कोई बात हो जाय या जो कुछ जैसा होता आया है उसके विपरीत कोई घटना हो जाय तो उसका विवरण सहज ही समाचार की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाएगा, क्योंकि उसमें पाठक की रुचि का होना निश्चित है। शायद इसी तथ्य के

आधार पर पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में कहा जाता था कि यदि कुत्ता मनुष्य को काट खाए तो वह समाचार नहीं है, किन्तु यदि मनुष्य कुत्ते को काट खाए तो वह समाचार है। लेकिन जैसा आरम्भ में ही कहा जा चुका है, समाचार की यह परिभाषा आज के युग में झूठी पड़ गयी है। आज असाधारण तथा विचित्र घटनाओं के अतिरिक्त भी बहुत कुछ समाचार माना जाता है।

समाचारपत्रों में यदि किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई बात प्रकाशित होती है तो वह पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती। प्रधानमन्त्री नेहरू को यदि जुकाम हो जाए तो वह समाचार है क्योंकि नेहरूजी का देश भर के लोगों की दृष्टि में बहुत महत्त्व है और हर कोई उनसे सम्बन्धित छोटी से छोटी बात में भी दिलचस्पी रखता है। पाठक बड़े नेताओं तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों में इतनी अधिक रुचि लेता है कि उनकी कठिन बीमारियों के समय तो दिन में कई-कई बार उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में समाचार प्रसारित करना आवश्यक हो जाता है।

समाचारपत्रों में जिन समाचारों को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है उनमे कहीं न कहीं किसी प्रकार का सङ्घर्ष या प्रतिद्वन्द्विता अवश्य छिपी रहती है। समाचारों का सबसे अधिक उत्पादन होता है राजनीति, व्यवसाय और खेल-कूद के क्षेत्र में, और इन तीनों में प्रति-द्वन्द्विता निहित है। अपराध-समाचारों में अपराधी और क़ानून के प्रतिनिधियों का सङ्घर्ष दिखता है। इसी तरह पर्वतारोहण या ऐसे ही अन्य किसी अभियान के समाचारों में प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के सङ्घर्ष का दिग्दर्शन होता है। यहाँ तक कि रहस्यपूर्ण समाचारों में भी अनजाने-अनबूझे रहस्यों को खोज निकालने के लिए मनुष्य का अनवरत सङ्घर्ष ही दिखता है। यही नहीं, भावना-त्मक सङ्घर्षों से अनुप्राणित घटनाएँ भी समाचार बन जाती हैं। कारण यह है कि मनुष्य को स्वभाव से ही सङ्घर्ष में अभिरुचि होती है। जहाँ कहीं भी किसी तरह का सङ्घर्ष या प्रतिद्वन्द्विता होगी वहाँ मनुष्य सबसे अधिक दिलचस्पी दिखाएगा और इसी कारण ऐसे समाचारपत्रों मे सबसे अधिक और सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान पाते हैं।

जिन समाचारों में लम्बे-चौड़े आँकड़े होते हैं या जिन समाचारों से बहुत अधिक लोगो का सम्बन्ध होता है, उनमें पाठक को उनकी विशालता के कारण स्वभावतः दिलचस्पी हो ही जाती है। अखबार के पहले पृष्ठ पर जब आठ कालम का बैनर लगाया जाता है तो उस शीर्षक की विशालता के कारण पाठक का ध्यान उसकी ओर निश्चय ही आकृष्ट होता है। बहुत कुछ यही बात किसी समाचार में प्रस्तुत विशाल आँकड़ों के सम्बन्ध में होती है।

अक्सर समाचारपत्रों में ऐसे समाचार भी प्रकाशित होते है जिनका स्वयं अपने में तो अधिक महत्त्व नहीं होता किन्तु उनसे ऐसे परिणाम निकलने की सम्भावना रहती है जिनके कारण पाठक को उनमें दिलचस्पी होती है। किसी विधेयक के पारित हो जाने में हो सकता है पाठक को अधिक अभिरुचि न हो, किन्तु यदि उसके परिणाम उसके हितो के विरुद्ध होने वाले है तो पाठक के लिए उस विधेयक से सम्बन्धित सारे समाचार चिन्ताजनक बन सकते हैं। कोई समाचार यदि चिन्ताजनक होगा तो उसमें पाठक की रुचि भी अवश्य होगी।

पाठकों के अन्तर्मन को अन्य मनुष्यों के जीवन की कारुणिक घटनाओं के विवरण सबसे

अधिक प्रभावित करते हैं। ऐसे मानवीय समाचारों में पाठक को इसीलिए बहुत रुचि होत
और समाचारपत्र भी इसी कारण ऐसे समाचारों को कुछ विशेष रूप से देते हैं। जिस टाइ
अन्य साधारण समाचार होते हैं उनसे भिन्न टाइप में ही बहुधा ऐसे समाचार मुद्रित किये जाते
ऐसे समाचारों के शीर्षक भी साधारण समाचारों के शीर्षकों से भिन्न टाइपों में दिये जाते
मनुष्य के मन में स्वभावतः अन्य मानव-प्राणियों के प्रति सहानुभूति होती ही है। इसीलिए
मनुष्यों के सुख-दुख का समाचार पढ़ कर उसका मन द्रवित हो जाता है और उसे लगता है जै
घटनाएँ स्वयं उसके जीवन में घटित हुई हों, जैसे उस सुख-दुख को वह स्वयं जी रहा हो।

पशु-पक्षियों-सम्बन्धी समाचारों में भी पाठकों की अभिरुचि होती है। पाठक मे
समाचारों को पढ़ कर बहुत कुछ वैसी ही प्रतिक्रिया होती है जैसी मानवीय समाचारो
पढ कर।

जॉर्ज सी० बैस्ट्याँ ने अपनी पुस्तक 'एडिटिङ्ग दि डेज़ न्यूज़' में एक बहुत दिलचस्प 'न
अरिथमेटिक' दी है:—

one ordinary man + one ordinary life = o
one ordinary man + one extraordinary adventure = news
one ordinary husband + one ordinary wife = o
one husband + 3 wives = news
one bank cashier + one wife + 7 children = o
one bank cashier—$10,000 = news
one chorus girl + one bank president—$10,000 = news
one man + one auto + one gun + one quart = news
one man + one wife + one row + one lawsuit = news
one man + one achievement = news
one ordinary man + one ordinary life of 79 years = o
one ordinary man + one ordinary life of 100 years = news
one woman + one adventure or achievment = news

यद्यपि यह 'न्यूज अरिथमेटिक' अपने में बिलकुल ठीक है और सिद्धान्त रूप से इस
मतभेद का कोई कारण नहीं है, किन्तु यह अपूर्ण अवश्य है। इस 'न्यूज अरिथमेटिक' की परि
के बाहर भी असंख्य ऐसी घटनाएँ हैं, जो समाचार की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

समाचार की संरचना : 'लीड' और 'बॉडी'

साधारणतः परम्परागत समाचार के दो मुख्य भाग होते हैं—अग्रभाग (लीड) अ
विस्तृत विवरण (बॉडी)। इन दो भागों को मानते हुए भी समाचार कई तरह से लिखे जा स
है और लिखे भी जाते हैं। किन्तु सर्वमान्य-लेखन-पद्धति के अनुसार अग्रभाग में समाचार की मु
बातों का निचोड़ अवश्य आ जाना चाहिए। इस तरह के अग्रभाग में कौन, क्या, कब, कहाँ, क
और कैसे मे से किसी एक या अनेक या सभी का उत्तर अवश्य रहता है इसके अतिरिक्त कि

समाचार की सबसे महत्त्वपूर्ण बात उभर कर पाठक के सामने आ जाती है और वह तुरन्त ही उन व्यक्तियों, स्थलों और घटनाओं से नैकट्य का अनुभव करने लगता है जिनसे वह समाचार सम्बन्धित होता है।

समाचार के अग्रभाग (लीड) तथा उसके विस्तृत विवरण (बॉडी) के सम्बन्ध में विल इरविन ने अपनी पुस्तक 'प्रोपेगेण्डा ऐण्ड दि न्यूज' में कहा है :—

"Perceiving the law that all news drama begins at the climax, American journalism established the rule which still prevails for 'straight' news—tell your story in the first sentence, expand it a bit in the first paragraph, then go back like a novelist to the beginning of the affair and relate it all in detail."

वास्तव में यह बात अमेरिकी पत्रकारिता ही नहीं, समस्त संसार की पत्रकारिता पर लागू होती है।

समाचार के विस्तृत विवरण (बॉडी) में अग्रभाग (लीड) में कही गयी बातों को विस्तार से लिखा जाता है। जिस बात को 'लीड' में पहले कहा गया है उसे 'बॉडी' में पहले विस्तार से दिया जाएगा और यही क्रम अन्त तक चलता जाएगा। और जो अनावश्यक बातें 'लीड' मे दी ही नहीं गयी हैं उनको 'बॉडी' में अक्सर सब से अन्त में जोड़ दिया जाता है। इस तरह लिखे गये समाचार का सब से बड़ा लाभ तो यही होता है कि ऐन मौक़े पर आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समाचार को नीचे से काट कर छोटा किया जा सकता है। यहाँ तक कि यदि आवश्यक हो तो केवल पहले पैराग्राफ़ अर्थात 'लीड' को ही एक शीर्षक के साथ अथवा सक्षिप्त समाचार के रूप मे दे कर काम चलाया जा सकता है।

इस तरह से लिखे गये समाचार का एक और महत्त्व है—वह यह कि पाठक जल्दी-जल्दी मे यदि दो-तीन पैराग्राफ भी पढ़ ले तो उसे उस समाचार की विशेष बातें मालूम हो जाएँगी। विज्ञान के इस युग में अत्यधिक तीव्र गति से घूम रहे जीवन-चक्र में फँसे पाठक के लिए इसी पद्धति से लिखे गये समाचारों की आवश्यकता है। वास्तव में समाचार-लेखन की यह पद्धति समय के साथ-साथ युग की आवश्यकता के अनुसार विकसित हुई है।

एक उदाहरण से समाचार की संरचना-सम्बन्धी यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाएगी :—

अग्रभाग (लीड): पूरे समाचार का निचोड़

बरेली, १२ अगस्त।

यहाँ एक बड़े जासूसी दल का पता चला है जो बताया जाता है कि भारत के सैनिक संस्थानों के बारे में पाकिस्तान और चीन को सूचनाएँ भेजा करता था।

पहली बात

इस गिरोह का एक सदस्य कल यहाँ पकड़ा गया जो अपना नाम कप्तान अवतार सिंह पँवार बतलाता है लेकिन समय-समय पर कई नकली नाम रख चुका है।

दूसरी बात

उसके पास से सेना के पूरे थैले-भर बोगस परिचयपत्र और ट्रङ्कभर सैनिक पोशाकें पायी गयी हैं।

यह अवतार सिंह स्वयं को एक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी जाहिर करता था। इसने सैनिक मुकामों में बड़े-बड़े सैनिक अधिकारियों से दोस्ती और परिचय कर लिया था। उसने उनसे काफ़ी तादाद में ऋण भी ले रखा है।

सन्देह उत्पन्न हो जाने पर उसे बरेली जंक्शन के कार्यालय में बुलाया गया किन्तु वह गुसलखाने से ग़ायब हो गया जिसमें इस प्रकार के अनेक दस्तावेज मिले, जिससे उसका विदेशी ताक़तों के साथ सम्पर्क होने की बात का पता चला। इस पर पुलिस ने सारा शहर छान डाला और शाम को आइज़टनगर रेलवे स्टेशन के प्रथम दर्जे के मुसाफ़िरखाने में उसे जा पकड़ा।

सहगल से सम्पर्क

उसके पास से और जो कागजात मिले हैं उनसे पता चलता है कि उसका रणबीर सिंह सहगल के साथ, जिसपर भारतीय नेताओं की हत्या की साजिश करने का मुक़दमा चल रहा है, सम्बन्ध है और सीमा के पाकिस्तानी एजेण्टों और काश्मीर में तोड़-फोड़ करने वालों से भी वह निकट सम्पर्क में था।

शाम को ही बरेली में एक और नाटकीय घटना घटी, जब कि एक अन्य सैनिक वर्दीधारी आदमी आर० टी० ओ० के दफ़्तर में घुस आया और पिस्तौल से क्लर्क को डरा कर ऐसे कुछ कागजात माँगे जो अवतार सिंह के पास से मिले थे।

इससे जासूसों का गिरोह होने के बारे में पुलिस का सन्देह और पक्का हो गया है। वह सारे गिरोह की तलाश में है।

सैनिक संस्थानों में

अवतार सिंह के पास मिले कागजात से पता चलता है कि जासूसों का यह गिरोह सारे देश में और विशेषकर सैनिक सदर मुक़ामों में सक्रिय है। यह पाकिस्तानी और चीनी एजेण्टों को सूचनाएँ पहुँचा रहा है।

चीन और पाकिस्तान दोनों के अधिकारी किसी न किसी बहाने इन गर्मियों में भारत-तिब्बत और भारत-नेपाल सीमा पर जाते रहे हैं। अवतार सिंह ने बताया है कि इस गिरोह का कोई न कोई भारतीय जासूस इनके साथ होता था।

इस बीच अवतार सिंह से और जिन सैनिक अधिकारियों से उसका मेल-जोल था उनसे पूछताछ जारी है। पुलिस व सेना में इस समय काफ़ी हलचल है।

(—'हिन्दुस्तान' के २० अगस्त, १९६१ के अङ्क से)

विश्लेषण है उस परम्परागत समाचार-लेखन-शैली का जिसका प्रयोग अंग्रेज़ी, व भारतीय भाषाओं में आज किया जा रहा है। ———— लेखन-शैली यह भी

आवश्यक मानती है कि जो कुछ जैसा हुआ है उसका उसी तरह तटस्थतापूर्वक वर्णन कर दिया जाए।

इस शैली के अनुसार लिखे गये समाचार का अग्रभाग कौन, क्या, कब, कहाँ, क्यों और कैसे में से किसी एक का या कई का उत्तर अवश्य देता है। वैसे अक्सर समाचारपत्र किसी समाचार के सम्बन्ध में घटित हुई नवीन घटना या उससे सम्बन्धित किसी अन्य नवीनतम बात को अग्रभाग मे देते हैं किन्तु वे परम्परागत शैली को नहीं छोड़ते।

नयी विवेचनात्मक समाचार-शैली

किन्तु आज पत्रकारिता के क्षेत्र में समाचार-लेखन की एक नयी ही शैली जन्म ले रही है—विवेचनात्मक शैली। आज के समाचार-लेखन में इतना ही पर्याप्त नहीं है कि कौन, क्या, क्यो, कब और कहाँ जैसे प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाय। इसी कारण विवेचनात्मक और जिम्मेदार समाचार-लेखन की शैली विकसित हो रही है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि पूरा समाचार सीधे-सादे तथा मनोरञ्जक ढङ्ग से कहा जाए। आज के संवाददाता के लिए आवश्यक है कि वह समाचार-सग्रह करने के साथ-साथ उनका विश्लेषण भी कर सके। इसका अर्थ यह नही कि समाचार लिखते समय संवाददाता उसपर अपने विचार प्रकट करे। ऐसा करने पर तो वह समाचार सम्पादकीय बन कर रह जाएगा। विवेचनात्मक समाचार-लेखन का अर्थ सम्पादकीय-लेखन कदापि नहीं है। विवेचनात्मक समाचार-लेखन का उद्देश्य केवल इतना होता है कि पूरे समाचार का विश्लेषण कर दिया जाए और समाचार का अर्थ भी समझा दिया जाए। इसका यह उद्देश्य नहीं कि उस समाचार को अच्छा या बुरा बताया जाए या उसका स्वागत किया जाए या उसकी निन्दा की जाए। इस शैली में लिखे गये समाचार सम्पादकीय के महत्त्व को नही के बराबर बना देते हैं।

विवेचनात्मक समाचार-लेखन की चर्चा करते हुए ला प्रेंसा (La Prensa) के अल्बर्टो ग्रेञ्जा पास (Alberto Grainza Pas) ने टेक्साज विश्वविद्यालय के पत्रकारिता के विद्यार्थियों से सन् १९५२ में कहा था:—

"News, the information which journalism supplies, is even more effective than editorials."

अपनी पुस्तक 'फ़ैक्ट्स इन पर्स्पेक्टिव' में हिलियर क्रीगबाम (Hillier Kriegh-baum) ने कहा है:—

"The interpretative reporter expands the horizon of news. He explains, amplifies and clarifies. 'Nobody reads editorials these days. Who cares, editorials haven't any influence anyway,' that is what a lot of people say."

वास्तव में समय की आवश्यकता के अनुसार ही विवेचनात्मक समाचार-लेखन का भी जन्म हुआ और उसका विकास हो रहा है। आज का पाठक रूखे-सूखे, सीधे-सादे समाचार को पढना पसन्द नही करता उसे में चाहिए और इसी शैली में लिखे गये

समाचार में हो सकता है। इसके अतिरिक्त आज के पाठक के पास इतना समय नहीं कि वह धैर्यपूर्वक बैठ कर पूरा अखबार पढ़े और उसके सम्पादकीय को पढ़े। वह तो आज तेजी से समाचारो के शीर्षक पढ़ कर और अक्सर उनके अग्रभाग को पढ़ कर ही सन्तोष कर लेता है। ऐसे पाठक के लिए उस शैली में लिखे गये समाचारों की ही आवश्यकता है जो सम्पादकीय की आवश्यकता की भी थोड़ी-बहुत पूर्ति कर सकें।

किन्तु विवेचनात्मक शैली में समाचार लिखने वाले संवाददाता को भी वाल्टर लिपमैन की इस बात को नहीं भूलना चाहिए :—

"The function of news is to signalize an event, the function of truth is to bring to light the hidden facts, and make a picture of reality. It is no longer enough to report the fact truthfully. It is now necessary to report the truth about the fact."

समाचार—कच्चा माल

समाचारपत्र-कार्यालयों में आज ढेर के ढेर समाचार कच्चे माल की तरह अविरल गति से आते रहते हैं। इतने अधिक समाचार नित्य आते हैं उनके पास कि उन सबको समाचारपत्र मे स्थान दे पाना असम्भव होता है। समाचारपत्रों के पास समाचार प्राप्त करने के दो मुख्य साधन होते हैं—संवाददाता तथा समाचार-अभिकरण (न्यूज़ एजेन्सी)। हिन्दी-पत्र अपने संवाद-दाताओं से तो हिन्दी में समाचार प्राप्त कर पाते है किन्तु न्यूज एजेन्सी उन्हें अंग्रेजी में ही समाचार देती हैं। अतः अनुवाद की समस्या तो आज भी ज्यों की त्यो बनी हुई है, किन्तु हिन्दी-पत्रों को अब समाचारों के अभाव का सामना नहीं करना पड़ता।

आरम्भिक काल में यह स्थिति न थी। एक समय वह भी था जब हिन्दी-पत्र समाचार कम, लेख, अन्य साहित्यिक रचनाएँ तथा टिप्पणियाँ अधिक छापते थे। कारण यह था कि समाचार प्राप्त करने के एक मात्र साधन होते थे उनके थोड़े से संवाददाता जो अत्यल्प समाचार भेज पाते थे। पहले तो समाचार-अभिकरण यहाँ थे ही नहीं, किन्तु उनके जन्म के बाद भी आर्थिक तङ्गी के कारण हिन्दी-पत्र उनकी सेवाएँ प्राप्त नहीं कर पाते थे। समाचारों के अभाव की इस स्थिति मे हिन्दी-पत्रों को अंग्रेजी अखबारों का भी सहारा लेना पड़ता था। हिन्दी-पत्र अपने पाठकों को बासी समाचार ही दे पाते थे, जो अधिकांशतः अंग्रेजी-पत्रो के जूठन होते थे। अक्सर तो हिन्दी-पत्र अंग्रेजी-पत्रों के हिन्दी-संस्करण मात्र ही बन कर रह जाते थे। 'विश्वमित्र' के सञ्चालक बाबू मूलचन्द अग्रवाल ने तो स्वयं यह स्वीकार किया था कि उनका पत्र समाचारों के लिए कलकत्ता के ही अंग्रेजी-पत्र 'स्टेट्समैन' पर निर्भर रहता था। उन्होंने बताया था कि 'विश्वमित्र' के अन्दर के पेज तो तैयार रहते थे किन्तु उसके प्रथम पृष्ठ को रोक रक्खा जाता था। उनका एक आदमी 'स्टेट्स-मैन' के कार्यालय पर नियुक्त रहता था, जो उसके प्रकाशित होते ही उसे 'विश्वमित्र' कार्यालय ले आता था। 'स्टेट्समैन' के आते ही उसके मुख्य समाचारों का अनुवाद कर के उनको कम्पोज़ करवाया जाता था और तब 'विश्वमित्र' का पहला पेज तैयार कर के उसे प्रकाशित किया जाता था। इसी प्रकार प्रयाग का हिन्दी-पत्र 'अभ्युदय' यहीं के अंग्रेजी-पत्र 'लीडर' का सहारा लेता था।

'अभ्युदय' के एक उपसम्पादक श्री रामधर दुबे नित्य रात में लगभग बारह बजे 'लीडर' कार्यालय जाते थे और ज्यों-ज्यों समाचारों के प्रूफ़ तैयार होते जाते थे त्यों-त्यों उनका अनुवाद कर के वे अपने पत्र के लिए समाचार तैयार करते जाते थे।

निकटस्थ जिलों तथा स्थानीय समाचारों के लिए हिन्दी-पत्र अपने संवाददाताओं पर ही निर्भर करते थे। अधिकांश संवाददाता पत्रों द्वारा नियुक्त किये जाते थे किन्तु अक्सर लोग स्वय हीं समाचार भेज देते थे और उन्हें समाचारों के अभाव के कारण पत्रों में स्थान भी मिल जाता था। अधिकांश समाचारों में शिकायत का स्वर होता था। अक्सर तो समाचार सम्पादक के नाम पत्र-जैसे होते थे। किन्तु इन संवाददाताओं का बड़ा महत्त्व था। अक्सर तो समाचारपत्र समाचारो के नीचे उनके प्रेषक का नाम भी प्रकाशित करते थे। उदाहरणार्थ 'अभ्युदय' के १६ दिसम्बर, १९२६ के अङ्क को देखा जा सकता है। यह पुरानी पद्धति आज नये रूप में फिर प्रचलित हो रही है। अब विशेष संवाददाताओं द्वारा भेजे गये समाचारों पर अक्सर संवाददाताओं के नाम भी दिये जाते हैं। किन्तु विशेष महत्त्व के समाचारों पर ही संवाददाताओं के नाम दिये जाते है। अब कभी-कभी प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया भी संवाददाताओं के नाम देने लगा है। उदाहरणार्थं, चीनी आक्रमण के बाद नेफ़ा से प्रेस ट्रस्ट के विशेष संवाददाता श्री सी० रामचन्द्रन् ने जो भी समाचार भेजे उनपर उनका नाम दिया गया और समाचारपत्रों ने उनके नाम को प्रकाशित भी किया।

पुराने वाक़यानवीस

मुग़ल-काल में समाचार-संग्राहक हुआ करते थे जो बादशाह तथा नवाबों द्वारा नियुक्त होते थे। इन्हें वाक़यानवीस कहा जाता था। इन बादशाहों तथा नवाबों ने समाचार के महत्त्व को समझा था और इसी कारण उन्होंने वाक़यानवीसों की नियुक्ति की थी। अवध के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह ने ६६० वाक़यानवीस नियुक्त कर रखे थे जो चार से पाँच रुपये तक मासिक वेतन पाते थे। वाक़यानवीसों को महत्त्व भी बहुत दिया जाता था। अक्सर तो इनके भेजे समाचारों के आधार पर ही बादशाह और नवाब महत्त्वपूर्ण निर्णय किया करते थे और उन्हे कार्यान्वित करने के लिए ठोस क़दम उठाते थे।

उस काल में हस्तलिखित समाचारपत्र भी निकाले जाते थे। ऐसे समाचारपत्रों का सबसे पहला और स्पष्ट उल्लेख खफ़ी खाँ की पुस्तक 'मुन्तखाबत-अल-लुबाब' में मिलता है, जिसमे लिखा है कि शिवाजी के वंश के राजाराम की मृत्यु का समाचार हस्तलिखित पत्रों द्वारा ही शाही-शिविरों तक पहुँचा था। इस इतिहास-लेखक के अनुसार औरङ्गजेब के समय हस्तलिखित पत्र सिपाहियों के बीच भी बाँटे जाते थे और उन्हें काफ़ी स्वतन्त्रता भी दी जाती थी। उदाहरणार्थ, बङ्गाल के एक पत्र ने बादशाह और उसके पोते मिर्ज़ा अजीम ओसों के आपसी सम्बन्ध की कटु आलोचना की थी। अन्तिम मुग़ल-सम्राट् बहादुरशाह ने 'सिराज-उल-अख़बार' पत्र निकाला था। मुग़लों की अन्तिम दरबारी डायरी 'उर्दू अख़बार' थी, जो १८५७ के ग़दर के बाद तक चलती रही। दिल्ली के क़िले के अन्तिम वाकयानवीस थे ममराज।

मुद्रण-कला के आरम्भ के बाद भी हस्तलिखित पत्रों का चलन जारी रहा ऐसे अवसरों

पर जब प्रेस से सहायता मिलना असम्भव होता था, तब हस्तलिखित पत्र ही निकलते थे। १८५७ के गदर के समय और १९३० तथा १९४२ में भी अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन चलाने में हस्तलिखित पत्रों ने बहुत सहायता पहुँचायी। ऐसे अनेक पत्र लन्दन की 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' में संग्रहीत हैं। प्रयाग से ही १९३० में नमक सत्याग्रह आन्दोलन के सिलसिले में 'क्रान्ति' नामक हस्तलिखित पत्र हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू में निकलता था जिसका सञ्चालन कुमारी कृष्णा नेहरू करती थीं और सम्पादक श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह।

बादशाहों और नवाबों के अन्त के बाद भी प्राचीन पत्रकार—वाक़यानवीस—बने रहे और उनसे आंग्ल-भारतीय समाचारपत्रों को भी समाचार-संग्रह में बहुत सहायता प्राप्त हुई।

हिन्दी में समाचार-संग्रह तथा लेखन का जन्म

हिन्दी-पत्रकारिता में समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन के क्षेत्र में आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता के लक्षण यद्यपि बीसवीं शताब्दी में ही दिखने शुरू हुए, किन्तु हिन्दी-पत्रकारिता का आरम्भ ३१ मई सन् १८२६ को ही हो चुका था, जब पण्डित जुगलकिशोर शुक्ल ने ३७, अमड़तल्ला गली, कलकत्ता, से मजूरकार के सम्पादकत्व में 'उदन्त मार्त्तण्ड' नामक प्रथम साप्ताहिक हिन्दी-समाचारपत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया था। इस पत्र के जन्म के साथ ही हिन्दी में समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन की नींव पड़ी और इस बीच इस कला को अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा।

'उदन्त मार्त्तण्ड' हिन्दी का सबसे पहला समाचारपत्र था और हिन्दी-पाठक तक समाचारों को पहुँचाने के उद्देश्य से ही इसका प्रकाशन हुआ था। 'उदन्त मार्त्तण्ड' की हेडपीस के ठीक नीचे एक ही लम्बी पंक्ति में दिये गये श्लोक—**'दिवाकान्त कान्ति विनध्वान्तमन्तं न चाप्नोति तद्वज्जगत्यत्रलोकः। समाचार सेवामृते ज्ञत्वमाप्तुं नशक्नोति तस्मात्करोमीति यत्नं'**—के साथ प्रकाशित हिन्दी के इस प्रथम समाचारपत्र में कम्पनी-सरकार द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति तथा स्थान-परिवर्तन के समाचार, जहाजों के आने की खबर, कलकत्ते की बाज़ार का हाल तथा देश-विदेश के अन्य प्राप्य समाचार प्रकाशित होते थे। इसके अतिरिक्त कुछ ज्ञानवर्धक बातें, मनोरञ्जक चुटकुले और विज्ञापन आदि भी इस पत्र में होते थे।

हिन्दी में समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन का प्रारम्भिक रूप 'उदन्त मार्त्तण्ड' में प्रकाशित एक-दो समाचारों से स्पष्ट हो जाएगा। ५ सितम्बर, १८२६ के अङ्क में भारत में विलायती कपड़े की खपत पर एक समाचार इस प्रकार प्रकाशित हुआ था:—

"इस देश में विलायती कपड़ों की आमदनी किस तरह से साल-साल बढ़ती गयी वह नीचे लिखे ब्योरे के देखने से ही समझ पड़ेगा।"

सन १८१५ में एक लाख उनचास हजार अरसठ रुपये का ओ १८१६ में एक लाख तिरसठ हजार छ सै पंदरह रुपये का ओ १८१७ में चार लाख तेइस हजार आठ सैं चौंतीस रुपये का ओ सन् १८१८ में सात लाख एक हजार पाँच सै बिरानवे रुपये का ओ १८१९ में चार लाख छेआसठ हजार सोलह रुपये का ओ सन १८२० में आठ लाख तिरसठ हजार छ सै इकतिस रुपये का ओ सन् १८२१ में ग्यारह लाख छत्तीस हजार चौहत्तर रुपये का ओ १८२२ में ग्यारह लाख

सतसठ हजार दो सै छियालीस रुपये का ओ सन १८२३ में ग्यारह लाख इक्यासी हजार छ सै एकहत्तर रुपये का ओ सन १८२४ में ग्यारह लाख अड़तीस हजार एक सै छैयासठ रुपये का माल आया औ अब सूते की भी अमदनी इससे बढ़ के होगी।

समाचार अधिकतर कहानी-क़िस्से की तरह लिखे जाते थे और उनका अत्यधिक विस्तार किया जाता था। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी :—

१९ सितम्बर को अवध बिहारी बादशाह के आवने की तोपें छुटी ! उस दिन तीसरे पहर की स्टर्लिङ्ग साहब ओ हैल साहब ओ मेजर फिण्डल लार्ड साहब की ओर से अवध बिहारी की छावनी में जाकर के बड़े साहिब का सलाम कहा ओ भोर होके लार्ड साहब के साथ हाजरी का नेवता किया। फिर अवध बिहारी बादशाह बड़े ठाट से गङ्गापार हो कर गवरनर जेनेरेल बहादुर के सान्निध गये।

कुल ७९ अङ्क निकलने के बाद दिसम्बर सन् १८२७ में 'उदन्त मार्त्तण्ड' का प्रकाशन बन्द हो गया। उसके बाद १० मई, १८२९ को राजा राममोहन राय ने 'बङ्गदूत' निकाला जो अंग्रेज़ी, बँगला, फ़ारसी और हिन्दी में छपता था, जिसके पहले सम्पादक थे नीलरत्न हल्दर। यही नहीं, इस बीच 'मालवा अखबार' (उर्दू-हिन्दी पत्र—१८४९), 'सुधाकर', 'बनारस अखबार' (१८४४) आदि अनेक समाचारपत्र प्रकाशित हुए किन्तु समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन कला में कोई प्रगति नहीं हुई। सन् १८५२ में 'बुद्धि-प्रकाश' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इस पत्र ने समाचार-लेखन कला में कुछ प्रगति की जो निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है :—

बम्बई गजट में लिखा है कि थोड़े दिन हुए एक छोटा-सा धुवें का जहाज़ लोहे का बना हुआ वलायत इँगलिस्तान से महाराज हुलकर के लिए आया था। लम्बाई में ३६ फुट और चौड़ाई में ६१ फुट। यह सौगात नवम्बर महीने में बम्बई में पहुँची थी वहाँ से उसके टुकड़े जुदे २ कर के नीचे के भाग को रुई की नाव पर धर के नर्बदा नदी तक लाए और उसकी कलें और वह लाठ जिससे धुवाँ निकलता है, कड़ों पर धर के मण्डलेश्वर तक जो नर्बदा के निकट है पहुँचाया। जब सब विभाग उसके आ चुके तब उस स्थान के साहिब पोलिटिकल अजण्ट ने उनकी युक्ति से इञ्जीनियर साहेब की सहायता बिना जोड़ के नर्बदा नदी में चलाया। वहाँ के सब हिन्दुस्तानी जिन्होंने ऐसी वस्तु कभी नहीं देखी थी—इस अद्भुत नौका को अचम्भे से देखते हैं और बिना चप्पू और पटकर के नदी में उसको चलती देख कर आश्चर्य-भँवर में पड़ जाते हैं।

'उदन्त मार्त्तण्ड' के जन्मदाता पण्डित जुगलकिशोर शुक्ल ने १८५० में 'साम्यदण्ड मार्त्तण्ड' पत्र निकाला था जो १२ अप्रैल १८५२ तक चल कर ठप हो गया। १८५४ में कलकत्ते से एक दैनिक पत्र 'समाचार-सुधा-वर्षण' (हिन्दी-बँगला) भी निकला। इनके अतिरिक्त 'तत्त्व-बोधिनी पत्रिका' (१८६५), 'सत्य-दीपक' (१८६६), 'बुद्धि-प्रकाश', 'लोकमित्र' (१८६७), 'प्रजाहित' (१८६१), 'ग्वालियर का अखबार' (१८६१), 'सर्वोपकारक' (१८६१), 'सूरज-प्रकाश', 'जगताभ चिन्तक' (१८६१), 'भारतखण्ड-मित्र' (१८६४), 'खैर-ख्वाह-ये-हिन्द' (१८६५) आदि अनेक अख़बार निकले किन्तु समाचार-लेखन के क्षेत्र में यदि कोई परिवर्तन दृष्टिगत होता है तो वह 'कवि-वचन-सुधा' (१८६७) के प्रकाशन के साथ ही। वास्तव में यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग का आरम्भ था, जिन्होंने बाद में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३) भी

निकाला इस युग में समाचार-लेखन का सबसे बड़ा दोष था काव्यमय भाषा जो कवि-वचन सुधा' में प्रकाशित इस समाचार से स्पष्ट है :—

हा! हा! बड़ी खेद की बात है कि कलकत्ते के निवासी परम कवि श्री माइकेल मधुसूदन दत्त इस भूमण्डल का सुखानुभव करके परलोक में इस भाँति का है या नहीं सो देखने के हेतु सिधारे, जो कि बड़े सुशील, कुलीन, उद्यमी थे और जिनकी विद्या-रूप द्वार पर की कविता-रूपी झण्डी, इस लोक में जहाँ चाहे वहाँ से दीखती हुई सब रसिकों के चित्त को अपने सौन्दर्य से बहुत प्रसन्न करती है।

यह तो रहा शोक-समाचार का नमूना। मौसम-सम्बन्धी समाचार का भी नमूना देखें :—

अहा! हा! वा! रे परमेश्वर जिस समय इस ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ कर प्रचण्ड आतप से ताप कराके इस भूमण्डल के अपने प्रिय बालकों को घबड़ाया और अपनी 'कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तुं' जो शक्ति उसको प्रगट किया, देखिए इस साल यहाँ बहुत गर्मी पड़ी, 'थर्मामिटर' मे ११२ के लगभग पारा चढ़ाया, और सब ज्योतिर्विद वा हम भूविषयकवेत्ता लोग भी यही कहते रहे कि श्रावण तक पर्जन्य की कुछ आशा नहीं क्योंकि इस साल कुञ्ज-स्तम्भ है और वही मँहगी है, और उक्त गर्मी से ये सब बातें प्रतीत होती रहीं।

इन समाचारों को उस समय बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था और इन्हें इसी तरह विस्तार से लिखा जाता था। संक्षिप्त समाचार 'समाचारावली' के अन्तर्गत इस प्रकार दिये जाते थे :—

लाहोर—में धरणी कम्प हुआ था!!

बङ्गाल—प्रान्त में इस वर्ष भली भाँति पर्जन्य नहीं हुआ!!

बङ्गाल—प्रान्त में देशभाषा में ३८ समाचारपत्र मुद्रित होते हैं!!

मन्द्राज प्रान्त में एक चमत्कार—बलूर प्रान्त में से कुछ निकट निकट ग्राम में स्त्रियाँ मट्ठा बेचने को जाती हैं एक दिन एक स्त्री मट्ठा बेचने को जाती थी रास्ते में एक युरोपियन ने उसको अकेली देख कामवश हो कर उस परम सुशील अहिरिन का बलात्कार किया वाह! क्या अन्धेर है!

अतिरञ्जना और व्याजोक्ति की प्रवृत्ति

इस प्रकार के समाचारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान तो नहीं मिलता था पर इनपर समाचार के साथ ही कुछ टिप्पणी कर देने की प्रवृत्ति 'कवि-वचन-सुधा' के साथ ही आरम्भ हो गयी थी, जो लम्बे अरसे तक हिन्दी-समाचार-लेखन में चलती रही। जहाँ तक साफ़-सुथरी भाषा लिखने का प्रश्न है, उसमें 'बुद्धि-प्रकाश', जो कई वर्ष पूर्व १८५२ में निकला था, 'कवि-वचन-सुधा' आदि पत्रों से आगे था। समाचार-लेखन में राष्ट्रीयता की भावना भी प्रवेश करने लगी थी किन्तु वह ऐसी टिप्पणियों तक ही सीमित थी जैसी उपर्युक्त उद्धरण में मिलती है। विदेशों के समाचार भी अब हिन्दी-पत्रों में प्रकाशित होने लगे थे, यद्यपि वे होते थे अंग्रेज़ी पत्रों के जूठन और अत्यधिक बासी ही।

थोड़े ही दिनों में काव्यमय भाषा लिखने की प्रवृत्ति दूर होने लगी। समाचार का क्षेत्र भी बढ़ने लगा। मौसम, सैनिकों पर व्यय, चोरी-डकैती, अधिकारियों का चरित्र तथा अन्य असाधारण घटनाओं और धार्मिक तथा सामाजिक विषयों पर समाचार छपने लगे।

हिन्दी-समाचारपत्र भारतीय तथा विदेशी समाचार अधिकांशत: अंग्रेज़ी के पत्रों से लेते थे। इसके अतिरिक्त उनके अपने संवाददाता भी समाचार भेजते थे। अन्य नगरों से अक्सर पाठक भी सम्पादक को पत्र लिख कर सूचनाएँ देते थे जो समाचार के रूप में प्रकाशित कर दी जाती थी। स्थानीय समाचार स्वयं सम्पादक संग्रहीत कर के लिखता था। विदेशी समाचारों पर तो खुल कर कोई टिप्पणी नहीं की जाती थी, पर देशी समाचारों में यूरोपियनों की चरित्र-हीनता और अत्याचार पर अक्सर टीका-टिप्पणी समाचारों के साथ ही दे दी जाती थी। कांग्रेस के क्रिया-कलाप के प्रति समाचारपत्र अब जागरूक होने लगे थे। किन्तु समाचार-लेखन की कला प्रगति नही कर रही थी। समाचारों में पत्रकारी कम साहित्यिकता अधिक दिखती थी।

इस बीच निरन्तर नये-नये समाचारपत्र निकलते रहे किन्तु समाचार-लेखन में विशेष प्रगति नहीं हुई। मौसम के समाचार १८९० में भी वैसे ही भोंड़े ढङ्ग से लिखे जाते रहे। कांग्रेस की ओर पत्रों ने विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया था। समाचार-लेखक अब अतिशयोक्ति और कभी-कभी तो गप्पबाज़ी तक से काम लेने लगे थे। 'भारत-जीवन' में प्रकाशित यह समाचार इसका उदाहरण है :—

बाँकीपुर का एक पत्र लिखता है कि मुजफ्फरगञ्ज के मौजे लालगञ्ज में एक ब्राह्मण ऐसा आया है जिसमें विलक्षण शक्तियाँ हैं। उसमें एक शक्ति तो यह है कि वह जब चाहे तब लोप हो जाता है और जब चाहे तब दिखलायी पड़ता है।

असाधारण समाचार भी अब बड़ी मात्रा में प्रकाशित होने लगे थे। 'प्रयाग समाचार' मे एक समाचार प्रकाशित हुआ था :—

फ्रांस में दो आदमी एक स्त्री के लिए गुब्बारे पर चढ़ के युद्ध की कि जो कोई जीते सो ब्याह घर पावे दोनों गुब्बारे उड़े और युद्ध हुआ एक तो नीचे गिर कर धूल से ब्याहा दूसरे ने स्त्री से ब्याह किया यूरोपियन सभ्यता देखो ?

क़िस्सागोई और गप्पबाज़ी के साथ-साथ व्यंग्य और व्याजोक्ति की प्रवृत्ति भी स्पष्टत आरम्भ हो गयी थी। अधिकांश में यह व्यंग्य पश्चिमी सभ्यता के दृष्टान्तों के प्रति लक्षित होता था जो राष्ट्रीय चेतना के अवचेतन-स्तरीय उद्भव का सूचक था।

आधुनिक पत्रकारी का उदय

सन् १९०० तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी समाचार-लेखन में बहुत बड़ा परिवर्तन आने लगा, या यों कहें कि आधुनिक पत्रकारी का हिन्दी में भी जन्म हुआ। तथ्यों को सीधे-सादे और समन्वित ढङ्ग से तटस्थतापूर्वक कह देने की वस्तुपरक कला और समाचारों के शीर्षक देने की अलक्षित प्रवृत्ति का समाचार-लेखकों में आविर्भाव होने लगा था। 'भारत-जीवन' के २९ जुलाई, सन १९०० के अङ्क में प्रकाशित इस शोक की तुलना कवि-वचन-सुधा' मे प्रकाशित

माइकेल मधुसूदन दत्त की मृत्यु के समाचार से करने पर समाचार-लेखन में दृष्टिगोचर हो रहे परिवर्तन स्पष्ट हो जाएँगे :—

बड़े शोक का विषय है कि रीवाँ निवासी कवि रामानन्द जी जो कुछ दिनों से लहरी प्रेस काशी में वास करते थे, दस बारह घण्टे की बीमारी से तारीख २६ जुलाई को ३ बजे दिन के समय परलोक सिधार गये। ऐसा प्रसन्नचित्त और निर्लोभी बिरला ही देखने में आएगा। उनकी अकस्मात् मृत्यु से उनके स्नेहियों को बड़ा ही कष्ट हुआ। ईश्वर उनकी आत्मा को सुखी करे।

इस शोक-समाचार में पहले-जैसा भोंडापन तनिक भी नहीं दिखता। इस समय एक और भी परिवर्तन आने लगा था—वह यह कि अब समाचार के तत्त्व को समाचार से अलग-अलग देने की प्रवृत्ति जागने लगी थी। हाँ, शीर्षक देने का प्रचलन अभी भी नहीं हो पाया था। 'भारत-जीवन' के ८ फरवरी, १९०९ के अङ्क में प्रकाशित एक अन्य समाचार से बात स्पष्ट हो जाएगी :—

दिवाला। गत पहिली फरवरी को मैंचेस्टर में कपास की एक बड़ी भारी आढ़त का दिवाला निकल गया। स्वदेशी का प्रताप।

इस समाचार में हम शीर्षक देने की कला का जन्म देख सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय का पत्रकार समाचार के तत्त्व को अलग से देने की आवश्यकता को समझने लगा था। इसके अतिरिक्त अनावश्यक विस्तार से बचने और सारी बातें थोड़े-से शब्दों में कह देने की कला भी अब समाचार-लेखक सीखने लगे थे। राष्ट्रीयता की भावना उनमें पूरी तरह घर कर गयी थी, यह तो स्पष्ट ही है।

बाद में 'भारतमित्र' तथा 'वीर भारत' ने शीर्षक बड़े टाइप में देने शुरू कर दिये। यही नहीं, इन पत्रों ने समाचारों के बीच-बीच में भी छोटे शीर्षक लगाने शुरू कर दिये। बीच के शीर्षक समाचार के साधारण टाइप में ही दिये जाते थे। 'वीर भारत' की १९०९ और १९१० की फ़ाइलें देखने से पता चलता है कि शीर्षक देने की कला भी अब पत्रकार सीखने लगे थे।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में ही हिन्दी में राजनीतिक पत्रकारी ने प्रवेश पा लिया था, जिसे आधुनिकता का लक्षण मानना अनुचित न होगा। राजनीतिक पत्रकारी को सबसे पहले तिलक के 'केसरी' (१९०७) ने समुचित महत्त्व दिया। यह सत्य है कि इस पत्र ने लोकमान्य तिलक को ही ला कर उलझना शुरू किया था, किन्तु इस पत्र ने राजनीतिक पत्रकारी को हिन्दी में स्थान तो दिया ही। 'केसरी' की देखादेखी अन्य महत्त्वपूर्ण समाचारपत्रों ने भी राजनीतिक पत्रकारी को महत्त्व देना शुरू कर दिया। और फिर 'प्रताप' (१९१२) ने तो इस कला को आगे बढ़ाने में बहुत ही बड़ा योग दिया।

पत्रकारों में देशभक्ति की भावना निरन्तर बढ़ती जा रही थी। पहले उन्होंने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थनाएँ कीं, फिर शिकायतें करनी शुरू कीं, इसका भी असर नहीं हुआ तो व्यंग्य किये जाने लगे और फिर तो खुल कर सरकार की ईमानदारी में सन्देह प्रकट किया जाने लगा। पहले देशभक्ति राजभक्ति का पर्याय बनी हुई थी किन्तु अब देशभक्ति ब्रिटिश राज के विरोध की सूचक बन गयी। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध क़ानून बना दिये और १९१४ में प्रथम महायुद्ध शुरू होने पर जब डिफ़ेन्स ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ तब तो समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता पर और भी रोक लग गयी।

एक नया मोड़

किन्तु युद्ध शुरू होने पर हिन्दी-पत्रकारिता में एक नया मोड़ आया। पाठकों में समाचार की भूख बढ़ने लगी और अनेक दैनिक पत्र प्रकाशित हुए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन के उपमन्त्री नन्दकुमार देव शर्मा ने इस विषय में कहा था :—

युद्ध के समय इतने दैनिक पत्र हो जाने से यही प्रतीत होता है कि अब साधारण हिन्दी-पाठकों की रुचि समाचारपत्रों के पढ़ने की हो रही है। यह हिन्दी के लिए सौभाग्य का चिह्न है। यद्यपि 'कलकत्ता समाचार' को छोड़ कर और सब दैनिक युद्ध के ही दैनिक हैं तथापि हिन्दी-पाठकों ने सहायता दी तो कई पत्र-सम्पादकों का विचार अपने पत्रों को चिरस्थायी रूप से दैनिक करने का हो रहा है।

इस समय के सबसे महत्त्वपूर्ण समाचारपत्र 'श्री वेङ्कटेश्वर समाचार', 'भारतमित्र', 'कलकत्ता समाचार', 'अभ्युदय' तथा 'विश्वमित्र' थे। भारत में समाचार-अभिकरणों का जन्म यद्यपि सन् १८७२ में ही हो चुका था, जब रायटर ने बम्बई में अपनी शाखा खोली थी, किन्तु अभी तक किसी भी हिन्दी-पत्र ने इसकी सेवा प्राप्त नहीं की थी। इसका सबसे बड़ा कारण था आर्थिक तङ्गी। किन्तु महायुद्ध-काल में ताजे से ताजे युद्ध-सम्बन्धी समाचार अपने पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश्य से कलकत्ते के 'भारतमित्र' तथा 'विश्वमित्र' पत्रों ने रायटर की सेवाएँ प्राप्त कीं। बाद में १९२० में वाराणसी से जब बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने श्रीप्रकाश के सम्पादन में 'आज' का प्रकाशन आरम्भ किया तो इस पत्र ने भी रायटर की सेवाएँ प्राप्त कीं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इन पत्रों ने रायटर की सेवा तो प्राप्त की किन्तु क्षितीन्द्रचन्द्र राय द्वारा कोट्स तथा एडवर्ड बक से समझौता कर के चलाये गये भारतीय समाचार-अभिकरण एसोशिएटेड प्रेस ऑफ़ इण्डिया की सेवाएँ इन्होंने नहीं लीं।

समाचार : राष्ट्रीयता का पर्याय

समाचार-अभिकरणों का युग आरम्भ होने के साथ समाचार-लेखन के क्षेत्र में यूरोपीय प्रभाव आने लगा और इस कला में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लक्षण दिखने लगे। इसके साथ राष्ट्रीयता ने इतना ज़ोर पकड़ा कि प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९२१ से १९३५ के बीच समाचार स्वयं ही राष्ट्रीयता का पर्याय बन गया। महात्मा गान्धी के राष्ट्रीय आन्दोलनों को समाचार-पत्रों ने पूरी सहायता दी और इसके लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार के अत्याचार भी सहने पड़े। 'प्रताप', 'अभ्युदय', 'सैनिक', 'नवशक्ति', 'कर्मवीर', 'भविष्य', 'आज', 'स्वतन्त्र', 'विश्वमित्र' तथा 'अर्जुन' ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में सबसे अधिक हाथ बँटाया। वास्तव में यही कारण था कि अब समाचार-लेखन में एक नयी जान आ गयी और भारतीयों के मन में जो ज्वाला धधकने लगी थी उसकी चिनगारियों की झलक भी उसमें दिखने लगी। गान्धी जी ने जब १९२४ में 'नवजीवन' निकाला तो हिन्दी-पत्रों का उत्साह और भी बढ़ गया। पत्रकारी इस समय व्यवसाय न हो कर एक आन्दोलन बन गयी थी और लोग इसी भावना से उत्प्रेरित हो कर इस क्षेत्र में क़दम भी रखते थे।

समाचारों का क्षेत्र अब निरन्तर बढ़ता जा रहा था। राजनीतिक समाचार अधिकांशतः कांग्रेस के क्रिया कलापों से सम्बन्धित होते थे। विदेशी समाचार दिये जाते थे पर उन्हें महत्त्व अधिक नहीं दिया जाता था। 'अभ्युदय' के १६ दिसम्बर १८२६ के अङ्क में 'आस्ट्रेलिया में दावाग्नि, एक करोड़ की हानि हुई', या 'तरल क्लोरिन का तालाब फट गया, १५ मरे और ४० घायल' या 'एक स्टीमर के असबाबों में आग लग गयी (लन्दन)' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत छोटे-छोटे समाचार हैं। भारतीय समाचार इस अङ्क में 'लार्ड इरविन और मुसलमान', अभिनन्दन पत्र का उत्तर', 'मुसलमानों की उन्नति के लिए भारत के वाइसराय की शुभकामना', 'गुरुद्वारा के क़ैदी, अकाली छुड़ाने पर तुले हैं, फिर जत्थे सङ्गठित होंगे' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत दिये गये हैं। इससे समाचार-लेखन के पीछे छिपी प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक मिल जाती है। वाणिज्य-समाचार भी अब दिये जाने लगे थे। इसके अन्तर्गत अधिकांशतः हापुड़ और बम्बई के बाजार-भाव ही दिये जाते थे। अदालती समाचार भी पत्रों में स्थान पाने लगे थे। 'अभ्युदय' के उपर्युक्त अङ्क में प्रकाशित 'दधिकान्दों के दङ्गे के मामले, हाईकोर्ट में अपील, अदालत ने अपील खारिज कर दी' समाचार को काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

सनसनीखेज समाचार-लेखन भी प्रचलित होने लगा था, क्योंकि इससे बिक्री पर काफ़ी असर पड़ता था। उदाहरणार्थ, कानपुर के 'वर्तमान' के २१ अगस्त १९२५ के अङ्क में '१ मारवाड़ी और १ रण्डी का खून', 'फ़ैज़ाबाद में भीषण दङ्गा, ५००० हिन्दुओं और २००० मुसलमानों में लड़ाई' आदि शीर्षक के अन्तर्गत समाचार दिये गये हैं। इसके साथ ही राजनीतिक समाचारों में राष्ट्रीयता भरी हुई थी। 'वर्तमान' के इसी अङ्क में एक समाचार यों है :—

पार्लमेंट में भारतीय मेम्बर गर्जा, आप लोग भारत को तबाह करने आये हैं। सुधार करने पर आप वहाँ नहीं टिक सकते।

यह मेम्बर सकलतवाला थे।

एक समाचार '६००० पुलिस और आन्दोलकों में घमासान युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है, जिसमें अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध आग उगली गयी है। इस तरह की प्रवृत्ति 'अर्जुन' में भी दिखती है। १३ मार्च, १९२७ के अङ्क में एक समाचार पर 'वीणा की झनकार' के अन्तर्गत यह टिप्पणी है :—

"आजादी जङ्ग से होती है। हिन्दुस्तानी जङ्ग क्या जानें। अभी तो लड़ते २ तीन साल भी नहीं गुजरे कि दैया रे दैया और तोबा-तोबा होने लगी है।...

"बस! देख लिया हिन्दुस्तान के आजादी हासिल करने के दिन अभी बहुत दूर हैं।..."

कांग्रेस के उग्र दल को भी समाचारपत्रों का काफ़ी समर्थन प्राप्त हो चुका था। यही नहीं, क्रान्तिकारियों को भी कुछ पत्रों का समर्थन प्राप्त था। और ऐसे पत्र शान्तिपूर्ण आन्दोलनों के विरुद्ध थे, जैसा कि उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट है। इसी अङ्क में 'गान्धी जी के नाम सकलतवाला की खुली चिट्ठी' भी छपी है जिसमें उनकी कटु आलोचना की गयी है।

समाचारपत्रों ने अब एसोशिएटेड प्रेस ऑफ़ इण्डिया की सेवाएँ लेना भी शुरू कर दिया था। 'अर्जुन' के उपर्युक्त अङ्क में इस समाचार-अभिकरण के अनेक समाचार हैं। समाचार-अभिकरण को महत्त्व देने के साथ ही समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन के क्षेत्र में एक बार

फिर प्रगतिशील परिवतन दिखन लगे सन १९२२ मे आज ने भी एसोशिएटेड प्रस से समाचार लेना शुरू कर दिया

गणशशङ्कर विद्यार्थी के पत्र प्रताप के २२ जुलाई, १९२८ के अङ्क मे प्रकाशित कुछ समाचारों को देखने से समाचार-लेखन-कला की तत्कालीन स्थिति पूरी तरह स्पष्ट हो जायगी। 'बारडोली का सत्याग्रह-संग्राम ! बरडोली ने भारत-सरकार का आसन हिला दिया ! !' शीर्षक के अन्तर्गत यों समाचार दिया गया है :—

तलातियों के उत्तर

सूरत के डिप्टी कलेक्टर ने इस्तीफ़े देनेवाले तलातियों को अपने इजलास में हाज़िर होने का नोटिस दिया था। उसके उत्तर तलातियों ने भेज दिये हैं। सभी के उत्तरों का आशय यह है कि हम तो वैसे ही बहुत गरीब हैं, और इस अवस्था में भी हमारे इस्तीफ़ा देने से यह स्पष्ट है कि हमें सरकार के अत्याचारों से कितना दुःख हुआ। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि सरकार की यही नीति रही तो कुछ ही दिनों में एक भी तलाती काम न करेगा। इसलिए हमने जो कुछ किया है वह सर्वथा उचित है। हमें बरखास्त किये जाने का ज़रा भी डर नहीं है। अब आप चाहे हमारे इस्तीफे मञ्ज़ूर करें या बरखास्त करें हमें इससे कोई मतलब नहीं।

महात्माजी की सलाह

'नवजीवन' में महात्मा जी ने एक लेख लिखा है, जिसमें आप कहते हैं कि यह अफवाह उड़ी है कि सरकार ने आगे और भी कठोर उपायों से कार्य लेने के लिए ही जब्ती की कार्रवाई स्थगित कर दी है।...महात्माजी ने सत्याग्रहियों को उनकी की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराया है।....

श्री वल्लभ भाई की सरकार को चुनौती

अहमदाबाद जिला सम्मेलन में श्री वल्लभ भाई पटेल ने अपने भाषण में कहा कि मैं सरकार को चुनौती देता हूँ कि वह बारडोली में गोली चला कर अपनी शक्ति आजमा ले। बारडोली के किसान इसके लिए पूरी तरह तैयार हैं। मैंने उन्हें पीठ पर नहीं, छाती पर गोलियाँ लेने की सलाह दी है।....या तो सरकार को बारडोली के किसानों की बन्दोबस्त की जाँच फिर से करने की माँग पूरी करनी पड़ेगी, या किसान लगान अदा न करते हुए मर मिटेंगे।....

इस समाचार में आगे और विस्तार दिये गये हैं और बीच-बीच में 'भारत सरकार को पत्र', 'नेताओं के वक्तव्य', 'राजभक्त "स्टेट्समैन" की राय', 'समझौते का विफल प्रयत्न', 'बारडोली सत्याग्रह-कोष' आदि उपशीर्षक भी दिये गये हैं।

इस समाचार के अतिरिक्त 'देशव्यापी हाहाकार की प्रतिध्वनि ! हड़ताल, दङ्गा और दुर्भिक्ष का दौरदौरा ! !' शीर्षक के अन्तर्गत बम्बई, चौरिया (कलकत्ता), जमशेदपुर और बङ्गाल आदि के जो समाचार हैं, उनमें भी ब्रिटिश सरकार की आलोचना की गयी है।

समाचार-अभिकरणों की नीति

कुछ समाचारपत्र यद्यपि अब एसोशिएटेड प्रेस के समाचार लेते थे पर इस संस्था की आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि यह इंग्लैण्ड की संस्था रायटर के हाथ बिक गयी। रायटर के हाथ में चले जाने पर एसोशिएटेड प्रेस की राष्ट्रीयता समाप्त हो गयी किन्तु इसका प्रभाव क्षेत्र बढ़ता ही गया। दूसरी ओर राष्ट्रीय जागृति बढ़ती जा रही थी और जनता राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी समाचार पढ़ना चाहती थी। किन्तु इस संस्था से ऐसे समाचार प्राप्त करने की आशा ही नहीं की जा सकती थी। यदि यह संस्था ऐसे समाचार देती भी थी तो इस तरह कि आन्दोलन निरर्थक प्रतीत हों और तत्सम्बन्धी सरकारी कार्रवाइयाँ उचित लगें। यदि कहीं आन्दोलनकारियों पर गोली चले तो यह समाचार-अभिकरण लिखता था, 'पुलिस को बाध्य हो कर गोली चलानी पड़ी।' एक ओर जहाँ रायटर के प्रभाव के कारण समाचार-लेखन-कला मे आधुनिकता आ रही थी, वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन को धक्का पहुँच रहा था। यही कारण था कि एस० सदानन्द ने कुछ राष्ट्रप्रेमी व्यक्तियों के साथ मिल कर एक नये समाचार-अभिकरण फ्री प्रेस ऑफ़ इण्डिया की स्थापना की। किन्तु सरकार के कुचक्र के कारण यह संस्था चल नहीं सकी। कई बार इसके द्वारा प्रसारित समाचारों को राजद्रोहात्मक करार दे कर इसकी जमानत जब्त कर ली गयी। अन्त में तङ्ग आ कर १९३३ में इस संस्था को अपना धन्धा बन्द कर देना पड़ा। अब बी० सेन गुप्त ने कलकत्ते के कई अख़बारों की सहायता से यूनाइटेड प्रेस ऑफ़ इण्डिया की स्थापना की और इस संस्था का काम खूब चल भी निकला।

राष्ट्रीय आन्दोलन भी अब उग्र रूप धारण करता जा रहा था। और इसी कारण मजबूर हो कर एसोशिएटेड प्रेस को भी अपनी नीति बदलनी पड़ी। अब यह संस्था गोली चलने के समाचार को 'पुलिस ने गोली चलायी' जैसी शब्दावली में देने लगी और राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी समाचारों को बिना तोड़े-मरोड़े समाचारपत्रों को देने का यत्न करने लगी।

समाचार अब तटस्थ भाव से तो लिखे जाने लगे थे पर सारे समाचार के तत्त्व को निकाल कर ऊपर रखने और प्रत्येक तथ्य को उसके महत्त्व के अनुसार क्रम से रखने की कला अभी विकसित नहीं हो पायी थी। १९३३ में समाचार-लेखन-कला की स्थिति उस समय के अर्धसाप्ताहिक पत्र 'भारत' के १० अगस्त, १९३३ के अङ्क में प्रकाशित एक समाचार से स्पष्ट हो जाती है। 'सत्याग्रहियों की जगह-जगह गिरफ्तारियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रथम पृष्ठ पर यों समाचार प्रकाशित किया गया है :—

अहमदाबाद, ७ अगस्त। माता कस्तूरीबाई तथा सत्याग्रह आश्रम की वे १५ अन्य स्त्रियाँ जो पहिली अगस्त की आधी रात को गान्धी जी के साथ गिरफ्तार की गयी थीं, आज सवा नौ बजे सबेरे साबरमती जेल से रिहा कर दी गयीं। इनपर बम्बई सरकार की विशेष अधिकार क़ानून की १६ (१) तथा ४ की धारा के अनुसार इस हुक्म की तामिल की गयी कि वे सत्याग्रह आन्दोलन के समर्थन में कोई भी काम न करें, जो कि सार्वजनिक शान्ति भङ्ग करे, इन्हें यह आज्ञा भी दी गयी कि १ घण्टे के अन्दर साबरमती जेल के अहाते से बाहर चली जायें।

माता कस्तूरीबाई गिरफ़्तार

माता कस्तूरीबाई गान्धी तथा १५ अन्य स्त्रियों ने अपने को साबरमती जेल के अहाते से नहीं हटाया। अतएव वे १०॥ बजे दिन में फिर से गिरफ्तार कर ली गयीं।

माता कस्तूरीबाई गान्धी तथा १५ अन्य स्त्रियों का मुकदमा साबरमती जेल के अहाते मे कल ७ बजे सबेरे के लिए नियत किया गया है।

मुकदमा

अहमदाबाद, ८ अगस्त। आज साबरमती जेल में सिटी मजिस्ट्रेट मि० शेख के सामने श्रीमती कस्तूरी बाई गान्धी का मामला पेश हुआ।...

महात्मा जी के १६ साथी रिहा

अहमदाबाद, ७ अगस्त। महात्मा जी के साथ उनके आश्रम के जो १६ पुरुष सदस्य गिरफ्तार किये गये थे, वे दिन में १० बज कर ५५ मिनट पर साबरमती जेल से रिहा कर दिये गये।

आज्ञा न मानेंगे

बाद का समाचार है कि महात्मा जी के रिहा हुए साथियों को जिनपर निषेध आज्ञा जारी की गयी थी मैजिस्ट्रेट को सूचना दे दी गयी है कि वे निषेध आज्ञा न मान कल ६ बजे सबेरे रास गाँव के लिए फिर रवाना हो जाएँगे।

गिरफ्तार किये गये

अहमदाबाद, ८ अगस्त। साबरमती आश्रम के ६ आश्रमवासी जो कल रिहा कर दिये गये थे और जिन्हें निषेध आज्ञा दी गयी थी आज सुबह ६ बजे आश्रम से रास के लिए रवाना हुए।...निषेध सीमा पार करते ही विक्टोरिया गार्डन के समीप ३ मील चलने पर वे सबके सब गिरफ्तार कर लिये गये।....

श्री देवदास गान्धी गिरफ़्तार
दिल्ली स्टेशन पर

नयी दिल्ली, ७ अगस्त। आधी रात्रि के समय महात्मा जी के पुत्र श्री देवदास गान्धी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये।...

श्री राजगोपालाचार्य गिरफ़्तार
१६ स्त्री पुरुषों के साथ

त्रिचेंगोडी का ७ अगस्त का समाचार है कि श्री सी० राजगोपालाचार्य क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट एक्ट की दफ़ा १७ (१) के अनुसार गिरफ्तार कर लिये गये।....

६ मास की सजा हो गई

त्रिचेंगोडी, ८ अगस्त। श्री सी० राजगोपालाचार्य तथा उनके दल के १६ साथी जिनमें ३ स्त्रियाँ भी थीं आज मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये गये और क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट एक्ट की १७ (१) दफ़ा के अनुसार ६-६ मास की कड़ी कैद की सजा दे दी गयी।

इस पूरे समाचार मे तटस्थता अवश्य दिखती है, पर पूरा का पूरा समाचार अस्त व्यस्त है ७ अगस्त को घटित हुई घटना ऊपर है ८ अगस्त का समाचार नीचे इसी तरह रिहा का समाचार ऊपर है, गिरफ़्तारी का नीचे। समाचार-लेखक ने सारी घटनाओं को उसी क्रम मे रखा है जिस क्रम से वे घटित हुई। इस पूरे समाचार को आधुनिक शैली के अनुसार यदि लिखा जाता तो महत्त्वपूर्ण बातें ऊपर दे दी जातीं और विस्तार की बातें नीचे दी जाती, अर्थात् सभी नेताओं की गिरफ़्तारी की बात ऊपर दे कर तत्सम्बन्धी विस्तार बाद में लिखा जाता। किन्तु इस दोष के बावजूद यह तो मानना ही होगा कि समाचार-लेखन अब निरन्तर आधुनिकता और वस्तुपरकता की ओर बढ़ रहा था।

टेलीप्रिण्टर-युग की क्रान्ति

सन् १९३२ में भारतीय पत्रकारिता और साथ ही हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में भी एक क्रान्ति उपस्थित हो गयी, जब दूरमुद्रक यन्त्र (टेलीप्रिण्टर) का युग आरम्भ हुआ। एसोशिएटेड प्रेस ऑफ़ इण्डिया ने देश के प्रमुख नगरों में दूरमुद्रक-यन्त्र लगा कर उन सबके बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इस व्यवस्था से समाचार-पत्र ग्राहकों के पास बहुत जल्दी और बहुत बडी मात्रा में पहुँचने लगे। यह प्रयोग इतना सफल सिद्ध हुआ कि धीरे-धीरे देश भर में दूरमुद्रको का जाल बिछ गया। समाचार इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगे कि पत्रों को उन सबका उपयोग करने के लिए अपनी पृष्ठ-संख्या बढ़ाने की आवश्यकता महसूस होने लगी। पहले तार द्वारा समाचार भेजे जाते थे और इसलिए खर्च कम करने के लिए अक्सर क्रिया आदि का योग नही किया जाता था। अक्सर इसी कारण भोंडी भूलें भी हो जाती थीं। जैसे एक बार एसोशिएटेड प्रेस के एक संवाददाता ने वाइसराय के शिकार खेलने का समाचार भेजा। उसने लिखा 'वाइसराय शॉट', जिसका अर्थ यही था कि वाइसराय ने गोली चलायी। किन्तु एक पत्र के उपसम्पादक ने इसका यह अर्थ समझा कि वाइसराय को गोली मार दी गयी। उसने अपने पत्र के प्रथम पृष्ठ पर बड़े मोटे टाइप में यह समाचार दे डाला। यही नहीं, उसने वाइसराय की जीवनी भी जल्दी जल्दी ढूँढ़ कर छाप दी। और दूसरे दिन समाचार ग़लत होने के कारण उस पत्र को बड़ी शर्मिन्दगी उठानी पड़ी।

टेलीप्रिण्टर लग जाने के बाद इस तरह की भूलें होने का खतरा एकदम समाप्त हो गया। यही नहीं, समाचार-लेखन-कला पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। इस कला में अब अधिकाधिक आधुनिकता आने लगी, क्योंकि रायटर द्वारा भेजे विदेशी समाचार आधुनिक शैली में ही लिखे होते थे और इसलिए उन समाचारों को देख कर भारतीय समाचार भी उसी शैली में लिखे जाते थे। कम से कम इस ओर प्रयास तो होता ही था।

द्वितीय महायुद्ध तक हिन्दी-पत्र आर्थिक तङ्गी के कारण दूरमुद्रकों की सहायता प्राप्त नही कर सके और अंग्रेज़ी पत्रों पर ही निर्भर करते रहे। किन्तु युद्ध छिड़ने पर जनता को ताज़े से ताज़े समाचार देने के लिए दूरमुद्रकों की सहायता लेना उनके लिए भी व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य हो गया।

सन् १९४५ तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-समाचार-लेखन में दो तरह की प्रवृत्तियाँ दिख रही

थी। जो समाचार न्यूज एजेंसियों से लिये जाते थे उनमें तटस्थता दिखती थी, राष्ट्रीयता या ब्रिटिश सरकार की आलोचना का उनमें नामोनिशान नहीं रहता था, पर जो समाचार पत्रों के अपने संवाददाता लिख भेजते थे उनमें राष्ट्रीयता की भावना अवश्य रहती थी। उदाहरणार्थ, 'भारत' के १७ अप्रैल, १९४५ के अङ्क में प्रथम पृष्ठ पर 'गोरी जातियों की प्रभुता का अन्त हो' शीर्षक के अन्तर्गत एक समाचार छपा है जिसे उस पत्र के विशेष प्रतिनिधि ने लाहौर से लिख भेजा था :—

लाहौर, १६ अप्रैल। पञ्जाब नागरिक स्वतन्त्रता कानफरेन्स के सभापति पद से भाषण करते हुए श्री भूलाभाई देसाई ने भारत के तत्काल स्वतन्त्र किये जाने का जोरदार समर्थन किया। कानफरेन्स में कांग्रेस, मुसलिम लीग तथा अन्य राजनीतिक दलों के प्रायः १०,००० प्रतिनिधि उपस्थित थे।

. . .यदि अब भी गोरी जातियाँ संसार के आधे मानव-समाज पर प्रभुत्व बनाये रखें, तो मूल झगड़े का निबटारा कदापि नहीं होता और एक बार फिर भीषण नर-संहार होगा और अरबों रुपये पानी की तरह बहाए जाएँगे। यदि संसार युद्ध के बाद भी पहले जैसा बना रहा तो हम कैसे दावा कर सकते है कि हमने असन्तोष को जीत लिया। यदि भारत अब भी गुलाम बना रहा तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह ब्रिटिश सङ्गीनों के भय से मुक्त हो गया।. . . .

विदेशी समाचार अब पत्रों में भारतीय समाचारों की तुलना में बहुत अधिक दिये जाने लगे थे, और युद्ध-सम्बन्धी समाचारों का तो सर्वाधिक महत्त्व था ही। 'भारत' के इसी अङ्क मे पृष्ठव्यापी 'अमेरिकन गश्ती दल बर्लिन के बहिर्भाग में पहुँचे?' शीर्षक के अन्तर्गत एक समाचार है :—

लन्दन, १६ अप्रैल। स्टाकहोम से अमेरिकन एसोशियेटेड प्रेस ने समाचार दिया है कि जर्मन नियन्त्रित स्केण्डेनेवियन समाचार समिति ने बर्लिन से खबर दी है कि अमेरिकन गश्ती दल बर्लिन के पश्चिमी बहिर्भाग में पहुँच गये हैं।

समाचार में आगे कहा गया है कि प्रबल प्रतिरोध का सामना करने के उपरान्त अमेरिकन बख्तरबन्द दस्ते पीछे हट आने के लिए विवश हुए।. . . .

इस समय तक समाचार-लेखन में आधुनिकता पूरी तरह आ चुकी थी, यह इस समाचार से स्पष्ट है। इस समाचार में तथ्य को सीधे-सादे, आडम्बररहित ढङ्ग से संक्षेप में कह दिया गया है और कम महत्त्वपूर्ण तथा पहले की घटनाओं का विवरण बाद में दिया गया है। इसमें समाचार-लेखन की पूर्ववर्ती अस्त-व्यस्तता अब देखने को नहीं मिलती।

स्वातन्त्र्योत्तर नवयुग

१५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद एक नये युग का आरम्भ हुआ। आन्दोलन की आग समाचार-लेखन में शान्त हो गयी और इसके स्थान पर अब सरकार के समर्थन का भाव आ गया, क्योंकि कांग्रेस पार्टी ने अब मन्त्रिमण्डल बनाये थे। किन्तु इसी समय देश के बँटवारे के कारण पञ्जाब और बङ्गाल में भारी दङ्गे हुए, जिनपर समाचारपत्रों का ध्यान केन्द्रित रहा अब भारत के क्रिया-कलापों तथा संसद् और विधान-सभाओं के हु

पत्रों में छाये रहते हैं। भाषणों की भी भरमार दिखती है। इनके अतिरिक्त खेल-कूद, वाणिज्य, अदालत और अपराध के समाचार भी बड़ी संख्या में दिये जाने लगे हैं। स्वतन्त्रता के बाद अन्तर्राष्ट्रीय समाचार भी भारतीय पत्रों में बड़ी मात्रा में दिये जाने लगे।

दूसरी ओर एसोशिएटेड प्रेस को भी रायटर के हाथ से निकालने का प्रयत्न हुआ। सन् १९४९ में १ फरवरी को रायटर से एक समझौते के फलस्वरूप एसोशिएटेड प्रेस का सारा कारोबार प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया नामक न्यास के हाथ में आ गया, जिसकी स्थापना भारत के समाचारपत्रों ने स्वयं की थी। इस संस्था में अब रायटर एक साझेदार मात्र था। १९५३ में रायटर प्रेस ट्रस्ट का साझीदार भी नहीं रह गया। अब इन दोनों में व्यावसायिक समझौता मात्र रह गया है और इस तरह प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया पूर्णरूपेण भारतीय समाचार-अभिकरण बन गया है। इसका व्यवसाय भी स्वतन्त्रता के बाद बहुत विकसित हुआ है और समाचार-लेखन में भी पर्याप्त प्रगति हुई है।

सन् १९४८ में 'हिन्दुस्तान समाचार लिमिटेड' नामक समाचार-अभिकरण की भी स्थापना हुई जो देशी भाषाओं में समाचार भेजता है, किन्तु इसका अभी तक समुचित विकास नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त नियर एण्ड फ़ार ईस्ट न्यूज़ लिमिटेड, स्वतन्त्र समाचार समिति, लोक समाचार समिति, डेकन न्यूज़ एजेन्सी आदि अनेक समाचार-अभिकरण चल रहे हैं किन्तु प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया से होड़ लेने वाला कोई समाचार-अभिकरण भारत मे नहीं है। यही कारण है कि इस संस्था ने उतनी तेज़ी से प्रगति नहीं की, जितनी तेज़ी से कर सकती थी। किन्तु इसके बावजूद इस संस्था ने जो कुछ भी प्रगति की है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस संस्था ने समाचारों को उनके महत्त्व के अनुसार इतनी श्रेणियों में बाँट दिया है और आधुनिक पद्धति के अनुसार समाचार-लेखन के ऐसे तरीक़े अपनाये है कि समाचारपत्र-सम्पादकों की बहुत-सी मुश्किलें हल हो गयी हैं। पिछले पन्द्रह वर्षों में समाचार-लेखन के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसमें प्रेस ट्रस्ट का बहुत बड़ा योग रहा है। यहाँ तक कि अब तो इस संस्था ने आधुनिकतम विवेचनात्मक समाचार-लेखन-पद्धति भी अपनानी शुरू कर दी है।

ठेठ हिन्दी-समाचार-लेखन-कला

जहाँ तक हिन्दी की बिलकुल अपनी समाचार-लेखन-कला का प्रश्न है, उसका अभी तक कोई व्यक्तित्व नहीं बन पाया है। हिन्दी के पत्र अधिकांश देश-विदेश के समाचार प्रेस ट्रस्ट ऑफ़ इण्डिया और उसी के माध्यम से रायटर से पाते हैं और उनका अनुवाद कर के प्रकाशित कर देते हैं। ये अनूदित समाचार तो समाचार-लेखन-कला में अंग्रेज़ी पत्रों से कम नहीं पड़ते, किन्तु हिन्दी के मौलिक समाचार-लेखन का दर्शन हिन्दी पत्रों के ज़िलों के संवाददाताओं द्वारा भेजे गये समाचारों में होता है। ये संवाददाता बिना किसी योग्यता या ट्रेनिंग के रख लिये जाते हैं। और तो और, वे इतना तक नहीं समझते कि किस घटना में समाचारत्व है किसमें नहीं। अधिकांशतः वे ऐसी घटनाओं के ही विवरण लिख भेजते हैं, जो समाचार होते ही नहीं। इनमें से बहुत से फेंक दिये जाते हैं, कुछ प्रकाशित भी हो जाते हैं। ये समाचार बासी भी होते हैं, क्योंकि इन्हें डाक द्वारा इतमीनान से भेजा जाता है। आज अन्तरिक्ष विमानों के युग में ऐसे बासी और

निरर्थक समाचारों का क्या महत्त्व ? भारत के १४ जनवरी १९६३ के अङ्क में प्रकाशित यह समाचार इसका एक उदाहरण है :—

राष्ट्रीय महाविद्यालय का निरीक्षण
(निज संवाददाता द्वारा)

बड़हलगञ्ज (गोरखपुर) १३ जनवरी। स्थानीय राष्ट्रीय महाविद्यालय (इण्टर) का निरीक्षण गत ७, ८ तथा ९ जनवरी को निरीक्षकों द्वारा किया गया। निरीक्षक मण्डल में जिला विद्यालय निरीक्षक के अतिरिक्त डी० ए० वी० डिग्री कालेज, आजमगढ़ के वाइस-प्रिंसिपल प्रोफ़ेसर गुरुशरण नारायण श्रीवास्तव भी थे। निरीक्षण के प्रथम दिन गोरखपुर जनपद के नये जिला विद्यालय निरीक्षक श्री नवलकिशोर तथा कार्यकारी जिला विद्यालय निरीक्षक श्री गुरुदेव प्रसाद वर्मा ने भी निरीक्षण किया।

यह समाचार वासी हो कर तो छपा ही, साथ ही इसमें समाचारत्व है ही नही। बड़हलगञ्ज के किसी कालेज के निरीक्षण में भला किसी पाठक को क्या रुचि हो सकती है ? और यदि पाठक को उसमें कोई रुचि नहीं हो सकती, तो फिर वह समाचार भी नहीं है। अधिकतर संवाददाता पुलिस, सरकारी सूचना कार्यालयों, जिला अधिकारियों, नेताओं और मन्त्रियों के कार्यक्रमों एव भाषणों पर ही समाचारों के लिए निर्भर करते हैं। इससे वे इन समाचारत्वहीन सामान्य घटनाओ के पीछे छिपे ऐसे तथ्यों को नही पकड़ पाते जिनमें समाचारपरक मूल्य विद्यमान होते है तथा जिनमे पाठक को सचमुच रुचि होती है। ऐसे संवाददाता सण्डे टाइम्स के सम्पादक डब्ल्यू० डब्ल्यू० हैड्ले के शब्दों में समाचारपत्रों के 'आँख और कान' कैसे बन सकते हैं ?

हिन्दी के समाचार-लेखन के इस स्तर को तो देख कर लगता है कि उसके आधुनिक बन पाने में कई दशक लग जाएँगे। किन्तु वास्तव में स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। 'नवभारत टाइम्स', 'हिन्दुस्तान' तथा 'आज' जैसे बड़े पत्रों ने मुख्य नगरों में जो विशेष संवाददाता रख छोड़े है, उनके भेजे समाचारों में समाचार-लेखन-कला पूरी तरह विकसित रूप में दिखती है और कही-कहीं तो प्रेस ट्रस्ट द्वारा प्रेषित समाचारों से भी आगे बढ़ जाती है। इससे स्पष्ट है कि यदि अधिक पैसे देकर अच्छे संवाददाता रखे जायँ तो हिन्दी में समाचार-लेखन-कला किसी भी तरह अंग्रेजी से पीछे नहीं रहेगी। वैसे भी अनुवाद की समस्या के बावजूद हिन्दी-पत्र अब अंग्रेजी पत्रों से होड लेने लगे हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि जब हिन्दी में ही समाचार-अभिकरण पत्रों को समाचार देने लगेंगे और हिन्दी के दूरमुद्रक भी पर्याप्त संख्या में लग जाएँगे तो हिन्दी-पत्र समाचार-संग्रह तथा लेखन के क्षेत्र में अंग्रेजी पत्रों से किसी प्रकार पीछे नहीं रह जाएँगे।

४ जुलाई, १९५४ को देवनागरी दूरमुद्रक-प्रणाली का दिल्ली और पटना के बीच उद्घाटन हो चुका है। हिन्दुस्तान समाचार ने इसे अपनाया भी है। यही नहीं, 'आज' ने अपनी ओर से पूर्वी ज़िलों से देवनागरी दूरमुद्रक द्वारा सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, ताकि वहाँ के समाचार उसे कम से कम समय में मिल सकें। इन सबसे स्पष्ट है कि निकट भविष्य में ही देव-नागरी दूरमुद्रकों की स्थापना बड़ी संख्या में होने लगेगी जिससे हिन्दी-पत्रकारिता में नयी क्रान्ति का सूत्रपात हो जाएगा।

औद्योगीकरण होने तथा साक्षरता बढने के साथ ही समाचारपत्रों के पाठक निश्चय ही बढ़ेंगे और तब हिंदी में और पत्र भी अवश्य निकलेंगे ऐसी अवस्था में हिन्दी में समाचार दे सकने वाले समाचार-अभिकरणों की भी आवश्यकता बढ़ेगी। आज हिन्दी-पत्रों को समाचार अंग्रेजी में प्राप्त होते हैं, किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक बनी नहीं रह सकती। विदेशी नही तो कम से कम देशी समाचार तो उन्हें अवश्य ही अपनी भाषा में प्राप्त होने चाहिए। जो समाचार-अभिकरण इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकेंगे वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकेंगे। अंग्रेजी समाचारपत्रों का भविष्य यदि अन्धकारपूर्ण नहीं है तो उज्ज्वल भी नहीं है। किन्तु हिन्दी-पत्रों का भविष्य तो निश्चय ही उज्ज्वल है। ऐसी स्थिति में हिन्दी में समाचार-संग्रह तथा समाचार-लेखन-कला का तो समुचित विकास करना ही होगा।

सन्दर्भ-सङ्केत

'केम्सलेज मैनुअल ऑन जर्नलिज्म', डीन एम० लायल स्पेंसर की **'न्यूज राइटिङ्ग'**, विलियम एस० माल्सबी की **'गेटिङ्ग दि न्यूज'**, डॉ० विलर्ड जी० ब्लेयर की **'न्यूजपेपर राइटिङ्ग'**, जॉर्ज सी० बैस्ट्यां की **'एडिटिङ्ग दि डेज न्यूज'**, विल इरविन की **'प्रोपेगेण्डा एण्ड दि न्यूज'**, हिलियर क्रीगबॉम की **'फ़ैक्ट्स इन पर्सपेक्टिव'**, डॉ० रामरतन भटनागर की **'दि राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ़ हिन्दी जर्नलिज्म'**, रॉलैण्ड ई० वूल्सले की **'भारतीय पत्रकारिता'**, आर्थर रॉथस्टीन की **'फ़ोटो जर्नलिज्म'**, जॉन पॉल जोन्स की **'मॉडर्न रिपोर्टर्स हैण्डबुक'**, मार्गरिटा बर्न्स की **'दि इण्डियन प्रेस'** पुस्तकों तथा हैदराबाद के समाचारपत्र-संग्रहालय, प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में संग्रहीत समाचारपत्रों की फ़ाइलों से साभार प्राप्त सामग्री पर आधारित।

हिन्दी भाषा के 'का', 'की', 'के'

और प्रादेशिक भाषाओं में उनके समानान्तर रूप

●

डॉ अम्बाप्रसाद 'सुमन'

§१—प्रस्तुत लेख के इस लम्बे शीर्षक को पढ़ कर पाठक यह विचार करते होंगे कि लेखक ने 'का', 'की', 'के', के स्थान पर 'परसर्ग', 'सम्बन्ध कारकीय विभक्तियाँ'[१] अथवा 'सम्बन्ध-सूचक कारक-चिह्न'[२] क्यों नहीं लिख दिया। श्री कामताप्रसाद 'गुरु' और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जैसे भाषाशास्त्रियों ने भी तो 'का' 'की' 'के' के लिए उक्त प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया ही है। पाठकों के विचार में ऐसी बात का आना स्वाभाविक है, किन्तु हमने जानबूझ कर वैसा नहीं लिखा। हिन्दी-भाषा में 'का', 'की', 'के' को विभक्ति या कारक चिह्न या परसर्ग से अभिहित करना अधिक वैज्ञानिक एवं स्पष्टार्थ-द्योतक है अथवा नहीं—इस प्रश्न पर भी यहाँ कुछ विवेचन करना असङ्गत न होगा।

§२—व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत 'विभक्ति' और 'कारक' शब्द अपना-अपना एक विशिष्ट अर्थ रखते हैं। संस्कृत-भाषा की प्रकृति के अनुसार संस्कृत के वैयाकरणों ने इन शब्दों की विशिष्ट परिभाषाएँ भी बनायी थीं। संस्कृत के वैयाकरणों के मतानुसार 'कारक' से तात्पर्य ऐसी वस्तु से है जिसका क्रिया के सम्पादन में उपयोग हो। इसीलिए संस्कृत में केवल छह कारक माने गये— **कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान** और **अधिकरण**। वहाँ सम्बन्ध नाम का कोई कारक ही नहीं है।

"अयोध्या के प्रसिद्ध राजा रघु ने अपने राज्य में लाखों रुपये अपने हाथों से ब्राह्मणों को राजकोष से दिये।" यह एक वाक्य है जिसमें समापिका क्रिया 'दिये' हैं। अब देखना चाहिए कि इस 'देना' क्रिया के सम्पादन में किसका-किसका उपयोग हुआ है।

(१) क्रिया का सम्पादक रघु है; अतः यह **कर्ता** कारक हुआ।

(२) क्रिया का सम्पादित कर्म 'रुपये' है; अतः यह **कर्म**[३] कारक हुआ।

(३ क्रिया का सम्पादन हाथों द्वारा हुवा है अत यह **करण** कारक है

(४) क्रिया ब्राह्मणों के लिए हुई है; अतः यह **सम्प्रदान** कारक है।

(५) क्रिया जिससे निकली या दूर हुई है, वह राजकोष है; अतः यह **अपादान** कारक है।

(६) क्रिया जिस स्थान पर हुई है, वह राज्य है; अतः यह **अधिकरण** कारक है।

'अयोध्या के' का सम्बन्ध 'दिये' क्रिया से कुछ नहीं है; अतः यह कारक नहीं। इसका सम्बन्ध 'राजा' संज्ञा से अवश्य है। इसलिए संस्कृत व्याकरणानुसार इसे षष्ठी विभक्ति का रूप कह सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत में 'कारक' और 'विभक्ति' एक चीज़ नहीं है। कर्ता कारक और प्रथमा विभक्ति को सदा एक समझना बड़ी भारी भूल और भ्रान्ति है। तृतीया विभक्ति में भी कर्ता कारक हो सकता है। करण कारक तो प्रायः तृतीया विभक्ति में होता ही है किन्तु कर्ता भी होता है। पाणिनि का सूत्र **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (—अष्टा० २।३।१८) इसी बात को स्पष्ट करता है। **"रामेण बाणेन हतो बालि।"** वाक्य के 'राम' और 'बाण' शब्द (प्रातिपदिक) तृतीया विभक्ति में हैं किन्तु 'हन्' धातु की क्रिया का सम्पादक 'राम' है और साधन 'बाण'। इसीलिए 'राम' यहाँ कर्ता कारक है और 'बाण' करण कारक।

§३—संस्कृत की परम्परा से प्राप्त 'विभक्ति' और 'कारक' शब्दों के अपने विशिष्ट अर्थ हैं। इसलिए **'का' 'की' 'के'** को हमने विभक्ति या कारक-चिह्न कहना ठीक नहीं समझा है।

इतना ही नहीं विभक्ति संस्कृत में प्रातिपदिक के साथ संश्लिष्टावस्था में होती है और लिङ्ग-वचन को भी प्रकट करती है जैसे 'फलस्य' पद में 'स्य' की स्थिति संश्लिष्टावस्था में है; लेकिन हिन्दी में 'फल का' का **'का'** विश्लिष्टावस्था में है। अर्थात् 'फल' और 'का' के बीच में कोई अन्य शब्द भी आ कर आसन जमा सकता है जैसे **'फल ही का स्वाद'**। किन्तु संस्कृत में **'फल'** और **'स्य'** के बीच में **'एव'** नहीं आ सकता। अतः वाक्य में **'स्य'** और **'का'** की स्थिति और धारणा (concept) एक नहीं है। इसलिए **'स्य'** विभक्ति की भाँति 'का' को विभक्ति कहना उचित नहीं। यदि 'का' को विभक्ति माना जायगा तो **'फलों का स्वाद'** में 'फलों' का **'ओं'** (फल्+ओं) क्या माना जाएगा?"

§४—यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि संस्कृत में विभक्त्यन्त पद के उपरान्त आने वाला पद किसी भी लिङ्ग या वचन में हो, पर विभक्ति में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण :—

"बालकस्य ग्रन्थः"	(बालक **का** ग्रन्थ)
"बालकस्य ग्रन्थाः"	(बालक **के** ग्रन्थ)
"बालकस्य पुस्तिका"	(बालक **की** पोथी)
"बालकस्य पुस्तिकाः"	(बालक **की** पोथियाँ)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत में विभक्ति **'स्य'** अक्षुण्ण अर्थात् एकरूपिणी है जबकि हिन्दी में उसके स्थान पर **'का' 'की' 'के'** नाम से तीन विभिन्न रूप हैं। यहाँ **'का' 'की' 'के'** अपने उपरान्त आने वाले पदों के लिङ्ग-वचनानुसार परिवर्तित हुए हैं। अर्थात् पुलिङ्ग एकवचन पद के साथ **'का'**, पुलिङ्ग बहुवचन के साथ 'के' और स्त्रीलिङ्ग एकवचन-बहुवचन के साथ **'की'** का प्रयोग हुआ है। इन्हीं प्रमुख कारणों तथा तर्कों की वजह से हिन्दी **'का' 'के' 'की'** को हमने न विभक्ति ही माना है और न कारक-चिह्न ही।

§५—इतना ही नहीं; हिन्दी में **'का' 'की' 'के'** का प्रयोग संज्ञा-शब्दों के साथ ही नहीं, अपितु अन्य शब्दों के साथ भी होता है, जैसे 'वहाँ **का** आदमी', 'इधर **की** स्त्रियाँ', 'दिन भर **का** थका', 'अब तक **का** काम', 'अपनों **की** भलाई', आदि। जब कि संस्कृत व्याकरणानुसार **विभक्तियाँ** प्रायः नामिक पदों (संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण) में ही होती हैं। कुछ उदाहरण ऐसे भी है जिनमें अव्यय शब्दों के साथ विभक्तियाँ मिल जाती हैं, जैसे अधस्तात्, उपरिष्टात्, किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। हिन्दी में 'को' आदि यदि विभक्तियाँ होतीं तो संश्लिष्टावस्था मे ही रहतीं जैसा कि संस्कृत में होता है—**रामं मोहनं गोविन्दं च पाठय**। किन्तु हिन्दी में राम और मोहन के साथ गोविन्द की भाँति 'को' नहीं आता। अपितु 'को' केवल गोविन्द के साथ आता है। जैसे "राम, मोहन और **गोविंद को** पढ़ाओ।" ऐसे प्रयोगों से भी सिद्ध होता है कि हिन्दी मे **'को'** आदि विभक्तियाँ नहीं हैं।

§६—पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों को भाषाओं की रूप-रचना पर विश्लेषणात्मक विचार प्रकट करते हुए यह ज्ञात हुआ था कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अपनी पद-रचना मे वियोगावस्था को प्राप्त हो गयी हैं। अर्थ-तत्त्व से उनके कुछ सम्बन्ध-तत्त्व पृथक् रहा करते है। अतः हिन्दी के **ने, को, से, के लिए, में, पर, तक, ऊपर नीचे, अन्दर, बाहर** आदि को उन्होंने परसर्ग (Postposition) नाम दिया, क्योंकि हिन्दी में ये संज्ञा, सर्वनाम आदि के उपरान्त पृथक् रूप में आते हैं। इसी दृष्टिकोण से न्यूयार्क यूनीवर्सिटी (अमरीकी संयुक्तराज्य) के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री प्रो० गार्डन एच० फ़ेयरबैङ्क ने अपना निर्णय दिया कि "सरलतम हल **'का', 'से', 'तक', 'ने', 'में'** प्रभृति समग्र रूपों को परसर्ग कथित पृथक् मूल स्वीकार करना है।"[६]

प्राध्यापक फेयरबैङ्क की मान्यता **से, तक, ने, में** आदि के लिए तो ठीक है, किन्तु **'का'** के सम्बन्ध में ठीक नहीं है। परसर्ग विश्लिष्टावस्था[७] में होते हुए एकरूप अवश्य रहते हैं, जैसे—

"बालक ही **ने** ग्रन्थ पढ़ा।"	"बालिकाओं ही **ने** ग्रन्थ पढ़ा।"
"बालक ही **ने** ग्रन्थ पढ़े।"	"बालिकाओं ही **ने** ग्रन्थ पढ़े।"
"बालक ही **ने** पुस्तिका पढ़ी।"	"बालिकाओं ही **ने** पुस्तिका पढ़ी।"
"बालक ही **ने** पुस्तिकाएँ पढ़ीं।"	"बालिका ही **ने** पुस्तिका पढ़ी।"
"बालकों ही **ने** ग्रन्थ पढ़ा।"	"बालिका ही **ने** पुस्तिकाएँ पढ़ीं।"

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि **'ने'** से पहले और बाद में आने वाली संज्ञाएँ एकवचन, बहुवचन, स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग में आयी हैं, किन्तु **'ने'** उसी एक रूप में ही रहा है। ठीक है, परसर्ग वियोगी होते हुए भी एकरूप रहता है। किन्तु अब तनिक **'का'**[८] की स्थिति पर विचार कीजिए:—

"बालक ही **का** ग्रन्थ अच्छा है।"	"बालक ही **की** पुस्तिकाएँ अच्छी है।"
"बालक ही **के** ग्रन्थ अच्छे हैं।"	"बालकों ही **की** पुस्तिकाएँ अच्छी हैं।"
"बालक ही **की** पुस्तिका अच्छी है।"	"बालकों ही **की** पुस्तिका अच्छी है।"

§७—उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि **'का'** के आगे जब पुंलिङ्ग बहुवचन संज्ञा-पद आया तो वह तुरन्त **'के'** में बदल गया है। स्त्रीलिङ्ग एकवचन-बहुवचन में वह **की** हो गया है।

अत का 'की के' को परसग मानना उचित नही है इससे परसग की अवधारणा म व्याघा उपन्न होता है अग्रजी आदि भाषाओ म भी परसग (Postposition) एक रूप ह रहते हैः—

"He comes **over**."	(—His coming over.)
"She comes **over**."	(—Her coming over.)
"They come **over**."	(—Their coming over.)

§८—प्रीपोजीशन (Preposition) अर्थात् पूर्वसर्ग की भी ऐसी ही बात है। अंग्रेजी और फ़ारसी से उदाहरण लिये जा सकते है। अंग्रेजी भाषा में:—

"**In** the house."	(=घर में—'में' परसर्ग है)
"**In** the houses."	(=घरों में —'में' परसर्ग है)

फ़ारसी भाषा में:—

"**दर्** मकान्"	(=घर में)
"**दर्** मकानहा"	(=घरों में)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि पूर्वसर्गों में कोई परिवर्तन नहीं है। अं० '**इन**' और फा० '**दर्**' अपनी अक्षुण्णावस्था में हैं। वैसे फ़ारसी में कर्मकारकीय परसर्ग 'रा' मिलता है जो हिन्दी के 'को' का समानार्थी है, जैसे—हि० मैंने **साँप**~**को** देखा=फ़ा० मन् **मार्**~**रा** दीदम्।

§९—हाँ, हिन्दी में एक 'के' परसर्ग भी है जिसकी ओर प्रा० फ़ेयरबैङ्क का तो ध्यान नही गया, किन्तु आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी का ध्यान अवश्य गया है। 'हिन्दी शब्दानुशासन'[१०] के द्वितीय अध्याय में आचार्य जी ने इस 'के' के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। हिन्दी-भाषा के निम्नाङ्कित वाक्यों में आये हुए '**के**'[११] को हम परसर्ग ही कह सकते हैं:—

"घनश्याम **के** लड़का हुआ है।"	"गोपों **के** बधाई बजी।"
"घनश्याम **के** लड़की हुई है।"	"गोपी **के** बधाई बजी।"
"सरोजनी **के** लड़का हुआ है।"	"गोपी **के** बधाये बजे।"
"सरोजनी **के** लड़की हुई है।"	"गोपियों **के** बधाये बजे।"
"गोप **के** बधाई बजी।"	

ब्रजभाषा में भी इसका '**के**' और '**कैं**' रूप प्रयुक्त होता है। जैसे:—

"कमला **कैं** छोरा भयौ ऐ।" (हि०—कमला के लड़का हुआ है।)।

"मोँहन् **कैं** छोरी भई ऐ।" (हि०—मोहन के लड़की हुई है।)।

सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में '**के**' परसर्ग का प्रयोग किया है:—

"**आजु हो बधायो बाजै नन्दगोपराइ के।**"[१२]

§१०—अब प्रश्न यह उठता है कि "बालक **का** ग्रन्थ", "बालक के ग्रन्थ", "बालक **की** पुस्तिका "और "बालक **के** ग्रन्थ में" के '**का**' '**की**' '**के**' का नामकरण व्याकरण की दृष्टि से क्या होना चाहिए ताकि प्राचीन परम्परागत धारणाओं में भी व्याघात न पड़े और बात भी स्पष्ट हो जाए।

§११—हिन्दी में विशेषणों की दुहरी अवस्था पायी जाती है। अर्थात् विशेष्य के लिङ्ग-वचन से वे अप्रभावित भी रहते हैं और कभी-कभी प्रभावित भी हो जाते हैं। अप्रभावित स्थिति के उदाहरण:—

पुं० —"**सुन्दर्** लड़का; **सुन्दर्** लड़के।"[13]
स्त्री०—"**सुन्दर्** लड़की; **सुन्दर्** लड़कियाँ।"
पुं० —"**सुस्त** लड़का; **सुस्त** लड़के।"
स्त्री०—"**सुस्त** लड़की; **सुस्त** लड़कियाँ।"

व्यञ्जनान्त तथा अकारान्त पुलिङ्ग विशेषण लिङ्ग वचन में अप्रभावित रहते हैं। **'बढ़िया'** विशेषण अक्षुण्ण रहता है। **'ताजा'** में विकल्प भी है। प्रभावित स्थिति के उदाहरण (ये आकारान्त पुंलिङ्ग एक वचन वाले विशेषण स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में बदल जाते है):—

पुं० —"**अच्छा** लड़का; **अच्छे** लड़के।"
स्त्री०—"**अच्छी** लड़की; **अच्छी** लड़कियाँ।"
पुं० —"**ताजा** फल; **ताजे** फल।"
स्त्री०—"**ताजी** रोटी; **ताजी** रोटियाँ"

उक्त विशेषण-पदों में क्या परिवर्तन हुआ है, इसपर यहाँ ध्यान देना चाहिए। प्रातिपदिक और प्रत्यय के योग से विशेषणीय पद का निर्माण हुआ है अर्थात् अच्छ् प्रातिपदिक में क्रमशः।-आ।, ।ए। और ।-ई। प्रत्ययों का योग हुआ है:—

प्रातिपदिक-अच्छ् + ।-आ।	=पद-'अच्छा'	(पुंलिङ्ग, एकवचन)
प्रातिपदिक-अच्छ् + ।-ए।	=पद-'अच्छे'	(पुंलिङ्ग, बहुवचन)
प्रातिपदिक-अच्छ् + ।-ई।	=पद-'अच्छी'	(स्त्रीलिङ्ग, एकव०, बहुव०)

इसी आधार और दृष्टि से निम्नाङ्कित प्रयोगों में **का, की, के** को देखिए :—
"**मोहन का** लड़का; **मोहन के** लड़के।"
"**मोहन की** लड़की; **मोहन की** लड़कियाँ।"

उक्त चारों उदाहरणों में **मोहन का, मोहन के** और **मोहन की** पद विशेषणसूचक हैं। 'क्' में ।आ।, ।ए। और ।ई। का योग भी उसी प्रकार है। 'मोहन' के साथ **का, के, की** का योग ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार 'अच्छ्' के साथ ।आ।, ।ए।, ।ई। का। अन्य पद भी उसी प्रकार परिवर्तित हुए हैं। देखिए:—

विशेषण	**का, के, की**
(१) अच्छा लड़का=अच्छ् + ।आ।	(१) मोहन का लड़का=मोहन + ।का।
(२) अच्छा लड़के=अच्छ् + ।ए।	(२) मोहन के लड़के=मोहन + ।के।
(३) अच्छी लड़की=अच्छ् + ।ई।	(३) मोहन की लड़की=मोहन + ।की।
(४) अच्छी लड़कियाँ=अच्छ् + ।ई।	(४) मोहन की लड़कियाँ=मोहन + ।की।

अन्तर केवल इतना है कि अच्छ के साथ ।आ। ।ए। और ।ई। तो सश्लिष्टावस्था में है और मोहन के साथ ।का।, ।के। और ।की। विश्लिष्टावस्था में हैं। वैसे विशेषणसूचक ही हैं। अतः **'का'**, **'के'**, **'की'** को हमें परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय का नाम देना चाहिए। इस नवीन नामकरण को शीर्षक में उचित नहीं समझा गया। इसलिए मैंने वहाँ नहीं लिखा क्योंकि पाठकों की मानस-भूमिका में उसका अर्थ पहले से स्पष्ट नहीं है।

§१२—कर्ता कारकीय परसर्ग **'ने'**-रहित विशेष्य और **का, के, की**:—

(१) **राम का** घोड़ा दौड़ता है। (३) **राम की** घोड़ी दौड़ती है।
(२) **राम के** घोड़े दौड़ते हैं। (४) **राम की** घोड़ियाँ दौड़ती हैं।

उक्त उदाहरणों में 'राम का', 'राम के' और 'राम की' विशेषण तो हैं; किन्तु 'घोड़ा' विशेष्य में विशेषण का विशेषत्व व्याप्त नहीं है। **'काला** घोड़ा' के 'काला' का विशेषत्व घोड़ा में व्याप्त है।

कर्ता कारकीय परसर्ग **'ने'** सहित विशेष्य और **का, के, की**:—

(१) **राम के** घोड़े ने चारा खाया।[१४] (३) **राम की** घोड़ी ने चारा खाया।
(२) **राम के** घोड़ों ने चारा खाया। (४) **राम की** घोड़ियों ने चारा खाया।

[टिप्पणी—यहाँ 'चारा' कर्म है और 'खाया' क्रिया कर्मवाच्य की है।]

§१३—उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि परसर्ग-सहित कर्ता कारकीय विशेष्य के साथ **'का'** का **'के'** रूप हो गया है, जबकि लिङ्ग-वचन में विशेष्य दोनों अवस्थाओं में एक ही हैं अर्थात पुंलिङ्ग एकवचन।

कर्म कारकीय परसर्ग **'को'**-रहित विशेष्य और **का, के, की**:—

(१) हरी **राम का** घोड़ा देखता है। (३) हरी **राम की** घोड़ी देखता है।
(२) हरी **राम के** घोड़े देखता है। (४) हरी **राम की** घोड़ियाँ देखता है।

कर्म कारकीय परसर्ग **'को'**-सहित विशेष्य और **का, के, की**:—

(१) हरी **राम के** घोड़े को देखता है।[१५] (३) हरी **राम की** घोड़ी को देखता है।
(२) हरी **राम के** घोड़ों को देखता है। (४) हरी **राम की** घोड़ियों को देखता है।

[टिप्पणी—यहाँ 'देखता है' क्रिया कर्तृवाच्य की है।]

कर्म कारकीय परसर्ग 'को' की स्थिति में कर्ता की भाँति ही **'का'** का **'के'** रूप हो गया है, जबकि विशेष्य दोनों ही अवस्थाओं में पुंलिङ्ग एकवचन है। स्त्रीलिङ्ग के तो दोनों ही वचनों में कर्ता कारकीय परसर्ग-योग की भाँति **'की'** ही बना रहा है।

§१४—परिणाम यह निकला कि परसर्ग-रहित पुंलिङ्ग-एकवचन कर्ता और कर्म कारक के विशेष्यों के साथ **'का'** आता है और परसर्ग-सहित विशेष्यों के साथ **'के'** आता है। इसी प्रकार शेष सभी कारकीय परसर्गों के विशेष्यों के साथ भी **'के'** ही आता है। जैसे:—

(१) हरी ने **राम के घोड़े से** यात्रा की। (करण कारकीय विशेष्य)
(२) हरी ने **राम के घोड़े के लिए** चारा दिया। (सम्प्रदान कारकीय विशेष्य)
(३) हरी ने **राम के घोड़े से** ज़ीन उतारा। (अपादान कारकीय विशेष्य)
(४) हरी ने **राम के घोड़े में** आर लगायी। (अधिकरण कारकीय विशेष्य)
(५) हरी ने **राम के घोड़े पर** जीन रखा। (अधिकरण कारकीय विशेष्य)

यदि बहुवचन रूप 'घोड़ों' भी आएगा, तो भी **के** ही रहेगा। स्त्रीलिङ्ग 'घोड़ी' या 'घोड़ियाँ' या 'घोड़ियों' के आने पर **की** रूप हो जाएगा।

§१५—सारांश यह है कि **का** रूप तो केवल कर्ता और कर्म कारक में ही रहता है जब कि उनके विशेष्य पुंलिङ्ग एकवचन में होते हैं और परसर्ग-रहित आते है। शेष पुंलिङ्ग स्थितियों में **के** होता है। स्त्रीलिङ्ग में **की** सदैव पाया जाता है। अतः पुंलिङ्ग रूप **का**, **के** और स्त्रीलिङ्ग रूप **की** एकवचन रूप हैं। **का**, **के**, **की** और बहुवचन रूप हैं **के**, **की**, अर्थात् **'के' 'की'** उभय-निष्ठ हैं।

§१६—पछाहीं हिन्दी की उपभाषाओं में **का**, **की**, **के** की रूप-निदर्शना:—

हिन्दी	**हरियानी**	**उदाहरण**
का	का	(१) मौंहन् का[१६] बेट्टा।
की	की	(२) मौंहन् की बेट्टी।
के	के	(३) मौंहन् के बेट्टे। (बहुवचन)
		(४) मौंहन् के बेट्टे नैं। (एकवचन)

§१७—

हिन्दी	**खड़ी बोली**	**उदाहरण**
का	का	(१) मौंहन् का[१७] लौंडा (=मोहन का लड़का)
की	की	(२) मौंहन् की लौंडिया। (=मोहन की लड़की)
के	के	(३) मौंहन् के लौंडे। (बहुवचन)
		(४) मौंहन् के लौंडे नैं। (एकवचन)

§१८—

हिन्दी	**ब्रजभाषा**	**उदाहरण**
का	कौ	(१) मौंहन् कौ छोरा (=मोहन का लड़का)
की	की	(२) मौंहन् की छोरी (= मोहन की लड़की)
के	के	(३) मौंहन् के छोरा। (बहुवचन)
		(४) मौंहन् के छोरा नैं। (एकवचन)

§१९—

हिन्दी	**कन्नौजी**	**उदाहरण**
का	को	(१) मौंहन् को लरिका। (मोहन का लड़का)
की	की	(२) मौंहन् की बिटिया। (=मोहन की लड़की)
के	के	(३) मौहन् के लरिका। (बहुवचन)
		(४) मौंहन के लरिका नैं (एकवचन)

§२०

हिन्दी	बुन्देली	उदाहरण
का	कौ	(१) मौंहन् कौ लर्का (= मोहन का लड़का)
की	की	(२) मौंहन् की बिटिया (= मोहन की लड़की)
के	के	(३) मौंहन् के लर्का। (बहुवचन)
	के	(४) मौंहन् के लर्का~नैं। (एकवचन)
	के	(५) मौंहन् के लरकन्~नैं (= मोहन के लड़कों ने)

§२१—पूरबी हिन्दी की उपभाषाओं में **का, की, के** की रूप-निदर्शना:—

हिन्दी	अवधी	उदाहरण
का	कर	(१) मौंहन् कर बिटवा (= मोहन का लड़का)
की	कि, केरि	(२) मौंहन् केरि(कि)बिटिया(= मोहन की लड़की)।
के	कै	(३) मौंहन् कै बिटवन्। (बहुवचन)
	कै	(४) मौंहन् कै बिटवा। (एकवचन)

§२२—

हिन्दी	बघेली	उदाहरण
का	केर	(१) मौंहन् केर बेटवा (= मोहन का लड़का)
की	केरि	(२) मौंहन् केरि बेटिया (= मोहन की लड़की)
के	केर	(३) मौंहन् केर बेटवन् (बहुवचन)
		(४) मौंहन् केर बेटवा (एकवचन)

§२३—

हिन्दी	छत्तीसगढ़ी[२८]	उदाहरण
का	के	(१) मौंहन् के टूरा (बेटा) (= मोहन का लड़का)
की	के	(२) मौंहन् के टूरी (बेटी)[२९] (= मोहन की लड़की)
के	के	(२) मौंहन् के टूरामन(बेटा मन) (= मोहन के लड़के)
		(४) मौहन् के टूरा~हर / मौंहन् के बेटा~हर } (= (मोहन के लड़के ने)

§२४—

हिन्दी	भोजपुरी	उदाहरण
का	के	(१) मौंहन् के लइका (= मोहन का लड़का)
की	के	(२) मौंहन् के लइकी (= मोहन की लड़की)
के	के	(३) मौंहन् के लइका (= मोहन के लड़के)
	के	(४) मौंहन् के लइका (= मोहन के लइके ने)

§२५—परसर्ग वाक्य में विश्लिष्टावस्था में तो होते ही हैं किन्तु लिङ्ग-वचन के प्रभाव

से मुक्त भी रहते हैं। छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी के 'के' की स्थिति सब दशा में अक्षुण्ण है। अत इस 'के' को परसर्ग कहा जा सकता है। यही बात मगही में भी मिलेगी।

§२६—

हिन्दी	मगही	उदाहरण
का	के	(१) मोहन्~के बेटवा (=मोहन का लड़का)
की	के	(२) मोहन्~के बेटिया (=मोहन की लड़की)
के	के	(३) मोहन्~के बेटवन् (=मोहन के लड़के)
	के	(४) मोहन्~के बेटवा (=मोहन के लड़के ने)

§२७—

हिन्दी	मैथिली	उदाहरण
का	क	(१) मोहन~क बेटा (=मोहन का लड़का)
की	क	(२) मोहन~क बेटी (=मोहन की लड़की)
के	क	(३) मोहन~क बेटा सभ (=मोहन के लड़के)
	क	(४) मोहन~क बेटा (=मोहन के लड़के ने)

छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी और मगही नाम की उपभाषाओं में तो सर्वत्र (दोनों लिङ्गों तथा दोनो वचनों में) 'के' रूप ही पाया जाता है, किन्तु 'मैथिली' में सर्वत्र 'क' रहता है। इस 'क' का प्रयोग विद्यापति ने तो अपनी पदावली में किया ही है किन्तु तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी यत्र-तत्र यह सम्बन्धसूचक 'क' मिलता है:—

"नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर" (—विद्यापति)

. . . . . .

"पितु आयसु सब धरम क टीका।" (—तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

§२८—

हिन्दी	उड़िया	उदाहरण
का	अर्	(१) मोहनर् पुअ (=मोहन का पुत्र)
की	अर्	(२) मोहनर् झिअ (=मोहन की पुत्री)
के	अर्	(३) मोहनर् पुअमाने (=मोहन के पुत्र)
		(४) मोहनर् पुअ (=मोहन के पुत्र ने)

उड़िया की ।-अर्। का प्रसार आसाम तक सुनायी पड़ता है। जिला मणिपुर की असमीया बोली में भी सम्बन्धसूचक ।-अर्। आसन जमाये बैठी है। वहाँ भी उड़िया की भाँति 'मोहन~का' के माहनर ही बोला जाता है इसका विवेचन आगे किया जाएगा

§२९

हिन्दी	बँगला	उदाहरण
का	एर्	(१) मोहोनेर्[२०] छेले (=मोहन का लड़का)
की	एर्	(२) मोहोनेर् मेये[२१] (=मोहन की लड़की)
के	एर्	(३) मोहोनेर् छेलेरा (=मोहन के लड़के)
		(४) मोहोनेर् छेले (=मोहन के लड़के ने)

§३०—

हिन्दी	असमीया (मणिपुरी)	उदाहरण
का	अर्	(१) मोहनर् लरा (=मोहन का लड़का)
की	अर्	(२) मोहनर् छ्वाली[२२] (=मोहन की लडकी)
के	अर्	(३) मोहनर् लराबिलाके (=मोहन के लड़के)
	अर्	(४) मोहनर् लरा (=मोहन के लड़के ने)

असमीया (कामरूपी) भाषा में 'ने' परसर्ग नहीं है। बहुवचन-सूचक ।बिलाके। तथा ।-हते।[२३] प्रत्ययों का प्रयोग होता है। असमिया का ।अर्। प्रत्यय संश्लिष्टावस्था में है। 'मोहन्' और 'अर्' के मध्य में कोई कारकीय परसर्ग या अन्य शब्द नहीं आ सकता अर्थात् संस्कृत के 'स्य' की भाँति ही ।-अर्। की स्थिति है। जैसे, मोहन की लड़की = मोहनर् छ्वाली। मोहन की लड़कियाँ = मोहनर् छ्वाली बिलाके। यही प्रकृति उड़िया भाषा में भी पायी जाती है अर्थात् उड़िया में भी ।अर्। विभक्ति की भाँति प्रातिपदिक के साथ संश्लिष्टावस्था में रहता है।

§ ३१—

हिन्दी	मराठी	उदाहरण
का	चा	(१) मोहन चा मुलगा (=मोहन का लड़का)
की	ची	(२) मोहन् ची मुलगी[२३] (=मोहन की लड़की)
के	चे	(३) मोहन् चे मुल (=मोहन के लड़के)
	च्या	(४) मोहन् च्या मुला नी (= मोहन् के लड़के ने)
	च्या	(५) मोहन् च्या मुली नी (=मोहन की लड़की ने)
	च्या	(६) मोहन् च्या मुलीं (=मोहन की लड़कियाँ)

हिन्दी के **का, की, के** के समानान्तर मराठी में परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय **चा, ची** (च्या), **चे** (च्या) होते हैं किन्तु कर्ता कारकीय परसर्ग-सहित विशेष्य के साथ 'च्या' रूप ही रहता है। यह प्रवृत्ति हिन्दी से भिन्न है। जैसे—हिं०, मोहन के लड़के ने=म०, मोहन् **च्या** मुला~नी। मोहन की लडकी ने=मोहन् **च्या** मुली नी। मोहन के लड़के ने=मोहन् च्या मुलान् नी। मोहन की लडकियों ने=मोहन् च्या मुलीन~नी।

§ ३२—

हिन्दी	गुजराती	उदाहरण	
का	नो	(१) मोहन् **नो** दीकरो (दीकरा)	(=मोहन **का** बेटा)
की	नी	(२) मोहन **नी** दीकरी	(=मोहन **की** बेटी)
के	ना	(३) मोहन् **ना** दीकरा (दीकराओ)[२४]	(मोहन के बेटे)
		(४) मोहन् ना[२५] दीकरा ~ ए	(=मोहन **के** बेटे ने)
		अथवा मोहन् **ना** दीकराओ ~ ए	(=मोहन **के** बेटे ने)

कर्ता कारक में बहुवचन रूप हिन्दी में 'लड़के' होता है। यह परसर्ग-रहित प्रयोग है। इसी तरह गुजराती में बहुवचन प्रयोग 'दीकरा' अथवा 'दीकराओ' है। हिन्दी में 'के' पुंलिङ्ग बहुवचनीय संज्ञा के पहले आता है। गुजराती में इसका समानान्तर **'ना'** है। अतः 'मोहन के लड़के' का गुजराती रूपान्तर 'मोहन् ना दीकराओ' होता है।

§ ३३—

हिन्दी	मारवाड़ी	उदाहरण	
का	रो[२६]	(१) मोहन् **रो** छोरौ[२७]	(=मोहन **का** बेटा)
की	री	(२) मोहन् **री** छोरी	(=मोहन **की** बेटी)
के	रा	(३) मोहन् **रा** छोरा	(=मोहन **के** बेटे)
		(४) मोहन् **रा** छोरा ए	(=मोहन **के** बेटे ने)

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि गुजराती अपनी प्रकृति में ओकारान्त है, तो मारवाड़ी औकारान्त है। इसी तरह ब्रजभाषा भी प्राय: औकारान्त[२८] है। जैसे—गुज० **छोकरो,** मार० **छोरौ।** ब्रज० मौहन् के छोरा ~ नै = मार० मोहन् ~ का छोरा ~ ए।

§ ३४—

हिन्दी	पहाड़ी (कुमायूँनी)	उदाहरण	
का	क	(१) मोहन क चेलो	(=मोहन का लड़का)
की	क	(२) मोहन क चेली[२९]	(=मोहन की लड़की)
के	क	(३) मोहन क च्याला	(=मोहन के लड़के)
		(४) मोहन क च्याला लें	(=मोहन के लड़के ने)

कर्ता कारकीय परसर्ग 'ले' के साथ 'ओकारान्त' पुंलिङ्ग एकवचन संज्ञा 'आकारान्त' ही नहीं होती, अपितु उसका अन्त्य रूप भी बदलता है अर्थात् बहुवचन वाला रूप ही एकवचन के साथ प्रयुक्त होता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि परसर्ग-रहित कर्ता कारक में पुंलिङ्ग बहुवचन में 'च्याला' और परसर्ग-सहित कर्ता कारक में पुंलिङ्ग एकवचन में भी 'च्याला'। यही प्रकृति गुजराती में भी पायी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि पहाड़ी का **'क'** लिङ्ग-वचन के परिवर्तन के साथ बदलता नहीं है, एक-सा ही रहता है, किन्तु गुजराती में **नो, नी, ना** रूप स्थिति के अनुसार है

§ ३५

हिन्दी	सिन्धी	उदाहरण
का	जो	(१) मोहन जो पुट्ट्र (=मोहन का लड़का)
की	जी, जियुँ[३०]	(२) मोहन जी धीअ (=मोहन की लड़की)
के	जा	(३) मोहन जा पुट्ट्र (=मोहन के लड़के)
		(४) मोहन जे पुट्ट्र[३१] (=मोहन के लड़के ने)

विशेष्य के लिङ्ग-वचन के अनुसार सिन्धी में उक्त विशेषणीय प्रत्यय का परिवर्तन स्पष्ट दिखायी पड़ता है। सिन्धी और पञ्जाबी में स्त्रीलिङ्ग एकवचन और स्त्रीलिङ्ग बहुवचन विशेष्य संज्ञाओं के पहले आने वाले परसर्गाभास 'जी' या 'दी' में परिवर्तन होता है। परसर्ग-रहित स्त्रीलिङ्ग एकवचन कर्ता के पहले **'जी'** और परसर्ग-रहित स्त्रीलिङ्ग बहुवचन कर्ता के पहले **'जियुँ'** आता है। **'जियुँ'** के स्थान पर पञ्जाबी में **'दीआँ'** होता है।

§ ३६—

हिन्दी	पञ्जाबी	उदाहरण
का	दा	(१) मोहन दा मुण्डा (=मोहन का लड़का)
की	दी, दीआँ	(२) मोहन दी कुड़ी[३२] (=मोहन की लड़की)
के	दे	(३) मोहन दे मुण्डे (=मोहन के लड़के)
		(४) मोहन दे मुण्डे ने (=मोहन के लड़के ने)

हिन्दी भाषा में परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय **'की'** स्त्रीलिङ्ग एकवचन विशेष्य के साथ भी आती है और स्त्रीलिङ्ग बहुवचन विशेष्य के साथ भी। जैसे 'मोहन की लड़की' और 'मोहन की लड़कियाँ', किन्तु पञ्जाबी में बहुवचन स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के लिए **'दीआँ'** का प्रयोग होता है।[३३]

§३७—द्रविड़ परिवार की भाषाओं में **का, की, के** की रूप-निदर्शना :—

हिन्दी	मलयालम्[३४]	उदाहरण
का	अण्टे	(१) मोहनण्टे मकन् (=मोहन का बेटा)
की	अण्टे	(२) मोहनण्टे मकळ् (=मोहन की बेटी)
के	अण्टे	(३) मोहनण्टे आण् मक्कळ् (=मोहन के बेटे)
		(४) मोहनन्टे मक्कन् (=मोहन के बेटे ने)

मलयालम् का 'अण्टे' विभक्ति की भाँति प्रयुक्त है। जिस प्रकार संस्कृत में 'मोहनस्य' का 'स्य' अक्षुण्ण रहता है, ठीक उसी प्रकार 'अण्टे' की स्थिति है। 'अण्टे' को 'ण्टे' भी माना जा सकता है।

§३८—

हिन्दी	तमिल	उदाहरण[३५]
का	टैय	(१) मोहनु टैय मकन् (=मोहन का बेटा)
की	टैय	(२) मोहनु टैय मकळ् (=मोहन की बेटी)
के	टैय	(३) मोहनु टैय मकन्कळ् (=मोहन के बेटे)
		(४) मोहनु टैय मकन् (=मोहन के बेटे ने)

अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी बोलियों में कर्ता कारकीय परसर्ग 'ने' नहीं है। ठीक उसी प्रकार तमिल में भी कर्ता कारक के साथ कोई कारकीय परसर्ग नहीं आता।

§३९—

हिन्दी	तेलुगु	उदाहरण	
का	नि; योक्क	(१) मोहनु योक्क कोडुकु[36]	(=मोहन का बेटा)
की	नि; योक्क	(२) मोहनु योक्क कूतुरु[37]	(=मोहन की बेटी)
के	नि; योक्क	(३) मोहनु योक्क कोडुकुल[38]	(=मोहन के बेटे)
		(४) मोहनु योक्क कोडुकु	(=मोहन के बेटे ने)

तेलुगु का 'योक्क' नितान्त अप्रभावित एवं अपरिवर्तित है। यह नित्य अक्षुण्ण रूप से रहता है। 'नि' और 'योक्क' में विभक्ति के-से लक्षण पाये जाते है किन्तु यह संश्लिष्टावस्था मे नही हैं।[39]

§४०—

हिन्दी	कन्नड़	उदाहरण	
का	अन या न	(१) मोहनन हुडुग	(=मोहन का लड़का)
की	अन या न	(२) मोहनन हुडुगि	(=मोहन की बेटी)
के	अन या न	(३) मोहनन हुडुगियरु	(=मोहन की बेटियाँ)
		(४) मोहनन हुडुगरु	(=मोहन के बेटे)
		(५) मोहनन हुडुग	(=मोहन के बेटे ने)

कन्नड़, मलयालम्, तेलुगु आदि द्रविड़-परिवार की भाषाओं में ।अन्। या ।न। वास्तव मे विभक्ति प्रत्यय है। 'मोहन' और ।अन्। या ।न। के मध्य में 'ही' आदि कोई अव्यय अथवा अन्य परसर्ग नहीं आ सकता जैसे कि हिन्दी में आ जाता है। हिन्दी में हम "मोहन ही का लड़का" प्रयुक्त कर सकते हैं, किन्तु द्रविड़-परिवार की भाषाओं में 'मोहन मात्र न हुडुग' प्रयोग उसी प्रकार नितान्त अशुद्ध एवं असङ्गत है जिस प्रकार कि संस्कृत में "मोहन एव स्य पुत्रः"[40] अशुद्ध है। कन्नड़ का 'न' प्रयोग-पद्धति में संस्कृत की षष्ठी विभक्ति ।-स्य। का भाई-बन्धु है।

§४१—

हिन्दी — आर्य-परिवार की भाषाएँ-उपभाषाएँ (क)

मोहन के लड़के ने =मौंहन्~कै बिटवा (अवधी)
=मौंहन्~केर बेटवा (बघेली)
=मौंहन्~के टूरा~हर (छत्तीसगढ़ी)
=मौंहन्~के लइका (भोजपुरी)
=मौंहन~क बेटा (मैथिली)
=मौंहन्~के बेटवा (मगही)
=मोहनर~पुअ (उड़िया)
=मोहनेर छेले (बॅंगला)
=मोहनर लरा (असमिया)

उपर्युक्त भाषाओं में कर्ता कारकीय संज्ञा के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग नहीं पाया जाता जैसा कि उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। छत्तीसगढ़ी में 'हूरा' के साथ विभक्ति प्रत्यय ।-ह्रा। का प्रयोग तो है किन्तु परसर्ग का नहीं। जैसे—"राम के पुत्र ने रोटी खायी" का छत्तीसगढ़ी में होगा —"राँम् ~के बेटाहर् रोटी खाइस।"

§४२—

हिन्दी **आर्य-परिवार की भाषाएँ-उपभाषाएँ (ख)**

मोहन के लड़के ने =मोहन्~च्या मुला~नी (मराठी)
=मोहन~ना दीकराए (गुजराती)
=मोहन्~रा छोराए (मारवाड़ी)
=मोहन्~क च्याला~ले (कुमायूँनी)
=मोहन~जे पुट्र[४१] (सिन्धी)
=मोहन~दे मुण्डे ने (पञ्जाबी)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मराठी, कुमायूँनी, और पंजाबी में कर्ता कारकीय 'ने' परसर्ग के समानान्तर स्वतन्त्र अस्तित्व वाले परसर्ग आते हैं। जैसे मराठी में 'नी', कुमायूँनी में 'ले' और पंजाबी में 'ने'। गुजराती एवं मारवाड़ी में तो विभक्ति प्रत्यय ।-ए। आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ।-ए। विभक्ति प्रत्यय संस्कृत ।-अया। का विकसित रूप है—सं० अया>अइ >ए। जैसे सं० मया>मइँ>मैं=म्+ऐं।

§४३—

हिन्दी **द्रविड़-परिवार की भाषाएँ**

मोहन के लड़के ने =मोहनण्टे आणमक्कळ् (मलयालम्)
=मोहन्~टैय मकन् (तमिल)
=मोहनु~योक्क कोडुकु (तेलुगु)
=मोहनन हुडुग, अथवा मोहनन[४२] मगन् (कन्नड़)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्रविड़-परिवार की भाषाओं में कर्ता कारकीय परसर्ग 'ने' का प्रयोग नहीं होता।

§४४—अन्त में निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि कर्ता कारकीय परसर्ग स्वतन्त्र रूप में पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाओं में और पञ्जाबी, मराठी एवं पहाड़ी (कुमायूँनी आदि) भाषाओं में ही मिलता है। भारत की अधिकांश भाषाओं में इसका अस्तित्व नहीं है। हिन्दी में इस 'ने' परसर्ग की समस्या के समुचित समाधान पर पूर्णरूपेण विचार होना चाहिए। इसके प्रयोग को ठीक तरह से न समझने के कारण ही आज पञ्जाब का निवासी तथा बलिया आदि उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों का रहने वाला व्यक्ति निम्नाङ्कित वाक्य बोलता है:—

हिन्दी	**पञ्जाबी-भाषी व्यक्तियों द्वारा प्रयोग**
(१) मुझे पढ़ना है।	मैंने पढ़ना है।
(२) हमें घर जाना है।	हमने घर जाना है।

हिन्दी	पूर्वी हिन्दी क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा प्रयोग
(१) हमने यह काम किया।	हम यह काम किये।
(२) हमने कहा।	हम कहे।

§४५—केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा संचालित अखिल भारतीय हिन्दी-शिक्षक-सम्मेलन सन् १९६१ ई० में १९ से २८ दिसम्बर तक श्री वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति से हुआ था। इस सम्मेलन की एक गोष्ठी में एक यह सुझाव भी था कि—"हिन्दी में वचन, क्रिया और लिङ्ग आदि के सम्बन्ध में एकरूपता लाने तथा वैविध्य कम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ ठोस क़दम उठाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी दिये गये हैं। जैसे एकवचन और बहुवचन में सभी संज्ञाओं के रूप आकारान्त तथा ईकारान्त शब्दों को छोड़ कर अपरिवर्तित रहने चाहिए। इसी प्रकार सकर्मक क्रिया में 'ने' का प्रयोग भूतकाल में नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त सुझाव में वचन-सम्बन्धी बात तो हिन्दी भाषा के पण्डितों तथा कर्णधारों को तुरन्त मान लेनी चाहिए क्योंकि इसमें कोई विशेष व्यवधान उपस्थित भी नहीं होता। किन्तु 'ने' का लोप होने पर अनेक स्थलों पर अर्थ-ज्ञापन में गड़बड़ी हो सकती है। मान लीजिए कि भूत काल के उस वाक्य से हमने 'ने' को निकाल दिया—"गोपाल ने एक लड़का देखा।" तो वाक्य का रूप इस प्रकार हो जाएगा—"गोपाल एक लड़का देखा।" इस वाक्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि देखने वाला कौन है और देखा जाने वाला कौन है। इसी प्रकार "साँप नेवला देखा" में कर्ता और कर्म का पता नहीं चल रहा है। हाँ, यदि "साँप बिल्ली देखी" लिखेंगे तो लिङ्ग-भेद से क्रिया-भेद होने के कारण यह अर्थ स्पष्ट हो सकता है कि देखी जाने वाली चीज़ 'बिल्ली' है। कारकीय परसर्ग 'ने' के हटाने पर हिन्दी-वाक्य-रचना में जो उक्त प्रकार की अर्थगत अव्यवस्था उत्पन्न होगी, उस पर भी हिन्दी-भाषा के पण्डितों को शीघ्र विचार करना चाहिए।

§४६—उपर्युक्त विवेचन से यह निर्णय निकलता है कि **का, के, की** हिन्दी भाषा में परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय है और ने आदि कारकीय परसर्ग। ने, **को, से** आदि कारकीय परसर्ग वाक्य में अक्षुण्ण रहते हैं। अर्थात् लिङ्ग, वचन आदि से अप्रभावित; किन्तु **का, के, की** जैसे परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय कुछ अपवादों के बावजूद रूपान्तरित होते रहते हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. श्री गुरु, हिन्दी व्याकरण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४, पृ० २२०।

२. डॉ० वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९४० ई०, पृ० २६३।

३. यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि "राम घर को जाता है" में 'घर' कर्म कारक में है और 'को' कर्मकारकीय परसर्ग है। इसी प्रकार 'राम घर तक जाता है' में 'तक' भी कर्मकारकीय परसर्ग है।

४ हिन्दी में 'राम द्वारा बाण से बालि मारा गया" अथवा राम ने बाण से बालि को

मारा' अर्थ की दृष्टि से अथवा कहिए कर्तृत्व की दृष्टि से इन दोनों वाक्यों में मारा धातु के क्रिया का सम्पादक राम ही है। जो बात संस्कृत में है वही हिन्दी में रहेगी। बालि कर्म है 'मारा' कर्मवाच्य की क्रिया है। 'ताड़का' होती तो 'मारी' क्रिया आती।

५. यदि 'फलों' की अन्तिम ।-ओं। विभक्ति है और भी विभक्ति है तो एक प्रातिपदिक 'फल्' में दो-दो विभक्तियाँ माननी पड़ेंगी जो अवैज्ञानिक है।

६. गॉर्डन एच० फ़ेयर बैङ्क्स, 'हिन्दी में कारक' शीर्षक लेख, धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३, अङ्क १-२, पृ० ८०।

७. ब्रजभाषा में विभक्ति-अस्तित्व संस्कृत की भाँति संश्लिष्टावस्था में भी मिलता है जैसे ब्रज० घरै जा (=घर को जा)। यहाँ 'घरै' (घर+।ऐ।) की 'ऐ' संस्कृत के 'अम्' (गृहम्) की भाँति विभक्ति-प्रत्यय है।

८. सं० कृत > कअ > का। कालिदास-कृत नाटक अथवा कालिदास का नाटक। का, कर, केरि आदि सं० 'कृत' के ही विकसित रूपान्तर हैं—"सुरसरि जल कृत बारुनि जाना; सिय कर सोच जनक पछतावा; सुर-मुनि-लरन केरि कदराई।" (—तुलसी)।

९. इस प्रकार 'ही' के पर्यायवाची गुजराती, सिन्धी आदि भाषाओं में भी मूल शब्द और परसर्गाभास विशेषणीय प्रत्यय के बीच में आते हैं। गुज० ज=ही। सिन्धी ई=ही।

१०. यह पुस्तक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से प्रकाशित है।

११. 'के' हिन्दी में आधारसूचक सम्बन्धीय परसर्ग है क्योंकि एकरूप रहता है।

१२. सङ्कलयिता ला० भगवानदीन 'दीन', सूर-बालकृष्ण, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सन् १९३३, पद संख्या ५।

१३. लड़के=लड़क्+।-ए।—इसमें ।-ए। पुलिङ्ग बहुवचनीय प्रत्यय है। अरबी भाषा में बहुवचनीय प्रत्यय बहिर्वर्ती और अन्तर्वर्ती दोनों प्रकार के हैं। जैसे अ०हाल्—बहु०हालात्=हाल्+। -आत्।; अ० मजमून्—बहु० मजामीन्=म् अ ज् आ म् ई न्। फ़ा० मकानहा (बहु०)।

१४. इस वाक्य का 'घोड़े ने' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार उपकरण कारक है और 'चारा' कर्ता कारक।

१५. 'हरी ने राम के घोड़े को देखा' वाक्य की क्रिया 'देखा' भाववाच्य की है।

१६. इन विशेषणीय प्रत्ययों और परसर्गों को हमें मूल शब्दों से हटा कर ही हिन्दी में लिखना चाहिए क्योंकि ये आदि में स्वतंत्र शब्द ही थे। जैसे सं० कृत > का। सं० मध्य > में। वाक्य में अन्य शब्द के द्वारा पृथक्ता भी सिद्ध हो जाती है। जैसे—'मोहन ही का लड़का'। यदि परसर्गों को मिला कर लिखा जाएगा तो भाषा में वैसी स्पष्टता न रहेगी। जैसे—"ये कल से वहाँ जाएँगे।" कल से=(१) कल से, (२) कलसे अर्थात् कलश। "जल से उठाओ"। जल से= (१) जल से, (२) जलसे अर्थात् उत्सव। बेचारी जानकी खैर मनाती है-(१) जानकी=एक स्त्री का नाम, (२) जान की=प्राणों की।

१७. "लड़का का लड़का मरा और बहू विधवा हुई सो अलग।" "लड़के का लड़का मरा"। दोनों प्रयोगों में 'का' के अर्थ भिन्न हैं।

१८. पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं में कर्ताकारकीय 'ने' परसर्ग नहीं है।

१९. बेटीमन=लड़कियाँ, पुत्रियाँ। बेटामन=पुत्र, लड़के।

२०. मामा का भाई=बँ०, मामार् भाइ। हाथी का सूँड़=बँ० हातीर् शुँड़। नदी का घाट=बँ०, नदीर् घाट। राम का साला=बँ०, रामेर शाला। यहाँ।-एर्। विभक्ति प्रत्यय है।

२१. मेये=लड़की—एकवचन। मेये रा=लड़कियाँ—बहुवचन। बँ०, बाड़ी=मकान—एकवचन। बँ०, बाड़ीगुली=मकान—बहुवचन। यहाँ बहुवचन प्रत्यय।-गुली। है जो बेजानदार वस्तुओं में लगती है। ।ऐरा। प्रत्यय के योग से भी बँगला में प्राणिवाचक बहुवचन बनता है:—

पुं० लड़का—बँ०, छेले। लड़के—बँ०, छेलेरा।

स्त्री० लड़की—बँ०, मेये। लड़कियाँ—मेयेरा।

अप्राणिवाची—पुस्तक—बँ०, बोई। पुस्तकें—बोईगुली।

अप्राणिवाची—फल—बँ०, फल। फल—फलगुली।

२२. 'छ्वाली' के आदि वर्ण की ध्वनि में कुछ-कुछ स्+छ् ध्वनि की संश्लिष्टि है।

२३. ।जाक। और ।बोर। भी बहुवचन-सूचक प्रत्यय हैं—(१) नदी=आसा०, नदी। (२) नदियाँ=आसा०, नदीबोर। बन्दर=कपि। बहुत से बन्दर=आसा०, कपिजाक।

२३. 'मुलगी' का बहुवचन 'मुली' है, और 'मुली' का प्रयोग एकवचन परसर्ग-सहित कर्ता में भी पाया जाता है। 'मुलगी' केवल एकवचन में ही प्रयुक्त होता है। मराठी में कर्ता कारकीय परसर्ग 'नी' से पहले आये हुए 'मुला' से सम्बन्धित प्रत्यय 'च्या' है। हिन्दी 'के' की भाँति विकृत रूप 'चे' परसर्ग-सहित कर्ता कारक में आता है जैसे मोहन चे मुलाऽ(मुला) (=मोहन के लड़के)।

२४. राजस्थानी से प्रभावित गुजराती में एक वचन 'दीकरो'; 'बहुवचन' 'दीकरा', भी मिलता है।

२५. कारकीय परसर्ग-रहित पुंलिङ्ग बहुवचन विशेष्य के पहले जो 'ना' रहता है, उसी तरह परसर्ग-सहित पुंलिङ्ग एकवचन विशेष्य के पहले भी 'ना' रूप रहता है। ब्रजभाषा से तुलना करें तो इस प्रकार की जा सकती है:—

हिन्दी	ब्रजभाषा	गुजराती
का	कौ (पुं०, एकव०)	नो (पुं०, एकव०)
की	की (स्त्री०, एकव०, बहुव०)	नी (स्त्री०, एकव०, बहुव०)
के	के (पुं०, बहुव०, एकव०, परसर्ग-सहित)	ना (पुं०, बहुव०, एकव०, परसर्ग-सहित)

२६. उज्जैन की मालवी में रो, री, रा के स्थान पर को, की, का होता है।

२७. हिन्दी की आकारान्त पुंलिङ्ग एकवचन में संज्ञा मारवाड़ी में औकारान्त होती है। जैसे:—

हिन्दी (पुं०)	मारवाड़ी (पुं०)
एकवचन—घोड़ा	एकवचन—घोड़ौ

बहुवचन--घोड़े बहुवचन--घोड़ा घोड़ा।

हिन्दी (स्त्री०) मारवाड़ी (स्त्री०)

एकवचन--लड़की का धन=मार० एकवचन--छोरी रो धन।

बहुवचन--लड़कियों के रुपये=मार० बहुवचन--छोरियाँ रा रिपिया, रिपियाँ।

२८. खुरपौ, पामरौ, बड़ौ, छोटौ आदि ब्रजभाषा के शब्द हैं जो औकारान्त है। छोरा, गधा, घोड़ा आदि आकारान्त हैं। ब्रजभाषा में दोनों प्रवृत्तियाँ हैं।

२९. मोहन की लड़कियाँ=पहाड़ी, मोहन क चेली।

मोहन की लड़कियों ने=पहाड़ी, मोहन क चेली लें।

३०. मोहन की लड़कियाँ=सिन्धी, मोहन जियुं धीअर। प० मोहन दीआँ कुड़ीआँ।

३१. सिन्धी में कर्ताकारकीय विशेष्य के रूप---लड़का (एकवचन)=सिन्धी, पुट्ट, छोकरो; लड़के (बहुवचन)=सिन्धी पुट्ट, छोकरा; लड़की (एकवचन)=सिन्धी धीअ, छोकरी; लड़कियाँ (बहुवचन)=सिन्धी धीअर, छोकरियुं; लड़कों ने (बहुवचन)=सिन्धी पुट्टन, छोकरन; लड़कियों ने (बहुवचन)=सिन्धी धीअरन, छोकरिन।

३२. 'कुड़ी' (=लड़की) का बहुवचन 'कुड़ीआँ' (=लड़कियाँ) होता है।

३३. मोहन दीआँ कुड़ीआँ=मोहन की लड़कियाँ। पुत्र के अर्थ में पञ्जाबी में 'पुत्तर' और पुत्री के अर्थ में 'ती' शब्द चलता है, जो मूलतः संस्कृत में 'पुत्र' और 'दुहिता' थे। हिन्दी-शब्दों की बाह्य-प्रयत्नोद्भूत महाप्राण घोष ध्वनि पञ्जाबी-शब्दों में अल्पप्राण अघोष बोली जाती है, जैसे हिं० घर्--पं० कर; हिं० झाड़ू--पं० चाड़ू। हिं० ढोल्---पं० टोल। हिं० धन्---पं० तन। हिं० भाई---पं० पाई। मुख्यतः यह प्रवृत्ति पूर्वी पञ्जाबी की है। अतः धी > ती।

३४. कर्ता के लिङ्ग-वचन का प्रभाव मलयालम् में क्रिया पर नहीं पड़ता--(१) आण् कुट्टी पोयी (=लड़का गया), (२) पेण् कुट्टी पोयी (=लड़की गयी), (३) आण् कुट्टीकळ् पोयी (=लड़के गये), (४) पेण् कुट्टीकळ पोयी (=लड़कियाँ गयीं)।

मलयालम् भाषा में 'कुट्टी' उभयलिङ्गीय शब्द है। पुंसूचक शब्द 'आण्' और स्त्रीसूचक शब्द 'पेण्' है। इनके पूर्व-योग से स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्ग शब्द बनते हैं। अतः 'लड़का' के लिए 'आणकुट्टी' और 'लड़की' के लिए 'पेण् कुट्टी' शब्द हैं। बहुवचनीय प्रत्यय।--कळ्। है। उदाहरणः---

एक वचन	बहुवचन
आण् कुट्टी (=लड़का)	आण् कुट्टीकळ् (=लड़के)
पेण् कुट्टी (=लड़की)	पेण् कुट्टीकळ् (लड़कियाँ)

३५. तमिल भाषा की क्रियाएँ हिन्दी की ही भाँति कर्ता के लिङ्ग और वचन से प्रभावित होती हैं। जैसेः---

(१) लड़का रोटी खाता है=मकन् रोट्टी चाप्पिटुकिरान्।

(२) लड़के रोटी खाते हैं=मकन्कळ् रोट्टी चाप्पिटुकिरार्कळ्।

(३) लड़की रोटी खाती है=मकळ् रोट्टी चाप्पिटुकिराळ्।

४ लड़कियाँ रोटी खाती हैं रोट्टी

३६. संस्कृत में जिस प्रकार 'पुत्रः' विसर्गान्त है और प्रथमा विभक्ति का द्योतक है, ठीक उसी प्रकार तेलुगु के पद उकारान्त हैं। प्राकृत में भी ऐसी उकारान्तता की प्रवृत्ति मिलती है, विशेषतः अपभ्रंश में। सं० दशमुखः+ अप० दहमुहु (दे० हेमचन्द्र, अपभ्रंश का व्याकरण, ८।४।३३१)।

३७. कूतुरु (बेटी)—एकवचन। कूतुण्ड्रु (बेटियाँ)—बहुवचन।

३८. कोडुकु (बेटा)—एकवचन। कोडुकुलु (बेटे)—बहुवचन।

३९. 'माता-पिता' की भाँति तेलुगु में स्वतन्त्र लिङ्गसूचक समस्त शब्द भी हैं; जैसे,
तेलुगु तल्लि (=माता); तल्लुलु (माताएँ)
तण्ड्रि (=पिता)। तल्लि-तण्ड्रि=माता-पिता।

४०. 'मोहनस्य पुत्रः एव' शुद्ध प्रयोग है। कन्नड़ में 'मोहनन हुडुग मात्र' शुद्ध है। 'मोहनन मगनु मात्र' भी प्रयोग है।

४१. मोहन जा पुट्ट्र=मोहन के लड़के। मोहनँ जो पुट्ट्र=मोहन का लड़का।

४२. द्रविड़ परिवार की भाषाओं में संस्कृत की भाँति शब्द का अन्तिम स्वर 'अ' उच्चरित होता है।

डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

प्राचीन राजस्थानी कहानियाँ

राजस्थान के प्राचीन लोक-प्रचलित कथा-साहित्य के रूपों, उसके विषय तथा आधुनिक कथा-साहित्य के साथ उसके शिल्पगत भेद की विवेचना

प्राचीन राजस्थानी साहित्य में कहानी के लिए 'वात',[१] 'वारता',[२] 'कथा'[३] और 'कहाणी'[४] शब्दों का प्रयोग होता रहा है। इनमें भी 'वात' का व्यवहार सबसे अधिक हुआ है। यह 'वात' शब्द स्पष्ट ही संस्कृत 'वार्ता' से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस शब्द का व्यवहार कभी-कभी ख्यात[५] और विगत[६] के लिए भी किया गया है जिससे कि इसकी व्यापकता और अर्थ-विस्तार का सहज बोध होता है। कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि राजस्थानी में गद्य-साहित्य की प्राचीन, सुनिश्चित, प्रौढ़ और विकसित परम्प है। वात, ख्यात, विगत, वचनिका, वंशावली आदि विविध रूपों मे राजस्थानी ग उपलब्ध होता है। खड़ीबोली हिन्दी का गद्य-साहित्य राजस्थानी-गद्य-साहित्य की अपेक्षाकृत आधुनिक है। आवश्यकता इस बात की है कि राजस्थानी के गद्य-साहित्य सम्भव शीघ्र प्रकाश में लाया जाय। इस कार्य के सम्पन्न होने पर हिन्दी-गद्य की प्राचीन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकेगा—इसमे सन्देह नहीं।

हिन्दी साहित्य में कहानियों का सूत्रपात द्विवेदी-युग (सन् १९०२—१९ से माना जाता है तथा उसे बँगला कहानी-साहित्य के माध्यम से पाश्चात्य कहानियों की प्रेरणा और प्रभाव का प्रतिफलन समझा जाता है। किन्तु राजस्थानी कहानी-साहित्य पर इस प्रकार का कोई विदेशी प्रभाव नहीं है। वह विशुद्ध रूप से भारतीय वातावरण की उपज है। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से पल्लवित और पुष्पित है।

राजस्थानी कहानियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जब से राजस्थानी बोलियो का जन्म हुआ उसी

समय के आसपास से राजस्थानी कहानियों का प्रादुर्भाव भी होगा। लेकिन राजस्थानी कहानियों के उद्भव की कोई तिथि मान लेना वैज्ञानिक न होगा। कारण यह है कि राजस्थानी में प्राप्य कहानियाँ जनता की साहित्य-निधि है। अनुमानतः ये कहानियाँ मौखिक रूप से अन्तरित होती रही और कहानी की रचना-तिथि रचयिता के साथ-साथ विस्मृत कर दी गयी। किसी समय किसी सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति ने कहानी का गठबन्धन लिपि के साथ कर दिया। कहा नहीं जा सकता कि इस प्रक्रिया में कितनी कहानियों की भाँवरें पड़ीं, कितनी उनमे घर-गृहस्थ हो सकीं, उनमें से कितनी का साहित्य-जगत् में स्थान बन सका, और कितनी कहानिया बिना गाये-बजाये ही इस पार्थिव जगत् से विदा हो गयी।

राजस्थानी का अधिकांश गद्य-साहित्य कहानियों (वातां) के माध्यम से अथवा कहानी की शैली में अभिव्यक्त हुआ है। राजस्थान के इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थों को ख्यात, विगत तथा वशावली कहा जाता है, लेकिन उन ग्रन्थों की शैली को दृष्टि में रखते हुए यह कहना कि वे एक प्रकार की कहानियों के ही सङ्कलन-ग्रन्थ हैं, अनुपयुक्त अथवा असङ्गत न होगा। कहानी से उनको पृथक् करने वाली इतिहास-ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता उनका इतिवृत्तात्मक होना है।

राजस्थानी कथा-साहित्य गद्य, पद्य और चम्पू (गद्य-पद्य का मिश्रण)---तीनों ही रूपो मे मिलता है। गद्य में प्राप्य वात-साहित्य की मात्रा इतनी प्रभूत है तथा उसमें इतनी अधिक विविधता है कि वह स्वतन्त्र रूप से शोध का विषय हो सकता है। अपने निजी अनुभव के आधार पर लेखक यह कहना चाहता है कि राजस्थान के विभिन्न पुस्तकालयों में लब्ध कहानियों की संख्या चार अङ्कों से कम में न होगी।

राजस्थान को वीरभूमि (Land of chivalry) कहा जाता है। अतः यह सहज ही अनुमान होता है कि वीरता ही कहानियों का प्रमुख विषय होगी। यह बात बहुत अंशो में सत्य भी है। राजस्थान के विविध ग्रन्थागारों में बिखरे हुए कहानी-साहित्य पर विहङ्गम-दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि अनुमानतः पचास प्रतिशत कहानियाँ वीरता और साहस से सम्बन्धित है। 'पाबू जी री बात', 'जैतसी ऊदावत', 'जपडा मुषड़ा भाटी री वात', 'कहवाट सरवहियो', 'वीरमदे सोनगरा री वात', 'जगमाल मालावत' और 'जगदेव पँवार' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की है। कहानियों के इन शीर्षकों को देखने से निष्कर्ष यह निकलता है कि इनका नामकरण सामान्यत चरित्रों अर्थात् प्रधान पात्रों के नामों पर आधारित है। इन कहानियों के अन्तर्गत आने वाले पात्र प्रायः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। राजस्थानी कहानियों में कथात्मकता प्रधान रूप से मिलती है। कथात्मकता के माध्यम से चरित्र, घटना, कार्य, वातावरण आदि का अनावरण किया गया है।

राजस्थानी कहानियों में युद्ध, दान, दया आदि सभी श्रेणी के वीरों का उल्लेख मिलता है किन्तु इनमें सबसे अधिक और बहुचर्चित युद्धवीर ही है। साहसिक और वीरतापूर्ण कहानियों के अलावा चमत्कारपूर्ण, तिलस्मी, हास्य और व्यंग्य-प्रधान, अद्भुत, भयानक, प्रेम-प्रधान आदि अनेक प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। इन कहानियों का सम्बन्ध स्थावर-जङ्गम, पशु-पक्षी और मनुष्य सभी से है तथा इनमें कल्पना, उपदेश, यथार्थ, आदर्श और मनोवैज्ञानिकता आदि का सन्निवेश मिलता है। लेकिन इन गुणों के बावजूद इन कहानियों का स्वरूप प्राचीन ही है आधुनिक कहानियो की भाँति इनमे विविध तत्त्वो के विकसित रूप का अभाव है आज

की कहानी के स्वरूप, गठन और तत्त्वों को प्राचीन राजस्थानी कहानियों में खोजना असङ्गत है और आधुनिक कहानी-शिल्प के आधार पर राजस्थानी कहानियों की समालोचना करना भी उचित नहीं है। उनमें मनोवैज्ञानिकता, चरित्र-चित्रण, संवेदना, आकर्षक संवाद आदि का सम्यक् विकसित रूप यदि आधुनिक समीक्षक को न मिले तो आश्चर्य नहीं। राजस्थानी कहानियों में आज के बुद्धिवादी मनुष्य को यदि मर्मस्पर्शिता की क्षमता न दिखायी दे तो शिकायत करने की आवश्यकता नहीं। लेकिन इन कहानियों में कल्पना का वैभव, बाह्य चित्रों के अङ्कन का कौशल, मनोरञ्जकता, रसात्मकता जैसे उपादान अवश्य मिल सकेंगे।

राजस्थानी कहानियों के रचयिताओं के विषय में सबसे जटिल समस्या है उनका ज्ञात न होना। राजस्थानी पुस्तकालयों में प्राप्य कहानियाँ जन-साधारण में प्रचलित कहानियाँ हैं जो मौखिक परम्परा में चलते-चलते किसी समय (सम्भवतः पिछले ३०० वर्षों के बीच) लिपिबद्ध कर ली गयीं। इनमें कथनीय तत्त्व ही प्रमुख है, पठनीय नहीं। यह एक विलक्षण तत्त्व है जो राजस्थानी कहानियों को आधुनिक कहानियों से पृथक् कोटि में रखने में सक्षम है। कहना न होगा कि आधुनिक काल में पायी जाने वाली कहानियाँ स्वरूप, गठन और कलात्मकता आदि की दृष्टि से पढ़ने की वस्तु अधिक रह गयी है, कहने की कम। आधुनिक हिन्दी कहानियों में सम्भवतः यह बात पाश्चात्य कहानी-साहित्य के प्रभाव के कारण आयी है। यदि केवल इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कहानी-साहित्य पर विचार किया जाय तो उसे स्वाभाविक की अपेक्षा कृत्रिम कहना अधिक न्यायसङ्गत होगा। जैसे मौखिक परम्परा से चली आती हुई राजस्थानी कहानियों के रचयिता अज्ञात हैं, वैसे ही इनकी रचना का समय भी सन्दिग्ध है। इनमें कुछ कहानियों के साथ तिथियाँ अवश्य मिलती हैं; किन्तु उनके सम्बन्ध में भी निश्चयात्मक ढङ्ग से यह कह पाना कि वे प्रामाणिक रचना-काल है, न्यायोचित नहीं प्रतीत होता है। कुछ ऐसी कहानियों के नाम जिनके साथ समय मिलते हैं, इस प्रकार हैं:—

सुदवुद सालिङ्गा री वात (वि० सं० १८८०), **चन्दकुवर री वात** (वि० सं० १८००), **पलक दरियाव री वात** (वि० सं० १९३७), **राजा रिसालू री वार्ता** (वि० सं० १८६० और १८९२), **शशिपभा री वात** (वि० सं० १८३२), **चौबोली री बात** (वि० सं० १८३२)[७] आदि।

वीरता-सम्बन्धी कहानियों द्वारा सामान्य रूप से राजपूतों के जातीय चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और उनमें राजपूतों के शौर्य और पराक्रम का वर्णन प्रचुरता के साथ मिलता है। वीर राजपूत नरेशों, सामन्तों तथा अन्य उच्च वर्ग के व्यक्तियों के जीवन-सम्बन्धी इतिवृत्तों को कहीं यथातथ्य और कहीं अतिरञ्जना के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की कहानियों का कथा-सूत्र शौर्य, साहस, वीरता और उत्साह आदि रहा है। राजपूतों की आदर्श वीरता, विलक्षण रण-कुशलता, आन की शान के लिए प्राणोत्सर्ग कर देना, आत्माभिमान और आत्मगौरव की सुरक्षा, शरणागत-वत्सलता, प्रजा-पालन, स्वामिभक्ति, नारियों का सतीत्व और पतिपरायणता तथा दानवीरता आदि की परिचायक कहानियाँ संख्या में सबसे अधिक हैं। 'जगदेव पँवार'[८] कहानी में जगदेव बहुविवाह की प्रथा के परिणामस्वरूप विमाता के अत्याचारों का शिकार होता है। विवश हो कर वह सपत्नीक राजमहल छोड़ कर जीविकोपार्जन के निमित्त चल पड़ता है। वह सिंह, सिंहनी और मर्कं नामक व्यक्ति को मार कर वीरता की परीक्षा में उत्तीण होता है चामुण्डा

अथवा चण्डी दुर्गा द्वारा दानशीलता की परीक्षा लिये जाने पर वह अपना सिर काट कर प्रदान कर देता है। जगदेव के समान ही उसकी पत्नी चावड़ी जाम्बवन्ती नामक वेश्या के जाल में फँस जाने पर उसके सतीत्व को नष्ट करने की चेष्टा करने वाले शहर कोतवाल के दुराचारी नवयुवक पुत्र लालकुँवर की हत्या कर अपने धैर्य, पराक्रम और विचक्षण बुद्धि का परिचय देती है। 'जगमाल मालावत'[९] कहानी में महेवा के रावल मलीनाथ के पुत्र कुँवर जगमाल की वीरता और उत्साह का उल्लेख मिलता है। जगमाल ने हाथीखाँन पठान के द्वारा मारे गये तेजसी तूँवर की पुत्री से विवाह कर तेजसी तूँवर तथा उसके तीन सौ राजपूत सैनिकों को मोक्ष प्राप्त करने में सहायता प्रदान किया और उनकी भूतात्माओं की सहायता से अहमदाबाद के बादशाह महमद बेग और उसके उमराव हाथीखाँन को पराजित कर और महमदबेग की कन्या गीदोली को हस्तगत कर अपमान और तेजसी तूँवर की पराजय का प्रतिकार किया।

साहस और वीरता के अतिरिक्त प्रेम, नीति, धर्म, भक्ति, चमत्कार, बहुविवाह, सौतिया डाह, प्रतिज्ञा-पालन, सत्यवादिता, अफीम-सेवन की कुरीति आदि विविध विषयों से सम्बद्ध सामाजिक कहानियाँ भी मिलती हैं। विविध कथा-प्रसङ्गों के साथ अस्वाभाविक, अमानवीय, अभौतिक, अतिभौतिक और अतिप्राकृतिक शक्तियों और सत्ताओं की अवतारणा स्थान-स्थान पर मिलती है। इनसे मध्ययुगीन अन्धविश्वासों से आपूरित वातावरण पर प्रकाश पड़ता है। उड़न खटोला, उड़नेवाला घोड़ा, वार्तालाप करने वाले मनुष्यों की भाँति चतुर पशु-पक्षी, भूत-प्रेत, देव, राक्षस, वैताल, परी और अप्सरा आदि का समावेश कथा-प्रसङ्गों की रोचकता, आकर्षण, कुतूहल और सौन्दर्य की अभिवृद्धि में विशेषतया सहायक हो सके हैं। वस्तु के मङ्गुम्फन में इस प्रकार के अलौकिक तत्त्वों से युक्त कथा-सन्दर्भों का सन्निवेश अधिकांश कहानियों में विशेष रूप से लक्षणीय है।

कथावस्तु के सङ्गठन की दृष्टि से बानगी के रूप में 'राणी चौबोली री वात'[१०] का उल्लेख करना रोचक होगा। इसका सम्बन्ध उज्जैन के राजा भोज से है जो कि मध्यकालीन कहानियों का सुपरिचित प्रधान चरित्र रहा है। राजा भोज के चार मित्र—आगियौ वेताल, कवडियौ जुवारी, माणिकदे मदवाँण और खापरौ चोर थे। राजा भोज पन्द्रहवीं विद्या सीखना चाहता था। इसके लिए चारों मित्रों ने राजा भोज से प्रतिज्ञा करायी कि यदि रानी भानुमती उससे कोई बात पूछे तो वह उन्हें इनकार नहीं करेगा और यदि इनकार कर भी देगा तो फिर कहेगा नहीं तथा स्वयं वे वराही देवी की आराधना करने लगे।

राजा भोज एक दिन भोजन कर रहा था। रानी पास में बैठी मक्खियाँ उड़ा रही थी। दो चींटियाँ एक चावल के लिए लड़ गयीं। भोज उनकी बातचीत सुन कर हँस पड़ा। रानी ने हँसने का कारण पूछा तो राजा ने बताने से इनकार कर दिया। रानी रूठ गयी। विवश हो कर राजा ने गंगा-तट पर रानी को हँसने का कारण बताने का वायदा कर मनाया। सिंहकर नगर के पास एक नदी-तट पर राजा ने पड़ाव डाला। वहाँ एक बकरा, बकरी से कह रहा था—'म्हारी अकल राजा भोज मिली नहीं है। बाइररै[११] कहीयै मरण नुँ जाइ छै। सिर साबत तौ व्याह घणा।' भोज को लगा कि बकरे ने उसका भेद जान लिया। डेरे में पहुँचने पर रानी ने आक्षेप किया कि 'बीमाह करौ तो चौबोली परिणीजिस्यौ ज्यु हुई जाणु सोक आई किसी रहस्य के न बताये जाने

पर प्राय स्त्रिया यही समझ बठता है कि उनका पति अपर स्त्री मे अनरक्त है राजा को रानी की यह अवज्ञा अच्छी न लगा। वह घाड़ पर सवार हो कर सबको सोता छोड़ चल दिया।

राजा भोज मार्ग में एक राक्षस-राक्षसी के पास पहुँचा। राक्षस सो रहा था। राक्षसी ने राजा को स्वर्ण-मक्खी बना कर अपने केशपाश में छिपा लिया। विषम परिस्थिति में पड़ कर राजा ने अपने मित्रों का स्मरण किया। चारों मित्र आ पहुँचे। खापरा चोर ने राक्षसी की आँखो मे काजल डाल कर उसे मूर्छित किया और राजा को मुक्त किया। राजा ने उन्हे चौबोली से विवाह करने की इच्छा बतायी।

पाँचों व्यक्ति चौबोली राजकुमारी के नगर में पहुँच कर एक माली के यहाँ ठहरे। उन्हे वहा ज्ञात हुआ कि 'जे राति चौबोली न बोलै तौ परभात हुवै आगाँ पाँणी ढोवावै छै।' पाचो व्यक्तियों ने मन्त्रणा की। तदुपरान्त राजा चौबोली को बुलवाने के लिए राजाज्ञा ले कर उसके पास एक परदे की ओट में बैठा। उसके चारों साथी मक्खियो का रूप बना कर चौबोली के इर्द-गिर्द बैठे। राजा भोज ने रात्रि के तीन प्रहरों में क्रमशः एक-एक कहानी कही। कबड़िया जुवारी माणिकदे मदवाण, अगिया बैताल और खापरा चोर ने बारी-बारी से हुँकारी भरी। कहानियो की रोचकता के कारण बाध्य हो कर चौबोली चार बार बोली।

पहले उपाख्यान में राजा भोज ने बताया कि ब्राह्मण, कारीगर, दर्जी और सोनार के चार लड़के परदेश गये। मार्ग में रात हो गयी और वे एक जङ्गल में ठहर गये। कारीगर लडके ने एक पुतली बनायी, दर्जी लड़के ने उसके लिए कपड़े बनाये। सोनार लड़के ने उसे गहने गढ कर पहनाये। ब्राह्मण लड़के ने उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। तदनन्तर वे उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए झगड़ने लगे। समस्या थी कि वह किसकी पत्नी हो। मञ्च के ऊपर बैठे हुए मक्खी-रूपी जुवारी ने कहा, 'जिसने कपड़े पहनाये।' चौबोली को यह बात रुची नहीं और हठात् उसने कहा, 'जिसने गहने पहनाये, पुतली उसकी स्त्री हुई।'

दूसरे उपाख्यान में राजा ने कहा कि एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या के व्याह के लिए चार स्थानों को टीका भेजा और चारों जगहों से बारातें आ गयीं। कन्या ने चन्दन की चिता बनवायी और घोषणा की कि जो उसके साथ विवाह करना चाहे वह उसके साथ चितारोहण करे। उनमें एक ने चिता पर कन्या का पाणिग्रहण किया और कन्या के साथ जल मरा। दुःख-कातर हो कर दूसरा व्यक्ति परदेश चला गया। तीसरा श्मशान में ही रहने लगा और चौथा एक तान्त्रिक का चेला हो गया। तान्त्रिक से एक अद्भुत गुणवाली लकड़ी प्राप्त कर तीन-चार माह बाद वह श्मशान मे आया और जहाँ ब्राह्मण-कन्या सती हुई थी, वहीं लकड़ी स्पर्श करा दी। ब्राह्मणी और पहला व्यक्ति जीवित हो गये। चारों में झगड़ा होने लगा कि वह किसकी परिणीता हो। झारी (पात्र-विशेष) पर बैठे मक्खी-रूपी माणिकदे मदवाण ने उत्तर दिया, 'जिसने श्मशान का सेवन किया।' चौबोली ने पुनः अपना मन्तव्य कह दिया, 'वह व्यक्ति जिसने चितापर उसका पाणिग्रहण किया।'

तीसरे उपाख्यान के अनुसार एक राजकुमारी के दो बालसखा थे—एक मन्त्री-पुत्र था और दूसरा ब्राह्मण-पुत्र। मन्त्री-पुत्र वयस्क हो कर पढ़-लिख कर होशियार हुआ और ब्राह्मण-पुत्र मूर्ख रह गया। राजकुमारी ने मन्त्री-पुत्र के साथ भागने की योजना बनायी। रात को राज-कुमारी ने ब्राह्मण-पुत्र को मन्त्री-पुत्र के पास यह कहने को भेजा कि मन्त्री-पुत्र शीघ्र आवे रूप

और प्रेम का पुजारी मूर्ख ब्राह्मण-पुत्र अस्त-व्यस्त मानसिक अवस्था में मन्त्री-पुत्र से राजकुमारी का सन्देश देने जा रहा था कि मार्ग में उसे देवी शारदा मिल गयी। शारदा की कृपा से मूर्ख त्रिलोकदर्शी हो गया। वह मन्त्री-पुत्र के पास न जा कर सीधे मन्त्री के पास चला गया और उससे राजकुमारी के साथ उसके पुत्र के भागने की गुप्त योजना बतला दी। मन्त्री ने ब्राह्मण-पुत्र को ही सुसज्जित करा कर हथियार और मोहरें दे कर कहा कि वह राजकुमारी को ले कर भाग जाये। भागने की उतावली और रात्रि के वातावरण में अनजाने में राजकुमारी ब्राह्मण-पुत्र के साथ चल पड़ी। रात भर दोनों चलते रहे। कोई किसी से कुछ न बोला। प्रातःकाल राजकुमारी को जब अपनी भूल मालूम हुई तो उसके पास ब्राह्मण-पुत्र के साथ रहने के अलावा और कोई मार्ग न था। ब्राह्मण-पुत्र ने राजकुमारी को आश्वस्त किया कि अब वह मूर्ख नहीं रहा। एक बार, जिस नगर में ब्राह्मण-पुत्र और राजकुमारी ठहरे थे, वहाँ एक कीर्ति-स्तम्भ के आलेख को पढ़ देने के कारण ब्राह्मण-पुत्र को राजा के द्वारा विशेष सम्मान मिला। तब से वह रत्न-पारखी का काम करने लगा। ब्राह्मण-पुत्र की बढ़ती हुई ख्याति को देख कर राजकुमारी ने उसे अपने अङ्कुश में रखने के लिए एक सिद्ध से कह कर एक रखैनी बनवायी जिसकी सहायता से वह जब चाहती तब उसे पक्षी बना लेती और जब चाहती आदमी बना लेती। एक दिन शुक-रूप में ब्राह्मण-पुत्र उडा और शहर के राजा की कन्या पञ्चकली से जा मिला जो चम्पे की कलियों से तौली जाती थी। पञ्चकली ने उसे पकड़ लिया और ज्यों ही रखैनी छुड़ायी, वह सुन्दर युवक हो गया। इस रहस्य को जान कर पञ्चकली ने उसे अपने पास रख लिया। रात में वह उसे मनुष्य बना लेती और दिन में शुक। इस प्रकार पञ्चकली पथ-भ्रष्ट हो गयी। एक दिन मालिन ने देखा कि पञ्चकली का भार पुष्पों से अधिक हो गया। उसने इस बात की सूचना राजा को दी। राजा ने इस भेद को ज्ञात करने के लिए नगर-नायिका को राज-प्रासाद में छिपा कर बैठा दिया। पञ्चकली ने रात को जैसे ही शुक को नवयुवक बनाया, नगर-नायिका चोर-चोर कह कर चिल्ला पड़ी। घबरा कर ब्राह्मण-पुत्र राज-प्रासाद से लगे हुए साहूकार के घर में कूद पड़ा। शरणागत की रक्षा के लिए साहूकार ने उसे अपने बड़े पुत्र की कन्या के साथ सुला दिया। दूसरे दिन साहूकार की पोती के आग्रह पर उसके साथ उस ब्राह्मण पुत्र की शादी कर दी गयी। अन्त में राजकुमारी, पञ्चकली और साहूकार की पोती में झगडा हुआ। प्रश्न यह था कि वह किसका पति हो। दीपक पर मक्खी-रूप में बैठे हुए अगिया बैताल ने कहा, 'जिका ले नीसरी तीयै रौ भरतार।' चौबोली ने क्रोध में आ कर कहा, 'जीयै रौ जीवै मारीजतौ राखीयौ। साह री बेटी रौ भरतार।'

चौथे प्रहर में खापरा चोर के राजा भोज को 'चौबोली रा भरतार' सम्बोधन करने से बोल देना पड़ा। चौबोली की शर्त पूरी हो गयी। राजा भोज के साथ उसका विवाह सम्पन्न हो गया। राजा भोज की रानी भानमती ने जो व्यंग्य किया था, उसे भोज ने चौबोली से विवाह कर कुण्ठित कर दिया। भानमती ने भी राजा के बुद्धि-वैभव के समक्ष अपना सिर झुका दिया और चौबोली का स्वागत करते हुए राजा को बधाई दी।

'राणी चौबोली री वात' के इस विस्तृत कथावस्तु को प्रस्तुत करने के उपरान्त सम्भवत यह उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रहती कि कहानी या गल्प की दो अनिवार्य आवश्यकताएँ, जिज्ञासा अथवा कुतूहल और इसमे पूर्णरूप से चरितार्थ हैं यह बात

समस्त राजस्थानी कहानियों के बारे में सच है . आधिकारिक अथवा मुख्य कथावस्तु मे प्रासङ्गिक अथवा गौण कथा-प्रसङ्गों का सफल उपयोग मणि-काञ्चन-संयोग के सदृश किया गया है। मूल कथानक तो अत्यन्त संक्षिप्त, स्पष्ट और सरल है। रानी भानमती राजा भोज से चौबोली राजकुमारी को ब्याहने की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति कर उसके सामर्थ्य और बुद्धिमत्ता को चुनौती देती है। राजा व्यंग्य को कार्यान्वित कर रानी का मुँह बन्द कर देता है। राजा भोज की बुद्धिमत्ता प्रख्यात रही है जिसे प्रधान कथा-सूत्र के रूप मे ग्रहण कर अनेक उत्पाद्य कथा-प्रसङ्गों से परिपुष्ट कर मिश्रित कथावस्तु का निर्माण किया गया है।

इन कहानियों के श्रोता-वर्ग को लोक-प्रचलित राजाओं तथा शूर-वीरों की वीरता, प्रेम, न्याय, विद्या, वैराग्य आदि मे अखण्ड विश्वास था। उसे ऐसी वार्ताओं में पूर्ण निष्ठा एवं आस्था थी। वह संशय से परे हो कर इन कहानियों को सुनता था। इन कहानियों में प्राप्य अतिरञ्जित, अतिशयोक्तिपूर्ण और अस्वाभाविक वर्णनों पर स्वप्न मे भी उसे अविश्वास नहीं होता था। कथाकार अप्रत्याशित घटनाओं और संयोगों के सूत्र जोड़-जोड़ कर मानव और बाह्य प्रकृति का चित्रण करते हुए कहानी की संरचना करता जाता था। मनुष्य को वह देवता, दानव, राक्षस आदि अतिप्राकृत और अतिभौतिक सत्ताओं एवं नियति-नटी के हाथों की कठपुतली समझता था। सामान्य मान्यता के अनुसार वे जैसे उसे नचाते थे, वैसे ही वह नाचता था। श्रोता-वर्ग को वैचारिक स्वतन्त्रता न थी और न ही कहानी के परिप्रेक्ष्य में उसकी भावना का कोई महत्त्व था।

कहानी का प्रारम्भ विना किसी भूमिका के हुआ करता था। प्रारम्भ के साथ ही आकस्मिक और आकर्षक-घटना प्रसङ्ग द्वारा उत्सुकता का सृजन कर कहानी का प्रवेश करा दिया जाता था। वह विलक्षण घटना श्रोता को ऐसा मन्त्रमुग्ध करती थी कि वह कहानी को बिना अन्त तक सुने उठने का नाम भी न लेता था। 'वात राजा मानधाता री' का प्रारम्भ देखिए:—

"राजा युवनाश्वर राजा अजैपाल री बहिन परिणीथौ। राजा युवनाश्वर बडो राजा बडी राजधानी। राजा युवनाश्वर रै पुत्र नहीं। तीयै करि राजा सचींत रहै। ताहराँ राजा रिखीश्वरां री सेवा करै। एक दिन रिषीश्वर महिरबान हूँवा छै। राजा नुं सन्तुष्ट हुइ नै पाणी मन्त्र दीयौ छै। कह्यौ राजा औ पाणी राणी नुं पाए थारै पुत्र हुसी। ताहराँ हरषित हूवौ छै। राजा नुँ बात बीसारि गई। इतरो कहाडीयो नही जु पाणी राणी पाज्यो। जाहराँ प्यालो पाणी रो आदमी जाइ रॉणी नुँ दीयौ। राणी पाणी रो प्यालो कलस ऊपर मेल्हाइनै ढकाइनै रखायौ दीठौ राजा वह वस्तै मेल्हीयौ छै सु आपै कहिसी। राजा राति महला माँहि पधारीया छै। पौढीया छै। जाहरा आधी राति तिस लागी छै जाहराँ राजा कह्यौ गङ्गाजल ल्याव। ताहराँ सहेलीयाँ पाणी रो प्यालो ढाँकीयौ दीठौ सु पाणी ले आई। सु पाणी राजा पीयौ।[11]"

इस आरम्भ के पश्चात् वस्तु के विकास में अनेक मोड़ मिलते हैं जिनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय ये है—राजा युवनाश्वर का पेट फाड़ कर मानधाता का जन्म लेना और राजा की मृत्यु, द्वादश-वर्षीय मानधाता का मामियों के कहने में आ कर अजयपाल से उनके नि.श्वास छोडने का कारण पूछना, लकड़ी का मानधाता को ले कर उड़ जाना और सात समुद्र पार तपस्वियों के पास छोड़ना, तपस्वियों की खड़ाऊँ का मानधाता को ले कर उड़ना और अप्सराओं के महल के निकट सुमेरु पर्वत पर उतारना एक अप्सरा का मानधाता को वरमाला पहना कर विवाह करना

गरुड़पङ्ख का मानधाता को इन्द्र के अखाड़े में ले जा कर भगवान् के दर्शन कराना, मोर का मानधाता को पाताल आदि सातों लोक दिखलाना, घोड़े का मानधाता को पृथ्वी-लोक की प्रदक्षिणा कराना, गधे का मानधाता को अजयपाल से पुनः मिलवा देना और मानधाता का स्वयं निःश्वास छोडने लगना।

इस कहानी का अन्त इन शब्दो के साथ होता है, जो कहानी के सुखान्त होने का सङ्केत करता है—'ताहरा राजा अजैपाल मानधाता नुं राज देनै आप तपस्या करणै गयौ। राजा मानधाता बड़ो राजा हुवौ। चकवै (चक्रवर्ती) कहाणौ। वड़ी साहिबी हुई।'[67]

राजस्थानी कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से बूढ़ी दादी अथवा नाना द्वारा कही-सुनी कहानियों की बरवस याद दिलाती हैं। कुतूहल इन कहानियों का प्राण-तत्त्व है जिसका उपयोग इन कहानियों में पूर्ण सफलता के साथ हुआ है। यों तो आज का बौद्धिक पाठक इन कहानियों को पढने के बाद यही कहेगा कि कहानियाँ बचकानी-सी हैं, क्योंकि इनमें अमानवीय तत्त्वों के समाहरण के कारण अस्वाभाविक वातावरण का सृजन हो जाता है जो बुद्धिवादी पाठक के लिए अरुचिकर होगा, किन्तु इन कहानियो में शिल्पगत समग्र आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। कथानक के सङ्घटन मे जिज्ञासा, विस्मय, कुतूहल, भावनाओं के आरोह-अवरोह, अनुभूतियों की विविधता, कल्पना की सरसता और सम्पन्नता, आशा-निराशा, मान-अपमान, प्रेम-कलह, रूठना-मनाना और नाटकीयता प्रभृति विविध स्थितियों का सम्यक् निर्वाह हुआ है। इन अनेकानेक शिल्पगत विशेषताओ के कारण चरित्र, वातावरण और प्रभाव आदि का स्वयमेव विधान हो गया है, भावाभिव्यञ्जन को शक्ति मिल गयी है, कहानियों की कलात्मकता निखर आयी है तथा युगानुकूल मानव-मूल्यो की स्थापना भी सम्भव हो गयी है।

एक अन्य कहानी देखिए जो कि नितान्त मानवीय धरातल पर लिखित है। कहानी का विषय है दो चोरों का चातुर्य एवं स्पर्धा। शीर्षक है 'खीवै बीजै री वात'। इस कहानी के विवेचन द्वारा लेखक राजस्थानी कहानियों के शैलीगत सौन्दर्य को प्रकट करना चाहेगा। कहानी बिना किसी प्राक्कथन के प्रारम्भ होती है। बीजा और खीवा दो चोर थे—अत्यन्त साहसी और एक से एक बढ़ कर। एक सोझित का निवासी था, दूसरा नाडोल का। बीजा पहली बार नाडोल मे चौर-कर्म करने के उद्देश्य से गया। छोटे-छोटे वाक्यों एवं नपे-तुले शब्दों में चौर-कौशल का उद्घाटन करने वाला चित्रोपम वर्णन इस प्रसङ्ग में लक्षणीय है:—

"वरखा रितु छै। मेह उनमीया छै। इसा समीया माँ बीजो नाडूल आयौ छै। विजौ नाडूल आइ नै दिन दोइ रह्यौ। गली कूँची सरब दीठी। देखि नें जाहराँ अमावस री राति आई। आधा भादवारी आधी रात गई छै। ताहराँ काली काँवल री गाती मारि टोपी माथे मेल्हि जाँघीयो पहिरी छुरो काड़ि कड़ि बाँधि अर सहर माँहे चोरी नुँ चालीयो।"[68]

बीजा और खीवा दोनों अपने व्यवसाय में निष्णात एवं पारङ्गत थे। पारस्परिक साक्षात्कार के पूर्व के घात-प्रतिघात का उत्कण्ठापूर्ण और मनोमुग्धकर स्थल आकर्षक बन पड़ा है। घर मे लेटा हुआ खीवा समझ गया कि बाहर चोर है। पत्नी को न बोलने का सङ्केत किया। अत्यन्त सतर्कतापूर्वक खूँटी में तलवार उतारी। 'तलवार लेताँ थकाँ माखी उडी तेरै विजै विसामीयौ (समझ गया) जु घररौ धणी (गृहस्वामी) जागीयौ' कौतुक करने के लिए बीजा ने दीवार में

सिर डालने योग्य सब की जमीन खोदने के औजार के सिरे पर काली हाँडी रख कर आगे करदी 'तितरै खीवै वेगभरि नै तरवार बाही सु हाँडी उपरा वाजी। सू हाँडी फूटि गई'। दोनों हँस पड़े। एक दूसरे के ख्याति से परिचित खीवा और बीजा चोर-चोर मौसेरे भाई हो गये।

कहानियों की गति में सर्वत्र एक प्रवाह है जो अल्हड़पन, स्फूर्ति, सजीवता और उद्वेग लिये हुए है। खीवा की स्त्री की प्रेरणा और प्रोत्साहन से बीजा और खीवा दो अद्भुत चोरियाँ करते है। उद्देश्य था कीर्ति अर्जित करना। तब तक कोई उल्लेखनीय व्यावसायिक कर्म सम्पादित नहीं हुआ था। ऐसा जीवन ही क्या जिसमें नाम और यश न मिले। नेक न सही बद ही सही। अन्यथा इस जीवन की उपलब्धि क्या? प्रथम उल्लेख्य चोरी थी चित्तौड़ के शाह देवीदास की जय और विजय नामक दो घोड़ियों की जो एँड़ मारते ही हवा से बातें करने लगती थीं। उनका अपहरण करना टेढ़ी खीर था। द्वितीय विशिष्ट चोरी थी पाटण के सवा करोड़ मूल्य के मणि-माणिक्य-विजटित कलश की, जिसे प्राप्त करने का असफल उद्योग एक अत्यन्त सिद्धहस्त चोर बारह वर्षों से कर रहा था।

शैली का सम्बन्ध कृति के कर्ता से जोड़ा जाता है। राजस्थानी कहानियों की सृष्टि सम्भवतः जनता के हाथों से ही हुई है। कदाचित् इसी कारण इन कहानियों की शब्दावली सरल, सीधी-सादी और सुबोध है। इनमें जीवन की सादगी, कला की सौन्दर्य-प्रियता और यथार्थ परिस्थिति की अभिव्यञ्जना है। अन्धविश्वासों से परिपूर्ण अतिमानुषिक तत्त्वों का प्रयोग भी इसी शैलीगत विशेषता के अन्तर्गत समझना चाहिए। अनावश्यक एवं कृत्रिम अलङ्करण तथा चकाचौंध उत्पन्न करने वाले शब्दाडम्बर का इन कहानियों में नितान्त अभाव है। इन कहानियों में प्रसङ्गानुकूल बौद्धिकता, भावात्मकता, कल्पना-वैभव, गम्भीरता, हास्य और व्यंग्य इत्यादि सभी कुछ उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त वर्णन-प्रसङ्गों में भावों और विचारों की विविधता और चित्रमय रङ्गीनी के कारण ये कहानियाँ सहज ही हृदयङ्गम हो जाती हैं।

राजस्थानी कहानियों के पात्र साधारणतया राजपूत अर्थात् राजस्थान के वासी हैं। 'राजपूत' शब्द तो एक प्रकार से अनुकरणीय वीरता, कर्ण-जैसी दानशीलता और धर्मप्राणत्व के आदर्शों का प्रतीक ही है। ये पात्र दो भागों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं---(क) ऐतिहासिक और (ख) कल्पित। इन दोनों ही प्रकार के पात्रों के चित्रण द्वारा राजपूत सभ्यता और संस्कृति का अङ्कन हुआ है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के नामों के साथ काल्पनिक आख्यायिकाएँ भी संयुक्त कर दी गयी हैं।

इन कहानियों में पाये जाने वाले पात्रों का चरित्र-चित्रण मानवीय ढङ्ग का है। इनमें अच्छाइयाँ भी देखी जा सकती हैं और बुराइयाँ भी। वस्तुतः इन कहानियों में मध्यकालीन राजस्थानवासी का यथार्थ चरित्र प्रतिबिम्बित हुआ है। ये पात्र दृढ़प्रतिज्ञ, सत्य-परायण, स्वावलम्बी, आत्माभिमानी, वीर, धैर्यवान्, सहनशील, संयमी और त्यागी हैं, लेकिन मानव-सुलभ कमजोरियाँ भी उनमें होती ही थी। अतः मादक पदार्थों का सेवन, विषय-भोग, पारस्परिक स्पर्धा, ईर्ष्या और वैमनस्य प्रभृति उनके दुर्व्यसनों और दुर्बलताओं का उल्लेख भी इन कहानियों का विषय रहा है।

वारमदे सोनगरा' कहानी में राजपूत की चारित्रिक एवं धार्मिक दढता का चित्रण है

वीरमदे मर जाता है किन्तु मुसलमान राजकुमारी से विवाह नहीं करता। मुसलमान शाहजादी उसके दिवङ्गत होने पर उसके साथ सती होती है। 'कहवाट सरवहियो' में कहवाट के आत्मसम्मान दृढता, वीरता और साहस आदि को अङ्कित किया गया है। 'कोइलापुर पाटण' का प्रतापी एव अहङ्कार-गर्वित राजा अनन्तराय साङ्खला अपने मन्त्री मुजानसाह की सहायता से उसे बन्दी कर लेता है। उसे वह नाना प्रकार की यन्त्रणाएँ देता है। कहवाट को मर जाना अङ्गीकार है किन्तु पराधीनता सह्य नहीं। उसका कथन है कि—

राठोडाँ री कुलत्रिया, सीला गरभ न धरन्त।
ज्याँ भरतार न भञ्जणा, से भञ्जणा न जणन्त॥ [१६]

अन्त में कहवाट का नमक खाने वाला उसका भानजा ऊगो ससैन्य जा कर कहवाट को मुक्त कराता है तथा अनन्तराय और उसके मन्त्री सुजानसाह को बन्दी बना कर कहवाट के चरणो मे ला कर डाल देता है और प्रतिशोध लेता है। कहवाट उसे स्वतन्त्र कर ससम्मान पाटण पहुँचा कर अपनी उदारता का परिचय देते हुए मानव-धर्म का पालन करता है। 'पाबूजी री बात'[१७] में पाबूजी द्वारा 'थोरियाँ' शरणागत की रक्षा करने, बहिन सोना पर अत्याचार करने वाले बहनोई को दण्ड देने, परोपकारार्थ पाबूजी के प्राणोत्सर्ग करने आदि का उल्लेख है। पाबूजी को उनके सत्कर्मो एव विलक्षण कार्यो के कारण ही राजस्थान में 'कारणीक मरद' अर्थात् कारणवश देहधारी लीला-पुरुष माना जाता है। नशा करना राजपूतों का एक महान् अवगुण रहा है। 'जषड़ा मुषणा भाटी री बात'[१८] से अफीमचियों का एक लघु चित्र अवलोकनीय है:—

"अमल गलणीयं वाढ़ियो छै। कसूम्भा बत्तीसा नीकळै छै। कैइक मील अमलो री झोकाँ खायनै रह्या छै। कैइक साँपोला करै छै। क्याँ इक अमल चिपठिए चाढ़ियो छै। घणा भीलाँ अमल कीयो छै।[१९]"

राजस्थानी कहानियों में संवादों को भी उचित स्थान मिला है। संवादों के द्वारा कथावस्तु को गत्यात्मकता प्राप्त हो सकी है। कहानी में कथाकार कुछ अपनी ओर से कहता है और कुछ पात्रों द्वारा कहलवाता है। कहानी की एकरसता को यथावसर विविधता और रोचकता प्रदान करने के लिए यह उपयुक्त ही है कि कथनोपकथनों का उपयोग हो। राजस्थानी कहानियो मे यथास्थान छोटे-छोटे और कटे-छँटे तथा लम्बे और बड़े दोनों ही प्रकार के वार्तालाप मिलते है। सवादों की अनेकरूपता के फलस्वरूप कहानी में सौन्दर्य और रमणीयता की अभिवृद्धि हुई है तथा चरित्रों की विविधता एवं यथार्थ भावभूमि की सृष्टि सम्भव हो पायी है। इनसे ओज, व्यंग्य, हास्य, रुदन, कुतूहल और नाटकीयता आदि का भी संवर्धन हुआ है तथा आवश्यकता पड़ने पर कहीं-कहीं पद्यमय उक्तियों का भी सहारा लिया गया है।

'वात सूराँ अर सतवादी री'[२०] का नायक कुँवर वीरभान, अपने वढ़ई, लोहार और ब्राह्मण मित्रों को मार्ग में छोड़ आया था और एक राक्षस को मार कर उसकी प्रेयसी फूलमती से उसने विवाह कर लिया था। इसी से खाना खाते समय वह तीन पत्तल अपने मित्रो के लिए निकाल देता था. तब स्वयं खाता था। फूलमती ने एक दिन इस रहस्य को जानना चाहा

कुवर नू राणी पुछीयौ कही राज ए पातल तीन य परिसायर थे जनावरा न करै नांव घातौ छौ सु कहौ ताहरा कुँवर कही वराना साच कहीज नही ताहरां राणी कही ता हूँ थारी अरधसरीरी किसी विध छुं अर मैं थारैं पगाँ राखस ने मरायौ अर थे मना साँच कहौ नही तौ थाँहरौ प्यार किसौ।[२२]"

फूलमती की अकाट्य एवं तर्कपूर्ण बात सुन कर वीरभान को रहस्य बताना ही पड़ा।

'जैतसी ऊदावत'[२३]राजा सूराचन्द से अपने चाचा मूण्डाजी के वैर का प्रतिशोध लेने के लिए अपने सहायकों के साथ जा रहा था। मार्ग में उसी के परगना जैतारण के बलाड़ो गाँव की कन्या और चारण आईदान खड़िया की पुत्रवधू हरकुँवरी कुएँ पर पानी भर रही थी। जैतसी और उसके साथी पानी पीने के लिए कुएँ पर गये। पानी पिलाते-पिलाते हरकुँवरी ने समझ लिया कि उन व्यक्तियों में जैतसी भी है––

"तिण देखनै कह्यौ, रावताँ भायाँ, साच बोलज्यो, थाँ माँहि जैतसी ऊदावत किसो? (इस प्रश्न को सुन कर सभी साथी आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने समझा कोई शक्ति-सम्पन्ना देवी है।) तरै जैतसी जी बोल्या, बाई, म्हे तो राजाजीरा उमराव छाँ। ताराँ पिणहारी कह्यौ, हाँ बीरा, थे कहो तिको सोह साच छै . . ." इत्यादि।

बाद में अपने विस्तृत कथन में अपना परिचय देते हुए हरकुँवरी ने 'जैतसी ऊदावत दसराहा ऊपराँ राजा सूण्डारा वैर मैं सूराचन्द ऊपराँ दौड़ करसी, तिणसूँ सूराचन्दरा राजारै आज दसराहेरो वणो जतन करे छै'[२४] इस परिस्थिति की पृष्ठभूमि के आधार पर अपने अनुमानित निष्कर्ष पर पहुँचने का ब्योरा दिया।

कथनोपकथनो के प्रस्तुत अवतरणों पर दृष्टिपात करने से आधुनिक समीक्षक को इन कहानियों में किञ्चित् भोंड़ापन या अपरिष्कृत तथा अनुच्छेदात्मक विभाजन का अभाव लक्षित होगा। इस वस्तुस्थिति के साथ न्याय करने के लिए यह बात ध्यान में रखना समीचीन होगा कि ये कहानियाँ केवल मुखपथ चलती रही हैं जिससे इनके विन्यास में लिखित या मुद्रित रचनाओं की विशिष्ट सज्जा और अलङ्करण का अभाव है।

कथाकारों का ध्यान सदैव देश, काल और वातावरण के विज्ञापन की ओर भी रहा है। राजस्थानी कहानियों में इनका भी निर्वाह किया गया है। देश के अन्तर्गत इन कहानियों में राजस्थानी मरुभूमि में स्थित नगरों तथा ग्रामों का ही सामान्य उल्लेख हुआ है। धार नगरी (मालवा), माण्डवगढ़ (माण्डू), महेवा, सोभट, जालोर, कोइलापुर, पाटण, पीपाड़, जोधपुर, जैतारण, उज्जैन, सोझित और नाडोल आदि का सम्बन्ध राजस्थान से ही है। इनके अतिरिक्त दिल्ली, वाराणसी (काशी) और अहमदाबाद आदि तत्कालीन प्रसिद्ध नगरों के नामों की चर्चा भी प्रसङ्गानुसार इन कहानियों में मिलती है। ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें कि केवल वातावरण के माध्यम से मरुस्थलीय प्रदेशों की ओर सङ्केत कर दिया गया है। काल का उल्लेख साधारणतया कहानियों मे नहीं होता, किन्तु इतिहास प्रसिद्ध कथानायकों के सन्दर्भ में कहीं-कहीं काल सङ्केतित न हो कर स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। उदाहरणार्थ, 'जगदेव पँवार' कहानी में सिद्धराव जैसिङ्घ का समय सवत् ११३३ से ११९९ वि०, 'जगमाल मालावत' में जगमाल की महमदशाह को पराजित करने की तिथि सवत १२२५ चत सुदी ३ तथा जतसी ऊदावत में सवत १८६८ निर्दिष्ट है

राजस्थानी कहानी का वातावरण प्रधानतया जनपदीय है। वातावरण के निर्माण मे राजस्थान-वासियों मे प्रचलित रीति-रिवाजों का महत्त्वपूर्ण योगदान दिखायी देता है। पुत्रवधुओ को सासें 'बहूजी' के अतिरिक्त 'बहूजीसा' या 'बहूजी शाह' सम्बोधन करती है। फलतः अपनी माँ को बच्चे दादियों का अनुकरण कर उन्हीं शब्दों द्वारा पुकारते हैं। बहिन को 'कूँ कूँ कन्या', 'पीपलकन्या', अथवा 'पीपली' तथा 'सुआसिनी' कहा जाता है। चैत्र शुक्ल तृतीया के दिन 'गणगौर' का त्योहार मनाने वाली और गौरी का व्रत रखने वाली कुमारियों को 'तीजणियाँ' नाम दिया गया है। विवाह-प्रस्ताव के रूप में बालिका-पक्ष से वर-पक्ष के यहाँ नारियल भेजने की प्रथा तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। विवाह के दिन कन्या-पक्ष के द्वार पर लकड़ी का 'तोरण' बाँधा जाता है। वर इसे आ कर मारता है। इस प्रथा को 'तोरण' या 'तोरण-मारना' कहते हैं। किसी सामन्त या सरदार द्वारा अपनी कन्या को राजा को व्याहने के लिए प्रदान करना 'डोले की प्रथा' कहलाता है। शादी से पहले का वर-पक्ष के यहाँ का प्रीति-भोज 'बाँन जीमणो' कहलाता है। भाई, बहिन को पहनने के लिए जो वस्त्रादि देता है, उसे 'काँचली-दान' कहते हैं। पति के 'राम कहने' (मरने) के उपरान्त पति के निकटतम पुरुष (देवर आदि) की पत्नी बन कर रहना 'नाथराणो' कहलाता है। रणक्षेत्र में सद्गति प्राप्त करना 'धारा तीरथ' नाम से विख्यात है। प्रजा-जन 'खमा-खमा' शब्द द्वारा राजा का अभिवादन करते हैं। चारण, राजाओं को 'शुभराज' कह कर आशीर्वाद प्रदान करते हैं। प्रत्येक शुभ अवसर पर मङ्गलसूचक खाद्य-सामग्री के साथ 'लापसी' का व्यवहार अवश्य होता है। राजस्थानी कहानियो में इस प्रकार के अनेकानेक विशिष्ट राजस्थानी सामाजिक सस्कारों का सङ्घटन हुआ है।

इन कहानियों की भाषा राजस्थानी है, यह बताना अनावश्यक-सा है। राजस्थानी कहने का आशय डिंगल (परिनिष्ठित मारवाडी) से है। इसके शब्द-समूह में अर्धतत्सम, तद्भव और प्रादेशिक शब्दों की बहुलता है जो कि नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव का प्रतिफलन समझा जा सकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार कम ही हुआ है। इस प्रसङ्ग में संस्कृत के श्लोक पर राजस्थानी रङ्ग चढ़ाने का प्रयास उद्धरणीय है—

उद्यमं साहसं धीर्ज्यं (धैर्यं) बलं बुध्य (बुद्धि) पराक्रमं।
षड़ेते जस्य (यस्य) होवन्ती (वर्त्तन्ते) तस्य देवापि सङ्कती (शङ्किता)॥

विदेशी शब्दावली के अन्तर्गत अरबी-फ़ारसी शब्दों के निदर्शन होते हैं जो कि स्पष्ट ही राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम है। लेकिन ऐसे शब्दों को भी राजस्थानी भाषा में ढाल कर अपनाया गया है। 'हुकम', 'कबूल्यो', 'मुजरो', 'निजर', 'खुस्याल', (खुशहाल), 'मसौरा' (मशविरा), 'सिलाँम', 'माफक', 'दरियाव', 'पातिसाह', 'चोबदार', 'खवास' आदि उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के शब्द ऐसे हैं जो कि दो संस्कृतियों के सङ्गम के कारण सम्पूर्ण देश-भाषा में घुल-मिल गये थे। भाषागत विशेषता की दृष्टि से राजस्थानी की एक विशेषता मुख्यतः ध्यान आकृष्ट करती है और वह है कहावतों तथा मुहावरों का प्रयोग। हिन्दी-गद्य के विकास से पूर्व राजस्थानी में इतनी अधिकता से इनका व्यवहृत होना राजस्थानी गद्य की प्रौढ़ता और का है **बरारा हठ भूंडा** स्त्रियो का हठ बुरा होता है)

काला गहिलारो दातार (आपत्ति के समय मार्ग प्रदर्शन करने वाला) **हई साठी न बुध नाठी** (सठियाना), **एक बठा अथ बग ह्या** (यहा बठे वहा मार करे), **बाटी खाता बूजी आवै** (चन से जीवन-यापन करने वाले को उन्माद होता है) और **बाप, बोल माटियाँरांरै** (वीर का बाप और वचन एक होते हैं) जैसी कहावतें और **पगाँ री झाल माथै गई** (पैर से सिर तक क्रोध व्याप्त हो जाना), **भारफीटा कीया** (थका कर हैरान कर डाला), **भुंडो मारिनै** (साहस कर के), **लोह करो** (वार करो), **खरली लेणो** (शीघ्र स्नान करना), **धकै चढ़ै** (सामने आवे) और **बाहर घाली** (फरियाद की) आदि मुहावरे इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं।

प्रस्तुत परिचयात्मक विवरण और विवेचन से प्रकट हो सकेगा कि वस्तु, कला, शिल्प, शैली और भाषा प्रभृत्ति सभी दृष्टियों से ये 'वाताँ' समुचित रूप में सम्पन्न हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. ढोला मारू री वात, लैला मजनूँ री वात, अचलदास खीची री वात, राजा रिसालू री नै चन्दकुँवर री वाताँ।

२. फूलजी फूलमती री वार्ता, राजा रिसालू री वार्ता, वार्ता रतनसिङ्घ जी गादीनसीन हुआ जठासूँ।

३. गोरा बादल री कथा, वैताल पचीसी री कथा, सिङ्घासण बतीसी री कथा।

४. दो कहाणियाँ।

५-६. प्रसिद्ध तथा सामान्य कोटि के ऐतिहासिक इतिवृत्त।

७. कैटलॉग ऑव् द राजस्थानी मैनुस्क्रिप्ट्स इन द अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, १९४७ ई०, पृ० ६८, ६९ तथा ७०। इन संवतों का लिपिकाल होना ही अधिक सम्भावित है।

८-९ राजस्थानी वाताँ (नवयुग साहित्य मन्दिर, दिल्ली) में सङ्कलित।

१०. चौबोली (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली) में संग्रहीत।

११. स्त्री के। १२. सौत। १३. चौबोली, पृ० ४३।

१४. वही, पृ० ५५।

१५. चौबोली, पृ० २४-२५।

१६. राठोडों की कुल-स्त्रियाँ व्यर्थ ही गर्भ नहीं धारण करतीं। जिनके पति युद्धस्थल से पलायन नहीं करते, उनके पुत्र तो वहाँ से भागना जानते ही नहीं।

१७. राजस्थानी वाताँ, पृ० १७६-१९५। १८. वही, पृ० १२३-१५४।

१९. वही, पृ० १४७-४८। अर्थ—अफीम गलने के निमित्त पीसा जा रहा है। बत्तीस बार पीसकर और छान कर अफीम निकाला जा रहा है। अनेक भील अफीम की तरंग में अलमस्त हैं। अनेक डगमगाते पगों से चहलक़दमी कर रहे हैं। अनेक लोहे के अङ्कुश में कपड़ा बाँध कर अफीम छान रहे हैं। बड़ी संख्या में भीलों ने गहरा नशा किया है।

२०. चौबोली, पृ० ५६-७४। २१. स्त्रियों से।

२२. चौबोली, पृ० ६३-६४। २३. राजस्थानी वाताँ, पृ० १५५-१७५।

२४. राजस्थानी वाताँ पृ० १६४।

देशज

राजकिशोर सिंह

•

हिन्दी भाषा के देशज स्वरूप का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अध्ययन, वर्गीकरण तथा उसकी उद्भव-प्रक्रिया का अन्वेषण

'देशज' शब्द अपेक्षाकृत नवीन है। इसके पूर्व इसके पर्याय के रूप में भरत, चण्ड, दण्डिन्, धनिक, त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, सिंहराज, रुद्रट, वाग्भट और हेमचन्द्र आदि ने **देशीमत, देशी प्रसिद्ध, देशी** और **देश्य** शब्दों का प्रयोग किया।[1] इनका प्रयोग सिद्धान्ततः शब्द और भाषा, दोनों[2] अर्थों मे किया गया। आधुनिक युग में इनकी आलोचना-प्रत्यालोचना यथेष्ट विस्तार में की गयी। निष्कर्षतः यह स्वीकार किया गया कि प्रत्येक युग में साहित्यिक भाषा से भिन्न जो जनसाधारण की भाषा प्रचलित रही है, वही वस्तुतः देशी[3] हुआ करती थी। 'देशी' के अर्थ में विभिन्न भाषा-कालों में प्रान्तीय, क्षेत्रीय अथवा साहित्येतर भाषाओं के द्योतन के लिए प्रचलित **प्राकृत, पराकिर्त, अपभ्रष्ट, अवहट्ठ, अवहत्थ, अवब्भंस अवहंस,** आदि देशभाषा-सूचक शब्दों[4] के अतिरिक्त **भाषा,**[5] **भासा,**[6] **भाखा,**[7] **देशीभाषा,**[8] **देसी,**[9] **देसभास,**[10] **देसीवयणा,**[11] **देसिलबयन,**[12] **ग्राम-गिरा**[13] आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से वैदिक भाषा की तुलना में संस्कृत को भी कभी भाषा[14] कहा गया था। प्राकृत के लिए 'देशी' या 'देशीभाषा' आदि शब्दों के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। पादलिप्त[15], उद्योतन,[16] और कोऊहल[17] को यहाँ प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वैसे अपभ्रंश और देशी के विवाद को उद्धृत करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं है, किन्तु प्राकृत-व्याकरण में पं० ध्रुवनारायण त्रिपाठी शास्त्री[18] ने यह उल्लेख किया है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर सभी भाषाएँ अपभ्रंश कहलाती हैं। यहाँ 'इतर' से उनका अभिप्राय भारतीय आर्य-भाषाओं से ही है, अन्य भारतीय भाषाओ से नहीं। विभिन्न भाषा-कालों में साहित्येतर आर्य-भाषाएँ ही 'देशी' अथवा 'भाषा' के नाम से अभिहित की जाती रही हैं।

भरत के मत से देशी वे शब्द हैं जो तत्सम और तद्भव से भिन्न[19] हों। चण्ड ने इन्हें संस्कृत और प्राकृत से भिन्न[20] कहा। रुद्रट[21] ने भरत और चण्ड को दृष्टि में रखते हुए उन शब्दों को देशज की संज्ञा दी जिनकी प्रकृति-प्रत्यय-मूलक रचना न हो। इनके पश्चात् त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, धनिक, दण्डी आदि ने उपयुक्त को ही किञ्चित् परिवतन के साथ स्वीकार किया

हेमचन्द्र[23] ने इन परिभाषाओ पर पुर्नविचार करते हुए इन्हे नये रूप मे उपस्थित किया उनके अनुसार देशा वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति सस्कृत के प्रकृति प्रयय नियम स सिद्ध नही की जा सकती; जो लक्षण से सिद्ध न हों, अर्थात् जो शब्द सिद्ध हेमचन्द्र नाम में सिद्ध नही हुए है, ओर जो यदि संस्कृत-कोषों में प्राप्त भी हों तो उनमें अर्थ-परिवर्तन हुआ हो तथा उनका लाक्षणिक या गौण प्रयोग न हुआ हो।

आधुनिक युग में देशज शब्दों पर विशेप रूप से विचार किया गया। बीम्स[24] के अनुसार देशज वे शब्द हैं जिनका विकास संस्कृत से नहीं हुआ और वे या तो मूल निवासियों से आगत शब्द है अथवा स्वयं आर्यो ने संस्कृत-युग के अनन्तर उनका निर्माण किया। पिशल[25] ने प्राचीन आचार्यो के मतों का उल्लेख करते हुए, पाँच बातें कही हैं—(क) भारतीय आचार्यो के परस्पर विरोधी कथनों में मुख्यत. तीन प्रकार के शब्दों का सङ्केत मिलता है—प्रथमत: वे शब्द जिनका मूल संस्कृत मे नहीं मिलता, दूसरे वे सामाजिक एवं सन्धियुक्त शब्द जिनके सब शब्द अलग-अलग तो संस्कृत मे मिलते हैं किन्तु सन्धियुक्त समस्त पद संस्कृत में नहीं मिलते, और तीसरे वे शब्द जो ध्वनि-नियमो की विचित्रता दिखाते हैं। (ख) चूँकि आर्य-भाषाओं में अधिकांश शब्द तत्सम और तद्भव हे, इसलिए यह मानना भ्रमपूर्ण है कि इस प्रकार के सभी शब्द संस्कृत से निकले हैं, क्योंकि आधुनिक भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से नहीं निकली हैं। पिशल ने सम्भवत: इसी कथन को आगामी तर्कों का मूल आधार स्वीकार किया। ये शब्द प्रादेशिक रहे होंगे और बाद में सार्वदेशिक प्राकृत मे सम्मिलित कर लिये गये होंगे। (घ) देशी शब्दों में कुछ अनार्य शब्द भी आ गये। (ङ) फिर भी बहुत अधिक शब्द मूल आर्य-भाषा के शब्द-भण्डार के ही हैं, जिन्हें हम व्यर्थ ही संस्कृत के भीतर ढूँढ़ते हैं। यहाँ पिशल पर डॉ० शिवप्रसाद सिंह[26] का यह आक्षेप निराधार हो जाता हे कि उसने भारतीय वैयाकरणों के मत को ही स्वीकार कर लिया है। भारतीय वैयाकरणों के समक्ष तो प्रागार्य और आर्येतर-जैसी भाषा-कोटियाँ थीं ही नहीं। पिशल ने तो उन आचार्यों का उल्लेख मात्र किया है, न कि समर्थन।

हार्नले[27] एक प्रकार से पूर्वकथनों को नया रूप देते हैं और उनका मत बीम्स के अधिक निकट है। उनके अनुसार आर्यों ने संस्कृत शब्दों को अपने सम्भाषण से इतना विकृत कर लिया कि उनका पहचानना असम्भव हो गया। ऐसे ही शब्द देशज हैं। डॉ० भण्डारकर[28] ने पिष्टपेषण करते हुए देशज शब्दों का मूल उन आदिवासियों की भाषा मे माना जो आर्यो द्वारा विजित की गयीं।

जॉर्ज ग्रियर्सन[29] ने भारतीय वैयाकरणों के देश्य अथवा स्थानीय शब्दों के प्रति उनकी मान्यता को स्वीकार करते हुए इतना और भी कहा है कि इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे शब्द भी हैं जो मुण्डा अथवा द्रविड़ भाषाओं से लिये गये हैं। इस वर्ग में अधिकांश शब्द तो प्रथम प्राकृत की उस विभाषा से आये हैं जिससे संस्कृत की उत्पत्ति नहीं हुई है। इस प्रकार ये वास्तविक तद्भव शब्द है, यद्यपि भारतीय वैयाकरण तद्भव शब्द का अर्थ उस रूप में नहीं लेते, क्योंकि उनके समक्ष प्राचीन प्रथम प्राकृत का कोई अस्तित्व न था। ये देश्य शब्द स्थानीय बोलियों के रूप हैं और जैसी कि आशा की जा सकती है, ये अधिकतर लौकिक संस्कृत के मूल स्थान मध्यदेश से दूर, गुजरात प्रदेश के साहित्यिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। हम इन्हें तद्भव के समान ही मान सकते हैं।

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[३०] के मत से देशज के अन्तर्गत कुछ तो प्रागार्य भाषाओं के शब्दों को रख सकते है और कुछ का विकास सामान्य बोलचाल से देश में ही हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतीय वैयाकरणों द्वारा सङ्केतित ध्वन्यात्मक शब्द भी देशज हैं। साथ ही अनार्य शब्द भी देशज हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास[३१] के मत से अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्द तथा अनुकरणमूलक शब्द देशज हैं। किन्तु जब तक इनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता, ये शब्द और इनका वर्गीकरण हमारी अल्पज्ञता का ही सूचक हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना[३२] ने अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट रूप में कहा है कि उन शब्दों को हम देशज कहते हैं जो आधुनिक समय की बोलचाल में स्वतः विकसित हुए हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० उदयनारायण तिवारी[३३] के विवेचन से कुछ नये तथ्य सामने आते हैं। प्राचीन विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने यह स्पष्टतः कहा कि वास्तव में 'देशी' से उनका क्या तात्पर्य है, यह कहीं भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। तिवारी जी ने आधुनिक विचारकों के सिद्धान्तों का सङ्केत करते हुए एक अन्य समस्या की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। उनके अनुसार किसी भी संस्कृत अथवा प्राकृत-कोष में न तो ऐसे शब्दों की व्याख्या ही उपलब्ध है और न सूची ही प्राप्य है।

इनके अतिरिक्त अन्य भाषा-शास्त्रियों और वैयाकरणों में डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल[३४], डॉ० केलाग[३५], डॉ० तगारे,[३६] डॉ० नामवर सिंह[३७], कामताप्रसाद गुरु[३८], रामलोचन चरण[३९], बालगोविन्द मिश्र[४०] तथा अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के उल्लेख किये जा सकते हैं। किन्तु इन सब की परिभाषाओं और विवेचनों का अन्तर्भाव ऊपर दिये गये मतों और सिद्धान्तों में हो जाता है।

विभिन्न भाषाओं में देशज शब्दों की स्थिति और उनकी मान्यता के सम्बन्ध में टी० बरो,[४१] राइस डेविड[४२] तथा सेठ गोविन्ददास[४३] ने विवेचनात्मक सङ्केत दिये हैं, लेकिन प्रस्तुत सन्दर्भ में उनका कोई विशिष्ट मूल्य नहीं है। डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी[४४] ने रासो में देशज शब्दों की स्थिति से समस्या को उलझाने में अधिक सहायता की है।

हिन्दी के देशज शब्दों पर विचार करते हुए पूर्णसिंह[४५] ने देशज की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की—"**संस्कृत-काल के पश्चात् प्रदेश-विशेष के लोक-व्यवहार में निराधार अथवा अनुकरणात्मक आधार पर निर्मित व्युत्पत्ति-रहित शब्दों को देशज शब्द कहते हैं। यह सामान्य रूप से देशज शब्दों की परिभाषा हुई। हिन्दी के देशज शब्द वही हैं जो हिन्दी-युग में बने हैं।**"

इन सभी परिभाषाओं को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनकी प्रकृति, विषयवस्तु और समान भाव-धारा को देखते हुए पाँच वर्गों में संयोजित किया जाता है:—

प्रथम वर्ग—(क) जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न सिद्ध हो; (ख) जिनकी प्रकृति-प्रत्यय-मूलक रचना न हो; (ग) जो न संस्कृत के हों न प्राकृत के; (घ) जो तत्सम और तद्भव से भिन्न हो, (ङ) जिनका मूल संस्कृत में न मिले।

द्वितीय वर्ग—(क) जिनमें अर्थ-परिवर्तन या ध्वनि-परिवर्तन हो अथवा जो सामासिक रूप में संस्कृत में न मिलें, (ख) जो आर्यों के सम्भाषण से विकृत हो गये हों; (ग) जो स्वयं आर्यों द्वारा निर्मित हों (घ) जो संस्कृत के ऐसे विकृत रूप हों जिनकी पहचान असम्भव हो (ङ) जो उन प्रारम्भिक प्राकृतों से आये हों जिनसे संस्कृत नहीं बनी तथा (च) जो तद्भव से अभिन्न हों।

तृतीय वर्ग—(क) अनार्य शब्द; (ख) मूल अथवा आदिवासियों की भाषाओं से आगत, (ग) मुण्डा अथवा द्रविड़ भाषाओं से लिये गये शब्द; (घ) प्रागार्य भाषाओं के शब्द।

चतुर्थ वर्ग—(क) देश्य, स्थानीय या प्रादेशिक; (ख) जनसाधारण की बोलचाल से उत्पन्न; (ग) आधुनिक युग में स्वतः विकसित; (घ) अनुकरणात्मक; तथा (ङ) ध्वन्यात्मक।

पञ्चम वर्ग—(क) अज्ञात व्युत्पत्ति वाले; (ख) निराधार अथवा व्युत्पत्ति-रहित, तथा (ग) हिन्दी के देशज, अर्थात् जो हिन्दी-युग में बने हैं।

निश्चय ही इनमें अनेक परिभाषाएँ ऐसी हैं जिनका एक-दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ ऐसी है जिन्हें स्पष्टतः देशज नही कह सकते, और कुछ आर्येतर भाषा-परिवारों से सम्बद्ध है। इनमें प्रथम और द्वितीय वर्गो को बहुत अलग नहीं किया जा सकता। प्रथम वर्ग में जहाँ संस्कृत-नियमों की कठोरता दृष्टिगत होती है, वहाँ द्वितीय वर्ग में सम्पूर्ण प्राकृत शब्द-सम्पत्ति ही देशज बन जाती है। प्राचीन वैयाकरणों का यह भ्रान्त एवं संकुचित दृष्टिकोण कहा जा सकता है क्योंकि यदि संस्कृत शब्दों में रूप, ध्वनि और अर्थगत परिवर्तन न हो; आगम, लोप, विकार और विपर्यय न हो (और यह सब सम्भाषण की विकृति मात्र है) तो सभी शब्द तत्सम होंगे, तद्भव नही। भाषाशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्राचीन भाषाओं के विकास की प्रक्रिया में यह परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। डॉ० हेमचन्द्र जोशी[४६] ने भी अर्थापकर्ष और अर्थविस्तार की ओर अनेक स्थलो पर सङ्केत किया है। डॉ० श्यामसुन्दर दास[४७] के मत से तत्सम और तद्भव शब्दों के रूपात्मक विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में विभेद हो जाता है। द्रविड़ भाषाओं के शब्दों के प्रति डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[४८] ने लिखा है कि उनका प्रयोग हिन्दी में बुरे अर्थों में होता है। इस प्रकार चाहे संस्कृत शब्द हों अथवा किसी अन्य भाषा के, जब भी उनका प्रयोग किसी दूसरी भाषा में होगा तो उनके रूप, अर्थ और प्रयोग-भेद की सम्भावना बनी रहेगी। प्राकृत-वैयाकरणों ने जिन शब्दों को देशज माना है उनके प्रति ग्रियर्सन[४९] और डॉ० वर्मा[५०] का मत है कि इनमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के थे जिनका प्रयोग उसके साहित्यिक रूप संस्कृत में नहीं होता था और प्राकृत-वैयाकरणों ने अनेक विकृत शब्दो को भी देशी समझ रखा था।

इस विवेचन में शब्दों की ऐतिहासिक स्थिति की दृष्टि से अपभ्रंश शब्दों पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यह पहले कहा जा चुका है कि देशज शब्द प्रयोग की दृष्टि से अपेक्षाकृत नवीन है। 'भाषा' के अर्थ में इसका प्रथम प्रयोग मङ्ख के श्रीकण्ठचरित की टीका में इस प्रकार मिलता है:—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च॥[५१]

यहाँ 'देशज' का अर्थ देशी भाषाओं और उनकी शब्द-सम्पत्ति से भी लिया जा सकता है। देशी भाषाओं से प्राकृत वैयाकरणों, आलङ्कारिकों और कवियों का अभिप्राय अपभ्रंश से ही था शब्द-सम्पत्ति के विचार से भर्तृहरि का यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है

शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्॥
—(वाक्यपदीयम्, काण्ड १, कारिका १४८)

भर्तृहरि के अनुसार संस्कारहीन शब्द अपभ्रंश हैं। महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने साधु शब्दों के समानार्थी लोक-प्रयुक्त शब्दों को अपभ्रंश कहा है।

किन्तु 'संस्कारहीन' और 'संस्कारच्युत' में अन्तर है और इसी प्रकार साधु और असाधु मे भी। डॉ० नामवर सिंह ने दण्डी के 'शास्त्र'[५२] शब्द का अर्थ संस्कृत-व्याकरणशास्त्र[५३] किया और 'भाषा' तथा 'शब्द' का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह लिखा कि इन वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए तो प्राकृत शब्द का प्रयोग किया, लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का[५४]। लेकिन यह मात्र-वस्तुस्थिति है, समस्या का समाधान नही। यदि संस्कृतेतर शब्द अपभ्रंश हैं तो वे देशज नहीं कहे जा सकते। दूसरे भर्तृहरि ने संस्कारच्युत पर विचार नहीं किया। यद्यपि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने एक ही उदाहरण दिया है किन्तु उनके सिद्धान्तगत कथन में विरोध है। पतञ्जलि ने 'गौः' जैसे संस्कृत शब्दों के शब्द और लोक-प्रसिद्ध 'गावी', 'गोणी' आदि[५५] रूपान्तरों को अपभ्रंश अथवा असाधु शब्द माना है। कैयट[५६] ने महाभाष्य की टीका में पतञ्जलि के कथन की साधारण व्याख्या मात्र दी है, उसका मौलिक विवेचन नहीं किया है। इस प्रकार एक ओर जहा पतञ्जलि और भर्तृहरि के द्वारा निर्देशित 'गौः' के विभिन्न रूपान्तरों को चण्ड[५७], हेमचन्द्र[५८] आदि ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, वहाँ उन्होंने अन्य शब्द-रूपों को ले कर उन्हें देशज कहा है। इस सम्बन्ध में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी[५९] 'प्रकृति' शब्द पर विचार करते हुए इसका अर्थ उत्सर्ग, नियम, मॉडल और साधारण किया है और 'विकृति' का अर्थ अन्तरित, अपवाद, अलौकिक, भिन्न और विशेष दिया है। इस वर्ग के अन्तर्गत इतना और भी विचारणीय है कि हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' पर विचार करते हुए अनेक विद्वानों[६०] ने यह सिद्ध किया है कि उसमें बहुत-से शब्द देशी नहीं है। स्वयं हेमचन्द्र ने एक स्थल पर उसी शब्द को देशी और अन्यत्र तद्भव लिखा है (पञ्चम वर्ग भी देखिए)। इन सभी रूपों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि अपभ्रंश का अर्थ देशज नही है और हेमचन्द्र के विरोधी तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी के परिप्रेक्ष्य में ऐसे समस्त शब्दो को, जो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी को प्राप्त हुए हैं, आगम, लोप, विकार, विपर्यय, अर्थापकर्ष और अर्थविस्तार आदि की दृष्टि से परम्परागत कहना ही तर्क-सङ्गत है।

तृतीय वर्ग में आने वाले सिद्धान्तों में द्रविड़, मुण्डा और अन्य आर्येतर भाषाओं के शब्दो को देशज कहा गया है। निश्चय ही भाषाओं के पारिवारिक विभाजन को दृष्टि में रखते हुए न तो इन्हे देशज का पर्यायवाची माना जा सकता है और न 'देशजपरिवार' नाम से सम्बोधित ही किया जा सकता है। इस प्रकार के देशज शब्दो की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० वर्मा[६१] का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि प्राकृत-वैयाकरणों ने अनार्य शब्दों को देशी मान लिया था। साथ-साथ प्राकृत-वैयाकरणों तथा लेखकों में भी भाषा-सम्बन्धी सूचनाओं और विवाद को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब किसी विशिष्ट भाषा और शब्द की स्थिति बनी हो तो उनको दूसरी भाषा मे देशज कहना उचित नही प्रतीत होता। पिशल[६२] के व्याकरण से इस मत की पुष्टि के लिए लक्ष्मीधर के प्रति ा का यह कथन उद्धृत किया जाता है **'वयम्** **अव्वस भाषिणो म्लेच्छ**

जातीनाम अनेक देशभाषा विज्ञा यथेष्टम म त्रयाम   अर्थात हम दाक्षिणात्य अस्पष्ट भाषी है चकि हम म्लेच्छ जातियो की अनेक भाषाए जानते है इसलिए जो बोली मन मे आयी बोलते है ज्योतिरीश्वर ठाकुर[६३] ने भी छह भाषाओ और सात उपभाषाओ म—द्रविली, औतकला, विजातिया आदि—का उल्लेख किया है।

चतुर्थ वर्ग के (क) और (ख) रूप एक ही हैं। इनके प्रति एक सामान्य प्रश्न यह उठता है कि ये देश्य, प्रादेशिक या सामान्य विशेषताएँ क्या हैं? और यह अकारण है या सकारण? अथवा इन सबके पीछे राजनीतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक आदि कारण भी रहे हैं या नही? भारत में कितनी जातियों, धर्मो और भाषाओं का मिश्रण हुआ है, यह तथ्य तो ज्ञात ही है और इन प्रश्नों के निराकरण से समस्या अपने आप सुलझ जाती है और देशज की स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है।

इस वर्ग के अन्तर्गत अनुकरणात्मक और ध्वन्यात्मक शब्द भी देशज कहे गये हैं। ऐसे शब्द और धातुएँ संस्कृत-युग से ही मिलने लगती हैं। हिन्दी की दृष्टि से उन्हें तत्सम और तद्भव दोनों ही मानना पड़ेगा। उनकी पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा अक्षुण्ण है।

पञ्चम वर्ग में तीन बातें हैं। जहाँ तक अज्ञात-व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति-रहित शब्दों का प्रश्न है, डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इन्हें हमारी अल्पज्ञता का सूचक माना। अल्पज्ञता की स्थिति को लेकर उनपर व्यंग्य अथवा आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि—(क) स्वयं प्राचीन वैयाकरणो मे एक ही शब्द को तत्सम, तद्भव, प्राकृत, साध्यमान और देशी[६४] कहने की विरोधी स्थितिया दृष्टिगत होती हैं; तथा (ख) अनेक आधुनिक विद्वानों[६५] ने बहुत बड़ी संख्या में ऐसे देशज शब्दो को संस्कृत, कन्नड़, मुण्डा आदि भाषाओ का सिद्ध किया है।

दूसरी बात है शब्दों के निराधार या स्वतः-निर्मित होने की। यहाँ इतना निश्चित ही है कि अकारण और बिना किसी आधारभूत वस्तुस्थिति के शब्दों की उत्पत्ति या निर्माण सम्भव नही है। यदि यह सम्भव भी हो तो दार्शनिक और धार्मिक स्तर पर शब्दों की स्वयम्भू स्थिति पर विचार करना होगा और भाषा-उत्पत्ति के समस्त सिद्धान्त सिमट कर इसके अन्तर्गत आ जायेंगे। तीसरी बात यह है कि हिन्दी के देशज वही है जो हिन्दी-युग में बने हैं। यह प्रश्न भी शब्दों को निराधार और स्वतः निर्मित मानने के सिद्धान्त से विशेष भिन्न नहीं है। डॉ० तिवारी ने स्पष्टतः यह सङ्केत भी किया है कि प्राकृत-कोषों में ऐसे शब्दों की व्याख्या और सूची उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध मे अपभ्रंश-अभिधान की कमी खटकती है। पाणिनि के धातुपाठ में दी गयी धातुओं के प्रति विद्वानों[६६] ने यह सन्देह भी प्रकट किया है कि वे मूलतः प्राकृत थीं अथवा द्रविड़ भाषाओं से अपनायी गयी है। शब्दों के लिए भी ऐसे अनेक सङ्केत[६७] विचारणीय हैं। डॉ० पालसुले ने अपने संस्कृत धातुपाठ की भूमिका[६८] में अनेक-रूपात्मकता का तथा एक ही धातु के कुछ धातुपाठों में प्राप्त होने और कुछ मे न प्राप्त होने का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार इन तथाकथित देशज शब्दों के अनेक स्रोत निश्चित रूप से खुले हैं।

अन्ततः यह प्रश्न शेष रह जाता है, देशज फिर हैं क्या? इस प्रश्न पर सर्वाङ्ग रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह कहना अधिक समीचीन है कि संस्कृत और प्राकृत की दृष्टि से देशज की जो संज्ञा थी वह मान्य नही है   आधुनिक युग मे देशज के विवेचन में डा० तगारे[६९] ने काल्डवेल

और उनके अनुयायियों की आलोचना करते हुए यह आवश्यकता व्यक्त की है कि इस सम्बन्ध में प्राग्आर्य द्रविड़ तथा एस्ट्रोएशियाटिक भाषाओं की सहायता ली जानी चाहिए। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि 'देशज' नाम से शब्दों का वर्गीकरण उचित नहीं है और हिन्दी ही नहीं प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में देशज शब्दों की स्थिति को मान्य स्वीकार करना गलत होगा। उदाहरणस्वरूप, कुछ शब्दों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार नीचे दिये जाते हैं। विचार-भिन्नता और स्रोत की विशेषताएँ, इस प्रश्न पर नवीन प्रकाश भी डालती हैं और यह प्रकट हो जाता है कि देशज कुछ भी नहीं है।

डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'पेड़'[७०] शब्द को देशज माना है किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इसे 'पिण्ड'[७१] से व्युत्पन्न मानते हैं। कहीं-कहीं तो हेमचन्द्राचार्य की भाँति एक ही विद्वान् एक स्थल पर एक शब्द को अज्ञात-व्युत्पत्ति मूलक कहता है और अन्य स्थान पर उसे भाषा-विशेष का सिद्ध करता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। संस्कृत के शब्द 'कञ्चूल', कञ्चूलिका' (कञ्चुकी, जाकट), 'चोलिका' शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० चाटुर्ज्या[७२] ने चोल शब्द को 'चेल' (=वस्त्र) से सम्बद्ध मानते हुए लिखा है कि 'चेल' शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है। किन्तु उसी निबन्ध में अन्यत्र[७३] संस्कृत 'तुण्डि चेल' (एक प्रकार के वस्त्र) पर विचार करते हुए स्पष्टः लिखा है कि 'चेल' आर्य-भाषा का शब्द है, जिसका सम्बन्ध 'चीर' शब्द से है जो उसी धातु से निकला है जिससे हिन्दी का चीरना और बँगला का चिरा। अन्ततः इन सभी रूपों पर विचार कर लेने के पश्चात् हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि देशज की समस्या मात्र-समस्या है और शब्द-विशेष को देशज की संज्ञा नहीं दी जा सकती। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अन्यान्य भाषाओं के स्रोत खुले हैं, आवश्यकता है उनके अध्ययन और अवगाहन की।

सन्दर्भ सङ्केत

१. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : पिशल; पृष्ठ १२; हिस्टॉरिकल ग्रैमर ऑव अपभ्रंश : तगारे, पृष्ठ ५; कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ ३४।

२. वही; हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ ८।

३. हिं० वि० अ० यो०, पृष्ठ ८।

४. सनत्कुमारचरित : याकोबी, भूमिका, पृ० १७; बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरिएण्टल स्टडीज, खण्ड १३, अङ्क २ : अल्फ़्रेड मास्टर; अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृष्ठ १७; डॉ० उपाध्ये : एनसाइक्लोपीडिया ऑव लिट्रेचर, न्यूयार्क; विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ, संवत् २००३, डॉ० कोलते, पृष्ठ ४७९; पाहुडदोहा : सम्पादक : डॉ० हीरालाल जैन, पृष्ठ ४०; हिं० वि० अ० यो०, पृष्ठ १–५; कीर्ति० अव० भा०, पृष्ठ १–२४।

५. हिं० वि० अ० यो०, पृष्ठ ८; कीर्ति० अव० भा०, पृष्ठ ३५-३६; रामचरितमानस : तुलसीदास, १।७, १।९, १।१५।

६. दोहावली : तुलसीदास, ५७२ दोहा; रा० च० मा०, १।३१; कविप्रिया : केशवदास, दूसरा प्रभाव दोहा १७

७. सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रन्थ, माया को अङ्ग, साखी १, पृष्ठ ३७९, प्रकाश
: महन्त बालकदास जी साहब, बड़ौदा।

८. लीलावईगाहा : कोऊहल, १३३०।

९. कुवलयमालाकहा : उद्योतन सूरि : सम्पा०---डॉ० उपाध्ये, भूमिका से उद्धृत
ण : स्वयम्भू, १।३; महापुराण : पुष्पदन्त, १।८।१०।

१०. णेमिणाह चरिउ : लक्ष्मण देव, तगारे, पृष्ठ ६ से उद्धृत।

११. तरङ्गावईकहा : पादलिप्त, सम्पादक : याकोबी, पृ० १७ से उद्धृत।

१२. कीर्तिलता : विद्यापति, १-१९। १३. रा० च० मा०, १।१४।

१४. हिं० वि० अ० यो०, पृष्ठ ८; पुरातत्त्व निबन्धावली : राहुल सांकृत्यायन, पृ
ऋतम्भरा : डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १६१।

१५. सनत्कुमार चरित, भूमिका, पृष्ठ १७।

१६. लीलावई गाहा : भूमिका से उद्धृत उद्योतन के पद्य।

१७. एमेय मुद्ध जुयई मनोहरं पाययाएं भासाए।
पविरल देसी सुलक्खं कहसु कहं दिव्वमाणुसियं।। (---लीलावई, गाहा ४१
भणियं च पियय माए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अंगाइं हमीए कहाएं सज्जणा संग जोउगाई।। (---वही, १३३०)

१८. प्राकृत-व्याकरण : मधुसूदनप्रसाद मिश्र, भूमिका, पृष्ठ ६।

१९. नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, १७।३।

२०. प्रा० भा० व्या० : पिशल, पृष्ठ १२।

२१. प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य।
तन्मनुहादि कथञ्चन रूढिरिति न संस्कृते रूपयते।। (---काव्यालङ्कार ६।२

२२. प्रा० भा० व्या० : पिशल , पृष्ठ १२।

२३. जो लक्खणे सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउण लक्खणा सति सम्भवा ते इह णिबद्धा।। (---देशीनाममाला
लक्षणे शब्दशास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्रनाम्नि
ये न सिद्धाः प्रकृतिप्रत्ययादि विभागेन न निष्पन्नेस्तेऽत्र निबद्धाः।। (---टीकावले

२४. कॉम्परेटिव ग्रैमर ऑव माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज़ ऑव इण्डिया, भाग १, पृ० १२।

२५. प्रा० भा० व्या०, पृष्ठ १२-१४। २६. कीर्ति० अव० भा०, पृष्ठ ३५।

२७. ए कॉम्परेटिव ग्रैमर ऑव द गौडियन लैंग्वेज, भूमिका, पृष्ठ ३९-४०।

२८. विल्सन फ़िलॉलॉजिकल लेक्चरर्स, पृष्ठ १०८।

२९. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, खण्ड १, भाग १, अनुवादक---डॉ० उदयनाराय
, पृष्ठ २३६।

३०. ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट ऑव बङ्गाली लैंग्वेज, पृष्ठ १९१-९२; ऋतम्भर
१०।

३१. भाषा-विज्ञान पृष्ठ २९२। ३२ सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ १२६

३३ हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ २११ १२
३४. प्राकृतविमर्श, पृष्ठ ६३–६७; भाषाविज्ञान और हिन्दी, पृष्ठ १६२-६३।
३५. ए ग्रैमर ऑव हिन्दी लैंग्वेज, पृष्ठ ३४–४६। ३६. हि० ग्रै० अप०, पृष्ठ ५–९।
३७. हि० वि० अ० यो०,६–८। ३८. हिन्दी व्याकरण, पृष्ठ २५।
३९. हिन्दी व्याकरण चन्द्रोदय। ४०. हिन्दी भाषा और लिपि का विकास, पृष्ठ १७७
४१. द संस्कृत लैंग्वेज, पृष्ठ ४७। ४२. पाली इंगलिश डिक्शनरी, भूमिका, पृष्ठ ७।
४३. पाइयसद्दमहण्णवो, भूमिका, पृष्ठ ७।
४४. चन्दवरदाई और उनका काव्य, पृष्ठ ३१०।
४५. राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ५३७।
४६. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : अनुवादक : डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ० ९७, ९८, ,, १०७ के फुटनोट। ४७. भाषाविज्ञान, पृष्ठ २९१।
४८. हिन्दी भाषा का इतिहास : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, भूमिका, पृष्ठ ७१।
४९. देखिए, प्रस्तुत लेख, अनुच्छेद ३। ५०. हिं० भा० इति०, भूमिका, पृष्ठ ६९-७०।
५१. कीर्ति० अव० भा०, पृष्ठ ४ से उद्धृत।
५२. शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्। (—काव्यादर्श : दण्डी, १।३६)
५३. हि० वि० अ० यो०, पृष्ठ ४। ५४. वही, पृष्ठ ५।
५५. भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।"
(—महाभाष्यम् : किलहार्न, भाग १, पस्पशाह्निक)
५६. अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यतेसाधुशब्द समानार्थश्च।
५७. गोरगावी। (—प्राकृतलक्षणम् २।१६)
५८. गोणादयः। (—सिद्धहेमशब्दानुशासन ८।२।१४७)
५९. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७७।
६०. प्राकृत विमर्श : डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृष्ठ ६५; हिं० भा० उ० वि० : उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ २१२ तथा ४९०; हि० ग्रै० अप० : डॉ० तगारे, पृष्ठ ६।
६१. हिं० भा० इति०, भूमिका, पृष्ठ ७०। ६२. प्रा० भा० व्या०, पृष्ठ ५२।
६३. वर्णरत्नाकर, ५५ ख। ६४. प्रा० भा० व्या, पृष्ठ १२।
६५. एनल्स ऑव द भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, ८, डॉ० उपाध्ये : कनारीज वर्ड्स देशी लेक्सिकान्स, पृष्ठ ६३-७१; वही, १२, डॉ० पी० एल० वैद्य : आब्जर्वेशन्स ऑव न्द्राज देशीनाममाला, पृष्ठ २७४–८४। ६६. प्रा० भा० व्या०, पादटिप्पणी, पृष्ठ ६५
६७. विशेष विवरण के लिए देखिए, पादटिप्पणी ६५ में उद्धृत ग्रन्थ।
६८. ए कॉनकार्डेन्स ऑव संस्कृत धातुपाठाज : गजानन बालकृष्ण पालसुले, भूमिका, पृष्ठ २
६९. हि० ग्रै० अप०, पृष्ठ ७। ७०. सामान्य भाषाविज्ञान, पृष्ठ १२६।
७१. ऋतम्भरा, पृष्ठ ११७। ७२. वही, पृष्ठ ११८।
७३ वही पष्ठ ११९।

ऐतिहासिक कथावस्तु का विभिन्न कथा-रूपों में व्यवहार

गोविन्दजी

•

पुराणों एवं जैन-बौद्ध पुराख्यानों, प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों एवं नाटकों, हिन्दी-प्रदेशीय लोकगाथाओं तथा आधुनिक हिन्दी-कथा एवं नाटक-साहित्य में ऐतिहासिक कथा-तन्तु के विकास-क्रम की व्याख्या

हिन्दी के 'कथा' एवं 'इतिहास' शब्दों के लिए अंग्रेजी में क्रमशः 'स्टोरी' (Story) तथा 'हिस्ट्री' (History) का प्रयोग होता है। 'स्टोरी' तथा 'हिस्ट्री' शब्द समान स्तर के हैं और इनकी व्युत्पत्ति एक ही ग्रीक शब्द 'हिस्तोरिया' (Histo-ria) से हुई है जिसका अर्थ है अन्वेषण अथवा जाच-पड़ताल द्वारा प्राप्त की गयी कोई सूचना। अतएव व्यापक अर्थ में पृथ्वी पर रहने वाले मानव तथा मानवेतर वस्तुओं से सम्बन्धित घटनाओ का समवाय ही इतिहास है।[1] इसमें कोई सन्देह नही कि मानव की तरह पृथ्वी पर रहने वाली सभी वस्तुओं का अपना एक इतिहास है, किन्तु जब कोई व्यक्ति, चाहे वह सामान्य ही क्यों न हो, बिना किसी व्याख्यात्मक सन्दर्भ के इतिहास की बातचीत करता है तो ऐसा अनुमान कर लिया जाता है कि उसका सङ्केत अपने जातीय रिकार्डो अर्थात् पृथ्वी पर मानवता की विकास-कथा की ओर है। 'कथा' में भी मनुष्य-जीवन की कहानी व्यापक रूप से रहती है, चाहे वह कल्पित ही क्यो न हो। इस दृष्टि से 'कथा' और 'इतिहास' एक दूसरे के बहुत कुछ समीप हैं और उनकी प्रकृति में एक सीमा तक साम्य है।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'इतिहास' का अर्थ आधुनिक अर्थ से अधिक व्यापक था। कौटिल्य के अनुसार पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सब इतिहास हैं।[2] रामायण और महाभारत को भी इतिहास-ग्रन्थ माना गया है। 'इतिहास' शब्द के इस व्यापक एवं अनेकार्थक स्वरूप के कारण ही आधुनिक इतिहासकार के सामने भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अनेक जटिल एवं भ्रामक समस्याएँ आ खड़ी होती हैं जिनका समाधान करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। सच बात तो यह है कि 'इतिहास' शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में आधुनिक अर्थ मे कभी नहीं हुआ और न आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से कोई 'इतिहास-ग्रन्थ' ही लिखा गया।

यद्यपि प्राचीन भारतीय चिन्तन में आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था, फिर भी कथा-निर्माण के लिए ऐतिहासिक कथावस्तु तथा वास्तविक घटनाओं का आधार प्रचुरता

से ग्रहण किया गया था। आज भी महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, नाटकों, उपन्यासों एवं कहानियो के लिए ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार लिया जाता है। किन्तु एक बात लक्ष्य करने की है कि प्राचीन ऐतिहासिक काव्य, कथा-आख्यायिकाएँ, नाटक आदि जहाँ आज के इतिहासकार के लिए इतिहास के स्रोत रहे हैं वहाँ आधुनिक ऐतिहासिक कथाकार के लिए इतिहास ही प्रमुख आधार रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास और आधुनिक ऐतिहासिक कथाओं की रचना-प्रक्रिया एक दूसरे के सर्वथा विपरीत है। प्राचीन भारतीय इतिहास में जहाँ कल्पना को मुक्त स्वीकृति मिली है, वहाँ आधुनिक इतिहास मे उसका पूर्ण निषेध करके यथार्थ एवं तथ्यात्मक रूप की प्रतिष्ठा की जाती है तथा प्रामाणिकता पर विशेष बल दिया जाता है।

ऐतिहासिक कथावस्तु का व्यवहार कथा के आदिम रूप मौखिक कथा-कहानियों (लोक-गाथा एवं लोक-कथा) में नाना रूपों में हुआ है और ऐतिहासिक व्यक्तियो और घटनाओं को लेकर अगणित लोक-कथानकों की रचना हुई है। वस्तुतः भारतीय लोक-कथानकों की एक यह विशेषता रही है कि वे प्रारम्भ में सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व तथा वास्तविक घटना का आधार ले कर रचे जाते हैं, किन्तु बाद में उनके विकास-क्रम मे ऐसी अनेक लोक-प्रचलित, कल्पना-जन्य अद्भुत् चमत्कारात्मक कहानियाँ एवं अनुश्रुतियाँ आ कर जुड़ जाती हैं कि उनमें ऐतिहासिक, घटना-परम्परा का अभाव-सा लगने लगता है। फलस्वरूप उनमे ऐतिहासिक व्यक्तित्व केवल एक निजन्धरी व्यक्तित्व-सा जान पड़ने लगता है। विक्रमादित्य, उदयन, सातवाहन, भोज आदि ऐतिहासिक व्यक्तित्व ऐसे ही हैं जो लोक-कथानकों में निजन्धरी व्यक्तित्व से लगते है। अतएव ऐतिहासिक लोक-कथानकों को इतिहास की कसौटी पर कसना और उनमें इतिहास की खोज करना एक अत्यन्त ही दुरूह कार्य है।

हिन्दी-प्रदेश की लोकगाथाएँ

हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रो में वर्तमान समय में लोक-प्रचलित गाथाओं में आल्हा लोरिकायन, राजा भरथरी, गोपीचन्द, विजयमल, सोरठी, विहुला, शोभानायका बनजारा, और कुँवरसिंह विशेष प्रसिद्ध हैं। सैकड़ों वर्षों से ये गाथाएँ कण्ठानुकण्ठ-रक्षित और विकसित होती जा रही हैं। इनमें ऐतिहासिक आधार या पृष्ठभूमि वाली गाथाएँ ये हैं—आल्हा, गोपीचन्द, राजा भरथरी तथा बाबू कुँवरसिंह। ऐतिहासिक आधार से तात्पर्य यह है कि इनके पात्रों तथा स्थानों के नाम आदि तो ऐतिहासिक हैं पर घटनाएँ अधिकतर जनश्रुतियों पर आधारित ह।

आल्हा मूलतः और प्रधानतया एक बुन्देली लोक-कथा है किन्तु लगभग सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश मे इसका प्रचार है। इस लोक-गाथा में महोबा के राजा परमर्दिदेव के दो दरबारी सामन्तो—आल्हा और ऊदल—की उन ऐतिहासिक लड़ाइयों का वर्णन है जिन्हे इन वीरों ने परमर्दिदेव की ओर से उस समय के अन्यतम वीर पृथ्वीराज चौहान के साथ लड़ा था। यद्यपि आल्हा अपने वर्तमान रूप में शुद्ध ऐतिहासिक लोक-काव्य नहीं है, किन्तु इसका मूलाधार और पृष्ठभूमि अवश्य ऐतिहासिक रही होगी। इसके प्रधान पात्रो में कुछ तो ऐसे है जिनका इतिहास में उल्लेख मिलता है, कुछ ऐसे पात्र हैं जिनके नाम से सम्बद्ध कुछ मन्दिर, भवन या स्थान आज तक उनकी स्मृति दिलाते हैं। अनेक पात्र काल्पनिक भी हैं डा० ग्रियर्सन ने इस लोक-कथा की ऐतिहासिकता

के सम्बन्ध में लिखा है कि यह बात ध्यान रखने की है कि आल्हखण्ड में जो कुछ भी कहा गया है वह इतिहास नहीं, निजन्धरी आख्यान है और वह निजन्धरी आख्यान मात्र नहीं है वरन् उसमें बहुधा परस्पर विरोधी बातें भी कही गयी हैं। उसमें प्रमुख पात्र तो ऐतिहासिक है किन्तु उनके साहस और पराक्रम के जो कार्य आल्हखण्ड में वर्णित हैं वे ऐतिहासिक सत्य नहीं है।[३]" डॉ० ग्रियर्सन के कथन में वास्तविकता का काफी अंश है, किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मूल कथा में ऐतिहासिकता का काफ़ी अंश रहा होगा और अब लोक-कल्पना के आवरण में उसकी ऐतिहासिकता दब-सी गयी है।

नाथ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गोपीचन्द का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। नवनाथों मे इनकी भी गणना होती है। जोगियों मे गोपीचन्द की गाथा बहुत प्रचलित है। गोपीचन्द ने माता मैनावती के आदेशानुसार राज और भोग-विलास का त्याग कर तपस्या का जीवन व्यतीत किया था। उनके इस त्याग की कथा ही लोकगाथा के रूप में प्रसिद्ध है।

गोपीचन्द को बहुत दिनों तक विद्वान् अनैतिहासिक व्यक्ति समझते रहे और इनकी कथा को कवि-कल्पना-प्रसूत मानते रहे। किन्तु डॉ० ग्रियर्सन ने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे। गोपीचन्द की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "गोपीचन्द बङ्गाल के राजा मानिकचन्द के पुत्र थे। मानिकचन्द का सम्बन्ध पालवंश से बताया जाता है जो सन् १०९५ तक बङ्गाल में शासनारूढ थे। इसके बाद ये लोग पूर्व की ओर हटने लगे। गोपीचन्द का ही दूसरा नाम गोविन्दचन्द है।[४]"

राजा भरथरी से सम्बन्धित लोकगाथा में राजा भरथरी और रानी सामदेई की कथा है। भरथरी नाथ-परम्परा के अनुगामी थे। नवनाथों में इनका भी नाम आता है। कुछ लोगो का अनुमान है कि भरथरी किसी वाम-पन्थी लोक-गायक का कल्पित एवं अनैतिहासिक पात्र है। किन्तु जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, इनका सम्बन्ध उज्जैन के राजवंश से था। राजा भरथरी ने अपना राज्य छोटे भाई विक्रमादित्य को सौंप कर गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। ब्रिग्स के अनुसार उज्जैन में एक विक्रमादित्य नामक राजा सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य करता रहा।[५] इस प्रकार द्विवेदी जी ने भरथरी को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।

बाबू कुँवरसिंह से सम्बन्धित लोकगाथा सम्पूर्ण भोजपुरी-प्रदेश में गायी जाती है। कुँवरसिंह शाहाबाद जिले के जगदीशपुर गाँव के निवासी थे और आसपास के कुछ इलाको के अधिपति थे। सन् १८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने प्रमुख रूप से भाग लिया था और वीर-गति को प्राप्त हुए थे।[६]

ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार ले कर लिखी गयी जिन गाथाओं की चर्चा ऊपर की गयी है, वे प्रधानतः हिन्दी-प्रदेश में ही प्रचलित हैं। किन्तु अन्य प्रादेशिक बोलियों मे भी ऐतिहासिक कथानकों का आधार ले कर गाथाओं की रचना होती रही है। मराठी में तो लोकगाथा के लिए प्रयुक्त 'पवाड़ा' शब्द का अर्थ ही होता है किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की गाथा का वर्णन।[७] इसी प्रकार अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को ले कर लोक-कहानियाँ भी गढी जाती रही हैं। विक्रम और राजा भोज की कहानियाँ तो सम्पूर्ण देश और समुदाय

मे प्रचलित हैं। ऐतिहासिक लोक-कथाओं का सम्बन्ध अधिकतर स्थानीय इतिहास से ही होता है।

पुराख्यान

समूचा पुराण-साहित्य आख्यानात्मक है। कुछ वर्षों पहले पौराणिक आख्यानों एव कथाओं को मात्र कवि-कल्पना एवं धार्मिक साहित्य कह कर उन्हें इतिहास से दूर रखा जाता था, ओर उनमें वर्णित नामो एवं घटनाओं को अप्रामाणिक माना जाता था, किन्तु अब इतिहासानुरागी विद्वान् इतिहास की दृष्टि से उसे अमूल्य निधि मानने लगे हैं। इसमें तो कोई सन्देह नही कि अधिकांश पौराणिक कथाएँ कल्पित हैं और उनमें इतिहास की खोज करना व्यर्थ है, किन्तु उनमें ऐसे आख्यानों एवं कथाओं की भी कमी नहीं है जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से सत्यता है ओर वे ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को ले कर लिखे गये है।

साधारणतः पुराणों में पाँच विषयों का वर्णन होना चाहिए—सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि या जगत् का अवान्तर प्रलय), वंश (प्राचीन राजाओं, देवों एव ऋषियों की वंशावलियाँ), मन्वन्तर (काल के महायुग) तथा वंशानुचरित। किन्तु यह आदर्श-योजना वर्तमान पुराणों में पूरी तरह घटित नहीं मिलती। पुराणों की इतिहास-विषयक सामग्री वश तथा वंशानुचरित तक ही सीमित है। वंश के अन्तर्गत प्राचीन राजाओं, देवों एवं ऋषियो की विस्तृत वशावलियाँ हैं। वंशानुचरित में किसी राजा के जीवन से सम्बद्ध वृत्तान्तो का वर्णन है। वंश-वर्णन के प्रसङ्ग में किसी महान् राजा के चरित्र का गान कभी-कभी संक्षेप में गाथाओ द्वारा होता है।[८] वंश तथा वंशानुचरित से सम्बन्धित ऐतिहासिक गाथाएं अठारह पुराणों मे से केवल सात में मिलती हैं, ग्यारह पुराणों में इतिहासपरक सामग्री का अभाव है।[९] पुराणों की ये ऐतिहासिक गाथाएँ अभिलेखों की प्रशस्तियों की भाँति राजाओं के व्यक्तित्व और चरित्र का सूक्ष्म परिचय देती है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पुराणों में वैदिक काल के पूर्ववर्ती काल का भी इतिहास है और उनमें बहुत-सी ऐसी कहानियाँ और ऐतिहासिक घटनाएँ विवृत हैं जो आर्य-पूर्वजातियो की चीज है।[१०] आज पुराणों के गम्भीर अध्ययन के द्वारा प्रामाणिक वंश-वृत्तों की वास्तविकता अनेक विद्वानों द्वारा स्वीकृत हो चुकी है[११]। पुराणों के वैज्ञानिक विवेचक पार्जिटर तथा काशीप्रसाद जायसवाल ने पुराणों के आधार पर इतिहास की प्रामाणिक सामग्रियाँ सङ्कलित की हैं और भारतीय इतिहास के आन्ध्र, वाकाटक, भारशिव और गुप्त वंशों के इतिहास को सामने रखा है।[१२]

पुराणों के कितने नाम एवं घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, यह एक बड़ा विवादास्पद प्रश्न है और इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय लेना आसान कार्य नहीं है। किन्तु अब तक के अध्ययनों से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कुछ पौराणिक आख्यानों एवं कथाओं का मूलाधार इतिहास अवश्य था और ऐतिहासिक विवेक के अभाव में भी पौराणिक कथाकारों द्वारा कथा-निर्माण के लिए ऐतिहासिक कथानक का आधार ग्रहण किया जाता था।

पौराणिक आख्यानों एवं कथाओं के —— र चलने वाली **बौद्ध एवं जैन कथा-धाराएँ**

भारतीय कथा-साहित्य की ही नहीं भारतीय इतिहास की भी अमूल्य निधि हैं। इन कथाओं मे ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं के आधार पर लिखी गयी है। जातकों तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो बुद्ध तथा उनकी समसामयिक ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध हैं तथा तत्कालीन एवं उसके पहले के इतिहास की ओर इङ्गित करती हैं। बुद्धकालीन अनेक राजाओं---जैसे बिम्बिसार, प्रसेनजित्, उदयन, चण्ड प्रद्योत, अजातशत्रु आदि से सम्बन्धित अनेक कथाएँ जातकों एवं बौद्ध साहित्य में संग्रहीत हैं। इसी प्रकार जैन आगम-ग्रन्थों में भी ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को ले कर लिखी गयी हैं। श्रेणिक बिम्बिसार और चेलना का विवाह (आवश्यक चूर्णि २), महावीर की प्रथम शिष्या चन्दनबाला (आवश्यक चूर्णि २), कुशल मन्त्री अभयकुमार (आवश्यक चूर्णि २), रानी चेलना का सतीत्व (बृहत्कल्प भाष्यवृत्ति पीठिका), रानी मृगावती का कौशल (आवश्यक चूर्णि), श्रेणिक की मृत्यु, कुणिक तथा चेटक का महायुद्ध (आवश्यक चूर्णि २) से सम्बन्धित वृत्तान्त-कथाएँ इतिहासाश्रित है।[23] हेमचन्द्र लिखित 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' मे चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ले कर कई विचित्र आख्यान दिये गये है।

पौराणिक तथा जैन एवं बौद्ध कथाओं के मूल में धार्मिक प्रवृत्ति प्रधान रही है और इसी उद्देश्य से ये कथाएँ रची गयी है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन ऐतिहासिक कथाओं का निर्माण किया गया उनमें अपने धर्म को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए कहीं-कहीं तथ्य-विरोधी बातें भी लिख दी गयी। अतः इतिहासकार के लिए इन कथाओं को सामने रख कर इतिहास की सङ्गति मिल पाना कभी-कभी बड़ा कठिन हो जाता है।

पौराणिक तथा बौद्ध-जैन कथाओं में ऐतिहासिक कथावस्तु के सङ्गठन एवं सञ्चयन की दृष्टि से बहुत-सी कमियाँ हैं। इसीसे यद्यपि वे कथा-साहित्य की अमूल्य निधि हैं, फिर भी शुद्ध साहित्यिक कथाएँ नहीं कही जा सकतीं। ऐतिहासिक कथावस्तु का कलात्मक सञ्चयन एवं सङ्गठन कथा के साहित्यिक रूप प्रबन्ध-काव्य, नाटक, कथा-आख्यायिका, उपन्यास तथा आधुनिक कहानी में मिलता है।

ऐतिहासिक पुरुषों तथा घटनाओं से सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य और नाटक लिखने की परम्परा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही चली आ रही है। अनेक भारतीय कवियों ने प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को ले कर अपनी भव्य कल्पना एवं सृजनात्मक शक्ति द्वारा महान् काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार के काव्य-ग्रन्थों के लिखने की परम्परा का सूत्रपात हम रामायण एवं महाभारत से मान सकते हैं जो सम्भवतः सन् ईसवी के ४०० वर्ष पहले लिखे गये थे। कीथ ने रामायण को इतिहास और महाकाव्य के बीच की रचना कहा है।[24] महाभारत की घटनाओं को भी विद्वानों ने इतिहास के रूप में स्वीकार किया है और पार्जीटर ने तो ३२२ ई०-पू० को चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारम्भ की तिथि मान कर पुराणों के आधार पर महाभारत के राजवंशों का राज्यकाल तथा महाभारत युद्ध की सम्भावित तिथि भी निकाल दी है।[25]

रामायण और महाभारत में इतनी लौकिक-अलौकिक तथा पौराणिक कथाएँ भरी पड़ी है कि सबकी ऐतिहासिकता पर किसी भी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता फिर भी इतना

तो कहा ही जा सकता है कि इनकी मूल कथाएँ अवश्य ही ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं पर आधारित रही होंगी। यह बात दूसरी है कि लौकिक-अलौकिक घटनाओं के महाजाल मे से अब मूलकथा को निकालना तथा उनको ऐतिहासिकता की कसौटी पर कसना दुस्साहस का कार्य है। सच बात तो यह है कि ये दोनों ग्रन्थ अपने युग के ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेश-मूलक और तत्त्ववाद-सम्बन्धी कथाओं के विशाल विश्वकोश हैं।[१६]

ऐतिहासिक काव्य

कुछ विद्वानों ने ७वीं-८वीं शताब्दी से अलंकृत ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा का प्रारम्भ माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध काव्य लिखने की प्रथा का प्रचलन सम्भवतः ईरानियों तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त की जातियों के संसर्ग का ही फल है।[१७] इतिहास को केवल राजाओं की कहानी तक सीमित कर देने में द्विवेदी जी की बात सत्य हो सकती है, लेकिन इतिहास केवल राजाओं की लड़ाइयों तथा विवाहों का लेखा-जोखा मात्र ही तो नहीं है। 'वह तो', द्विवेदी जी की शब्दावली में, "जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन्त कथा होता है जो काल-प्रवाह से नित्य उद्‌घाटित होते रहने वाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्‌घाटित करता रहता है।" इतिहास की इस परिभाषा से द्विवेदी जी की बात को एकदम स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रथम शती ईसवी में ही अश्वघोष ने इतिहास की गति में एक नया मोड़ देने वाले व्यक्ति महात्मा बुद्ध के जीवन को आधार बना कर 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' नामक अलकृत ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थों की रचना की। ऐतिहासिक कथावस्तु के आधार पर काव्य ग्रन्थों की रचना को ध्यान में रख कर ही सम्भवतः दण्डी (७ वीं शती ईसवी) तथा अग्निपुराणकार ने महाकाव्य के लक्षणों को निर्धारित करते समय यह भी निर्धारित किया कि महाकाव्य का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध अथवा किसी महात्मा सज्जन व्यक्ति के वास्तविक जीवन पर आश्रित होना चाहिए।[१८] द्विवेदी जी की बात के समर्थन में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ७ वीं-८ वीं शताब्दी मे ईरानियों तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त की जातियों के सम्पर्क से ऐतिहासिक काव्य लिखने की परम्परा को बल मिला।

ऐतिहासिक काव्यों के सम्बन्ध में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था और विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य-निरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओ की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार ऐतिहासिक काव्यों में इतिहास को कल्पना तथा सम्भावनाओं के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने वाले साधन मात्र मान लिये गये हैं। एक तथ्य को ले कर अनेक सम्भावनाओं की सृष्टि की गयी जो कभी-कभी अलौकिकता की सीमा तक भी पहुँच गयी है यही कारण है कि इतिहास के विद्वान के लिए इन अनेक

कल्पित सम्भावनाओं के बीच में ऐतिहासिक तथ्यों को खोज निकालना एवं इतिहास की सङ्गति बैठाना बड़ा कठिन हो जाता है

भारतवर्ष में या कहीं भी प्राचीन काल में इतिहास का वह स्वरूप नहीं दिखायी पड़ता जैसा कि आज के वैज्ञानिक युग में देखा जाता है। अपने देश में "हमेशा से ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या निजन्धरी कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप कर पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप कर के निजन्धरी कथाओं का नायक बना दिया गया है, जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। पद्मावत के रत्नसेन और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भाण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रङ्ग में रँगा है।"[33] यही कारण है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध काव्यों में इतिहास कम एवं कल्पना-प्रसूत घटनाएँ अधिक हैं। फिर भी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्य निजन्धरी कथाओं से इस अर्थ में भिन्न अवश्य है कि उनमें कुछ न कुछ इतिहास की सामग्री वर्तमान है।

भारतीय कवियों ने काव्य को 'शिव' और 'आनन्द' का साधन माना है। सिद्धान्तत काव्य में ऐसी घटनाओं एवं परिस्थितियों का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो दु:खोत्पादक होते हैं, यद्यपि वास्तविक जीवन में ऐसी दु:खोत्पादक विषम परिस्थितियाँ आती ही रहती हैं। ऐतिहासिक कथानकों में भी भारतीय कवियों की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है। बहुत कम कवियों ने ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के नायक को उसके प्रकृत रूप से हटा कर धीर, वीर एवं ललित बनाने की प्रवृत्ति ही अधिक प्रबल हो गयी है और वास्तविक जीवन के कर्तव्य, सङ्घर्ष, आत्मविरोध और आत्मप्रतिरोध-जैसी बातें उनमें नहीं आ पातीं। सब मिला कर ऐतिहासिक काव्य कल्पित निजन्धरी काव्यों से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ते।

अश्वघोष के 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' के बाद ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार ले कर पद्यात्मक शैली में रचित प्रबन्ध-ग्रन्थ पद्मगुप्त 'परिमल' का 'नवसाहसाङ्क-चरित' है जो सम्भवत: १००५ ईसवी के आसपास लिखा गया था। इस काव्य-ग्रन्थ में धारा के राजा नवसाहसाङ्क उपाधिधारी सिन्धुराज की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह की कल्पित कथा का वर्णन है। यद्यपि इस ग्रन्थ की मूल-कथा ऐतिहासिक नहीं है, फिर भी इसमें यत्र-तत्र इतिहास की सामग्री मिल जाती है। बिल्हण-रचित 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' (रचना-काल लगभग ११ वीं शती उत्तरार्ध) का ऐतिहासिक काव्य-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में बिल्हण ने १८ सर्गों में अपने आश्रयदाता कल्याण के चालुक्य-राजा विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२७ ईसवी) को नायक बना कर उससे सम्बद्ध अनेक ऐतिहासिक तथा अनैतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है। 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' में मूलत. एक महाकाव्य की रचना की साधारण पद्धति का प्रयोग एक ऐतिहासिक विषय पर किया गया है। 'नवसाहसाङ्क-चरित' तथा 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' राजकीय विवाहों और युद्धों के काव्य हैं। राजाओं के गुणानुवाद के लिए उन दिनों ये ही दो

विषय उपयुक्त समझे जाते थे। दोनों में ही कल्पना का प्रचुर अवकाश और सम्भावनाओं की पूरी गुञ्जाइश रहती थी। वस्तुतः इन स्तुतिमूलक कल्पना-प्रवण काव्यों में इतिहास का केवल सुदूरस्थ स्पर्श मात्र है। इतिहास की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' है। इस काव्य-ग्रन्थ को कीथ ने प्रथम भारतीय इतिहास-ग्रन्थ तथा कल्हण को प्रथम भारतीय इतिहास-लेखक माना है।[20] इस महान् काव्य-ग्रन्थ में कल्हण ने काश्मीर के प्राचीन राजाओं तथा समसामयिक राजाओं का सजीव चित्र उपस्थित किया है। किन्तु इसमें हजारों वर्षों का इतिहास सम्मिलित होने के कारण कथा की अन्विति, कथावस्तु के सङ्गठन एवं महाकाव्योचित घटनाओं के चयन का अभाव है। यद्यपि पौराणिक और निजन्धरी तत्त्वों, देवी-देवताओं, भूत-प्रेत, राक्षस आदि अलौकिक-अप्राकृत शक्तियों के कार्यों, शकुन-शाप-वरदान, जादू-टोना, भाग्य, कर्मफल और पुनर्जन्म में विश्वास जैसी बातों के कारण राजतरङ्गिणी की सम्पूर्ण घटनाओं की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं किया जा सकता, फिर भी कल्हण ने समसामयिक और निकट भूत की घटनाओं को तटस्थदृष्टि से देखा है।[21] सब मिला कर राजतरङ्गिणी को एक ऐतिहासिक काव्य ही कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक चरित-काव्यों में सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित' बङ्गाल के राजा रामपाल के नाम से सम्बद्ध होने पर भी उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व से अछूता है। जल्हण का अपने आश्रयदाता सोमपाल के जीवन को लेकर लिखा काव्य 'सोमपाल-विलास' ऐतिहासिक काव्य ही है। जयानक का लिखे कहे जाने वाले 'पृथ्वीराज-विजय' के चरितनायक दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज हैं। जैन कवि हेमचन्द्राचार्य ने 'कुमारपालचरित' अथवा 'द्व्याश्रय' १२वीं शताब्दी ईसवी में लिखा जिसका कथानक अनहिलवाड़े के चालुक्य राजा कुमारपाल के पूर्वजों तथा स्वयं उसके जीवन से सम्बन्धित है। इसी प्रकार सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' और 'सुरथोत्सव' बालचन्द सूरि का 'वसन्तविलास' तथा जयचन्द सूरि का 'हम्मीरकाव्य' ऐतिहासिक काव्य है।

ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर लिखे जाने वाले काव्यों में विद्यापति की 'कीर्तिलता' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जो संस्कृत में न हो कर अपभ्रंश में है। यद्यपि यह पुस्तक भी कवि के आश्रयदाता कीर्तिसिंह की कीर्ति गाने के उद्देश्य से लिखी गयी है और कविजनोचित अलङ्कृत भाषा में रची गयी है, किन्तु संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों की तरह इसमें ऐतिहासिक तथ्य एवं घटनाएँ कल्पित घटनाओं या सम्भावनाओं के आवरण में धूमिल नहीं हो गयी है। व्यक्ति-परक होने पर भी यह काव्य-ग्रन्थ उस काल के वातावरण, रहन-सहन एवं जीवन का एक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें उस काल के हिन्दू-मुसलमानों, गाँव-नगरों, राजा-सामन्तों, जनता-सिपाहियों आदि का यथार्थ वर्णन किया गया है। यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित हो कर तथ्य-निरूपक पुस्तक नहीं बल्कि सचमुच का काव्य है।

हिन्दी में 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'पद्मावत' भी ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध हैं। इन प्रबन्ध-काव्यों की ऐतिहासिकता को ले कर विद्वानों में बहुत मत-वैभिन्य है। 'पृथ्वीराज-रासो' की ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता को लेकर उसके पक्ष-विपक्ष में मत प्रायः प्रकाशित होते ही रहते हैं। इनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि संस्कृत के अन्यान्य ऐतिहासिक

काव्य-ग्रन्थों की तरह मूलतः इनमे भी ऐतिहासिक और निजन्धरी आख्यानों का इतिहास और कल्पना का मिश्रण रहा होगा।

ऐतिहासिक नाटक

प्रबन्ध-काव्य की तरह नाटकों के लिए भी ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार प्राचीन काल से ही ग्रहण किया जाता रहा है। धनञ्जय ने स्पष्ट ही लिखा है कि नाटक की आधिकारिक कथावस्तु का चुनाव इतिहास से करना चाहिए और उनका नायक धीरोदात्त, गुणवान् और इतिहास-प्रसिद्ध (प्रख्यात) होना चाहिए।[२२] संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की स्थिति ऐतिहासिक काव्यों से बहुत भिन्न नहीं है। उनमें भी नाटककारों की दृष्टि तथ्यों की ओर कम और सम्भावनाओं की ओर अधिक रही है और ऐतिहासिक पात्रों में पौराणिकता एवं अलौकिकता का आरोप किया गया है। फिर भी रङ्गमञ्चीय विधान के कारण अलौकिक तत्त्वों के कम हो जाने से ऐतिहासिक नाटक, ऐतिहासिक काव्यों की अपेक्षा अधिक यथार्थ लगते हैं।

ऐतिहासिक कथानक के आधार पर अश्वघोष-लिखित 'शारिपुत्र-प्रकरण' प्रथम उपलब्ध नाटक है। इसमें महात्मा बुद्ध के दो प्रधान शिष्यों—शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध-धर्म अपनाने की कथा है। दोनों अन्त में गौतम बुद्ध के शिष्य बन गये थे। महात्मा बुद्ध भी इस नाटक में पात्र रूप में दिखाये गये हैं। भास-लिखित 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' का कथानक कौशाम्बी के राजा उदयन और उसके विवाहों से सम्बन्धित है। 'वासवदत्ता' मे महाराजा उदयन की रानी वासवदत्ता के त्याग और नीति-पथ पर चल कर मगध देश की राजकुमारी पद्मावती से राजा का विवाह करा देने में सहायक होने का वर्णन है। 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' में उदयन का उज्जयिनी के राजा महासेन चण्ड प्रद्योत के कुटिल चक्र में पड़ कर बन्दी बनने तथा फिर मन्त्री यौगन्धरायण के बुद्धि-कौशल और पराक्रम से महासेन की कन्या वासवदत्ता के साथ उसके कौशाम्बी पहुँच जाने का वर्णन है। हर्ष-लिखित 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' के कथानक भी उदयन तथा उसके विवाहों से सम्बन्धित हैं। विशाखदत्त-कृत 'मुद्राराक्षस' ऐतिहासिक कथानक पर आधारित है जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्राट् हो जाने के पश्चात् शासन मे अवरोध उपस्थित करने वाले तत्त्वों के चाणक्य की कुटिल नीति द्वारा विनाश की कहानी है। विशाखदत्त द्वारा ही लिखित 'देवीचन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त द्वितीय का ध्रुवदेवी के रूप में शकराज को मारने का वर्णन है। अनङ्गहर्ष का 'तापसवत्सराज' भी उदयन से सम्बन्धित है। इसी प्रकार 'प्रतापरुद्रकल्याण' (विद्यानाथ), 'हम्मीर-मद-मर्दन' (जयसिंह सूरि) तथा 'गङ्गादास-प्रतिविलास' (गङ्गाधर) भी ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित ऐतिहासिक नाटक हैं।

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का श्रीगणेश अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क में आने के पश्चात भारतेन्दु-युग से हुआ। भारतेन्दु ने हिन्दी को प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की रचना १८८१ ईसवी में की जिसका कथानक पञ्जाब के राजा सूर्यदेव तथा अमीर अब्दुल शरीफ़ खाँ के युद्ध से सम्बद्ध है। भारतेन्दु के पश्चात् ऐतिहासिक कथावस्तु को ले कर अनेक ऐतिहासिक नाटक लिखे गये। 'प्रसाद', हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट आदि नाटककारों ने ऐतिहासिक कथावस्तु को ले कर सफल ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। आधुनिक

ऐतिहासिक नाटकों की एक विशेषता यह है कि उनके कथानक आधुनिक ऐतिहासिक विवेक द्वारा समर्थित तथ्यों पर आधारित हैं और जहाँ कहीं कल्पना का आश्रय लिया गया है वह ऐतिहासिक सम्भावनाओं से दूर नहीं पड़ता।

जैसा कि एक स्थान पर सङ्केत किया जा चुका है, अपने देश में बरावर ऐतिहासिक व्यक्तियों को पौराणिक अथवा काल्पनिक कथा-नायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नायक का ऐतिहासिक व्यक्तित्व एवं प्रकृत रूप सर्वथा लुप्त हो गया और वह एक निजन्धरी कल्पित नायक के रूप में दिखायी पड़ने लगा। कथा-आख्यायिकाओं मे ऐसे ऐतिहासिक नामों की कमी नहीं है, जो ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध होते हुए भी निजन्धरी एवं काल्पनिक व्यक्तित्व रखते हैं। कथा-आख्यायिकाएँ प्रायः उपदेश एवं मनोरञ्जन-प्रधान हैं। सम्भव है, लोक में सत्यता की प्रतीति कराने के लिए ही कथा-आख्यायिकाओं के लेखकों ने ऐतिहासिक नामों और तथ्यों को ले कर कल्पना के प्राचुर्य से कथा का महल खड़ा किया हो। किन्तु अब वस्तुस्थिति यह है कि कल्पना के प्राचुर्य में तथ्य भी वैसे ही जान पड़ते हैं।

प्राचीन कथा-ग्रन्थों में 'कथासरित्सागर' तथा 'बृहत्कथामञ्जरी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं ग्रन्थों की परम्परा में बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' भी आता है। विद्वानों का अनुमान है कि तीनों ग्रन्थों की सामग्री गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से ली गयी है जो अब लुप्त हो चुकी है। इन ग्रन्थों में उज्जैन के राजा महासेन या प्रद्योत, कौशाम्बी के प्रेमी और साहसी राजा उदयन तथा उनके पुत्र नरवाहनदत्त से सम्बद्ध अनेक कल्पित कथाएँ हैं। डॉ० कीथ का अनुमान है कि गुणाढ्य ने ये कथाएँ बौद्ध उपाख्यानों तथा उज्जैन एवं कौशाम्बी की अनुश्रुतियों से ली होंगी।[२३] इन निजन्धरी कथानायकों की ही तरह राजा भोज, विक्रमादित्य, सातवाहन आदि को नायक बना कर अनेक कथाओं की रचना की गयी।

ऐतिहासिक कथावस्तु के आधार पर लिखे गये कथा-ग्रन्थों में बाणभट्ट-रचित 'हर्षचरित' का विशिष्ट स्थान है। साहित्यशास्त्रियों ने इसे आख्यायिका कहा है। आख्यायिका का कथानक नायक के वास्तविक जीवन की घटनाओं पर आधारित होता है। 'हर्षचरित' मे बाणभट्ट के समसामयिक राजा एवं आश्रयदाता हर्ष के जीवन तथा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण कवि ने किया है किन्तु सच बात तो यह है कि इसमें इतिहास की अपेक्षा काव्य ही प्रधान है। हर्ष तथा हर्षकालीन कुछ घटनाओं का आधार ले कर कवि ने अपनी भव्य कल्पना द्वारा ललित एवं अलंकृत गद्य-शैली से यह काव्य-ग्रन्थ रचा है। काव्यात्मकता की प्रधानता के कारण ही ऐतिहासिक पात्रों का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर कर नहीं आया। ऐतिहासिक दृष्टि से कम मूल्यवान् होने पर भी काव्य की दृष्टि से इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक कथाओं की परम्परा में इसका एक विशिष्ट स्थान है।

आधुनिक उपन्यास एवं कहानी

भारतीय साहित्य के धरातल पर उपन्यास और आधुनिक कहानी का जन्म १९वीं शताब्दी उत्तरार्ध में यूरोपवासियों के सम्पर्क में आने पर हुआ। अपने देश में पुरातन समय से ही कथा की एक विशाल परम्परा सुरक्षित होने पर भी उपन्यास और आधुनिक कहानी जैसी

कोई रचना उपलब्ध नहीं है शैली शिल्प विषयवस्तु आदि कई दृष्टियों से उपन्यास और आधुनिक कहानी प्राचीन कथा रूपों से सर्वथा भिन्न है इतिहास की नवीन दृष्टि भी यूरोपियों की ही देन है।

उपन्यासों एवं आधुनिक कहानियों में ऐतिहासिक कथावस्तु का व्यवहार इन कथारूपों के प्रारम्भ के साथ ही हुआ। अंग्रेजी के प्रथम और सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार सर वाल्टर स्कॉट ने स्कॉटलैण्ड के इतिहास का आधार ले कर १८१४ ईसवी में 'वेवर्ली' नामक अपने प्रथम उपन्यास की रचना की। यह उपन्यास बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। फिर तो उसने स्कॉटलैण्ड के ११वीं से १८वीं शताब्दी तक के इतिहास का आधार ले कर बत्तीस सफल उपन्यासों की रचना की। धीरे-धीरे उसके उपन्यासों का प्रचार अन्य देशों में भी हुआ और उसकी देखा-देखी अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये। लेटन का 'द लास्ट डेज ऑफ़ पम्पाई', टेलर का 'नोवल क्वीन' जॉन वेमैन का 'जण्टलमैन ऑव फ्रांस' ऐतिहासिक कथानकों को लेकर लिखे गये उपन्यास हैं।

हिन्दी में उपन्यास और आधुनिक कहानियों के लिए उनके जन्मकाल से ही ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार ग्रहण किया जाने लगा। हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार कहे जाने वाले श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के आधार पर अनेक ऐतिहासिक रोमांसों एवं उपन्यासों की रचना की। उनका प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'लवङ्गलता' १८९० ई० में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी की प्रथम मौलिक कही जाने वाली कहानी 'इन्दुमती' (१९०० ईसवी) भी इतिहास के परिवेश में ही लिखी गयी है जिसके लेखक श्री गोस्वामी जी ही हैं। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के बारे में सच बात तो यह है कि उनमें इतिहास का आधार नाम-मात्र को ग्रहण किया गया है और लेखक की कल्पना ही प्रधान हो उठी है। अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का गला घोंट दिया गया है और ऐतिहासिक चरित्रों को विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक कहे जाने वाले उपन्यास तिलस्मी एवं जासूसी कहे जाने वाले उपन्यासों से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ते। उनके हर उपन्यास में काल-क्रम-दोष स्पष्टता से लक्षित किया जा सकता है। किशोरीलाल जी के समकालीन अन्य कई उपन्यासकारों—जैसे गङ्गाप्रसाद गुप्त, जयरामदास, बलदेवप्रसाद—ने भी कई ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की लेकिन उनके भी उपन्यास गोस्वामी जी के उपन्यासों की ही कोटि में आते हैं।

ऐतिहासिक कथानक को ले कर लिखा हुआ वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार' सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में यह प्रथम सफल ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है जिसमें इतिहास, औपन्यासिकता के माध्यम से सजीव हो उठा है। इतिहास की नींव पर अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा जिस उपन्यास-भवन का निर्माण लेखक ने किया है, वह अतीत का होते हुए भी वर्तमान की तरह दिखायी देता है। इस उपन्यास की परम्परा में ऐतिहासिक कथावस्तु को ले कर वर्मा जी ने अनेक सफल उपन्यासों—झाँसी की रानी, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, कचनार, टूटे काँटे, माधव जी सिन्धिया आदि—की रचना की है और वे आज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार कहे जाते हैं। वर्मा जी के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री राहुल — हजारीप्रसाद द्विवेदी राङ्गेय राघव आदि कथा

कारों ने भारतीय इतिहास की पृष्ठिभूमि पर अनेक उपन्यासों की रचना की है। ऐतिहासिक कथावस्तु का आधार ले कर कहानियाँ लिखने वालों में जयशङ्कर 'प्रसाद', प्रेमचन्द, चतुरसेन 'शास्त्री,' वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, आनन्दप्रकाश जैन प्रमुख हैं। पत्र-पत्रिकाओं मे प्रति माह प्रायः ऐतिहासिक कहानियाँ प्रकाशित होती ही रहती हैं।

प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों, नाटकों एवं कथा-आख्यायिकाओं तथा आधुनिक ऐतिहासिक काव्यों, नाटकों, उपन्यासों एवं कहानियों की रचना-प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम कथा-रूप इतिहास के लिए साधन-स्रोत रहा है वहाँ दूसरा इतिहास की नींव पर आधारित है। प्रथम में जहाँ कल्पना का उन्मुक्त साम्राज्य है वहाँ दूसरे में कल्पना नियन्त्रित है। फलस्वरूप आधुनिक काव्यों, नाटकों, उपन्यासों आदि में कहानीपन के साथ-साथ इतिहास का भी शुद्ध आधुनिक रूप दृष्टिगोचर होता है। इनमें ऐतिहासिक पात्रों को उनके प्रकृत रूप मे प्रस्तुत करने के साथ-साथ उस युग को भी उपस्थित किया गया। कल्पित घटनाएँ भी युगानुरूप सम्भावनाओं से समर्थित ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में उपस्थित की गयीं। आधुनिक कथा-रूपों के लिए ऐतिहासिक कथावस्तु ने एक सुदृढ़ आधार और यथार्थ पृष्ठभूमि प्रस्तुत किया। ●

सन्दर्भ-सङ्केत

१. History and story are the same word, and are derived from a Greek word which means information obtained by inquiry or research History in its most comprehensive sense is all that has happened not merely to men but to every other object on earth.—A. X. Soares : An Introduction to the Study of Literature (1927), page 121.

२. पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणधर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहास। (–अर्थशास्त्र, १।१५।१४)

३. George Grierson : Linguistic Survey of India, IX, Part I, page 954.

४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १६८।

५. वही, पृष्ठ १६८।

६. उक्त लोकगाथाओं की ऐतिहासिकता के लिए देखिए, डॉ० सत्यव्रत सिन्हा का 'भोजपुरी लोकगाथा'।

७. महाराष्ट्रीय ज्ञान कोश, भाग १७, पृ० २१७।

८. डॉ० वीणापाणि पाण्डेय : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन।

९. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ० १४४।

१०. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १६३।

१३. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ' में तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक कहानियाँ संग्रहीत हैं।

१४ ए० बी० कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास पष्ठ ५४।

१५. डा० राधाकुमुद मुकर्जी . हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ १८९।

१६. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १७४।

१७. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७६।

१८. (क) इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥ (काव्यादर्श, १।१५)

(ख) इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
मन्त्रदूत प्रयाणाजि नियतं नातिविस्तरम्॥
(अग्निपुराण, काव्यादि लक्षण, अध्याय ३३७)

१९. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७७।

२०. ए० बी० कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९४।

२१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० १५६।

२२. डॉ० भोलाशङ्कर व्यास-कृत 'हिन्दी दशरूपक' (धनञ्जय-कृत 'दशरूपक' का अनुवाद), अध्याय ३, श्लोक २२।२३, पृष्ठ १५८।

२३. ए० बी० कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२१।

कुरुप्रदेश[1] के नौटङ्की, साँग, भगत आदि लोकनाट्यों के लोकधर्मी स्वरूप का शोधपूर्ण निरूपण

कौरवी लोकनाट्य-परम्परा

सत्या गुप्ता

प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शॉ ने एक बार नाटकों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृत्तियों के सम्मिलन से पैदा हुआ है—नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। लोक-समाज में उल्लास के क्षणों को इनके द्वारा ही उचित मान्य अभिव्यक्ति मिलती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखने में आता है कि मानव आत्माभिव्यञ्जन करने वाला प्राणी है। बिना शारीरिक क्रियाओं—मुख-मुद्राओं और कायिक अभिनय—के इसे सन्तुष्टि नहीं होती। लोकनाट्य इसी भाव की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

"लोक-नाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक-कथानकों, लोक-विश्वासों और लोक-तत्त्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"[2]

लोकनाट्यों में नृत्य, सङ्गीत तथा अभिनय, ये तीनों तत्त्व पृथक् न हो कर एक सामूहिक इकाई के रूप में मिलते हैं। तीनों ही तत्त्व उद्दाम प्रेरणाओं तथा कामनाओं की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है। इनमें आधुनिक एकाङ्की नाटकों के मूल-तत्त्व अविकसित रूप में वर्तमान रहते हैं। इसीलिए लोकनाट्यों को साहित्यिक नाटकों की आधारभूमि भी कहा जा सकता है।

"लोकनाट्यों की विशेषता उनके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक-जीवन से इनका अङ्ग-अङ्गी का नाता है। बाह्याडम्बरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतन्त्र विकास केवल लोक-धर्मी नाट्यशैली में ही सम्भव है। लोक-वार्ता का एक स्वतन्त्र अङ्ग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है।"[3]

"संसार में प्रायः सभी देशों में नाटक के आदि रूप का उदय किसी न किसी धार्मिक भावना अथवा चेतना के फलस्वरूप हुआ है। वीरपूजा की भावना अथवा धार्मिक आदेश, जोकि प्रायः प्राणिमात्र के हृदय में किसी न किसी अंश में निहित रहता है, धीरे-धीरे नाटक का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि अपने आदि रूप में यह नाटक बड़ा ही साधारण और अपरिमार्जित होता है।"[4]

जन-जीवन में इन नाटकों का एक विशेष महत्त्व था। हिन्दी-भाषी प्रदेश के विविध क्षेत्रों के निवासियों की सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती थीं। वे अपनी

रुचि के अनुसार ही अपने इष्ट देवता तथा उनसे सम्बन्धित पौराणिक कथा चुना करते थे इन नाटकों का उद्देश्य न केवल मनोरञ्जन वरन् जनता का नैतिक उन्नयन भी हुआ करता था राम लीला और रासलीला इन नाटकों का एक ऐसा सामान्य रूप है जो थोड़े-बहुत अन्तर के साथ सभी जगह प्रचलित है।

इन समस्त नाटकों में व्यक्ति का महत्त्व नगण्य है। इनमें समूह, जाति अथवा समाज की भावनाएँ मण्डलियों के संयुक्त अभिनय द्वारा व्यक्त होती हैं। अभिव्यक्ति भाव-शबल होने के कारण गद्य की अपेक्षा पद्य को ही अपना वाहक बनाता है। गद्य भी स्थानीन और सरल रङ्गों से पूरित होता है। पद्य में साधारण बातों का उल्लेख एवं लोकगीतों की बँधी-बँधायी रूढ़ शैली का प्रवाह रहता है।

"हिन्दी-नाट्य-परम्परा का मूल-स्रोत यह जन-नाटक ही है जो स्वाँग आदि नाम से प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है। क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित हो कर साहित्यिक रूप धारण किया। इस चिरन्तन प्रवाह में काल तथा देश के संयोग से संस्कृत आदि भाषाओं के स्रोत भी आ मिले। इस सम्मिलन से यह प्रवाह अधिकाधिक रम्य तथा गतिशील होता रहा है। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी नाटक मौलिक हैं, अन्य भाषाओं से अपहृत नहीं।"[५]

लोकनाट्य

खड़ीबोली में प्रचलित लोकनाट्यों के रूप नौटङ्की, स्वाँग और भगत आदि है। नौटङ्की, स्वाग और भगत भी प्रायः पर्यायवाची हैं। 'भगत' भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है। छोटे धार्मिक नाटकों को भी यही संज्ञा दी जाती है। स्वाँग का प्रारम्भ भी सरस्वती-वन्दना अथवा देव-स्तुति से होता है। स्वाँग मूलतः सङ्गीत-रूपक है। इसमें कोई भी प्रसिद्ध लोककथा ली जा सकती है। वीर, शृङ्गार तथा करुण-रस-प्रधान कथाएँ, विशेषतः प्रेमगाथाएँ ही इसमें अधिकतर प्रधानता पाती हैं। हर प्रकार की कथावस्तु में रोमांस का संस्पर्श किसी न किसी रूप में वर्तमान ही रहता है। वैसे भी लोक-धारणा है कि नौटङ्की किसी प्रेम-कहानी की 'नौटङ्क' वाली कोमलाङ्गी नायिका रही होगी।

"सरल जनता में किसी बात को प्रभावोत्पादक ढङ्ग से कहने-सुनने के लिए अनुकरण—स्वाँग—को अपनाया जाता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति अथवा घटना का चित्रोद्घाटन ही नहीं होता, बल्कि ऐसा करते हुए आदमी दूसरों का पर्याप्त मनोरञ्जन भी करता है। 'स्वाँग' गाँवों में बड़े लोकप्रिय हैं। 'स्वाँग' अनुकरण (नक़ल) का ही परिवर्धित रूप है। किन्तु नक़ल प्रायः हास्य-विषय को ही ले कर की जाती है, जबकि स्वाँग की परिधि में आने वाले विषय हैं धार्मिक (मोरध्वज, नरसी, हरीचन्द), ऐतिहासिक अथवा सामाजिक (प्रताप, शिवाजी, अथवा दयाराम, रघुबीर सिंह आदि)। स्वाँगों में राष्ट्रीय अथवा स्थानीय चरित्रों का चित्रण रहता है, या उनका आधार सत्य या अर्धसत्य प्रेमगाथाएँ हुआ करती हैं।"[६]

इन स्वाँगों में वैसे तो जीवन से सम्बन्धित सभी मूल-भावनाओं का चित्रण रहता है किन्तु अधिकतर वीर, शृङ्गार, करुण तथा भक्ति की भावना का ही विस्तार किया जाता है। कदाचित्

'साँग खेलना' पद में ध्वनि है कि ग्रामों में स्वाँग वीर-योद्धाओं के रण-कौशल की अनुकृति के रूप मे ही चले होंगे।

प्रायः नौटङ्की या साँग मार्गशीर्ष अथवा चैत्र-वैशाख के महीने में हुआ करते हैं। मेलो के अवसरों पर इनका विशेष आयोजन होता है। होली पर ग्रामीण जनता 'भाँड' नामक नाटक करती है। अन्य साँग भी इस अवसर पर खेले जाते हैं। होली के अतिरिक्त अन्य अनेक अवसरों पर भी स्वाँग करने की प्रथा प्रचलित है, उदाहरणार्थ मन्दिर बनवाने, कुआँ खुदवाने, तालाब बनवाने के अवसर पर, धर्मशाला तथा स्कूल के लिए चन्दा एकत्रित करने के लिए, घर अथवा बाग के मुहूर्त के समय, विवाह, पुत्रजन्म तथा कनछेदन पर, कुएँ के विवाह पर। देवबन्द में तो राधावल्लभ के मन्दिर में सावन में झूले होते हैं जिनमें हमें रास तथा स्वाँग का रूप स्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

महिलाओं में भी साँग की परम्परा पायी जाती है। होली के अवसर पर स्त्रियाँ भी स्वाँग करती हैं। ये साँग बहुत बड़े नहीं होते, बल्कि छोटे स्तर पर ही इनका अभिनय किया जाता है, जैसे भोले-भोली का अभिनय। विवाह में बारात चले जाने पर 'खोड़िया' कर के मनोरञ्जन करना भी स्वाँग का ही रूप है। यह भी स्त्री-समाज का लोक-नाट्य है। इस अवसर पर दो स्त्रियाँ 'बहू-बन्ने' का अभिनय करती हैं। विवाह अभिनीत किया जाता है। इसका वास्तविक उद्देश्य होता है वर-वधू की आधि-व्याधि टालना। खोड़िये में विवाह के अतिरिक्त स्त्रियाँ गीतिनाट्य भी करती है जिनके लिए वह गूजरी, मनिहारी, लला, ब्याही या मुर्गा के गीत गाती हैं। पुरुषों के न रहने पर वह इस अवसर पर अश्लील गीत भी गाती हैं। यह केवल स्त्रियों का ही उत्सव होता है। खोड़िये के गीत मानो दबी हुई वासनाओं के निर्गम के हेतु गाये जाते हैं।

'कोयल बुलाना' भी लोकनाट्य का ही रूप है।

उत्तरप्रदेश के पश्चिमी ज़िले फ़र्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी मे नौटङ्की या साँग का अधिक प्रचलन है। मेरठ, सहारनपुर, मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले तो साँग के गढ माने जाते है। मेरठ कमिश्नरी के विस्तृत भूभाग मे लोक-नाटकों की यह परम्परा शताब्दियो से निरन्तर चली आ रही है। मथुरा-वृन्दावन की रास-मण्डलियाँ तो जगद्विख्यात हैं। कुरुप्रदेश की मण्डलियों की एक विशेषता है। ये व्यावसायिक रूप से स्थान-स्थान पर घूम कर साँग तो करती ही है, इनका विषय-वस्तु में भक्ति, मनोरञ्जन तथा दाम्पत्य-जीवन की झाँकियाँ भी रहती है। कभी-कभी ये लोग जटिल समस्याओं का भी अपने तरीक़ों से समाधान करने का यत्न करते है। परिस्थितियों को भी ये अपनी विषय-परिधि में सम्मिलित करते हैं।

इनके कथानक रामायण, महाभारत, पुराणों एवं महापुरुषों के जीवन से और कभी-कभी लौकिक वीरों और प्रसिद्ध व्यक्तियों के भी जीवन से लिये जाते है। सुलताना डाकू से लेकर भर्तृहरि तक, अलाउद्दीन बादशाह से लेकर पूरन भगत तक, सभी चरित्र इनकी निधि है। कभी-कभी बाढ़, अकाल आदि सामाजिक विषयों तथा विविध सामाजिक समस्याओं का भी इनमें समावेश मिलता है। यथार्थ स्थिति का प्रदर्शन ही इनका प्रधान ध्येय होता है। लोकनाट्यकार की कल्पना का रङ्ग उसकी परम्परागत परिचित वस्तुओं, दृश्यों तथा घटनाओं में ही मिलता रहा है। वे थोड़ा पढ़े-लिखे होते हैं जिससे उनमें भाषा और लोकभाषा का द्वन्द्व भी देखने को मिल जाता है जो अन्य लोक-भाषाओं के मे दृष्टिगत नही होता

लोक-नाटकों के नायक धीरोदात्त धीरोद्धत धीरललित और धीरप्रशान्त की मर्यादा देखने को नहीं मिलती। ग्राम्य-जीवन में धन और मान, जाति और वर्ण, रूप और विद्या में महान् अन्तर होने पर भी उसका प्रभाव लोकनाट्यों पर नहीं पड़ता है। वहाँ तो कोई भी नायक हो सकता है क्योंकि सभी वर्णों में परस्पर भाई-चारा रहता है।

लोकनाट्यों के अभिनेता नृत्य-कुशल होते हैं और सम्पूर्ण कथा को नृत्य द्वारा ही अभिनीत करते हैं। सङ्गीत का भी इन्हें यथेष्ट ज्ञान होता है और इन्हें सभी रागों के गीत कण्ठस्थ रहते हैं। ये लोग अधिकतर भजन, गज़ल, गर्बा, रास, दूहा, दोहरा, साखी, सोरठा, छप्पय, रेख्ता आदि का प्रयोग करते हैं। आधुनिक स्वाँगों पर साहित्यिक प्रभाव भी देखने को मिलता है। निहालदे, हीर-राँझा, नवलदे आदि से इस बात की पुष्टि होती है।

खड़ीबोली-क्षेत्रीय लोक-जीवन में स्वाँग जनता को बहुत प्रिय हैं। यदि इनको लोक-जीवन का ओपेन एयर थियेटर कहा जाय तो असङ्गत न होगा। इन्हें तो भारत में ओपेन एयर थियेटर का जनक और संस्थापक माना जा सकता है।

स्वाँग के रचयिता लेखक या लोक-कवि ?

कुरु-प्रदेश में स्वाँगों की रचना करने वाले कवि बहुत बड़ी संख्या में हुए हैं और इनकी शिष्य-परम्परा भी विशाल है। लोकनाट्यों के इन ज्ञात एवं अज्ञात प्रणेताओं के लिए 'लोक-कवि' की संज्ञा ही उपयुक्त है। कारण यह है कि लोकनाट्यों का कलेवर भावप्रबल और पद्यमय होता है। उनके कथोपकथनों का रङ्ग रागों और गीतों से ही जमता है। कुरु-प्रदेश के लोक-कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे बड़े से बड़े लोकनाट्यों को भी कण्ठस्थ रखते थे तथा अपनी शिष्यमण्डली के द्वारा अपने ही नाटकों को अभिनीत कराते थे। उनकी स्मृति इतनी विलक्षण होती थी कि वे तिनकों के आधार पर एक-एक चौबोला बना लेते थे। सहारनपुर-स्थित देवबन्द की तो परम्परा रही है कि जो साँग एक बार खेल लिया जाता, वह दुबारा नहीं खेला जाता था। इस पूरे प्रदेश में देवबन्द तथा मेरठ, ये दो स्थान रचयिताओं के गढ़ ही माने जाते हैं। देवबन्द के लोक-कवियों ने शृङ्गार तथा रसपूर्ण लोकनाट्यों को दार्शनिक चोला पहनाया। इनमें बेहूसिंह प्रधान हैं।

बेहूसिंह ने लगभग ४० स्वाँग लिखे और लिखवाये। वे यह काम स्वयं अपने निर्देशन में ही करवाते थे जिससे उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाती थी। इनके पूर्व स्वाँग निम्न कोटि की, वासना-पूर्ण और अश्लील कविता मात्र हुआ करती थी। उन्होंने उस परम्परा में परिवर्तन किया और साँगों को दार्शनिकता का पुट दिया। वे बोलचाल की सरल भाषा का प्रयोग करते थे और उर्दू तथा फ़ारसी के शब्दों को भी स्थान देते थे। उनके स्वाँगों की ८० वर्ष पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं जिनका मूल्य उन्हें अनूदित कर के प्रकाश में लाने पर ही आँका जा सकता है। उनके कुछ हस्तलिखित स्वाँग इस प्रकार हैं—लवकुश, भर्तृहरि, राजा विक्रम की कहानी चन्द्रभान, बैतालपचीसी की ग्यारहवीं कहानी, पूरनमल, नवलदे, सोरठ का साँग, चन्द्रकला, रूप कला, मदनसिंह आदि। उनके परिवार में आज भी साँग लिखने की परम्परा चल रही है। उस्ताद

मूलराज तथा सीताराम जी, जो रामकरण गिरि की शिष्य परम्परा में आते हैं, उनके समकालीन ही थे।

अब स्वाँग मौखिक परम्परा से निकल कर पुस्तकों के पृष्ठों पर आने लगे हैं। यह स्वाँग-परम्परा शताब्दियों से मौखिक आ रही थी। लेखबद्ध स्वाँग का प्रमाण उन्नीसवीं शतादी के प्रारम्भ में मिलता है। पं० रामगरीब चौबे ने स्वाँग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि अम्बाराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण सहारनपुर में निवास करते थे। सर्वप्रथम आधुनिक शैली में उन्होंने स्वाँगों के नामों की रचना की और सन् १८१९ के आसपास इनका अभिनय हुआ।[७]

आधुनिक युग में इस प्रदेश के लोक-कवियों की अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जो समय-समय पर खेली जाया करती है। उनमें से कुछ की नामावली नीचे दी जाती है:—

नाम	ग्राम
१. सेढूसिंह	हापुड़
२. घीसा	भीटीपुर
३. फूलसिंह	नगला, कूबलपुर
४. शङ्करदास	जिठौली
५. साधू गङ्गादास	जिठौली
६. लंढूरसिंह	मटखास
७. बुल्ली	भगवानपुर-नागल
८. पृथीसिंह बेधड़क	शिकोहपुर
९. बख्शीदास	सिकीपुर
१०. खूबी जाट	टीकरी
११. चन्द्रलाल जाट	मीरापुर
१२. नत्थू	मीरापुर
१३. मास्टर न्यादरसिंह	मीरापुर
१४. बुन्दू	मेरठ
१५. जसवन्तसिंह	मुजफ़्फ़रनगर
१६. चन्दरबादी	दत्तनगर
१७. तोफासिंह	कोतवालपुर
१८. मङ्गलसेन	मुजफ़्फ़रनगर

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग है जो स्वयं न लिख कर दूसरों के ही साँगों को अभिनीत करते हैं। इनमें मङ्गलसेन, रामचन्द्र, छोटेलाल, मुसद्दी, हरदेव पाधा, बालकराम, घनश्याम चन्द्र लाला, बुलाकी आदि आते हैं। कुरु-प्रदेश के प्रसिद्ध और जीवित साँगियों में मुसद्दी, बुलाकी, छोटेलाल, रामचन्द्र, मङ्गलसेन अधिक प्रसिद्ध हैं।

लोक-कवियों तथा साँगियों में गुरु-परम्परा का पालन होता है तथा शिष्य पिता के स्थान पर गुरु के नाम से ही जाने जात हैं साँग प्रारम्भ करने से पूर्व के बाद

की जाता है गुरु को ले कर इन लोगो मे स्पर्धा तक देखने को मिलती है जिन गुरुओ मे आपस मे मतभेद होता है, उनकी शिष्य परम्परा मे भी वैमनस्य चलता है।

वास्तव मे लोक-कवि का अस्तित्व जनता से पृथक् कहीं नहीं होता। वह जनता का ही एक संवेदनशील अङ्ग मात्र होता है। अतएव वह उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही की श्रेणी मे आता है। वह अपने विषय से सुपरिचित होता है और उसकी गहराई में उतरने का प्रयास करता है। इन लोक-कवियों को लोक-साहित्य की परम्परा ने ही जन्म दिया है। फिर भी उनकी रचना को, जिसका इस प्रदेश में अनन्त भण्डार है, विशुद्ध लोक-साहित्य नहीं माना जा सकता। उनमें प्राञ्जलता का अभाव होता है, किन्तु लोक-जीवन के समीप होने के कारण उनके साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्हें महत्त्व देने के अनेक कारण हैं:—

(१) इन लोक-कवियों ने आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के वातावरण में भी प्राचीन कथाओ, गीतो, कथानकों आदि को सुरक्षित रखा।

(२) इन लोक-कवियों ने इस व्यक्तित्वहीन लोक-साहित्य की परम्परा को आकार दिया, उसके स्वरूप को यथाशक्ति सजाने का प्रयत्न भी किया।

(३) इनकी भाषा ठेठ लोकभाषा से कुछ परिष्कृत है। यद्यपि ये पिङ्गल और सङ्गीत के पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं, फिर भी इनमें ये दोनों तत्त्व मिलते हैं।

(४) ये लोक-कवि अपने अनुभव के आधार पर रचनाएँ करते थे। इनमें प्रतिभा तो है ही, साथ ही व्यावहारिक साधारण ज्ञान और भावुकता भी है।

(५) इस प्रकार के लोक-कवियों का इस क्षेत्र मे बाहुल्य है। इनका व्यक्तित्व, इनकी सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा कृतियाँ, जिनमें शृङ्गाररस तथा भक्ति-रस का प्राधान्य है, पृथक् अध्ययन एवं अनुसन्धान का विषय हैं। यहाँ के लोक-जीवन मे इन लोक-कवियों की रचनाएँ बहुत अपना ली गयी हैं और जनता इनका होली, सावन तथा अवकाश एवं मनोरञ्जन के अन्य अवसरों पर बहुत ही स्वतन्त्रता से उपयोग करती है। एक पढ़ा हुआ व्यक्ति इसको पढ कर सुनाता है और अन्य इसको कण्ठस्थ कर लेते है। किसी की भी कृति पर लोक-समाज का पूर्ण अधिकार होता है।

लोक-साहित्य का इन्हीं कवियों के द्वारा ही संरक्षण एवं संवर्धन हुआ है। श्री कृष्णचन्द्र शर्मा के शब्दों में:—

"लोक-कवियों से बढ़ कर प्रचारक कोई नहीं हो सकता।...ये समाज में पारस्परिक सौहार्द, सांस्कृतिक जीवन में रुचि, समता और वीरता की भावनाएँ भर सकते हैं।

इसका प्रमाण स्वाँग, झूलने, ख्याल तथा कव्वालियों के वे दङ्गल हैं जिनमें अपार जनता एकत्रित होती है। ये कवि चलते-फिरते पुस्तकालय ही नहीं, अपितु वे 'जङ्गमतीर्थराज' हैं। गङ्गा-जमुना के इस प्रदेश कुरु-जनपद में आज भी ऐसे अनेक कवि हैं तथा यहाँ की उर्वरा भूमि के गर्भ में विशाल वट-वृक्ष बनने वाले न जाने ऐसे और कितने कवि-बीज छिपे हुए हैं।"

इन लोक-नाट्यों के कथानक के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनके रचयिता अपनी कथा को सँवारने में किसी प्रकार का बन्धन नहीं मानते। वैसे लोक-कवियो ने लोक-नाट्यो की कथा को जीवन की समस्या से दूर नहीं होने दिया है किन्तु पढने पर

कथानक पुराणों से भी लिये हैं और इतिहास के अंश भी लेने में हिचके नहीं हैं। किसी भी काल्पनिक राजा या रानी का किसी ऐतिहासिक राजघराने से सम्बन्ध जोड़ने में उन्हें विशेष सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसका कारण यही है कि इनका उद्देश्य इतिहास-वर्णन नहीं अपितु भावाभिव्यक्ति रहा है और इसीलिए लोकनाट्यों के कथानक इतिहास-सिद्ध न होते हुए भी अमर हैं। वे अनेक दृष्टियों से देश-काल के बन्धन से मुक्त, सार्वकालिक, सार्वभौम और समष्टिवादी होते हैं। पारिवारिक सम्बन्ध यहाँ चरम सीमा तक निखरे हैं और उनकी मार्मिकता अन्य रचना-विधाओं के लिए दुर्लभ है। जमीदारों के अत्याचार, भाई-भाई तथा पति-पत्नी के झगड़े, पुरुषों के व्यभिचार तथा अन्य व्यसनों के कारण परिवार का नाश आदि के लोकनाट्यों में अत्यन्त सफल अभिव्यक्ति हुई है। समय-समय पर लोक-कवियों ने सामयिक परिस्थितियों को भी लोकनाट्यों के माध्यम से ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया है। इनका मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार ही रहा है। कहीं-कहीं इन लोकनाट्यों में राजनीतिक 'वाद' भी देखने को मिल जाते हैं जो उनकी जागृति के प्रतीक हैं। अधिकांश लोकनाट्य प्रेमगाथाओं से ही सम्बद्ध हैं परन्तु उनमें भी लोक-कवि ने त्याग और उत्सर्ग की भावना को ही उभारा है। उनके कथानक लोक-मानव के व्यक्तिगत जीवन की ही भाँति निर्मल तथा अनुभूति की ही भाँति पुष्ट हैं।

लोकनाट्यों के पात्र गढ़े हुए नहीं होते। वे जीवन से उपजते हैं और स्थानीय लोक-भाषा के माध्यम से लोक-मानव के भाव को अभिव्यक्त करते हैं। हर पात्र, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, एक विशिष्ट चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। हर लोकनाट्य में रचयिता ऐसे चरित्रों का भी निर्माण करता है जिनके माध्यम से वह दर्शकों के सम्मुख समय-समय पर अपने विचार भी प्रस्तुत करता जाता है, जैसे विदूषक, ग्रामवासी आदि। परन्तु इसकी संख्या परिमित ही होती है। लोक-कवि का सबसे बड़ा उद्देश्य अपने पात्रों द्वारा असत्य पर सत्य की विजय दिखलाना तथा दर्शकों के सम्मुख जीवन का आदर्शवादी पक्ष प्रस्तुत करना ही होता है।

लोकनाट्यों में भावाभिव्यक्ति का साधन पद्य होने के कारण उनका कथोपकथन आधुनिक नाटक की भाँति सशक्त, समर्थ और चुस्त नहीं होता। ये अत्यन्त सरल और सर्वसाधारण के लिए सुबोध होते हैं। इन पद्यमय कथोपकथनों में उर्दू, फ़ारसी और कहीं-कहीं अंग्रेजी के ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो शताब्दियों के सुदीर्घ सम्पर्क के दौरान, इस प्रदेश की भाषा लोकभाषा में आत्मसात् हो गये हैं। ऐसे शब्द अपने विकृत रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'इसक', 'हुसन', 'जोबन' या 'जण्टुलमैन' आदि, किन्तु वे क्षेत्रीय लोक-ध्वनि से तथा कहीं-कहीं नयी लोकोद्भूत अर्थवत्ता से सम्पन्न होते हैं।

प्रसाधन एवं वेशभूषा

ऐतिहासिक नाटकों अथवा रामलीला, रासलीला आदि लोकनाट्यों की भाँति इनमें अधिक भड़कीले वस्त्रों तथा अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं होती। रूपसज्जा के लिए भी विभिन्न प्रकार के आधुनिक प्रसाधनों का सहारा नहीं लिया जाता। कलाकार कोयला, काजल, खड़िया, गेरू तथा मुखौट लगा कर अपना काम निकाल लेते हैं। उनके चेहरे में अधिक अन्तर नहीं होता, क्योंकि मूछ दाढ़ी आदि का प्रयोग भी अधिक नहीं रहता वस्त्रों की दृष्टि से धोती

घाघरा आदि का उपयोग किया जाता है चूड़ीदार पाजामा कुर्ता और रङ्गीन पगड़ा बाँधने से राजा का रूप बन जाता है भगवा अंगरखा और धोती पहन कर फकीर का रूप धारण कर लिया जाता है। पण्डित बनने के लिए रामनामी चादर डाली जाती है। सिपाही खाकी वर्दी पहन कर अभिनय करता है। कृषक दैनिक व्यवहार के साधारण वस्त्र धारण कर लेता है। स्त्री-चरित्रों का रूप बनाने के लिए पुरुष घाघरा, टुकड़ी, ओढ़नी आदि का प्रयोग करते हैं। कीमती कपड़ों की आवश्यकता के समय बड़े आदमियों के घर से कपड़े माँगने की परम्परा भी है। पुराने लोग साँगियों को इस बात के लिए मना भी नहीं करते। बड़े शहरों में यह पोशाक किराये पर भी मिल जाती है। मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले तथा देवबन्द में तो इस प्रकार के उदाहरण भी मिलते हैं कि बहस के कारण असली जेवर तथा कीमती वस्त्र भी अपने ही मूल्य पर बनवाये गये। ऐसे अवसरों पर साँग किसी विशेष व्यक्ति अथवा साँगी की ओर से बहस में खेला जाता था।

साँगियों की टोली में मेकअप करने वाले विशेषज्ञ भी होते हैं। मेकअप कराने वालों में राजा, फ़क़ीर, स्त्री-पात्र आदि ही मुख्य होते है। इसकी रङ्ग-सज्जा और वेशभूषा की चरित्रानुकूल रूढ़ियाँ है। उदाहरणार्थ, चेहरे की रँगाई की कुछ रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं— फ़क़ीर के लिए पीला चेहरा, राजा के लिए गोरा या लाल चेहरा, महिलाओं की सुन्दरता के लिए गोरा चेहरा, वृद्ध के चेहरे के लिए कोयले से डाली हुई झुर्रियों वाला चेहरा आदि।

लोकवाद्य और ताल

किसी भी साँग का प्रारम्भ नगाड़ा बजा कर किया जाता है। नगाड़े पर 'चोब' तब तक पड़ती रहती है जब तक दर्शकगण एकत्रित नहीं हो जाते। अन्य सहायक लोकवाद्यों में सारङ्गी, तबला और हारमोनियम होते हैं। सारङ्गी बोल को अदा करती है। इसकी यह विशेषता होती है कि हर बोल सारङ्गी में स्पष्ट सुनायी देता है। साधु की भूमिका में अभिनय करने वाले चिमटा, मँजीरे आदि रखते हैं। ये भी लोकवाद्य के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। बाल्टी, डप्प, चङ्ग, खड़ताल, घण्टा, फूल की थाली, अलगोजा, एकतारा समय-समय पर आवश्यकतानुसार भावानुकूल अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने वाले अन्य मुख्य लोकवाद्य हैं।

कलाकार गाते समय आवाज़ को तेज करने के लिए कान पर हाथ रख लेते है। इनमे तर्ज़ अधिक होती है। दोहा, चौबोला, चौपाई, कड़ा, रागिनी, दौड़, तोड़, छन्द, ग़ज़ल, बहरे तवील, लावनी, तिकड़ी, जिकड़ी, शेर, मुनादी, भजन, आल्हा, झूलना और ख्याल अधिकतर प्रचलित है। स्वाँग में चौबोले की तोड़ होती है जिसे 'चलन' कहते हैं। खड़ी और बैठी ताल का भी प्रयोग होता है। आसावरी, मल्हार, जोगिया, नग़मा, तीनताल, सोलहमात्रा, कहरवा, चारताल तथा रूपक मुख्य राग हैं।

स्वाँग प्रारम्भ करते समय सर्वप्रथम मङ्गलाचरण गाया जाता है जिसमे देवी की भेंट होती है। साँग में नीरसता नहीं आने पाती। पहले दो-चार चौबोले होते हैं, फिर रागिनी, बीच-बीच मे कोरस गान होता है। साँग के अन्त में जयजयकार होती है और कुछ देर तक नक्कारा बजता रहता है

रङ्गमञ्च

लोक-रङ्गमञ्च एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसकी सुदीर्घ परम्परा भी है। इसी के साथ लोक-रङ्गमञ्च के निर्माण, अभिनय तथा नाट्यवस्तु का मूल-विधान लोकवार्ता-परक तथा लोक-मानसिक होता है।[८]

साँग का स्थूल मञ्च बनाने के लिए न तो थियेटर के पर्दों की आवश्यकता होती है, और न ही आधुनिक एकाङ्की नाटकों की भाँति सेट्स की। साँग मन्दिर के आँगन या चौराहे के किसी ऊँचे स्थान पर या चार तख्त बिछा कर बल्लियों के सहारे बना दिया जाता है। यद्यपि इसमे पर्दे नही बाँधे जाते, फिर भी पीछे की ओर एक पर्दा अवश्य लगता है जिसके द्वारा नैपथ्य का वातावरण बनाया जाता है।

साँग मञ्च के लिए कुछ भिन्न आवश्यकताएँ होती हैं। नीचे कई तख्त बिछा कर स्टेज बनायी जाती है और ऊपर शामियाने होते हैं। तख्तों पर कड़ियों या लोहे की पत्ती आदि के तीन दरवाजे बनाये जाते हैं। उसके आगे भी तख्ता बिछा कर ऊँचाई के लिए उसपर चौकियाँ बिछाते है। इसी पर चढ़ कर लड़के जाते हैं। एक या दो लडकों को ऊपर के स्थान—महल—में बिठा देते हे जिससे लोगों को उत्सुकता रहे कि ये भी कुछ कहें। जो अतिरिक्त लोग महल में होते हैं, उनकी सख्या केवल चार या पाँच होती है। इनमे भी असली दो ही होते हैं—नायक तथा खलनायक। तख्त के ऊपर दरी या चाँदनी बिछायी जाती है। इसे मञ्च का जनतन्त्रात्मक रूप भी कहा जाय तो अनुचित न होगा।

कुछ दृश्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें मञ्च पर नहीं दिखाया जा सकता। उनका काम सूचना मात्र से लिया जाता है। उदाहरण के लिए कोलाहल,आग लगना, खूनखराबी, हत्याकाण्ड आदि के दृश्यो के लिए नैपथ्य को काम में लाया जाता था।

दर्शक आडम्बरों की ओर ध्यान न दे कर कथा एवं कथोपकथन पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हैं। ऐसे मञ्च पर अभिनेताओं को अनेक सामाजिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं जो न तो दर्शक को अखरती हैं और न नाटक-मण्डलियों में ही कभी आलोचना का विषय बनती हैं।

लोकनाट्य का रङ्गमञ्च बहुत अधिक उन्नत इसी कारण नहीं है कि उसमें बहुत-सी बाते मान कर या कल्पना द्वारा बतायी और समझ ली जाती हैं। इसी कारण अन्य देशों की भाँति भारतीय लोकमञ्च भी आगे नहीं बढ़ सका।

प्रचलित स्वाँग और उनका आधुनिक रूप

इस प्रदेश के प्रचलित स्वाँगों में निम्नलिखित मुख्य हैं---(१) रूपवसन्त, (२) पूरन-भगत, (३) हरिश्चन्द्र, (४) अमरसिंह राठौर, (५) पृथीसिंह, (६) किरणमयी, (७) राजा मोरध्वज, (८) राजा नल, (९) साही लकड़हारा, (१०) चन्द्रहास, (११) भगतगुरु, (१२) राजा भर्तृहरि, (१३) लवकुश, (१४) नवलदे, (१५) सोरठ का साँग, (१६) चन्द्रकला, (१७) रूपकला, (१८) बिल्वामङ्गल और (१९) लैलामजनू आदि।

पहले इन साँगो को ‍ असली रूप में खेला जाता या तथा के लिए इसका विशेष

सांस्कृतिक महत्त्व भी था परन्तु अब थोड़े लोग ही इसके शौकीन रह गये हैं यद्यपि यही लोक नाट्य आधुनिक एकाङ्की तथा रङ्गमञ्च के जनक है परन्तु इनका भविष्य सिनेमा और अन्य मनोरञ्जन के साधनों के कारण बहुत अन्धकारमय हो गया है। सिनेमा की प्रगति से प्रभावित हो कर स्वाँगों में भी फिल्मी गीतों का प्रचलन हो गया है। नये साँगी वियोग-मिलन तथा अन्य भावों को व्यक्त करने वाले गीत इन्ही गीतों की पंक्तियों एवं तर्ज पर गढ़ लेते है, जिससे लोक-नाट्यों का निजी महत्त्व समाप्त होता जा रहा है। पहले लोग साँग स्वयं लिखते थे परन्तु अब स्वयं लिखने की परम्परा लगभग समाप्त हो चुकी है। दङ्गलों के 'पाधा' या 'उस्ताद' लिखने की कला में पारङ्गत होते थे जो दूसरों के लिखे हुए नाटक खेलना अपना अपमान समझते थे। परन्तु अब उन्हीं नाटकों को थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर के खेला जाता है। आधुनिक साँगो मे अश्लीलता का भी समावेश हो गया है।

स्वाँगों के शौक़ीन पहले दङ्गल कराया करते थे जिसमें कई स्वाँगियों को आमन्त्रित किया जाता था और उनकी टोलियों का डटकर मुकाबिला होता था। कई ऐसे भी उदाहरण मिलते है जहाँ लोगों ने घर से धन लगा कर स्वाँग की सफलता का अनुष्ठान किया है। शाहपुर, जिला मुजफ्फ़रनगर के एक रईस ने एक बार 'सोरठ' के तुलने के लिए चाँदी के रुपयों की बोरियाँ खोल दी थीं। इसी प्रकार देवबन्द में 'सोरठ' के नाटक के लिए कुआँ बनवाया गया था जो अब भी वर्तमान है। परन्तु वर्तमान युग मे स्वाँग संरक्षण के अभाव में नाचने-गाने का रङ्गमञ्च मात्र रह गया है जिसमें से ऐतिहासिक गाम्भीर्य एवं लोक-चारित्र्य का लोप होता जा रहा है।

लोकनाट्य पर एक आरोप भी लगाया जाता है कि ये अपरिष्कृत, असंस्कृत तथा अशिष्ट होते है और देखने में भी आता है कि शहरी समाज इसे असभ्यता कह कर हेय दृष्टि से देखता है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं---

(१) लोकनाट्यकारों ने अपने कथानकों में समयानुकूल परिवर्तन नहीं किये। उनके कथानक पुराने पड़ गये हैं और आधुनिक जीवन की समस्याओं का उनमें सर्वथा अभाव है।

(२) तकनीक की दृष्टि से भी लोकमञ्च अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। जिन साधनों का उपयोग लोकनाट्यों में किया जाता है, वे आधुनिक उन्नतिशील प्रवृत्ति का समवर्तन नही करतीं।

(३) मञ्च और लोकनाट्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित लोकनाट्यकारों के हाथ से निकल कर शिक्षित समाज के हाथ में नहीं आया। इसीलिए उनमें प्रौढ़ता और गाम्भीर्य का अभाव है।

(४) सामाजिक संरक्षण प्राप्त न होने के कारण इस प्रदेश के लोकमञ्च में प्रयोग का अभाव होता जा रहा है। अब ये इने-गिने साँगियों की रोटी का साधन मात्र रह गये हैं।

(५) साँग का अभिनय-काल इतना लम्बा होता है कि आज के व्यस्त जीवन में इतना समय निकाल पाना असम्भव हो जाता है।

इतना सब होने पर भी लोकनाट्य अपने में पूर्ण कला है। ये मानव की मूल भावनाओ की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सशक्त माध्यम है। प्रौढ़ता और गाम्भीर्य का अभाव होने पर भी इनमें स्वाभाविकता सरलता स्पष्टता सजीवता सजगता तथा आस्था प्राप्त होती है लोक-

नाटच अत्यधिक आदर्शोन्मुख हैं। इनमें जो कुछ भी अभिनीत होता है, उसका सबसे बड़ा आधार लोक-मानव के अनुभव तथा अनुभूतियाँ होती हैं।

यदि लोकनाट्य मात्र का और विशेष रूप से इस खड़ीबोली-प्रदेश के लोकनाट्य का अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही लोक-जीवन, उसकी अनुभूति-परम्परा, विश्वास, जीवन-यापन के ढङ्ग, चरित्रगत विशेषताएँ तथा जीवन-दर्शन पूरी स्पष्टता के साथ उभर कर सामने आएँगे। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-अध्ययन के लिए इनसे अधिक अमूल्य सामग्री कहीं और उपलब्ध नहीं हो सकती है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. कुरु-प्रदेश के प्रधान जिले सहारनपुर, मेरठ, बिजनौर और मुज़फ़्फ़रनगर हैं और यहाँ की लोक-भाषा खड़ीबोली है।

२. भारतीय नाट्य-साहित्य : सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ८४।
३. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा : डॉ० श्याम परमार, पृष्ठ ७।
४. भारतीय नाट्य-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : वेदपाल खन्ना, पृष्ठ १५।
५. हिन्दी-नाटक का उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ४२।
६. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ५०५।
७. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा।
८. लोकसाहित्य-विज्ञान : डॉ० सत्येन्द्र पृ० ५०८।

बिहारी-सतसइ की शब्दावली
का वृष्टि से
[illegible] एव अध्ययन

बिहारी-सतसई : ध्वनि-विचार

रामकुमारी मिश्र

स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर ने चार हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'विहारी-सतसई' के प्रामाणिक पाठ को 'बिहारी-रत्नाकर' के रूप में प्रस्तुत किया। बाद मे उन्होंने कविवर 'बिहारी' के द्वारा सतसई की भाषा पर भी विचार प्रस्तुत किये। परन्तु सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् ऐसा प्रतीत हुआ कि 'बिहारी-रत्नाकर' के पाठ मे और भी संशोधन सम्भव हैं और भाषा-विज्ञान की आधुनिक पृष्ठभूमि में रत्नाकर द्वारा दिया गया 'विहारी-सतसई' का भाषावैज्ञानिक अध्ययन अपूर्ण है।

किसी भी प्राचीन कृति के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उसका प्रामाणिकतम पाठ उपलब्ध हो, क्योंकि ऐसे अध्ययन में शब्दों एवं उनके रूपों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक जान पड़ा कि पहले 'बिहारी-सतसई' का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत किया जाय। फलतः मैंने पचास से अधिक हस्तलिखित प्रतियों के मिलान के पश्चात् इसका पाठ निर्धारित किया जिसमें ७१२ दोहे हैं। इस पाठ के निर्धारण में बीकानेर से प्राप्त सं० १७२४ की एक प्रति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के अनुसार ध्वनि-विचार एवं पद-विचार, इन्हीं दो प्रमुख अङ्गो के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचना की जाती है। यहाँ 'बिहारी-सतसई' के स्वीकृत लिखित रूप को ही आदर्श मान कर उसका ध्वनि-विचार-सम्बन्धी अध्ययन संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—ध्वनि-विचार

११—लेखन-प्रणाली की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' में ४९ लिपि-चिह्नों का प्रयोग हुआ है। एक ही वर्ण अथवा ध्वनि-इकाई को व्यक्त करने के लिए इसमें कहीं-कहीं एक से अधिक लिपि-चिह्नो का प्रयोग किया गया है। इन लिपि-चिह्नों में से बारह स्वरों के लिए तथा छत्तीस व्यञ्जनो के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अनुस्वार का प्रयोग सर्वत्र स्वरों के साथ किया गया है। इन लिपि-चिह्नो द्वारा जिन वर्णों को द्योतित किया गया है, उनकी 'ध्वनि-प्रकृति' के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन-सा है। यहाँ मानक हिन्दी के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा रहा है। इस अध्ययन का आधार 'बिहारी-सतसई' की प्रामाणिक प्रति के लिखित रूप को माना गया है।

नीचे की तालिका उनका वर्गीकरण प्रस्तुत करती है:—

प्	त्	ट्	च	क
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्
ब्	द्	ड्	ज्	ग्
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्
म्	न्	ण्	×	×
	ल्			
	र्			
		ड़्		
		ढ़्		
	स्	ष्	श्	ह
व्			य्	
क्ष्	त्र्			
ं	ँ			

१.१. १—स्वर

'बिहारी सतसई' में ऽ तथा ॠ दो ऐसे लिपि-चिह्नों का प्रयोग हुआ है जो आज की मानक हिन्दी में नहीं मिलते। अतः इन लिपि-चिह्नों पर यहाँ विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा :—

१.१.२—ऽ चिह्न अ स्वर के उस रूप को द्योतित करता है जो अन्य दीर्घ स्वरों के साथ प्रयुक्त होने पर लिखा गया हो, यथा।

भए ऽब ए=भए अब ए (८८।१)

अब लौंऽब=अबलों अब (८८।१, ४५७।२)

पाणिनि के **ऐङः पदान्तादति** (६।१।१०९) सूत्र के अनुसार संस्कृत में पदान्त एकार या ओकार के बाद यदि अ आये तो दोनों के स्थान में क्रमशः एकार तथा ओकार (पूर्वरूप) हो जाते हैं और ऽ चिह्न अ की पूर्व उपस्थिति की सूचना मात्र देने को रख दिया जाता है। यहाँ पर **भए अब ए** के बीच ऽ की उपस्थिति नियमानुकूल है, किन्तु **अबलों अब** के बीच इसका उपयोग नियम-विरुद्ध है। ब्रजभाषा में क्षेत्र के अनुसार **ओ** तथा **औ** दोनों का प्रयोग प्रचलित है। इसी से प्रभावित हो कर **औ** के बाद भी यह चिह्न ऽ आ गया है।

१.१.३—बिहारी-सतसई में ऋ का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में तो कहीं नहीं हुआ है किन्तु इसके मात्रा-रूप (ृ) का प्रयोग कतिपय स्थानों पर हुआ है—**दृगन** (३९८।१); **नृपति** (२।१); **प्रकृति** (६०३।१); **वृषभान** (६७७।२); **सुमृति** (४३१।१); **सुहृदता** (२१।२)। कुछ शब्दों में ऋ दो प्रकार से लिपिबद्ध मिलता है, ऋ तथा रि—**तृषा** (४१९।२); **त्रिषा** (२३।२, ३९०।१)। इनसे यह सङ्केत मिलता है कि इस स्वर-चिह्न का प्रयोग परम्परागत लेखन-प्रणाली के कारण ही हुआ है। वस्तुतः संस्कृत-व्याकरण में ऋ की गणना स्वर रूप में होती है परन्तु मध्य-भारतीय आर्यभाषा (म० भा० आ०) के प्रारम्भ काल में ही यह स्वर लुप्त हो गया था। यद्यपि ऋ वर्ण नागरी एवं बँगला लिपियों में आज भी संस्कृत के अनुसरण पर प्रयुक्त होता है, किन्तु उच्चारण में यह **रि** हो गया है। इस प्रकार **ऋषि** का उच्चारण हिन्दी, बँगला आदि उत्तर भारत की आर्यभाषाओं में **रिसि-रिशि** होता है किन्तु उड़िया, मराठी आदि भाषाओं में ऋ का उच्चारण रु होता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऋ वर्ण का उच्चारण क्या था, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है, किन्तु प्रातिशाख्यों में लिखित विवरणों से ज्ञात होता है कि तब इसका उच्चारण **अॅरअॅ** रहा होगा और यह सङ्घर्षी स्वर रहा होगा। प्रातिशाख्यों में इसका विश्लेषण इस प्रकार किया गया है:—

$\frac{1}{4}$ मात्रा अ + $\frac{1}{2}$ मात्रा र + $\frac{1}{4}$ मात्रा अ

म० भा० आ० भाषा-काल में ऋ में से र् ध्वनि समीकृत हो गयी और अवशिष्ट अंश **अ, इ, उ, ओ, ए** में परिवर्तित हो गया। पालि (पा०) में अवश्य कुछ शब्दों में 'र' ध्वनि भी सुरक्षित है:—

सं=ऋग्वेद>पा० इरुव्वेद
सं०=ऋषभ>पा० रिसभ तथा उसभ

अशोक के अभिलेखों की भाषा के अध्ययन के पश्चात् ब्लॉश इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दक्षिण-पश्चिम में **ऋ>अ** तथा उत्तर-पूर्व में **ऋ>इ तथा उ**। परन्तु भाषाओं एवं बोलियों के सम्मिश्रण के कारण आज यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि किसी क्षेत्र-विशेष में ऋ का परिवर्तन किस रूप में हुआ है। हिन्दी में ऊपर के सभी परिवर्तनों के उदाहरण मिल जाते हैं (देखिए, बैं० लैं०, १७३; टर्नर: गुजराती फ़ोनॉलॉजी, १२; ब्लॉश: ला लाङ्ग मराठे, ३०)।

१.१.४—**शेष स्वर—इ, ई, ए, ऐ, अ, आ, औ, ओ, उ, ऊ** स्वर शब्द की प्राथमिक, माध्यमिक एवं अन्तिम स्थितियों में पाये जाते हैं। आरम्भ में ही निर्देश किया जा चुका है कि यहाँ मानक हिन्दी के आधार पर ही इनका वर्णन किया गया है, अतएव इनके सामान्य गुणों पर विचार करना तर्कसङ्गत नहीं है। नीचे तीनों ही परिस्थितियों में इनकी उपस्थिति के उदाहरण दिये जा रहे हैं (उदाहरण के पश्चात् दोहा-संख्या, फिर कोष्ठक में अर्थ दिये हैं)

प्राथमिक स्थिति	माध्यमिक स्थिति	अन्तिम स्थिति
ईठ (३७९।१, ४१०।१) (=इष्ट)	डीठ (४१०।२) (=दृष्टि)	गौरी (३३९।१, ७०८।१) (=गौर वर्ण वाली)
इन (१२९।१,६६२।१) (=ये)	नितम्ब (६६४।२) (=नितम्ब)	तपाइ (२८४।१) (=तप्त कर के)
एडी (३७।२) (=एड़ी)	भेष (५५५।१) (=वेष)	राधिके (२७।१) (=हे राधिके)
ऐंड़ाति (१८४।२) (=इठलाती है)	नैन (२।२, ३।२) (=नेत्र)	नै (२९४।२, ४६८।२) (=नदी)
अगहनु (४९६।२) (=मास विशेष)	उरबसी (२७।२) (=अप्सरा विशेष)	चन्द (४५।२) (=चन्द्रमा)
आनन(५९२।२)(=मुख)	कटाक्ष (२४८।१) (=कटाक्ष)	अँगुठा(२१०।१) (=अँगूठा)
औगुन (४६८।२) (=अवगुण)	गौर (२४३।१, ६६६।२) (=गर्दन)	नीदौ (११७।२) (=नींद भी)
ओछे (५९०।१) (=निम्न)	कपोल (८४।१) (=गाल)	गो (५२१।२) (=गाय)
उदर (७११।१) (=पेट)	कुच (२८।१) (=स्तन)	अधर (६६५।२) (=होंठ)
ऊखौ (१३६।१) (=ईख भी)	भुजमूल (६९८।१) (=भुजमूल)	हिन्दू (७१२।१) (=हिन्दू)

१.१.५—**अनुनासिकता**—बिहारी-सतसई में लगभग समस्त स्वर निरनुनासिक और अनु-
[नासि]क दोनों रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। केवल ऽ तथा ऋ के अनुनासिक रूपों का प्रयोग नहीं मिलता। [अ]नुनासिक रूप में भी इनका वितरण सीमित है। शेष में से अधिकांश स्वर तीनों ही स्थितियों [में अ]नुनासिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। **इ, ई, ए, ओ, उ** के अनुनासिक रूप प्राथमिक स्थिति में [नहीं] मिलते। जहाँ तक **अं** का प्रश्न है, यह प्राथमिक और माध्यमिक स्थितियों में ही [मिल]ता है। सच तो यह है कि तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी से ही शब्दान्त के अ का लोप [होने] लगा था (चटर्जी : बें० लै०, १४८)। अतएव अन्तिम स्थिति में इसके अनुनासिक रूप में [पाये] जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। शेष स्वर सभी स्थितियों में अनुनासिक रूप में पाये [जाते] है।

अनुनासिक स्वर	आदि	मध्य	अन्त
इँ		सींक (१४३।१) (=सींक)	अलसौहीं (६६२।२) (=आलस्य से भरी हुई)
ईं		बिंदुली (१३८।२) (=टिकुली)	जिहिं (६२८।२) (=जिसको)
एँ		भेंटिहों (५७२।२) (=भेंटूँगी)	गरैं (१६८।२) (=गले)
ऐं	ऐंड (१८४।२) (=गर्व)	पैंडों (१४५।२) (=मार्ग)	काचैं (१४८।२) (=कच्चा)
अँ	अँधेरि (८।२) (=अँधेरा)	सँदेसु (६२।२) (=सन्देश)	
आँ	आँगु (३८३।२) (=उँगली)	गवाँरइ (२७७।२) (=गँवार को)	झवाँ(४८४।२) (=झाँवा)
औं	औंधाई(२१९।२) (=उलटी)	माँह (११०।२) (=माँ)	आनसौं (२३३।२) (=दूसरे से)
ओं		साँठि (३६२।२) (=साँठ)	जवासौं (३२९।२) (=जवास)
उँ		मुँहु (२२७।२) (=मुँह)	गाउँ (२२६।१) (=गाँव)
ऊँ	ऊँचे (२५२।१) (=ऊँचा)	घूँघट (१४।१) (=घूँघट)	दुहूँ (२०६।२) (=दोनों)

ऊपर वर्णित अनुनासिक स्वरों को देखने से यह आभास होता है कि तत्कालीन भाषा में सभी स्वर निरनुनासिक एवं अनुनासिक दोनों रूपों में प्रयुक्त होते थे। आधुनिक आर्यभाषाओं में यही प्रवृत्ति आज भी चल रही है।

१.१.६—**स्वर-संयोग**—सतसई में दो से ले कर तीन स्वरों तक का संयोग एक साथ मिलता है। इसमें तीन स्वरों के संयोग का केवल एक ही दृष्टान्त उपलब्ध है और वह भी एक शब्द में न हो कर सामान्य बोलचाल में है। इस प्रकार यहाँ दो स्वरों के संयोग ही प्रमुख रूप में पाये जाते हैं। दो स्वरों का संयोग शब्द की प्राथमिक स्थिति में बिल्कुल ही नहीं है। ये संयोग केवल माध्यमिक और अन्तिम स्थितियों में पाये जाते हैं। समस्त बिहारी-सतसई में इस प्रकार के कुल २८ स्वर-संयोग मिलते हैं, जिनमें दो स्वरों का प्रयोग एक साथ किया गया है। इनमें से चार स्वर-संयोग माध्यमिक और अन्तिम दोनों ही स्थितियों में तथा एक स्वर-संयोग केवल

माध्यमिक स्थिति में एवं शेष केवल अन्तिम स्थिति में मिले हैं। माध्यमिक स्थिति के स्वर-संयोगों का क्रम दीर्घ-ह्रस्व अथवा ह्रस्व-दीर्घ ही है, जबकि अन्तिम स्थितियों के स्वर-संयोगों में स्वरों का क्रम ह्रस्व-दीर्घ, दीर्घ-ह्रस्व, दीर्घ-दीर्घ, ह्रस्व-ह्रस्व सभी है।

१.१.६.१—**माध्यमिक स्थिति**—बिहारी-सतसई में माध्यमिक स्थिति मे निम्नलिखित स्वर-संयोग मिलते हैं:—

–इआ– : बिआह (६००।१) (=विवाह)
–आइ– : उड़ाइक (५९।२) (=उड़ाने वाला)
नाइक (२८५।१) (=नायक)
पाइयतु (२०४।२, ४४८।१) (=पाया जाता है)
–आउ– : पाउस (६७२।१, ७०३।२) (=पावस ऋतु)
बाउरी (५७९।१) (=बावली)
राउटी (२४५।२) (=रावटी)
–ओइ– कोइन (१७०।१) (=आँख की पुतली का कोवा)
जोइसी (५७५।२) (=ज्योतिषी)
–ओउ– : होउगो (४२५।१) (=होंगे)

१.१.६.२—**अन्तिम स्थिति**—बिहारी-सतसई में अन्तिम स्थिति में निम्नलिखित स्वर-संयोग पाये जाते हैं:—

–इए : किए (१०९।२, २५१।१) (=किया)
जिए (३९१।१, ५७८।१) (=जीवित हुए)
–इउ : पिउ (२९५।२, ६३९।१) (=पिय, पति)
–ईए : नीचीए (२५८।१) (=नीची ही)
–एइ : देइ (२३२।२, ३३९।१, ३५७।१) (=देता है)
लेइ (६३२।३) (=लेता है)
–एई : बेई (८९।१, १६५।१, ४५३।१, ५६३।१) (=वही)
–एऐ : हथलेएँ (२६०।२) (=पाणि-ग्रहण)
–एउ : भेउ (५०८।१) (=भेद)
पसेउ (५०८।२) (=पसीना)
–ऐऊ : दीनैऊ (१४१।२) (=दिये हुए भी)
–अइ : गँवारइ (२७७।२) (=गवाँर)
सँझौखइ (१७८।२) (=सन्ध्या के समय)
–अई : मुकतई (२५१।१) (=छुटकारा)
हई (५०२।१) (=विस्मय, भय)
–अए : सिखए (१५।१, ४७।१) (=सिखाये हुए)
छए ३५७।१ ५२३ १ —छाये हुए)

—अउ तउ (६०३ २) (=तो भी)

—अऊ : तऊ (३९।२, ५९।२, १६२।२) (=तो भी)

—आइ : बेपाइ (४६।२) (=बिना पैर)

रघुराइ (६४।२) (=रघुराज, रामचन्द्र)

—आई : टुनिहाई (३३९।१) (=टोनापन)

कचाई (३८९।२) (=कच्चापन)

—आए : सुकाए (४८२।२) (=सुखाये)

खाए (४७८।२) (=खाने पर)

—आउ : बुराउ (५७९।१) (=बुराव)

लाउ (२३।१) (=लगाओ)

—आऊ : बटाऊ (२७३।१) (=पथिक)

बहाऊ (१६।१) (=बहा देने योग्य)

—औई : सिरज्यौई (६६३।२) (=सृजन करना)

ऐसोंई (५१९।१) (=ऐसा ही)

—औऊ : चढ़ायौऊ (४३८।१) (=चढ़ाने पर भी)

—ओइ : सोइ (१।१) (=वही)

गोइ (१८०।१) (=छिपा कर)

—ओई : सोई (२१७।१, ५६९।२) (=उसी को)

ऐसोई (४७४।१) (=ऐसा ही)

—ओए : सोए (५७१।१) (=सोये)

—ओउ : सबकोउ (५५।१) (=सब कोई)

होउ (६३९।१, ६४०।१) (=हो)

—ओऊ : दोऊ (१२९।२, २५४।२) (=दोनों)

कोऊ (८९।१) (=कोई)

—उइ : छुइ (१६०।१) (=छू कर)

—उए : छुए (६९९।२) (=छुवा)

१.१.६.३—ऊपर वर्णित स्वर-संयोगों में से निम्नलिखित चार स्वर-संयोग स्वतन्त्र रूप में स्वतः शब्द-रचना करते है:—

आई : आई (२८७।२) (=आयी)

आए : आए (३८।२) (=आये)

आउ : अउ (५६३।२) (=आओ)

उए : उए (५११।१) (=उदित हुए)

उपर्युक्त शब्द प्राथमिक अथवा अन्तिम दोनों ही स्थितियों के उदाहरण के रूप में रखे जा सकते हैं

१.२ व्यञ्जन :

बिहारी-सतसई में कुल ३६ लिपि-चिह्नों का प्रयोग व्यञ्जनों के द्योतन के लिए किया गया है। ये समस्त व्यञ्जन आज की मानक हिन्दी-लिपि में विभिन्न चिह्नों द्वारा प्रकट तो किये जाते हैं किन्तु इन सबका उच्चारण नहीं होता।

बिहारी-सतसई में भी ये समस्त व्यञ्जन मूल रूप में उच्चरित होते हैं, इसमें सन्देह है। क्योंकि एक ही शब्द जब दो बार प्रयुक्त हुआ है तो प्रायः उसकी वर्तनी में एक ही ध्वनि के द्योतन के लिए दो लिपि-चिह्नों का प्रयोग किया गया है। यह स्थिति प्रायः **ण** एवं **न**, **य** एवं **ज**, **ष** एवं **ख**, **ष** एवं **श**, **क्ष** एवं **ख** तथा **क्ष** एवं **छ** वर्णों के सम्बन्ध में है।

ण, न—**ण** और **न** के बीच मुक्त परिवर्तन (free variation) देखने को मिलता है। बिहारी-सतसई में **ण** की विभिन्न स्थितियों की उपस्थिति पर दृष्टिपात करने से यह बात सहज ही में स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि बिहारी-सतसई में प्राप्त **ण** की उपस्थिति के अनेक उदाहरण अन्यत्र **न** द्वारा घोषित किये गये हैं फिर भी कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें **ण** ही वर्तमान है। यथा :—

प्राणनु (११२।१)	: **प्राननु** (२७९।१) (=**प्राणों को**)
कण (३८७।१)	: **कन** (२९६।१) (=**कण**)
रण (१७९।१)	: **रन** (८२।१) (=**रण**)
अरुण (१७१।१, २७२।१, ३३९।१)	: **अरुन** (४०५।१, ४२०।१, ४८८।१) (=**अरुण**)

इनमें **ण** तथा **न** दोनों वर्तमान हैं परन्तु निम्नलिखित उदाहरणों में केवल **ण** ही पाया जाता है :—

मरण (१४९।१) (=**मरना, मृत्यु**)
हरिणी (६९।२) (=**हिरनी**)
प्रवीण (२।१) (=**चतुर**)

बिहारी-सतसई की उपलब्ध प्रतियों में, अधिकांश में, **ण** और **न** दोनों के स्थान पर **न** का ही प्रयोग किया गया है। व्यञ्जन-संयोग में जहाँ नासिक्य + मूर्धन्य स्पर्श है वहाँ **ण** का प्रयोग मिलता है :—

ससि-मण्डल (१०६।२) (=**शशि-मण्डल**)

य, ज—बिहारी-सतसई में प्राप्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **य** और **ज** एक दूसरे के साथ मुक्त-परिवर्तन में हैं। कुछ ऐसे शब्द हैं जो **य** और **ज** दोनों से लिखे गये हैं और कुछ शब्दों में **य** के स्थान पर **ज** और **ज** के स्थान पर **य** का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के उदाहरण इस बात का स्पष्ट सङ्केत करते हैं कि उस समय **य** और **ज** के उच्चारण समान थे जिसके कारण शब्दों की अखरौटी में यह अन्तर्परिवर्तन-सा हो गया है। उदाहरणार्थ,

य तथा **ज** दोनों

यदुपति	(४२९ २)	जदुपति	(८९ २)	(श्री कृष्ण जी)
यमुना	(६८८।२)	जमुना	(१२८।२)	(=यमुना जी)
दुर्योधन	(४१६।२)	दुर्जोधन	(१७।२)	(=दुर्योधन)

य के लिए ज :—

जुग	(५७६।२)	(युग)	(= युग)
जुगल	(२११।२,२३९।२)	(युगल)	(=दोनों)

ज के लिए य :—

पातुरराय	(२८५।२)	(--राज)	(= श्रेष्ठ नर्तकी)
निय	(२९९।१)	(निज)	(=निज, स्व)

ष, ख—ष लिपि-चिह्न का उपयोग कहीं तो ख और कहीं श के उच्चारण एवं अर्थ को द्योतित करने के लिए किया गया है। ष के द्वारा ख के उच्चारण को प्रकट करना तो स्वयं लिपि-कार अथवा लेखक की सुविधा के कारण हो सकता है जिससे पाठक को ख के साथ र और व के संयोग का भ्रम न हो। किन्तु एकाध स्थलों पर ख द्वारा ष का भी बोध कराया गया है।

मानक हिन्दी में ष का वर्तमान उच्चारण स या श हो गया है। पूर्वी भाषाओं में ष का उच्चारण ख हो गया है।

ख के लिए ष :—

रुष	(२६२।१)	(रुख)
महूष	(५०४।१)	(महूख)
भूष	(५०४।२)	(भूख)

ष के लिए ख :—

मयूख	(५४७।२)	(मयूष)
पखानु	(१२०।१)	(पाषाण)

श के लिए ष :—

परिवेष	(३०५।२)	(परिवेश)

क्ष—यद्यपि आधुनिक नागरी वर्णमाला में यह वर्ण सम्मिलित है किन्तु यह संयुक्त व्यञ्जन है : क्ष=क+ष। पूर्वी बोलियों तथा भाषाओं में क्ष, ख के रूप में परिवर्तित हो गया है। यह बात सामान्य रूप से ही कही जा सकती है। संस्कृत में भी क्षुर तथा उससे व्युत्पन्न खुर दोनों शब्द प्रचलित हैं। बिहारी (मैथिली, मगही तथा भोजपुरी) एवं बँगला, उड़िया तथा असमिया में क्ष प्रायः ख में परिवर्तित हो गया है किन्तु ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी आदि पश्चिमी बोलियों में छ रूप में परिवर्तित हुआ है। बिहारी-सतसई में इस रूप में इसका प्रयोग शब्द की माध्यमिक एवं अन्तिम स्थितियों में ही हुआ है। शब्द की प्राथमिक स्थिति में इसका विकास दोनों ही दिशाओं—ख तथा छ—में मिलता है :—

खिन-खिन	(२२३।२)	(=क्षण-क्षण)
छिन-छिन	(११३।२, ३६४।२)	(—— ——)

—क्ष की ही भाँति त्र भी संयुक्त व्यञ्जन (त्र=त्+र) है जिसका प्रयोग बिहारी-प्राथमिक, माध्यमिक एवं अन्तिम, तीनों ही स्थितियो में किया गया है। नागरी भी इसका स्थान संयुक्त व्यञ्जन के ही रूप में है।

—बिहारी-सतसई में इस वर्ण का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में कहीं नहीं मिलता। संयुक्त यह शब्द की प्राथमिक, माध्यमिक और अन्तिम सभी स्थितियों में पाया जाता है। -जन में इसके साथ र द्वितीय सदस्य के रूप में मिला है। इस प्रकार श्+र=श्र, जो यो में प्रयुक्त हुआ है किन्तु स्वतन्त्र रूप में सर्वत्र स का ही प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ, ३।१, ४०५।१), सुश्रुत (६७३।१), मिश्र (२६५।२), दरसन (७०५।२)।

ड, ड़, ढ़—बिहारी-सतसई में ड और ढ वर्ण स्वतन्त्र रूप में शब्द की प्राथमिक पाये जाते हैं। माध्यमिक स्थिति में ये दोनों वर्ण व्यञ्जन के सदस्य के रूप में पाये सके विपरीत, ड़ तथा ढ़ शब्द की माध्यमिक एवं अन्तिम स्थितियों में पाये जाते है।

स्वार (ं)—बिहारी-सतसई में चिह्न व्यञ्जन-संयोगों में प्रयुक्त हुआ है। मानक वृत्ति के आधार पर तथा बिहारी-सतसई में उपलब्ध कुछ उदाहरणों के आधार पर ब्द की माध्यमिक स्थिति मे अनुगामी व्यञ्जन के समावयवी नासिक्य व्यञ्जन को ता है।

हारी-सतसई में म, न, तथा ण का प्रयोग तो कहीं-कहीं व्यंजन-संयोगों में हुआ है, किन्तु य व्यञ्जनों का प्रयोग कही नहीं हुआ। अतएव उनके लिए इसी चिह्न (ं) का प्रयोग है, यथा:—चंपक (५११।२), कुंडल (१०३।१), नितंब (६६४।२), मडल , इडु (१८७।१), अंगार (५४७।२), इंदु (६९०।२), मयंकु (५८४।२), गुजन , कंजन (६९५।१)।

२.१—बिहारी-सतसई में उपलब्ध व्यञ्जनों का प्राथमिक, माध्यमिक एवं अन्तिम वितरण इस प्रकार है:—

आदि	मध्य	अन्त
पीन (६६४।२)	निपट (२५८।२)	जप (१४७।१)
तरुण (१०५।२)	नितंब (६६४।२)	गात (५७।१)
टरत (३।१)	कटाक्ष (२४८।२)	निपट (२८५।२)
चतुर (४७।१)	अचेत (५६८।१)	कुच (२८।१)
कर (१४६।२)	पुलकित (३७०।२)	चिबुक (२७१।१)
फूल (४६०।१)	सफल (५५।१)	...
थकित (२८।१)	अथाइनु (१७८।१)	हास्य (५९।२)
ठौर (११।१)	मूंठि (३५१।२)	दीठ (४१०।२)
छैल (७९।२)	तीछून (३५०।२)	...
खूब (५४२।२)	दुखित (६९२।२)	मुख (२८।१)

आदि	मध्य	अन्त
बाम (४७२।१)	बिब्स (५२६।१)	पूरब (३८२।२)
दाघ (४९०।२)	बिदेस (६५७।१)	रद (२१५।२)
डीठिहिं (५०२।२)	. . .	. . .
जिय (११।१)	सोनजुही (१९१।१)	उरज (१०७।२)
गात (५७।१)	निरगुन (४३०।२)	दृग (५५।१)
भट (२२७।१)	सोमा (३२२।२)	गरभ (६९२।२)
घनि (३८२।१)	बेधक (२९।१)	बुध (७०७।२)
डीठ (२०९।१)		. . .
झीन (१८७।२)	झझकत (४८४।२)	खीझ (१८८।२)
घन (३०२।१)	रघुराइ (६४।२)	अरघ (२७०।१)
मरकत (१८७।१)	तमासे (५५१।२)	कुसुम (६७२।२)
नील (२०८।१)	मानिक (३४०।१)	मिलन (५६।१)
. .	प्राणनु (११२।१)	मरण (१४९।१)
सजल (२३१।१)	दरसन (७०५।२)	सरस (९६।१)
. .	विषम (१२२।२)	महूष (५०४।२)
श्रम (३०३।१)	सुश्रुत (४३१।१)	मिश्र (२६५।२)
हृद (२१५।२)	दुलहिया (४२।१)	बांह (४००।२)
. . .	कनौड़ी (१८६।२)	गाड़ (१९।१)
. . .	नवोढ़ा (२९७।१)	गढ़ (३१०।२)
वर (१७१।१)	देवर (८७।१)	उपाव (३८०।१)
यदुपति (४२९।२)	सयान (२४०।१)	निय (२९९।१)
रुचित (४३४।१)	सौरभ (४९८।१)	मुंहजोर (६०९।२)
लोभ (१५०।१)	कअल (३१६।१)	पल (२४८।१)
.	दक्षिन (२६१।१)	कटाक्ष (२४८।२)
त्रिषा (२३।२)	पत्रा (७५।१)	चित्र (२९५।२)

२—**व्यञ्जन-संयोग**—बिहारी-सतसई में दो से ले कर तीन व्यञ्जनों का संयोग
तक तीन व्यञ्जन-संयोग का प्रश्न है, इनके उदाहरण अत्यन्त सीमित है और संयोग
क्य+समावयवी व्यञ्जन+र है। यह संयोग माध्यमिक स्थिति मे ही मिलता है।
योग प्राथमिक और माध्यमिक दोनों ही स्थितियों में पाये जाते हैं। जहाँ तक अन्तिम
ञ्जन-संयोगों का प्रश्न है, आधुनिक मानक हिन्दी के आधार पर यह कहा जा सकता
दान्त संयुक्त व्यञ्जनो मे होता है तो उनके अन्त मे अ स्वर रहता है इस

प्रकार अन्तिम स्थिति में व्यञ्जन-संयोग अथवा संयुक्त व्यञ्जन की उपस्थिति का प्रश्न नही उठता।

१.२.२.१—**प्राथमिक स्थिति में व्यञ्जन-संयोग**—प्राथमिक स्थिति में प्राप्त व्यञ्जन-संयोगों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें संयोग का क्रम व्यञ्जन **य, र, व** और ह है। केवल एक संयोग ऐसा है जिसका क्रम **स्+त** है—**स्तन** (२।२)।

व्यञ्जन+य

प्+य : प्यार (५६४।२)	ड्+य : ड्यौढ़ी (१०३।२)
त्+य : त्यौनारु (४९२।१)	ज्+य : ज्यौ (४११।२)
क्+य : क्यों (२३२।१)	ध्+य : ध्यान (५८३।१)
ब्+य : ब्यौरु (१०९।२)	स्+य : स्याम (१६२।१)
द्+य : द्युति (४४२।२)	ह्+य : ह्याँ (३३२।२)

व्यञ्जन+र

प्+र : प्रमान (६४५।२)	ग्+र : ग्रीसमु (४८९।२)
त्+र : त्रासु (९०।१)	भ्+र : भ्रम (३४२।२)
द्+र : द्रिढ़ (४५४।२)	श्+र : श्रम (३०३।१)

व्यञ्जन+व

छ्+व : छ्वाइ (३६५।२)	ग्+व : ग्वैंडौ (१४५।२)
द्+व : द्वैज (९४।१)	स्+व : स्वारथु (३०३।१)
ज्+व : ज्वाल (११२।२)	ह्+व : ह्वैबौ (६३९।१)

व्यञ्जन+ह

न्+ह : न्हाइ (६६६।२)

१.२.२.२—**माध्यमिक स्थिति में व्यञ्जन-संयोग**—माध्यमिक स्थिति में लगभग सभी व्यञ्जनों के साथ व्यञ्जन-संयोग मिलते हैं। इन संयोगों के क्रम में अर्धस्वर (**य, व**) प्रथम सदस्य के रूप में नही आते। मानक हिन्दी में जहाँ द्वित्व अथवा दीर्घ व्यञ्जन माध्यमिक स्थिति मे प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, वहाँ बिहारी-सतसई में केवल **क, च, ज, त, द** तथा **ल** के ही द्वित्वात्मक रूप मिले हैं, यथा:—**सचिक्कन** (९७।१), **उच्च** (२३८।१), **बिज्जुछटा** (३८१।२), **चित्त** (३९४।२), **जद्दपि** (६५८।१), **नवमल्ली** (१७७।१)।

बिहारी-सतसई में प्राप्त माध्यमिक स्थिति के व्यञ्जन-संयोगों में से अधिकांश मे व्यञ्जन-क्रम **व्यञ्जन+य** है, तथा शेष में **व्यञ्जन+अन्य व्यञ्जन** क्रम है।

व्यञ्जन+य क्रम

प्+य : सौप्यौ (२९६।१)	ग्+य : लाग्यौ (३७८।२)
त्+य : पत्यात (३६६।२)	ध्+य : बन्ध्यौ (४०।२)
ट्+य : चहुँट्यो (६४५।१)	ढ्+य : ओढ्यौ (६८९।१)
च+य तच्यौ (३७४ १)	म+य समुझ्यौ (१६३।१)

क्+य : अटक्यौ (४३९।१)
थ्+य : हथ्यार (५६४।२)
ठ्+य : तठ्यौ (६०।२)
छ्+य : पोंछ्यौ (१७४।२)
ख्+य : देख्यौ (६१८।१)
ज्+य : भज्यौ (३९९।१)
न्+य : मान्यौ (२२७।१)
स्+य : धस्यौ (१०३।२)
ह्+य : बह्यौ (५५३।१)
र्+य : परयौ (२७१।१)
ल्+य : चल्यौ (४४१।१)
ड्+य : उड्यो (५५६।२)

व्यञ्जन+व्यञ्जन क्रम

व्यञ्जन+व

द्+व : अद्वैतता (१५।२)

व्यञ्जन+र

त्+र : पत्रा (७५।१)
क्+र : संक्रौन (२७५।२)
श्+र : सुश्रुत (४३१।१)

व्यञ्जन+ह

म्+ह : कुम्हिलाइ (५१६।१)
न्+ह : जौन्ह (१११।२)

नासिक्य चिह्न + स्पर्श

सम्पति	(३३१।१)	मकरन्द	(३८८।१)
हेमन्त	(४९५।२)	कुण्डल	(१०३।१)
घण्टावली	(३८५।१)	अञ्जन	(४८।२)
पाञ्चाली	(४०३।२)	सिङ्गार	(६७९।२)
मयङ्क	(५८४।२)	धङ्क	(२२९।१)
प्रतिबिम्ब	(१०८।२)	जङ्ग	(२११।१)

नासिक्य+व्यञ्जन

बसन्त	(५७४।१)	नितम्ब	(६६४।२)
कालिन्दी	(५३७।२)	आरम्भ	(६४४।२)
सुगन्ध	(९७।१)	तुम्हें	(१६०।२)
अन्हाइ	(६४५।१)	ससिमण्डल	(१०६।२)
पुन्युनु	(२७५।२)		

अल्पप्राण+महाप्राण (सवर्गीय)

अच्छ् (४१५।१)

कण्ठ्य+दन्त्य

मनि मुक्तिय (१५७।१)

दन्त्य+ओष्ठ्य (अल्पप्राण+महाप्राण)

अद्‌भुत (१६२ १)

१.३—**अक्षर-संरचना**—बिहारी-सतसई के लिखित रूप के आधार पर तत्कालीन भाषा की ध्वनि-प्रवृत्तियों तथा सामान्य बोलचाल के रूपों के विषय में कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। अक्षर-संरचना के अध्ययन के लिए लिपिकारों द्वारा लिखित रूपों को ही आधार माना जायगा। जिन तत्त्वों का प्रवेश इसकी लिखित प्रतियों में हो गया है उनको ही तत्कालीन भाषा के बोलचाल के रूप में स्वीकृत किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर अक्षर-संरचना की प्रवृत्ति और प्रणाली पर्याप्त सरल हो जाती है। स्वरों के विवरण के साथ इस बात का सङ्केत किया जा चुका है कि अन्तिम स्थिति का अ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से ही विलुप्त हो रहा था। समस्त अध्ययन में इस तथ्य को दृष्टि में रखा गया है।

यदि हम स्वर के लिए **अ** तथा व्यञ्जन के लिए **क** सङ्केत स्वीकार करे तो बिहारी-सतसई की अक्षर-संरचना को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है :—

१. अ : (कोई भी स्वर स्वनग्राम अक्षर-संरचना कर सकता है) ए (७८।१)
२. अ क : (कोई स्वर+व्यञ्जन) उर् (२७।२); इन् (४३३।२)
 अ क क : (स्वर+संयुक्त व्यञ्जन का प्रथम व्यञ्जन) अच्छ् (४१५।१)
३. क अ : (कोई व्यञ्जन+स्वर) जै (४०८।१); ये (२५६।१); वे (४३३।२)
४. क अ क : (व्यञ्जन+स्वर+व्यञ्जन) : कन् (२९६।१); सिर् (१३९।२, ४३२।१); वह् (७०।१) हाथ् (५९।२, १९९।२) मृग् (३७५।१); सीस् (३६।१, ८३।१)
५. क क अ : (संयुक्त व्यञ्जन+स्वर): स्वा रथ (३०३।१); ग्वें डौ (१४५।१); त्रि बेनी (३३९।२)
६. क क अ क : (संयुक्त व्यञ्जन+स्वर+व्यञ्जन) : ज्वाल् (११२।२); प्यार् (५६४।२); ध्यान् (५८३।१)

इस प्रकार बिहारी-सतसई में एक शब्द में कम से कम एक अक्षर तथा अधिक से अधिक चार अक्षरों का प्रयोग किया गया है। शेष इन्हीं के संयोग से प्राप्त हुए हैं।

●

'प्रतिपत्तिका' के अन्तर्गत हम नियमित रूप से अपने लेखकों की सामयिक टिप्पणियाँ, शोधोपयोगी सूचनाएँ और तत्सम्बन्धी सामग्रियों का परिचय, नवान्वेषित कृतिकारों या कृतियों का परिचय तथा नयी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ प्रकाशित करते हैं। यह कार्य सुदुष्कर अवश्य है, किन्तु हम कला, संस्कृति एवं साहित्य के हर अध्येता एवं अन्वेषी से इस क्षेत्र में पूर्ण सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

एक

●

बोली और लोक-साहित्य का अन्तःसम्बन्ध

●

रामस्वरूप चतुर्वेदी

समस्या को आरम्भ में दो प्रश्नों के माध्यम से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। पहला प्रश्न यह होगा कि लोक-साहित्य बोलियों में ही क्यों लिखा जाता है, शिष्ट भाषा में क्यों नहीं? और दूसरा प्रश्न यह होगा कि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के काव्य और ब्रजभाषा के लोकगीतों में आधारभूत अन्तर क्या है? स्पष्टतः ये दोनों ही प्रश्न इस ओर सङ्केत करते हैं कि लोक-साहित्य का स्वरूप बोली के साथ गहरे स्तर पर सम्बद्ध क्यों है? बोली मे लोक-साहित्य बराबर लिखा गया है, इस स्थिति से हम इतना अधिक परिचित हैं कि इस प्रसङ्ग में हमारे मन में कोई अन्य शङ्का नहीं उठती। पर जब इस समस्या पर हम सचमुच विचार करने को उद्यत होते है तो कई प्रकार की मौलिक कठिनाइयाँ हमारे समक्ष आती हैं।

डि सोसर नामक भाषाशास्त्री ने वाणी (speech) और भाषा (language) में अन्तर स्थापित किया है। उसका कहना है कि वाणी एक व्यक्ति की होती है, जब कि भाषा समाज की अर्जित और स्वीकृत सम्पत्ति होती है; पर बिना इस वाणी के माध्यम के कोई भी तत्त्व भाषा की परिधि में प्रविष्ट नहीं हो सकता। व्यक्तियों के आरम्भ के अनगढ़ प्रयोग ही कालान्तर में भाषा में स्वीकृत होते हैं। वाणी और भाषा के डि सोसर द्वारा प्रतिपादित इस अन्तर को माना जाए

तो बोली (d alect) की स्थिति इन दोनो सामान्तो के बीच मे दिखायी देती है बोली न तो वाणी की भाँति नितान्त व्यक्तिगत है, और न भाषा की तरह व्यापक, जटिल और नियमित। उसकी मूल प्रवृत्ति मौखिक होने के नाते काफी उन्मुक्त है। वह बहुतेरे बन्धनों और अनुशासनो को स्वीकार नही करती, और अपने वक्ताओं की अनेक विचित्रताओं को समय-समय पर प्रश्रय देती चलती है। इस प्रकार वाणी और भाषा के बीच में बोली सेतु का कार्य करती है।

दूसरी ओर लोक-साहित्य पर विचार करें। लोक-साहित्य अपनी प्रकृति से एक सामूहिक अभिव्यक्ति है। वह न तो एक व्यक्ति की रचना है और न दूसरी ओर कोई व्यापक और बडा समाज उसकी सृष्टि कर सकता है। व्यक्ति और समाज के बीच छोटे-छोटे समूह, जातियाँ और वर्ग लोक-साहित्य की रचना और गायन में प्रवृत्त होते हैं। समूह में समाज की अपेक्षा वाह्य बन्धन कम होते हैं, पर आन्तरिक संवेदना कहीं अधिक गहरी होती है। समाज का सङ्गठन समूह की तुलना में बहुत जटिल होगा और संवेदनात्मक स्तर पर उसकी एकता अपेक्षया कम होगी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के दो सीमान्तों के बीच में अवस्थित समूह ही लोकसाहित्य के सृजन और सञ्चरण को आवश्यक भाव-भूमि प्रदान करता है। बोली और लोकसाहित्य का मिलन-स्थल भी यही समूह (Community) है, जो व्यक्ति की अपनी आरम्भिक वैयक्तिकता और समाज की जटिलता के बीच की विकास-स्थिति है। मूलत: अपनी मौखिक प्रकृति के कारण बोली और लोकसाहित्य इस अपेक्षया उन्मुक्त वातावरण में एक-दूसरे के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

आधुनिक काल में बोलियों और लोकसाहित्य दोनों के ह्रास का समुचित कारण भी है। हमारा वर्तमान सामाजिक सङ्गठन मध्यकालीन समूहों, वर्गों और जातियों से आगे बढ़कर औद्योगिक युग के अनुकूल ऐसे बड़े व्यापक समाजों की स्थिति में आ गया है, जिसका सङ्गठन अत्यन्त जटिल है और जिनके अन्तर्गत व्यक्तियों के परस्पर संवेदनात्मक सूत्र बहुत क्षीण होते हैं। बड़ी भाषाएँ एकरूपता के प्रयास में (आवागमन और सम्पर्क के अधिक त्वरित माध्यमों के द्वारा) छोटी बोलियो को समाप्त कर रहीं है। इसी प्रकार से आधुनिक व्यापक समाज में शिष्ट साहित्य का सृजन होता है, लोकसाहित्य का नहीं, क्योंकि लोकसाहित्य के लिए आवश्यक भाषात्मक संवेदना जिन समूहों में रहती है, उनकी पहले जैसी एकान्तिक स्थिति आज सम्भव नही। आज छोटे-छोटे समूह नष्ट होकर व्यापक समाज की सत्ता स्वीकार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुद्रण के चतुर्मुखी प्रसार ने भी बोली और लोकसाहित्य की मौखिक प्रकृति को आघात पहुँचाया है।

अपनी पुस्तक 'मैनकाइण्ड, नेशन ऐण्ड इण्डिविजुअल' में जैस्पर्सन ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। उसके अनुसार "**लोग जितने अधिक पिछड़े हुए होंगे उतनी ही अधिक समता एक कबीले के व्यक्तियों में परस्पर होगी, और उतना ही अधिक अन्तर एक कबीले से दूसरे कबीले के बीच होगा। इसके विपरीत सभ्यता का स्तर जितना ऊँचा होगा व्यक्तियों में परस्पर अन्तर उतने ही अधिक होंगे, पर विभिन्न समाजों के बीच समानता के चिह्न अधिक होंगे। सभ्यता वैयक्तिक अन्तरों को बढ़ाती है, जब कि असभ्य लोग अपने वातावरण पर अधिक निर्भर होते हैं और परम्परागत चिन्तन-पद्धतियों से बँधे रहते हैं।**" जैस्पर्सन के उपर्युक्त उद्धरण को ध्यान मे रख-कर कहा जा सकता है कि आधुनिक काल मे बोली और लोक-साहित्य का और किसी

हद तक सरक्षण तो होता है, पर उनका विकास नही हो पाता . क्योंकि बोली और लोक-साहित्य दोनों ही व्यक्तिगत या सामाजिक वैशिष्टय की अपेक्षा समूहगत (वर्गगत) वैशिष्ट्य पर आधारित होते हैं, जबकि वर्तमान सामाजिक सङ्गठन में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य पर तो बल है, किन्तु आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों की ऐकान्तिकता (exclusiveness) क्रमश नष्ट होती जा रही है। व्यक्ति के व्यक्तित्व पर बल शिष्ट साहित्य को विकसित करता है, सामूहिक या जातिगत एकता लोक-साहित्य को जन्म देती है। आज विभिन्न वर्गो, समूहों और जातियो का सङ्गठन ढीला पड़ रहा है और समाज में व्यापक एकरूपता फैल रही है (यद्यपि समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ गया है)—मुख्यतः उद्योगों और नगरों की सभ्यता के कारण। इसीलिए आज लोक-साहित्य का सृजन रुक गया है। आधुनिक समाज का जटिल सङ्गठन शिष्ट साहित्य के लिए उपयुक्त है, लोक-साहित्य के लिए नहीं। प्रायः सभी इतिहासों के मध्यकाल लोक-साहित्य के स्वर्ण-युग कहे जा सकते हैं, जहाँ आरम्भिक व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं है और न आधुनिक समाज की जटिलता है, वरन् जबकि सङ्गठन प्रमुखतः वर्गों और समूहों में है, जहाँ व्यक्तिगत विभेद कम है, पूरे वर्ग की संवेदनात्मक एकता प्रधान है, जो लोक-साहित्य के सृजन की विशिष्ट भाव-भूमि है, क्योंकि लोक-साहित्य मूलतः किसी वर्ग या जाति की सामूहिक अभिव्यक्ति है।

बोली और लोक-साहित्य के अन्तःसम्बन्ध का यह एक पक्ष हुआ—सामाजिक गठन के विकास की दृष्टि से। दूसरा पक्ष भाषा की प्रयोग-विधि से सम्बद्ध है, और कलात्मक सङ्गठन के विचार से अधिक गहरा है। सामान्य ढङ्ग से मानव-जीवन में भाषा-प्रयोग के दो स्तर हो सकते हैं—साधारण दैनन्दिन व्यवहार में और साहित्य के विशिष्ट क्षेत्र में। इन दोनों स्तरों के बीच का अन्तर भाषा की सृजनात्मक (creative) शक्ति है। साधारण व्यवहार में भाषा के सर्व-स्वीकृत और समूचे अर्थ को ग्रहण किया जाता है, जबकि साहित्य में शब्द की किसी नयी और विशिष्ट छाया की सर्जना होती है। साधारण बोल-चाल में 'इंसान' का अर्थ होता है मनुष्य। पर जब कवि कहता है—'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना' तो यह प्रयोग 'इंसान' शब्द की एक विशिष्ट छाया को सम्भव बनाता है। कवि-विशेष की यह भाषा-सम्बन्धी सर्जनात्मक शक्ति ही उसके काव्य की उत्कृष्टता को सिद्ध करती है, अर्थात् सर्जनात्मक शक्ति के अनुपात से ही कविता साधारण या श्रेष्ठ स्तर की होती है।

लोक-साहित्य में भाषा की यह सर्जनात्मक शक्ति बहुत कम मात्रा में अपेक्षित होती है। और यह भी संयोग से अधिक है कि शिष्ट भाषा की तुलना में बोली में सर्जनात्मक शक्ति कम होती है, क्योंकि इस सर्जनात्मक शक्ति का विकास वैयक्तिक प्रतिभाओं से होता है न कि किसी समूह के द्वारा, जो बोली और लोक-साहित्य दोनों का वास्तविक क्षेत्र है। वस्तुतः-शिष्ट और लोक-साहित्य का विभाजक अन्तर यह भाषा-प्रयोग-विधि ही है। शिष्ट साहित्य मे व्यक्तिगत रचनाकारों द्वारा भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का अधिकतम प्रयोग किया जाता है, जबकि लोक-साहित्य मूलत साधारण भाषा को ही हल्की-सी सर्जनात्मक शक्ति के स्पर्श के साथ प्रयुक्त करता है। लोक-साहित्य (गीतों और कथाओं, दोनों) का वास्तविक रस उसके सामूहिक गायन और पाठन में होता है। बोली की उन्मुक्त प्रकृति को उसके सामान्य दैनन्दिन रूप में हल्की-सी सर्जनात्मक शक्ति के स्पर्श से लोक-गायक सरस बना देता है।

इस प्रकार भाषा प्रयोग विधि के क्षत्र मे भी बोली और लोक साहि्य एक दूसरे के लिए उपयुक्ततम सिद्ध होते हैं। बोली में सर्जनात्मक क्षमता कम होती है, लोक-साहित्य में भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग ही कम अपेक्षित है। रत्नाकर की ब्रजभाषा और लोकगीतों की ब्रजभाषा में इस सर्जनात्मक शक्ति का ही अन्तर है। इसीलिए एक शिष्ट साहित्य है और दूसरा लोक-साहित्य और यही कारण है जिससे लोक-साहित्य का सृजन बोली में ही होता है, शिष्ट और परिनिष्ठित भाषा में नहीं। भाषा की सर्जनात्मक शक्ति की कमी को बराबर सङ्गीत के उपकरणों द्वारा पूरा करने का यत्न होता रहा है। इस दृष्टि से जो काव्य जितना अधिक पाठन या गायन की अपेक्षा रखता है उसका स्वयं अपना रचनात्मक गठन उतना ही कमज़ोर होता है। 'रामचरितमानस' को गाया भी जाता है, पर मात्र पढ़ने में उसका आस्वादन किञ्चित् भी कम नहीं होता। आधुनिक कविता क्रमशः अपने को सङ्गीत की बैसाखियों से मुक्त कर रही है। नयी कविता सम्भवतः कविता का विशुद्धतम रूप है और भाषा को सर्जनात्मक शक्ति की सबसे अधिक अपेक्षा रखती है। लोकगीत दूसरा सीमान्त है जो (सामूहिक रूप से) गाये जाने पर ही सम्प्रेषण को सम्भव बनाता है और भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का कम से कम प्रयोग करता है।

दो

●

क्या तुलसी-कृत रामायण का अर्थ राम-वन-गमन है?

●

सङ्गमलाल पाण्डेय

डॉ० कामिल बुल्के ने राम-कथा के विकास पर महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया है। उनकी खोज के अनुसार राम-कथा के निम्नलिखित प्रमुख रूप यथाक्रम विकसित हुए:—

(१) प्रथम रूप **राम-वन-गमन** का है। रामायण का अर्थ राम का अयन अर्थात् पर्यटन है। दशरथ-सुत राम के अयोध्या से वन जाने से ले कर लङ्का में रावण-बध कर के पुनः अयोध्या आने तक की कथा राम-कथा है।

(२) द्वितीय रूप पूर्ण राम-चरित का है। इसमें दशरथ-सुत राम की **पूरी जीवनी** आ जाती है।

(३) तृतीय रूप **रामावतार** का है। इसमें राम विष्णु के अवतार माने गये हैं। राम-कथा के इस रूप में अवतारवाद के कारण अलौकिकता आ गयी। अब राम-कथा केवल दशरथ-सुत की कथा न रह गयी। वह ब्रह्म-लीला भी हो गयी।

४ चतुर्थ रूप वा है इसमे राम-कथा विष्णु अवतार की लीला मात्र न रह कर भक्त-वत्सल भगवान् राम का गुण-कीर्तन हो गयी।

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि तुलसी-कृत रामायण में राम-कथा का कौन-सा रूप है? उसका नाम 'रामचरित-मानस' है और इससे ध्वनित यह होता है कि इसमें राम की पूर्ण जीवनी है। सामान्यतः तुलसी के रामयण का यही अर्थ लगाया भी जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें रामावतार का, अर्थात् उनके विविध रूपों, नर-रूप और ब्रह्म-रूप, का वर्णन तथा उनके गुण का कीर्तन भी है। इससे सिद्ध होता है कि तुलसी-रामायण में राम-कथा का अन्तिम रूप भी प्राप्तव्य है जो डॉ० कामिल बुल्के के अनुसार राम-कथा का सबसे अधिक विकसित रूप है। डॉ० बुल्के के मत में राम-कथा के पूर्ववर्ती रूप उसके उत्तरोत्तर रूपों में विद्यमान रहते हैं। अत मूलतः 'रामायण' या राम का अयन, पर्यटन या वन-गमन उसके प्रत्येक रूप में विद्यमान है।

किन्तु मेरा मत है कि तुलसी-रामयण का अर्थ राम-वन-गमन नहीं है। इसका तात्पर्य दशरथ-सुत राम का इतिवृत्त या चरित-वर्णन करना या उनका गुण-गान करना भी नही है। इसका प्रयोजन है माया की भूमिका में निष्पाद्यमान ब्रह्म-लीला मात्र। तुलसीदास की भाषा में यह मात्र 'रामलीला' है जो माया के रङ्गमञ्च पर घटित हो रही है। डॉ० कामिल बुल्के ने राम-कथा के इस रूप का तनिक भी उल्लेख नहीं किया है। उनकी दृष्टि केवल स्थूल या सगुण राम के अयन या पर्यटन पर ही गयी है। उन्होंने निर्गुण राम या अनाम के अयन या पर्यटन पर ध्यान नहीं दिया। निर्गुणी राम का सगुण राम तक नित्य अयन होता है। संक्षेप में यही रामायण है जिसका वर्णन तुलसीदास करना चाहते हैं। उनके सामने निर्गुण और सगुण का समन्वय मुख्य प्रश्न था। इसका समाधान उन्होंने निर्गुण के सगुण में अयन के माध्यम से किया है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि यह अयन अवतार है, क्योंकि यहाँ जन्म या अवतरण की बात नहीं है। अवतार वास्तविक या पारिणामिक होता है; अयन अवास्तविक या वैवर्तिक भी होता है। तुलसी का तात्पर्य राम के पारिणामिक अयन से न हो कर उनके वैवर्तिक अयन से है। राम का वास्तव में अयन या गमन नहीं होता, वह तो कूटस्थ नित्य है। किन्तु माया से उसका गमन या अयन देखा जाता है।

मेरे इस मत का समर्थन करने वाली अनेक युक्तियाँ तुलसी-कृत रामयण में भरी हुई हैं —

(१) तुलसी के राम परब्रह्म है, न कि दशरथ-सुत। इसका प्रतिपादन 'क्या तुलसी के राम दशरथ-सुत हैं?' नामक लेख में हो चुका है।[1] फिर जब तुलसी के इष्टदेव परब्रह्म हैं, तब दशरथ-सुत की कथा उनका मुख्य वर्ण्य-विषय हो ही नहीं सकती। उनका ध्येय परब्रह्म की सगुणता का वर्णन करना है। इसको समझने के लिए उन्होंने एक सगुणावतार की कथा का रूपक बाँधा है। वह रूपक वास्तविक घटना नहीं है।

(२) तुलसीदास ने सीता-हरण को स्पष्टतः वैवर्तिक बताया है।[2] वास्तव में सीता का हरण नहीं हुआ, क्योंकि सीता का तो अग्नि में प्रवेश हो गया। दशरथ-सुत के चरित में सीता-हरण की घटना मुख्य है। इस मुख्य घटना को अवास्तविक बना कर तुलसीदास ने सिद्ध किया है कि उनके राम की कथा माया के माध्यम से मात्र ब्रह्मलीला है, सीता-हरण की भाँति नारद-मोह की घटना भी मात्र वैवर्तिक है[1] फिर यही क्यों सम्पूर्ण राम-कथा मात्र वैवर्तिक है

(३) तुलसी के राम की कथा अलौकिक अमित और अनेक है (**बालकाण्ड, दोहा ३२ के बाद की चौपाइयाँ देखें**)। इसके विपरीत दशरथ-सुत की कथा लौकिक, अचमत्कारी, सीमित और एक है। अतः तुलसी की राम-कथा दशरथ-सुत राम की कथा नहीं है। फिर तुलसी के राम की कथा गोप्य है (**उत्तरकाण्ड, दोहा ६९-(ख)**)। इसके विपरीत दशरथ-सुत की कथा प्रकट है। यद्यपि तुलसीदास ने राम-कथा को प्रकट और गुप्त दोनों बता कर दोनों का समन्वय करना चाहा है, तथापि उन्होंने राम-कथा का अधिकारी उन्हीं को माना है जिन्होंने राम-कथा का गुप्त रहस्य समझा है, अर्थात् जिन्होंने यह समझा है कि राम-कथा मात्र वैवर्तिक है। माया-मोह से ग्रस्त व्यक्ति इस राम-कथा को नहीं समझ सकते (**बालकाण्ड, दोहा ३०-ख**)। इसे समझने के लिए माया के बन्धन का कटना जरूरी है। सत्सङ्ग से यह बन्धन कटता है और तब मोह भागता है और राम-कथा का पारमार्थिक या अलौकिक रूप स्पष्ट होता है (**उत्तरकाण्ड, दोहा ६१**)। इससे स्पष्ट है कि राम-कथा मात्र वैवर्तिक है।

(४) तुलसी के राम की कथा का मर्म या रहस्य ब्रह्म की वैवर्तिक लीला है, इसको उन्होंने स्थान-स्थान पर स्पष्ट कहा है (**अरण्यकाण्ड, दोहा २३ के बाद की तथा उत्तरकाण्ड, दोहा ५ के बाद की चौपाइयाँ**)।

(५) तुलसी-कृत रामयाण के मूल-स्रोत भगवान शङ्कर हैं। उनका अनुभव है कि जगत् मात्र स्वप्न है (**बालकाण्ड, दोहा ३८ के बाद की चौपाई**)। फिर यदि सम्पूर्ण जगत् ही स्वप्न है तो दशरथ-सुत का इतिवृत्त कैसे वास्तविक हो सकता है? इसीसे तुलसी के राम को जान लेने पर जगत् लुप्त हो जाता है (**बालकाण्ड, दोहा १११ के बाद की चौपाई**)।

(६) तुलसी के राम सारे संसार को नचाते हैं, ठीक जैसे नट कठपुतली को नचाता है (**किष्किन्धाकाण्ड, दोहा १० के बाद की चौपाई**)। यही नहीं, वह स्वयं नाचता है, किन्तु वह अपना अभेद किसी रूप विशेष से नहीं स्थापित करता है (**उत्तरकण्ड, दोहा ७२**)।

(७) तुलसी के राम की कथा भव-मोचनी है। दशरथ-सुत राम की कथा को जानना भव से मुक्त होना नहीं है। अतः इससे भी सिद्ध होता है कि परमार्थतः राम-कथा ब्रह्म की वैवर्तिक लीला है (**बालकाण्ड, दोहा १०९**)।

(८) तुलसी की राम-कथा श्रुति-सिद्धान्त का निचोड़ है। वैदिक वाङमय का अनुशीलन करने वाले जानते हैं कि श्रुति का निचोड़ दशरथ-सुत राम की कथा नहीं है। उपनिषद् का रहस्य जानने वाले गौड़पाद ने श्रुतियों का रहस्य बताते हुए कहा है:—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टि यो चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥

—माण्डूक्यकारिका ३।१५

अर्थात् सृष्टि की प्रक्रिया केवल यह समझाने के लिए है कि कहीं किसी प्रकार के भेद का अस्तित्व नहीं है और सर्वत्र, सर्वदा एक और अद्वितीय आत्मा ही है। श्रुतियों में जो सृष्टि की प्रक्रिया बतायी गयी है, उसके अनुसार सृष्टि स्वप्न है और सृष्टि-विज्ञान मात्र गल्प या उपन्यास है श्रुतियों का तात्पर्य एक और अद्वितीय आत्मा का परिज्ञान मात्र है

गौड़पाद की परम्परा को विकसित करने वाले शङ्कराचार्य का मत है कि:—

न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात् किञ्चित् फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात् तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्। —ऐतरेयोपनिषद्-भाष्य, द्वितीय अध्याय, उपोद्घात।

अर्थात्, सृष्टि की आख्यायिका के परिज्ञान से कोई लाभ इष्ट नहीं है। ऐकात्म्य के स्वरूप के परिज्ञान से अमरत्व का लाभ सभी उपनिषदों में बताया गया है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य' (२।१।२०) में शङ्कराचार्य ने सिद्धान्त-रूप से प्रतिपादित किया है कि उत्पत्यादि श्रुतियाँ आत्मैकत्व-प्रतिपादनपरक हैं (**उत्पत्यादिश्रुतयः आत्मैकत्वप्रतिपादनपराः**) न कि भेद-प्रतिपादक (**न तु भेदप्रतिपादकाः**)।

इस प्रकार श्रुतियों का निचोड़ निम्नलिखित है:—

(क) आत्मा एक और अद्वितीय है। नेति-नेति के द्वारा ही उसका वर्णन किया जाता है।

(ख) उत्पत्ति-श्रुतियाँ इसी आत्मा का ज्ञान कराने के लिए है।

(ग) आत्मा से अन्यत् जो कुछ भी है वह प्रतीयमान होते हुए भी मिथ्या मात्र है।

तुलसीदास जब कभी निगम, वेद या श्रुति के सार की चर्चा करते है, तब उनका अभिप्राय उपर्युक्त निचोड़ से ही होता है। इससे सिद्ध है कि उनकी राम-कथा केवल उनके राम के स्वरूप को समझाने के लिए एक गल्प या उपन्यास है। वह कथा वास्तविकता का वर्णन नहीं है। तुलसीदास के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक है कि राम को परब्रह्म और राम-कथा को ब्रह्मज्ञान का उपाय मात्र माना जाय। वास्तव में गल्प के माध्यम से ब्रह्मबोध कराने में तुलसीदास ने उपनिषदों और शङ्कराचार्य से भी बढ़ कर कार्य किया है। इसी कारण जहाँ-जहाँ 'रामचरितमानस' का प्रचार है, वहाँ-वहाँ लोग उपनिषदों और शङ्कराचार्य को भी भूल गये हैं।

(१०) वास्तव में परब्रह्म और प्रतीयमान मिथ्याभूत प्रपञ्च का सम्बन्ध बड़ा विचित्र है। यही रामायण है। इसी का वर्णन तुलसीदास कर रहे है। यही उनकी राम-कथा का मर्म या रहस्य है। इसमें न तो दशरथ-सुत का वन-गमन है, न उनका पूर्ण चरित, और न उनका गुण-गान। यहाँ परब्रह्म की वैवर्तिक लीला मात्र का चित्रण है जो अमित, अनेक, आश्चर्य-जनक और कभी भी पूर्णतः समझ में न आने वाली है। यही कारण है कि तुलसीदास कहते है —

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं॥

—उत्तरकाण्ड, दोहा ५२ के बाद

यहाँ 'रस-विशेष' का अभिप्राय वह आनन्द है जो स्वयं साक्षात् राम या परब्रह्म है और जिसका ज्ञान राम की वैवर्तिक लीला की अपेक्षा रखता है। यदि तुलसीदास के रामायण की कथा दशरथ-सुत राम की कथा होती तो उसमें 'रस-विशेष' और न 'अघाने' की बात ही न उठती। अतः डॉ० कामिल बुल्के ने राम-कथा के जितने रूपों की चर्चा की है, वे तुलसी की राम-कथा के लिए पर्याप्त नहीं हैं। तुलसी के रामायण का रहस्य वही है जो उपनिषदों का है, किन्तु विषय के प्रतिपादन की शैली और भाषा पौराणिक है। तुलसी की प्रतीकावली श्रुतियों की प्रतीकावली से भिन्न है किन्तु दोनो एक प्रकार का ही तत्त्व-बोध कराती हैं यह

भी कहा जा सकता है कि तुलसी की प्रतीकावली उपनिषदों की प्रतीकावली से अधिक जनप्रिय है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३ : अङ्क ४, सन् १९६०।

२. द्रष्टव्य अरण्यकाण्ड, २३वें दोहे के बाद की चौपाइयाँ।

३. द्रष्टव्य बालकाण्ड, १३७वें दोहे के बाद की चौपाइयाँ।

तीन

•

अज्ञात कवि शोभ जी श्रावक

•

नरेन्द्र मानावत

शोभ जी तेरापन्थ-सम्प्रदाय के आद्य-प्रवर्तक स्वामी भीखण जी के निष्ठावान् श्रावक थे। इनका पूरा नाम शोभाचन्द था। तेरापन्थ-सम्प्रदाय का मूल सम्बन्ध स्थानकवासी जैन-सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य रूपनाथ जी से है। कतिपय तात्त्विक मतभेदों के कारण संवत् १८१७ में स्वामी भीखण जी रूपनाथ जी से पृथक् हो गये और आषाढ़ पूर्णिमा के दिन केलवा में उन्होंने इस नये सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इसके वर्तमान आचार्य श्री तुलसी हैं।

शोभ जी ओसवाल-वंशीय चोरड़िया परिवार में पैदा हुए थे। इनका निवासस्थान केलवा (मेवाड़) था। ये बहुश्रुत श्रावक, दृढ़वर्मी और कुशल कवि थे। ये रजवाड़े में काम किया करते थे। एक बार किसी के कहने से ठाकुरों ने इनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। इनका संवेदनशील मन इस विकट अवस्था में भी गुनगुनाता रहा। स्वामी भीखण जी इनके इष्ट थे। उनका दर्शन करने की उत्कट अभिलाषा शोभ जी के कवि-हृदय को झकझोरने लगी और वे गा उठे :—

मोरो फन्दो इण संसार रो, कनक-कामिनी दोय।
फन्दे में फँस्यो निकल सकूँ नहीं, दर्शण किण विध होय ॥

स्वामी जी उस समय उसी ग्राम से विहार (पद-यात्रा) कर रहे थे। उन्होंने अपने कानों में ये शब्द सुने कि शोभ जी के पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं। बस फिर क्या था, वे लम्बा रास्ता तय कर शोभ जी के पास जा पहुँचे शोभ जी उस समय उपर्युक्त पद दर्शण किण विध होय गा रहे थे

स्वामी जी एकदम बोल पड़ दशन इण विध होय अनन्य श्रद्धा और दृढ आत्म विश्वास के आगे लाहे की कड़िया टूट पडी, चूर-चूर हो गयी।

शोभ जी श्रेष्ठ धर्म-प्रचारक भी थे। उदयपुर के केशरीचन्द जी भण्डारी को (जो मेवाड के १० हज़ार गॉवो के न्यायाधीश थे) इन्होंने ही धर्म-देशना दी थी ।

शोभ जी आध्यात्म-भावना के सरस कवि थे। इनकी कविताओं (ढ़ालों) को आज भी लोग आत्म-विभोर हो कर गाते हैं। इनकी काव्य-सरिता दो किनारों में हो कर बही है। एक मे स्वामी भीखण जी के प्रति दर्शनोत्कण्ठा, भक्ति-भावना और आत्म-निवेदन है तो दूसरे में सामाजिक विकृति, धर्माडम्बर और पाखण्ड के प्रति तीव्र आक्रोश है ।

इनकी भाषा बोलचाल की सरल राजस्थानी है पर उसमें जगह-जगह साङ्ग रूपको की सुन्दर सृष्टि हुई है। जब साधु लोग किसी गाँव या नगर में प्रवेश करते हैं तब आज भी स्त्रियाँ शोभ जी के इस गीत को मधुर स्वर-लहरी में गाती हैं :—

आज री दिहाडो जी भलोई सूरज ऊगीयो !
जिण धर्म रूप्यौं हो साँमी पूजरे गज भलो, सूतर री जो समसेर।
मारकणी मुँहरी हो साँमी जी पाखण्ड मत तणी, ततखिण दीधी जी फेर ॥१॥
मन रूप्यों घोरो हो साँमी जी, पूजरे पाटवी, इन्दरचौं दमवो पिलाँण।
श्री जिण अग्या हो साँमी जी वाग झालनें, पटक्यो पाखण्ड में आणघणी ॥२॥
वगतर वण्यौ हौ साँमी जी महाव्रतों तणौ, सील व्रत सिर टोप।
बावीस परिसा हो साँमी जी लोह लागार हैं, करिवा करमों सुँ कोप धणी ॥३॥
क्रिया कटारी हो साँमी जी कम्बर सोभती, तप रूपी जी तरवार।
सुमत गुपत हो साँमी जी कम्बर कसलिया, पातिक न्हाँखो जी झाण ॥४॥

इस साङ्ग रूपक का निर्वाह ३७ छन्दों में हुआ है। सन्त-शूर कर्मों से युद्ध करने निकला है। जिन-धर्म उसका हाथी है, तो सूत्र उसकी तलवार। मन घोड़ा है तो इन्द्रिय-दमन उसकी जीण। महाव्रतों का कवच पहना है तो शीलव्रत की टोप। बावीस परिषह हथियार है तो सुमति-गुप्ति कमरबन्द ।

एक अन्य ढ़ाल में (रचना सं० १८५०) कवि ने स्वामी भीखण जी के व्यक्तित्व को बारह-मासी दृष्टि से देखा है। आषाढ़-श्रावण में वे झूलते हुए गजराज हैं (आप हस्ती ज्यूँ डीला में दीपता), भाद्रपद-आसोज में वे हरे-भरे पर्वत हैं (साँमी डूँगर हरीमा होय), कार्तिक-मिगसर में वे सजे-सजाये साँड हैं (साँड़ ज्यूँ पूज पूजावता गाँमा नगराँ), पौष-माघ में वे सुखद सूर्य हैं (रवि तपतो ज्यूँ तप तेज आकरो), फाल्गुन-चैत्र में वैराग्य-रूपी गुलाब और दया-रूपी जल से फाग खलनेला व राज हैं (राजा ज्यूँ पूज सुमता राँण्याँ वँणी) और वैशाख-ज्येष्ठ में लहराते समुद्र है (आप दरसण समुद्र लहिर ज्यूँ)। ज्यों-ज्यों हम इस काव्य-सरिता में गोते लगाते हैं, त्यों-त्यों हमे रस मिलता है

चार

सूरजदास-कृत 'रामजनम'

गोविन्दजी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का खोज-विवरण' मे सूरजदास-कृत 'रामजनम' की उपलब्ध चार-पाँच प्रतियों का उल्लेख किया गया है। 'रामजनम' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे भी उपर्युक्त स्थान से ही प्राप्त हुई है। यह पुस्तक खण्डित अवस्था मे है और प्रारम्भ के केवल २० पृष्ठ ही उपलब्ध हैं। पुस्तक का आकार १०×६ इन्च है। लिपि प्राचीन देवनागरी है, भाषा अवधी तथा शैली दोहा-चौपाई की है।

ग्रन्थ-परिचय—जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, इसका विषय भगवान् राम का जन्म तथा उसीके सन्दर्भ में दशरथ का मृग के भ्रम में श्रवणकुमार की हत्या और उनके माता-पिता द्वारा उनको अभिशाप, दशरथ का पुत्र के लिए यज्ञ करना तथा शृङ्गी ऋषि द्वारा पुत्र के लिए वरदान देना आदि है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने जायसी और तुलसी की ही भाँति देवी-देवताओ और गुरु की स्तुति की है और राम की महिमा का गुणगान किया है। यथा :—

बरनो गनपति बिघिन बिनाशा। राम रूप होय पुरवहु आशा॥
कण्ठे सोरती हीदें महेसा। विद्या देहि श्री दाता गनेसा॥
बरनो सोरती अम्रित बानी। राम रूप तुम भलि गति जानी॥
बरनो चाँद सुरुज की जोती। राम रूप रस निरमल मोती॥
बरनो देव-बिप्र गुर पाऊँ। जिन्ह मोहि निरमल ज्ञान सिखाऊँ॥

कवि ने ग्रन्थ के दोहों में प्रायः अपना नाम दिया है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कही भी उसने न तो अपना परिचय दिया है और न रचना-काल का ही उल्लेख किया है। फिर भी रचना के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कवि जायसी के आसपास हुआ होगा। इस अनुमान का एक आधार है ग्रन्थ की भाषा। अवधी का जो रूप ग्रन्थ में मिलता है, वह जायसी की अवधी के अधिक सन्निकट है। भाषा के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

बालिमीक रामायन भाखा। तीनि भुवन जे भरिपुर राखा॥

... ...

बेगि पानि ले आवहु, शरवन पुत्र जो धाय।
त्रीखा बहुत हम पावा, पानी आय पिआय॥

कहु राजा ते कथिकर दुखी। बेगि कहो कै घालो सुखी।।
इन्द्र सरग ते टारि अड़ाओ। ताहि राज लै तोहि बैसाओ।।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि कवि ने आदिकवि वाल्मीकि का उल्लेख तो किया है लेकिन तुलसीदास या उनके 'रामचरितमानस' का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। यदि तुलसीदास की रचना इस कवि के जीवन-काल में लोकप्रिय हुई रहती तो अवश्य ही उसने वाल्मीकि की तरह उनका भी स्मरण किया होता। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः कवि तुलसी से पूर्व हुआ था।

कथा-प्रसङ्ग से ऐसा भी ज्ञात होता है कि वर्णित कथा का स्रोत राम की लोक-प्रचलित कथा भी रही है। कवि ने दशरथ की तीन सौ रानियों की कल्पना सम्भवतः लोक-तत्त्व के आधार पर ही की है :—

बिआही त्रिआ तीन सै रानी। तेहि मह तीन पाटकी रानी।।

तीन सौ रानियों की कल्पना न तो वाल्मीकि ने ही की है और न तुलसी ने ही। इसी प्रकार एक प्रसङ्ग ऐसा आता है जिसमें राजा दशरथ श्रृङ्गी ऋषि द्वारा दिये हुए प्रसाद को दो भागों में बाँट कर केवल कौशल्या और कैकेयी को खाने को देते हैं। जब वे दोनों खाने बैठती हैं तो सुमित्रा आ जाती है और अतिथि बन कर उनके भाग में से माँग बैठती है। दोनों रानियाँ अपने-अपने भाग में से थोड़ा-थोड़ा निकाल कर सुमित्रा को देती हैं। वाल्मीकीय रामायण और तुलसी के मानस में ऐसी कल्पना नहीं है, बल्कि उसमें दशरथ स्वयं तीन भाग कर के तीनों रानियों को देते हैं।

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से रचना का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है किन्तु यदि वह जायसी के लगभग की रचना है तो भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. पद्मावत (शुक्ल जी की 'जायसी-ग्रन्थावली') की निम्न चौपाइयों से तुलनीय :—
   (१) आदि एक बरनौं सोई राजा।...।५। (—पृष्ठ ५)
   (२) बरनौं सूर भूमिपति राजा।...।१३। (—पृष्ठ १३)

शोधसार

●

भागवत धर्म में प्रेम-प्रतीक का विकास

●

'जर्नल ऑफ़ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी' के
खण्ड ८२, संख्या १, मार्च १९६२ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख
'एवॉल्यूशन ऑफ़ लव् सिम्बॉलिज्म इन भागवतिज्म'
का सार

●

वॉँदविल

सारे ईश्वरवादी धर्मो में भारतीय एवं ईश्वरीय प्रेम के सादृश्य पर आधारित प्रेम-प्रतीक का व्यवहार किया जाता रहा है। मानवीय प्रेम-सम्बन्ध को उपमान तथा ईश्वरीय प्रेम-सम्बन्ध को उपमेय के रूप में वर्णित कर के प्रस्तुत एवं व्यक्त के माध्यम से अप्रस्तुत एवं अव्यक्त को सम्प्रेषित किया जाता रहा है। किन्तु इस प्रेम-प्रतीक का प्रयोग विविध धर्मो एवं सम्प्रदायों में अत्यन्त विविधता के साथ किया जाता रहा है। कभी ईश्वर को प्रेमी बनाया गया है और कभी प्रेमिका, कभी पति और कभी जार। आत्मा कभी उसकी पत्नी मानी गयी है, कभी प्रेयसी। और प्रेम कभी चरम आनन्द माना गया है, कभी चरम वेदना। ईश्वर और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही प्रेम-प्रतीक के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण होता रहा है जिसमें निम्नलिखित में से कोई एक या अनेक तत्त्व विद्यमान रहते हैं:—

(क) जीवात्मा में परम निष्ठा एवं इसके द्वारा आत्मसमर्पण;
(ख) ईश्वर के साथ ऐकात्म्य के लिए जीवात्मा में व्यथापूर्ण उत्कण्ठा;
(ग) ईश्वर में अनुग्रह एवं दया की प्रवृत्ति;
(घ) पारस्परिक आकर्षण;
(ङ) संयोग-सुख।

प्रेम-प्रतीक का व्यवहार केवल सादृश्य-विधान के रूप में भी हो सकता है तथा थोड़ा-बहुत यथार्थपरक भी। दोनों दशाओं में ईश्वरीय प्रेम मानवीय प्रेम का ही उदात्तीकरण या दैवीकरण प्रतीत हुआ करता है जिसमें ऐन्द्रिय या यौन सम्बन्ध का दैवीकरण सन्निविष्ट रहता है। चैतन्योत्तर बङ्गाली वैष्णव सम्प्रदाय में यह बात स्पष्टत देखी जा सकती है।

वेदों में ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को लक्षित करने के लिए प्रेम प्रतीक का यत्किञ्चित् प्रयोग किया गया है। वेदों में मानवीय प्रेम की कल्पना 'काम' के रूप में की गयी है। यह काम एक दुर्दम और बहुत अंशों में समाज-विरोधी आवेग का मानवीकृत स्वरूप है जो वाल्मीकीय रामायण और पुराणों के अनेक उपाख्यानों का खलनायक भी है। दाम्पत्य एवं सतीत्व के जिस आदर्श की प्रतिष्ठा रामायण में की गयी है, वह विवाह के अटूट बन्धन पर आश्रित है जिसमें काम की भूमिका गौण हो जाती है तथा प्रेम के आदर्श का निर्वाह होता है।

रामायण के आत्मनिक्षेपात्मक अनन्य प्रेम के इस नारीपरक आदर्श का प्राचीन भागवतों के धार्मिक आदर्शों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। यह सच है कि भगवद्गीता में जिस भक्ति का निरूपण किया गया है वह महाकाव्य के सतीत्व के आदर्श से अत्यधिक समानता रखता है, किन्तु इसके बावजूद गीता में प्रेम-प्रतीक का नितान्त अभाव है। उसमें कृष्ण के भक्तों के लिए 'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः' से आगे कुछ नहीं कहा गया है।

नास्तिक दर्शनों में भी मानवीय प्रेम के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जैसा कि मध्ययुगीन बौद्ध एवं शैव तन्त्र-सम्प्रदाय से स्पष्ट है। बौद्ध तन्त्र में प्रज्ञोपाय या संज्ञा-करुणा के तथा शैव तन्त्र में शिव-शक्ति के (और वैष्णव तन्त्र में कृष्ण-राधा के) मिलने पर महासुख की कल्पना यौन-सुख का उदात्तीकरण ही है। किन्तु इन उदाहरणों में मानवीय प्रेम-कर्म के किसी तत्त्व-विशेष के आधार पर प्रत्ययन (ऐब्स्ट्रैक्शन) अवश्य किया गया है (जैसे मैथुन से महासुख का प्रत्ययन), किन्तु मानवीय प्रेम-सम्बन्ध एवं उसके मानव-विशिष्ट तत्त्व को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

प्रेम-प्रतीको का धार्मिक साहित्य में साभिप्राय प्रयोग तो सातवीं शती में तमिल सन्त-कवियों ने आरम्भ किया। प्राचीन शैव सन्तों में सम्बन्दर प्राचीनतम (सातवीं शती के मध्य के) है। इनकी भक्ति दास्य-भाव-प्रधान ही है किन्तु कम से कम दो स्थलों पर उन्होंने प्रेम-प्रतीक का विवक्षित प्रयोग अवश्य किया है। उनके बाद नवीं शताब्दी में माणिक्क वाशगर ने भक्ति को अत्यधिक भावना-शबल स्वरूप प्रदान किया। माणिक्क पर भगवद्गीता का गहरा प्रभाव था। अतएव अपने महाकाव्य 'तिरुवाशगम्' में उन्होंने प्रेम-प्रतीक का व्यवहार तो न किया किन्तु ईश्वरीय प्रेम में विरह-तत्त्व का समावेश कर के उसमें एक ऐसी नयी रागात्मक प्रवणता ला दी जो भागवत-धर्म में नहीं पायी जाती। माणिक्क के लोककथात्मक विरह-काव्य 'तिरुक्कोवइ' मे तो उनके अनुयायियों ने ईश्वर और जीवात्मा के रहस्यवादी प्रेम-सम्बन्ध का प्रतीकार्थ निकाला है। यदि इस प्रतीकार्थ को युक्ति-सङ्गत मान लिया जाय तो 'तुरुक्कोवइ' मानवीय प्रेम को ईश्वरीय प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रयोग करने वाला प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है।

केवल सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत को व्यञ्जित कर देने की यह पद्धति भारतीय धार्मिक परम्परा से तो नहीं वरन् प्राचीन सूफ़ियों की परम्परा से अवश्य मेल खाती है। सातवी-आठवी शताब्दी में बसरे के सूफ़ियों की पहली पीढ़ी का प्रादुर्भाव हुआ था। अतः आठवी शती के बाद के तमिल कवियो पर कालक्रम की दृष्टि से उसका प्रभाव पड़ सकना सर्वथा सम्भव है। वैसे ऐतिहासिक एव भौगोलिक परिस्थितियों को देखते हुए यह सन्दिग्ध ही लगती है ईश्वरीय प्रेम की

भी अवधारणा माणिक्क ने विरह प्रम के रूप मे की है जो सूफियो के इश्क के समान ही है दोनो मे ही मानवीय प्रेम के सुखकारी पक्ष की अपेक्षा रहस्यवादी चिन्तन के साथ मेल खाने वाले करुण और वियोग-तापित पक्ष पर ही जोर दिया गया है। यही विरह-प्रेम आगे चल कर उत्तर भारत के धार्मिक साहित्य में लोकप्रिय हुआ।

किन्तु माणिक्क का यह प्रेम-प्रतीक केवल सादृश्यमूलक ही रहा, जबकि वैष्णव आळवारो ने इसमें एक नये तत्त्व का समावेश कर दिया। वे एक तो विष्णु के अवतारों में विश्वास करते थे, दूसरे कृष्ण-सम्बन्धी आख्यान में विशेष रुचि रखते थे। यह सच है कि ये सारी मान्यताएँ भी सादृश्यमूलक ही हैं जिनमे कृष्ण को पति या प्रेमी और जीवात्मा को प्रेमिका माना गया है, किन्तु इसमें कृष्ण के परम आनन्दमय किन्तु क्षणिक दर्शन एवं आलिङ्गन की सम्भावना के कारण प्रेम और भी पूर्णतर स्तर पर पहुँच गया है और वह मुक्ति से भी अधिक काम्य बन गया है। सबसे प्रसिद्ध आळवार नाम्माळवार ने माणिक्क की ही भाँति प्रेम को आत्मा की एक वेगवती शक्ति, एक करुण तनाव का रूप दे दिया है जो भगवद्गीता में प्रतिपादित कृष्ण के सान्निध्य से प्राप्त होने वाली मधुर और शान्तिमयी भक्ति से भिन्न है। ऐसी ही वेगवत्ता की अभिव्यक्ति भागवत-पुराण की गोपियों में होती है। नाम्माळवार ने भागवत का कोई प्रत्यक्ष उपयोग किया या नही, यह सन्दिग्ध है, किन्तु कृष्ण उनके तथा आण्डाल के अतिरिक्त अन्य आळवारों के लिए भी प्रतीको के अक्षय उद्गम अवश्य थे। इसी से कभी वे गोपियों से, कभी गोपों से और कभी यशोदा से अपना तादात्म्य कर लेते हैं।

आळवारों ने भगवान् मायन् अर्थात् कृष्ण-गोपाल को श्रीरङ्गम् के भगवान् तिरुमाल अर्थात् विष्णु का अवतार माना है तथा नप्पिण्णइ अर्थात् राधा को भगवान् तिरुमाल की पत्नी नीलदेवी का अवतार। नप्पिण्णइ की कल्पना एक विरहिणी गोपी के रूप में की गयी है जो मायन् के साथ रास में सम्मिलित होती है और परम भक्त है।

कृष्णाख्यान के चरित्रों के साथ भावात्मक तादात्म्य को आण्डाल ने एक चरण और आगे बढ़ा दिया था। उन्होंने प्रेम-प्रतीक को और भी यथार्थपरक रूप दिया तथा श्रीरङ्गम् के भगवान् तिरुमाल (विष्णु) की उपासना केवल पति-रूप में की। आण्डाल ने स्वयं को मथुरा के भगवान् मायन् (कृष्ण-गोपाल) की एक अनामा विरहिणी गोपी ही माना है, तथा नाम्माळवार की भाँति उनकी सनातन सहधर्मिणी नप्पिण्णइ के साथ कभी अपना तादात्म्य नही किया है।

भागवत-पुराण के दक्षिण की उपज होने के नाते उसमें राधा (नप्पिण्णइ) का उल्लेख जान-बूझ कर नहीं किया गया है, अन्यथा पुराणकार उसे जानता अवश्य था। पुराणकार की दृष्टि में कृष्ण परम भागवत हैं। अतः उनके साथ नप्पिण्णइ के श्रृङ्गारिक व्यक्तित्व को खपाने मे कठिनाई होना स्वाभाविक है। इसीसे अपनी प्रिय गोपी के साथ कृष्ण के सहपलायन के आख्यान (१०।३०) को दे कर भी उस गोपी का नामोल्लेख नहीं किया गया। वह आख्यान भक्ति के मूलस्थित विरह को प्रज्वलित करने के लिए आवश्यक ही था। यह उपाख्यान साङ्केतिक और प्रतीकात्मक अधिक है जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं पूर्ण आत्मसमर्पण का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है अनेक दृष्टियो से तो यह सा [illegible] रूपक (allegory) बन गया है

शाण्डिल्य एव नारद भक्ति सूत्रों से भी भक्ति-सम्बन्धी उक्त धारणा की पुष्टि ही होती है वसे भागवत-पुराण तथा दोनों भक्ति-सूत्र आळवारों पर ही अवलम्बित प्रतीत होते है शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति 'परानुरक्ति' (१।२) बताया गया है जिसका स्वरूप ऐकान्तिक होता है। नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति को 'परम-प्रेम-रूप' कहा गया है। 'प्रेम' शब्द का इस सन्दर्भ में यह प्रथम प्रयोग है। 'प्रेम' शब्द का प्रयोग 'काम' से इसके पार्थक्य को स्पष्ट कर देता है। 'प्रेम-रूप' पद से मानवीय प्रेम का सादृश्य लक्षित होता है, किन्तु 'परम' विशेषण द्वारा उसकी रहस्यमयता और अनिर्वचनीयता भी लक्षित हो जाती है। यह प्रेमा-भक्ति 'कामना-रहितम्' तथा 'प्रतिक्षणवर्धनम्' (४।५४) है। यह 'परमानन्द' तथा शान्ति से युक्त होते हुए भी तन्मय और गतिहीन न हो कर सतत उत्कण्ठा की गतिमयता से सम्पन्न है। यह गतिमयी भक्ति 'आत्मनिवेदनासक्ति' एवं 'तन्मयतासक्ति' से भी आगे 'परमविरहासक्ति' के स्तर की है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है। भागवत-पुराण में 'रास-लीला'-प्रसङ्ग में गोपियों की यही अवस्था है, तथा बाद में बङ्गाली वैष्णव भक्तों ने राधा को भी इसी अवस्था में अङ्कित किया है।

इस प्रकार भक्ति-सूत्रों में, विशेषतः 'नारद-भक्ति-सूत्र' में, जिस विरहपरक प्रेमा-भक्ति की दार्शनिक मीमांसा की गयी है तथा भागवत-पुराण और बङ्गाली भक्तों के साहित्य में जिसका निदर्शन हुआ है, उसका उद्भव तमिल सन्त-कवियों, विशेषतः आळवारों, के साहित्य से हुआ। आळवारों से ही नाथमुनि से ले कर यमुनाचार्य तक आरम्भिक वैष्णव आचार्यों को भी प्रेरणा मिली थी। सम्भव है, यमुनाचार्य (१०वीं-११वीं शती) नारद-भक्ति-सूत्रकार के समसामयिक रहे हों। उनकी भक्ति-सम्बन्धी अवधारणा में आळवारों की प्रपत्ति एवं विरह दोनों तत्त्व समन्वित हैं।

यमुनाचार्य ही रामानुजाचार्य के गुरु थे, किन्तु उन्होंने ईश्वर पर निर्भर रहते हुए भी उससे पृथक् जीवात्मा के अस्तित्व पर आधारित इस भक्ति-सिद्धान्त का वेदान्त के अद्वैतवाद से मेल बैठाने की कभी चिन्ता न की थी। रामानुज तथा अन्य वैष्णवाचार्यों की भक्ति-सम्बन्धी अवधारणा वेदान्त के साथ सामञ्जस्य लाने के प्रयत्न में अधिकाधिक बौद्धिक तथा गतिहीनतामूलक होती चली गयी। इसके विपरीत तमिल सन्तों का व्यक्ति-रूप एवं प्रेमी ईश्वर के प्रति जीवात्मा की विरह-भक्ति दक्षिण तथा उत्तर दोनों क्षेत्रों में लोकप्रिय हुई और उसकी उत्प्रेरणा से विपुल साहित्य की रचना हुई। विशेषतः उत्तर-पश्चिमी भारत में इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफ़ी रहस्यवाद से इस प्रवृत्ति को विशेष बल मिला।

—बद्रीनाथ

मध्य भारतीय आर्यभाषाएँ एक नयी अनुदृष्टि

●

'जर्नल ऑव् दि ओरिएण्टल इन्स्टिटयूट' के
खण्ड ९, संख्या ३, मार्च १९६२ अङ्क में प्रकाशित शोधलेख
'थ्री लेक्चर्स ऑन मिड्ल् इण्डो-आर्यन'
का सार

●

सुकुमार सेन

●

एक : प्राकृत का प्रागितिहास

सीधे-सीधे यह कह देना कि संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है, कदापि स्वीकार्य नहीं। सम्यक् कथन तो यह होगा कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ (प्रा० भा० आ०) मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाओं (म० भा० आ०) के तात्कालिक स्रोत हैं। ऐसे उदाहरण कम नहीं जहाँ कि म० भा० आ० रूप प्रा० भा० आ० रूप से तो पृथक् होते हैं किन्तु उसके किसी प्राचीनतर स्तर से मेल खाते हैं। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि म० भा० आ० का उद्‌गम प्रा० भा० आ० का कोई ऐसा रूप था (या कुछ ऐसे रूप थे) जो प्रा० भा० आ० के आज उपलब्ध साहित्य (वैदिक वाङ्मय एवं संस्कृत-साहित्य) से पृथक् था। प्राकृत (म० भा० आ०) का प्रा० भा० आ० से सम्बन्ध-निरूपण करते समय हम यह मान लिया करते हैं कि विभाषीय भेद नगण्य हैं तथा प्रा० भा० आ० एक मानकीभूत (स्टैण्डर्डाइज्ड) भाषा थी जिसके तीन मानकीभूत साहित्यिक रूप थे—प्राचीन वैदिक, उत्तर वैदिक तथा संस्कृत। इसके विपरीत, यद्यपि म० भा० आ० के प्रायः सारे प्राप्त अभिलेख साहित्यिक ही हैं, फिर भी हम मान लेते हैं कि कम से कम आरम्भिक अवस्था में तो वह बोलचाल की भाषा में अवश्य ही लिखी जाती थी, क्योंकि उन अभिलेखों में जनसामान्य के लिए उद्दिष्ट राजाज्ञाएँ, सूचनाएँ आदि ही मिलती हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि ईसवी-पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी के अन्तिम शतक में म० भा० आ० मानकीभूत प्रादेशिक भाषा के रूप में आविर्भूत हो रही थी और उन दिनों वह निश्चय ही कई बोलियों का एक समुदाय थी जबकि संस्कृत सारे आर्यभाषी भारत में प्रयुक्त होने वाली ऐसी भाषा थी जिसमें प्रादेशिक रूप-भेद या विभाषीय लचीलापन था ही नहीं।

किन्तु संस्कृत का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रा० भा० आ० मे विभाषीय लचीलापन विद्यमान था। उदाहरणार्थ, प्रा० भा० आ० सम्भवतः जब भारत मे प्रविष्ट हुई, उसमें केवल 'ल्' वर्ण था, और 'र्' था ही नहीं।

संस्कृत प्रा० भा० आ०) शब्द का प्रचार कालिदास के युग मे हो चुका था

किन्तु 'प्राकृत' (म० भा० आ०) का प्रचलन उनके परवर्ती वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' के साथ ही हुआ। शुद्ध-सुस्पष्ट 'वाच्' से पृथक् दूषित-विकृत 'म्लेच्छित' भाषा के प्रयोग का प्रथम उल्लेख शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में हुआ है। उनमें देवों द्वारा असुरों के पराभव का कारण ही यह म्लेच्छित भाषा बतायी गयी है।

पाणिनि के व्याकरण में आचार्यों की भाषा का निरूपण हुआ है जिसमें वैदिक भाषा भी सम्मिलित ही है। यह उपनिषदों, सूत्रों एवं निबन्ध-ग्रन्थों की भाषा है जिसके लिए 'भाषा' अभिधान का प्रयोग हुआ है। पाणिनि ने न तो साहित्य एवं बोलचाल की सामान्य भाषा का उल्लेख किया है और न लिखित एव भाषित का भेद किया है। फिर भी सामान्य भाषा के विभाषीय भेदो की ओर सङ्केत अवश्य किया है और उन विभाषाओं अथवा विभाषा-समूहों का नामकरण भौगोलिक प्रदेशों के आधार पर किया है। उनके अनुसार 'प्राचाम्' तथा 'उदीचाम्' ये ही दो मुख्य विभाषा-समूह हैं। उन्होंने जातीय (८।२।८३) अथवा स्त्री-विशिष्ट (४२।७२) मुहावरे के भेदो पर भी ध्यान दिया है। साथ-साथ ऐसे आद्य-म० भा० आ० शब्दों का भी समावेश किया है, जो उनकी मानकीभूत भाषा में प्रवेश पा गये थे, जैसे **निकट** (४।४।७३), **लिबि** (३।२।२१), **मातुल** (४।१।४९) आदि। कात्यायन ने 'वार्तिक सूत्र' में कम से कम एक ऐसे क्रिया-रूप **'आणपयति'** का समावेश किया ही था जो निश्चित रूप से म० भा० आ० का है।

पतञ्जलि (दूसरी शती ई०-पू०) ने बोलचाल की भाषा के लिए 'महाभाष्य' मे दो शब्दों का प्रयोग किया है—'अपभ्रंश' अर्थात् ऐसे शब्द जिन्हें शिष्टों या संस्कृतों ने स्वीकार कर लिया हो तथा 'अपशब्द' जो अस्वीकार्य हों। पतञ्जलि के अनुसार समसामयिक बोलियाँ और उनपर आधारित साहित्यिक भाषा वास्तव में पृथक् भाषा न हो कर केवल उच्चारण-दोष मात्र है। ऐसे दुष्ट उच्चारण करने (अथवा विदेशी भाषा बोलने) वाला 'म्लेच्छ' है। भाषावार समुदायों के बारे में पतञ्जलि से महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है—**"त्रयः प्राच्याः त्रय उदीच्याः त्रयो मध्यमाः सर्वे विनास लक्षणाः ।"** पतञ्जलि ने उच्चारण-ध्वनियों के आधार पर भी विभाषाओ का भेद करने का रोचक प्रयास किया है—**"शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेषु... हम्मति सुराष्ट्रेषु रंहति प्राच्यमध्येषु गमिमेवत्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर लवनार्थे प्राच्यमध्येषु दात्रम् उदीच्येषु ।"** इस उदाहरण में यह भी द्रष्टव्य है कि **शवति** (म० भा० आ०) ही प्रा० भा० आ० का **च्यवति** है। म० भा० आ० **हम्मति** का कोई प्रा० भा० आ० रूप नहीं है किन्तु बँगला (नव्य भारतीय आर्य-भाषा : न० भा० आ०) में यह **हामा** के रूप में उपलब्ध है। म० भा० आ० **दाति**, जो प्रा० भा० आ० में है ही नहीं, बँगला के **दा** का उद्गम है।

दो : प्राकृत का आविर्भाव

अशोक के पुरालेख म० भा० आ० के तथा भारत के जनसामान्य की बोलचाल की भाषा के प्राचीनतम अभिलेख हैं। फिर भी यदि प्रा० भा० आ० का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से तथा म० भा० आ० का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य से अध्ययन किया जाय तो प्रा० भा० आ० के भाषित रूपो से म० भा० आ० के आविर्भाव या उद्गम का चित्र स्पष्ट हो जाएगा प्रा० भा० आ० उन सारी

विभाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती जो म० भा० आ० के तात्कालिक उद्गम थे अत यह मान लेना भी समीचीन नहीं है कि ऋग्वैदिक भाषा ही प्राग्वैदिक या वैदिक आप्रवासियो के साथ भारत में प्रविष्ट होने वाली एक मात्र या प्रधान भारतीय आर्यभाषा थी। वे विभिन्न समूहो मे तथा विभिन्न कालों में भारत आते रहे। अतः उनकी बोलचाल की भाषाएँ समान या एकरूप हो ही नही सकती थीं। भारत-ईरानी को दो या तीन सुस्पष्ट वर्गों में विभक्त मान लेने के भी पक्ष मे कोई प्रमाण नहीं मिलता। वास्तव में अस्तित्व अनेक विभाषाओं का था जो एक-दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहीं। अपने धार्मिक वाङ्मय की भाषा में उन सबने अद्भुत एकरूपता अवश्य ग्रहण कर ली थी किन्तु बोलचाल में ऐसी एकरूपता कदापि न थी। इसीसे कुछ शताब्दियो मे ही हम संस्कृत से इतनी प्राकृतों को आविर्भूत होते देखते हैं।

तीन : पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अवहट्ठ

प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों ने म० भा० आ० के उस पुराने सामान्य साहित्यिक रूप का निरूपण नहीं किया है जो भारत से बाहर भी गया था और जिसे 'पालि' नाम से पुकारा जाता है। यह मान लेना निराधार है कि नास्तिक धर्म द्वारा उस भाषा का प्रयोग किये जाने के कारण ही उसकी उपेक्षा की गयी। वह बौद्ध क्षेत्रों के बाहर भी साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती ही थी और बौद्धों ने भी उसे इसीलिए अपनाया था कि वह भारत के अनेक क्षेत्रों में साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। खारवेल के राज्यादेश (प्रथम शताब्दी ई०-पू०) तथा पतञ्जलि के उद्धरण अच्छी पालि के नमूने हैं। सम्भवतः प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों ने जिस भाषा को 'पैशाची' नाम दिया है, वही वह प्राचीन साहित्यिक भाषा थी जिसका प्रयोग दक्षिण के बौद्धों ने किया और जो बाद में श्रीलङ्का में पालि नाम से पुकारी गयी। (सम्भवतः **पालिभाषा<परिभाषा**)।

'प्राकृत' **नाम** के उद्भव एवं अभिप्राय की समस्या का भी व्युत्पत्तिशास्त्रीय पद्धति पर हल करना ठीक नहीं। सबसे पहले कालिदास ने **संस्कारपूत और सुखग्राह्यनिबन्धन वाङ्मय (–कुमारसम्भव)** तथा **संस्कारवती गिरा (–वही १।२८)** का उल्लेख किया है। "मेरी दृष्टि मे सस्कारपूत वाङ्मय तथा संस्कारवती गिरा का आशय है स्वराघात(-संस्कार)-सम्पन्न वैदिक भाषा। हम यह निश्चित रूप से नहीं जानते कि कालिदास के दिनों में संस्कृत नाम का प्रचलन हो गया था या नहीं। सम्भवतः नहीं ही हुआ था क्योंकि यहाँ सम्भवतः कालिदास का अभिप्राय शास्त्रीय संस्कृत से नहीं वरन् वैदिक भाषा से है।" 'सुखग्राह्यनिवन्धनम्' से सम्भवतः कालिदास का आशय प्राकृत से नहीं वरन् सरल (अर्थात् शास्त्रीय) संस्कृत से था।

दण्डिन् ने अपने 'काव्यादर्श' (१।३२-३८) में भाषा के चार पारस्परिक विभागों का उल्लेख किया है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र। फिर प्राकृतों के उन्होंने तीन भेद किये है—तद्भव, तत्सम तथा देशी। प्राकृतों में साहित्य-सृजन होता था। दण्डिन् के अनुसार अपभ्रंश आभीरादि जातियों की भाषा (**आभीरादिगिरा**) थी तथा साहित्य की आदर्श भाषा नहीं मानी जाती थी। भरत ने भी दण्डिन् के प्राकृत के त्रिविध विभाग को रूपान्तर से अपनाया है—(१) **समान शब्द** —तत्सम २ **विभ्रष्ट** **अपभ्रंश अर्थात् म० भा० आ०** तथा ३ देशगत

(=देशी)। "मैं देशी का आशय परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ के स्थान पर द्रविड़ या संस्कृतेतर भाषाएँ मानने के पक्ष में हूँ।" नाट्यशास्त्र में सात देशभाषाएँ (स्थानीय भाषाएँ : मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका तथा दाक्षिणात्या) तथा अनेक विभाषाएँ (जनजातीय भाषाएँ : शकारों, आभीरों, चण्डालों, शबरों, द्रमिलों, अन्धों या ओड्रों आदि की) उल्लिखित हैं। महाराष्ट्री और पैशाची का उसमें नामोल्लेख नहीं है। सम्भवतः ये दाक्षिणात्या मे सम्मिलित कर ली गयी हैं। नाट्यशास्त्र ने भाषाओं और विभाषाओं के नाटकों में सम्यक् प्रयोग के लिए भी निर्देश दिये हैं। भाषीय क्षेत्रों और उनकी उच्चारणगत विलक्षणताओ का भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख दिया है।

पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'अपभ्रंश' सम्भवतः म० भा० आ० का सामान्य अभिधान था। प्राचीन म० भा० आ० के वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' के शाब्दिक अर्थ के कारण ही इसकी अवहेलना की, किन्तु बाद में जब यह संस्कृत और प्राकृत दोनों से पृथक्, साहित्य की एक अत्यन्त लोकप्रिय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी तो इस नाम के प्रयोग में झिझक समाप्त हो गयी। यह साहित्यिक भाषा बोलचाल की प्रचलित भाषा के अत्यन्त निकट थी। इसके लिए बाद मे **अवहट्ठ** (स० अपभ्रष्ट) या **अविहट्ठ** (सं० अपिभ्रष्ट) का प्रयोग किया गया जो संस्कृत एवं प्राकृत की भाँति पूर्ण कृदन्त होने के कारण अधिक उपयुक्त शब्द है।

ग्रियर्सन, ब्लॉश और चटर्जी के निर्देशों के आधार पर आज के विद्वान् सामान्यतया यह मानते हैं कि अपभ्रंश, प्राकृत के तत्काल बाद तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के तत्काल पूर्व की म० भा० आ० के विकास के तीसरे चरण की भाषा है। अर्थात्, यह मत सुविधाजनक तो है किन्तु विशेषतया न० भा० आ० को दृष्टि में रखते हुए तथ्यों की गहरी छानबीन करने पर यह स्थापना सन्तोषजनक नही रह जाती है। **वैदिक संस्कृत (प्रा० भा० आ०) >पूर्ववर्ती म० भा० आ० (पालि एवं प्राचीन प्राकृतें) >परवर्ती म० भा० आ० (प्राकृतें) >म० भा आ० (अपभ्रंश) >न० भा० आ० (आधुनिक देशी भाषाएँ)।**

"मेरी दृष्टि में अपभ्रंश विकास की दृष्टि से प्राचीन म० भा० आ० (अशोककालीन तथा पालि) एवं परवर्ती पुरालेखीय म० भा० आ० (खारवेल के पुरालेख और दूसरी शती ई०-पू० से दूसरी शती ई० के बीच के अन्य पुरालेखों तथा निया-लेख्यों की भाषा) के समकक्ष ठहरती है। यदि हम प्राचीन प्राकृत के उपलब्ध नमूनों अर्थात् पुराने संस्कृत नाटककारों के प्राकृतांशो की निष्पक्ष परीक्षा करें तो देखेंगे कि वह मूल सस्कृत के अनुवाद ही हैं।"

अपभ्रंश के प्राचीनतम नमूने कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' के चौथे अङ्क के गीत हैं। सम्भवतः भाषा के अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम उन्हें परवर्ती प्रक्षेप मान ले। अपभ्रंश गीतों को अस्वीकार करने वाले विद्वानों के तर्क का आधार भारतीय आर्यभाषाओ की विकास-शृङ्खला में अपभ्रंश का कल्पित स्थान (एव तिथि) ही होता है, जबकि उन्हें प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् उन्हीं तर्कों के आधार पर कालिदास को सातवीं शताब्दी या उसके आसपास ला बैठाते हैं। यदि इन गीतों की संरचना का विश्लेषण किया जाय तो उन्हें दूसरी से चौथी या पाँचवीं शताब्दियों के बीच की साहित्यिक रचना मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

—बद्रीनाथ

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

मुरलीधर कविभूषण-कृत छन्दोहृदय-प्रकाश

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा। पृष्ठ-संख्या : ११३। मूल्य : ५·००।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी द्वारा सम्पादित मुरलीधर कविभूषण-कृत 'छन्दोहृदय-प्रकाश' का प्रकाशन हिन्दी-जगत् के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है। वैसे तो किसी भी लब्धप्रतिष्ठ कवि की रचना का वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत करना आवश्यक तथा श्रेयस्कर है, किन्तु 'छन्दोहृदय-प्रकाश' के रचयिता कविभूषण के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों के निराकरण के लिए तथा मध्यकालीन हिन्दी छन्दःशास्त्र का प्रामाणिक परिचय प्राप्त कराने के लिए जिस प्रकार के शोध-कार्य की अपेक्षा थी उसे ध्यान में रखते हुए 'छन्दोहृदय-प्रकाश' का प्रस्तुत संस्करण ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अपना महत्त्व रखता है।

इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि इसके रचयिता कविभूषण के जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तिमूलक धारणा के उन्मूलन के लिए हमें एक ऐसा अमोघ साधन प्राप्त हो गया जिसकी प्रामाणिकता बहुत कुछ अंशों में निरापद है। इस भ्रान्तिमूलक धारणा का सम्बन्ध कैप्टेन शूरवीर सिंह के एक निबन्ध (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६०, अङ्क २ तथा 'भारत,' ७ जनवरी सन् १९५६ ई० में प्रकाशित) से है जिसमें 'शिवराजभूषण' के रचयिता भूषण एवं 'छन्दोहृदय-प्रकाश' के रचयिता कविभूषण को एक ही व्यक्ति मान लिया गया है। 'शिवराजभूषण' के रचयिता प्रसिद्ध भूषण, रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र माने जाते है और मुरलीधर ने अपने पिता का नाम रामेश्वर त्रिपाठी दिया है। शूरवीर सिंह जी ने दोनों नामों के स्पष्ट अन्तर का समाधान इस प्रकार कर दिया था कि 'रत्नाकर' महाकवि भूषण के पिता का उपनाम था। सुयोग्य सम्पादक ने कदाचित् सर्वप्रथम इन भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह स्थापना भी की कि तिकवाँपुर में रहने वाले रत्नाकर के पुत्र भूषण अर्थात् 'शिवराजभूषण' नामक विख्यात ग्रन्थ के रचयिता का रामेश्वर त्रिपाठी के पुत्र मुरलीधर कविभूषण अर्थात् 'छन्दोहृदय-प्रकाश' के रचयिता से

कदापि किसी प्रकार का सम्बन्ध नही जुड़ता क्योंकि .... के रचयिता भूषण ने लिखा है कि उन्हें 'भूषण' की उपाधि चित्रकूट के राजा रुद्रराज सोलङ्की ने दी थी जबकि 'छन्दोहृदय-प्रकाश' के प्रणेता मुरलीधर कविभूषण को यह उपाधि चन्देरी के राजा देवीसिंह ने दी थी। इस ग्रन्थ के रचना-काल (सं० १७२३) का भी भूषण के जीवन-काल से कोई मेल नहीं बैठता, क्योंकि अधिकांश विद्वान् उनके जन्म का संवत् १७३७ या ३८ मानते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से मुरलीधर कविभूषण के पृथक् व्यक्तित्व का प्रतिष्ठापन हुआ है और उन तमाम निराधार कल्पनाओं के लिए द्वार भी बन्द हो गया है जिनका आधार ले कर शूरवीर सिंह जी ने अनेक भ्रान्तियाँ फैला रखी थीं।

पर 'छन्दोहृदय-प्रकाश' का महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से भी कुछ कम नही। हिन्दी-छन्द-शास्त्र के सम्यक् अध्ययन के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ १३ उल्लासों में विभक्त है—'श्री महाराज वंशानुक्रम' से ले कर 'गद्य-विवरण' तक। इसमें छन्दों का व्यापक प्रयोग हुआ है। एक विशेष बात यह है कि छन्दों के लक्षण भी उन्ही छन्दों में दिये गये है। अतः लक्षण स्वतः उदाहरण का काम करते हैं और साथ में प्रत्येक छन्द का पृथक् उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक छन्द का व्यवहार दो बार हुआ है। यहाँ यह बता देना असङ्गत न होगा कि छन्दों के वर्णन का क्रम इस ग्रन्थ में 'प्राकृत-पैङ्गलम्' के अनुसार है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह रचना अपने समय मे अपने विषय की प्रख्यात एवं लोकप्रिय रचना थी। इसका पता इसी बात से चल जाता है कि डेरा गाज़ीखाँ जैसे सुदूर स्थान मे भी पिङ्गल के पठन-पाठन के लिए इसी ग्रन्थ का उपयोग किया जाता था क्योंकि जिस प्रति के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ छापा गया है वह वहीं लिपिबद्ध हुई थी।

जहाँ तक ग्रन्थ के सम्पादन का प्रश्न है, वह सभी दृष्टियों से प्रशंसनीय है। केवल यत्र-तत्र कुछ कमियाँ खटकती हैं। जिस प्रति पर यह संस्करण आधारित है उसके वर्ण-विन्यास की कुछ अशुद्धियों की ओर सम्पादक ने प्रस्तावना (पृ० १०) में सङ्केत किया है, जहाँ कि 'पक्ति', 'माटी' तथा 'जनम्यो' के स्थान पर मूल प्रति में 'पङ्गती', 'माठी' तथा 'जरम्यो' मिलते है। 'माटी' के स्थान पर 'माठी' तो अवश्य ही पाठ-विकृति मानी जायगी, किन्तु पङ्गती (वस्तुतः 'पङ्गति') तथा 'जरम्यो' विकृत पाठ नहीं प्रत्युत प्राचीनतर होने के कारण श्रेष्ठ पाठ हैं। 'जन्म' के लिए 'जरम' शब्द तो जायसी के 'पदमावत' में अनेक स्थलों पर मिलता है, उदाहरणार्थ—'पदमावत' (डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित) पृष्ट ६०-९ : "दहुँ कस **जरम** निबाहू।"; पृष्ठ ७५-५ : "का मैं बोल **जरम** ओटि भूँजी।"; पृष्ठ ९०-९ : "**जरम** न होइ मलीन।"; तथा पृष्ठ २०२-५, २११-५ २८७-८, ३०८-५, ३०१-२, ३११-२ इत्यादि। अतः उसे अमान्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पृ० ११ पर अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर, की प्रति के दोषों का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि उसमें 'नष्ट' का 'नट्ठ' तथा 'उदिष्ट' का 'उदिट्ठ' मिलता है जो सम्पादक महोदय के अनुसार विकृत पाठ हैं। किन्तु यहाँ भी 'नट्ठ' और 'उदिट्ठ' अपेक्षाकृत प्राचीन ज्ञात होते है। अतः हमारी समझ से वही स्वीकार करने योग्य हैं। साथ ही हमारा यह भी निवेदन है कि अनूप संस्कृत लायब्रेरी की प्रति चाहे बहुत प्रामाणिक न लगती हो किन्तु यदि मुख्य आधार प्रति के साथ उसका भी उपयोग किया गया होता तो अवश्य ही रचना के प्रामाणिक म उससे सहायता

मिलती क्योंकि यह प्रति ग्रन्थ रचना के सात ही वष बाद लिपिबद्ध हुई थी इतना प्राचीन प्रति मे अवश्य ही प्रक्षिप्त अंश कम रहे होंगे, चाहे वर्ण-विन्यास सम्बन्धी कुछ भूलें उसमें अधिक मिलती हों जैसा कि विद्वान् सम्पादक का मत है। अतः 'वह किसी प्रकार निर्भर करने योग्य नही जँचती', सम्पादक महोदय के इस विचार से सहमत होना कठिन है। फिर भी 'छन्दोहृदय-प्रकाश' क प्रकाशन निस्सन्देह कई दृष्टियों से उपयोगी है और प्रामाणिक सम्पादन का यह एक सराहनीय प्रयास है।

—डॉ० पारसनाथ तिवारी

अली आदिलशाह का काव्य-संग्रह

प्रधान सम्पादक: डॉ० विश्वनाथ प्रसाद
सम्पादक: श्रीराम शर्मा, मुबारिजुद्दीन 'रफ़त'

प्रकाशक: हिन्दी विद्यापीठ, आगरा। पृष्ठ संख्या: १२१। मूल्य: ४·५०

'अली आदिलशाह का काव्य-संग्रह' नामक ग्रन्थ का सम्पादन श्री श्रीराम शर्मा तथा मुबारिजुद्दीन 'रफत' ने बड़ी योग्यता से किया है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से हिन्दी के इतिहास में दक्खिनी का एक विशिष्ट स्थान है, और सत्रहवीं शताब्दी में दक्खिनी किस प्रकार अपने व्यक्तित्व-निर्माण में अग्रसर हो रही थी, इसका परिचय हमें अली आदिलशाह (द्वितीय) के इस ग्रन्थ से भली भाँति प्राप्त हो जाता है। हिन्दी-जगत् के लिए यह गौरव की बात है कि इस महत्त्वपूर्ण संग्रह का प्रकाशन पहले-पहल उर्दू में न हो कर राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही हुआ है।

'शाही' केवल बीजापुर के समृद्ध राज्य के ही नहीं, वरन् वहाँ की उत्कृष्ट साहित्यिक परम्परा के भी उत्तराधिकारी थे। उन्होंने अपने पिता से बीजापुर की साहित्यिक परम्परा और माता से गोलकुण्डा की सांस्कृतिक निधि उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की थी। उनकी बहुमुखी काव्य-प्रतिभा और प्रौढ़ साहित्यिक व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर नुसरती जैसे प्रौढ़ कलाकार ने अपने 'गुलशने-इश्क़' में उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है।

प्रस्तुत कविता-सग्रह ही अली आदिलशाह (द्वितीय) उपनाम 'शाही' का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है, किन्तु इसीके अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि उन्हें एक सरस कवि-हृदय प्राप्त था, उनकी कल्पना-शक्ति ऊँचे दर्जे की थी और साहित्यशास्त्र से उनका परिचय घनिष्ठ था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य-काल में दक्खिनी कविता में जितनी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबका समावेश 'शाही' ने अपनी रचनाओं में किया है—क़सीदा, मसनवी, मर्सिया, गज़ल, द्विभाषी ग़ज़ल (रहीम की तरह) मुखम्मस, मुसम्मन, दोहा, कवित्त, पहेली आदि काव्य-शैलियों तथा झूलना, भूपाली, आसावरी, नट, बिहागरा, देसी टोड़ी, केदारा, काँगड़ा, सारङ्ग, भैरूँ, अडाना, मलार, रामकली, पूरबी, पूरिया, बिलावल आदि राग-रागिनियों के निर्देश से उनका तथा सङ्गीत का व्यापक ज्ञान परिलक्षित होता है

भाषा की दृष्टि से भी इस सङ्कलन का अपना महत्व है। फ़ारसी एवं अरबी के शब्दों के साथ-साथ हिन्दी एवं संस्कृत का प्रयोग एक स्वस्थ साहित्यिक चेतना का प्रतीक है। इस बोली पर मराठी का भी यत्किञ्चित् प्रभाव पड़ रहा था। दक्खिनी का भाषावैज्ञानिक विवेचन पहले डॉ० बाबूराम सक्सेना ने और उसके पश्चात् डॉ० विमला वाघ्रे तथा स्वतः इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री श्रीराम शर्मा ने 'दक्खिनी का स्वरूप-विकास' नामक ग्रन्थ में किया जिसपर आगरा विश्व-विद्यालय द्वारा सन् १९६० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। शर्मा जी ने अपने उक्त शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का भी उपयोग किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में भी खड़ी-बोली हिन्दी के विकास का अध्ययन करने वालों को इस ग्रन्थ की सामग्री अवश्य ही उपादेय सिद्ध होगी।

सुयोग्य सम्पादकों ने विभक्तियों, ध्वनि एवं अर्थ-परिवर्तन, प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव तथा विलक्षण शब्दों तथा उनकी व्युत्पत्तियों का परिश्रमपूर्वक अन्वेषण एवं उल्लेख न किया होता तो आज के पाठक को अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता और वह शाही की कविता का पूरा आनन्द न उठा पाता। किन्तु इस सम्बन्ध में दो-एक बातों की ओर लक्ष्य कर देना अनुचित न होगा। एक तो यह कि अभी अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति की समस्या ज्यों की त्यों है। वैसे व्युत्पत्ति का प्रश्न भी बड़े झमेले का होता है और सदैव ही वह सन्तोषप्रद हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरी बात यह कि कहीं-कहीं एक ही शब्द जहाँ पहले आता है वहाँ उसकी व्युत्पत्ति न दो कर आगे पुनः मिलने पर उसकी व्युत्पत्ति दी गयी है; इससे जिज्ञासु पाठकों को कुछ कठिनाई पड़ती है और अनुक्रमणिका में दी हुई 'शब्दावली' में भी कभी-कभी वह शब्द न मिलने पर कठिनाई और बढ़ जाती है। ऐसे स्थलों पर सम्पादकों को उस पृष्ठ का निर्देश कर देना चाहिए था जहाँ अन्यत्र उस शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति सहित मिलता है।

'शाही' की काव्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण हमें इस संग्रह से प्राप्त हो जाता है। शिया-सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण 'शाही' ने दो क़सीदे भी लिखे हैं जो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। उन्होंने अपने अलीदाद महल के उद्यान और जलकुण्डों का भी बड़ा हृदयहारी वर्णन किया है। शृङ्गार-रस-प्रधान स्थलों पर कवि की शब्दावली ललित और रसपेशल हो गयी है। अली आदिलशाह के काव्य की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसकी आत्मा भारतीय है। कवि उद्यान का वर्णन करते समय फ़ारसी काव्य की परम्परा का परित्याग कर भारतीय फल-फूलों के प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करता है। वह चातक, चकोर, खञ्जन आदि से परिचित ही नहीं है, इनका वर्णन वह भारतीय कवि-प्रसिद्धियों के अनुकूल करता है। ग़ज़लों का बाह्य विन्यास अभारतीय होते हुए भी उनके वर्ण्य विषय पर भारतीय परम्परा की स्पष्ट छाप है। ग़ज़लों का प्रमुख रस शृङ्गार है। उनमें अगर कहीं प्रेमिका का सौन्दर्य प्रेमी को फ़ारसी काव्य-परम्परा के अनुसार बन्दी बनाता है तो कहीं भारतीय नारी का जीता-जागता रूप है—उस भारतीय नारी का जो प्रिय को सर्वस्व समर्पण करने में अपना गौरव समझती है, जो अर्धाङ्गिनी-पद पर आसीन होने के लिए साधना में अपने आपको तपा डालती है। वैसे तो दक्खिनी के बहुतेरे कवियों द्वारा भारतीय उपमानों, पौराणिक आख्यानों और काव्य-रूढ़ियों का उपयोग किया गया है, लेकिन अली आदिलशाह (द्वितीय) की कविता में उनका और भी अधिक निखरा रूप मिलता है

कवि ने एक मर्सिया भी लिखा था किन्तु हस्तलिखित प्रति के जिस पृष्ठ पर वह मर्सिया था, उसे दीमकों ने आत्मसात् कर डाला है।

छन्द-योजना की दृष्टि से भी 'शाही' की साहित्यशास्त्र-प्रवणता का पता चलता है। उन्होंने अपनी प्रत्येक कविता नये छन्द में लिखी है। हिन्दी छन्दों के अतिरिक्त 'शाही' फ़ारसी छन्दो पर भी अपना समान अधिकार रखते हैं।

प्रस्तुत काव्य-संग्रह के सम्पादन की प्रामाणिकता सर्वथा प्रशंसनीय है। केवल पृ० ३१ पर 'पतियाँ' तथा 'जतियाँ' पाठ सन्दिग्ध लगते हैं क्योंकि निकट ही 'सत्याँ' और 'भैत्याँ' रूप मिलते है। उनकी तुलना में उपर्युक्त दोनों स्थलों पर भी 'पत्याँ' और 'जत्याँ' पाठ रखना कदाचित् अधिक उपयुक्त होता (फारसी लिपि में दोनों एक ही प्रकार से लिखे जायँगे, इसे बताने की आवश्यकता नही)। भूमिका में भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे पूर्णतया सहमत होना कठिन है। उदाहरण के लिए पृ० १८ पर सम्पादक ने यह बताया है कि 'शाही' ब्रजभाषा की परम्परा से अच्छी तरह परिचित था क्योंकि उसने कुछ दोहे, कवित्त और पहेलियाँ लिखी हैं। पृ० २१ पर यह बताया है कि शाही ने 'फल' के स्थान पर 'फर' ब्रजभाषा के ही प्रभाव से लिखा है। मेरी समझ से ये दोनों कथन एकाङ्गी हैं, क्योंकि दोनों की परम्परा अवधी में भी बड़ी सम्पन्न थी और शाही के पूर्व अनेक सूफियों ने अवधी में चौपाइयों और दोहों में अनेक लोकप्रिय रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। क्या वे इस दृष्टि से सूफियों से प्रभावित नहीं माने जा सकते? इस संग्रह में उनके जो दोहे मिलते हैं उनकी शैली जायसी अथवा कबीर से अधिक प्रभावित जान पड़ती है। पहेलियों के लिए भी उन्हें अमीर खुसरो का ऋणी मानना अधिक समीचीन ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'फल' का 'फर' अवधी में भी सम्भव हो सकता है। अतः यह कहना उपयुक्त नहीं ज्ञात होता कि ऐसा ब्रजभाषा के ही प्रभाव से हुआ। भूमिका के अन्तिम अंश में सम्पादक ने 'शाही' द्वारा प्रयुक्त कुछ ऐसे शब्दों की ओर सङ्केत किया है जो बोलचाल की दक्खिनी में तो प्रयुक्त होते हैं किन्तु जिनका प्रयोग उनके अनुसार साहित्य में कम मिलता है। ऐसे शब्दों में उन्होंने 'निपा', 'जूझन्त' और 'औधान' को भी सम्मिलित किया है; किन्तु इनका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी-कवियों मे, विशेषतया कबीर और जायसी में, पर्याप्त रूप में मिलता है।

किन्तु प्रस्तुत सङ्कलन के गुणों की तुलना में ये दोष अत्यन्त नगण्य हैं और यह मानना पडेगा कि हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग दक्खिनी के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का प्रकाशन एक अत्यन्त सराहनीय प्रयास है। साथ ही शब्दों के विकास तथा व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से सम्पादक की विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के कारण इस ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक बढ गयी है।

—डॉ० पारसनाथ तिवारी

पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त

कन्हैयासिंह-लिखित विवेचन-ग्रन्थ

प्रकाशक: महामना प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद। पृष्ठ-संख्या: २८२। मूल्य: १२·००।

आधुनिक अनुसंधान और अनुशीलन की दिशा में एवं पाठालोचन का

विशेष महत्त्व है प्राचीन ग्रन्थो के आलेख मल लेखक की हस्तलिपि मे तो प्राप्त ही नही होते उनकी परम्परागत प्रतिलिपिया ही मिलती है जिनम लिपिकार निरतर मौलिक सशोधन भी करते रहते थे। इसीसे एक ही पुस्तक के अनेक पाठ पाये जाते है। इससे न केवल प्रामाणिकता मे कमी आ जाती है, वरन् अर्थ-बोध एवं सन्दर्भ-बोध भी व्यवहित हो जाता है जिससे वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण दुष्कर हो जाता है।

पाठालोचन एवं पाठ-सम्पादन पुरानी पाण्डुलिपियों के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्ध रखता है। इसमें भी सम्पादक की वैयक्तिक निष्ठा बहुत काम करती है तथा इस विज्ञान की तटस्थता एव वस्तुपरकता को प्रभावित करती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक ने पाठ-सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए पाठालोचन की आवश्यकता और विशेषता के समर्थन मे जो तर्क दिये हैं वे सर्वथा स्वीकार्य हैं। लेखक के इस प्रयास की भी हम सराहना करते हैं कि उसने इस विषय में थोड़ी भी अभिरुचि रखने वालों के लिए विषय का सुग्राह्य प्रतिपादन किया है। किन्तु यह भी निस्सङ्कोच कह देना चाहेंगे कि यदि यह पुस्तक विशाल पाश्चात्य परम्परा को भी अपने साथ ले कर चलती, उनके सिद्धान्तो, नियमों एवं परम्पराओं का उल्लेख अधिक मौलिकता के साथ और विधिपूर्वक करती, तो कही अधिक लाभप्रद होती। पुस्तक का एक खण्ड पाठालोचन की परम्परा एवं इतिहास पर भी विस्तार से होना चाहिए था। वस्तुतः पाठालोचन का भी उत्खनन-विभाग द्वारा अन्वेषित वस्तुओं के तिथि-निर्धारण और स्तर-विवेचन के समान ही वैज्ञानिक विधि है। लेखक ने उस पक्ष को भी अच्छे ढङ्ग से सार्थक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की है।

हिन्दी में अब तक पाठ-सम्पादन का कार्य अशास्त्रीय स्तर पर स्वतन्त्र विधि से चलता रहा है। आज से दस वर्ष पूर्व इसकी कोई वैज्ञानिक विधि उपलब्ध न थी, किन्तु इधर इस दिशा मे अत्यधिक कार्य हुआ है। फिर भी अभी विशेषज्ञों की अत्यधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से कन्हैयासिह की प्रस्तुत पुस्तक विशेष महत्त्वपूर्ण है।

सम्पूर्ण पुस्तक को लेखक ने चार भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग सिद्धान्त-विवेचन का है जिसमें विषय-विस्तार, विषय-विभाजन, सम्पादन-सामग्री, प्रतिलिपिकार और पाठ-विकृतियाँ, पाठ-चयन, पाठ-सुधार तथा उच्चतर आलोचना सम्बन्धी अध्याय हैं। इस भाग मे भी प्रामाणिकता का अभाव खटकता है। पाठालोचन के सिद्धान्तों का विवरण वर्णनात्मक अधिक है, विवेचनात्मक एव तथ्यात्मक कम। पाठालोचन के उद्‌गम एवं विकास की भी विशेष चर्चा अपेक्षित थी जो यहाँ नहीं मिल पाती।

पुस्तक के दूसरे भाग में हिन्दी के कुछ विशिष्ट सम्पादनों का विस्तृत विवरण, उनके दृष्टि-कोण की व्याख्या तथा औचित्य की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इस सन्दर्भ में लेखक ने 'बिहारी-रत्नाकर', 'कवित्त-रत्नाकर', 'नन्ददास-ग्रन्थावली', 'केशव-ग्रन्थावली' और 'शिवसिंह-सरोज' आदि ग्रन्थों की स्वतन्त्र सम्पादन के अन्तर्गत टीका की है। शास्त्रीय सम्पादन के अन्तर्गत 'पद्मावत', 'बीसलदेव रास', 'छिताई वार्ता', 'कबीर-ग्रन्थावली', 'मधुमालती', 'पृथ्वीराज रासउ', 'रामचरित-मानस' आदि ग्रन्थों के सम्पादन की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार स्वतन्त्र एवं शास्त्रीय सम्पादन-पद्धतियों का अत्यन्त सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर दिया है।

तीसरे भाग में लेखक ने सहायक अध्ययन के अन्तर्गत सैंतीस पृष्ठो में प्राक्-मुद्रण-काल से

लेकर वर्तमान काल तक की पाण्डुलिपियों के अध्ययन और उनके विवेचन के ढङ्गों पर विचार किया है। मेरी दृष्टि में इस भाग को कुछ और विस्तार से लिखा जाना चाहिए था। भारतीय लेखन-सामग्री का इतिहास भी कुछ और व्यापक होना चाहिए था। उसमें व्याप्त त्रुटियों, सम्भावित, आरोपित एवं साम्प्रदायिक मतों के अनुसार पाण्डुलिपियों में पाये जाने वाले पाठान्तरों का परिचय एवं उनसे सावधान रहने की विधि को भी विशेष स्थान मिलना चाहिए था। लिपि-सम्बन्धी अध्ययन का भी अधिक विस्तार किया जाना चाहिए था।

पुस्तक का चौथा भाग परिशिष्ट का है जिसमें दो खण्ड हैं। परिशिष्ट एक में हिन्दी-सम्पादनों की सूची दी गयी है तथा परिशिष्ट दो में सहायक ग्रन्थों की सूची। साथ ही पत्रिकाओं और पाण्डुलिपियों की भी सूची है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ जाने के बाद निश्चय ही तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि कमियों के बावजूद लेखक ने इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में एक वैज्ञानिक विधि का अनुसरण किया है। उसकी दृष्टि में विषय का उपोद्‌घात करने, सम्भावित आशङ्काओं को ग्रहण करने और उनका निराकरण करने की क्षमता है। दूसरे यह कि जिस कार्य में अकेले डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त लगे थे, उस क्षेत्र में कुछ परम्पराओं के निर्माण एवं एक स्कूल के विकास की सम्भावना उत्पन्न हो गयी है। यह बात और है कि इस दिशा में सूझबूझ के साथ जूझने वाले ही सफल हो सकेंगे। तीसरी बात यह है कि यद्यपि एतत्सम्बन्धी अनुसन्धान-सामग्री इस पुस्तक में बहुत अल्प है, फिर भी विदेशी सामग्रियों के आधार पर विचार-विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास सफल दीखता है।

ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन और लेखन में प्रेस की गलतियाँ और प्रूफ़ की गलतियाँ नहीं ही होनी चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक में तमाम सावधानियों के बावजूद भी कहीं-कहीं ये त्रुटियाँ रह गयी हैं। छपाई भी रुचिकर नहीं हो पायी है और रङ्गीन आवरण पर लाल-नीला रङ्ग तो ऐसा लगता है जैसे पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त पर पुस्तक न हो कर किसी पाठ्य-पुस्तक का कवर इस पर चढ़ा दिया गया है।

इन थोड़ी-सी कमियों के होते हुए भी पुस्तक अच्छी लिखी गयी है और उसमें विषय-प्रवर्तन से ले कर समापन तक एकसूत्रता की स्थापना का यत्न किया गया है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी इस पुस्तक के लेखक से कोई नयी कृति मिलेगी। —लक्ष्मीकान्त वर्मा

भारतीय अब्दकोश

जगन्नाथप्रसाद मिश्र एवं
गदाधरप्रसाद अम्बष्ठ द्वारा सम्पादित

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ-संख्या : ७३८। मूल्य ८·००।

भारतीय अब्दकोश का प्रकाशन राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास की दिशा में निश्चय ही एक स्तुत्य प्रयास है लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठों की पुस्तक में विभिन्न तथा विविध ज्ञातव्य

बातो का विवरण दिया गया है। पुस्तक के प्रथम भाग मे ब्रह्माण्ड विषयक जानकारी से ले कर विश्व के प्रमुख देशों का संक्षिप्त परिचय साधारणतः पाठकों की उत्सुकता बढ़ा देने में समर्थ है। संयुक्त राष्ट्रसङ्घ तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर साङ्गोपाङ्ग प्रकाश डाल कर सम्पादकों ने हिन्दी पाठकों के लिए बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठनों, सन्धियों तथा समस्याओ को इस प्रकाशन के द्वारा बोधगम्य तथा सुलभ बना दिया है। पुस्तक के द्वितीय भाग के अन्तर्गत विश्व की वैज्ञानिक प्रगति-सम्बन्धी विवरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अन्तरिक्ष-भ्रमण तथा नये महत्त्व-पूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान-विषयक जानकारी निसन्देह हमें मानव-प्रगति की दिशा में सोचने-समझने का अवसर देती है। एक अंश में विश्व के विभिन्न देशों की भौगोलिक, प्रादेशिक तथा स्थानिक विशेषताओं का वर्णन है। पुस्तक में स्थान-स्थान पर अन्यान्य बातों की तुलनात्मक तालिकाएँ भी दी गयी है जो जागरूक पाठकों के लिए बड़े काम की हैं। तृतीय भाग में भारत के विषय में विस्तार से सूचनाएँ संग्रहीत हैं। देश की भौगोलिक स्थिति, संविधान की प्रमुख बातें तथा विकास की योजनाओ का संक्षिप्त परिचय आदि भली भांति स्पष्ट है। इनके साथ ही देश के विभिन्न राज्यों का प्रमुख जानकारी के साथ संक्षेप में परिचय भी है। इस भाग में यदि देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास तथा पञ्चवर्षीय योजनाओं पर एक स्वतन्त्र अध्याय विस्तार से होता तो पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ जाती।

पुस्तक के अन्तिम चौथे भाग में लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों में केवल बिहार राज्य से सम्बन्धित सूचनाओं का आकलन है। इस प्रकार की जानकारी के दायरे में बिहार राज्य को मुख्यतः सभी बातें—जलवायु, भूमि, कृषि से ले कर सामुदायिक विकास-परियोजनाएँ—सभी आ जाती है। स्थान-स्थान पर विभिन्न आँकड़ों से पुस्तक सामयिक तथा आधिकारिक बन पड़ी है। पुस्तक मे सामग्रियो के सङ्कलन के स्रोत स्टैण्डर्ड प्रतीत होते हैं, लेकिन कहीं-कहीं कतिपय बातें बहुत ही खटकती हैं। उदाहरण के लिए पृष्ठ २३६ पर जबलपुर के बारे में दिया है कि यहाँ की जन-सख्या करीब तीन लाख है तथा **यह पहले मध्यप्रदेश की राजधानी था**, और भरहुत के बारे में दिया है कि यहाँ अनेक बौद्ध-स्तूप हैं। इसी प्रकार पृष्ठ ३१९ पर मध्यप्रदेश के अन्तर्गत अमरावती, अकोला, नागपुर आदि के पुस्तकालयों के नाम भी गिनाये गये हैं। आशा है, इस प्रकार की असङ्गतियाँ अगले संस्करण में दूर हो जाएंगी।

इधर विभिन्न राज्यों की सेवाओं के लिए होने वाली परीक्षाओं में हिन्दी माध्यम स्वीकार कर लिया गया है। अतः हिन्दी वालों के सामने एक कठिनाई आ पड़ी थी कि परीक्षाओं मे पूछी जाने वाली सामान्य ज्ञान की बातें सही और ठीक ढङ्ग से कहाँ मिल सकें। निस्सन्देह, इस प्रकाशन से हिन्दी की एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो गयी है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के अनेक बहुचर्चित ग्रन्थों में यह अब्दकोश भी स्थान पाएगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सम्पादक-गण इस महत् कार्य के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई सुरुचिपूर्ण एवं आवरण आकर्षक है।

—सीताराम शर्मा

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

भाग २४	अक्टूबर-दिसम्बर
अङ्क ४	१९६२

मूल्य

एक अङ्क : २.५० रु०

वार्षिक : १०.०० रु०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

द्विवेदी-युग : प्रेरणा-स्रोत

●

ब्रिटिश शासन-कालीन जीवन की

सम-विषम परिस्थितियों के बीच

हिन्दी में

नव प्राण-प्रतिष्ठा के युग का निर्वचन-अध्ययन

●

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

द्विवेदी-युग में जो सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ (जिन पर पृथक् रूप में विचार करने की आवश्यकता है) थीं उन्होंने कवियों और लेखकों का मन एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल दिया था। जीवन की समस्याओं को निरखने-परखने का उन्होंने एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया था जिसने व्यक्ति-विशेष और प्रवृत्ति-विशेष के अनुसार साहित्य-कला-जगत् को प्रभावित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय तर्कबुद्धिवाद (Rationalism) और व्यक्तिवाद ने आलोच्य काल के मन और दृष्टिकोण को प्रेरित कर रखा था। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतवासियों और अंग्रेजी सरकार के सङ्घर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना ने अन्ततोगत्वा जन-जीवन को भी स्पर्श किया। साथ ही यूरोपीय आधुनिकता और भारतीय परम्पराओं की भिन्नता ने देश में सांस्कृतिक गर्व की भावना उत्पन्न की। आलोच्य काल में इन सभी प्रवृत्तियों ने साहित्य और कला को प्रेरित किया।

तर्कबुद्धिवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय जीवन पतित हो गया था और वह अनेक प्रकार की रूढ़ियों, कुरीतियों और कुप्रथाओं की शृङ्खला में बँधा हुआ था। जो जीवन सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानमय था, वही अज्ञान और अन्ध-परम्पराओं से संवेष्टित हो प्राण-शून्य हो गया था। मानसिक अध्यवसाय

रहने पर भी भारतवासी जड पदार्थ मे परिणत हो गये थे इसी समय उनका पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति से सम्पर्क स्थापित हुआ और भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान विज्ञान का महत्त्व समझने लगा। पारस्परिक आदान-प्रदान, घात-प्रतिघात द्वारा इस सम्पर्क का प्रस्फुटन पहले बङ्गाल में ब्रह्म-समाज, और फिर हिन्दी-प्रदेश में आर्य-समाज के रूप में हुआ। आर्य-समाज ने एक विशेष शास्त्रीय और तार्किक प्रणाली ग्रहण की। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समन्वय से इस प्रणाली तथा विवेकानन्द द्वारा प्रचलित वेदान्त-ज्ञान ने और भी अधिक व्यापक रूप धारण किया। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि इस प्रवृत्ति ने इतना उग्र रूप धारण किया कि जिन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं की कुछ वर्ष पूर्व विगर्हणा की जाती थी, उनका बुद्धि और यूरोपीय विज्ञान के आधार पर समर्थन किया जाने लगा और यह बात सिद्ध की जाने की चेष्टा होने लगी कि भारतीय मनीषा से प्राप्त उत्तराधिकार गम्भीर सत्य पर आधारित था, उसके कारण विदेशियों के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं। इस प्रवृत्ति से यद्यपि प्रतिगामी शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ, किन्तु व्यापक दृष्टि से समाज मे गतानुगतिकता के पीछे सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। वैज्ञानिकता की प्रेरणा के कारण, ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शान्त करने की दृष्टि से व्यक्ति में प्रत्येक बात का कारण जानने और उसके प्रकाश में किसी विशेष समस्या के उचित-अनुचित, स्वस्थ-अस्वस्थ रूप का विश्लेषण कर अपना मत निर्धारित करने की आकांक्षा जाग्रत हुई। विवेक का प्रयोग किये बिना अब वह कोई बात स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। द्विवेदी-युग में हमें यही तर्कबुद्धिवादी दृष्टिकोण मिलता है। यूरोपीय विज्ञान और आर्य-समाज के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गान्धी जी ने भी जो आध्यात्मिक सन्देश दिया उसमें भावुकता का स्थान नहीं था। उसमें उपनिषदों और गीता का नीर-क्षीर-विवेक था। इसी सन्देश के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के बाह्य रूप के स्थान पर—जो देश-काल-परिस्थिति के अनुसार सदैव परिवर्तनशील है—उसके आन्तरिक रूप पर जोर दिया गया। फलतः 'ईश्वर' और देवी-देवताओं का रूप ही बदलने लगा। पौराणिक कथाओं और चरित्रों की कथाएँ प्रस्तुत अवश्य की गयीं, किन्तु उनमें मानव-जीवन का कोई चिरन्तन सत्य खोजा गया। इस प्रकार यद्यपि आलोच्य कालीन तर्कबुद्धिवाद पौराणिक आख्यानों के विरुद्ध पड़ता है, किन्तु उन्हींको तर्कबुद्धि-वाद का आधार मान कर शङ्कापूर्ण स्थलों का खण्डन कर उन्हें आधुनिक रूप देने की चेष्टा की गयी। धार्मिक एवं सामजिक जीवन का प्रत्येक पक्ष तर्कबुद्धिवाद के रङ्ग में रँगा दिखायी पड़ता है। भारतीय जीवन के आदर्श की कसौटी पर कस कर देखे गये और वही उसे मान्य हुए जो इस कसौटी पर खरे उतरे। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि सभी में अपार्थिव, अलौकिक और अतिमानवी रूप के प्रति अब कोई मोह दिखायी नहीं पड़ता। यहाँ तक कि लोग विज्ञान और बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर राम और कृष्ण जैसे पावन चरित्रों के अनेक कार्यों की आलोचना करने लगे। पुरातत्त्व-विभाग की खोजों के कारण इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला।

मानववाद

तर्कबुद्धिवाद से ही सम्बन्धित आलोच्य काल की मानववादी प्रवृत्ति भी है जिसने राज-नीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया तो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में उसने

दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। मूलतः इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। भौतिक दृष्टि से जन-साधारण के जीवन को सुखमय बनाना जनवाद की मूल भावना थी और उसके अधिकारों की रक्षा की बात सोची गयी। राज्य-सत्ता और जन-हित का सङ्कल्प उसमें निहित था। बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' में यही जनवादी प्रवृत्ति प्रेरक शक्ति है। उन्होंने जन-साधारण के हितों की रक्षा की दृष्टि से लार्ड कर्जन के शासन पर दृष्टि डाली। वास्तव में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने इस जनवादी परम्परा को पुष्ट करने में काफ़ी सहायता पहुँचायी। जनवाद में विदेशी शासन से मुक्त होने की भावना थी, भारत-भूमि से उत्पन्न अपार जन-समूह को पशुवत् जीवन के गर्त से निकाल कर मनुष्य के धरातल पर लाने का प्रयास था। स्पष्ट है, ऐसी परिस्थिति में प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, रक्तपात आदि के प्रभाव से पृथक् रहना कठिन ही था, यद्यपि देश के महान् नेताओं ने इन प्रवृत्तियों के निरोध की भरसक चेष्टा की और भारतीय नवचेतना को भारतीय संस्कृति के अनुरूप रूप देना चाहा। आगे चल कर गान्धी जी का सत्याग्रह-आन्दोलन निश्चित रूप से आध्यात्मिक बल पर ही आधारित था, जिसमें विरोध होते हुए भी शत्रुता की भावना का अभाव रहता था। राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचानने की प्रवृत्ति ने जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया उसमें विवेकानन्द के अद्वैत-दर्शन का व्यावहारिक रूप था और जो साहित्य में, उदाहरणार्थ, 'प्रसाद' द्वारा गृहीत करुणा के सन्देश द्वारा, अभिव्यक्त हुआ, अर्थात् 'विश्वात्मा' के दर्शन करना, सब प्राणियों में समभाव रखते हुए कर्तव्य-पालन, अहिंसा, सहनशीलता, क्षमाशीलता, स्नेह, दया, सहानुभूति आदि को जीवन में स्थान देना। मानववाद के इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर सब धर्मों की समानता, सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता और अछूतोद्धार, धार्मिक क्षेत्र में सबको ईश्वर की उपासना करने के अधिकार की घोषणा की गयी और इस प्रकार साहित्य जीवन-सापेक्ष्य भाव-भूमि पर स्थित हुआ। यहाँ 'प्रसाद' की इड़ा के साथ-साथ श्रद्धा भी है। स्पष्टतः मानववाद का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रूप उसके जनवादी रूप से अधिक व्यापक है। दोनों में द्विवेदी-युगीन समता की भावना व्याप्त है। भारत-वर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-बन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने आया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद' आदि की रचनाओं में सामान्य मानव में 'विश्वात्मा' के दर्शन कराये गये हैं, मानव के समष्टि रूप के लिए व्यष्टि रूप के उत्सर्ग की उच्च भावना अभि-व्यक्त हुई है।

आदर्शवाद

द्विवेदी-युग की एक और प्रमुख प्रवृत्ति आदर्शवाद है। भारतीय संस्कृति के एक उत्कृष्ट और उदात्त रूप की पुनः स्थापना और जीवन के एक नैतिक धरातल के निर्माण पर दृष्टि आलोच्य काल के कवियों और लेखकों को आदर्श की ओर प्रेरित करती है। जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना उनकी वाणी को अनुरञ्जित किये हुए है। उन्होंने यूरोपीय साहित्य का अध्ययन किया था, किन्तु यूरोप से उन्होंने केवल सुन्दर का रहस्य जाना। किन्तु यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। यूरोप का ध्यान सुन्दर पर केन्द्रित रहता है भारत का सत्य पर

भारतवासी पराधीन थे। उन्हें राष्ट्रीय अभावमयी वेदना पीड़ित कर रही थी। जीवन का अभाव और लघुता उनके सामने स्पष्ट हो चुकी थी। इन सब बातों के कारण आलोच्य काल में गांधी, कृष्ण, राम आदि पौराणिक चरित्रों का चित्रण युग के अनुकूल हुआ और जीवन तथा साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक कवियों और लेखकों ने उस आदर्श का आश्रय ग्रहण किया जिसमें प्राचीन और नवीन का अद्भुत सम्मिश्रण था। प्रेमचन्द के शब्दों में यथार्थ और आदर्श में कोई मौलिक अन्तर नहीं है—अपनी कहानियों द्वारा उन्होंने यह तथ्य प्रदर्शित भी किया। अभाव, पतन और वेदना के यथार्थ अंश की प्रचुरता में कवियों और लेखकों ने 'राम' की विजय और 'रावण' की पराजय देखनी चाही। उन्होंने लघुत्व के भीतर ही महत्त्व देखा। विश्व के अविचलित नियमों की खोज कर कवियों और लेखकों ने भारतीय आत्मा की खोज की। युग की वास्तविकता के अनुभव और दिग्दर्शन के साथ विशालता की अनुभूति के आधार पर उन्होंने जिस पूर्णता का सर्जन करना चाहा, वही आलोच्य काल के आदर्शवाद के मूल में है।

यह तो सर्वविदित है कि उस समय राष्ट्रीय जीवन जीर्ण-शीर्ण हो चुका था। पश्चिमी विचारों के आघात ने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक भवन की दीवारों को एकबारगी हिला डाला था, किन्तु उसकी नींव दृढ़ बनी हुई थी। आलोच्य काल में एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नये ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रासाद के निर्माण पर राष्ट्रीय दृष्टि केन्द्रित थी जिसके साये में रह कर अपार भारतीय जन-समूह सुख और शान्तिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता था। हिन्दी के साहित्यिकों की वाणी में नव निर्माण का स्वर घोषित है। उनका आदर्शवाद भारतीय संस्कृति के गुणों पर मोहित था। भारतीय संस्कृति की उर्वरा शक्ति के प्रति उनके हृदय में अपार अनुराग है, यद्यपि यह अनुराग उन्हें कहीं-कहीं चरम सीमा से बाहर भी ले गया है और मध्यम मार्ग की उपेक्षा हो गयी है। किन्तु आदर्श की तो यह स्वाभाविक गति है—सीमा का अतिक्रमण। उसमें असाधारणत्व तो आ ही जाता है और साथ ही व्यक्ति की प्रधानता भी। फिर भी इससे साहित्य के प्रगाम का परिचय, लक्ष्य का परिचय तो प्राप्त हो जाता है। नव निर्माण के कार्य में शुभागमन का स्वर तो स्वभावतः निहित था। कवियों और लेखकों ने सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राष्ट्रीय आदि क्षेत्रों में सभी प्रकार की कुरूपता की विगर्हणा की और उदात्त जीवन के आदर्श की मङ्गल-ध्वनि की। आर्थिक दुरवस्था का चित्रण भी धनवानों की मानसिक जड़ता को उद्बुद्ध करने के लिए किया गया। साथ ही उत्साहवर्धन के रूप में अनेक सन्देशों और उपदेशों से साहित्य सुसज्जित हुआ। आन्तरिक सत्य को हृदय के रङ्ग में रँग कर उसने उसे बाह्य जगत् के साथ मिला देना चाहा। 'प्रसाद' के 'प्रेम-मिलन' में तो प्रेम को भी आदर्श रूप में प्रकाशित किया गया है। बुद्धि और आनन्द दोनों मिल कर इस युग के साहित्य की गद्दी पर बैठे। आत्मप्रकाश और विश्वप्रकाश द्वारा मानव-जीवन को विराटत्व की ओर ले जाने में द्विवेदी-युग के आदर्शवाद की सार्थकता है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

राष्ट्रवाद

तर्कबुद्धिवाद मानववाद और आदर्शवाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध राष्ट्रवाद से है जो राजनीतिक

और सांस्कृतिक दोनों रूपों में प्रस्फुटित हुआ। सांस्कृतिक एकता तो निश्चित रूप से प्राचीन काल से चली आ रही थी। भारतीय जीवन की विविधता में अन्तःसलिला धारा की भाँति एकता निहित थी। वसिष्ठ, व्यास, वाल्मीकि, मनु, याज्ञवल्क्य, चाणक्य आदि सभी ने अपने-अपने ढङ्ग से भारत की राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व किया। उनके चिन्तन में अनेक नवीन राष्ट्रीय शाखा-प्रशाखाएँ फूट पड़ीं जिन्होंने अपनी छत्रच्छाया में समस्त देश को अपना लिया। भारतवर्ष में केवल भूमि मात्र ही राष्ट्र नहीं रही। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त के अनुसार—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः—भूमि के प्रति माता जैसी श्रद्धा होनी चाहिए। मातृभूमि और उसके पुत्र इन दोनों का समवाय ही राष्ट्र है। वह एक प्रकार का मानसिक सम्बन्ध है जिससे राष्ट्र का बहुमुखी विकास होता है। किन्तु भौगोलिक और राजनीतिक इकाई के रूप में आसेतु हिमाचल भारत के गौरव का ज्ञान ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में भली भाँति हुआ। इससे राष्ट्रीयता ने और भी प्रबल वेग धारण किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने राष्ट्र-हित और कल्याण की भावना व्यक्त की थी। समय के साथ यह भावना और भी पुष्ट होती गयी और आलोच्य काल में वह अथर्ववेद की पृथिवी, पृथिवि-पुत्र, पुत्र-प्रेम और श्रद्धा, और सांस्कृतिक पतन-उत्थान और भविष्य की आशा के रूप में प्रकट हुई। विपिनचन्द्र पाल के कथनानुसार इस समय भारत केवल भूमि मात्र का नाम नहीं था, वह माता थी, देवी थी, उसका अनन्त काल से अस्तित्व था, और स्वयं देवों ने अपने हाथ से उसका शृङ्गार किया था। भारत के प्रति एक अजीब रहस्यात्मक भावुकता का प्राबल्य था। यहाँ तक कि आतङ्कवादियों तक में उसका दिव्य रूप ही प्रतिष्ठित हुआ। भारत के प्राचीन और अर्वाचीन निवासियों का, किसानों का, साधु-महात्माओं, सत्याग्रही वीरों आदि का यशगान किया गया और प्रेम तथा श्रद्धा के भाव-पुष्प उनके चरणों पर चढ़ाये गये। मातृ-भूमि के सम्बन्ध में जिसके मुख से गौरव वाणी का उद्घोष न हो वह प्राणी मृत है। राष्ट्रीय पतनोत्थान की जो व्यञ्जना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में हो चुकी थी, उसी भावना ने आलोच्यकाल में मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में सर्वोत्कृष्ट रूप धारण किया।

इस प्रकार आलोच्य काल में स्वदेश-सङ्गीत की एक लहर दौड़ पड़ी और उसने जन-मानस का कोना-कोना स्पर्श किया। पराधीन भारत के लिए ऐसा होना स्वाभाविक भी था। राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक रूप में शाश्वत नैतिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश हुआ। उसका राजनीतिक पक्ष यद्यपि सङ्घर्षमय और सामयिक है, वस्तु-स्थिति से सम्बद्ध है, तो भी उसका मङ्गलमय रूप भी है। उस राष्ट्रवाद में अनेक ऐसी बातें भी मिल सकती हैं जो आज के राजनीतिक मानदण्ड के अनुसार अनुचित प्रतीत हों। किन्तु आलोच्य काल के इतिहास ने उन्हें जन्म दिया था। आधुनिक दृष्टि से उनकी परीक्षा करना इतिहास के साथ अन्याय होगा। इस युग के व्यापक राष्ट्रीय जागरण में बौद्धिकता और आदर्शवाद का निर्विवाद रूप से पुट था और अपने उच्चतम रूप में वह मानवता का पोषक था।

स्वच्छन्दतावाद

इस युग के जीवन की मौलिक उद्भावना नव-निर्माण की व्यापक प्रक्रिया में है। जीवन की प्रत्येक गति इसी प्रक्रिया द्वारा निर्धारित हुई प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन के प्रति प्रतिक्रिया जो विद्रोह

तक का रूप धारण कर लेती है और नूतन मौलिक और स्वा [illegible] मिलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उपयुक्त प्रवृत्तियों मी नव निर्माण की भावना [illegible] था। साहित्य की अपनी पद्धति और रचना कौशल की दृष्टि से वही भावना [illegible] रूप में प्रकट हुई जिसके लिए 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द का प्रचार हो गया है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से हिन्दी में रूढ़ियों का प्राधान्य हो चला था। विषयगत और शैलीगत बन्धन के कारण व्यक्तिगत मौलिक उद्भावनाओं के लिए अवकाश नहीं रह गया था। किन्तु मनुष्य अपनी सहज वृत्ति के अनुसार साहित्य में ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता। वह मुक्त हो जाना चाहता है। वह परम्परा का विरोध करता है। आलोच्य कालीन जीवन की परिस्थितियों ने जहाँ एक ओर उसे जीवन के अन्य बन्धन तोड़ने को प्रेरित किया वहाँ साहित्य को भी शास्त्र और परम्परा से मुक्त कर स्वच्छन्द गति प्रदान करने को प्रोत्साहित किया। यही प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावाद के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वच्छन्दतावाद ने साहित्य के द्वारा जीवन को नवीन स्तर पर बिठाना चाहा। जीवन के प्रति दृष्टिकोण शास्त्रगत नहीं, वरन् व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति द्वारा उत्पन्न हुआ। प्रत्यक्षतः इसका सम्बन्ध तर्कबुद्धिवाद से था और अन्ततोगत्वा आदर्शवाद से भी। उसने अपनी भाव-धारा मे चिरपरिचित पशु-पक्षियों, वृक्षों, लताओं, वन-खण्डों, पर्वतों को समेट कर सामान्य जीवन को आधार बनाया और सजीवता तथा चेतनता का प्रसार किया। यह कहना उचित ही है:—

"देश के स्वरूप के साथ यह (धारा) सम्बद्ध चलती है। इस भाव-धारा की अभिव्यञ्जना-प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिनपर जनता का हृदय इस जीवन में भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी स्वाभाविक भाव-धारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पण्डितों की काव्य-धारा इस स्वाभाविक भाव-धारा से विच्छिन्न पड़ कर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भाव-धारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भाव-धारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूमियों को परख कर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामञ्जस्य के रूप में हो, अन्धप्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता (True Romanticism) कहना चाहिए; क्योंकि वह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।"

स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति हमें द्विवेदी-युग के अन्तिम सात-आठ वर्षों में [illegible] देती है। वैसे तो जीवन की परिस्थितियों से पहले से ही चारों ओर बन्धन से [illegible] आकांक्षा और परम्परा के विरुद्ध परिवर्तन की प्रक्रिया [illegible] इसकी चौमुखी अभिव्यक्ति भी हो रही थी। द्विवेदी युग [illegible] भी विषय, वृत्त आदि की दृष्टि से अपनी परिवर्तनशीलता प्रकट [illegible] किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद कला और [illegible] हुआ वह अद्वितीय था। छन्द-विधान और [illegible] मूल्याङ्कन, प्रकृति का मानवीकरण और [illegible] आदर्श रूप आदि सभी रूपों में स्वच्छन्दतावाद [illegible]

[illegible] न्दतावाद की धारा द्विवेदी-युग और [illegible]

हो गयी। ऐसा न हुआ होता तो हिन्दी का प्रकृत काव्य आज बहुत समृद्ध होता। इतिवृत्तात्मकता के भँवर में पड़ कर स्वच्छन्दतावाद प्रथम महायुद्ध तक घूर्णीनृत्य का उत्सव मनाता रहा। १९१८ ई० के लगभग से उसने अपनी सीमित परिधि तोड़ कर विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर आनन्द और सौन्दर्य की सम्पूर्णता प्राप्त की।

इतिवृत्तात्मकता

आलोच्य काल में नवोत्थान की चौमुखी क्रियाशीलता के इन मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर नव-निर्माण के महासमारोह में हिन्दी के कवियों और लेखकों ने भरपूर भाग लिया। उन्होंने व्यक्ति, समाज और देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझा और इन तीनों को अपनी साहित्यिक परिधि में प्रतिष्ठित किया। अन्योक्तियों, सुभाषितों, उपदेशों, सूक्तियों आदि द्वारा उन्होंने मानव-मन का परिष्कार करना चाहा। जीवन के चारों ओर की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं, अथवा पूर्व और पश्चिम के सङ्घर्ष अथवा साहित्यिक सम्पर्क आदि के सम्बन्ध मे उनके अनुभव इतिवृत्तात्मक रूप में प्रकट हुए और जीवन की गति-विधि के अनुसार साहित्य का रूप अङ्कित होने लगा। अंग्रेजी-साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप कवियों ने छोटी से छोटी वस्तु को वर्ण्य विषय बनाया और इस दृष्टि से अंग्रेजी कविता से प्रेरणा भी ग्रहण की। इसी प्रकार संस्कृत की अक्षय साहित्य-निधि कवियों और लेखकों के लिए अनुकरणीय बनी। यदि एक ओर समुद्र-तट, बुलबुल, आत्म-परिचय, निर्झर आदि के वर्णन की दृष्टि से उन्होंने अंग्रेजी की रचनाओं को आदर्श बनाया, तो दूसरी ओर ऋतु-वर्णन, आकाश आदि के वर्णनों में संस्कृत के साहित्यिकों के पद-चिह्नों का अनुसरण किया। ये रचनाएँ इतिवृत्तात्मक (वर्णनात्मक) भले ही हों, किन्तु उनमे व्यापकता और विविधता है और कविता-वृत्ति द्वारा कवियों ने अपनी भावनाएँ व्यक्त कीं।

रसात्मक एवं भावात्मक कविता-सृष्टि के लिए इतिवृत्तात्मक कोटि अनिवार्य थी—विशेषतः नवजात खड़ीबोली कविता के लिए। राष्ट्रीय जीवन के नव-निर्माण की चिन्ता से व्याप्त होने के कारण मार्ग-निर्देशन की प्रवृत्ति का कविता में या उपान्यासों और कहानियों में जन्म लेना स्वाभाविक था। इस प्रवृत्ति ने उपदेशात्मक या नीतिपरक काव्य और उपदेशात्मक कथा-साहित्य के आविर्भाव में योग दिया। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों के लगभग नीत्यात्मक काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत की थी। इस काव्य ने जीवन के प्रत्येक पार्श्व का स्पर्श किया। उसमें धार्मिक और सामाजिक जागरण का स्वर है। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान, शिक्षा, नीति-अनीति, ईश-प्रार्थना, शील, सदाचार, आज्ञा-पालन, कर्मठता आदि विषय नवजागरण के भूमिका-काल में आवश्यक और स्वाभाविक थे। उस समय 'नर हो न निराश करो मन को', 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' आदि प्रेरणादायक और उद्बोधक वाक्य जीवन-मन्त्र का कार्य कर रहे थे। व्यंग्यों के प्रहारों और ईश-प्रार्थना द्वारा मङ्गल-कामना मे भी इस उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा की गयी। हिन्दी साहित्य की मध्ययुगीन नीति-रचनाओं की पुष्कल निधि उनके सम्मुख उन्मुक्त थी ही। फिर क्या था, जीवन के पुनःसंस्कार की बात सोचते-सोचते वे उस आदर्श की ओर बढ़े जो राष्ट्र को पूर्ण सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने वाला था। व्यक्तिगत प्रेम देश-प्रेम लोक-सेवा समाज-हित आदि सभी के लिए आदर्शपूर्ण दृष्टिकोण ग्रहण

किया गया और युग तथा समाज की बुद्धिगत चेतना से प्रेरित हो समाज धर्म राजनीति आर्थिक जीवन नैतिक जीवन आदि के अनाचारों एवं अत्याचारों कुरीतियों एवं कुप्रथाओं और परदलन को अपनी रचनाओं का विषय बना कर कवियों और लेखकों ने आशा और उन्नति का सन्देश दिया। स्त्री-शिक्षा से ले कर कृषक-जीवन के सम्बन्ध में सभी प्रगतिशील तत्त्व कविकर्म बने। मन के सूक्ष्म भावों का चित्रण करने का वह समय नहीं था।

आलोच्य काल में साहित्य-धर्म जीवन से विच्छिन्न नहीं था। साहित्य-कृतियों में कुछ स्थलों पर उपदेशात्मकता तथा विरसता और भाषा में स्थूलता होते हुए भी कवियों ने युग-धर्म का पालन किया। द्विवेदी-काल के अधिकांश कवियों और लेखकों को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हें साहित्य को रीतिकालीन परम्पराओं और रूढ़ियों से ही मुक्त नहीं करना था, वरन् एक नयी भाषा, नये छन्द, नये विषय एवं उपादान और जीवन की परिवर्तित परिस्थित के नये भाव स्थापित करने थे। विरसता और स्थूलता, शुष्कता और नीरसता का रहना स्वाभाविक ही था। किन्तु कवियों और लेखकों का अन्तिम साध्य मानसिक भूमि पर अनन्त जीवन की लीला अभिव्यक्त करना था। अभिव्यक्ति का साधन वह तैयार कर ही चुका था। द्विवेदी-युग के अन्तिम समय में कवि अपने अन्तर्मन को अभिव्यक्त करने के लिए भी व्याकुल हो उठा। हिन्दी कवियों और लेखकों ने अपनी समाजोन्मुखी प्रवृत्ति तो पूर्णतः कभी नहीं छोड़ी। किन्तु राजनीतिक जीवन में निराशा, आतङ्कवादी आन्दोलन की विफलता, आर्थिक जीवन की विषमता और सामाजिक जीवन में हेयता ने जब हिन्दी कवियों और लेखकों को क्षुब्ध और विपण्ण किया, विशेषतः कवियों को, क्योंकि सामाजिक प्रतिक्रिया की जितनी तीव्र अभिव्यक्ति कविता के माध्यम द्वारा हो सकती है, अन्य माध्यमों द्वारा नहीं, तो वे समाजोन्मुख के स्थान पर अन्तर्मुख होने लगे। कवि ने अपने को अपने मन के शीशमहल में बन्द कर अपने व्यक्तित्व को ही भिन्न-भिन्न कोणों से देखा। स्थूल साधनों के स्थान पर सूक्ष्म साधनों का प्रयोग हुआ। राजनीतिक रङ्गमञ्च पर गान्धी जी के सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्व के प्रस्फुटन के साथ-साथ साहित्य में भी आन्तरिक भावनाओं और अनुभूतियों का जन्म हुआ। फलतः भाषा और भाव-क्षेत्र में अर्थ-ध्वनि-परिवर्तन और अनेक प्रतीकों और सङ्केतों की प्रणाली चल पड़ी।

धार्मिक एवं पौराणिक साहित्य

देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप आलोच्य कालीन कविता में नवीन भावों की अभिव्यक्ति उसके आन्तरिक सौन्दर्य-प्रसाधन का ज्वलन्त प्रमाण है। स्थूल रूप से इस युग की कविता तीन बड़े-बड़े प्रधान भागों में विभाजित की जा सकती है—धार्मिक एवं पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक एवं राजनीतिक। जीवन के इन पार्श्वों से सम्बन्धित भावों का प्रकटीकरण अधिकतर वर्णनात्मक-आख्यानात्मक रचनाओं में हुआ। नवीन बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक युग में प्राचीन भावों का संस्कार हुए बिना न रह सका। धार्मिक एवं पौराणिक क्षेत्र में परम्परागत भावों में परिवर्तन निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण घटना थी। हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग में पौराणिक चरित्रों में ईश्वरीय या अवतारी विभूति का दिग्दर्शन कराया जाता था। यद्यपि आज भी समाज की श्रद्धा उनके प्रति देवता रूप में है, तो भी द्विवेदी-युग में उनका अवतारी रूप युग की बुद्धिवादी

प्रवृत्ति के रङ्ग में रँग गया। आर्य-समाज तो वैसे भी अवतारवाद का खण्डन कर रहा था। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि लोकोत्तर पुरुष काव्यों के विषय अवश्य बने, किन्तु उन्हें मानव का रूप दिया गया —ऐसे मानव का जो जीवन के सर्वोच्च धरातल पर आसीन था, जो लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत था, जो समाज के लिए अपने व्यक्ति का बलिदान कर सकता था और जिसका चरित्र अनुकरणीय बन सकता था। महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों के अनेक चरित्रों का तो महत्व ही कम हो गया था। शेष, जैसे युधिष्ठिर, हनुमान आदि का चित्रण अवश्य होता रहा, किन्तु मानव के रूप में, जिनके कृत्य मनुष्य की बुद्धि की कसौटी पर खरे उतर सकते थे। पौराणिक भौगोलिक नामों और स्थानों के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण ग्रहण किया गया।

वास्तव में परम्परा से चली आ रही भारतीय ईश्वरवादी और अवतारवादी भावना मे से केवल मानव-सापेक्ष सत्य उद्घाटित करने की चेष्टा की गयी। पौराणिक कथाएँ यदि ग्रहण भी की गयीं तो कवियों के भावों के परिधान-रूप मात्र में और मानव-सापेक्ष्य किसी चिरन्तन सत्य की अभिव्यञ्जना के लिए। अतीत की धार्मिक एव पौराणिक निधि देश के सर्वतोमुखी वैज्ञानिक नव-निर्माण के लिए काम में आने लगी और यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाने लगी कि यदि किसी देश का भूत गौरवपूर्ण हो तो भविष्य भी निस्सन्देह गौरवपूर्ण हो सकता है। भगवान् अब मठो और मन्दिरों के वैभव से निकल कर अछूतों, अबलाओं तथा अन्य दीन-दुःखियों की झोपड़ियो मे आ विराजे। उसके प्रति कैसा सुन्दर लोक-कल्याणकारी और (वैज्ञानिक) आस्तिकतापूर्ण भाव था! अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'-कृत 'प्रियप्रवास' (१९१४) के राधा और कृष्ण, मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'साकेत' (१९३२, जिसका बहुत कुछ भाग इसी काल में रचा गया) के सीता और राम, रामचरित उपाध्याय-कृत 'रामचरितचिन्तामणि' (१९२०) के राम, सीता, भरत और लक्ष्मण आदि सब ईश्वर नही, अवतार नहीं, आदर्श मानव है। गुप्त जी-कृत 'जयद्रथ वध' (१९१०) और 'पञ्चवटी' (१९२५) में भी अलौकिक रूप नहीं मिलता, यद्यपि उनके 'रङ्ग मे भङ्ग' (१९१०) के मङ्गलाचरण में राम निर्विकार, निरीह हो कर भी लोक-शिक्षा के हेतु नर रूप में 'अवतरित' हुए थे। अपने विश्वास की दृष्टि से वे राम-भक्त बने रहे, किन्तु उनकी कविता राम का मानव-रूप ले कर चलती है। जयशङ्कर 'प्रसाद'-कृत 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६ ई०) द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। नाटककार महाभारत में दिये गये शिक्षित जनता के बीच प्रचलित एक पौराणिक आख्यान को ही वैज्ञानिक-ऐतिहासिक रूप दे देता है। प्राकृतोन्मुख प्रवृत्तियों से प्रेरित हो कर ही स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में राजा रवि वर्मा की चित्रकला को स्थान दिया और उन पर काव्य-रचनाएँ कीं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'शङ्कर', रूपनारायण पाण्डेय, जयशङ्कर 'प्रसाद' आदि लगभग सभी कवियों ने धार्मिक एवं पौराणिक आख्यान ग्रहण किये। सभी ने उनमे आधुनिकता का कुछ न कुछ पुट अवश्य दिया।

सामाजिक साहित्य

सामाजिक भाव-भूमि पर स्थित काव्य-रचनाओं का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे हो चुका था। आलोच्य काल में उसकी समाजदर्शिता का और अधिक विकास हुआ जिसे आर्य-समाज राष्ट्रीय चेतना मानववादी दृष्टिकोण आदि से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन रचनाओं

मे कवियो का ध्यान कुलीन वर्ग के ऐश्वर्य मण्डित जीवन की मनोरम कल्पनाओ से हट कर विधवा किसान अछूत नारी की दयनीय दशा आर्थिक पीडा आदि की ओर गया समाज के चिर उपेक्षित वर्गों और विषयो पर कवियो तथा लेखको ने समीक्षक और समाज-सुधारक की यथार्थवादी-आदर्शवादी दृष्टि डाली और अनेक व्यंग्यात्मक, करुणापूर्ण और आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत किये। समाज की दुर्बलताएँ दूर करने के लिए उन्होंने अपनी पावन वाणी का प्रयोग किया। आर्य-समाज से प्रभावित कवियों, जैसे 'शङ्कर' और लेखकों ने बाल-वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, छुआछूत, भ्रूण-हत्या, मद्यपान, मांस-भक्षण तथा अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक दम्भ, छल-कपट और आडम्बर की तीव्र आलोचना की। मैथिलीशरण गुप्त जैसे मानवता के वरेण्य दूत ने 'भारत-भारती' (१९१२) 'किसान' (१९१७) 'हिन्दू' (१९२७), आदि में तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय आदि अन्य अनेक कवियों ने सामयिक समाज की दयनीय दशा से आर्द्रहृदय हो, करुणा-विगलित-कण्ठ हो, देश की निर्धनता, अविद्या, धार्मिक एव नैतिक अधःपतन और अन्य सामाजिक विभीषिकाओं का चित्रण कर समाज का जीता-जागता चित्र अङ्कित किया। इस बौद्धिक-सांस्कृतिक चेतना के युग में नारी-जीवन के विविध पक्षो—विवाह, पर्दा, शिक्षा आदि—ने साहित्य में स्थान प्राप्त किया। समाज की भाव-भूमि पर धर्म-संस्कृतिगत रूढ़ियों के प्रति अनेक व्यंग्य-काव्यों की रचना से मन्दिरों, मठों, महन्तों, पुजारियों, तीर्थों आदि की पाप-लीलाओं पर कशाघात किया गया और साथ ही राजा-रईसों, सामन्तो आदि के विलासपूर्ण जीवन और दम्भ पर व्यंग्य-बाणों की वर्षा की गयी। समाज के सभी पार्श्वों से देखे गये जीवन के उन्नयन के आदर्श ने कविता तथा साहित्य के अन्य अङ्गों को प्रेरणा प्रदान की। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी समाज की विरूपताओं पर दृष्टिपात कर उन्नयन और उत्कर्ष का आदर्श स्थापित किया।

आलोच्य काल में हिन्दू-मुस्लिम समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया था। उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तीनों पहलू थे। जब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने भेद-नीति का अवलम्बन ग्रहण किया तब तो उसने और भी भयङ्कर रूप धारण कर लिया और उसकी विविध-रूपात्मक प्रतिक्रिया आलोच्य काल के साहित्य में हुई। इसके अतिरिक्त ग्राम्य जीवन के विविध पक्षों ने भी साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचन्द की रचनाएँ है। कवियों और लेखकों ने गाँवों को आदर्श रूप में चित्रित कर नगर-जीवन के दूषण बताये। छायावादी काव्य की कलापूर्ण भाषा द्वारा तो सामाजिक जीवन के और भी मनोरम चित्र अङ्कित हुए। वास्तव में द्विवेदी-युग के कवियों और लेखकों ने बुद्धि की प्रखरता और हृदय की सम्पूर्ण संवेदना के साथ समाज का चौमुखी विश्लेषण कर आलस्य के स्थान पर कर्मयोग की दीक्षा दी। तिलक ने भी गीता का रहस्य कर्मयोग में बताया था और विवेकानन्द तथा रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी कर्मयोग का स्वर ऊँचा किया था। गान्धी जी का अनासक्ति-योग तो बाद की चीज है। जातीय निर्माण के महायज्ञ के समय कर्मयोग द्वारा ही शान्ति और विश्व-प्रेम की वीणा झंकृत हुई।

ऐतिहासिक एवं राजनीतिक साहित्य

इस युग के बौद्धिक-सांस्कृतिक जागरण-काल में कवियों और लेखकों के मनोभावों का

अतीतोन्मुख हो जाना स्वाभाविक था। आर्य-समाज, थियोसाफ़ी और पूर्व तथा पश्चिम के संघर्ष ने देश का ध्यान अतीत गौरव के उच्चतम प्रतीकों और व्यक्तित्वों की ओर आकृष्ट किया। प्रत्येक देश में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए अतीत ही प्रेरणा-स्रोत बना है। पराधीन भारत की दीन-हीन दशा में तो ऐसा होना और भी स्वभाविक था। किन्तु देश की ये अतीतोन्मुखी भावनाए केवल अतीत की गोद में मुँह छिपाने के लिए नहीं थीं ——कुछ अपवाद भले ही मिल जायँ, जैसे पौराणिक काव्य-क्षेत्र में जगन्नाथदास 'रत्नाकर'-कृत 'गङ्गावतरण' (१९२३ ई०) एक पौराणिक कथा मात्र है, किन्तु इस युग का अतीत, अतीत के लिए नहीं था। भारतेन्दु-काल की भाँति इस समय भी अतीत-प्रेम सामयिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना पर स्थित था। देश का अतीत वर्तमान को सुधार कर भविष्य-निर्माण की ओर इङ्गित करता था। वह आत्म-गौरव और आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न कर जीवन को आलोकित करने की शक्ति रखता था। इसी प्रेम के कारण हिन्दी के कवियों और लेखकों का ध्यान यदि एक ओर धार्मिक एवं पौराणिक आख्यानों और चरित्रों एवं व्यक्तित्वों की ओर गया तो दूसरी ओर धीरता, वीरता, परोपकारिता, न्याय-प्रियता, शील आदि गुणों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल उनका ध्यान भारतीय इतिहास के प्राचीन एवं मध्य युगों की ओर गया। वीर-पूजा वैसे भी हमारे देश का जातीय गुण है। अभिमन्यु, अर्जुन, भीम आदि को यदि ऐतिहासिक न माने तो भी जनमेजय, अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रम, पृथ्वीराज, हमीर, महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि ऐतिहासिक व्यक्तित्वों ने अनेक रचनाओं के लिए प्रेरणा दी। आधुनिक युग में दयानन्द, तिलक, गान्धी आदि वीर-भावना के पात्र बने। सियारामशरण गुप्त-कृत 'मौर्य-विजय' (१९१४ ई०), जयशङ्कर 'प्रसाद'-कृत 'महाराणा का महत्त्व' (१९१४), भगवानदीन-कृत 'वीरपञ्चरत्न' (१९०९-१९१४ ई०), प० गोकुलचन्द्र शर्मा-कृत 'प्रणवीर प्रताप' (१९१५ ई०) तथा ऐसी अन्य अनेक रचनाओं में वीर-भावना को आश्रय प्राप्त हुआ है। ऐतिहासिक आख्यानों में भी राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, लोक-सेवा, लोक-नायकत्व आदि ही आदर्श-प्रेरक तत्त्व रहे।

पुराणों की भाँति इतिहास का मन्थन भी जातीय बलवर्धक उपयुक्त प्रसङ्गों के आधार पर उत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत करने के लिए किया गया। इन काव्यों मे वीरों का स्तवन-अर्चन ही नहीं, नवीन युग की चेतना का उद्बोधन और चुनौती पायी जाती है। सामयिक राष्ट्रीयता ने हिन्दी की वीर-भावना को उत्तेजना प्रदान की। कवियों के भावों से देश-प्रेम, देशाभिमान, मानवी प्रेम, धर्म-बल, सत्य-बल, दान-बल आदि उच्छ्वसित है। वीर ही नहीं, अहिल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि वीराङ्गनाओं ने उनके भावों को सबल बनाया। वीर-वीराङ्गनाओं के सम्बन्ध में खण्ड काव्य ही नहीं, वीरगीत भी लिखे गये। भगवानदीन के वीर-गीतों में जातीय एवं राष्ट्रीय गौरव का स्वर ही सशक्त है। मैथिलीशरण गुप्त-कृत ' रङ्ग में भङ्ग' (१९०९ ई०) और 'विकट भट' (१९१८ ई०) में भी उच्चादर्श व्यञ्जित है। इसी प्रकार हरिऔध, कामताप्रसाद गुरु, लोचन-प्रसाद पाण्डेय, माधव शुक्ल आदि कवियों ने अनेक वीराख्यानों को अपनी रचनाओं का आधार बना कर देश में उत्साह का अजस्र प्रवाह सञ्चारित किया। पुरातत्त्व-विभाग की खोजों ने उनकी ओर आकर्षण और भी बढ़ा दिया था। राजस्थान के इतिहास में अद्भुत वीर-भावनाओं का समावेश मिला ऐतिहासिक नाटक और कहानियां का भी अन्तिम उद्देश्य जातीय

जीवन को आलोकित करना था प्रसाद के नाटक वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़कुण्डार जैसे उपन्यास और प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियां नवीन चेतना के लिए अत्यन्त सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार करती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित देश-भक्ति एवं राष्ट्रीयता की परम्परा श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण कविरत्न, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल आदि द्वारा और अधिक बलवती हुई। भारतवर्ष एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं था, उसने एक माता का रूप धारण कर राष्ट्र-जन की अनुभूतियों को तीव्र किया। उसमें राष्ट्र-जन के लिए माता के वात्सल्य की भावना पायी गयी और उसकी जय और गौरव के गीत गाये गये। विविध मानव-सापेक्ष्य रूपकों द्वारा कवियों और लेखकों ने उसके रूप की वन्दना की। हिमालय उसका किरीट था, विन्ध्य उसकी मेखला था, सागर उसका पाद-प्रक्षालन करता था। भारत की शस्य-श्यामला भूमि शौर्य, धर्म, ज्ञान, विद्या, संस्कृति और मानवता का प्रतीक थी। मानवता की प्राण-प्रतिष्ठा सर्वप्रथम यहीं हुई थी। वह संसार में सर्वश्रेष्ठ थी, वह जगदीश की दुलारी थी।

इस प्रकार भारत-माता का न केवल मानवीकरण किया गया, वरन् वह दैवीकरण की कोटि तक पहुँच गया। श्रीधर पाठक ने भारत-वन्दना के न मालूम कितने गीत गाये। उनकी गरिमामयी भाषा ने माता के चरणों पर श्रद्धा के सुमन चढ़ाये। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नागरी की भाँति भारत-भूमि की वन्दना के गीत निवेदित किये और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सामने रखा। बङ्ग-भङ्ग, स्वदेशी-आन्दोलन, होम-रूल आदि के साथ-साथ ऐसे गीतों का नित्य नवोन्मेष हुआ। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'-कृत 'स्वदेशी कुण्डल' में वन्देमातरम् की भावना पूर्णत अभिव्यक्त हुई है। वास्तव में देश के प्रति यह दृष्टिकोण उसकी भावुकता का परिचायक था और उसमें राष्ट्रीय मानसिक गठन प्रतिबिम्बित था। श्रीधर पाठक की परम्परा में आगे चल कर क्रमश रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, रूपनारायण पाण्डेय, कामताप्रसाद गुरु, माधव शुक्ल द्वारा लिखित 'मातृभूमि', 'जय जय भारत-माता', 'जननी', 'भारत-माता', 'मातृभूमि', 'जन्मभूमि', 'स्वदेश-गीताञ्जलि' तथा 'भारतगीताञ्जली' आदि गीतों में देश की आत्मा का जयगान है। वैदिक काल का 'पृथिवीसूक्त' वाला सम्बन्ध उनमें दृष्टिगोचर होता है। उनमें माता के अन्नपूर्णा वाले रूप अर्थात् जगदम्बा के रूप और नैसर्गिक स्वर्गोपम सौन्दर्य पर भाव व्यक्त हुए हैं।

वन्दना और प्रशस्तियों का गीतिमालय भारत माता के चरणों पर अर्पित करने वालों मे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। १९०३ ई० से १९२०-२२ ई० तक ऐसे गीत कवि-कण्ठ से निःसृत होते रहे। वे भारत के वैतालिक थे। कविता के इस भावरूप का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'प्रसाद' के नाटकों में भी आभासित है। उपन्यास और कहानी भी अपने पात्रों के जीवन की ओर अधिक उन्मुख थी।

नयी राजनीतिक चेतना

जागरण का यह तो सांस्कृतिक पक्ष था। किन्तु देश की सामयिक परिस्थिति और

विदेशी सत्ता के साथ सङ्घर्ष के कारण कवियों और लेखकों ने जो स्वर ऊंचा किया वह राष्ट्रीयता वाला या राजनीतिक पक्ष है, यद्यपि मूलत. सांस्कृतिक और राष्ट्रीय या राजनीतिक दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू मात्र हैं। देश में विदेशी सत्ता की स्थापना और तज्जनित पतन पर क्षोभ और ग्लानि, स्वराज्य की देशव्यापी आकांक्षा, राजनीतिक क्षेत्र में भारतवासियों के स्वत्व, आर्थिक पतन पर परिताप, देश-हित के लिए सर्वस्व बलि चढ़ा देना, राष्ट्रीय आन्दोलन के आरोह-अवरोह के साथ विचार-धारा में परिवर्तन, विध्वंस और मुक्ति की प्रेरणा, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के मार्ग की बाधाओं के प्रति विद्रोह, साम्प्रदायिक सङ्घर्ष की ओर सङ्केत, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की भेद-नीति पर आक्रोश, राजनीति के क्षेत्र मे सर्व-धर्म-सम्मिलन, आधुनिक माता, पत्नी, भगिनी, बालक आदि को राम, कृष्ण, अभिमन्यु, प्रताप, शिवाजी, दुर्गा, तारा, लक्ष्मीबाई, आल्हा-ऊदल आदि के समान वीर तथा वीराङ्गनाएं बनने के लिए उद्‌बोधन आदि के रूप में कवियों और लेखकों की वाणी मुखरित हुई। इन सब का मूल राष्ट्रीय चेतना में है।

१९१७ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति के विद्युत्प्रभाव ने हिन्दी के राजनीतिक-राष्ट्रीय स्वर को और भी उत्तेजित किया। इस क्रान्ति मे कवियों और लेखकों को आशा की एक नयी किरण दिखायी देने लगी। स्वदेशी-आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार की उल्लासपूर्ण प्रति-ध्वनि ने हिन्दी-साहित्य को परिपूर्ण कर दिया। अन्तर्प्रान्तीय एकता और समस्त भेद-भावों का शमन भी राष्ट्रीय चेतना की एक अभिव्यक्ति थी। ऐसे भी कवि और लेखक थे जो राष्ट्रीय जागरण मे नरम दल के नेताओं का समर्थन करने वाले थे। वे ब्रिटिश राजतन्त्र के अन्तर्गत स्वशासन प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या सीमित थी। अधिकतर कवियों और लेखकों के लिए तिलक और ऐनी बेसेण्ट आकर्षक व्यक्तित्व थे। उनके युद्धघोष से देश की जड़ता में नव जीवन का सञ्चार हुआ। उपनिवेशों मे काले-गोरे का भेद-भाव और गोरों का अत्याचार मानवता के लिए चुनौती के रूप में था। आलोच्य काल के हिन्दी-जगत् ने यह चुनौती सहर्ष स्वीकार की। अन्याय का सामना करते हुए उसने बलिदानों द्वारा बल प्राप्त करने की सशक्त वाणी सुनायी।

राष्ट्रीय-राजनीतिक चेतना और राजनीतिक क्षेत्र में अपने स्वत्वों और जन्मसिद्ध अधिकारों की आकांक्षा—इन सबकी प्रतिध्वनि मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', 'एक भारतीय आत्मा,' गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', 'त्रिशूल', सत्यनारायण कविरत्न, माधव शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, बेचन शर्मा 'उग्र', सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, बदरीनाथ भट्ट तथा अन्य अनेक कवियों और 'प्रसाद' प्रेमचन्द, बदरीनाथ भट्ट, सुदर्शन आदि लेखकों द्वारा रचित नाटकों उपन्यासों और कहानियों में झंकृत हुई। सत्यनारायण कविरत्न ने तो 'भ्रमरदूत' जैसी रचना में भी राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। 'एक भारतीय आत्मा' ने सर्वस्व दान देने की घोषणा की। 'त्रिशूल' के स्वर में प्रखरता है। मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त का स्वर शान्त किन्तु दृढ़ है। साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की रचनाओं में ही नहीं अनेक लोक-प्रचलित गीतों में भी लोक-जागरण की अभिव्यक्ति हुई। 'भारत-भारती' और 'मौर्य-विजय' जैसी रचनाओं मे इस जागरण के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दोनों कण्ठ सुनायी देते हैं। अनेक कवियों ने सर्वा-ङ्गीण जन-जागरण और राष्ट्रीय एकता के बीच ——— को एक कुटुम्ब मान कर चलने की

भावना के बीच शक्ति और आशा का सचार पाया गप्त जी की स्वराज्य रचना में स्वराज्य की, स्वदेशाभिमान और स्वाभिमान की आकांक्षा मुखरित हो उठी।

गान्धी जी युगावतार के रूप में

यहाँ पर इस बात की ओर सङ्केत कर देना आवश्यक है कि हिन्दी की राष्ट्रीयता, आतङ्कवादियों का अस्तित्व होने पर भी, रक्तरञ्जित नहीं थी। उसमें प्रारम्भ ही से क्रूर और अमानुषी भावनाओं को स्थान प्राप्त नहीं हुआ, उसमें प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना का अभाव है। यह बहुत कुछ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल ही था। उसमें बाह्य सङ्घर्षात्मक परिस्थितियों का साहसपूर्वक सामना करने के साथ-साथ आत्म-बल, आत्म-संस्कार, आत्म-परिष्कार पर बल दिया गया। उसमें मानवता की उपेक्षा नहीं की गयी। तिलक जैसे उग्र विचारों के नेता ने भी रक्तपात और हिंसा को प्रश्रय न दिया था। अनासक्त भाव से कर्म में प्रवृत्त रहने और कर्मयोगी बन कर आत्मा के अमरत्व में दृढ़ विश्वास रखने को राष्ट्र-सङ्कल्प हिन्दी की राष्ट्रीय वाणी को अनुप्राणित कर रहा था। राष्ट्रीय कविताओं और गद्य-रचनाओं में तलवार और युद्ध-घोष केवल प्रतीकात्मक हैं। अन्यथा उनमें आत्मा के अमरत्व में विश्वास रखते हुए सहर्ष मृत्यु का आलिङ्गन करने की उत्तेजना है। ठीक है, राष्ट्रीय भारत के पास शस्त्र और सैनिक शक्ति नही थी। किन्तु उसके सांस्कृतिक शस्त्रागार में एक अमोघ अस्त्र था—आत्मबल। जैसा कि पीछे सङ्केत किया जा चुका है, आलोच्य काल में गीता-धर्म की स्थापना एक महान् सांस्कृतिक-आध्यात्मिक घटना है। तिलक और गान्धी दोनों ने उसका मन्थन किया और गान्धी जी ने उसे 'माता' भी कहा। गीता के अर्जुन के पास गाण्डीव था। तिलक और गा धी के पास कुछ भी नही था। किन्तु गीता-धर्म के अनुसार भारतवासी युद्ध से विमुख भी नहीं होना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में बाहु-बल और शस्त्र-बल के स्थान पर आत्म-बल की स्थापना हुई और आध्यात्मिक क्षत्रियो का जन्म हुआ। इस नये बल की चरम परिणति द्विवेदी-युग के उत्तरार्श में गान्धी जी द्वारा प्रवर्तित सत्याग्रह आन्दोलन में हुई। सत्याग्रह आन्दोलन का अपना एक दार्शनिक दृष्टिकोण और जीवन क्रम था और जो युग-युग से देश का जाना-पहचाना हुआ था। जीवन में एक नयी क्रान्ति का जन्म हुआ। जलियाँवाला बाग जैसे घोर अमानुषी और रोमाञ्चकारी हत्याकाण्ड के घटित होने पर भी भारत ने अपने नवीन क्षात्र-धर्म का पालन किया। वह ऐसी शक्ति थी जिसे ससार की सम्मिलित सशस्त्र शक्ति भी नही झुका सकती थी। देश ने जब सत्य और अहिंसा के गुरु गान्धी को लोकनायक का पद प्रदान किया तो बलिदान की आकांक्षा तीव्र से तीव्रतर हो उठी। सिर पर कफ़न बाँधने वालों की संख्या में अनुदिन वृद्धि होती ही गयी। युद्धवीर के स्थान पर हिन्दी में सत्याग्रही वीर की प्रतिष्ठा हुई। कवियों ने इन निःशस्त्र सैनिकों के साहस दृढ़ प्रतिज्ञा, कर्तव्य-पालन, आत्म-बल के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन जनशक्ति का गान किया और उसे धर्म-युद्ध का रूप दे कर कुरुक्षेत्र की कल्पनान्तर्गत नये प्रतीकों की कल्पना की। भारत माता द्रौपदी बन गयी और सरकार ने दुःशासन (या कंस) का रूप धारण किया। मोहनदास गान्धी 'मोहन' बने जिन्होंने धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण किया था। स्वयं गान्धी जी कुरुक्षेत्र के युद्ध को मानव मन के बीच छिड़ते रहने वाले 'सत्य' और 'असत्य' के युद्ध का प्रतीक मानते थे

ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के विरुद्ध संग्राम सत्य का ही पक्ष था, क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य की दासता मानवता का सबसे बड़ा विद्रूप थी। श्री कृष्ण तो कारावास में उत्पन्न ही हुए। इसलिए सत्याग्रही वीरों के लिए कारावास घृणा और भय की वस्तु नहीं था। गान्धी जी का चर्खा ही इस आधुनिक युग के कृष्ण का सुदर्शन-चक्र था। इस प्रकार हिन्दी में गान्धी जी को युगावतार का रूप दिया गया और पशु-बल के स्थान पर आत्म-बल की घोषणा की गयी। वसुदेव-देवकी की कथा ले कर भी काव्य रचनाएँ प्रस्तुत की गयी। मानव-प्रेम के कारण सूली पर चढ़ जाने वाले ईसा की प्रतिमूर्ति गान्धी जी में देखी गयी। पुष्प, सुकरात, मन्सूर, प्रह्लाद आदि अन्य अनेक चरित्र प्रतीक रूप में स्थापित हुए। गान्धी जी की अवतरणा ने भारतीय राजनीति को ही नहीं, साहित्य को भी नवीन रूप प्रदान किया। द्विवेदी-युग से आगे छायावाद-रहस्यवाद इसी नवीन युग की साहित्यिक प्रतिच्छाया के रूप में था। हिन्दी का यह राष्ट्र-प्रेम मूलतः सांस्कृतिक और अन्ततः मानवोन्मुखी है। इस राष्ट्रीयता का विलय अन्तर्राष्ट्रीयता और मानव-प्रेम तथा विश्व-प्रेम मे होना अवश्यम्भावी था।

प्रेम का नया स्वच्छन्द धरातल

आलोच्य काल में उपर्युक्त तीन प्रधान भाव-कोटियों के अतिरिक्त मानव की मूल जीवन-वृत्ति प्रेम भी समस्त साहित्य मे व्याप्त है। वैसे तो मानव और प्रेम का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, और अनेक रचनाओं में सामान्य मानवता के साथ-साथ प्रेम की अभिव्यञ्जना भी हुई, किन्तु इस काल में प्रेम स्वतन्त्र रूप में काव्य-विषय बना। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य कालों में प्रेम का चित्रण हुआ था, किन्तु वह या तो ईश्वरोन्मुख प्रेम था या शृङ्गारी प्रेम। सात्त्विक मानव-प्रेम का वर्णन उस समय नहीं हुआ था। आलोच्य काल में स्वच्छन्द और शुद्ध एवं पवित्र मानव-प्रेम के आधार पर अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये जिनमे से 'प्रसाद'-कृत 'प्रेम-पथिक' (१९१४) रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'मिलन' (१९१७ ई०) और 'पथिक' (१९२०), रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'शिशिर पथिक' (ब्रजभाषा में)। सुमित्रानन्दन पन्त-कृत 'ग्रन्थि' (१९२० ई०) और 'आँसू' (१९२५ ई०) रचनाएँ प्रमुख हैं। इन आख्यानक काव्यों के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने अनेक मुक्तकों और गीति-रचनाओं द्वारा उन्मुक्त और सात्त्विक प्रेम का चित्रण किया। श्रीधर पाठक ने अपने 'एकान्त-वासी योगी' की रचना से इस प्रकार के काव्यों की नींव डाली थी। यह प्रेम सांसारिक और मानवी है, किन्तु वह वासनाजन्य नहीं है। वह व्यक्ति की सङ्कुचित परिधि से बाहर निकल कर विश्व को अपनी भुजाओं में भरे हुए है। वह विश्व-प्रेम का प्रथम सोपान है, उसके द्वारा मनुष्य आनन्दाम्बुनिधि में अवगाहन करता है। आशा, निराशा, पीड़ा, व्यथा, वेदना आदि सब सुन्दर स्वप्न मे परिणत हो कर मनुष्य को निष्काम, निःस्वार्थ मानव-सेवा की ओर उन्मुख करती हैं। जीवन ही प्रेमी का लक्ष्य बन जाता है और मानव में ही वह ईश्वर के दर्शन करता है। इस युग की काव्य-रचनाओं में प्रेम का चाहे स्वच्छन्द रूप में चित्रण हो, अथवा विवाह के रूप में, किन्तु उसकी चरम परिणति चिरन्तन शुद्ध-पवित्र और निष्काम मानव प्रेम या विश्व-प्रेम में हुई।

वास्तव में ब्रिटिश शासन-काल में जीवन की सम-विषम परिस्थितियों के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य में नव प्राण प्रतिष्ठा हुई उसके ऊर्जस्वित होने की कहानी ही द्विवेदी-युग की कहानी है

प्रेमचन्द के उपन्यासों का लेखन एवं प्रकाशन-काल

तथा हिन्दी-पाठकों के बीच उनकी लोकप्रियता

●

गोपाल राय

टिप्पणी—इस निबन्ध की अधिकतर सूचनाएँ आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना, पटना कालेज पुस्तकालय, पटना, चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, पटना, जनता पुस्तकालय, चुर्शी, तथा पटने की पुस्तकों की दुकानों से प्राप्त की गयी हैं। स्थान की मितव्ययिता के लिए निम्नलिखित संक्षेपों का प्रयोग किया गया है।

प० वि० पु० : पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना।

आ० भा० पु० : आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी।

प० का० पु० : पटना कालेज पुस्तकालय, पटना।

चै० पु० : चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी।

बि० रा० भा० प० पु० : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, पटना।

ज० पु० : जनता पुस्तकालय, चुर्शी।

बि० बु० से० : बिहार बुक सेण्टर, पटना।

हि० पु० ए० : हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, पटना।

हि० पु० सं० : हिन्दी पुस्तक संसार, पटना।

रा० प्र० मं० : राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल, पटना।

दि० पु० स० : दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय प्रेमचन्द को दिवङ्गत हुए अभी तीस वर्ष भी नहीं हुए हैं पर उपन्यासों के रचना-काल तथा प्रकाशन-तिथियों के सम्बन्ध मे भ्रान्तिपूर्ण और अप्रामाणिक सूचनाओं का इतना अम्बार हिन्दी-आलोचना और अनुसन्धान-ग्रन्थों में जमा हो चुका है कि यदि उनका उल्लेख मात्र किया जाए, तो वह उबाने और क्षोभ पैदा करने वाला होगा। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें हिन्दी में लिखी गयी हैं, पर किसी ने भी, श्रीमती डॉ० गीता लाल के जनवरी १९६० में 'साहित्य' में प्रकाशित 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ' शीर्षक निबन्ध के पूर्व,[१] प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियो के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार नहीं किया है। इन तिथियों के सम्बन्ध में हिन्दी आलोचकों और शोधकर्ताओं का मनमानापन देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। बिना कोई प्रमाण दिये, इन आलोचक-प्रवरों ने अशुद्ध तिथियों की सूचना इतने धड़ल्ले और साहस के साथ दी है, कि देख कर दङ्ग रह जाना पड़ता है। डॉ० गीता लाल ने अपने निबन्ध में इन भ्रान्तियों का उल्लेख किया है; साथ ही उन्होंने प्रेमचन्द से सम्बद्ध तिथियों की प्रामाणिक सूचना देने का भी प्रयत्न किया है।

डॉ० गीता लाल ने प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों से सम्बद्ध जो सूचनाएँ दी हैं, वे अधूरी हैं और उनमें से कुछ दोषपूर्ण और कुछ शुद्ध होते हुए भी पुष्ट प्रमाण-युक्त नहीं हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इस अभाव की पूर्ति करने का यत्किञ्चित् प्रयत्न किया जा रहा है।

उर्दू की रचनाएँ

प्रेमचन्द हिन्दी में लिखना आरम्भ करने के पूर्व उर्दू में रचना करते थे, यह एक सुज्ञात तथ्य है; किन्तु उनकी उर्दू-रचनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक और भ्रान्तिरहित सूचनाओं का अब तक प्रायः अभाव ही था। हिन्दी के आलोचक इन रचनाओं के सम्बन्ध में अर्धप्रामाणिक, अधूरी, अस्पष्ट और परस्पर-विरोधी सूचनाएँ दे कर ही सन्तुष्ट हो जाया करते थे। हंसराज रहबर,[२] डॉ० राजेश्वर गुरु,[३] रामदीन गुप्त,[४] व्रजरत्न दास[५] डॉ० गीता लाल[६] आदि आलोचकों और शोधकर्ताओं में से किसी ने भी प्रेमचन्द के उर्दू-उपन्यासों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक सूचनाएँ नहीं दी हैं। इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न श्री अमृत राय ने अभी हाल में प्रकाशित अपने 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' नामक ग्रन्थ मे किया है।"[७]

प्रेमचन्द का प्रथम उर्दू-उपन्यास, सम्भवतः, 'हमखुर्मा व हमसवाब' है, जिसका एक संस्करण बाबू महादेवप्रसाद वर्मा द्वारा और दूसरा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ था।[८] दोनों संस्करणों में से किसी में भी प्रकाशन-तिथि नहीं दी हुई है। जनाब इम्तयाज़ अली 'ताज़' के नाम २९ जनवरी १९२१ के अपने पत्र में प्रेमचन्द ने इसका रचना-काल लगभग १९०० ई० बताया था।[९] सम्भव है, यह उपन्यास १९०० ई० में लिखा गया हो। पर इसका प्रकाशन किस वर्ष हुआ, यह बताना कठिन है; क्योंकि इसके प्रथम संस्करण की प्राप्त प्रतियों में प्रकाशन-काल नहीं मिलता। सितम्बर १९०६ के 'ज़माना' नामक उर्दू-पत्र में इस उपन्यास का प्रथम विज्ञापन छपा था।[१०] इससे इसका प्रकाशन-काल १९०६ ई० या उससे ईषत्पूर्व सिद्ध होता है। यही उपन्यास १९०७ ई० में 'प्रेमा' शीर्षक से इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ।

हमखुर्मा व हमसवाब' 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मङ्गलाचरण-खण्ड मे सम्मिलित किया गया है।

प्रेमचन्द का दूसरा उर्दू-उपन्यास सम्भवतः 'किश्ना' है। अपने २९ जनवरी १९२१ के पत्र में प्रेमचन्द ने जनाब इम्तियाज़ अली 'ताज़' को लिखा था, "'हमखुर्मा व हमसवाब' व 'किश्ना' वग़ैरह मेरी इबताई तसानीफ़ हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवल किशोर प्रेस ने शाया की थी और दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हाल प्रेस ने। यह ग़ालिबन उन्नीस सौ की तसानीफ़ है।"[११] यह उपन्यास १९०७ ई० अथवा उसके निकट-पूर्व में मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ था।[१२] इसका विज्ञापन सर्वप्रथम 'ज़माना' के अगस्त १९०७ के अङ्क मे प्रकाशित हुआ था।[१३] अक्टूबर-नवम्बर १९०७ के 'ज़माना' के अङ्क में विवेच्य उपन्यास की श्री नौबत-राय 'नज़र'-लिखित एक समालोचना छपी थी, जिसकी कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियाँ निम्नोद्धृत हैं :—

"यह एक उपन्यास है और हमारे सोशल रिफ़ार्म से ताल्लुक़ रखता है. . . उन्होंने औरतों में जेवर के फ़िज़ूल शौक़ की अच्छी चियाड़ की है, गोया यह एक ऐसी औरत की लाइफ़ है जिसे जेवरों का शौक़ नहीं, बल्कि सनक थी। . . .साथ ही शादी-ब्याह की कुछ रस्मों का भी खाका उड़ाया गया है, खासकर क़रार-दाद और उसका सख्ती से वसूल करना। . . .किताब में जो भाषा इस्तेमाल की गयी है वह मुंशी साहब की प्राञ्जल लेखन-शैली से बहुत कम मिलती है। शायद यह भाषा इसलिए इस्तेमाल की गयी है कि जिन लोगों का सुधार अभीष्ट है, उनके लिए रोचक हो। . . .यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कोई हीरो या हीरोइन नहीं है और इसे उपन्यास कहना कठिन है। दरअसल यह उपन्यास है भी नहीं बल्कि स्त्रियों की एक कुत्सित प्रवृत्ति का खाका उड़ाया गया है जिसे अंग्रेजी में कैरिकेचर कहते हैं।"[१४]

'किश्ना' सम्प्रति अनुपलब्ध है।

प्रेमचन्द का सम्भवतः तीसरा उर्दू-उपन्यास 'असरारे-मआबिद उर्फ़ देवस्थान-रहस्य' है, जो वाराणसी के एक उर्दू साप्ताहिक पत्र 'आवाज़ए-खल्क' में ८ अक्टूबर १९०३ से फरवरी १९०५ ई० तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[१५] यह उपन्यास पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ या नहीं, इसकी सूचना नहीं मिलती। अमृत राय ने 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मङ्गलाचरण-खण्ड में इस उपन्यास को सम्मिलित कर हिन्दी-साहित्य का महान् कल्याण किया है। इस उपन्यास में एक महन्त और उसके शिष्यों की पोल खोली गयी है।

'हमखुर्मा व हमसवाब', 'किश्ना' और 'असरारे-मआबिद' में कौन पहला है, कौन दूसरा और कौन तीसरा, इसका निर्णय करना असम्भव-प्राय है। इनकी ठीक रचना-तिथि अज्ञात है।

प्रेमचन्द ने उर्दू में 'रूठी रानी' नाम का भी एक उपन्यास लिखा था, जो 'ज़माना' मासिक पत्र में १९०७ ई० में, अप्रैल से अगस्त तक के अङ्कों मे, धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[१६] इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। पुस्तक-रूप में इस उपन्यास के प्रकाशित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मङ्गलाचरण-खण्ड में यह उपन्यास सम्मिलित किया गया है

प्रेमचन्द ने उर्दू में जलवए ईसार नाम का एक उपन्यास भी लिखा था जो १९१२ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से, प्रकाशित हुआ था। यही उपन्यास बाद में हिन्दी में वरदान नाम से प्रकाशित हुआ।[१०]

इन आरम्भिक उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्द के उर्दू में रचित कुछ और उपन्यास हैं, जैसे 'बाज़ारे-हुस्न', 'गोशाए-आफ़ियत', 'चौगाने-हस्ती', 'पर्दए-मजाज़', 'बेवा', 'गऊदान' आदि। इनका उल्लेख प्रेमचन्द के हिन्दी-उपन्यासों के विवेचन के प्रसङ्ग में किया जाएगा।

प्रथम हिन्दी उपन्यास : प्रेमा

जहाँ तक प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को ज्ञात हो सका है, प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास 'प्रेमा' है। इस उपन्यास की एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी, में उपलब्ध है,[१८] जिसके मुखपृष्ठ पर लेखक का नाम 'बाबू नवाब राय बनारसी' और प्रकाशन-काल 'सन् १९०७ ई०' मुद्रित है। जुलाई १९०७ ई० के 'हिन्दी-प्रदीप' में इस उपन्यास की एक संक्षिप्त बड़ी रोचक समीक्षा प्रकाशित हुई थी, जो निम्नलिखित है :—

"प्रेमा एक उपन्यास. . . दो विधवाओं के विवाह का प्रस्ताव इसमें है। . . . लिखने वाले ने तो अपने समय में विधवा-विवाह के अनुमोदन में इसे लिखा है पर सो नहीं विधवा-विवाह की जीट इससे भले ही उड़ती है। इण्डियन प्रेस के मालिक को चाहिए कि ऐसी पुस्तक न छापा करें।"[१९]

हिन्दी के आलोचकों ने 'प्रेमा' की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में जो उत्तरदायित्वहीन सूचनाएँ दी हैं, उनके कुछ नमूने दर्शनीय हैं। श्री हंसराज रहबर के अनुसार **'यह उपन्यास भी १९०६ में लिखा गया था।'**[२०] श्री ब्रजरत्नदास ने एक स्थान पर इसकी प्रकाशन-तिथि सं० १९६४ वि०[२१] और दूसरे स्थान पर १९०५ ई० दी है।[२२] सम्भव है दूसरी तिथि मुद्रण की भूल हो, फिर भी यह चिन्त्य तो है ही। श्री रामदीन गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि **'सं० १९०४ या १९०५'** बतायी है।[२३] डॉ० रामरतन भटनागर इसका रचना-काल १९०५ ई० के लगभग मानते हैं।[२४] प्रेमचन्द पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले, और डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करने वाले, डॉ० राजेश्वर गुरु इस उपन्यास का रचना-काल १९०२ ई० तथा इसे 'अप्राप्य, अप्रकाशित' घोषित करते हैं।[२५] स्पष्ट है कि उपर्युक्त आलोचक-श्रोत्रियों में से किसी ने भी मूल पुस्तक को देखने का कष्ट नहीं उठाया है।

'प्रेमा' हिन्दी में रचित मौलिक उपन्यास न हो कर १९०६ ई० अथवा उसके ईषत्पूर्व प्रकाशित 'हमखुर्मा व हमसवाब' का हिन्दी रूपान्तर है। दयानरायन निगम के नाम १७ जुलाई १९२६ को लिखित अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने खुद 'प्रेमा' का प्रकाशन-काल १९०४ ई० बताया था।[२६] अपने एक दूसरे पत्र में, जो ८ जुलाई १९२७ को विनोदशङ्कर व्यास को लिखा गया था, प्रेमचन्द ने 'प्रेमा' का रचना-काल १९०० ई० लिखा था।[२७] इनमें पहली, यानी प्रकाशन-तिथि, तो अवश्य ही ग़लत है, क्योंकि इण्डियन प्रेस से प्रकाशित 'प्रेमा' के प्रथम संस्करण में १९०७ तिथि मुद्रित है। दूसरी, यानी रचना-तिथि, के विषय कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द ने ये तिथियाँ अपने स्मरण के आधार पर दी होंगी, और उनकी 'मेमोरी' कमज़ोर थी, इसे उन्होंने खुद एक स्थान पर स्वीकार किया है[२८]

'प्रेमा' का अपने मूल रूप में दूसरा संस्करण नहीं प्रकाशित हुआ। यह पाठकों में उसके प्रिय न होने का स्पष्ट प्रमाण है।

सेवा-सदन

प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित दूसरा, और हिन्दी-साहित्य में युग-प्रवर्तन कर देने वाला उपन्यास 'सेवा-सदन' है, जो हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, से १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण चैतन्य पुस्तकालय, गायघाट, पटना सिटी, में उपलब्ध है,[२९] जिसके मुखपृष्ठ पर इसका प्रकाशन-काल 'प्रथम वार, संवत् १९७५' मुद्रित है।

'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी हिन्दी-आलोचकों और शोधकर्ताओं ने अपने दयनीय अज्ञान का परिचय दिया है। हंसराज रहबर के अनुसार **'सेवा-सदन (बाजारे-हुस्न) शायद १९१४ में'** छपा था।[३०] श्री ब्रजरत्नदास के अनुसार **'सं० १९७१ के लगभग बाजारे-हुस्न का हिन्दी रूपान्तर सेवा-सदन...**निकला।'[३१] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने 'सेवा-सदन' का प्रकाशन-काल १९१४ ई० बताया है।[३२] डॉ० राजेश्वर गुरु के अनुसार **'सेवा-सदन' प्रेमचन्द की और सम्भवतः हिन्दी की वह अद्भुत कृति है, जिसने १९१६-१७ में हिन्दी पाठकों का ध्यान अपनी ओर अकृष्ट किया था।'**[३३] अन्य आलोचकों की बात हम छोड़ भी दें, पर एक शोधकर्ता से, जिसके अध्ययन का विषय प्रेमचन्द और उनके उपन्यास हैं, इस प्रकार के उत्तरदायित्व-शून्य कथन की अपेक्षा हम नहीं रखते।

डॉ० श्रीकृष्ण लाल,[३४] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन,[३५] डॉ० गीता लाल,[३६] तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने,[३७] 'सेवा-सदन' का प्रकाशन-काल १९१८ ई० बताया है, जो शुद्ध है। इनमें से प्रथम दो लेखकों ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है। डॉ० गीता लाल के प्रमाण भी अत्यन्त दुर्बल हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ' शीर्षक निबन्ध में १९१९ ई० के बङ्गाल के गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'सेवा-सदन' के प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि '१५-१२-१८' दी है, जो एक पुष्ट प्रमाण है।

इधर हाल में श्री अमृत राय द्वारा लिखित एवं सम्पादित 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' नामक ग्रन्थ कई खण्डों में प्रकाशित हुआ है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि प्रेमचन्द के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाएँ प्रस्तुत करने का वादा करने वाले इस नवीनतम ग्रन्थ में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों के सम्बन्ध में अनेक दयनीय भ्रान्तियाँ हैं। 'सेवा-सदन' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ में कहा गया है, **"छपाई में लगभग साल भर का समय ले कर सेवा-सदन १९१९ के मध्य में प्रकाशित हुआ।"**[३८] इस सूचना का आधार लेखक की कल्पना के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। पूरे ग्रन्थ में कहीं भी इस कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। चैतन्य पुस्तकालय, पटना, में उपलब्ध 'सेवा-सदन' की प्रति में प्रदत्त सूचना के प्रकाश में यह सूचना मनमानेपन का उदाहरण मात्र सिद्ध होती है। उक्त प्रति में 'सेवा-सदन' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल सं० १९७५ वि० मुद्रित है। सं० १९७५ वि० का अर्थ है मार्च (लगभग) १९१८ से मार्च (लगभग) १९१९ ई० के बीच की अवधि। पर किसी भी हालत में हम सं० १९७५ को

खींच कर १९१९ के मध्य में नहीं ला सकते इसके अतिरिक्त खुद प्रेमचन्द ने २४ अप्रैल १९१९ को लिखित अपने एक पत्र में श्री दयानरायन निगम को सूचित किया था, **"आप यह सुन कर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अक्सर नक्क़ादों ने उसे हिन्दी ज़बान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह बाज़ारे-हुस्न का तर्जुमा है।"**[३९] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'सेवा-सदन' अप्रैल १९१९ से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था। फिर फरवरी १९१९ ई० की सरस्वती में 'सेवा-सदन' का निम्नलिखित परिचय प्रकाशित हुआ था : **"सेवा-सदन; श्रीयुक्त प्रेमचन्द; प्रकाशक : महावीर प्रसाद पोद्दार, व्यवस्थापक, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता; पृ० ५१२। भाषा सरल और लिखने की शैली रोचक है। यह उपन्यास की पुस्तक वेश्या-नृत्यादि बहुतेरी सामाजिक कुरीतियों को दिखलाती है।"**[४०] जब फरवरी १९१९ में 'सेवा-सदन' का विज्ञापन निकला तो उपन्यास कम से कम उससे एक-दो महीने पूर्व तो अवश्य ही प्रकाशित हो गया होगा। फिर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बङ्गाल के गजट में १९१९ ई० में, प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि '१५-१२-१८' दी है।[४१]

२ जून १९१८ को श्री दयाराम निगम के नाम लिखे अपने पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा था, **"...अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।"**[४२] फिर अपने २३ दिसम्बर १९१८ के पत्र में प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया, **"बाज़ारे-हुस्न के मुताल्लिक़ भी गुफ़्तगू हो रही है। इसका हिन्दी एडीशन दस फ़ार्म छप चुका है।"**[४३] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने निबन्ध में 'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि १५ दिसम्बर १९१८ ई० दी है। इससे सिद्ध होता है कि 'सेवा-सदन' २ जून १९१८ और १५ दिसम्बर १९१८ के बीच की अवधि में प्रकाशित हुआ।

तात्पर्य यह कि सं० १९७५ वि० को हम १९१९ ई० में नहीं ला सकते—१९१९ के मध्य तक तो किसी प्रकार नहीं। अतः 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' में प्रदत्त सूचना भ्रामक है।

'सेवा-सदन' के सम्बन्ध में 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' में सङ्कलित प्रेमचन्द के पत्रों से नवीन और महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। दयानरायन निगम के नाम लिखे गये प्रेमचन्द के पत्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यह उपन्यास सर्व-प्रथम उर्दू में 'बाज़ारे-हुस्न' के नाम से १९१७ ई० में, प्रायः जनवरी और अगस्त के महीनों के बीच, लिखा गया था।[४४] अमृत राय का यह निष्कर्ष, कि दयानरायन निगम के नाम पत्रों के आधार पर मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल जनवरी १९१७ से जनवरी १९१८ तक ठहरता है, पुष्ट नहीं मालूम पड़ता।[४५]

'बाज़ारे-हुस्न' का लेखन अगस्त १९१७ या उसके तनिक बाद समाप्त हो गया, पर उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह तुरन्त प्रकाशित न हो सका। इधर हिन्दी में उपन्यास-पाठकों और प्रकाशकों की धूम थी। प्रेमचन्द ने उर्दू से निराश हो कर अपने उपन्यास को हिन्दी में प्रकाशित करने का निश्चय किया। दयानरायन निगम के नाम ८ अगस्त १९१७ को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने अपना यह निश्चय व्यक्त किया था।[४६]

हिन्दी में 'सेवा-सदन' का लेखन-काल लगभग जनवरी १९१८ से मई १९१८ तक है। [दया]नरायन निगम के नाम लिखे गये प्रेमचन्द के पत्रों से यह बात प्रमाणित होती है। २९ जनवरी

को उन्होंने लिखा था, "अपना नाविल हिन्दी में लिख रहा हूँ। फुर्सत नहीं मिलती। न कोई तातील ही पड़ती है। मगर आज इरादा करता हूँ कि साफ़ करने में हाथ लगा दूँ।"[४७] फिर २ जून १९१८ को निगम साहब के पास लिखे अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने सूचित किया, "...अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।"[४८] स्पष्ट है कि इसके पूर्व 'बाजारे-हुस्न' का हिन्दीकरण 'सेवा-सदन' के नाम से समाप्त हो चुका था। दिसम्बर १९१८ के पूर्व 'सेवा-सदन' हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, से प्रकाशित भी हो गया।

अमृत राय के अनुसार 'बाजारे-हुस्न' अपने मूल (उर्दू) रूप में १९२० ई० में 'कहकशाँ' नामक उर्दू-पत्र के सम्पादक जनाब इम्तयाज़ अली 'ताज' द्वारा प्रकाशित हुआ।[४९] पर यह सूचना अशुद्ध है। १६ फरवरी १९२२ ई० तक 'बाजारे-हुस्न' नहीं छपा था। १६ फरवरी १९२२ के अपने पत्र में प्रेमचन्द ने 'ताज़' साहब को लिखा था, "जब तक 'बाजारे-हुस्न' प्रेस से निकलेगा, शायद नया नाविल का हिस्साये-अव्वल आपकी ख़िदमत में हाज़िर हो जाये।"[५०] बाजारे-हुस्न किस सन् ईसवी में प्रकाशित हुआ, इसकी सूचना प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को नहीं मिल सकी है। जो हो, उर्दू-पाठकों और आलोचकों ने इस उपन्यास का कोई खास स्वागत नहीं किया। अमृत राय ने इसका कारण बताया है कि "उर्दू वालों के लिए कोठे की जिन्दगी और उसके मसलों में कोई नयापन नहीं था। नज़ीर अहमद, सरशार और मिर्ज़ा रुसवा जैसे लोग उसके बारे में बहुत लिख चुके थे और बहुत अच्छा लिख चुके थे।"[५१]

'सेवा-सदन' के अब तक अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। 'अनेक' शब्द का प्रयोग मैं प्रकाशकों की कृपा से करने को बाध्य हूँ। वर्तमान समय में 'सेवा-सदन' के तीन प्रकाशन-संस्थाओं —हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता एवं काशी; सरस्वती प्रेस, वाराणसी एवं इलाहाबाद; और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद—से प्रकाशित संस्करण उपलब्ध होते हैं। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, ज्ञान-वापी, काशी, से 'सेवा-सदन' का दूसरा संस्करण १९२१ ई० (सं० १९७८ वि०) में, आठवां संस्करण १९३६ ई० (१९९३ वि०) में,[५३] बारहवाँ संस्करण १९४५ ई० (सं० २००२ वि०) मे[५४] और सत्रहवाँ संस्करण १९५३ ई० में (सं० २०१० वि०) में[५५] प्रकाशित हुआ। पटना कॉलेज पुस्तकालय में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, वाराणसी, से प्रकाशित 'सेवा-सदन' की एक प्रति है, जिसमें संस्करण-संख्या तथा प्रकाशन-काल नहीं दिया हुआ है। अतः हिन्दी पुस्तक एजेंसी से सत्रहवें संस्करण के बाद 'सेवा-सदन' के और कितने संस्करण प्रकाशित हुए, यह बताना कठिन है। 'सेवा-सदन' के सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित दो और संस्करण मेरे देखने में आये हैं,[५६] जिनमें से प्रथम में प्रकाशन-तिथि और संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है। दूसरे में प्रकाशन-तिथि दिसम्बर १९६० दी हुई है, पर संस्करण-संख्या का पता नहीं चलता। इधर हाल में, जुलाई १९६२ में, भी सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से 'सेवा-सदन' का एक वर्तमान संस्करण प्रकाशित हुआ है।[५७] 'सेवा-सदन' के हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से प्रकाशित दो और संस्करण मिलते हैं। पर दोनों में से किसी में भी प्रकाशन-काल अथवा संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है। एक संस्करण अजिल्द है और प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग, से मुद्रित है।[५८] दूसरा संस्करण मार्गव प्रेस, १ बाई का बाग, इलाहाबाद, से मुद्रित है और सजिल्द है।[५९] इस प्रकार सरस्वती प्रेस, वाराणसी, और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद से 'सेवा-सदन' के कुल कितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, यह बता

पाना नितान्त कठिन है। फिर भी इससे तो सिद्ध ही है कि १९१८ ई० से लेकर आज तक 'सेवा-सदन' के २३ से अधिक संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके हैं; और यह इस उपन्यास की लोकप्रियता का असन्दिग्ध प्रमाण है।

वरदान

प्रेमचन्द का 'वरदान' नामक उपन्यास, जो वस्तुतः उनके १९१२ ई० में प्रकाशित उर्दू-उपन्यास 'जल्वए-ईसार' का हिन्दी रूपान्तर है, सर्वप्रथम अप्रैल १९२१ ई० के निकट-पूर्व में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने मे असमर्थ रहा है, पर अप्रैल १९२१ ई० की 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में इस उपन्यास का एक संक्षिप्त 'परिचय' प्रकाशित हुआ था, जिसकी कुछ महत्वपूर्ण पक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

"वरदान, लेखक : श्रीयुत प्रेमचन्द; प्रकाशक : मैनेजर, ग्रन्थ-भण्डार, लेडी हार्डिञ्ज रोड, माटूंगा, बम्बई। हिन्दी में अभी तक उच्च कोटि के मौलिक उपन्यासों का अभाव है। प्रेमचन्द जी ने 'सेवा-सदन' लिख कर हिन्दी के उपन्यास-लेखकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। यह आपका दूसरा उपन्यास है। इसमें वह विशेषता नहीं है जो आपके 'सेवा-सदन' में है।...छोटे आकार में २३९ पृष्ठों की सुन्दर जिल्द बँधी हुई पुस्तक का मूल्य २।) है।"[६०]

उक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि 'वरदान' 'सेवा-सदन' के बाद और अप्रैल १९२१ ई० के निकट-पूर्व में, सम्भवतः १९२१ ई० में ही, ग्रन्थ भण्डार, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अमृत राय के अनुसार **"इसका प्रकाशन उर्दू संस्करण के लगभग नौ बरस बाद १९२१ में ग्रन्थ भण्डार, बम्बई से हुआ। लेखक की ओर से प्रकाशक को दिये गये अधिकार-पत्र पर १८ अक्टूबर १९२० की तिथि अङ्कित है। मई १९२१ में प्रकाशित एक पुस्तक के पीछे उसका विज्ञापन भी मिलता है।"**[६१]

इस उपन्यास के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में अनेक अनिश्चित और प्रमाणरहित मत हिन्दी में प्रचलित हैं। हंसराज रहबर के अनुसार **"प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सन् १९०५-०६ में लिखा।"**[६२] रामदीन गुप्त के अनुसार **"वरदान, हिन्दी में प्रेमचन्द की सम्भवतः प्रथम रचना है।...'वरदान' के रचना-काल के आसपास ही सन् १९०६ में गोर्की का विश्व-विश्रुत उपन्यास 'माँ' प्रकाशित हुआ था।"**[६३] डॉ० राजेश्वर गुरु इसे प्राक्-'सेवा-सदन' कृति मानते हैं, पर इसका रचना-काल या प्रकाशन-तिथि बताने का प्रयास नहीं करते।[६४] ब्रजरत्नदास के अनुसार, **"इनका (प्रेमचन्द का)**[६५] **एक परिहास-प्रधान उपन्यास 'वरदान' उर्दू में लिखा गया था। पर अब इस भाषा में न छप सका तब उसका सार हिन्दी में इस नाम से सं० १९६४ (सन् १९०७ ई०) के लगभग छपा था।"**[६६] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार इसका प्रकाशन १९२० ई० में हुआ।

उपर्युक्त आलोचकों में से किसी ने भी अपने मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है, न उन्होंने प्रकाशन-संस्था या प्रकाशक का नाम बताया है। ऐसी स्थिति में इन मतों का मूल्य **कितना है, यह बताना [illegible] क है**

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तरह ही नहीं पर 'वरदान' को भी हिन्दी-पाठकों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। जनवरी १९४५ ई० में इस उपन्यास का प्रथम संस्करण (?) और दिसम्बर १९४५ ई० में द्वितीय संस्करण सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।[६८] हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, वाराणसी, से 'वरदान' का तृतीय संस्करण १९५० ई० में[६९] और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से इसका पाँचवाँ संस्करण मार्च १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ।[७०] इधर हाल में सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, से 'वरदान' का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रकाशन-काल अथवा संस्करण-संख्या कुछ भी नहीं दिया हुआ है। यह भार्गव प्रेस, १ बाई का बाग, इलाहाबाद, से मुद्रित है तथा इसकी पृष्ठ-संख्या १३४ है।[७१] इन सूचनाओं से यह सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द के जीवन-काल में 'वरदान' हिन्दी-पाठकों में बिलकुल ही लोकप्रिय न हो पाया था। बाद में इसकी लोकप्रियता कुछ बढ़ी जिसका कारण प्रेमचन्द का उपन्यासकार के रूप में लोकप्रिय होना है।

प्रेमाश्रम

'वरदान' के बाद प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास १९२२ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, से १९४५ ई० में प्रकाशित 'प्रेमाश्रम' के आठवें संस्करण में रामदास गौड़-लिखित 'अनुश्चन' संलग्न है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को 'प्रेमाश्रम' का इससे पूर्व का कोई संस्करण नहीं प्राप्त हो सका है। उसके अन्त में **'कल्पवास, होली १९०९'** मुद्रित है। सामान्यतः विक्रम संवत् में सत्तावन घटाने पर ईसवी-सन् प्राप्त होता है, पर १ जनवरी से ले कर चैत्र की अमावस्या के बीच में ईसवी सन् जानने के लिए विक्रम-संवत् से छप्पन वर्ष घटाना होता है। १ जनवरी को नया ईसवी-सन् आरम्भ हो जाता है, जब कि नया विक्रम-संवत् १ शुक्ल चैत्र को आरम्भ होता है। इस हिसाब से 'होली १९७९' का अर्थ है मार्च १९२३। इसी आधार पर डॉ० गीता लाल ने 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२३ ई० सिद्ध करते हुए उसे १९२२ ई० मानने वालों को भ्रान्तिग्रस्त सिद्ध किया है। डॉ० गीता लाल का तर्क निर्दोष है, पर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२२ ई० ही सिद्ध होता है। जून १९२२ ई० की 'सरस्वती' के पुस्तक-परीक्षा स्तम्भ में 'प्रेमाश्रम' का निम्नलिखित संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुआ था : **"प्रेमाश्रम प्रेमचन्द जी का यह नया उपन्यास है, अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। ६५५ पृष्ठों में यह पूरा हुआ है। अच्छे टाइप में अच्छे कागज पर छपा है। खद्दर की सुन्दर जिल्द बँधी है। कलकत्ता (१२६, हरिसन रोड) की हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने इसे प्रकाशित किया है। मूल्य ३।।) है।"**[७२]

प्रेमचन्द ने अपने २१ मई १९२२ के पत्र में श्री दयानारायन निगम को लिखा था **'बाजारे-हुस्न' पढ़िएगा। मैं जमाना में रिव्यू का मुन्तजिर हूँ। मेरा नया नाविल भी शाया हो गया। बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।"**[७३] यद्यपि इसमें उपन्यास का नाम नहीं आया है पर प्रेमचन्द के अन्य पत्रों के साथ पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रेमाश्रम' ही है।

इन तथ्यों से 'प्रेमाश्रम' का मई १९२२ ई० से पूर्व प्रकाशित होना निर्विवादत सिद्ध

होता है। फिर 'होली १९७९ वि०' का क्या अर्थ है? इसकी एक ही व्याख्या मेरी समझ में आती है। बहुत से लोग, अज्ञान के कारण ही सही, यह धारणा रखते हैं कि वसन्तोत्सव के दिन नया संवत् आरम्भ हो जाता है। सम्भव है, 'प्रेमाश्रम' के 'अनुवचन' के लेखक ने भ्रान्त धारणावश होली १९७८ को होली १९७९ (नया संवत्) लिख दिया हो। अन्यथा इस तिथि का कोई अर्थ नहीं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बङ्गाल के १९२२ ई० के गजट में प्रकाशित द्वितीय त्रैमासिक पुस्तक-सूची के साक्ष्य पर 'प्रेमाश्रम' की प्रकाशन-तिथि १३ अप्रैल १९२२, बतलायी है,[74] जिससे होली १९७९ की उपर्युक्त व्याख्या ही ठीक जान पड़ती है।

'प्रेमाश्रम' की रचना सर्वप्रथम उर्दू में 'नाकाम' और 'नेकनाम' शीर्षकों से २ मई १९१८ से लेकर २५ फरवरी १९२० तक की अवधि में हुई थी। अमृत राय के अनुसार उपर्युक्त रचना-काल 'प्रेमाश्रम' की पाण्डुलिपि पर अङ्कित है।[75] गोरखपुर से ५ सितम्बर १९१९ को दयानारायन निगम के नाम लिखित अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने सूचित किया था: **'बाजारे-हुस्न' निस्फ़ से ज्यादा साफ़ कर रहा हूँ। नया नाविल खूब तवील हो रहा है। इसका नाम अभी 'नेकनाम' रखा है। ग़ालिबन दिसम्बर तक खत्म हो जाएगा। 'नेकनाम' तैयार हो जाए तो उसे उर्दू में खुद शाया करने का क़स्द है।"**[76] १८ फरवरी १९२० को गोरखपुर से ही प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा: "...मेरा दूसरा नाविल **'नाकाम' अनकरीब इख्तताम है। ...यह नाविल भी हिन्दी में छपेगा। उर्दू में इसका हश्र क्या होगा, मालूम नहीं।"**[77] ३ जनवरी १९२१ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया **"नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ।"**[78] १६ फरवरी १९२२ को कानपुर से प्रेमचन्द ने इम्तयाज अली 'ताज' को लिखा: **"मेरा हिन्दी-नाविल खत्म हो गया। अब उर्दू काम जल्द होगा।"**[79] फिर ३१ मई १९२२ को उन्होंने निगम साहब को लिखा: **"मेरा नया नाविल भी शाया हो गया। बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।"** इससे स्पष्ट है कि 'प्रेमाश्रम' पहले उर्दू में लिखा गया था और प्रेमचन्द ने इसके दो नाम सोचे थे——पहले 'नेकनाम' और फिर 'नाकाम।' उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह पहले हिन्दी में ही 'प्रेमाश्रम' नाम से ३१ मई १९२२ के कुछ पहले प्रकाशित हुआ। इसके हिन्दीकरण का समय जनवरी १९२१–फरवरी १९२२ (लगभग) माना जा सकता है।

'प्रेमाश्रम' के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी लोगों ने मनमानी सूचनाएँ दी हैं। हंसराज रहबर के अनुसार **"यह उपन्यास सन् १९१९ में लिखा गया।"**[80] डॉ० राजेश्वर गुरु के अनुसार **"१९२१-२२ के सत्याग्रह में लगानबन्दी की बात करने का विचार बहुत बाद में जाकर सोचा गया था। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' इसके पहले लिखा जा चुका था।"**[81] डॉ० श्रीकृष्णलाल तथा डॉ० प्रतापनारायण टण्डन 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२१ ई० मानते हैं।[82] 'प्रेमाश्रम' के सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हाल के एक संस्करण मे (प्रकाशन-काल पुस्तक में नहीं दिया है) इसका रचना-काल १९१८-१९ बताया गया है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आलोचकों में से किसी ने भी अपने कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।

अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के जीवनी-खण्ड में अमृत राय ने प्रेमाश्रम का -काल **"१९२१ का पूर्वार्द्ध"** बताया है[83] पर हम देख चुके हैं कि यह

सूचना भ्रान्त है अमृत राय की सूचना सम्भवत अनुमानित है जो प्रेमचन्द के ३ जनवरी १९२१ के पत्र पर आधारित है जिसमें प्रेमचन्द ने लिखा था **नाविल को हिन्दी कर रहा हूँ।**

अमृत राय ने एक स्थान पर लिखा है, "**२५ फरवरी १९२० को मुन्शी जी ने उर्दू 'प्रेमाश्रम' का लिखना समाप्त किया।**"[८४] यह कथन नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। २० अक्टूबर १९२० को प्रेमचन्द ने श्री इम्तयाज़ अली 'ताज' को लिखा था। "**ईश्वर ने चाहा तो चन्द माह में मेरा अपना नाविल तैयार हो जायगा।**"[८५] फिर २९ जनवरी १९२१ को उन्होंने 'ताज' साहब को सूचित किया, "**...इन क़िस्सों के अलावा एक नाविल 'नाकाम' साफ़ कर रहा हूँ, जो तसनीफ़ से कमजाँसोज काम नहीं है।**"[८६] इससे सिद्ध होता है कि 'नाकाम' ('प्रेमाश्रम' का उर्दू-रूप) २९ जनवरी १९२१ के कुछ पूर्व समाप्त हुआ, न कि २५ फरवरी १९२० को।

'प्रेमाश्रम' के हिन्दी में प्रकाशित हो जाने के बाद प्रेमचन्द ने उसका उर्दू-संस्करण 'गोशए-आफ़ियत' शीर्षक से प्रकाशनार्थ तैयार किया, पर उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह बहुत दिनों तक अप्रकाशित ही पड़ा रहा।

'प्रेमाश्रम' हिन्दी-पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हुआ। मेरा अनुमान है कि अब तक 'प्रेमाश्रम' के २० से अधिक संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके होंगे, और यह इस उपन्यास की लोकप्रियता का असन्दिग्ध प्रमाण है।

रङ्गभूमि

प्रेमचन्द का आकार की दृष्टि से सबसे बृहत् उपन्यास 'रङ्गभूमि' १९२५ ई० में दो भागों में, गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ। 'रङ्गभूमि' के प्रथम संस्करण की प्रतियाँ पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना, राष्ट्रभाषा-परिषद् पुस्तकालय, पटना, और आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी, में उपलब्ध हैं, जिनके मुखपृष्ठ पर '**प्रथमावृत्ति सं० १९८१ वि०**' मुद्रित है।[८७] 'रङ्गभूमि' के प्रथम भाग के जो भी प्रथम संस्करण मुझे प्राप्त हुए हैं, उनके आरम्भिक पृष्ठों के नष्ट हो जाने के कारण प्रथम संस्करण के साथ संलग्न प्रकाशकीय वक्तव्य को पाने में असमर्थ रहा हूँ, पर 'रङ्गभूमि' के ग्यारहवें संस्करण में प्रथम संस्करण का '**सम्पादक का वक्तव्य**' दिया हुआ है, जिसके अन्त में 'वसन्त-पञ्चमी सं० १९८१' मुद्रित है।[८८] इनसे 'रङ्गभूमि' का प्रकाशन-काल १९२५ ई० ही सिद्ध होता है।

'रङ्गभूमि' की रचना के सम्बन्ध में 'चौगाने-हस्ती' के द्वितीय खण्ड की भूमिका में प्रेमचन्द ने लिखा है, "अगर्चे 'रङ्ग भूमि' पहले उर्दू ही में लिखी गयी थी मगर उसका उर्दू-एडीशन हिन्दी-एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिन्दी एडीशन तैयार करते वक्त उर्दू-मसविदे में इतनी तरमीम हो गयी कि वह इस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबवाब हिन्दी में और बढ़ा दिये गये। उन्हें दुबारा मसविदे में शामिल करना ज़रूरी था। इसलिए सारा उर्दू-मसविदा हिन्दी-मसविदे के मुताबिक़ कर के दुबारा लिखना पड़ा।"[८९] प्रेमचन्द के एक पत्र से तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उर्दू उपन्यास ('चौगाने-हस्ती') हिन्दी 'रङ्गभूमि' का हज़रत मेहर द्वारा प्रस्तुत अनुवाद-मात्र है। (अनुमानतः) सन् १९२५ ई० के **अगस्त महीने के प्रथम सप्ताह में प्रेमचन्द ने दयानरायन निगम को लिखा था**"

हजरत मेहर ने रङ्गभूमि का उर्दू तर्जुमा कर लिया मगर मुआवजा हिन्दी सफहात पर) फी सफ़ा माँगते हैं, यानी कुल ४६५)। मुझे कुल किताब के ६००) मिल जाएँगे तो मैं समझूँगा मैंने तीर मारा। आप ४६५) खुद माँग रहे हैं।"[१०] इससे स्पष्ट है कि उर्दू 'चौगाने-हस्ती' हिन्दी 'रङ्गभूमि' का अनुवाद है, न कि हिन्दी 'रङ्गभूमि' किसी उर्दू उपन्यास का। 'चौगाने हस्ती' की भूमिका से भी यही सिद्ध होता है कि 'रङ्गभूमि' का मसविदा पहले उर्दू में तैयार किया गया था, पर पूरा उपन्यास अपने अन्तिम रूप में हिन्दी में ही लिखा गया। इसका कारण कदाचित् यह है कि अब तक उर्दू में प्रेमचन्द की शैली मँज गयी थी और उस भाषा में वे धारा-प्रवाह लिख सकते थे, जब कि हिन्दी लिखने में अभी वे उतने अभ्यस्त नहीं हुए थे।

अमृत राय ने लिखा है; **"मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल १ अक्टूबर १९२२ से १ अप्रैल १९२४ तक है जो कि पाण्डुलिपि पर ही अङ्कित है। इसी पाण्डुलिपि पर मुन्शी जी के अपने अक्षरों में ही यह भी टँका हुआ है :** "Hindi finished dated August 12, 1924."[१०], यह सूचना थोड़ी उलझन में डालने वाली है। १७ फरवरी १९२३ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा था : **"मैं अजहद-नादिम हूँ कि 'जमाना' के लिए अरसे से कुछ न लिख सका।...हिन्दी रिसालों में लिखने के बाइस वक्त ही नहीं निकलता। फिर अपना नया नाविल भी लिखना चाहता हूँ।"** इससे पूरी तरह स्पष्ट तो नहीं होता, पर ध्वनित होता है, कि नये उपन्यास का लिखना (और वह 'रङ्गभूमि' ही होगा) अभी आरम्भ नहीं हुआ था। सम्भव है, प्रेमचन्द ने १ अक्टूबर १९२२ से ही उपन्यास का प्रारूप तैयार करना आरम्भ कर दिया हो और उसका लेखन आरम्भ हुआ हो फरवरी १९२३ ई० में। प्रेमचन्द के २२ अप्रैल १९२३, ३ जुलाई १९२३ और २६ सितम्बर १९२३ के निगम साहब के नाम लिखित पत्रों से ज्ञात होता है कि इस अवधि में वे 'रङ्गभूमि' लिखने में व्यस्त थे।[११] १७ फरवरी १९२४ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया . **"मैंने इधर पाँच महीने में अपने नाविल 'रङ्गभूमि' के साथ एक ड्रामा लिखा है जिसका नाम है 'कर्बला'।"**[१४] इससे 'रङ्गभूमि' का इससे पूर्व समाप्त होना ध्वनित होता है; पर खुद प्रेमचन्द ने इसकी समाप्ति १२ अगस्त १९२४ को बतायी है। सम्भव है, १७ फरवरी १९२४ को 'रङ्गभूमि' समाप्तप्राय हो और १२ अगस्त १९२४ को उसकी प्रेस-कापी तक तैयार हो गयी हो।

अमृत राय ने 'रङ्गभूमि' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में लिखा है : **"पुस्तक के प्रथम संस्करण पर वसन्त पञ्चमी १९८१ छपा है, लेकिन शिवपूजन सहाय के नाम चिट्ठी से प्रकट है कि पुस्तक शुरू जनवरी १९२५ में ही निकल गयी थी।"**[१५] पर यह निष्कर्ष सही नहीं प्रतीत होता। २ जनवरी १९२५ को प्रेमचन्द ने लखनऊ से शिवपूजन सहाय को सूचित किया था कि "रङ्गभूमि के ४० फार्म छप चुके हैं।"[१६] इसका इतना ही अर्थ है कि २ जनवरी १९२५ तक रङ्गभूमि का आधा से थोड़ा अधिक छप चुका था, पूरा नहीं। फिर २२ फरवरी १९२५ को प्रेमचन्द ने शिवपूजन सहाय को लिखा, **"लीजिए जिस पुस्तक पर आपने कई महीने दिमागरेजी की थी वह आपका अहसान अदा करती हुई आपकी खिदमत में आती है और आपसे विनती करती है कि मुझे दो-चार घण्टों के लिए एकान्त का समय दीजिए और तब आप मेरी निस्बत जो राय क़ायम**

करें वह अपनी मनोहर भाषा में कह दीजिए। मैं रङ्गभूमि पर आपकी आलोचना का बड़ी बेसबरी से इन्तज़ार करूँगा." इस पत्र से रङ्गभूमि का फरवरी १९२५ ई० में ही प्रकाशित होना ध्वनित होता है, जनवरी १९२५ के शुरू में नहीं। वसन्त पञ्चमी १९८१ तिथि एक दम शुद्ध है। अमृत राय का निष्कर्ष शीघ्रता का परिणाम जान पड़ता है।

'रङ्गभूमि' के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी हिन्दी के आलोचकों ने अविवेकपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। डॉ० श्रीकृष्ण लाल 'रङ्गभूमि' का प्रकाशन-काल १९२२ ई० बताते हैं।[९८] रामदीन गुप्त के अनुसार "यह सन् २० तथा सन् ३० के बीच की कृति है।"[९९] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने 'रङ्गभूमि' का प्रकाशन-काल १९२४ ई० बताया है।[१००] हंसराज रहबर के मत से "प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सन् २७-२८ में लिखा था।"[१०१] भारतीय प्रकाशनालय, इलाहाबाद, से प्रकाशित 'रङ्गभूमि' के एक संस्करण में इसका रचना-काल १९२६-२७ ई० मुद्रित है।[१०२] १९६१ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित 'रङ्गभूमि' के वर्तमान (?) संस्करण में इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल १९२७ ई० और इसका रचना-काल १९२५-२७ ई० बताया गया है।[१०३] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन ने 'रङ्गभूमि' का प्रकाशन-काल १९२९ ई० बताया है।[१०४]

'रङ्गभूमि' के प्रकाशित होते ही 'प्रभा', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में इसकी प्रशंसात्मक और विरोधात्मक आलोचनाओं की धूम मच गयी थी। यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-पाठकों के रुचि-निर्देशकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने में यह उपन्यास सफल हुआ था।

गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, से 'रङ्गभूमि' का छठा संस्करण १९४३ ई० (सं० २००० वि०) में,[१०५] ग्यारहवाँ संस्करण १९४६ ई० में,[१०६] तेरहवाँ संस्करण १९५८ ई० में[१०७] तथा चौदहवाँ संस्करण १९६१ ई० (सं० २०१८ वि०) में[१०८] प्रकाशित हुआ। 'रङ्गभूमि' के कुछ संस्करण अन्य प्रकाशन-संस्थाओं से भी प्रकाशित हुए हैं। भारतीय प्रकाशनालय, इलाहाबाद, से इसका एक संस्करण प्रकाशित है, जिसमें प्रकाशन-काल अथवा संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है।[१०९] 'रङ्गभूमि' का सरस्वती प्रेस से १९६१ ई० में प्रकाशित एक 'वर्तमान संस्करण' भी देखने में आया है।[११०] बाद वाले संस्करण प्रेमचन्द के पुत्रों द्वारा सञ्चालित प्रकाशन-संस्थाओं से प्रकाशित हुए हैं। यह नहीं ज्ञात कि उनके कुल कितने संस्करण इन लोगों ने प्रकाशित किये हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि १९६१ तक 'रङ्गभूमि' के कम से कम १६ संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके थे, जो साढ़े पाँच सौ पृष्ठों के डिमाई आकार के मोटे ग्रन्थ के लिए हिन्दी में कम सौभाग्य की बात नहीं है।

कायाकल्प

'रङ्गभूमि' के बाद प्रेमचन्द का 'कायाकल्प' नामक उपन्यास १९२६ ई० में भार्गव बुक डीपो, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'कायाकल्प' के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है, पर जनवरी १९२७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कायाकल्प' के परिचय से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है[१११] डा० गुप्त ने उत्तर-प्रदेश के १९२७

ई० के गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के साक्ष्य पर 'कायाकल्प' की प्रकाशन-तिथि '१-११-२६' तथा प्रकाशक का नाम भार्गव बुक डीपो, काशी, बताया है।[११२] डॉ० गीता लाल ने 'माधुरी' के १९२६ ई० के कई अङ्कों में प्रकाशित 'कायाकल्प' के निम्नलिखित विज्ञापन का उद्धरण अपने पूर्वोक्त निन्बध में दिया है :—

"निकल गयी ! निकल गयी !! प्रेमचन्द जी की दो नवीन रचनाएँ : 'कायाकल्प' और 'प्रेमप्रतिमा'।"[११३]

अमृत राय के अनुसार 'कायाकल्प' की मूल पाण्डुलिपि हिन्दी में है। **"उसको देखने से पता चलता है कि आरम्भ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे—'असाध्य साधना', 'माया-स्वप्न', 'आर्तनाद।' इसका लेखन १० अप्रैल १९२४ को शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अङ्कित है। प्रकाशन १९२६ में हुआ।"**[११४] प्रेमचन्द के एक पत्र में, जो १७ जुलाई १९२६ को दयानरायन निगम को लिखा गया था, 'कायाकल्प' के प्रकाशित होने का उल्लेख है।[११५] इन प्रमाणों से 'कायाकल्प' की प्रकाशन-तिथि १९२६ ई० निर्विवाद है।

'कायाकल्प' के रचना-काल और प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने इसका प्रकाशन-काल १९२४ ई० बतलाया है।[११६] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन भी इसका प्रकाशन-काल १९२४ ई० ही मानते हैं।[११७] डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार 'कायाकल्प' का प्रकाशन-काल १९२८ ई० है।[११८] डॉ० राजेश्वर गुरु इसका प्रकाशन-काल १९२८ ई० मानते हैं।[११९] सरस्वती प्रेस से प्रकाशित 'कायाकल्प' के संस्करणों में इसका रचना-काल १९२९ ई० दिया हुआ है। इन परस्पर-विरोधी सूचनाओं के मूल में अनध्याय और लापरवाही का कितना हाथ है, यह बतलाने की जरूरत नहीं।

सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से 'कायाकल्प' का सातवाँ संस्करण दिसम्बर १९४५ ई० में[१२०] और नवाँ संस्करण १९५३ ई० में[१२१] प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का नवाँ संस्करण अमृत राय द्वारा हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुआ।[१२२] १९६१ ई० में 'कायाकल्प' का एक 'वर्तमान संस्करण' सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुआ है। इससे स्पष्ट है कि 'कायाकल्प' प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तरह लोकप्रिय न हो सका।

निर्मला

प्रेमचन्द का 'निर्मला' नामक उपन्यास सर्वप्रथम 'चाँद' के नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था।[१२३] जनवरी १९२७ के 'चाँद' की निम्नलिखित सम्पादकीय टिप्पणी से इस सूचना की पुष्टि होती है : **"गत वर्ष श्रीयुक्त प्रेमचन्द जी ने 'चाँद' के प्रेमी पाठकों के समक्ष 'निर्मला' नामक उपन्यास उपस्थित कर के, वृद्ध-विवाह के दुष्परिणामों का भयङ्कर दिग्दर्शन कराया था।"**[१२४] नवम्बर १९२६ के 'चाँद' के अङ्क में 'निर्मला' के चौबीसवें, पचीसवें, छब्बीसवें और सत्ताइसवें परिच्छेद प्रकाशित हुए थे।[१२५] 'चाँद' के १९२६ के अन्य अङ्क प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को प्राप्त नहीं हो सके हैं।

'निर्मला' पुस्तक रूप में जनवरी १९२७ ई० में 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुई। इसका प्रथम आ० भा० पु० काशी में उपलब्ध है[१२६] १९२६ ई० में

निर्मला का चाँद में धारावाहिक रूप में और जनवरी १९२७ ई० में पुस्तक रूप में प्रकाशित होना इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द इस समय तक हिन्दी पाठकों में काफी लोकप्रिय हो चुके थे। 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद, की 'निर्मला' सम्बन्धी एक विज्ञप्ति की निम्नलिखित पंक्ति से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है : " **'चाँद' के अनेक मर्मज्ञ पाठकों के निरन्तर अनुरोध से यह पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता है।**"[127]

'निर्मला' के रचना-काल और प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया है। हंसराज रहबर के अनुसार "**यह उपन्यास सन् २२-२३ में लिखा गया था।**"[128] डॉ० राजेश्वर गुरु इसका काल (प्रकाशन-काल अथवा रचना-काल का स्पष्टीकरण शोधकर्ता ने नहीं किया है) १९२३ ई० मानते हैं।[129] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "**सन् १९२८ में 'निर्मला' तथा सन् १९२९ में 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन हुआ।**"[130] डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार इसका प्रकाशन-काल १९२३ ई० है।[131] यह कहना अनावश्यक है कि ये सभी सूचनाएँ भ्रान्त हैं।

अमृत राय के अनुसार 'निर्मला' को **चाँद के द्वारा महिलाओं में इतनी ज़बर्दस्त लोकप्रियता मिल चुकी थी कि छपने के साल भर के अन्दर उसका संस्करण समाप्त हो गया।**[132] सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से 'निर्मला' का छठा संस्करण १९४४ ई० में,[133] आठवाँ संस्करण नवम्बर १९५० ई० में[134] तथा ग्यारहवाँ संस्करण १९५५ ई० में[135] प्रकाशित हुआ। हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, इलाहाबाद, से 'निर्मला' का नवाँ संस्करण १९५२ में[136] तथा हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से इसका दसवाँ संस्करण जनवरी १९६१ ई० में[137] और ११ वाँ संस्करण सितम्बर १९६१ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण की पाँच हजार प्रतियां छपी हैं।[138] 'निर्मला' का सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, से प्रकाशित एक और संस्करण भी प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुआ है, जिसमें न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है न संस्करण-संख्या। इस संस्करण के भूमिका तथा परिचय-लेखक विद्यानिवास मिश्र, मुद्रक बालकृष्ण शास्त्री, ज्योतिष-प्रकाश प्रेस, वाराणसी, हैं तथा पृ०-सं० २०७ है। पुस्तक अखबारी कागज पर छपी है।[139] इसमें 'निर्मला' के अब तक कितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, इसका पता तो नहीं चलता, पर १९६१ के पूर्व इसके कम से कम १३ संस्करण अवश्य प्रकाशित हुए थे, यह स्पष्ट है। 'निर्मला' की लोकप्रियता का यह असन्दिग्ध प्रमाण है।

प्रतिज्ञा

प्रेमचन्द का 'प्रतिज्ञा' नामक उपन्यास सर्वप्रथम 'चाँद' मासिक पत्र के जनवरी १९२७ से नवम्बर १९२७ तक के अङ्कों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ।[140] पुस्तक-रूप में यह उपन्यास सर्वप्रथम १९२९ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को पाने में असमर्थ रहा है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उत्तर-प्रदेश के १९२९ ई० के गजट में प्रकाशित तृतीय त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर इसकी प्रकाशन तिथि '४-६-२९' और प्रकाशक का नाम सरस्वती प्रेस, वाराणसी, बताया है[141] डा० गुप्त द्वारा प्रदत्त सूचना की इस तथ्य से सिद्ध होती

है कि २२ जून १९२९ के 'मतवाला' में 'चाकलेट विधाता'-लिखित 'प्रतिज्ञा की परख' शीर्षक एक लम्बा लेख, जिसमें 'प्रतिज्ञा' की कटु आलोचना प्रस्तुत की गयी थी, प्रकाशित हुआ था।[142]

'प्रतिज्ञा' के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यह १९०७ ई० में प्रकाशित 'प्रेमा' का ही संशोधित रूप है। प्रधान कथा और पात्र पुराने ही हैं, केवल घटनाओं तथा कुछ अन्य विवरणों में परिवर्तन कर दिया गया है। यही उपन्यास बाद में उर्दू में 'बेवा' नाम से भी प्रकाशित हुआ।[143]

'प्रतिज्ञा' का दसवाँ संस्करण १९५० ई० में अमृत राय द्वारा हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।[144] इसका एक 'नवीन संस्करण' हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से जुलाई १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण पाँच हज़ार का है।[145]

गबन

प्रेमचन्द का 'गबन' नामक उपन्यास मार्च १९३१ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण आ० भा० पु०, काशी, में उपलब्ध है।[146] प्रेमचन्द द्वारा १७ दिसम्बर १९३० को जैनेन्द्रकुमार के नाम लिखित पत्र से ज्ञात होता है कि १७ दिसम्बर १९३० तक 'गबन' के तीन सौ पृष्ठ छप चुके थे और एक सौ पृष्ठ छपने को बाकी थे। इससे 'गबन' का रचना-काल १९२८–३० के बीच में अनुमित होता है।[147] प्रेमचन्द के आलोचकों ने इस उपन्यास की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भ्रामक सूचनाएं प्रायः नहीं दी हैं; अपवादस्वरूप डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने इसका काल (पता नहीं, कौन-सा काल) १९३० ई० दिया है।[148] डा० राजेश्वर गुरु ने इसकी प्रकाशन-तिथि नहीं दी है।[149] डॉ० गीता लाल ने भी अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है।[150]

रामदीन गुप्त ने डॉ० रामरतन भटनागर आदि कतिपय आलोचकों के साक्ष्य पर बताया है कि **"प्रेमचन्द का 'गबन' सन् १९०४ के आसपास इण्डियन प्रेस से प्रकाशित उनके 'कृष्णा' नामक उर्दू-उपन्यास का ही परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण है।"**[151] प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक किसी प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में कोई मत व्यक्त करने में असमर्थ है। हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, इलाहाबाद, से 'गबन' का तीसरा संस्करण १९५० ई० में प्रकाशित हुआ।[152] यहीं से प्रकाशित 'गबन' का एक और संस्करण मुझे देखने को मिला है,[153] पर उसमें न तो संस्करण संख्या दी हुई है, न प्रकाशन-काल। इसका मुद्रक अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद, तथा पृ०-सं० ३३३ है।

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से भी प्रकाशित 'गबन' का एक संस्करण मुझे प्राप्त हुआ है, जिसमें न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है, न संस्करण-संख्या।[154] यह अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद, से मुद्रित है तथा इसकी पृ० सं० ४१७ है। हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से जून १९६१ में प्रकाशित एक संस्करण इधर हाल में मेरे देखने में आया है, जिसे अठाइसवाँ संस्करण (दस हज़ार प्रतियों का) बताया गया है।[155] यदि यह मुद्रण की भूल नहीं है तो 'गबन' की लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है। 'गबन' का एक संक्षिप्त संस्करण भी हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से छपा है, जिसका नवाँ

अगस्त १९६१ म बीस हज़ार प्रतियों का) प्रकाशित हुआ है[156]

कर्मभूमि

सन् १९३२ ई० में प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास सरस्वती प्रेस, बनारस, से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'कर्मभूमि' के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। पर इसके सातवें संस्करण के निवेदन के अन्त में **'सितम्बर १९३२'** मुद्रित है जिससे इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल का अनुमान होता है। प्रेमचन्द के पत्रों से इस अनुमान की पुष्टि होती है। १५ अगस्त १९३२ को उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा था : **"कर्मभूमि बीस फ़ार्म छप चुके हैं। अभी करीब छः फ़ार्म बाकी हैं।"**[१५७] पुन. ७ दिसम्बर १९३२ को उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा : **"कर्मभूमि तुम्हें बहुत बुरी नहीं लगी, इससे खुशी हुई।"**[१५८] इससे सिद्ध है कि 'कर्मभूमि' दिसम्बर १९३२ के एक-दो महीने पूर्व अवश्य प्रकाशित हो चुकी होगी। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रदत्त सूचना से भी उक्त तिथि की पुष्टि होती है। उन्होंने १९३३ ई० के उत्तर-प्रदेशीय गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'कर्मभूमि' की प्रकाशन-तिथि **'१८-१२-३२'** बतायी है।[१५९]

प्रेमचन्द के २८ फरवरी १९२९ के एक पत्र से, जो दयानरायन निगम को लिखा गया था, ज्ञात होता है कि इस समय तक 'कर्मभूमि' का लिखना आरम्भ हो गया था। उन्होंने लिखा था: **"दूसरी किताबों के मुताल्लिक़ में यही कहूँगा कि आप खुद ही कर लें।...अगर इसे करता हूँ तो मेरा पर्दए-मजाज रह जाता है। सुबह को करता हूँ तो 'कर्मभूमि' में हर्ज होता है।"**[१६०] पर अमृत राय के अनुसार **"पाण्डुलिपि के उपलब्ध अंश के आधार पर इसका लेखन १६ अप्रैल १९३१ को आरम्भ हुआ।"**[१६१] पर यह सूचना सन्दिग्ध जान पड़ती है।

'कर्मभूमि' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में सौभाग्यवश हिन्दी के आलोचकों और शोध-कर्ताओं द्वारा मनमानी नहीं बरती गयी है।

'कर्मभूमि' का छठा संस्करण १९४६ ई० में और सातवाँ संस्करण १९४८ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ। 'कर्मभूमि' के दो और विभिन्न संस्करण मेरे देखने में आये हैं, जिनमें से किसी में भी प्रकाशन-काल या संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है। इनमें से एक हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, इलाहाबाद, से प्रकाशित और अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद, से मुद्रित है।[१६२] दूसरा संस्करण हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से प्रकाशित तथा सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद, से मुद्रित है। इसकी पृ०-सं० ४११ और मूल्य छह रुपये है।[१६३] हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से 'कर्मभूमि' का नवाँ संस्करण मार्च १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ।[१६४] हंस प्रकाशन से जनवरी १९६२ में प्रकाशित 'कर्मभूमि' का एक और संस्करण मेरे देखने में आया है, जिसे चतुर्थ संस्करण (४००० का) बताया गया है।[१६५] पर यह सूचना बिल्कुल हास्यास्पद है। एक ही प्रकाशक द्वारा किसी पुस्तक का नवाँ संस्करण मार्च १९६१ ई० में निकले और उसका चौथा संस्करण जनवरी १९६२ में, यह विनोद नहीं तो और क्या है?

इस प्रकार यह बताना नितान्त कठिन है कि 'कर्मभूमि' के अब तक कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी उपर्युक्त सूचनाओं से इसकी लोकप्रियता तो सिद्ध है ही।

गोदान

प्रेमचन्द का अन्तिम (पूर्ण) उपन्यास 'गोदान' सन् १९३६ ई० में हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, और सरस्वती प्रेस, वाराणसी, में प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण पटना कॉलेज पुस्तकालय में उपलब्ध है।[१६६] इसके प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में भी हिन्दी के आलोचना-ग्रन्थों में कोई भ्रम नहीं है।

प्रेमचन्द के पत्रों से ज्ञात होता है कि फरवरी १९३२ में 'गोदान' का लेखन आरम्भ हो गया था। अपने २५ फरवरी १९३२ के पत्र में प्रेमचन्द ने दयानरायन निगम को सूचित किया था **"इधर गबन का तर्जुमा भी शुरू कर दिया है, एक नया नाविल भी शुरू कर दिया है। मगर सर्द-बाजारी बलाये-जान हो रही है।"**[१६७] फिर २८ नवम्बर १९३४ को इन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा: **"उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं, उधर मन ही नहीं जाता।"**[१६८] १० जून १९३६ को उन्होंने फिर जैनेन्द्र को लिखा: **"गोदान' निकल गया। कल तुम्हारे पास जाएगा। खूब मोटा हो गया है, ६०० से (ऊपर) गया। अपना विचार लिखना।"**[१६९]

सन् १९६० तक 'गोदान' के कम से कम १६ संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके थे। सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, के कर्मचारियों से पूछताछ करने से ज्ञात हुआ कि नवें संस्करण तक प्रायः प्रत्येक संस्करण की दो-दो हज़ार प्रतियाँ छपती थी। पर दसवें संस्करण से तीन-तीन हज़ार प्रतियाँ मुद्रित होने लगी। इस हिसाब से १९६० ई० तक 'गोदान' की कम से कम ३९ हज़ार प्रतियाँ अवश्य मुद्रित हो चुकी हैं। पर यह संख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। १७ अप्रैल १९५९ को महबूब स्टूडियो, बान्दरा, में 'गोदान' के 'मुहूरत' के अवसर पर आयोजित एक समारोह के सम्मानित अतिथि, रूस के बम्बई-स्थित उपवाणिज्यदूत आइगोर काम्पेन्सेव ने बताया कि रूस में प्रेमचन्द जी अत्यधिक लोकप्रिय हैं। उनके 'गोदान' पुस्तक की नब्बे हजार प्रतियाँ वहाँ हाथों-हाथ बिक गयीं।[१७०] इसे देखते हुए भारत में, २४ वर्षों में, गोदान की केवल ३९ हज़ार प्रतियों का बिकना हिन्दी-पाठकों की पठन-क्षमता पर एक कटुव्यंग्य है।

प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास, जिसे वे पूरा नहीं कर सके, 'मङ्गल-सूत्र' है। अमृत राय के अनुसार यह सर्वप्रथम १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ, पर उसमें प्रकाशन-काल नहीं दिया है।[१७१]

सन्दर्भ-सङ्केत :—

१. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ, साहित्य, जनवरी १९६०।

२. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; १९५२), पृ० २१०-२१६।

३. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन (मध्यप्रदेशीय प्रकाशक समिति, भोपाल; १९५८)।

४. रामदीन गुप्त, प्रेमचन्द और गान्धीवाद (हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली; मार्च १९६१)।

५ ब्रजरत्न दास हिंदी उपन्यास साहित्य (हिन्दी साहित्य कुटीर वाराणस २०१३ वि०)।

६. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्र साहित्य, जनवरी १९६० ई०।

७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही (हंस प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण; प्रेमचन्द-स्मृति-दिवस, १९६२)।

८. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ५२ तथा ६५३।

९. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२९। १०. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ६१।

११. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२९।

१२. वही, जीवनी खण्ड, पृ० १०५। १३. वही, पृ० १०४।

१४. वही, जीवनी खण्ड, पृ० १०५। १५. वही, पृ० ५२ तथा ६५३।

१६. वही, पृ० १०५। १७. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ६५४ तथ

१८. 'प्रेमा' के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह। शिक्षाप्रद और नूतन उपन्यास। लेखक : बाबू नवाब राय बनारसी। प्रकाशक : इण्डिय इलाहाबाद, प्रथम बार, १००० कापी। सन् १९०७ ई०। मूल्य ।।=) (गुटका पृ० सं० २३६।)"

१९. हिन्दी प्रदीप, जिल्द २७, सं० ७, जुलाई १९०७, प्रेमा।

२०. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २१६।

२१. ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १८५।

२२. वही, पृ० १८६।

२३. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गान्धीवाद, पृ० १८५।

२४. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० ३५।

२५. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, परिशिष्ट १।

२६. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६१।

२७. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १८२।

२८. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, विविध प्रसङ्ग ३, पृ० ७१।

२९. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—सेवा-सदन; लेखक—"सप्त सरोज, न शेख सादी आदि के रचयिता श्रीयुक्त प्रेमचन्द; प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता; प्रथम बार, संवत् १९७५; २॥); पृष्ठ संख्या लगभग।"

३०. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० ८०।

३१. ब्रजरत्न दास : हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, पृ० १८५।

३२. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना (राजकमल प्रकाशन, (प्रकाशन-काल नहीं दिया हुआ है) पृ० ४४।

३३. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १४०।७।

३४. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१२।

३५. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी-उपन्यास में शिल्पविधि का विकास, पृ० २८१।

३६. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ, साहित्य, जनवरी १९६०।

३७. साहित्य, वर्ष ११, अङ्क १, अप्रैल १९६० ई०।

३८. अमृत राय, प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी खण्ड, पृ० १९३ तथा ६५४।

३९. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८३।

४०. सरस्वती, भाग २०, सं० २, फरवरी १९१९ ई०

४१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल १९६०।

४२. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ७०।

४३. वही, पृ० ७४।

४४. २४ जनवरी १९१७ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा था—"...मैं आज कल एक क़िस्सा लिखते-लिखते नाविल लिख चला। कोई सौ सफ़े तक पहुँच चुका है। इसी वजह-से छोटा क़िस्सा न लिख सका। अब इस नाविल में ऐसा जी लग गया है कि दूसरा काम करने को जी ही नहीं चाहता।...क़िस्सा दिलचस्प है और मुझे ऐसा ख़याल होता है कि अब की बार नाविल-नवीसी में भी कामयाब हो सकूँगा।"—प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ५७। ४ मार्च को प्रेमचन्द ने इलाहाबाद से निगम साहब को सूचित किया—"...आज-कल अपना नाविल लिखने में मसरूफ़ हूँ।" फिर १२ मार्च को उन्होंने लिखा—"...नाविल ग़ालिबन एक माह में पूरा होगा और उम्मीद करता हूँ कि मई में उसे आपके मुआइने के लिए हाज़िर कर सकूँगा।" २३ मार्च को उन्होंने पुनः लिखा—"...मेरा नाविल चल रहा है। अब ज़रा इत्मीनान हो जाए तो ख़तम करूँ। तूल हो रहा है। चाहता हूँ कि जल्द अन्जाम की तरफ़ चलूँ।" अन्ततः ८ अगस्त को उन्होंने निगम साहब को लिखा—"...अपना नाविल ख़तम कर रहा हूँ। उसे पहले हिन्दी में तबा कराने का क़स्द है। उर्दू में तो पब्लिशर अनक़ा है।" (पत्रों के उद्धरण 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही', चिट्ठी-पत्री १ से दिये गये हैं।)

४५. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४।

४६. द्रष्टव्य, टिप्पणी संख्या १।

४७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी खण्ड, पृ० १८०।

४८. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ७०।

४९. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० १९४।

५०. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२५।

५१. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० १९४।

५२. आ० भा० पु० की पुस्तक-सूची।

५३. वही।

५४. प्राप्ति-स्थान—प० का० पु०, पटना।

५५. सि० पु०, पटना, की पुस्तक-सूची।

५६. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

५७. प्रा०-स्था०—सिन्हा पुस्तक भवन, पटना

५८. प्रा०-स्था०—प० का० पु० पटना।

५९. प्रा०-स्था०—मेरा निजी पुस्तकालय।

६०. सरस्वती, वर्ष २२, अङ्क ४, अप्रैल १९२१, पुस्तक-परिचय।

६१. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४

६२. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २१२।

६३. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गान्धीवाद, पृ० १४२।

६४. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १३५।

६५. कोष्ठक के शब्द प्रस्तुत लेखक के हैं।

६६. ब्रजरत्नदास : हिन्दी-उपन्यास, पृ० १८६।

६७. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विका

६८. प्रा०-स्था०—ज० पु०, चुन्नी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—वरदान
प); लेखक—प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, बनारस; प्रथम संस्करण १००
; द्वितीय संस्करण १०००, दिसम्बर १९४५।

६९. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।

७०. प्रा०-स्था०—प० वि० पु० पटना।

७१. प्रा०-स्था०—राजकमल प्रकाशन, पटना।

७२. सरस्वती, वर्ष २३, अङ्क ६, जून १९२२, पुस्तक-परीक्षा।

७३. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२१

७४. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ,
१९६०।

७५. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४।

७६. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८६।

७७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ९५।

७८. वही, पृ० १०९। ७९. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ०

८०. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २२५।

८१. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १५५।

८२. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१
तापनारायण टण्डन : हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८२।

८३. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४।

८४. वही, पृष्ठ २२८। ८५. वही, चिट्ठी-पत्री २,

८६. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२८

८७. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"रङ्गभूमि (द्वितीय भाग); लेखक—प्रेमचन
पुस्तकमाला कार्यालय, २९-३० अमीनाबाद पार्क, लखनऊ; प्रथमावृत्ति,

८८. रङ्गभूमि, ग्यारहवीं बार, १९४६ प्रा०-स्था० रा० मा० प० पु०,

८९. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ३७९ पर उद्धृत।

९० वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १५५-५६।

९१. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५।

९२. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२९। ९३. वही, पृ० १२९-३९।

९४. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १४१। ९५. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५.

९६. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० २२१। ९७. वही।

९८. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१२।

९९. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गान्धीवाद, पृ० १८७।

१००. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३।

१०१. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २३७।

१०२. इस संस्करण में न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है न संस्करण-संख्या। पुस्त
षा परिषद् पुस्तकालय, पटना, में उपलब्ध है।

१०३. रङ्गभूमि, सरस्वती प्रेस, वर्तमान संस्करण १९६१ ई०; प्रा०-स्था०—
से०, ३ पटना।

१०४. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८

१०५. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु० काशी।

१०६. प्रा०-स्था०—रा० भा० प० पु०, पटना।

१०७. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

१०८. प्रा०-स्था०—बि० बु० से०, पटना।

१०९. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।

११०. प्रा०-स्था०—बि० बु० से०, पटना।

१११. सरस्वती, भाग २८, संख्या १, जनवरी १९२७, पुस्तक-परिचय।

११२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित
१९६० ई०।

११३. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों
ली, साहित्य, जनवरी १९६० ई०, पृ० ४३।

११४. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५।

११५. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६२।

११६. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१२।

११७. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८

११८. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३।

११९. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १९४।

१२०. प्रा०-स्था०—ज० पु० चुन्नी। १२१. प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काश

१२२. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।

१२३ अमृत राय प्रेमचन्द कलम का सिपाही पृ० ६५५

१२४ चाँद वर्ष ५, खण्ड १ सं० ३ जनवरी १९२७।

१२५. प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु०, पटना।

१२६. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"निर्मला; क्रान्तिकारी सामाजिक उपन्यास; सेवा-सदन, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, प्रेम-पचीसी, प्रेम-प्रतिमा, कायाकल्प आदि-आदि अनेक सुप्रसिद्ध पुस्तकों के रचयिता, माधुरी के सम्पादक, श्री प्रेमचन्द जी; प्र०—चाँद कार्यालय, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण २०००; जनवरी १९२७।"

१२७. मेहरुन्निसा, हरिसाधन मुखोपाध्याय, (प्र०-का० १९२७), के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित निर्मला का विज्ञापन।

१२८. हंसराज रहबर, प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २२३।

१२९. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १६७।

१३०. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८५।

१३१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३।

१३२. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ३९०।

१३३. आ० भा० पु०, काशी, की पुस्तक-सूची।

१३४. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।

१३५. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

१३६. आ० भा० पु०, काशी, की पुस्तक-सूची।

१३७. प्रा०-स्था०—मेरा निजी पुस्तकालय।

१३८. प्रा०-स्था०—दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।

१३९. प्रा०-स्था०—रा० प्र० मं०, पटना।

१४०. चाँद, जनवरी १९२७ (परिच्छेद १-२), फरवरी १९२७ (परि० ३-४), मार्च २७ (परि० ५-६), अप्रैल २७ (परि० ७-८), जुलाई २७ (परि० १०), अगस्त २७ (परि० ११), सितम्बर २७ (परि० १२), नवम्बर २७ (परि० १४-१५)। डॉ० गीता लाल के अनुसार 'प्रतिज्ञा' उपन्यास चाँद के २७-२८ के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। १९२८ के जनवरी से जून तक के अङ्क में मैं देख चुका हूँ। उनमें 'प्रतिज्ञा' के परिच्छेद नहीं छपे हैं। शेष अङ्क प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को उपलब्ध नहीं हो सके हैं। श्री अमृत राय के अनुसार 'प्रतिज्ञा' चाँद के जनवरी १९२७ से नवम्बर १९२७ तक के ही अङ्कों में छपा था। (प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५)। अतः डॉ० गीता लाल की सूचना गलत प्रतीत होती है।

१४१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त, प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल १९६०।

१४२. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

१४३. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गान्धीवाद, पृ० १४५।

१४४. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

१४५ प्रा०-स्था० पटना।

१४६. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"गबन; लेखक—भारत-विख्यात उपन्यास-सम्राट्
चन्द जी; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी; प्रथम संस्करण; मार्च १९३१;
; पृ०—संख्या ४३९।"

१४७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १३।

१४८. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३।

१४९. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन।

१५०. डॉ० गीतालाल : प्रेमचन्द की जीवनी तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों के
याँ, साहित्य, जनवरी, १९६०।

१५१. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गान्धीवाद, पृ० २२७।

१५२. प्रा०-स्था०—ज० पु० चुन्नी। १५३. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी

१५४. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।

१५५. प्रा०-स्था०—दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।

१५६. वही।

१५७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० २६।

१५८. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० २७।

१५९. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य,
१९६०।

१६०. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १७१।'

१६१. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५। १६२. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी।

१६३. प्रा०-स्था०—हिन्दी विभागीय पुस्तकालय, पटना विश्वविद्यालय।

१६४. प्रा०-स्था०—मानस पुस्तक-विक्रेता, पटना।

१६५. प्रा०-स्था०—हि० पु० ए०, पटना।

१६६. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"गोदान; लेखक—प्रेमचन्द; सरस्वती प्रेस,
।"

१६७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १९२।

१६८. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० ३८। १६९. वही, पृ० ६४।

१७०. अनजान, गोदान के मुहूरत की एक झलक, 'आज' १० मई १०५९ ई०।

१७१. प्रा०-स्था०—आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"मङ्गल-सूत्र;
—प्रेमचन्द; प्रकाशक—हिन्दुस्तानी पब्लिशिङ्ग हाउस, बनारस; प्रथम संस्करण २०००।"

सूरदास का निधन-काल

•

सूरदास के निधन-काल के निर्णय-सम्बन्धी

अत्यन्त विवादग्रस्त

एवं अन्धकाराच्छन्न प्रश्न पर

सुनिश्चित निष्कर्षापण का प्रामाणिक प्रयत्न

•

हरिप्रसाद नायक

सूरदास जैसे सन्त और भागवत कवि के स्थिति-काल के बारे में विद्वानों में अद्यावधि एक मत का सर्वथा अभाव बना है। सूरदास के निश्चित काल-निर्णय के लिए विद्वानों ने निरन्तर प्रयत्न किये हैं, परन्तु मतों की विभिन्नता ज्यों की त्यों बनी है। अनुसन्धानों की जो परिपाटी चली, उससे सूरदास का जन्म-काल ही अनुमान के अन्धकार से प्रकाश में आया, परन्तु निधन-काल सन्दिग्धावस्था में ही बना रहा। सूरदास की निश्चित जन्म-तिथि को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० दीनदयालु गुप्त, द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल प्रभृति विद्वानों को है। अब यह निर्विवाद सत्य है कि सूरदास जी आचार्य महाप्रभु स्वामी वल्लभाचार्य जी से उम्र में दस दिन के छोटे थे। 'प्राचीन-वार्ता-साहित्य' में 'निज वार्ता' का उल्लेख है, जो गुसाईं गोकुलनाथ जी द्वारा रचित है। इसमें सूरदास जी के जन्म के बारे में उल्लेख इस प्रकार है: **"सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभुन को प्राकट्य भयो है, तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्य जी सों ये दस दिन छोटे हुते।"** 'भाव-संग्रह' से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। यह संग्रह श्री द्वारिकेश जी का किया हुआ है जिसका रचना-काल संवत् १७३१ से १८०० वि० तक का माना गया है। सूर-सम्बन्धी उल्लेख इसमें इस प्रकार है: **"सो सूरदास जी आचार्य जी महाप्रभुन ते दस दिन छोटे हुते।"**

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-काल वैशाख मास, कृष्ण-पक्ष १० उपरान्त ११, दिन रविवार संवत १५३५ विक्रमी निश्चित है परन्तु कल्याणभट्ट जी ने ग्रन्थ में

संवत् १५२९ वि० में महाप्रभु जी का आविर्भाव माना है। बड़ौदा के ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर और पुष्टिमार्गीय साहित्य के अद्वितीय विद्वान् प्रोफ़ेसर गोविन्दलाल भट्ट महाप्रभु जी का जन्म-संवत् १५३० वि० मानते हैं। प्रोफ़ेसर साहब को सम्प्रदाय में प्रचलित महाप्रभु जी की जन्म-तिथि अमान्य है। परन्तु इस विषय पर सम्प्रदाय में बहुत वाद-विवाद के बाद अन्तिम रूप से संवत् १५३५ ही आचार्य महाप्रभु जी की प्रामाणिक जन्म-तिथि मानी गयी है। इस आधार पर सूरदास जी का जन्म-काल वैशाख शुक्ल ५, संवत् १५३५ विक्रमी होता है।

सबसे अधिक विवादपूर्ण सूरदास जी का निधन-काल है। सूरदास के निधन-काल संवत् १६२० को सर्वप्रथम बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मान्यता दी थी और यह निधन-काल डॉ० ग्रियर्सन के कारण बहुत दिनों तक साहित्य-क्षेत्र में स्वीकार किया जाता रहा है। मिश्रबन्धुओं ने भी सूरदास की ८० वर्ष की अवस्था में सं० १६२० वि० में मृत्यु मानी है। अवस्था का अनुमान रचना-बाहुल्य से हुआ है। बाबू राधाकृष्ण दास ने भी इस निधन-संवत् को प्रामाणिक माना है। रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० 'रसाल' के भी यही मत हैं। लाला भगवानदीन 'दीन' ने भी १६२० को ही सूरदास का निधन-संवत् माना है। परन्तु नलिनीमोहन सान्याल ने सं० १६१७ के निकटवर्ती किसी समय में सूरदास का दिवङ्गत होना लिखा है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने अनुमान किया है कि संवत् १६३७ के लगभग सूरदास जी का निश्चित रूप से गोलोकवास हो गया था। डॉ० दीनदयालु गुप्त के मतानुसार '**सूरदास जी की मृत्यु लगभग सं० १६३८ अथवा १६३९ वि० में हुई।**' स्वय सूरदास जी के एक 'राजभोग' सम्बन्धित पद के आधार पर सूर-निर्णयकारों ने (द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल) सूरदास की उपस्थिति सं० १६४० तक सिद्ध किया है। प्रो० भट्ट (बड़ौदा वाले) के मत की पुष्टि करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूरदास को विक्रम संवत् १६४० तक जीवित माना है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार सूरदास की मृत्यु सं० १६४० और १६४२ के बीच किसी समय में होनी चाहिए। सूरदास के नाम अबुल-फज़ल के पत्र को प्रामाणिक मान कर डॉ० रामकुमार वर्मा ने सूरदास की मृत्यु सं० १६४२ के श्रावण और फाल्गुन के बीच मानी है। 'रूपकला' जी ने न जाने किस आधार पर सूरदास जी का स्थिति-काल सं० १६१७ से सं० १६९० तक का माना है। उन्होंने 'भक्ति-सुधा-स्वाद-तिलक' की पृष्ठ-संख्या ५६४ की पाद-टिप्पणी में लिखा है कि "**श्री सूर जी ने अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तीनों के समय देखे थे। आपका समय प्रायः संवत् १६१७ से १६९० तक के लगभग कहा जाता है।**" इस प्रकार सूरदास की निधन-तिथि संवत् १६२० से १६९० विक्रमी तक की लम्बी अवधि में पड़ती है।

किसी के स्थिति-काल की प्रामाणिकता के लिए अन्तःसाक्ष्यों का ही आधार अपेक्षित है, परन्तु इनके अभाव में बाह्य साक्ष्यों का सहारा लेना अनिवार्य है। सूरदास के निधन-काल पर अन्तःसाक्ष्य द्वारा धुँधला प्रकाश ही पड़ता है। अन्तःसाक्ष्यों के रूप में उपस्थित किये जाने वाले पदों में केवल दो ही पद ऐसे हैं जिनमें काल-प्रमाण का उल्लेख है। उन दोनों पदों से सूरदास के स्थिति-काल का अनुमान तो होता है परन्तु निधन-काल पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। 'सूर-सारावली' की "**गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन**" वाले पद से सिर्फ़ इतना ही पता चलता है कि सारावली के रचना-काल के समय सूरदास की अवस्था सरसठ बरस की थी।

सूर सारावली को डा० दीनदयालु गुप्त ने प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। परन्तु डा० प्रेमनारायण टण्डन ने विस्तृत प्रमाणों के द्वारा इसे सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। ऐसी परिस्थिति में उपर्युक्त पद पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके अलावे इस पद से किसी तरह का प्रकाश भी तो हमारे आलोच्य विषय पर नहीं पड़ता है। इस पद से न स्थिति-काल का ही अनुमान होता है, न निधन-काल का ही। इसी प्रकार 'साहित्य-लहरी' के **"मुनि पुनि रसन के रस लेख"** वाले पद से भी सूरदास के निधन-काल के लिए विशेष सहायता नहीं मिलती है। 'रसन' की क्या संख्या होगी, इसके लिए विद्वानों में मतैक्य नहीं है—कोई 'शून्य', कोई 'एक' और कोई 'दो' मानते हैं और इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल संवत् १६०७, १६१७ अथवा १६२७ अनुमानित होता है। अधिक से अधिक संवत् १६२७ वि० तक सूरदास की स्थिति का अन्दाज़ा हम लगा सकते हैं। इसलिए इस पद से भी किसी सर्वमान्य काल-प्रमाण की सिद्धि नहीं होती है। ऐसी हालत में सूरदास के निश्चित निधन-काल के लिए वाह्य साक्ष्यों की ओर ध्यान देना ही ठीक होगा। वाह्य साक्ष्यों के रूप में अधिगत सामग्री में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य तथा वार्ता-साहित्य है जिसमें सूरदास का उल्लेख हुआ है।

सूरदास का प्रथम परिचय 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मिलता है। परन्तु इस वार्ता में सूरदास का पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त का ही परिचय उपलब्ध होता है। गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सम्मुख सूरदास का गोलोक-गमन हुआ था, इतना ही इस वार्ता से पता चलता है। उनकी निधन-तिथि का इसमें उल्लेख नहीं है। 'वार्ता' में तिथि-संवत् का एकान्त अभाव है परन्तु 'वार्ता' के ऐतिहासिक तथ्य की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है। 'वार्ता' का रचना-काल संवत् १६४२ के बाद और १६४५ के पूर्व का है। इस 'वार्ता' के रचयिता महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य जी के पौत्र और गुसाईं विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र गुसाईं गोकुलनाथ जी माने जाते हैं। परन्तु इसके गुसाईं गोकुलनाथ जी-कृत होने में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने सन्देह प्रकट किया है, क्योंकि इस 'वार्ता' में "कई जगह गोकुलनाथ जी के श्रीमुख से कही हुई बातों का **बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है** और वल्लभाचार्य जी की शिष्या न होने के **कारण मीराबाई को बहुत** बुरा-भला कहा गया है और गालियाँ तक दी गयी हैं। **इससे यह वार्ता गोकुलनाथ जी के** पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।"[1] परन्तु द्वारकादास पुरुषोत्तमदास परीख का विचार इससे सर्वथा भिन्न है। परीख जी ने लिखा है कि **"वार्ता की जितनी भी प्राचीन प्रतियाँ मिली हैं** उनमें 'श्री गोकुलनाथ जी-रचित', 'श्री **हरिराय जी-कृत' इस प्रकार लिखा हुआ है।"** प्रभुदयाल मीतल ने एक प्रकार से परीख जी के विचार का समर्थन करते हुए लिखा है: **"इन वार्ता-पुस्तकों का गोकुलनाथ जी-कृत होने का केवल इतना ही अभिप्राय है कि उनका मूल रूप प्रवचन के रूप में सर्व-प्रथम गोकुलनाथ जी द्वारा कहा हुआ है, किन्तु उनको लिखित रूप हरिराय जी ने दिया था। हरिराय जी ने ही उनके सम्पादन के समय प्रसङ्ग-वश गोकुलनाथ जी के नाम का समावेश कर दिया है।"**[2]

डॉ० हरिहरनाथ टण्डन ने 'वार्ता-साहित्य का बृहत् अध्ययन' प्रस्तुत किया है। डॉक्टर साहब ने भी वार्ता-साहित्य को 'श्री गोकुलनाथ-कृत' माना है और स्पष्ट रूप से लिखा है कि

"वार्ता-साहित्य के श्री गोकुलनाथ जी रचित होने के लिए कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।"[७] टण्डन जी ने रामचन्द्र शुक्ल के आक्षेप का भी तर्क-सम्मत निराकरण किया है:—

"श्रद्धेय आचार्य शुक्ल जी ब्रज की व्यावहारिक भाषा से अपरिचित थे। अन्यथा उनसे ऐसी भूल होने की सम्भावना नहीं थी। ब्रज में 'राँड' शब्द एक सामान्य एवं नित्य की बोलचाल का शब्द है और वहाँ घरों में बहू-बेटियों तक के लिए ताड़ना के काम में आता है।"[८]

वार्ताओं के सम्पादक और प्रचारक श्री हरिराय जी का स्थिति-काल विद्वानों ने संवत् १६४७ से १७७२ विक्रमी तक का माना है। श्री हरिराय जी गुसाईं गोकुलनाथ जी के बड़े भाई, श्री गोविन्दराय जी के पौत्र और श्री कल्याणराय जी के पुत्र थे। वे बराबर श्री गोकुलनाथ जी के साथ रहा करते थे। श्री हरिराय जी सम्प्रदाय में बहुत बड़े लेखक प्रसिद्ध हैं। श्री हरिराय जी ने वार्ताओं का 'भाव-प्रकाश' भी किया है। 'भाव-प्रकाश' में श्री हरिराय जी ने श्री गोकुलनाथ जी द्वारा रचित मूल-वार्ता का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु 'भाव-प्रकाश' को हम वार्ता की टीका नहीं कह सकते। दर असल ये स्वतन्त्र व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। इसका रचना-काल श्री चिमनलाल शास्त्री के कथनानुसार संवत् १७२९ और १७५० के मध्य पड़ता है।

श्री यदुनाथ जी-रचित 'वल्लभ-दिग्विजय' का रचना-काल सं० १६२८ वि० है। उसमें आये एक श्लोक के आधार पर **"यही सिद्ध होता है कि संवत् १६५८ विक्रमी तक चौरासी भक्त और उनकी वार्ताएँ सम्प्रदाय में प्रचलित और प्रतिष्ठित हो चुकी थीं, और श्री गोकुलनाथ जी ही उस समय इनके मुख्य प्रेरक थे।"**[९] गुसाईं गोकुलनाथ जी का जन्म सं० १६०८ और निधन सं० १६९८ में हुआ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास जी की जो वार्ता है, उस पर अविश्वास करने का कोई आधार हमारे पास नहीं है। इतिहास की कसौटी पर वार्ता में आयी हुई घटनाएँ खरी उतरती हैं। प्रायः सभी विद्वानों ने वार्ता की प्रामाणिकता पर विश्वास प्रकट किया है। परन्तु काशी-निवासी राधाकृष्णदास ने लिखा है कि **"सूरदास जी के थोड़े ही दिन पीछे गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी महाराज के पुत्र श्री गोकुलनाथ जी ने जो चौरासी वैष्णवों की वार्ता लिखी उसमें भी सूरदास जी का चरित्र सुना-सुनाया ही लिख दिया।"**[१०] राधाकृष्णदास ने सूरदास का निधन-काल संवत् १६२० माना है, इसलिए वार्ता में आये सूरदास जी के चरित्र को 'सुना-सुनाया' कहा है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि गुसाईं श्री विट्ठलनाथ जी के जीवन-काल ही में सूरदास जी दिवङ्गत हो गये थे जिसकी पुष्टि 'वार्ता' से होती है। गुसाईं जी का परलोक-गमन संवत् १६४२ वि० में हुआ, इसमें प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं। 'अष्टछाप' के संस्थापक गुसाईं जी ही थे। गुसाईं जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना द्वारा अपने जीवन-काल में बहुत बड़ा कार्य किया था। 'अष्टछाप की स्थापना ने धार्मिकता के अनुगान से भारतीयता को मरने से बचाया था।' संवत् १६०२ वि० में गुसाईं जी ने चार महाप्रभु के और चार अपने शिष्यों को ले कर 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। पुष्टि-सम्प्रदाय की शिष्य-मण्डली में श्री वल्लभाचार्य जी, 'आचार्य जी महाप्रभु' और उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी 'गुसाईं' जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास और कृष्णदास अधिकारी—ये चार आचार्य जी महाप्रभु के सेवक और छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और —ये चार गुसाईं जी के सेवक थे ये आठों महाकवि थे।

अष्टछाप के आठो शिष्यो मे सूरदास जी का नाम अग्रगण्य है पहले लिखा गया है कि अष्टछाप के सस्थापक गुसाइ श्री विट्ठलनाथ जी थे, अपने पिता महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के निधन-संवत् १५८७ के बाद ही 'अष्टछाप' की स्थापना की गयी। गुसाईं जी का जन्म-सवत् १५७२ वि० में हुआ। 'अष्टछाप' की स्थापना के समय गुसाईं जी की अवस्था अगर कम से कम बीस वर्ष की भी मानी जाय तो स० १५९२ के पूर्व 'अष्टछाप' की स्थापना का अनुमान करना असङ्गत प्रतीत होता है। प्रभुदयाल मीतल के अनुसार सं० १६०२ वि० में 'अष्टछाप' की स्थापना हुई। सूरदास जी भी 'अष्टछाप' में गुसाईं जी द्वारा शामिल किये गये थे और इसके समर्थन मे प्रचुर सामग्री (बाह्य साक्ष्य) उपलब्ध है। अन्तः साक्ष्य के लिए 'साहित्य-लहरी' का **'थपि गुसाँई करी मेरी आठ मधे छाप'** वाला पद प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु यह पद अप्रामाणिक है जिसके विषय में आगे कहा गया है। 'अष्टछाप' के स्थापना-संवत् १६०२ और गुसाईं विट्ठलनाथ जी के निधन-संवत् १६४२ के बीच किसी समय सूरदास जी का निधन निश्चित रूप से होना चाहिए।

सूरदास के जीवन-वृत्त के लिए जनश्रुति अथवा किंवदन्तियों का सम्बल अग्राह्य नहीं है। एक जनश्रुति है अकबर-सूरदास-मिलन की। इस जनश्रुति की हम सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते। 'वार्ता' से भी इस 'मिलन' की पुष्टि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जी अकबर के समकालीन थे। वार्ताकार ने लिखा है कि **"सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताकी सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भये सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने (अकबर) सुने सो सुनिकें यह बिचारो जो सूरदास जी काहू बिधिसों मिले तो भलो सो भगवदिच्छाते सूरदास जी मिले।"**[७] अकबर बादशाह का शासन-काल सं० १६१३ से १६६२ तक का है। इसलिए विक्रमी संवत् १६१३ के पश्चात् ही सूरदास जी का निधन होना चाहिए।

अकबर का जन्म संवत् १५९९ वि० में हुआ था और वह संवत् १६१३ में १४ वर्ष की आयु मे सिंहासनारूढ़ हुआ था। बाल्यावस्था से ही धार्मिक कविता के प्रति उसे विशेष अनुराग था। सूरसागर के पदों को सुना-समझा सकने योग्य उसकी न्यूनतम अवस्था १६ वर्ष भी मान ली जाय तो संवत् १६१५ के बाद ही सूरदास जी का स्वर्गवास हुआ होगा।

तानसेन द्वारा सूरदास का एक पद गाये जाने पर अकबर ने सूर-दर्शन की इच्छा प्रकट की थी जिसका उल्लेख 'अष्टसखान की वार्ता' में है। संवत् १६२० वि० में तानसेन का प्रवेश अकबरी दरबार में हुआ था। ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं के आधार से अकबर-सूरदास का मिलन स० १६२३ वि० में मथुरा में होना निश्चित होता है। सं० १६२३ मे कुछ दिनों के लिए श्रीनाथ जी को श्री गिरिधर जी मथुरा लाये थे। 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में श्री हरिराय जी ने लिखा है :—

"श्री गोवर्धननाथ जी श्री गिरिधर जी के कन्धापें चढ़िकें वहांसी शिलापें सूं रथमें बिराजे। श्री गिरिधर जी रथकूं हाँकके श्री मथुरा जी अपने घर पधारे तहाँ सतघरा में श्री गुसाई जी के घर पधराये संवत् १६२३ फाल्गुन वदी ७ गुरुवार के दिन पाट बैठाये।" काँकरोली के इतिहासकार ने भी इस घटना का समर्थन किया है—**"सं० १६२३ में विट्ठलेश्वर श्री ने गुजरात की यात्रा के अर्थ मथुरा से पुनः प्रस्थान किया। इधर अब यह प्रदेश-**

परिभ्रमण कर रहे थे सं० १६२३ के अन्त में इनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने श्रीनाथ जी को मथुरा ला कर पधराया, और इसी 'सतघरा' में श्री जी को विराजमान किया। मथुरा में श्रीनाथ जी सं० १६२४ के वैशाख शु० १३ तक विराजे।"[९] उस समय श्रीनाथ जी के साथ सूरदास जी मथुरा गये थे। 'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है कि अकबर को जब सूरदास से मिलने की इच्छा हुई, तब उनकी खोज के लिए गोवर्धन पर एक 'हलकारा' भेजा गया। उससे ज्ञात हुआ कि "सूरदास जी तो मथुरा जी गये हैं। सो तब वे हलकारा श्री मथुरा में आय के सूरदास कों नजरि में राखे, जो या समय यहाँ बैठे हैं। तब उन हलकारान ने दसाधिपति को खबरि करी, जो-अजी साहब! सूरदास जी तो मथुरा जी में हैं।"[१०] उसी समय मथुरा में अकबर की उपस्थिति भी इतिहास से सिद्ध है। इसलिए सं० १६२३ तक सूरदास जी निश्चित रूप से जीवित थे।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने अकबर की धार्मिक प्रवृत्ति पर विचार करते हुए "अकबर-सूर-मिलन सन् १५७४ ई० और सन् १५८२ ई० के बीच का समय माना है। सन् १५७९ ई० में मिलना अधिक सङ्गत जँचता है, क्योंकि अकबर ने उसी साल में धार्मिक आचार्यों की बहसें सुनी थीं और अपने दरबार में भी भिन्न-भिन्न मतों के महात्माओं को बुलाया था।"[११] डाक्टर गुप्त के अनुसार यह मिलन सं० १६३६ में हुआ। डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने भी लिखा है कि "ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार सूर और अकबर की भेंट संवत् १६३१ से पहले सम्भव नहीं और इस मिलन को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।"[१२] सम्प्रदाय-कल्पद्रुम में भी श्रीनाथ जी के मथुरा जाने का संवत् १६२३ दिया है। परन्तु काँकरोली के इतिहासकार श्री कण्ठमणि शास्त्री ने घटना-क्रम के आधार से संवत् १६२३ को ही अधिक सङ्गत माना है।[१३] सूर-निर्णयकारो (परीख और मीतल) के मतानुसार भी अकबर-सूर-मिलन सं० १६२३ वि० में मथुरा में हुआ था। अपने मत के समर्थन मे उपर्युक्त लेखक-द्वय ने काफ़ी प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[१४]

अकबर-सूर-मिलन संवत् १६३६ में हुआ था, इसकी पुष्टि के लिए डॉ० गुप्त ने कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, विसेण्ट स्मिथ, पं० श्रीराम शर्मा आदि के कथनों का आधार माना है। उन अधारों से पता चलता है कि "अकबर के जीवन में एक ऐसा समय आया था, जिसमें उसकी मानसिक प्रवृत्ति धार्मिक सत्य की खोज में लगी थी और वह भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के फ़कीर, साधु-महात्मा तथा आचार्यों से मिलता था।"[१५]

विसेण्ट स्मिथ-कृत 'अकबर, दि ग्रेट मोगल' का जो उद्धरण डॉ० गुप्त ने दिया है, उससे तो यह स्पष्ट होता है कि अकबर के जीवन में व्यक्तिगत रूप से धार्मिक परिवर्तन हुए थे। अकबर की इस मानसिक परिस्थिति को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। प्रारम्भ में बहुत दिनों तक अकबर उत्साही कट्टर सुन्नी मुसलमान था। इसके बाद अकबर की धार्मिक वृत्ति उदार रही। तीसरी अवस्था वह रही जब अकबर ने अपने को ईश्वर का दूत मान कर एक स्वतन्त्र 'दीन इलाही' मत चलाया।[१६] परन्तु अकबर के इस धार्मिक परिवर्तन से हिन्दू-धर्म के प्रति अकबर की अनुदारता का परिचय नहीं मिलता।

विसेंट स्मिथ का हवाला दे कर डॉ० गुप्त ने अकबर-सूर-मिलन को सं० १६३६ वि० में माना है डाक्टर साहब ने अपने अनुमान की पुष्टि के लिए जो तर्क दिये हैं वे स्वस्थ नहीं हैं।

डा० गुप्त ने लिखा है कि "इतिहास से ज्ञात होता है कि अकबर कई स्थानों पर उपद्रवों को शान्त करने, राज्यों को जलने तथा राजकीय प्रबन्ध करने में व्यस्त हो गया। सन् १५८१ का समय उसके लिए बड़ी चिन्ता का था।"[१७] इसलिए डॉ० गुप्त ने सन् १५८१ तदनुसार विक्रम-सवत् १६३८ के पूर्व ही अर्थात् संवत् १६३६ में अकबर-सूर-मिलन का होना प्रामाणिक माना है।

वस्तुतः अकबर का तो सम्पूर्ण जीवन राजनीतिक अशान्ति से परिपूर्ण था। किन्तु संवत् १६१९ वि० अकबर के लिए आध्यात्मिक जागरण का काल था।[१८] 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' के लेखक ने भी इसकी पुष्टि की है।[१९] संवत् १९२० में अकबर ने तीर्थस्थानों के लिए हिन्दुओं पर लगने वाले करों का विरोध किया था।[२०] सं० १६२१ वि० में जजिया-कर को तोड़ कर हिन्दुओं के प्रति विशेष सहानुभूति दिखलायी थी।[२१] एमी वैलेस ने भी लिखा है कि संवत् १६१९ से ही मुगल-सल्तनत में हिन्दू-प्रजा को भी समानाधिकार मिलने लगे।[२२] इनसे दो निष्कर्ष निकलते हैं एक तो अकबर-सूरदास-मिलन संवत् १६३६ के पूर्व भी सम्भव है; और दूसरा यह कि संवत् १६१९ के बाद से ही अकबर हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त होता गया। इसलिए सं० १६२३ में अकबर-सूर-मिलन हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

'वार्ता' में पहले 'अकबर-सूर-मिलन' वाली घटना है, तब सूरदास के गोकुल जाने की वार्ता है। गोकुल-गमन सम्बन्धी वार्ता की रचना सं० १६२८ में हुई थी। इसलिए अकबर और सूरदास का मिलन संवत् १६२८ के पूर्व ही होना चाहिए। संवत् १६३१ और १६३८ वि० में गुसाईं जी गोकुल से ही द्वारिका-यात्रा को गये थे, परन्तु संवत् १६२८ वि० के पूर्व की यात्रा मथुरा से हुई थी। पहले लिखा जा चुका है कि मथुरा से गुसाईं जी यात्रा को गये थे, तब उनकी अनुपस्थिति में श्रीनाथ जी को मथुरा लाया गया था। इसलिए सं० १६२८ के पूर्व ही अर्थात् सं० १६२३ में अकबर-सूर-मिलन होना चाहिए।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि अकबर-नन्ददास-मिलन भी हुआ था और अकबर की उपस्थिति में नन्ददास ने देह-त्याग किया था।[२३] यह घटना सं० १६३२-१६३९ वि० के मध्य की है। उपर्युक्त 'वार्ता' में लिखा है कि, "सो एक दिन नन्ददास के मन में ऐसी आई, जो-जैसे तुलसीदास जी ने 'रामायण' भाषा किये हैं। तैसे हमहू श्रीमद्भागवत भाषा करें।"[२४] अयोध्या की एक अनुश्रुति के अनुसार तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की समाप्ति सं० १६३३ की राम-विवाह-तिथि पर की थी। इसलिए उपर्युक्त घटना सं० १६३३ के बाद की है। गुसाईं विट्ठलनाथ जी पाँचवीं बार सं० १६३१ और छठी बार सं० १६३८ में गोकुल से गुजरात-यात्रा को गये थे। अकबर बादशाह और बीरबल मथुरा जी गये थे और उन दिनों गुसाईं जी भी श्रीनाथ जी के दर्शन हेतु श्री गोवर्धन गये हुए थे। इसलिए सं० १६३३ और १६३७ के मध्य अकबर-नन्ददास-मिलन हुआ होगा।

इतिहास से यह पता चलता है कि संवत् १६३४ और १६३६ में अकबर अजमेर की ओर गया था। अजमेर की अन्तिम यात्रा सं० १६३६ में ही अकबर ने की थी। सम्भवतः संवत् १६३६ में ही यह मिलन (अकबर-नन्ददास) हुआ होगा और इसलिए नन्ददास का निधन संवत् १६३६ ही प्रामाणिक है। डॉ० गुप्त ने नन्ददास का निधन संवत् १६३९ में और श्री मीतल ने सं० १६४० में माना है डॉ० गुप्त ने अपने मत के समर्थन में लिखा है कि **अकबर की धार्मिक जिज्ञासा**

तथा उदार वृत्ति दीन-इलाही मत के चलाने के ठीक पूर्व समय में बहुत प्रबल थी, उसी समय वह हिन्दू देवस्थानों में अधिक जाता था, सन्त और भक्तों से मिलता था तथा उनके प्रवचनों को उत्सुकता के साथ सुनता था। यह समय इतिहासकारों ने सन् १५८२ ई० के पूर्व दो-तीन साल पहले का बताया है।...इसलिए नन्ददास के निधन का संवत् अनुमान से लगभग १६३९ वि० कहा जा सकता है।"[२५] अकबर के सम्मुख नन्ददास की मृत्यु हुई होगी, इसे मीतल जी नहीं मानते हैं। उनके अनुसार नन्ददास की मृत्यु स्वाभाविक रूप से अनुमानतः संवत् १६४० वि० के लगभग हुई होगी।[२६]

डॉ० गुप्त तथा श्री मीतल ने नन्ददास के निधन-काल को निर्धारित करने के लिए 'अनुमान' का ही सहारा लिया है। इसलिए उपर्युक्त दोनों विद्वानों का 'अनुमान' स्थिर नहीं है। दीन-इलाही की उद्घोषणा सन् १५८२ ई० के प्रारम्भ अर्थात् विक्रम-संवत् १६३८ में हुई थी। नन्ददास के निधन के समय गुसाईं जी भी श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ श्री गोवर्धन ऊपर पधारे हुए थे। इसलिए नन्ददास का निधन निश्चित रूप से संवत् १६३८ के पूर्व ही हुआ होगा। इसके अलावे 'वार्ता' से भी पता चलता है कि नन्ददास की मृत्यु के समय श्री विट्ठलनाथ जी को 'गुसाईं' की उपाधि नहीं मिली थी। उन दिनों तक 'दीक्षित' ही कहलाते थे क्योंकि 'वार्ता' में अकबर ने गुसाईं जी को 'दीक्षित' ही कहा है।[२७] जैसा कि आगे प्रमाणित किया गया है, श्री विट्ठलनाथ जी को 'गुसाईं' उपाधि संवत् १६३९ वि० में मिली थी। इसलिए नन्ददास का निधन सं० १६३९ के पूर्व ही सिद्ध होता है। 'गोकुल' का भी उल्लेख उपर्युक्त 'वार्ता' में है, इसलिए सं० १६२८ के पश्चात् ही यह निधन-काल होना चाहिए। इस प्रकार संवत् १६३६ को ही हम नन्ददास का प्रामाणिक निधन-संवत् मान सकते है। डॉ० गुप्त ने जो अनुमान किया है कि सं० १६३६ मे अकबर-सूर-मिलन हुआ होगा, वह अप्रामाणिक है, क्योंकि इस समय अकबर-नन्ददास-मिलन हुआ था। इस मिलन के पूर्व ही अकबर-सूर-मिलन होना चाहिए। डॉ० हरवंशलाल शर्मा का यह अनुमान भी कि अकबर-सूर-मिलन सं० १६३१ के पूर्व सिद्ध नहीं होता, भ्रामक है, क्योंकि स० १६३१ में अकबर ने कुम्भनदास को फतहपुर-सीकरी बुलाया था जिसका उल्लेख अगले पृष्ठों में है। इसलिए सूरदास की स्थिति सं० १६२३ में निश्चित रूप से प्रमाणित होती है।

'वार्ता' से पता चलता है कि सूरदास जी "बीच-बीच में श्री गोकुल श्री नवनीतप्रिया जी के दर्शन कों आवते सो एक समय श्री सूरदास जी श्री गोकुल आये।"[२८] सं० १६२८ में गोकुल ग्राम बसाया गया था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत 'पीताम्बरदास की वार्ता' में लिखा है: "सं० १६२८ फागुन बदि ७ कों श्री गोकुल को वास किये हते।"[२९] कांकरोली के इतिहास से भी इसकी पुष्टि होती है।[३०] इसी साल श्री नवनीत प्रिया जी के मन्दिर का निर्माण भी हुआ था। इससे सं० १६२८ के बाद ही किसी समय सूरदास जी का निधन होना प्रमाणित होता है।

सूरदास की वार्ता से ज्ञात होता है कि 'सूरदास जी मणिकोठा में ठाडे ठाडे कीर्तन करते।'[३१] संवत् १६३० में मणिकोठा का निर्माण हुआ था।[३२] इसलिए सं० १६३० तक सूरदास जी का जीवित रहना प्रमाणित होता है।

सूरदास के निधन-काल निर्णय के पूर्व और कुम्भनदास के निधन-काल पर विचार कर लेना अपेक्षित है क्योंकि सूरदास के देहान्त के समय कुम्भनदास जी भी उपस्थित थे और कुम्भनदास जी परमानन्ददास जी के पूर्व ही दिवङ्गत हो चुके थे। 'वार्ता' से उपर्युक्त घटना की पुष्टि होती है।

सूरदास के निधन के समय महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्यों में श्री परमानन्ददास तथा श्रीकृष्णदास अधिकारी के नाम का उल्लेख 'वार्ता' में नहीं है। परमानन्ददास जी का स्वर्गवास कब हुआ, इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता है। 'वार्ता' से भी परमानन्ददास जी की मृत्यु का कुछ भी सङ्केत नहीं मिलता है। "कुम्भनदास जी सब वैष्णव मिलिकें परमानन्द जी जहाँ रहत हुते तहाँ आये सो भगवदीय आये जानिकें परमानन्ददास जी बहुत प्रसन्न भये।"[33] इससे तो सिर्फ़ इतना ही पता चलता है कि कुम्भनदास जी और परमानन्ददास जी दोनों समकालीन थे। परन्तु 'लीलाभावना' वाली वार्ता से पता चलता है कि श्री कुम्भनदास जी के दिवङ्गत होने के बाद ही श्री परमानन्ददास जी का निधन हुआ था. "श्री गुसाई जी आपु परमानन्ददास की अलौकिक दसा देख के कहे, जो जैसे कुम्भनदास को किसोर लीला में निरोध भयो, सो तैसे लीला में परमानन्ददास को निरोध भयो है।"[34]

सूरदास के निधन संवत् १६४० के आधार पर ही मीतल जी ने श्री परमानन्द का निधन सं० १६४१ में माना है। श्री परमानन्ददास जी ने अपने एक पद मे गुसाईं जी के सातवें पुत्र 'घनश्याम' का उल्लेख किया है: "श्री घनस्याम पूरन काम पोथी में ध्यान।"[35] उनके एक और पद में घनश्याम का नाम आया है: "मङ्गलवर्धक श्री यदुपति घनश्याम पितु समान श्री विट्ठल सुरताभिधानम।"[36] गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सातवें पुत्र घनश्याम जी का जन्म गुसाईं जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी से विक्रम-संवत् १६२८ में अग्रहण कृष्ण त्रयोदशी को गोकुल में हुआ था। 'श्रीवल्लभ-वंशवृक्ष' (सम्पादक: गो० श्री व्रजभूषण शर्मा, कांकरोली) के अनुसार घनश्याम जी का उपर्युक्त जन्म-संवत् प्रामाणिक है। उपर्युक्त दोनों पदों में श्री परमानन्ददास जी ने घनश्याम जी को विशेष श्रद्धा के साथ स्मरण (नामोल्लेख) किया है। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के वंशों में बालकों का उपनयन-संस्कार अधिक से अधिक आठ वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी कि कम से कम आठवें वर्ष यह संस्कार निश्चित रूप में सम्पन्न हो जाता था। सम्भवतः इस संस्कार के सम्पन्न होने के पश्चात् ही उपर्युक्त पदों में 'पूरन काम' और 'पितु समान' शब्दों का उल्लेख कवि ने किया है। 'पोथी में ध्यान' भी लाक्षणिक प्रयोग है। 'पितु समान' से उपनयन-संस्कार सम्पन्न हो जाने का भाव अभिव्यञ्जित है। इस प्रकार अधिक से अधिक सं० १६३५ तक घनश्याम जी का उपनयन-संस्कार हो गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। 'पोथी में ध्यान' वाले पद के अधार पर डॉ० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है:—

"उस समय अनुमान से घनश्याम जी की आयु लगभग आठ या दस वर्ष की अवश्य रही होगी; क्योंकि दत्तचित्त हो कर पढ़ने वाले बालक की आयु नौ या दस वर्ष की अवश्य होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि परमानन्ददास ने इस पद की रचना संवत् १६३८ वि० के लगभग की।"[37]

इस प्रकार सं० १६३८ तक परमानन्ददास जी की स्थिति का ज्ञान स्वाभाविक रूप से हो जाता है। इसलिए इनका निधन सं० १६३८ और गुसाईं जी का गोलोकवास सं० १६४२ के बीच होना चाहिए।

श्री परमानन्ददास जी के एक पद में 'गुसाईं' शब्द का प्रयोग श्री विट्ठलनाथ जी के लिए हुआ है :—

"जब लग जमुना गाय गोवर्धन जब लग गोकुल गाम गुसाईं।"[३८]

'वार्ताओं' में वैष्णवों ने 'गुसाईं' जी को प्रायः 'महाराज', 'महाराजाधिराज' अथवा 'राज' कह कर ही सम्बोधित किये हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'साहित्य-लहरी' (भूमिका) की पृष्ठ-संख्या ४१ में लिखा है: "वे (श्री विट्ठलनाथ जी) सं० १६३४ तक 'दीक्षित' अथवा 'प्रभु-चरण' कहे जाते थे और उसके पश्चात् ही 'गोसाईं जी' कहलाने लगे थे। यह उपाधि उन्हें सम्भवतः अकबर बादशाह ने प्रदान की थी।" अकबर बादशाह के सं० १६३४ वाले फ़रमान में सिर्फ 'विट्ठलराय' लिखा हुआ है और सं० १६३८ वाले फ़रमान में 'विट्ठलराय विरहमन' का उल्लेख है। सं० १६५१ के दोनों फ़रमानों में 'गुसाईं विट्ठलराय' स्पष्ट रूप से लिखित है।[३९] इसी फ़रमान (सं० १६५१) के आधार पर श्री महावीर सिंह गहलौत ने सं० १६५१ तक गुसाईं जी की उपस्थिति मानी है और सं० १६५५ में उनका देहान्त होना माना है। परन्तु डॉ० दीनदयाल गुप्त ने गुसाईं जी के इस निधन-काल का खण्डन किया है जो सर्वथा मान्य है:—

"बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद, जब तक उसके उत्तराधिकारियों के नाम उसकी सम्पत्ति के काग़ज़ों में दाखिल खारिज नहीं होता, तब तक सरकारी काग़ज़ उसी के नाम जारी होते रहते हैं।"[४०]

श्री विट्ठलनाथजी को 'गुसाईं' की उपाधि सम्भवतः अन्तिम गुजरात-यात्रा से वापस आने के पश्चात् मिली होगी। संवत् १६३८ में गुसाईं जी ने गुजरात (द्वारिका) की अन्तिम यात्रा की थी। इसलिए हो सकता है कि सं० १६३९ में अकबर ने श्री विट्ठलनाथ जी को 'गुसाईं' उपाधि से सम्मानित किया हो। अगर सं० १६३४ के बाद 'गुसाईं' उपाधि मिलती तो सं० १६३८ वाले फ़रमान में 'गुसाईं' शब्द श्री विट्ठलनाथ जी के नाम के आगे अथवा पीछे अवश्य लिखा जाता, क्योंकि सरकारी उपाधि नाम के साथ लिखने का सरकारी क़ायदा है। सरकारी फ़रमानों में तो सरकारी उपाधि का न लिखना, क़ानून का उल्लङ्घन करना है और यह दण्डनीय अपराध के अन्तर्गत आता है।

श्री परमानन्ददास जी ने अपने एक पद में श्री विट्ठलनाथ जी के लिए 'गुसाईं' शब्द का उल्लेख किया है। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि सं० १६३९ के बाद ही श्री परमानन्ददास जी का निधन होना चाहिए। 'वार्ता' से यह सिद्ध होता है कि गुसाईं जी के सम्मुख ही परमानन्ददास जी ने देह-त्याग किया था। सम्भवतः संवत् १६४० में परमानन्ददास जी दिवङ्गत हुए होंगे। इनके निधन के उपरान्त ही गुसाईं जी ने बँटवारा किया होगा। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के अनुसार यह बँटवारा सं० १६४० में हुआ था। श्री परमानन्ददास जी के इस निधन-संवत १६४० को डॉ० गुप्त ने भी प्रामाणिक माना है[४१]

अब श्री कुम्भनदास जी के निधन-काल पर विचार करना है श्री जी के निधन के पूर्व ही कुम्भनदास जी का गोलोकवास हो गया था। गुसाईं जी ने परमानन्ददास जी की मृत्यु से पूर्व कहा है कि, "**जैसे कुम्भनदास को किसोर-लीला में निरोध भयो, सो तैसे बाल-लीला में परमानन्ददास को निरोध भयो है।**"[४१] इससे यह आभास होता है कि परमानन्ददास जी की मृत्यु से थोड़े दिन ही पूर्व कुम्भनदास जी दिवङ्गत हुए होंगे। इसलिए श्री परमानन्ददास के निधन-संवत् १६४० के पूर्व श्री कुम्भनदास का निधन होना चाहिए।

श्री कुम्भनदास जी के एक पद में गुसाईं जी के सातवें पुत्र घनश्याम जी का नाम आया है ' "**श्री घनश्याम सुखधाम जग-जीवन मन, बच, क्रम एही चाह चहुरे।**"[४२] घनश्याम जी के जन्म-सवत् १६२८ के आधार पर श्री कुम्भनदास जी की स्थिति संवत् १६३८ वि० तक निश्चित रूप से प्रमाणित है। श्री कुम्भनदास के निधन-काल को निश्चित करने के लिए अकबर-कुम्भनदास-मिलन पर विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि कुम्भनदास जी को अकबर ने फतहपुर-सीकरी 'दर्शन' के लिए बुलाया था। डॉ० दीनदयाल गुप्त के मतानुसार यह मिलन स० १६३८ मे हुआ था। श्री प्रभुदयाल मीतल ने भी इसी संवत् का समर्थन किया है। डॉ० गुप्त ने कुम्भनदास जी का जन्म संवत् १५२५ वि० में माना है। मीतल जी के अनुसार कुम्भनदास जी का जन्म सवत् १५२६ वि० में हुआ परन्तु श्री कण्ठमणि शास्त्री ने १५३५ को प्रामाणिक जन्म-संवत् माना है। अगर १५२५ को ही जन्म-संवत् माना जाय तो स० १६३८ में कुम्भनदास जी की अवस्था सौ वर्ष से भी अधिक की हो जाती है। इतनी वृद्धावस्था में कुम्भनदास को 'सीकरी' बुलाना अकबर जैसे बादशाह के लिए तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता।

'वार्ता' से ऐसा अनुमान होता है कि गुसाईं जी की अनुपस्थिति में ही कुम्भनदास जी को फतहपुर-सीकरी जाना पड़ा था। गुसाईं जी ने सं० १६३१ के बाद सं० १६३८ मे गोकुल से गुजरात की अन्तिम यात्रा की थी।[४४] 'वार्ता' में एक घटना का उल्लेख है कि गुसाईं जी एक बार कुम्भनदास जी को द्वारिका ले जाना चाहते थे परन्तु श्रीनाथ जी के वियोग की सहन-शक्ति इनमें नहीं थी, इसलिए बाध्य हो कर गुसाईं जी इन्हें अपने साथ नहीं ले जा सके थे।[४५] कुम्भनदास जी की वार्ता मे जो घटनाओं का क्रम है, उसमें उपर्युक्त घटना का उल्लेख अकबर-कुम्भनदास-मिलन के बाद है। अगर सं० १६३८ मे कुम्भनदास जी का सीकरी जाना माना जाय, तब द्वारिका नहीं जाने वाला प्रसङ्ग कब हुआ? इसलिए संवत् १६३१ में ही अकबर-कुम्भनदास-मिलन होना निश्चित होता है। संवत् १६३० और १६३१ में अकबर का फतहपुर-सीकरी जाना इतिहास से प्रमाणित है। स० १६३८ में कुम्भनदास जी का गुसाईं जी के साथ द्वारिका न जा पाने की घटना घटित हुई। 'लीला-भावना वाली वार्ता' से भी इस घटना-क्रम की पुष्टि होती है। कुम्भनदास जी की आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार लाने के ध्येय से ही गुसाईं जी यात्रा में उन्हें सङ्ग ले जाना चाहते थे।[४६] हो सकता है, अवस्था अधिक होने के कारण कुम्भनदास जी गुसाईं जी के साथ न जा सके हो। इसलिए संवत् १६३८ विक्रमी तक कुम्भनदास जी की स्थिति की पुष्टि होती है।

कुम्भनदास जी की वार्ता में एक प्रसङ्ग इस प्रकार है

"और एक समय कुम्भनदास जी श्री गुसाईं जी के पास बैठ हुते तब कुम्भनदास ने श्री गुसाईं सों कह्यो जो महाराज बेटा डेढ है और हैं तो साथ तब श्री गुसाईं जी ने कह्यो जो कुम्भनदास डेढ़ को कारन कहा तब फेरि कुम्भनदास जी कहैं जो महाराज आखो बेटा तो चत्रभुजदास है और आधो बेटा कृष्णदास हैं सो श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करत है तासों आधो है।"[४७] द्वारिका न जाने वाले प्रसङ्ग के बाद का उपर्युक्त प्रसङ्ग है। गुसाईं जी की अन्तिम यात्रा सं० १६३८ वि० में हुई थी। इस यात्रा से वापस आ जाने पर ही उर्युक्त प्रसङ्ग होना चाहिए। ऐसी हालत मे कुम्भनदास जी की स्थिति को सं० १६३९ तक सप्रमाण हम मान सकते हैं। इसलिए कुम्भनदास जी का निधन सं० १६४० में ही निश्चित रूप से होना चाहिए। श्री प्रभुदयाल मीतल तथा श्री कण्ठमणि शास्त्री ने इस निधन-संवत् की पुष्टि की है।

अकबर-कुम्भनदास-मिलन सं० १६३१ में निश्चित रूप से हुआ। इस मिलन के कुछ दिन याद ही राजा मानसिंह परासोली गये थे। राजा मानसिंह ने एक ब्रजवासी से पूछा कि, "श्री गोवर्धननाथ जी के आगें कौन गावत हुतो इनने ऐसे बिसन पद गाये हैं जो कछू कहिवे में नाहीं आवत तब काहूने कही जो महाराज एक ब्रजवासी है कुम्भनदास नाम है सो आपने सुनेही होयँगे देशाधिपति सों मिले हुते सो है तब राजा मानसिंह ने कही जो हमहू इनसों मिलेतो आछो।"[४८] लीला-भावना वाली वार्ता में भी इस घटना का उल्लेख है। गुसाईं जी की अनुपस्थिति में ही राजा मानसिंह श्री गोवर्धननाथ जी के दर्शन को गये थे। इसलिए यह घटना भी संवत् १६३१ की है क्योंकि इस साल गुसाईं जी यात्रा को गये हुए थे। अकबर-कुम्भनदास-मिलन के थोड़े दिनो बाद ही राजा मानसिंह का कुम्भनदास जी से मिलना सिद्ध होता है। अकबर-कुम्भनदास-मिलन अगर सं० १६३८ वि० में हुआ होगा तो इस मिलन के बाद ही राजा मानसिंह का परासोली जाना मान्य होना चाहिए। परन्तु राजा मानसिंह का परासोली जाना संवत् १६३८ में इतिहास से भी प्रमाणित नहीं होता। उन दिनों राजा मानसिंह पेशावर के युद्ध में व्यस्त थे। इसलिए सं० १६३१ वि० में ही अकबर-कुम्भनदास-मिलन का होना सब तरह से प्रमाणित है।

अब हम अपने विषय पर आते हैं। सूरदास जी का स्थायी निवास-स्थान परासोली मे था और अन्त में यहीं इनका देहान्त भी हुआ था। राजा मानसिंह का कुम्भनदास जी के दर्शन हेतु परासोली जाना 'वार्ता' से सिद्ध होता है।[४९] इस प्रसङ्ग से ऐसा आभास होता है कि राजा मानसिंह के परासोली जाने के पूर्व ही सूरदास जी दिवङ्गत हो चुके थे। अगर सूरदास जी जीवित रहते तो राजा मानसिंह परासोली में उनका दर्शन अवश्य करते परन्तु सूरदास की चर्चा का अभाव ही सूरदास के निधन की पुष्टि करता है। अष्टछाप के आठों कवियों में सूरदास जी का ही नाम सबसे अधिक जाज्वल्यमान है। गुसाईं जी के शब्दों में सूरदास जी 'पुष्टमार्गको जिहाज' थे। कुम्भनदास के दर्शन की इच्छा करने वाला अकबरी दरबार का 'नवरत्न' राजा मानसिंह सूरदास के दर्शन का लोभ कैसे संवरण कर सकता था, जबकि सूरसागर के नाम से भी सूरदास की प्रसिद्धि अकबरी दरबार तक पहुँच चुकी थी और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सं० १६२३ में अकबर-सूर-मिलन भी सम्पन्न हो चुका था। इसलिए सूरदास का निधन अधिक से अधिक सं० १६३१ वि० तक मान सकते है। गुसाईं जी ने सूरदास के निधन के पश्चात् ही सं० १६३१ वि० में द्वारिका की यात्रा की होगी।

अष्टछाप के कवि श्री कृष्णदास अधिकारी रचित वसन्त के एक पद मे घनश्याम के साथ सूरदास के नाम का भी उल्लेख हुआ है:—

घनस्याम धाय फेंटन भराय। सब बालक खेलत एक दाय।
तहाँ सूरदास नाँचत है आय। परमानन्द घोरि गुलाल लाय ॥

सूरनिर्णयकारों (परीख औ र मीतल) के अनुसार "वसन्त खेलते समय उनकी (घनश्याम की) आयु कम से कम १० वर्ष की मानी जाय, तो सं० १६३८ तक सूरदास की उपस्थिति सिद्ध होती है।"[५०] इस प्रकार उपर्युक्त पद के रचयिता श्री कृष्णदास अधिकारी की भी उपस्थिति सं० १६३८ तक सिद्ध होनी चाहिए, परन्तु 'सूर-निर्णय' के लेखक-द्वय में से एक लेखक श्री प्रभुदयाल मीतल ने श्री कृष्णदास अधिकारी का निधन-संवत् १६३६ वि० लिखा है।[५१] इसलिए मीतल जी के तर्क अमान्य हैं, क्योंकि सूरदास जी के स्थिति-संवत् १६३८ का खण्डन मीतल जी के द्वारा ही हो जाता है। वसन्तोत्सव के समय 'घनश्याम धाय फेंटन भराय' से घनश्याम की अवस्था बहुत ही न्यून मालूम पड़ती है। यह अनुमान अस्वाभाविक नहीं है कि उक्त पद की रचना के समय तक सूरदास जी दिवङ्गत हो चुके होंगे। 'तहाँ सूरदास नाँचत हैं आय' में वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग हुआ है, इस आधार पर सूरदास की स्थिति को निश्चित रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। वर्तमान-कालिक क्रिया में पद की रचना कलात्मक प्रयोग मात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री कृष्णदास अधिकारी ने 'वसन्त' की रचना अपनी सहजानुभूति-अवस्था में की थी। "अनुभूति-काल में कवि की सृष्टि-चेतना अभिभूत होती है। उस समय रचना की प्रेरणा असम्भव है। जब कवि अनुभूति से अलग हो जाता है तो उस अनुभूति की एक स्मृति रह जाती है और तब उसे व्यक्त करने की प्रेरणा मिलती है। इस व्यक्तीकरण में सहजानुभूति होती है क्योंकि अनुभूति में हमारा ज्ञान विचार के रूप में रक्षित रहता है और सहजानुभूति में उसी ज्ञान का एक विशेष चित्र कल्पना में स्पष्ट हो जाता है।"[५२]

बालक एक वर्ष की अवस्था में पाँवों के बल चलने लगता है और अवस्था के दूसरे वर्ष साधारण रूप से दौड़ने भी लगता है। उपर्युक्त 'वसन्त-पद' में घनश्याम जी कम से कम दो वर्ष के अवश्य रहे होंगे। इसलिए संवत् १६३१ विक्रमी में सूरदास जी का निधन होना सर्वथा प्रमाणित है।

श्री प्रभुदयाल जी मीतल ने श्री कृष्णदास अधिकारी के निधन के चार वर्ष बाद सूरदास जी का निधन माना है, परन्तु श्री कण्ठमणि शास्त्री ने एक ही संवत् में दोनों अष्टछापी कवियों का निधन होना लिखा है। श्री कृष्णदास अधिकारी के निधन के बारे में जो तर्क डॉ० दीनदयालु गुप्त ने प्रस्तुत किये हैं, वे अमान्य नहीं हैं:—

"चाँपा भाई गोस्वामी जी की सं० १६३१ वि० की गुजरात-यात्रा में उनके साथ उपस्थित थे। यह बात गोस्वामी जी के यात्राओं के वर्णन से ज्ञात होती है। उनकी दूसरी यात्रा में जो उन्होंने सं० १६३८ में की, चाँपा भाई के साथ जाने का उल्लेख नहीं मिलता। अनुमान से ये उस समय श्रीनाथ जी के अधिकार के पद पर थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि कृष्णदास का गोलोकवास सं० १६३१ और सं० १६३८ के बीच में हुआ।"[५३]

श्री प्रभुदयाल मीतल ने अनुमान से श्री कृष्णदास अधिकारी का देहान्त सं० १६३६

के लगभग माना है। मीतल जी अपने 'अनुमान' पर पूर्ण रूप से स्थिर नहीं हैं। सं० १६३१ वाली गुजरात-यात्रा से गुसाईं जी के वापस आने पर ही श्री कृष्णदास अधिकारी का निधन अस्वाभाविक (आकस्मिक) रूप से हो गया होगा।

श्री कृष्णदास अधिकारी ने एक पद में गुसाईं जी के पुत्रों की बधाई मनायी है जिसमें घनश्याम जी के नाम का भी उल्लेख है:—

श्री घनश्याम बाल बल अविचल केलि कलोल,
कुञ्चित केश कमल मुख जानौं मधुपन के टोल।[५४]

डॉ० दीनदयाल गुप्त के मत से उपर्युक्त पद की रचना के समय घनश्याम की आयु तीन वर्ष की अवश्य रही होगी।[५५] इस हिसाब से श्री कृष्णदास अधिकारी का देहान्त सं० १६३१ के बाद ही होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार संवत् १६३२ के पश्चात् और नन्ददास के निधन-संवत् १६३६ के पूर्व ही श्री कृष्णदास अधिकारी का निधन होना चाहिए। श्री कण्ठमणि शास्त्री ने इनका अन्तिम समय सं० १६२० के लगभग माना है जो सर्वथा अप्रामाणिक है।[५६] घटनाओं के क्रम से इस निधन-संवत् की पुष्टि नहीं होती है। सम्भवतः संवत् १६३३ में श्री कृष्णदास अधिकारी का स्वर्गवास हो गया होगा।

'वार्ता' से पता चलता है कि दिवङ्गत होने के पूर्व तक सूरदास जी नियमित रूप से 'मणि-कोठा में ठाडे ठाडे कीर्तन करते।' वार्ताकार ने 'ठाडे ठाडे' का प्रयोग स्पष्ट रूप से किया है।[५७] इस प्रयोग से सूरदास की अवस्था का सङ्केत विशेष रूप से मिलता है। निधन के समय सूरदास की अवस्था सौ वर्ष से अधिक की रही हो, उसकी कल्पना हम नहीं कर सकते, क्योंकि इतनी वृद्धावस्था मे सूरदास का 'ठाडे ठाडे कीर्तन करना' सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार भी सूरदास जी का निधन-संवत् १६३१ विक्रमी अप्रामाणिक नहीं है।

सूरदास कृत 'जेंवनार' (छप्पन भोग) वाले पद का उद्धरण दे कर सूर-निर्णयकारों ने सूरदास का निधन-संवत् १६४० माना है।[५८] परन्तु यह प्रमाण स्वस्थ नही है। श्री कण्ठमणि शास्त्री ने लिखा है कि "सं० १६१४-१५ के लगभग गिरिराज आ कर इन्होंने (गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने) छप्पन भोग का मनोरथ किया, जिसे हम सम्प्रदाय का प्रथम छप्पन भोग कह सकते हैं।"[५९] इस प्रकार 'जेंवनार' वाले पद का रचना-काल संवत् १६१५ के बाद और संवत् १६२९ के पूर्व का है। इसके अलावा डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इस 'जेंवनार' वाले प्रसङ्ग को अछूता ही छोड़ा है। सूरनिर्णयकारों का प्रमाण सर्वथा कल्पना और भावना-प्रधान है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'गुसाईं' उपाधि श्री विट्ठलनाथ जी को सं० १६३८ वि० के बाद अकबर द्वारा मिली। सूरदास जी ने अपने पदों में 'गुसाईं' शब्द का प्रयोग किया है, इस कारण सं० १६४० तक सूरदास जी की स्थिति का अनुमान लगाना असङ्गत नहीं है। 'गुसाईं' शब्द का प्रयोग सूरसागर में निरन्तर हुआ है:—

मेरौ मन मति-हीन गुसाईं।[६०]
तुम्हरी कृपा गोपाल गुसाईं[६१]

मोसौं पतित न और गुसाइं[13]
तिन तुम प गोबिन्द-गुसाइं।[14]

उपर्युक्त पदों में 'गुसाईं' कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, न कि श्री विट्ठलनाथ जी के लिए। श्री विट्ठलनाथ जी के लिए 'गुसाईं' शब्द का प्रयोग सिर्फ एक बार 'साहित्य-लहरी' में हुआ है:—

थपि गुसाईं करी मेरी आठ मद्धे छाप ।।[15]

परन्तु 'साहित्य-लहरी' का उपर्युक्त पद सर्वथा अप्रामाणिक है, क्योंकि यह पद 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल के बहुत बाद का है। 'साहित्य-लहरी' में एक पद है जिससे उसके रचना-काल पर प्रकाश पड़ता है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि, सुबल संवत पेख ।।[16]

(मुनि=७; रसन=०, १ अथवा २; रस=६; दसन गौरीनन्द १।)

इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल संवत् १६०७, १६१७ अथवा १६२७ होना चाहिए। अगर अधिक से अधिक सं० १६२७ ही 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल मान लिया जाए तो सं० १६३८ के बाद दी गयी 'गुसाईं' उपाधि का उपर्युक्त पद में प्रयुक्त होना चिन्त्य है। 'थपि गुसाईं करी मेरी आठ मद्धे छाप' वाला पद इसलिए प्रक्षिप्तांश है। मीतल जी ने इस पद को 'साहित्य-लहरी' के परिशिष्ट-भाग में दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवत् १६३१ विक्रमी के बाद सूरदास जी की उपस्थिति का समर्थन किसी भी आधार से नहीं होता है। इसलिए १६३१ ही सूरदास जी का प्रामाणिक निधन-संवत् है।

नन्ददास की वार्ता (श्री हरिराय जी-प्रणीत) में घटनाओं का जो क्रम है, उस पर अगर हम विश्वास करें तो पता चलता है कि तुलसीदास की रामायण-रचना के पूर्व ही सूरदास जी का गोलोक-वास हो गया था। 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर "नन्ददास ने 'श्रीमद्भागवत दशम' भाषा सम्पूरन कियो।" यह घटना संवत् १६३३ वि० के बाद ही होनी चाहिए। इस घटना के पूर्व ही सूरदास जी के सङ्ग नन्ददास जी के छह मास तक परासोली में रहने वाला प्रसङ्ग है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, 'मानस' सम्भवतः संवत् १६३३ वि० में सम्पूर्ण हुआ था, इसलिए इस संवत के पूर्व ही सूरदास जी का दिवङ्गत होना सिद्ध होता है। इस दृष्टिकोण से भी सूरदास जी का निधन संवत १६३१ वि० प्रामाणिक है।

-सङ्केत—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २००३), पृष्ठ १६२।
२. अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ५०।
३. वार्ता-साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ १२२।
४. वही, पृष्ठ १२८।
५. वही, पृष्ठ १२०।
६. श्री सूरसागर (श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० २०१३), पृष्ठ १।
७. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई; सं० २०१५), पृष्ठ
८. श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या द्वारा सं० १९६१, पृष्ठ ३३।
९. काँकरोली का इतिहास, कण्ठमणि शास्त्री, काँकरोली, पृष्ठ १०१।
१० अष्टसखान की वार्ता, परीख द्वारा सम्पादित (अग्रवाल प्रेस, मथुरा), पृष्ठ १४
११. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ २१६-
१२. सूर और उनका साहित्य (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ३३।
१३. काँकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०१।
१४ सूर-निर्णय, पृ० ९२।
१५ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ २१६।
१६. वही, पृष्ठ २१६।
१७. वही, पृष्ठ २१८।
१८. अकबर, दि ग्रेट मोगल: स्मिथ (सन् १९२६), पृष्ठ ६२।
१९ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया (चौथा भाग), दिल्ली-संस्करण, पृष्ठ ८४।
२०. अकबर, दि ग्रेट मोगल : स्मिथ (सन् १९२६), पृष्ठ ६४।
२१. वही, पृष्ठ ६५।
२२ 'Akbar's Religious Thought Reflected in Moghul Painting Emmy Wellesz (London, 1952 Page 6)
२३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (तीसरा भाग; काँकरोली), पृष्ठ २७८-२७
२४. वही, पृष्ठ २७५।
२५. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ २६१-२६२।
२६. अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १९४।
२७. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६।
२८. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे० सं०, २०१५), पृष्ठ २५८।
२९ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ८१।
३०. काँकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०२।
३१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २६१।
३२. अष्टसखान की वार्ता, पृष्ठ ७९।
३३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ २८८

३४. चौरासी वैष्णवन की वार्ता(परीख . मथुरा स० २०१७), पृष्ठ ४४४।

३५. परमानन्द सागर : डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १९७।

३६. वही, पृष्ठ २०४।

३७. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ २३०।

३८. परमानन्द सागर, पृष्ठ २८८।

३९. वार्ता-साहित्य : डॉ० हरिहरनाथ टण्डन : फरमान संख्या १, २, ४ और ५, पृष्ठ ५११-५१२।

४०. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ ७८।

४१. वही, पृष्ठ २३०।

४२. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (परीख), पृष्ठ ४४४।

४३. कुम्भनदास (विद्या-विभाग, कांकरोली), पृष्ठ १२८।

४४. कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ९९।

४५. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे०), पृष्ठ ३०४-३०६।

४६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (परीख), पृष्ठ ४६९-४७२।

४७. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे०), पृष्ठ ३०८।

४८. वही, पृष्ठ ३००। ४९. वही, पृष्ठ ३००।

५०. सूर-निर्णय, पृष्ठ १००। ५१. अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १६६।

५२. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना), पृष्ठ १५६।

५३. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ २५५।

५४. वसन्त-धमार, कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृष्ठ १८१।

५५. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (प्रथम भाग), पृष्ठ २५४।

५६. कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ८३।

५७. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे०), पृष्ठ २६१।

५८. सूर-निर्णय, पृष्ठ १००। ५९. कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०७।

६०. सूरसागर : रत्नाकर द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५३।

६१. वही, पृष्ठ ६०। ६२. वही, पृष्ठ ७७।

६३. वही, पृष्ठ १०१।

६४. साहित्य-लहरी : प्रभुदयाल मीतल द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २१५।

६५. वही, पृष्ठ २०१।

साहित्यशास्त्र में औचित्य-विचार

ऐतिहासिक अनुदृष्टि

●

काव्य के शरीर एवं आत्मा को
एकान्वित परिकल्पना तथा
आत्मगत एवं वस्तुगत के समन्वित परिप्रेक्ष्य
पर आधारित
साहित्यशास्त्रीय औचित्य-सिद्धान्त का
ऐतिहासिक अनुदृष्टि से निरूपण

●

शङ्करदत्त ओझा

संस्कृत-साहित्य की दीर्घ कालीन परम्परा में समय-समय पर अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति एवं रस (रस-ध्वनि) को उनके प्रतिष्ठापकों ने काव्य का आत्मभूत तत्त्व माना है। काल-क्रम से काव्य के ये मार्ग कवियों एवं साहित्य-समीक्षकों के लिए मापदण्ड बनते गये। विशेपतः रस-ध्वनि का मार्ग तो बहुत ही प्रशस्त और सर्वाधिक मान्य रहा। महान् दार्शनिक एवं काव्यशास्त्र के महारथी आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि (रस) के सिद्धान्त को इस तरह सुदृढ़ कर दिया तथा आचार्य मम्मट एवं कविवर विश्वनाथ ने उसे इस प्रकार मान्य एवं ग्राह्य बना दिया कि रस-ध्वनि की प्रतिष्ठा सदा के लिए अमर हो गयी। काव्य का आत्मतत्त्व रस है—इसमें किसी को लेश मात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं रह गयी। साथ ही किसी अन्य परवर्ती आचार्य में इतना सामर्थ्य न रहा कि रस-मार्ग का खण्डन करता और अपना नवीन मत समीक्षा-जगत् में प्रचलित करा पाता।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मभूत तत्त्व अवश्य माना है, किन्तु वह भी अन्त में चल न पाया ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कि रस-सिद्धान्त पूर्णतः स्थिर हो चुका था,

साहित्य-जगत् में कविवर क्षेमेन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। क्षेमेन्द्र साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के शिष्य थे। विचारणीय बात है कि क्षेमेन्द्र-जैसी विदग्धता एवं लोकोत्तर प्रतिभा वाले विद्वान् ने औचित्य को आत्म-तत्त्व माना है, जब कि उनके गुरुदेव अभिनव का रसध्वनि-सिद्धान्त अपनी जड जमा चुका था। इसका यही तात्पर्य है कि औचित्य-सिद्धान्त कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं था जो अलङ्कार, रीति इत्यादि की भाँति केवल वाह्य शोभाधायक तत्त्व बन कर रह गया हो, अपितु औचित्य तो रस के भी ऊपर की वस्तु या यों कहिए रस का भी नियामक तत्त्व बन कर रहा, जिसका प्रतिपादन एक सिद्धान्त के रूप में कविवर क्षेमेन्द्र ने किया। यहाँ औचित्य-तत्त्व के इतिहास पर सक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह सत्य है कि औचित्य के जन्मदाता स्वयं क्षेमेन्द्र नहीं हैं, बल्कि औचित्य का विचार आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में भी किया गया है। भरत से ले कर नवीं शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्धन तक औचित्य का विचार किसी न किसी रूप में होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र मे औचित्य का विचार बिना औचित्य का नामोल्लेख किये हुआ है। अतएव औचित्य के प्रवर्तन का श्रेय भरत से ले कर आनन्दवर्धन तक होने वाले आचार्यों को दिया जाता है, किन्तु औचित्य को एक सिद्धान्त मान कर उसे काव्य का आत्मभूत तत्त्व मानने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही है।

भरत में औचित्य का स्थान

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्य पर विचार किया है। उनके अनुसार लोक का अनेकविध अनुकरण ही नाट्य कहलाता है। लोक ही नाट्य की कसौटी होता है। नाट्य पर लोक की गहरी छाया है, स्पष्ट प्रभाव है। लोक मे जिसके वेश, रूप, अवस्था, कार्य आदि जैसे हों, नाट्य में भी उसी प्रकार का अनुकरण किया जाना चाहिए—यह आचार्य भरत का कथन है। जो बात लोक-सिद्ध होती है, वही सभी मार्ग में सिद्ध मानी जाती है। लोक की प्रकृति एवं शील (चरित्र) जैसे हों वैसे ही नाट्य में भी प्रकृति एवं शील का दिग्दर्शन कराना चाहिए। तात्पर्य यह है कि लोक-धर्म—जग की रीति—को ही भरत ने नाट्य का एक मात्र प्रमाण माना है। लोक ही नाट्य का नियामक-निर्णायक होता है। आहार्य-अभिनय के सम्बन्ध में उनकी उक्ति है कि प्रकृत रस के अनुकूल ही पात्रों की वेश-भूषा होनी चाहिए:—

> एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि।
> यथाभावरसावस्थं विज्ञायैवं प्रयोजयेत्॥ (—नाट्यशास्त्र २३।४२)

भरत ने रस को ही नाट्य का प्रधान तत्त्व माना है। इसलिए नाट्य की प्रत्येक वस्तु रस के अनुकूल ही होनी चाहिए। इसी तथ्य को भरत ने 'रस-प्रयोग' के नाम से पुकारा है। जो भी वस्तु नाट्य में प्रयुक्त हो, उसे प्राकरणिक रस का बाधक नहीं होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रकृति और शील पर जोर दिया है—

> नाना शीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्। (—ना० शा० २६। ११३—११९)

भरत का कथन है कि अवस्था के अनुरूप वेश होना चाहिए, वेश के अनुरूप गति और गति के अनुरूप ही पाठ्य तथा पाठ्य के ही अनुरूप अभिनय होना चाहिए

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः वेषानुरूपश्च गतिः प्रचारः।
गतिः प्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ (—ना० शा० १४; ६८)

वेश के सम्बन्ध में भरत का स्पष्ट कथन है कि देश के अनुसार यदि वेश न हो तो वह सौन्दर्यजनक नहीं होता और यह विरूपता उसी तरह हँसी का विषय बन जाएगी जैसे गले में यदि कोई करधनी पहन ले:—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ (—ना० शा० २३।६९)

बिलकुल इसी भाव को क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में सविस्तर कहा है—"कण्ठ में करधनी, नितम्बों पर चञ्चल हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर पहनने से निर्बल पर शूरता तथा शत्रु पर दया-भाव दिखाने वाले की तरह ही किसकी हँसी न होगी!" बिना औचित्य के अलङ्कार मन को नहीं भाते।

गुणों और दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था का बीज भी भरत ने ही बो दिया था। प्रकरण के अनुसार उचितानुचित प्रयोग गुण या दोष का कारण बनता है। जो प्रकृत-रस के अनुरूप है और उचित है, वही रस का पोषक धर्म और गुण है; और जो उसका परिपन्थी है वही रसास्वाद का घातक है और दोष है। ऊपर कहे गये 'अदेशजो हि वेषस्तु' इत्यादि में अनुचित स्थान-विन्यास के कारण इसी बात की ओर सङ्केत है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि भरत के अनुसार सामञ्जस्य (harmony) का नामान्तर ही औचित्य है—अङ्गी और अङ्ग का सामञ्जस्य, मुख्य और गौण का, पूर्ण एवं अंश का सामञ्जस्य ही औचित्य है। इसी समञ्जसता में काव्य का सौन्दर्य निहित होता है। भरत ने प्रवृत्ति, वृत्ति, गण, अलङ्कार, आहार्य, अभिनय, पाठ्य, गुण, स्वर इत्यादि के प्रसङ्ग में 'रस-प्रयोग' की चर्चा की है जिसका तात्पर्य यही है कि ये प्रवृत्ति, वृत्ति आदि यदि प्रकृत रस के अनुरूप प्रयुक्त होते हैं तभी काव्य का सौष्ठव है। इससे स्पष्ट है कि भरत ने औचित्य-तत्त्व का पूर्ण आदर किया है, भले ही उन्होंने 'औचित्य' शब्द का उल्लेख नहीं किया।

माघ, भामह और दण्डी

महाकवि माघ भी औचित्य के समर्थक दिखलायी देते हैं:—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥ (—शिशुपालवध २।८३)

कवि का कथन है कि यशस्वी, विजिगीषु और कालज्ञ शासक तभी सफल होता है जब उसमें परिस्थिति के अनुरूप नीति-प्रयोग की कुशलता हो। जिस प्रकार रस-सिद्ध कवि रसानुरूप ही ओज या माधुर्य गुणों का प्रयोग करता है, क्योंकि रसपरक गुणों की सुयोजना से ही काव्य उत्तम कोटि का बनता है, उसी तरह सफल शासक अवसर के अनुकूल ही कहीं तेज एवं कहीं क्षमा की भावना दिखलाता है क्योंकि इसी में उसकी है जिस प्रकार गुण का उचित प्रयोग

ही अभीष्ट रस-निष्पत्ति कराता है, उसी तरह उचित नीति-प्रयोग अभीष्ट कार्य सिद्ध करता है। अवसर के अनुकूल कार्य का होना ही औचित्य है। अंग्रेज़ी का शब्द 'adaptation' इसी भाव का अभिधान करता है। अतः निस्सन्देह कविश्रेष्ठ माघ औचित्य को मानते हैं।

भामह ने गुणों के सम्बन्ध में ही औचित्य का वर्णन किया है। उनके अनुसार ये दोष कभी-कभी दोष नहीं रह जाते, उल्टे काव्य में सौन्दर्य भर देते हैं। कहीं-कहीं प्रयोग की विशेषता से अनुचित उक्ति भी शोभा देती है—जैसे फूलों की माला के मध्य में (विरसद्रुम) नीलकमल भी शोभावर्धक होता है। आश्रय की सुन्दरता से अभाव भी सुन्दर बन जाता है। काला आंजन भी नायिका के नयनों में पड़ कर शोभाजनक हो जाता है:—

> सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
> नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥
> किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
> कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ (—काव्यालङ्कार, प्रथम परिच्छेद)

इन पंक्तियों को पढ़ने पर लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है कि उनके अन्तर्गत किया गया विचार औचित्य पर ही आधारित है। चौथे परिच्छेद में भामह लोक-विरोधी दोषों की चर्चा करते हैं। आचार्य भरत के प्रकृत्यौचित्य की भांति ये भी प्रकृतिगत औचित्य या अनौचित्य के उदाहरण देते हैं। उदाहरणार्थ पुनरुक्ति एक दोष है, किन्तु भय, शोक, असूया, हर्ष, आश्चर्य में यही दोष उक्ति में जीवन डाल देता है:—

> भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
> यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥ (—काव्यालङ्कार ४।१४)

आचार्य दण्डी ने भी दोषों के प्रसङ्ग में ही औचित्य का वर्णन किया है। आचार्य भरत और भामह की तरह इन्होंने भी गुणों और दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था को स्वीकार किया है। कहीं का दोष कहीं का गुण बन जाता है। उदाहरणार्थ, अपार्थ एक दोष है किन्तु पागल व्यक्ति या बालक की उक्ति में यही दोष गुण बन जाता है, क्योंकि वहां यह सर्वथा उचित है:—

> समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
> उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥ (—काव्यादर्श ४।५)

दोष और गुण, नित्य और प्रकृतिगत नहीं होते बल्कि परिस्थिति के अनुसार गुण दोष बन जाते हैं और दोष भी गुण बन जाया करते हैं:—

> विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्।
> उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥ (—काव्यादर्श ४।५-७)

उपमा के दोष-प्रसङ्ग में दण्डी का कहना है कि सहृदय ही उपमा के गुण-दोष के निर्णायक होते हैं यदि सहृदय किसी उपमा को उचित समझते हैं तो वह उचित ही है भले ही उसमें लिङ्ग,

वचन की हीनता या आधिक्य जैसे दोष वर्तमान हों। जो उपमा सहृदयों को प्रिय एवं उचित न लगे वही सदोषा उपमा होगी। अर्थात् औचित्य ही गुण-दोष का नियामक तत्त्व होता है। अत स्पष्टत: दण्डी की समीक्षा में भी औचित्य की पूरी मान्यता रही है।

आनन्दवर्धन : औचित्य का प्रथम नामोल्लेख

आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम औचित्य का विशद एवं विस्तृत विवेचन किया। साहित्य-शास्त्र की अब तक की परम्परा मे ये प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने औचित्य का नामोल्लेख किया। आनन्दवर्धन ही विशेष रूप से क्षेमेन्द्र की औचित्य-सम्बन्धी विचारधारा के मूल स्रोत रहे। आनन्द-वर्धन ने छह प्रकार के औचित्य का प्रतिपादन किया है—रसौचित्य, अलङ्कारौचित्य, गुणौचित्य, सङ्घटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य और रीत्यौचित्य। रस से पृथक् रह कर अलङ्कार स्वयं में निरर्थक है, अतएव अलङ्कार को रस के उपयुक्त तथा उसका पोषक होना चाहिए, उनका प्रतिबन्धक नही। काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग जबरदस्ती न होना चाहिए। यमक, श्लेषादि शब्दालङ्कारो का प्रयोग केवल चमत्कार एवं बाह्य रूप के लिए नहीं होना चाहिए। काव्य में अलङ्कारों का स्थान गौण ही रहना चाहिए, मुख्य नहीं।

आनन्दवर्धन ने गुणौचित्य का वर्णन किया है। गुण, रस के धर्म होते हैं। गुणों की अभि-व्य- जना वर्णों के द्वारा होती है। विप्रलम्भ एवं सम्भोग शृङ्गार में माधुर्य गुण के व्यञ्जक एव रौद्र तथा वीर रस में ओजोगुण-व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग होना चाहिए। इसी तरह अन्य रसो के अनुकूल ही गुणों का प्रयोग होना चाहिए।

वर्णों की सङ्घटना गुणों पर आधारित रहती है और गुण, रस का धर्म होता है। अत वर्ण-सङ्घटना भी रसानुरूप ही होनी चाहिए। वर्ण-सङ्घटनागत औचित्य भी परमावश्यक है। जहाँ भी रस की अभिव्यञ्जना होगी, वहाँ उसका प्रमुख कारण होगा रसानुरूप वर्णों की सङ्घटना का औचित्य।

काव्य में रस की प्रधानता के लिए शब्द और अर्थ की योजना औचित्यमयी होनी चाहिए। विरोधी रसों का समानाधिकरण्य मे (एक ही स्थल में) प्रयोग न होना चाहिए, विरोधी रसो के विभावादिकों का वर्णन न होना चाहिए। गौण वस्तु, पात्र एवं वातावरण आदि का इतना अधिक वर्णन न हो कि अङ्गी रस नीचे दब जाय। अङ्गीरस का वर्णन सर्वाङ्ग तथा अङ्गरस रसों का वर्णन आंशिक होना चाहिए। इन सभी रस-सम्बन्धी स्थलों में यदि औचित्य की रक्षा न की गयी तो अङ्गीरस का पूर्ण आस्वादन नहीं मिल सकेगा, क्योंकि रसभङ्ग का एक मात्र कारण अनौचित्य ही होता है :—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ (—ध्वन्यालोक ३।१०)

औचित्यपूर्ण रस का प्रयोग ही रस का महान् रहस्य है। अङ्गी और अङ्गरसों का अविरोध-पूर्ण वर्णन तभी सम्भव है जब कि विरोधी या अविरोधी रस को अङ्गीरस में परस्पर मिला-जुला कर वणन न किया जाय

आनन्दवर्धन का प्रबन्धौचित्य-वर्णन भी बड़ा मार्मिक है। प्रबन्ध-कल्पना की पूर्ण सफलता के लिए आवश्यक है कि प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में अनुरूपता हो। प्रतिपाद्य कथा-वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। प्रासङ्गिक इतिवृत्तों का वर्णन अङ्गीरस को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। ऐसी घटनाएँ ही काव्य में चुनी जायं जो प्राकरणिक रस की अनुगामिनी हों, विरोधी रस की पोषिका कदापि न हों।

आनन्दवर्धन के अनुसार औचित्य शैली का भी नियामक होता है। किस प्रकार की शैली किस प्रकार के काव्य के अनुरूप एवं योग्य होगी, यह औचित्य के द्वारा ही निर्णीत होता है। काव्या के वर्णन में उन्होंने वृत्यौचित्य का वर्णन किया है। वृत्यौचित्य की परिभाषा लोचन में इस प्रकार दी गयी है—'परुषोपनागरिकग्राम्याणां वृत्तीनामौचित्यम्।' मुख्य रस के अनुकूल ही वृत्तियों का निबन्धन होना चाहिए।

आनन्दवर्धन ने दो प्रकार के दोष बतलाये हैं—(१) व्युत्पत्ति (ज्ञान) के न होने से और (२) प्रतिभा के अभाव से। इनमें प्रथम दोष प्रतिभा के चमत्कार से छिप सकता है और फिर वह दोष नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, कालिदास ने आराध्य देवता शिव एवं पार्वती का शृङ्गार, जनसामान्य के शृङ्गार के समान वर्णन किया है। यह ठीक है कि इस वर्णन में व्युत्पत्ति की कमी है, किन्तु इस वर्णन में प्रतिभा का इतना सुन्दर विन्यास है एवं यह वर्णन रस से इतना ओत-प्रोत है कि यहां अव्युत्पत्तिकृत दोष प्रतीत ही नहीं होने पाता। प्रतिभा के चमत्कार में यह दोष दब गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहां भी दोष का नियामक औचित्य ही है:—

द्विविधो हि दोषः कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते।...तथा हि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वाद्ग्राम्यत्वेन प्रतिभासते।..एवमादौ च विषये यथौचित्यात्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे। (—ध्वन्यालोक ३।५)

आनन्दवर्धन ने रससिद्धि में औचित्य को अत्यावश्यक माना है। इनके अनुसार औचित्य ही रस का परम रहस्य है (रसस्य परा उपनिषत्)। वे रसध्वनि को आत्मभूत तत्त्व मानते हैं। अतः उनके लिए जो भी वस्तु रस-ध्वनि का प्रतिबन्धक हो, वह हेय है और अनौचित्य चूंकि रसभङ्ग का एकमात्र कारण है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है। इसलिए आनन्दवर्धन ने औचित्य-तत्त्व को स्वीकारा तो अवश्य ही, किन्तु उसका स्थान रस के नीचे दिया। उन्होंने औचित्य की परिभाषा भी नहीं दी, नहीं तो स्पष्ट हो जाता कि उनकी दृष्टि में औचित्य का निश्चित रूप में क्या स्थान था।

राजशेखर और अभिनवगुप्त

काल ने महाकवि राजशेखर की काव्य-मीमांसा को अधूरा ही हमें दिया है। कवि-रहस्य के प्रथम अध्याय में ही राजशेखर ने व्युत्पत्ति की चर्चा की है। उनके अनुसार जो उचितानुचित का भेद करे, वही व्युत्पत्ति है (उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिरिति यायावरीयः)। राजशेखर की परम विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरी ने भी औचित्य का पर्याप्त महत्त्व दिया है पाक के स्थान में

उन्होंने औचित्य को ही आधार बनाया है। प्रकृत रस के अनुरूप शब्द एवं अर्थ का निबन्धन ही 'पाक' है। 'पाक' का शाब्दिक अर्थ है काव्य की प्रौढ़ता। राजशेखर ने भी गुण-दोष के नित्यानित्य स्वरूप को स्वीकार किया है। कोई भी दोष परिस्थिनि के अनुकूल ही दोष बनता है। उसके विपरीत परिस्थिति में वही गुण बन जाता है। इसका नियामक तत्त्व औचित्य होता है, क्योंकि वह जब दूष्य-क्रिया से अनुचित हो जाता है तभी वह गुण बनता है। जिस कवि में औचित्य-ज्ञान एव काव्य के प्रति जागरूकता रहती है, वह दोष को भूषण बना देता है और निम्न कोटि के कवि का भूषण भी दोष बन जाता है। कारण यही है कि उसमें औचित्य का अनुसन्धान नहीं होता।

औचित्य के इतिहास में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने औचित्य पर विस्तृत विचार करने वाले ध्वन्यालोक ग्रन्थ पर टीका लिखी। इसलिए इनका औचित्य-तत्व के प्रति दृष्टिकोण भी आनन्दवर्धन के समान ही है। अभिनव का कथन है कि रस-ध्वनि की सिद्धि मे औचित्य का नाम लेते ही हमारे सामने सीधे एक प्रश्न उठता है कि उचित किसी अन्य वस्तु के लिए ही कहा जाता है, क्योंकि कोई वस्तु स्वयं में उचित या अनुचित तो होती नहीं। वह किसी इतर वस्तु की अपेक्षा रखती है जिसके लिए वह उचित या अनुचित हुआ करती है। वे सभी वस्तुएँ जिस तत्त्व के लिए उचित या अनुचित होती हैं, वह एक मात्र शिरोमणिभूत काव्य का आत्मतत्त्व रस-ध्वनि ही है :—

उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति।

(—लोचन)

अलङ्कारौचित्य के प्रसङ्ग में उनका कथन है कि अलङ्कार का सबसे महान् औचित्य यह है कि वह अलङ्कार्य तत्त्व (रस-ध्वनि) के लिए हो, क्योंकि अलङ्कार शब्द तभी सार्थक होगा, जब उसका कोई अलङ्कार्य तत्व रहे, अन्यथा शव को सजाने की तरह ही अलङ्कार भी व्यर्थ है। अतएव अलङ्कार भी आत्मभूत रस-ध्वनि को ही अलङ्कृत करते हैं। वीतराग सन्यासी के शरीर पर अलङ्कार हास्यास्पद ही होते हैं, साथ ही अनुचित भी लगते हैं। इसका कारण यही है कि अलङ्कार्य—यति-शरीर—अलङ्कारों के लिए अनुचित है :—

तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। (—लोचन)

अभिनवगुप्त ने औचित्य को एक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार उस वस्तु या तत्त्व को सबसे पहले ढूंढ़ना चाहिए जिसके सम्बन्ध में औचित्य बँधा रहता है। और वह तत्त्व रस-ध्वनि ही है। अतएव औचित्य रस-ध्वनि की सदा अपेक्षा रखता है। यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की भांति औचित्य को गौण स्थान दिया है।

भोज, कुन्तक और महिम भट्ट

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में औचित्य का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अर्थ-दोषो में 'औचित्य-विरुद्ध' नामक एक दोष स्वीकार किया है वे 'औचित्य' को भाषा तथा शैली का गुण

मानते हैं। इसी प्रकार विषय वाच्य देश काल आदि औचित्य का वर्णन उन्होंने किया है। औचित्य को वे काव्य का एक गौण अङ्ग ही मानते है।

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व मानते हैं। वक्रता का मूलाधार है औचित्य। काव्य-गुणों एवं वक्रता के भेदों में उन्होंने औचित्य को ही आधार माना है:—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥ (—वक्रोक्तिजीवित १।५३)

कुन्तक के मत में औचित्य काव्य-सौन्दर्य अथवा वक्रता का अनिवार्य किन्तु एक सामान्य गुण मात्र है, अन्य कुछ नहीं।

आचार्य महिम भट्ट रस को परम तत्त्व मानते हैं। रस, भाव, प्रकृतिगत औचित्य को इन्होंने स्वीकार किया है। ध्वनि को उन्होंने अनुमिति में अन्तर्भूत किया है। शब्द एवं अर्थगत औचित्य की गणना भी इन्होंने की है जिनमें केवल शब्दगत औचित्य पर विचार किया गया है और अर्थगत औचित्य को यह कह कर छोड़ दिया गया है कि आनन्दवर्धन ने उसका वर्णन कर ही दिया है। महिम भट्ट के शब्दगत औचित्य वस्तुतः पांच प्रकार के दोष ही हैं—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पुनरुक्ति और अधिकपदता। उनके मत में ये दोष ही अनौचित्य हैं। उन्होंने दोषों के अभाव को ही औचित्य समझा है। महिम भट्ट के बाद दुर्भाग्य से यही परिपाटी चल पड़ी और बाद के आचार्यों ने प्रायः औचित्य को दोषाभाव ही माना जिसका कि औचित्य के अनुयायी उद्गाता कविवर क्षेमेन्द्र ने जोरदार खण्डन किया है।

क्षेमेन्द्र-कृत सर्वाङ्गीण विवेचन

औचित्य का सर्वाङ्गीण विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र ने किया। काव्य-सामान्य को परखने की कसौटी औचित्य है। उनके अनुसार औचित्य ही काव्य का शिरोमणिभूत आत्मतत्त्व है। औचित्य रस का भी जीवन है। क्षेमेन्द्र का कहना है कि काव्य में यदि अनौचित्य रहे तो भले ही वह अलङ्कारों एवं गुण इत्यादि काव्य के शोभाधायक तत्वों से युक्त हो, किन्तु वह काव्य व्यर्थ है। अलङ्कार तो कुण्डलादि की तरह अलङ्कार ही है और गुण भी शौर्यादि की भांति काव्य के गुण-मात्र है। काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है। उनके अनुसार रस काव्य का केवल अस्थिर जीवित है। क्षेमेन्द्र की सम्मति में रस का क्षेत्र औचित्य की परिधि के अन्तर्गत आ जाता है। अलङ्कार एवं गुणों का एक मात्र कार्य है काव्य को सुन्दर और मनोहर बनाना, और यह तभी सम्भव हो सकेगा जब कि अलङ्कारों एवं गुणों का प्रयोग काव्य में उचित ढङ्ग से किया गया हो।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की बड़ी गम्भीर एवं मार्मिक परिभाषा की है। कोई भी वस्तु यदि किसी वस्तु के अनुरूप या अनुकूल होती है, तो विद्वान् लोग उस वस्तु को उचित कहते हैं। और उचित भाव को ही 'औचित्य' कहते हैं

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ (—औचित्य-विचार-चर्चा)

भौतिक एवं काव्य-जगत् में कोई भी वस्तु अपने में न तो प्रिय और न सुन्दर होती है, अपितु उस वस्तु का सौन्दर्य और प्रियत्व इस बात पर निर्भर रहता है कि वह वस्तु किस स्थिति मे कैसी खप जाती है। सुन्दरत्व और प्रियत्व सापेक्ष शब्द है, कोई वस्तु कहीं सुन्दर लगती है तो कहीं दोष भी बन जाती है। परुष व्यञ्जनों का शब्दाडम्बर शृङ्गार रस का परिपन्थी हो सकता है, किन्तु वीर एव रौद्र रसों में वही शब्दाडम्बर गुण बन जाता है। लोक में भी दूध जैसा लाभदायक पदार्थ उदर-रोगी के लिए हानिकारक ही नहीं, घातक भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका प्रयोग उदर-रोग की स्थिति में अत्यन्त अनुचित होता है। औचित्य देश, काल, परिस्थिति, वक्ता, वाच्य इत्यादि के अनुसार असंख्य प्रकार का हो सकता है, किन्तु सामान्यतः 'औचित्य' पद से उन सबका तात्पर्य समझ में आ जाता है। रस को काव्य का आत्मा मानने वाले साहित्याचार्यों के प्रति क्षेमेन्द्र का कथन है कि रस तो काव्य का अस्थिर तत्त्व होता है, स्थिर तत्त्व तो औचित्य ही है :—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (—औचित्य-विचार-चर्चा)

'वेणीसंहार' नाटक में भले ही दुर्योधन एवं उसकी प्रिया भानुमती का शृङ्गार-वर्णन काव्य-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट और मँजा हुआ हो, और रस-परिपाक में पूर्णतः खरा उतरे, किन्तु नाटक की कथा-वस्तु को ध्यान में रखते हुए यदि विचार किया जाय तो उस अवसर पर जब कि रणभेरी बज रही है, दुर्योधन के बन्धु एवं उसके सपक्षी वीरों के वध की पाण्डवों द्वारा निर्मम प्रतिज्ञाएँ की जा रही हैं, उस समय उसका अपनी प्रियतमा के साथ प्रमदवन में प्रणय-केलि करना सर्वथा अप्रासङ्गिक एवं अनुचित है। अतएव यह शृङ्गार-वर्णन यहाँ हेय है, प्रिय कदापि नहीं। इस अकाण्डताण्डव से नाट्य-प्रबन्ध-कल्पना में दाग़ लग जाता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ नाटक के सुन्दरत्व एवं प्रियत्व का नियामक औचित्य ही है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि औचित्य ही काव्य का स्थिर तत्त्व है जिसके न रहने पर काव्य उपहास का साधन बन कर एक विद्रूप मात्र रह जाता है।

उपर्युक्त रसगत अनौचित्य पर हम एक प्रकार से और भी विचार कर सकते हैं। दुर्योधन नाटक का खलनायक है, अतएव नाटककार नाटक के प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के लिए सिद्धान्ततः खलनायक की कमज़ोरियाँ, दुष्टता, उसके अनुचित कार्य तथा उसकी उन समस्त हास्यास्पद घटनाओं का चित्रण कर सकता है, जो नायक की कार्य-सिद्धि में सहायक बनें और खलनायक के विनाश मे कारण बनें। इस बात को दृष्टिगत करते हुए उपर्युक्त केलि-वर्णन नायक भीम की कार्य-सिद्धि में सहायक होता है तथा खलनायक दुर्योधन के विनाश की सूचना देता है जो असमय में कामिनी-कटाक्षों के चक्कर में फँस जाता है। स्पष्ट है कि यह रसगत अनौचित्य भी नाटक की लक्ष्य-सिद्धि को ध्यान में रख कर देखने से परम औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। अतएव इस विरोधी दृष्टिकोण से विचार करने पर भी यही बात सिद्ध होती है कि रसगत औचित्य एवं अनौचित्य भी काव्य

का उपकारक हो सकता है। अतएव औचित्य हर हालत में रस का नियामक ही दिखलायी पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन पहले विचार से विरुद्ध भले ही हो, किन्तु तात्पर्य यह है कि काव्य के रस की स्थिति उसके अनुचित या उचित होने पर निर्भर रहती है। क्षेमेन्द्र का यही मन्तव्य है जब वे कहते हैं कि औचित्य काव्य का स्थिर तत्त्व है जब कि रस अस्थिर तत्त्व।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का आत्मभूत तत्त्व माना है और रस को काव्य का जीवन माना है। जिस प्रकार मानव को आत्म एवं जीवन-तत्त्व दोनों की समान आवश्यकता होती है, ठीक उसी तरह काव्य को जीवनस्वरूप रस की तथा आत्मस्वरूप औचित्य की आवश्यकता है। बिना आत्म-तत्त्व के जैसे जीवन की पृथक् सत्ता नहीं, वैसे ही औचित्य के बिना रस की भी कोई स्थिति नहीं—यही रहस्य है कदाचित् क्षेमेन्द्र की औचित्य-परिभाषा का—**औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।** क्षेमेन्द्र का कथन है कि काव्य में अलङ्कारों तथा गुणों से क्या प्रयोजन जब औचित्य जो कि काव्य का जीवित तत्त्व है, काव्य में वर्तमान हो, क्योंकि अलङ्कार तो अलङ्कार ही हैं (अर्थात् अलङ्कार्य तो हैं नहीं) और गुण भी गुणस्वरूप हैं (अर्थात् गुणी नहीं)। वस्तुतः इन अलङ्कारों एवं गुणों की योजना काव्य के आत्म-तत्त्व औचित्य के पोषक के रूप में ही होती है :—

> **काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।**
> **यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥**
> **अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।**
> **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ (—औचित्य-विचार-चर्चा)**

अतएव गुण-अलङ्कारादि से संयुक्त होते हुए भी काव्य क्षेमेन्द्र के लिए निर्जीव है यदि उसमें औचित्य का अभाव हो :—

औचित्यं तु वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य। तेन विनाऽस्य गुणालङ्कारयुक्तस्यापि निर्जीवितत्वात्॥ (—औचित्य-विचार-चर्चा) —औचित्य जिसकी परिभाषा आगे की जायगी काव्य का स्थिर एवं अमर प्राण है। इसके बिना गुणों एवं अलङ्कारों से युक्त हो कर भी काव्य-शरीर निष्प्राण होता है।

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए क्षेमेन्द्र ने अन्य ढङ्ग से भी विवेचन किया है। उनका कहना है कि उचित स्थान पर प्रयुक्त होने से ही अलङ्कार, अलङ्कार कहलाते हैं, तथा औचित्य से संयुक्त हो कर ही गुण, गुण कहला सकते हैं; अन्यथा अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर अलङ्कार दूषण बन जाते हैं, तथा गुण दुर्गुण हो जाते हैं :—

> **उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।**
> **औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥ (—औ०-वि०-च०)**

क्षेमेन्द्र ने अनौचित्य और काव्य-दोषों का भेद भी स्पष्ट कर दिया है। अनौचित्य और दोष पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। अनौचित्य काव्यत्व को नष्ट कर देता है। अनौचित्ययुक्त काव्य

काव्य ही नहीं रह जायगा, जब कि दोष की उपस्थिति काव्य में भले ही न्यूनता-हीनता ला दे किन्तु दोष के आ जाने से काव्य का काव्यत्व नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पिशुनता आदि दोषों से दूषित भी मनुष्य, मनुष्य ही कहलाता है (भले ही वह दोषी मनुष्य कहलाये), वैसे ही सदोष काव्य भी काव्य तो कहलाता ही है। कीटों से अनुविद्ध रत्न का रत्नत्व नहीं समाप्त होता, परन्तु अनौचित्य से दूषित होने पर तो काव्य की संज्ञा ही नष्ट हो जायगी। अतएव अनौचित्य काव्य का घातक तत्त्व है जब कि दोष, काव्य के सौन्दर्य में केवल न्यूनता ही लाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के २८ भेदों का वर्णन किया है। उन्होंने प्रत्येक भेद के औचित्य एव अनौचित्य का उदाहरण दिया है। इन २८ भेदों का सङ्कलन इस प्रकार किया गया है :—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे॥
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्॥ (—औ० वि० च०)

उपर्युक्त कारिकाओं में २८ भेद स्पष्ट हैं। अन्तिम पंक्ति में 'काव्यस्याङ्गेषु' पद महत्त्वपूर्ण है। औचित्य उपर्युक्त पद, वाक्य आदि में तो वर्तमान रहता ही है, पर काव्य के एतदतिरिक्त समस्त अङ्ग-उपाङ्गों में भी परिव्याप्त रहता है। जब औचित्य के निवास-स्थान स्वरूप इन २८ तथा काव्याङ्गों के अगणित रूप पर हम विचार करते है तो समझ में आता है कि औचित्य किस प्रकार 'काव्य-शरीर' की धमनी-धमनी, शिरा-शिरा, कण-कण में रक्त की बूंदों के समान भरा रहता है। वस्तुतः पद इत्यादि इन स्थूल आवासों के कथन से क्षेमेन्द्र का यही तात्पर्य समझ में आता हे कि ऐसा कोई काव्य ही नहीं सम्भव है जिसके किसी न किसी अङ्ग में अनौचित्य वर्तमान न हो और वह काव्य कहलाता हो।

क्षेमेन्द्र ने इन भेदों को गिना कर ही नहीं छोड़ा, बल्कि उन्होंने प्रत्येक के औचित्य एव अनौचित्य के उदाहरण दे कर बड़े तार्किक ढङ्ग से विषय का विशद-विवेचन भी किया है। इन उदाहरणों से औचित्य-सिद्धान्त की व्यावहारिकता स्पष्ट झलक उठती है।

क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त ने साहित्यशास्त्र-जगत् में एक क्रान्तिकारी मार्ग दिखलाया। अलङ्कार, रीति एवं रस-सिद्धान्त आदर्शवादी भावना से प्रेरित हैं। इनकी युक्ति प्रायः आत्मनिष्ठ होती है, किन्तु औचित्य में तो विशुद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण निहित है—यह अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विवेचन बड़े ही सरल किन्तु स्पष्ट रूप में किया है। उन्होंने औचित्य का भेद अन्य काव्याङ्गों से स्पष्ट किया है और अन्त में इसे काव्य का आत्मा ठहराया है। बिना किसी पूर्वग्रह के यदि निष्पक्ष हो कर औचित्य-सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादित होने के बाद साहित्यशास्त्र-जगत् में काव्य के आत्म-तत्त्व-विषय को एक बार पुनः बदलना चाहिए था और वह स्थान 'औचित्य' को मिलना चाहिए था, परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इस सिद्धान्त को जो कि वस्तुतः व्यावहारिक था आगे बढ़ने का सुअवसर न

मिल सका जिसका प्रमुख कारण कदाचित यह रहा कि औचित्य बड़ा ही सीधा-सादा सामान्य-सा सिद्धान्त रहा। इसलिए उसकी प्रतिष्ठापना के लिए क्षेमेन्द्र ने तर्कों से भरे अपने प्रसिद्ध पाण्डित्यपूर्ण लक्षण-ग्रन्थों के टक्कर के पण्डिताऊ लक्षण-ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया। परिणामस्वरूप विद्वानों की सद्भावनापूर्ण दृष्टि सिद्धान्त पर पड़ी ही नहीं। दूसरे उन्हें कोई व्युत्पन्न सहयोगी आचार्य आगे मिला नहीं जो अभिनव की तरह ही औचित्य को काव्य का आत्मतत्त्व मनवा कर छोड़ता।

वस्तुतः औचित्य अत्यन्त व्यापक तत्त्व है। इसकी परम व्यापकता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इसे अत्यन्त साधारण समझ कर ही परवर्ती साहित्य-महारथियों ने इसे काव्य का आत्म-तत्त्व मानने में बड़ी हिचक दिखलायी। फिर भी क्षेमेन्द्र की यह औचित्य-कल्पना अत्यन्त उर्वर, गम्भीर एवं सार्थक है। आज के व्यवहार-प्रधान युग में क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त का समादर हम देख सकते हैं। वर्तमान साहित्य की गतिविधि औचित्य-सिद्धान्त पर ही आधारित देखी जा सकती है (यद्यपि प्रत्यक्षतः कोई साहित्यकार इसे माने या न माने)। अलङ्कार, रीति, गुण एवं रस-तत्त्व तक को आधुनिक साहित्य में सम्भवतः उतना आदर और मान्यता नहीं मिल रही है जितना औचित्य की भावना को। सामञ्जस्य और समरसता का नाम ही औचित्य है। अंग्रेजी की शब्दावली में इसे Propriety, Adaptation, Appropriateness आदि नामों से हम पुकार सकते हैं। प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य की समस्त विधाओं में आज साहित्य के सच्चे साहित्य होने की कसौटी है, उसका औचित्यपूर्ण होना।

क्षेमेन्द्रोत्तर आचार्य

क्षेमेन्द्र के बाद औचित्य पर किसी आचार्य ने विस्तृत विचार नहीं किया। आचार्य मम्मट एव कविवर विश्वनाथ ने औचित्य को गुण-दोषों तक ही सीमित रखा। भामह, दण्डी आदि की भाँति ही मम्मट का कथन है कि औचित्य के समावेश से काव्य में कहीं-कहीं दोष भी गुण हो जाते हैं, और कहीं न गुण, न दोष :—

वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ। (—काव्यप्रकाश)

साहित्य-महारथी पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शब्दसामर्थ्य के सम्बन्ध में औचित्य को काव्य का गुण माना है, इससे अधिक कुछ नहीं। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के रचयिता भोज ने औचित्य पर बड़े संक्षेप में विचार किया है। रस-सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण भोज ने औचित्य को काव्य-शैली तथा भाषा के अधीन स्थान दिया है। साथ ही गुण-दोषों के प्रसंग में ही औचित्य को भी समेट कर रख दिया है। वाक्यार्थ-दोषों के अन्तर्गत भोज ने 'औचित्य-विरुद्ध' नामक दोष का उल्लेख किया है। अलङ्कारों के वर्णन-प्रसङ्ग में उन्होंने औचित्य को शैली-भाषा के अधीन रखा है। उन्होंने छह प्रकार के औचित्य का वर्णन किया है—विषयौचित्य, वाच्यौचित्य, देशौचित्य, समयौचित्य, वक्तृविषयौचित्य तथा अर्थौचित्य। भोज के औचित्य-वर्णन से यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में औचित्य का स्थान काव्य में यदि नगण्य नहीं तो अल्प महत्त्व का अवश्य है तथा काव्य के आत्म-तत्त्व बनने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

के लेखक हेमचन्द्र ने यद्यपि औचित्य का भोज की अपेक्षा बड़े विस्तार

से वणन किया है किन्तु इनकी दष्टि मे भी औचित्य का स्थान काव्य मे गौण ही है मुख्य नही। और इन्होने भी औचित्य को गुण-दोष के साथ ही घुला-मिला कर रखा है।

कविवर विश्वनाथ ने भी मम्मट की भाँति औचित्य को गुण-दोषों के नियामक के रूप में ही प्रस्तुत किया। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य का जो स्वरूप क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र को प्रस्तुत किया, वह सर्वथा नवीन था। प्रथम बार 'औचित्य-तत्त्व' को काव्य का आत्मतत्त्व बनने का सौभाग्य मिला।

वस्तुतः औचित्य ऐसा तत्त्व है जो काव्य के रूप एव भावपक्ष, दोनों को अपनी परिधि में घेर लेता है। काव्य के वाह्य को सजाने-सँवारने वाले तत्त्व हैं अलङ्कार, गुण, रीति आदि और हृदयपक्ष के तत्त्व हैं रस, ध्वनि इत्यादि। औचित्य इन सबको अपने घेरे में समेट लेता है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के अनुसार :—

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालङ्कृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

जानकवि और उनकी रचनाएँ

●

रामकिशोर मौर्य

●

जानकवि के जीवन-वृत्त
तथा उनके समस्त
साहित्य का अनुसन्धान

जयपुर राज्य के अन्तर्गत एक हजार गांव की स्वतन्त्र जागीर शेखावाटी पांच हिस्सों में बंटी थी—बिसाऊ, सूरजगढ़, डुण्डलोद, झुंझनूं तथा खेतड़ी। इसी राज्य के प्रसिद्ध [illegible] संस्थान सीकर के इलाके में एक परगना फ़तहपुर है। वर्तमान शेखावट राजवंश से पहले कायमखानी नवाबों का शासन रह चुका है। ये क़ायमखानी नवाब मुसलमानी मज़हब स्वीकार करने से पूर्व चौहान राजपूत थे। ददरेवा के मोटाराव चौहान के पुत्र करमसी को सं० १४४० में दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के ओहदेदार सैयद नासिर ने मुसलमान बनाया और उसका नाम क़याम खाँ रखा। यही क़यामखानी या क़ायमखानी वंश का मूल पुरुष था। सैयद नासिर की मृत्यु हो जाने के पश्चात् क़याम खाँ उसकी जगह नियुक्त हुआ। यह राजपूती शान का एक वीर था। हिसार इसको जागीर में मिला था। अपने प्रभाव से मुहम्मद खाँ तथा ताजखाँ को हिसार से बाहर निकाल दिया था। बाद में दोनों अलग हो कर झुंझनूं तथा फ़तहपुर में रियासतें कायम कीं।

फतहखाँ, फ़तहपुर का पहला नवाब था। इसके बाद क्रमशः जलालखाँ, दौलतखाँ, नाहरखाँ, फदनखाँ, ताजखाँ, अलफ़खाँ, दौलतखाँ, नाहरखाँ, सरदारखाँ, दीनदारखाँ, [illegible], सरदारखाँ नवाब हुए। इन नवाबों के बाद क्रमशः फ़तहपुर तथा झुंझनूं पर शिवसिंह शेखावट तथा ठाकुर शार्दूल सिंह शेखावट का अधिकार हुआ। अलफ़खाँ फ़तहपुर का सातवाँ क़ायमखानी नवाब था। नवाब अलफ़खाँ के ऊपर फ़तहपुर में एक बड़ा गुम्बजदार आलीशान मक़बरा बना हुआ है जो उनके नाम का स्मरण करा रहा है।

प्रारम्भ में स्वर्गीय हरिनारायण पुरोहित ('सुन्दर ग्रन्थावली') [illegible] द्विवेदी

(धूमकेतु' अगस्त १९३९ हिन्दी-ससार का अपरिचित कवि शीषक लेख) शर्मा (राजस्थानी', भाग ३, अङ्क ४, 'क़ायमखानी नवाब अलफ़ख़ाँ और उसकी हिन्दी कविता शीर्षक लेख) तथा मोतीलाल मेनारिया ('राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज', भाग १) आदि अधिकांश विद्वानों ने जानकवि का असली नाम अलफखाँ बताया और शाहजहाँ का साला माना; किन्तु अगरचन्द नाहटा ने अपनी विभिन्न खोजों तथा 'क़ायमरासो' ग्रन्थ के आधार पर यह सही प्रमाणित किया कि अलफ़ख़ाँ जानकवि नहीं, बल्कि उसका पिता था। अलफ़ख़ाँ के पाँच पुत्र थे —दौलतख़ाँ, न्यामतख़ाँ, शरीफ़ख़ाँ, जरीफ़ख़ाँ तथा फकीरख़ाँ। यही न्यामतख़ाँ या नियामतख़ाँ हमारे जानकवि है। कविता में अपना उपनाम जानकवि ही लिखते रहे हैं। पिता का द्वितीय पुत्र होने से ये शासक न हो सके। अलफ़ख़ाँ के बाद दौलतख़ाँ राज्य के उत्तराधिकारी हुए। इसी से इनके सम्बन्ध में अन्यत्र कुछ भी लिखा नहीं मिलता। 'कायमरासो' में जानकवि ने फ़तहपुर के क़ायमख़ानी नवाबों का प्रारम्भिक इतिहास संक्षेप मे दे कर अपने पिता अलफ़ख़ाँ का विस्तार से परिचय दिया है। इस ग्रन्थ मे कवि ने दो-तीन स्थलो पर अपना नाम 'न्यामत' दिया है और ग्रन्थ के आरम्भ में अलफ़ख़ाँ को अपना पिता लिखा है:—

कहत जाँन अब बरनिहौं, अलिफखान की जात।
पिता जानि बढ़ि ना कहौं, भाखौं साची बात॥

कहा जाता है कि नारी-रत्न 'ताज' की शिक्षा एवं सङ्ग से बाल्य-काल में ही नवाब न्यामतख़ाँ उपनाम जानकवि के हृदय में कविता के संस्कार अङ्कुरित हो उठे थे। यह ताज न्यामतख़ाँ के पितामह नवाब ताजख़ाँ (द्वितीय) की सहोदरा बहिन थी। अपनी शादी के अनन्तर वह कृष्ण की अनन्य उपासिका बन गई थी।

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी, तुम,
इश्क की बिकानी बदनामी ही सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं नवाज हू भुलानी,
तजे कालमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिर ताज पाग कुल्हेदार,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पैं,
हूँ तो मुगलानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

फ़तहपुर के उदार नवाब शासक अपनी उदारता और विद्या-प्रेम के लिए विख्यात रहे हैं। आज इन नवाबी राज्यों का केवल नाम ही शेष रह गया है। इनकी दान में छोड़ी हुई अति विस्तृत गोचर-भूमि इनकी प्रजा-हितैषिता का साक्षी है। यहाँ की सुप्रसिद्ध बावड़ी विद्यार्थियो की सुविधा के लिए बनवायी गयी बतायी जाती है। यहाँ के नवाबों ने शिक्षणालयों, चिकित्सालयो आदि के निर्माण मे भी बड़ा उत्साह दिखाया था सन्त दादूदयाल के प्रधान शिष्य सुन्दरदास

प्रधानतया फतहपुर मे ही निवास करते थे शेखावाटी के चारण-कवियों में कृपाराम खिड़िया बुधदिन बारहट गोपालदान कविया नगराम खिड़िया नन्दलाल कविया ......राम कविया रामनाथ रतन हरदान किसिया, रामदयाल कविया, मानदान कविया आदि कुशल नीतिकार, कवि और इतिहासवेत्ता हो चुके हैं। रामगढ़, जबरापुर, मलसीसर, डूण्डलोद, बिसाऊ, मंडावा, झुंझनूं, मुकुन्दगढ, नवलगढ़, मण्डेला तथा चिड़ावा में अनेक कवि हुए हैं। डूण्डलोद के शिवसिंह शेखावत का 'प्रीतिकलिका' प्रेमाख्यान प्रसिद्ध है। शेखावाटी के 'ख्याल' (एक प्रकार के गीति-नाट्य) के रचयिताओं में नानूलाल राणा, उजीरा, प्रेमसुख भोजक, शालीराम निरमल (फ़तहपुर), पहलादीराम पुरोहित (फ़तहपुर), डालूराम अग्रवाल, धनराज सोनी, भानजीतगी, भूधरमल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके बनाये हुए 'ख्यालों' का किसी समय बड़ा महत्त्व था। आज भी 'ख्यालों' का अभिनय करने वाली कुछ मण्डलियां हैं।

जानकवि मुसलमान होते हुए भी हिन्दुत्व के स्वाभिमान से ओतप्रोत थे। 'कायमरासा' मे अपने चौहान-वंश के होने का उन्होंने बड़े अभिमान के साथ उल्लेख किया है।

> जिती जात रजपूत की, सगरे हिंदुस्तान।
> सबमें निहचै जानियो, बड़ा गोत चहुवान॥
> × × ×
> चाहुवान यातें कह्यो, चहूं कूट में आन।
> सगरे जम्बूदीप में, सम को गोत न आन॥

वे हिन्दी, अरबी तथा फ़ारसी के विद्वान् होने के साथ-साथ संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। धार्मिक कट्टरता भी उनमें नहीं थी। पिता की मृत्यु पर उन्होंने 'बैकुण्ठ गये' शब्द लिखा है। फतहपुर का नवाब घराना अपनी धार्मिक उदारता के लिए प्रसिद्ध रहा है। उनमें चौहान-जाति का हिन्दू रक्त-संस्कार बहुत कुछ अंशों तक तो विद्यमान था।

कवि ने हांसी के शेख मोहम्मद चिश्ती को अपना गुरु बनाया है।

'कविवल्लभ' तथा 'बुद्धिसागर' ग्रन्थ में पीर मुहम्मद के ४ पूर्वज कुतबों—जमाल, बुरहान, अनवर तथा नूरदी—के भी नाम दिये हैं।

जानकवि के जन्म तथा मृत्यु के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उनकी समस्त रचनाओं में अन्त में रचना-काल दिया हुआ है, इससे उनके काल का अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी सर्वप्रथम रचना सं० १६६९ की 'कथा कलावती' तथा अंतिम रचना सं० १७२१ की 'जफरनामानौमिरखां' है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म कम से कम विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अथवा इसके कुछ पहले हुआ होगा और मृत्यु अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्त तक हुई होगी। इस तरह ५२ वर्ष के दीर्घकाल पर्यन्त उस कवि ने साहित्य की सेवा की है। प्रथम रचना के पूर्व यदि उनकी १८-१९ वर्ष भी उम्र मान ली जाय तो वे लगभग ७० वर्ष से अधिक जीवित रहे हैं। वे व्यापक अध्ययन तथा अनुभव से सम्पन्न आशुकवि थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ दो या तीन पहर में या दो-एक दिनों में रच डाले हैं। इनका रचना काल शाहजहाँ तथा जहांगीर का राज्य-काल था।

रचनाएँ

जानकवि राजस्थान के निवासी होने से इनकी समस्त रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न संग्रहालयों में उपलब्ध होती हैं। जुलाई सन् १९४४ में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अगरचन्द नाहटा की सहायता से बीकानेर के एक सज्जन के पास से जानकवि के ७० हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियाँ, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, में मँगवायीं। ये समस्त प्रतियाँ एकेडेमी द्वारा खरीद ली गयी हैं। पहले ये समस्त ग्रन्थ एक ही जिल्दबँधी पोथी के रूप में थे। बाद में इन्हे अलग-अलग कर दिया गया। ये समस्त प्रतियाँ अभी वैसे ही हस्तलिखित रूप मे सुरक्षित हैं, किन्तु शीघ्र ही उनके प्रकाशित होने की सम्भावना है। इनके अतिरिक्त मुझे ८ अन्य ग्रन्थो की प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न सग्रहालयों में देखने को मिलीं। इस तरह जानकवि के ग्रन्थों की सख्या ७८ हो जाती है। केवल 'कायमरासो' तथा 'अलिफखाँ की पैड़ी' ग्रन्थ को छोड़ कर शेष समस्त ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में ही हैं। प्रायः इन सभी प्राप्त-प्रतियों की अवस्था अच्छी है। रचनाएँ मौलिक तथा अनूदित, दोनो रूपों में प्राप्त होती हैं। एकेडेमी की प्रतियाँ सं० १७७७ से स० १७८४ के बीच किसी 'फतेहचन्द ताराचन्द काडीडग़ानिया' द्वारा प्रस्तुत की गयी है। अन्यत्र इससे पहले या बाद में लिपिवद्ध की गयी प्रतियाँ भी मिलती हैं। इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ 'बुद्धि-सागर' है जो लगभग २०० पत्रों पर लिखित है तथा सबसे छोटा ग्रन्थ 'सवइया या झूलनाह' है। शेष में से ७-८ ग्रन्थ ६० या ७० पत्रों के, २२ ग्रन्थ लगभग २० या ३० पत्रों के, १०-१२ ग्रन्थ १० पत्रों के तथा शेष २ से ४ पत्रों के हैं। 'बुद्धिसागर' की उत्पत्ति का इतिहास कवि ने स्वय विस्तार से दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पञ्चतन्त्र नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का स्वतन्त्र अनुवाद-सा है। कवि ने इस ग्रन्थ की लोकप्रियता एवं विभिन्न अनुवाद रूपों का उल्लेख किया है।

ग्रन्थों के विषय की दृष्टि से जानकवि बहुश्रुत कवि था। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो मे "इस कवि की विशेषता इसकी रचनाओं की पंक्तियों की द्रुतगामिता में देखी जा सकती है। जान पड़ता है, इसकी प्रत्येक पंक्ति तत्क्षण अपने आप बनती चली गयी है; न तो उसे उसके लिए कुछ सोचना पड़ा है और न कोई परिश्रम ही करना पड़ा है। कथानक की रूपरेखा इस कवि के केवल सङ्केत मात्र से ही भरती चली जाती है और कुछ काल में प्रेम-गाथा प्रस्तुत हो जाती है। फिर भी इसकी रचनाएँ कोरी तुकबन्दियाँ नहीं कही जा सकतीं। उनके बीच-बीच में कुछ ऐसी सरस पंक्तियाँ आ जाती हैं जो किसी प्रौढ़ या सुन्दर काव्य का अङ्ग बन जाती हैं और उनकी संख्या किसी भी प्रकार कम भी नहीं की जा सकती।" कवि ने अपने पूर्व तथा वर्तमान की प्रचलित समस्त साहित्यिक धाराओं के विषयों को अपने ग्रन्थ का विषय बनाया। सूफ़ी तथा असूफ़ी कवियो की प्रेम-पद्धति, सिद्धों तथा नाथों की सिद्ध एव योग-साधना, सन्तों की दार्शनिक एवं नीतिपूर्ण उपदेशात्मक पद्धति, रीतिकालीन कवियों की शृङ्गारिक मुक्तक, नीतिपरक तथा काव्यशास्त्रीय-पद्धति को अपनाते हुए चरित-काव्यों तथा अन्य अनेक शृङ्गारिक-मुक्तक, ऐतिहासिक, वैद्यक सम्बन्धी रत्न-परीक्षा- विषयक, वार्ता-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। अगरचन्द नाहटा लिखते है कि "कवि का अध्ययन विशाल और अनुभव परिपक्व था। कोप, अलङ्कार, रस-निरूपण, वैद्यक आदि विविध विषयों के ग्रन्थ उसकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। जानकवि की रचनाएँ बड़ी ही सरस और ओजपूर्ण हैं उनमें अधिकांश शृङ्गार रसात्मक हैं और उनमें भी प्रेमाख्यानों की हैं

अधिकता है। जानकवि को हिन्दी का सबसे बड़ा ....काव्यों का रचयिता कहा जा सकता है।"[६]

जानकवि की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होंने अपने समय की प्रचलित कथाओं को ले कर काव्य-रचना की। अनेक ग्रन्थों में कथा की प्राचीनता की दुहाई भी दी है।[७] इस रूप में कवि ने अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी स्रोतों का उपयोग किया है। देवल दे की कथा अमीर खुसरो ने लिखी थी, लैला-मजनूं की कथा फ़ैज़ी, अमीर खुसरो तथा निज़ामी ने लिखी थी, नल-दमयन्ती की पौराणिक कथा तो विख्यात ही रही है, छिताई की कथा भी मध्ययुग की प्रसिद्ध प्रचलित कथा है। "हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों एवं सभ्यताओं के विभिन्न ग्रन्थों का इनका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत था। इसलिए जायसी की भाँति अप्रतीति-दोष इनमें कहीं भी नहीं आने पाया है।. . . इनकी भाषा अत्यन्त मधुर और प्राञ्जल है। इतनी सरस और शुद्ध भाषा का गर्व मुसलमान तो क्या हिन्दी कवियों में भी बहुत कम ही कर सकते हैं। इनके शृङ्गार और शान्तरस के चित्रण अत्यन्त सुन्दर हैं। इन्हें अपनी उक्तियों की मौलिकता पर अभिमान है। जो सत्य है—

> सबन ग्रन्थ करि हैं जो कोई।
> वाकी उकति न कहिहैं लोई॥ (—कथा कवलावती)"[८]

इन समस्त विषयों के आधार पर जानकवि के ग्रन्थों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है.—
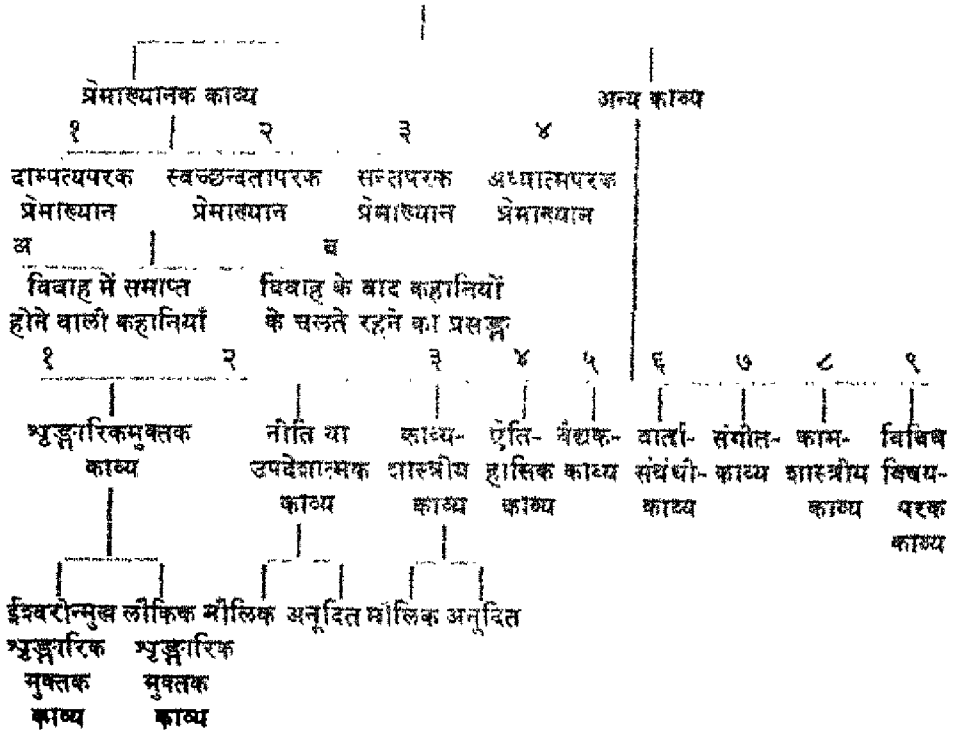
प्रेमाख्यानक-काव्य

१—दाम्पत्यपरक प्रेमाख्यान

(अ) विवाह में समाप्त होने वाली कहानियाँ

(१) कथा कलावन्ती—रचना-काल : सं० १६६९ वि०। लिपि-काल : सं० १७७८ वि०, मिती कार्तिक सुदी ११, शुक्रवार। विस्तार : १६ पृष्ठों में ३६ दोहे, ३६ चौपाई, २ सवैये तथा १३ पवङ्गम छन्द।

इसमें राजकुँवर पुरन्दर आठ विवाह के बाद भी कलावन्ती के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो कर योगि-वेश में वीणा में विरह व्यक्त करता हुआ कलावन्ती से एक अन्य विवाह करता है।

(२) कथा कौतूहली—रचना-काल : सं० १६७५। लिपि-काल : सं० १७७८, मिती चैत सुदी १०, मङ्गलवार। विस्तार : ३२ पृष्ठ, विविध छन्द। पुरीगाँव के राजा चन्द्रसेन के पुत्र सरवङ्गी तथा छबिनेर देश के राजा जगरूप और रानी रूपसरिसट की पुत्री कौतूहली की प्रेम-कथा है।

(३) कथा-कामलता—रचना-काल : सं० १६७८ वि०। लिपि-काल, सं० १७७८, मिती कार्तिक सुदी ९। विस्तार : ८ पृष्ठ, ३१ चौपाइयाँ तथा ३१ दोहे। इसमे हंसपुरी के राजा रसाल तथा सुन्दरपुरी की शासिका कामलता की छोटी-सी प्रेमकथा है।

(४) कथा पुहुपबरिखा—रचना-काल : सं० १६८५ वि०। लिपि-काल . सं० १७७८, मिती कार्तिक सुदी ७। विस्तार : ५४ पृष्ठ, १७२ चौपाइयाँ तथा १७४ दोहे। चौहानवंशीय श्रीनगर के राजा भूपाल के पुत्र पुरुषोत्तम तथा प्रेमपुरी के रूपनिधि रानी की पुत्री सुकेसी के पक्षी रूप में कहानी कहने से दोनों में दाम्पत्य-प्रेम सम्पन्न होता है। सुकेसी के पक्षी रूप में कहानी कहने का कवि का अपना ढङ्ग है।

(५) कथा रूपमञ्जरी—रचना-काल : सं० १६८५ अगहन मास। लिपि-काल : स० १७८४, मिती चैत बदी ७ मङ्गलवार। विस्तार : १२ पृष्ठ, ४४ चौपाइयाँ तथा ४४ दोहे। इसमे हस्तिनापुर की रानी परभावती के पुत्र ग्यानसिंध तथा कनकपुर की सुन्दरी रूपमञ्जरी की प्रेम-कथा है।

(६) कथा रतनमञ्जरी—[१०] रचना-काल : सं० १६८६ वि०। लिपि-काल : स० १७७८, मिती पूस वदी १ बृहस्पतिवार। विस्तार : ७८ पृष्ठ, २६४ चौपाइयाँ तथा २६६ दोहे। विस्तार की दृष्टि से प्रेमाख्यानों में सबसे बड़ा। इसमें स्वप्न-दर्शन से उत्पन्न राजकुँवर मधुसूदन तथा राजकुमारी रतनमञ्जरी की कौतूहलपूर्ण प्रेमकथा है।

(७) कथा रतनावती—रचना-काल : सं० १६९१ अगहन बदी ७। लिपि-काल स० १७८४, मिती फागुन सुदी ९ बुधवार। विस्तार : ७४ पृष्ठ, १७३ चौपाइयाँ तथा १७३ दोहे। इसमें अम्रितपुरी के राजा जगतराइ के पुत्र राजकुँवर महिमोहन तथा फुलवारी नगर के राजा सूरज तथा रानी चन्द्रावती की पुत्री अप्सरा रतनावती की कौतूहलपूर्ण प्रेमकथा वर्णित है। इसकी दो अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, शाखा जयपुर में हैं।[११]

(८) **मधुकर मालती**—[१] रचना-काल सं० १६९१ फागुन सुदी एक्कम। लिपि

काल स० १७७८ मिती पूस सुदी २ एतवार। विस्तार २६ पृष्ठ चौपाई दोहे तथा पवङ्गम छन्द अयोध्या नगर के रतन सौदागर के पुत्र मनकर तथा मन्त्या म पन्न वाली एव अतीव सुन्दरी मालती की प्रेम-कथा है। इसमें अनेक पुरुषों को ठुकरा कर अपने अहर्निश-भाव से मधुकर से प्रेम की सत्यता व्यक्त की है।

(९) कथा छीता—रचना-काल: सं० १६९३ कार्तिक सुदी ६। लिपि-काल: स० १७८४, मिती चैत बदी ५। विस्तार: १६ पृष्ठ, चौपाइयाँ तथा दोहे। इसमें देवगिरि के राजा देव की रूपवती कन्या छीता तथा पश्चिम दिशा के राजा राम की प्रेम-कथा है।

(१०) कथा मोहनी—रचना-काल: सं० १६९४ वि०, अगहन सुदी ४। लिपि-काल स० १७८४, चैत बदी ८। विस्तार: ८ पृष्ठ, १२२ दोहे।[11] इसमें मोहन-मोहिनी की प्रेम-कथा है। पहेलियाँ बुझवाने का प्रसङ्ग मुख्य है।

(११) कथा छबिसागर—रचना-काल: सं० १७०६ वि०। लिपि-काल: सं० १७७८, कार्तिक सुदी ९ बुधवार। विस्तार: ७ पृष्ठ, १५ चौपाई तथा १५ दोहे। जैनपुरी के राजा जैत के पुत्र गुनआगर तथा रामपुरी के राजा की छबिवन्ती कन्या छबिसागर की प्रेम-कथा है। इसमें कालिदास की भाँति चार प्रश्नों के मौन उत्तर में ही पाणिग्रहण होता है।

(ब) विवाह के बाद कहानियों के चलते रहने का प्रसङ्ग

(१२) कथा कवलावती—रचना-काल: सं० १६६९ वि० अर्थात् हि० सन् १०२३। लिपि-काल: सं० १७७८, मिती असाढ़ बदी १४। विस्तार: ६६ पृष्ठ, चौपाइयाँ, दोहे, सोरठे तथा सवैये। रूपनगरी के राजा रूपराइ तथा रानी रूपरेखा के पुत्र इन्द्रवदन तथा मदननगरी के राजा मदनराइ तथा रानी मदनकला की पुत्री कवलावती की प्रेम-कथा है।

(१३) कथा कनकावती—रचना-काल: सं० १६७५ वि० (जहाँगीर का राज्य)। लिपि-काल: सं० १७७८, मिती चैत सुदी ८। विस्तार: २२ पृष्ठ, चौपाइयाँ, दोहे एवं सोरठे। भरतनेर नगरी के राजा भरत के पुत्र परमरूप तथा सिद्धपुरी के राजा जगपतिराम की पुत्री कनकावती की प्रेमकथा है। 'कच्छपनिधि' विद्या का महत्त्व ग्रन्थ में स्पष्ट है।

(१४) कथा नलदमयन्ती—रचना-काल: हि० सन् १०७२ अर्थात् सं० १७१८ वि०। लिपि-काल: सं० १७७८। विस्तार: ६० पृष्ठ, १४६ चौपाइयाँ, १४६ दोहे तथा ५८ सवैये। इसमें उज्जैन नगर के राजा वीरसेन के पुत्र नल तथा विदर्भ देश के राजा भीमसेन की पुत्री दमयन्ती की अति प्राचीन पौराणिक प्रेम-कथा वर्णित है।

(१५) कथा सुभटराइकी—रचना-काल: हि० सन् १०७४ तथा सं० १७२० कार्तिक।[12] लिपि-काल: सं० १७८४, मिती चैत बदी १, बुधवार। विस्तार: १८ पृष्ठ, चौपाइयाँ तथा दोहे। इसके कथानक में सूरनगर के राजा सूरजमल के पुत्र कुँवर सुभटराइ उदीची, प्रतीची तथा अवाची दिशाओं के राजाओं की राजकुमारियों की रक्षा कर के तीनों से विवाह करता है और दाम्पत्य-सुख का भोग करते हुए सानन्द काल-यापन करता है।

(१६) कथा तमीमअनसारी—रचना-काल: सं० १७०२ वि० तथा हि० सन् १०५५। लिपि-काल सं० १७७७, फागुन सुदी ८ विस्तार १४ पृष्ठ दो-दो पक्तियों की १५०

चौपाइयाँ इसमें व्यापारी तमीम अनसारी की विपत्ति-कथा है। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़ कर मदीना से बाहर व्यापार के लिए जाता है। अनेक विपत्तिपूर्ण परिस्थितियों का सामना करने के पश्चात् वापस आ कर सपरिवार दाम्पत्य सुख का अनुभव करता हुआ काल-यापन करता है। इस ग्रन्थ में अनेक छोटी-छोटी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख है।

२. स्वच्छन्दतापरक प्रेमाख्यान

(१७) कथा अरदसेर पतिसाह---रचना-काल: सं० १६९० कुवार, बदी १२ शुक्रवार। लिपि-काल सं० १७८४, मिती चैत बदी १०। विस्तार: १० पृष्ठ, २२ चौपाइयाँ तथा २० दोहे। इसमें अरदसेर अरदुवान की पुत्री को युद्ध द्वारा बलात् ला कर अपनी पटरानी बनाता है।

(१८) कथा कामरानी व पीतमदास---रचना-काल: सं० १६९१, पूस बदी १० बुधवार (दोपहर में)। लिपि-काल: सं० १७८४, वि० मिती चैत वदी १०। विस्तार: २० पृष्ठ, चौपाइयाँ और दोहे। इसमें मुलतान नगर का राजकुँवर पीतमदास अपने चार मित्रों (सौदागर, मुरङ्किया, बढ़ईपुत्र तथा काछीपुत्र) की सहायता से राजाराम की पटरानी हरिदास की पुत्री कामरानी को लाकर विवाह करता है।

(१९) ग्रन्थ लैलैमजनूँ[१४]---रचना-काल: सं० १६९१ माघ, मकर सङ्क्रात के समय। लिपि-काल: सं० १७८४ वि०, फागुन सुदी १५। विस्तार: ६२ पृष्ठ, चौपाइयाँ, दोहे, सोरठे तथा सवैये। इसमें लैला-मजनूँ की प्रसिद्ध प्रेम-कथा है तथा 'पैमु पन्थ अति कठिन' ही मुख्य प्रतिपाद्य है।

(२०) कथा षिजरखाँ साहिजादै वा देवल दे---रचना-काल: सं० १६९४, पूस सुदी २। लिपि-काल: सं० १७७८, मिती चैत सुदी ६। विस्तार: १६ पृष्ठ, ८५ चौपाइयाँ तथा ८५ दोहे। पातिसाह अलाउद्दीन ने सागर के राजा कर्न को युद्ध में परास्त कर उसकी पत्नी कवला को अपनी पटरानी बनाया तथा उसकी पुत्री देवल दे को अपने बड़े पुत्र षिजरखाँ के साथ शादी कर दी। इस तरह पूरे ग्रन्थ में षिजरखाँ तथा देवल दे की प्रेमकथा है।

(२१) कथा कलन्दर---रचना-काल: सं० १७०२ वि०, हिम ऋतु। लिपि-काल सं० १७७७, फ़ागुन सुदी ८। विस्तार: ५ पृष्ठ, चौपाइयाँ और दोहे। चार चेरियों के रूप-सौन्दर्य पर मोहित मसीत जाति के सेवक कलन्दर की प्रेमकथा है।

(२२) बाँदीनावा---रचना-काल तथा लिपि-काल का उल्लेख ग्रन्थ में नहीं है, किन्तु ग्रन्थ पूरा प्राप्त है। विस्तार: ३ पृष्ठ, ७० चौपाइयाँ तथा अन्त में एक दोहा। इसमें मियाँ तथा चेरी बाँदी की लौकिक प्रेमकथा है। कवयित्री ताज विरचित 'बीवी बाँदी का झगड़ा' ग्रन्थ का आशय एक ही है।

३. सतपरक प्रेमाख्यान

(२३) कथा सतवन्ती---[१५]रचना-काल: सं० १६७८ वि० या हि० सन् १०३१। लिपि-काल सं० १७७७ मिती फागुन सुदी ३ शनीवार विस्तार १४ पृष्ठ ५१ चौपाइयाँ तथा ५१

दोहे और सोरठे। सौदागर मनसूर की पत्नी सतवन्ती [illegible] कुटनियों [illegible] भेज कर मिराज की कुप्रवृत्ति की अवहेलना करती [illegible] अपने [illegible] सत्य की [illegible]।

(२४) कथा सीलवन्ती—रचना-काल : सं० १६८४ वि०। लिपि-काल : सं० १७७७, मिती फागुन सुदी १० शनीवार। विस्तार : ६ पृष्ठ, २४ चौपाइयाँ तथा २५ दोहे। गुणवान् जौहरी की पत्नी रूपवान् सीलवन्ती एक बाजदार की दो कुटनियों (मुनारिन तथा [illegible]) तथा तोता को मिला कर वह अपने पातिव्रत-सत्य की रक्षा करती है।

(२५) कथा चन्द्रसेन राजा सीलनिधान—रचना-काल : सं० १६९१ पूस [illegible] २ शुक्रवार। लिपि-काल : सं० १७८४, मिती चैत बदी ९। विस्तार : ९ पृष्ठ, १७ चौपाइयाँ तथा १९ दोहे। चन्द्रपुरी का राजा चन्द्रसेन अपनी पत्नी सीलनिधान के अतिरिक्त तीन अन्य अधम नायिकाओं को अपनी पटरानी बनाता है, किन्तु सीलनिधान अपने पातिव्रत-सत्य से एक दिन राजा के ऊपर विजय पाती है। इसी एकनिष्ठ पातिव्रत-सत्य की महिमा ही इस ग्रन्थ का मूल है।

(२६) कथा कुलवन्ती—रचना-काल सं० १६९३ वि० पूस। लिपि-काल सं० १७७७, मिती फागुन सुदी १२। विस्तार : १८ पृष्ठ, ४६ चौपाइयाँ, ४६ दोहे तथा ४८ सोरठे। एक सौदागर की रूप-सौन्दर्यशीला पत्नी कुलवन्ती राजा कुतुबदीन की पाँच कुटनियों (नाइन, चुरियाइन, ज्योतिषिन, चितेरिन तथा [illegible]) के मुकाबले में अपने पातिव्रत की रक्षा करती हुई अन्त में राजा कुतुबदीन के दुर्व्यवहार से उनको जान से मरवाती है।

(२७) कथा निरमल—रचना-काल : सं० १७०४, माघ। लिपि-काल : । विस्तार : ४ पृष्ठ, १२ चौपाइयाँ तथा १२ दोहे। इसमें विधवा निरमल के सतीत्व की महिमा है।

४—अध्यात्मपरक प्रेमाख्यान

(२८) बलूकिया बिरही की कथा—रचना-काल : सं० १६९० वि० अर्थात् हि० सन् १०४४। लिपि-काल : सं० १७७७, फागुन सुदी ५। विस्तार : १० पृष्ठ, १२८ चौपाइयाँ। इसमें कवि ने इसराइल जाति के बलूकिया बिरही के ईश्वरोन्मुख विरह की विभिन्न अवस्थाओं तथा तादात्म्य का चित्रण किया है।

अन्य-काव्य

५—शृङ्गारिक-मुक्तक काव्य

(अ) ईश्वरोन्मुख शृङ्गारिक-मुक्तक काव्य

(२९) ग्रन्थ पैमुनामा—रचना-काल : सं० १६७५ वि०। लिपि-काल : मिती भादवा सुदी ११ मङ्गलवार। विस्तार : ६ पृष्ठ, २० चौपाइयाँ तथा २१ दोहे। इसमें प्रेम-तत्त्व को ही सब कुछ मान कर विरह-प्रेम की महत्ता व्यक्त की गयी है।

(३०) ग्रन्थ पैमसागर—रचना-काल : सं० १६९४, चैत सुदी। लिपि-काल : सं० १७७९, मिती चैत सुदी ११, शुक्रवार। विस्तार : २४ पृष्ठ, २९२ दोहे और एक सवैया। पैमुनामा ग्रन्थ की भाँति ही इस ग्रन्थ में भी विरह-प्रेम की महत्ता वर्णित है।

(३१) विरही को मनोरथ—रचना-काल सं० १६९४ चैत का अन्त। लिपि-काल सं०

१७७८, भादों सुदी १०। विस्तार : साढ़े तीन पृष्ठ, ४३ दोहे तथा एक तीन पंक्तियों की सवैया जीवात्मा को कवि ने विरही रूप में चित्रित करते हुए ईश्वरोन्मुख अवस्था का तादात्म्य स्थापित किया है।

(३२) दरसनामा पुडुहल—रचना-काल : × लिपि-काल : सं० १७७७, फागुन सुदी ३ विस्तार : २ पृष्ठ, २० पुडुहल छन्द, सभी छन्दों की अन्तिम पंक्ति दुहरायी गयी है। ईश्वरोन्मुख विरह-प्रेम ही इस ग्रन्थ का भी मुख्य सार है।

(३३) घूँघटनामा—रचना-काल : लिपि-काल × सं० १७७७, फागुन सुदी ३। विस्तार ढाई पृष्ठ, तीन-तीन पंक्तियों की २२ चौपाइयाँ। इसमें कवि ने जीवात्मा को स्त्री तथा परमात्मा को पुरुष मान कर सन्त कवियों की तरह सासारिकता की नश्वरता व्यक्त करते हुए तादात्म्य अवस्था का चित्रण किया है।

(ख) लौकिक-शृङ्गारिक-मुक्तक काव्य[17]

(३४) विरहसत—रचना-काल : सं० १६७१ वि० (दो दिन में)। लिपि-काल × विस्तार : छह पृष्ठ, १०१ दोहे। कवि ने संयोग तथा वियोग दोनों दशाओं के लौकिक रूप में विरह-सत्य की महत्ता व्यक्त की है।

(३५) वियोग सागर—[18]रचना-काल : हि० सन् १०६६ अर्थात् सं० १७१२। लिपि-काल : सं० १७८४, मिती माघ सुदी १५, सोमवार। विस्तार : १८ पृष्ठ, ३४ दोहे तथा ७७ सवैये। इसमें कवि रीतिकालीन शैली में एक ऐसी विरहिणी नायिका की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण करता है जिसका पति परदेश गया है।

(३६) षट्रितु बरवै बन्ध—रचना-काल तथा लिपि-काल का समय नहीं लिखा है।[19] विस्तार : केवल २१ छन्द। इसमें छह ऋतुओं (पावस, शरद्, हिम, शिशिर, वसंत तथा ग्रीष्म) मे प्रकृति के माध्यम से विरहिणी नायिका की अवस्थाओं का वर्णन है।

(३७) ग्रन्थ पवङ्गम बरवा (षट्रितु वर्णन)—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : केवल ७ छन्द।

(३८) भावसत—रचना-काल : सं० १६७१ (जहाँगीर का राज्य)। लिपि-काल सं० १७७७, मिती पूस बदी १। विस्तार : छह पृष्ठ, १०२ दोहे। इसमें अनेक मानवीय व्यावहारिक बातों की उपयोगिता की ओर सङ्केत करते हुए नायक के प्रति नायिकाओं के अनेक प्रकार के भावों की सत्यता का निरूपण किया गया है।

(३९) सिङ्गार सत—रचना-काल : सं० १६७१ (जहाँगीर का राज्य)। लिपि-काल : सं० १७७७, मिती पूस बदी ९, मङ्गलवार। विस्तार छह पृष्ठ, १०१ दोहे। इसमें नायिकाओं की तीनों अवस्थाओं—बालपन, वैसन्ध (वयसन्धि) तथा तरुणपन का—तथा उनके नख-शिख का विभिन्न उपमेयों एवं उपमानों के रूप में वर्णन किया गया है।

(४०) भावकलोल—रचना-काल : सं० १७१३ तथा हि० सन् १०६६। लिपि-काल × विस्तार : २० पृष्ठ, ३१ दोहे तथा अन्त में एक सोरठा। इसमें नायिकाओं के ही विशेष प्रसङ्ग मे भाव क्रीडाओं ने वर्णित हैं

११

(४१) **अलकनावाबुद्दल**---रचना-काल : × लिपि-काल : सं० १७७८, फागुन, सुदी ३। विस्तार : ढाई पृष्ठ, २२ बुद्दल छन्द। इसमें नायिका के अलकों की शोभा ही वर्ण्य विषय है।

(४२) **सवईया**---रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विस्तार : ८ पृष्ठ, अपूर्ण, ३६ सवैये प्राप्त।[30] इसमें सामान्य नायक-नायिकाओं तथा गोपी-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य एवं संयोगावस्था का बिलकुल स्पष्ट लौकिक स्तर पर वर्णन किया गया है।

(४३) **कन्द्रप-कलोल**---रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विस्तार : प्राप्त अंश ३० पृष्ठ, ६५ दोहे, ११६ सवैये और छन्द।[31] इसमें नायिकाओं के तीन अवस्थाओं (वैनन्ध, रति तथा शृङ्गार) का भद्दा तथा अश्लील संयोगावस्था के सम्भोग के रूप में वर्णन किया गया है।

(४४) **मानविनोद**---रचना-काल : × लिपि-काल : सं० १७७८, भादों सुदी १० सोमवार। विस्तार : ४ पृष्ठ, १६ सवैये तथा २ दोहे। इसमें विभिन्न ऋतुओं की पृष्ठभूमि में संयोगसुलभ नायिकाओं का मान तथा शृङ्गार बढ़ाने वाली उक्तियों का रीतिकालीन शैली में वर्णन किया गया है।

(४५) **बारहमासा**---रचना-काल : × । लिपि-काल : सं० १७७८, असाढ़ सुदी ३। विस्तार : ढाई पृष्ठ, १४ सवैये। इसमें श्रीकृष्ण तथा गोपियों के प्रसङ्ग में बारहमासे का वर्णन किया गया है।

(४६) **सवईया या झूलनाह**---यह जानकवि का सबसे छोटा ग्रन्थ है जिसमें श्रीकृष्ण के बाँसुरी बजाने के प्रसङ्ग के दो सवैये मात्र हैं।

(४७) **ग्रन्थ बरवा**---रचना-काल : × । लिपि-काल : × । विस्तार : ४ पृष्ठ, ७० बरवा छन्द। इसमें सामान्य नायक-नायिकाओं तथा कृष्ण एवं गोपियों के प्रसङ्ग से विरह एवं संयोग अवस्थाओं का लौकिक रूप से वर्णन किया गया है।

(४८) **दरसनावा**---रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : ४ पृष्ठ, ३२ छन्द। इसमें बारहमासा के प्रसङ्ग से संयोग तथा वियोग दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है।

(४९) **बारहमासा फुनिङ्ग छन्द**---रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : ढाई पृष्ठ, २६ फुनिङ्ग छन्द। इसमें नायक-नायिका के पूर्वराग की पृष्ठभूमि में वियोग की स्थिति का वर्णन किया गया है।

(२) नीतिपरक या उपदेशात्मक काव्य

(अ) मौलिक

(५०) **सन्तनावा**---रचना-काल : सं० १६९३, पूस। लिपि-काल : सं० १७७७, मिती फागुन सुदी ४। विस्तार : ७ पृष्ठ, १८ चौपाइयां, १८ दोहे तथा १८ सोरठे। इसमें कवि ने सन्तों को उपदेश देते हुए पाँचों इन्द्रियों (आंख, नाक, कान रसना तथा मदन) तथा काम, क्रोध, मद, लोभ, माया आदि से दूर रहने का एकमात्र उपाय मन की अवस्था को बताया है।

(५१) सिक्षा सागर पन्तनावा रचना-काल सं० १६९५। लिपि-काल सं० १७७७

फागुन बदी २। विस्तार. १६ पृष्ठ, २४६ दोहे। इसमे कवि ने नीति के दोहों के माध्यम से जीवात्मा को सांसारिकता से बचने का उपदेश दिया है।

(५२) चेतननामा—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : ढाई पृष्ठ, ३५ फ़ारसी मति छन्द तथा एक दोहा। इसमें जीवात्मा के मन को काम, क्रोध, माया आदि सभी से मोड़ कर परमात्मा के जप-तप या भक्ति में लगाने का उपदेश दिया गया है।

(५३) सिखग्रन्थ—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : २ पृष्ठ, २२ फ़ारसी मति छन्द। इसमें कवि ने जीवात्मा को निरञ्जन की ओर उन्मुख करने की उपदेशात्मक शिक्षा दी है।

(५४) सुधासिष—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : एक पृष्ठ, १२ फ़ारसी मति छन्द। 'सुमिरन करहु करतार रे। तजि सकल ही जंजार रे॥' ही इसका मूल कथ्य है।

(५५) बुधिदाइक—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : १ पृष्ठ, १० मोदक छन्द। 'सुप कौ भरता दुप कौ हरता। जपिरे, जपिरे, जपिरे करता॥' ही इसका सन्देश है।

(५६) बुधिदीप—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : २ पृष्ठ, दो-दो पंक्तियों की २४ चौपाइयों में यह सन्देश है कि यदि ईश्वर रूपी दीपक हाथ में रहे तो सांसारिक निस्ना, काम, क्रोध, मद, लोभ, काल, मतवालापन आदि जीव का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

(ब) अनूदित

(५७) पन्दनामा—रचना-काल : हि० सन् १०७४ तथा सं० १७२१ वैशाष। लिपि-काल : ×। विस्तार :० ११ पृष्ठ, ८० दोहे। यह हकीम लुकमान के तुर्की ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। इसमें व्यावहारिक नीति की बातें कही गयी है।

(५८) जफरनामा—रचना-काल : सं० १७२१। लिपि-काल : सं० १७७७, मिती चैत बदी २ शनीवार। विस्तार : ११ पृष्ठ, दो-दो पंक्तियों की १३६ चौपाइयाँ। यह हकीम नौसेरवाँ के ग्रन्थ का अनुवाद है जिसमें 'पन्दनामा' की भाँति व्यावहारिक नीति के रूप में वैद्यकी शिक्षा का उपदेश दिया गया है। यह कवि की अन्तिम रचना है।

(३) काव्यशास्त्रीय काव्य

(अ) मौलिक

(५९) कबिवल्लभ—[३१]रचना-काल : सं० १७०४ (शाहजहाँ का राज्य)। लिपि-काल : १८वीं शताब्दी। विस्तार : लगभग १९० पृष्ठ, सवैया, कवित्त, दोहा, पवङ्गम, छप्पै आदि अनेक छन्द तथा २१ प्रक्षेप। यह कवि का अलङ्कार-ग्रन्थ है जिसमें अलङ्कार के विभिन्न भेदों-प्रभेदों के लक्षण तथा उदाहरण के साथ स्त्री-पुरुष के 'वर्ण' तथा कविता के गुण-दोषों का वर्णन किया गया है इस ग्रन्थ के अन्त में कुछ छन्दो के चित्र भी बनाये गये हैं

(ब) अनूदित

(६०) रसकोष—रचना-काल : सं० १६७६ (जहाँगीर का राज्य)। लिपि-काल : सं० १७७७, मिती चैत बदी १। विस्तार : २३ पृष्ठ, दोहा-चौपाइयाँ। इसमें लक्षण एवं उदाहरण के साथ नायक-नायिका के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है।

(६१) सिङ्गारतिलक—रचना-काल : सं० १०३० वि०, [illegible]। लिपि-काल : सं० १७७८, मिती भादों, बदी १५, शुक्रवार। विस्तार : [illegible] पृष्ठ, चौपाइयाँ, दोहे तथा सवैये। इसमें रस का विवेचन तथा नायक-नायिका के भेद-प्रभेद, [illegible] एवं अलङ्कार के लक्षणों तथा उदाहरणों का वर्णन किया गया है। यह संस्कृत से हिन्दी में अनूदित है।

(६२) रसतरङ्गिणी—रचना-काल : सं० १७११ माघ तथा हि० सन १०६५। लिपि-काल : सं० १७७८, मिती वैशाख सुदी ७, [illegible]। विस्तार : [illegible] पृष्ठ, [illegible] दोहे, [illegible] तथा १०४ सवैये। यह भानु कवि की 'रसतरङ्गिणी' का अनुवाद है। इसमें रसों के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार का सविस्तार वर्णन है।

(६३) रस मञ्जरी—रचना-काल : सं० [illegible], कार्तिक मास। लिपि-काल : [illegible]। विस्तार : लगभग १०० पृष्ठ। इसमें कवि ने रसों का सविस्तार निरूपण किया है।

(४) ऐतिहासिक काव्य

(६४) [illegible]—रचना-काल : सं० [illegible] वि०। लिपि-काल : सं० १७११ वि०। विस्तार : १५० पृष्ठ, दोहे। इसमें [illegible] के [illegible] नवाबों का प्रारम्भिक इतिहास संक्षेप में [illegible] किया गया है।

(६५) [illegible]—रचना-काल : सं० [illegible] वि०। लिपि-काल : सं० १७१६, मिती कार्तिक बदी ११, शनिवार, [illegible]। विस्तार : १३ पृष्ठ, १०० छन्द। इसका वर्ण्य विषय राजकोट का युद्ध-[illegible] है। कवि ने [illegible] की [illegible] में इसकी रचना की है।

(५) वैद्यक-काव्य

(६६) वैद्यकसार—रचना-काल : सं० १८९५ वि०। लिपि-काल : सं० १७३७, मिती चैत बदी ५। विस्तार : ८ पृष्ठ, १०० दोहे। इस [illegible] में [illegible] के सामान्य [illegible] औषधियों एवं हानिकार जीव-जन्तुओं से [illegible] में [illegible] औषधियों का वृत्तान्त दिया है। इससे स्पष्ट है कि कवि एक अच्छा हकीम था।

(६७) बाजनामा—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : ४ पृष्ठ, चौपाइयाँ और दोहे। इसमें बाज पक्षी के लिए विभिन्न उपयोगी औषधियों का वृत्तान्त दिया है।

(६८) कबूतरनामा—रचना-काल : ×। लिपि-काल : सं० १७७७, फागुन सुदी ५। विस्तार : ४ पृष्ठ, चौपाइयाँ और दोहे। 'बाजनामा' की भाँति इस पुस्तक का विषय-क्षेत्र कबूतर से सम्बद्ध है

(६) वार्ता-सम्बन्धी काव्य

(६९) ज्ञानदीप[२०]—रचना-काल : सं० १६८६, वैशाख बदी १२। लिपि-काल : सं० १८९२, मिती चैत सुदी १३। विस्तार : ४६ पृष्ठ, ८६० श्लोक। गाने और शिकार के शौक़ीन ईरान के शाह बहराम खाँ अपनी दासी दिलाराम के वियोग में सात देशों की रानियों से शादी करता है। उन सात रानियों द्वारा कही हुई सात शिक्षाप्रद कहानियों का विस्तार ही इस ग्रन्थ का विषय है।

(७०) बुद्धिसागर[२१]—रचना-काल : सं० १६९५, अगहन सुदी १३। लिपि-काल : सं० १८९८, वैशाख सुदी ५। विस्तार : लगभग ४०० पृष्ठ, चौपाइयाँ तथा दोहे। यह पञ्चतन्त्र का स्वतन्त्र अनुवाद-सा है और इसमें १०८ कहानियाँ (वार्ताएँ) संगृहीत हैं जिन्हें हिन्दुस्तान के अति दानी राजा दाबसलेम को एक गुफावासी वृद्ध पुरुष सुनाता है।

(७) सङ्गीत-काव्य

(७१) सङ्गीत गुणदीप[२२]—रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विस्तार : प्राप्त अंश लगभग १५० पृष्ठ, विविध छन्द। इसमें कवि ने सङ्गीत के अनेक स्वरों, तालों, नादों, वाद्य-यन्त्रों आदि के भेद-प्रभेदों का 'बहु ग्रन्थनि को देपि कै' विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

(८) कामशास्त्रीय काव्य

(७२) मदन-विनोद[२३]—रचना-काल : सं० १६९३, कार्तिक शुक्ल २। लिपि-काल : सं० १७४३, असाढ़ सुदी १४। विस्तार : ५४ पृष्ठ, ५५ खण्ड, दोहे। यह कवि-लिखित कोकशास्त्र का ग्रन्थ है जिसमें नायक-नायिकाओं के सभी कामशास्त्रीय क्रिया-कलापों का सविस्तर वर्णन है।

(९) विविधविषयजनित-काव्य

(७३) गूढ़ ग्रन्थ— रचना-काल : × । लिपि-काल : सं० १७७७, फागुन सुदी ६। विस्तार : १० पृष्ठ, ८० दोहे तथा कुछ चौपाइयाँ। इसमें अमीर खुसरो जैसी पहेलियाँ, कबीर-जैसी उलटबासियाँ तथा नीति-परक शिक्षाप्रद दोहे हैं।

(७४) ग्रन्थ देशावली—रचना-काल : × । लिपि-काल : सं० १७७७, मिती फागुन सुदी १३। विस्तार : ७ पृष्ठ, चौपाइयाँ तथा दोहे। यह भूगोल-विषयक काव्य है और इसमें औरङ्गजेब के 'सप्तधरा' में विस्तृत राज्य के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न देशों के नाम तथा उनकी भौगोलिक विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

(७५) उत्तम सबद—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार : २ पृष्ठ, २५ दोहे। इसमें कवि ने ईमान, लक्ष्मी आदि कुछ 'उत्तम शब्दों' की विशेषताओं का उल्लेख किया है।

(७६) रतन परीक्षा[२४]—रचना-काल : सं० १६९१। लिपि-काल : सं० १७८४, चैत बदी १२। विस्तार : छह पृष्ठ, दोहे-चौपाइयाँ। यह कवि का रत्न-परीक्षा-विषयक काव्य-ग्रन्थ है

(७७) बर्ननामा—रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं है। विस्तार: २ पृष्ठ, ३२ दोहे। इसमें कवि ने भाषा में प्रचलित ३१ वर्णों[१] में से प्रत्येक पर एक-एक दोहा लिखा है जो नीति-विषयक है।

(७८) नाममाला अनेकार्थी—रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। प्रति अपूर्ण, अतएव विस्तार का निश्चित पता नहीं। यह नन्ददास के नाममाला अनेकार्थ का अनुवाद-मात्र है। इसमें कवि ने ककारवर्ण, द्वै सबद, ग्रैसबद, छकारवर्ण, तकारवर्ण, नकारवर्ण, थकारवर्ण आदि सभी वर्णों के विभिन्न शब्दों को ले कर अनेकार्थी छन्द लिखा है।

सन्दर्भ-संकेत

१. (१) सेख मोहम्मद मेरो पीर, हाँसी ठाव गुनिन गम्भीर।

(२) सेख मोहम्मद पीर हमारो, जाको नाम जगत उजियारो।
रहन ठाँव जानहु तिहि हाँसी, देखत कटे चित्त की फाँसी।

२. (अ) कहत जान याको करत ढील लगी कछु नाहि।
सम्पूरन नीकें भई पहर सवा द्वै मांहि॥

(—कथा कामरानी वा पीतमदास)

(ब) पहर तीन में यहु कथा कीनी जान विचार॥ (—कथा मोहनी)

(स) कहत जान यह कथा पुरानी। मैं मुनि आंधी जैसे जानी॥
जोरत अति मन चिन्ता दीनी। येक गोस मैं पूरी कीनी॥

(—कथा कलावन्ती)

(द) अट्ठाईस इक सौ चौपई। येक द्यौस में पूरन भई॥

(—कथा बलूकियाबिरही)

(य) कथा पुरातन कीनी नई। नौ दिन में सम्पूरन भई॥

(—कथा रतनावली)

(फ) द्वादस दिन मैं जान कवि, करी सुमिर जगदीस। (—कथा कलावन्ती)

३. सोलह सैं इकहत्तरैं, जहाँगीर क राजि।
साज्यो जान सिंगार सत, तीन द्यौस मैं साजि॥ (—ग्रन्थ भावसति)

४. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान-शाखा, जयपुर; राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर; अनूप संस्कृत लाइब्रेरी (लालगढ़ पेलेस) बीकानेर; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर; स्टेट लाइब्रेरी, बीकानेर; सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर; राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान शाखा, बीकानेर; भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर; सेठिया जैन ग्रन्थालय बीकानेर इत्यादि संग्रहालय में प्रतियाँ मिलीं। इनका परिचय आगे ग्रन्थों के साथ दिया गया है।

५ सूफी-काव्य-संग्रह, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पृष्ठ १५७।

६. 'हिन्दुस्तानी' भाग १५, अंक २, 'कविवर जान और उनका कायमरासो' शीर्षक लेख ।

७. कवि ने लगभग सात-आठ ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ:—

चौ० ३— कहत जाँन यह कथा पुरानी। मैं सुनि बाँधी जैसे जानी।
जोरत अति मन चिन्ता दीनी। येक द्योस मैं पूरी कीनी ॥
(—कथा कवलावती)

८. रावल सारस्वत : 'हिन्दी के विस्मृत मुसलमान कवि जान' विश्ववाणी, वर्ष ५, अङ्क ५।

९. इन ग्रन्थों का परिचय हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की प्रति से दिया गया है। अन्य ग्रन्थों के परिचय में उन ग्रन्थों के साथ उनके प्राप्त संग्रहालयों का नामोल्लेख किया गया है।

१०. इस प्रति के प्रारम्भ के ७ पन्ने अनुपलब्ध हैं। शेष ग्रन्थ अच्छे रूप में हैं।

११. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद में प्राप्त हस्तलिखित प्रति में 'मधुकरमालती या बुधिसागर' लिखा हुआ है, किन्तु 'बुधिसागर' ग्रन्थ जान का सबसे बड़ा दूसरा है। यह ग्रन्थ 'मधुकर मालती' ही है।

१२. इस ग्रन्थ की दो अन्य हस्तलिखत प्रतियाँ अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर तथा प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर में हैं। इनकी प्रतिलिपियाँ मेरे पास हैं।

१३. दोहा —सन सहंस चौहत्तरे, कथा करी यह जाँन।
सत्रह सै अरु बीस पुनि, संबत हुतौ जहाँन ॥

इसमें कवि ने सं० तथा हि० सन् में ६४६ वर्ष का अन्तर माना है।

१४. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के अतिरिक्त इसकी एक अन्य प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में है। यह प्रति काफी अच्छी है।

१५. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के अतिरिक्त इसकी अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर तथा अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर (दो प्रतियाँ) में है। इनकी प्रतिलिपियाँ मेरे पास हैं।

१६. इसमें विरह तथा संयोग, दोनों प्रकार के काव्यों को सम्मिलित किया गया है।

१७. इसमें संयोग, वियोग तथा मिश्रित, तीनों प्रकार के काव्यों को सम्मिलित किया गया है।

१८. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की इन हस्तलिखित प्रतियों के साथ एक अन्य प्रति अहमद कवि का 'वियोग सागर' है। यह रचना जानकवि से भिन्न है; यद्यपि भाव तथा शैली समान ही है।

१९. इस तरह कई ग्रन्थों में रचना-काल तथा लिपि-काल नहीं दिया है। या तो ग्रन्थ छोटे होने से या एक ही जिल्द में बँधे होने के कारण ऐसा है।

२०. यह प्रति अपूर्ण रूप में प्राप्त है। शुरू तथा अन्त के अंश अपूर्ण हैं जिससे ग्रन्थ के नाम का वास्तविक पता नहीं लगता।

२१. इस ग्रन्थ का अन्तिम अंश न मिलने से रचयिता [illegible] अज्ञात ही है। रचना-काल तथा लिपि-काल भी इसी से अज्ञात है।

२२. इसकी एक अन्य हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में है।

२३. इसकी हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में है।

२४. इसकी एक हस्तलिखित प्रति सरस्वती भण्डार, उदयपुर तथा एक प्रति राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान शाखा, बीकानेर में है।

२५. राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर से सन् १९५३ में अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित एवं मुद्रित है। यह सम्पादन एक ही प्रति के आधार पर है जो कि नाहटा जी के पास है।

२६. 'क्यामखाँ रासा' ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप में तथा 'हिन्दुस्तानी' भाग १६, अङ्क ४, में अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित 'कविवर जान और [illegible] अलिफखाँ की पैड़ी' लेख में पाठ दिया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति नाहटा जी के पास है।

२७. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के अतिरिक्त इसकी एक अन्य हस्तलिखित प्रति अगरचन्द नाहटा के पास बीकानेर में है।

२८. इसकी हस्तलिखित प्रति 'राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान शाखा, बीकानेर में है।

२९. इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं—एक राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर में तथा दूसरी अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, में है। यह जानकवि का सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

३०. श्री लालजी मिश्र: 'कवि जान विरचित एक अज्ञात ग्रन्थ—'[illegible]' 'वरदा', वर्ष ५, अङ्क ३ (जुलाई सन् १९६२)। यह ग्रन्थ [illegible] में प्राप्त हुआ है और अपूर्ण ही है।

३१. इसकी तीन प्रतियाँ क्रमशः राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर—अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर (अपूर्ण) तथा अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर (अतिपूर्ण) में प्राप्त हैं।

३२. इसकी एक हस्तलिखित प्रति हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद में तथा एक अन्य प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में है।

३३ बावन अच्छिर कहत है, सो संस्कृत प्रमान।
भाषा में इकतीस ही, आवत हैं कहि जान ॥३२॥

३४. वर्ण ये हैं—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, ह, अ, ई, ऊ।

सन्त-कवि रामचरण

जीवन-वृत्त और साहित्य

•

डॉ० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी

एक : जीवन-वृत्त

अठारहवीं शताब्दी की उत्तर भारत की सन्त-परम्परा में रामसनेही सम्प्रदाय (शाहपुरा शाखा) के प्रवर्तक महात्मा रामचरण का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इनका जन्म ढूंढाड़ राज्य-स्थित सोड़ा नामक ग्राम में माघ शुक्ल १४, शनिवार, सम्वत् १७७६ को ननिहाल में हुआ था।[1] ये जाति के बीजावर्गी वैश्य (माहेश्वरी) थे।[2] इनके पिता का नाम बखतराम और माता का देऊ जी था। बखतराम मालपुरा-निकटस्थ बनवाड़ा नामक ग्राम के निवासी थे।[3] रामचरण का बचपन का नाम रामकृष्ण था।[4]

रामकृष्ण ने तीस वर्ष की अवस्था तक गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। कहा जाता है कि कुछ समय तक ये जयपुर-नरेश के प्रधानमन्त्री भी रहे। अन्तःसाक्ष्य से भी इनका दरबार में रहना सिद्ध होता है।[5] इनके विरक्त होने के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक बार ये एक दूकान में सोये थे। वहाँ एक यती आया। उसने इनके चरण-चिह्नों को देख कर इनके गृहस्थ होने पर आश्चर्य प्रकट किया और महात्मा होने की भविष्यवाणी की। इस घटना के बाद रामकृष्ण के हृदय में निर्वेद समा गया। संसार की असारता का ज्ञान होते ही पारिवारिक बन्धन खुलने लगे।

इस प्रकार एक वर्ष भी नहीं बीत पाया था कि एक दिन रात के अन्तिम प्रहर की मधुर निद्रा में सोये हुए रामकृष्ण ने एक स्वप्न देखा। इन्हें लगा कि ये नदी में स्नान कर रहे हैं। इसी बीच में सरिता के प्रबल प्रवाह से इनके पैर उखड़ गये और ये धारा में बहने लगे। अब इनके लिए चारा ही क्या था। ये 'बचाओ, बचाओ' के ऊँचे स्वर में चिल्लाने लगे, किन्तु श्मशान की साँय-साँय में इनके करुण-क्रन्दन को सुनने वाला एक वृद्ध सन्त के अतिरिक्त और कोई न था। उस दिव्य-व्यक्तित्व-सम्पन्न महात्मा ने रामकृष्ण को मृत्यु के कराल गाल में जाने से बचा लिया। इतने में नींद टूट गयी और रामकृष्ण की प्रकृत-निद्रा के साथ-साथ मोह-निद्रा भी भङ्ग हो गयी।

ये तत्काल स्वप्न मे आये हुए उसी महात्मा की खोज में निकल पड़े। दांतड़ा निवासी महात्मा कृपाराम से इनकी भेंट हुई और मनमाना गुरु पा कर भाद्रपद सं० १८०८ में उन्हीं से दीक्षा ले ली।[५] दीक्षोपरान्त इनका नाम रामचरण पड़ा।

रामचरण कुछ समय तक वेश धारण कर के साधना करते रहे। एक बार रसोई बनाते समय जलती लकड़ी मे से चीटियाँ निकलते देख कर इनका मन उचट गया। धीरे-धीरे साधुओं की आपसी खींच-तान से भी इन्हें चिढ़ हो गयी और साम्प्रदायिक बाह्याचार प्रवृत्ति का बखेड़ा-सा लगने लगा। अतः स्वामी कृपाराम की आज्ञा से ये विरक्त हो गये। विरक्त भाव धारण कर के रामचरण जी वृन्दावन की ओर चल पड़े। कहते हैं, मार्ग में इन्हें साधु वेश में साक्षात् ईश्वर ने दर्शन दिया और वृन्दावन न जा कर मेवाड़ में निर्गुण राम-भक्ति का प्रचार करने के लिए कहा। इस प्रकार दैवी प्रेरणा प्राप्त कर वे मेवाड़ की ओर लौट गये और वहाँ तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। इन्होंने पहले अपनी साधना-भूमि भीलवाड़ा को बनायी। दस वर्ष की अनवरत साधना के उपरान्त इस प्रदेश में स्वामी जी का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। इनकी यश-कीर्ति को बढ़ते हुए देख कर इनके विरोधियों को, जो मूर्तिपूजक थे, बड़ी चिन्ता हुई। उन लोगों ने उदयपुर के राणा से इनकी शिकायत की। महाराणा ने इन्हें बुलाने के लिए सिपाही भेजे। इस पर रामचरण को बहुत दुःख हुआ और ये कुहाड़ ग्राम चले गये। कुछ दिन वहाँ रहने के अनन्तर शाहपुरा-नरेश के आमन्त्रण पर सं० १८२६ में ये शाहपुरा चले आये और जीवन-पर्यन्त यहीं रहे।[७] शाहपुरा-नरेश रणसिंह का पूरा परिवार इनका अनन्य भक्त था। ये अपने समय के बहुत प्रसिद्ध महात्मा थे। इन्हें मेवाड़ और उदयपुर के राजाओं द्वारा भी सम्मान मिला था। इनका देहावसान वैशाख कृष्ण ५, बृहस्पतिवार, वि० सं० १८५५ को शाहपुरा में हुआ।

रामचरण जी के कुल २२५ शिष्य बताये जाते हैं, किन्तु अभी तक उनकी नामावली प्राप्त नहीं हो सकी है। शाहपुरा रामद्वारे की 'बारहदरी' की भित्ति पर इनके १२६ शिष्यों का नाम अङ्कित है। इनके शिष्यों में १२ प्रमुख माने जाते हैं जो ये हैं—रामजनदास, रामसेवक, रामप्रताप, चेतनदास, कान्हड़दास, द्वारिकादास, भगवानदास, रामजन, देवादास, मुरलीराम, तुलसीराम और नवलराम।[८]

दो : साहित्य

महात्मा रामचरण ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को नाना प्रकार के छन्दों एवं राग-रागिनियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने दोहा, चन्द्रायण, सवैया, झूलना, कवित्त, कुण्डलिया, रेखता आदि छन्दों में स्फुट अङ्ग-बद्ध वाणी-रचना के साथ ही साथ छोटे-बड़े २३ ग्रन्थों की भी रचना की है। आगे इनका पृथक्-पृथक् परिचय दिया जायगा।

अङ्ग-बद्ध वाणी

साखी के ७४ अङ्ग—गुरुदेव, गुरु समर्थाई, सुमिरण, शिवधर्मी, विनती, विरह, ज्ञान-बेरह, लैको, प्रेम-प्रकाश, पीव-पिछाण, परचा, पतिव्रता, व्यभिचारिणी, समर्थाई, बीनतीलियां समर्थाई, विश्वास विरक्त निस्पृह साध असाध साध गङ्गाणि कुसङ्गति अकल भेभकक विचार

बेविचार, नहचै, जीवतमृतक, सजीवण, सारग्राही, अवगुण-ग्राही, अज्ञानी, राम-विमुख, काल, चिन्तावणी, उपदेश, जिज्ञासी, गुरु-पारख, शिष्य-पारख, गुरु-शिष्य-पारख, सन्मख-बेमुख, गुरु-बेमुख, चितकपटी, देखा-देखी, कायर, सूरातण, टेक, हेत प्रीति, कस्तूरिया मृगमन, सती, बेहद, मध्य, निरपख, पन्थ-रस, सूक्ष्म मार्ग, शुभकर्मी, दया, माया, कामी नर, जरणा, रहत, सहज, बहुआरम्भी, लोभी नर, आणवेली, निन्दा, भुरकी, निन्दा, साच, भ्रम-विध्वंस, भेष और चाँणक।

चन्द्रायणा के २४ अङ्ग—गुरुदेव, सुमिरण, नाम, समर्थाई, बीनती, विरह, प्रचा, साध-महिमा, साध, साध-सङ्गति, विरक्त, गुरु पारख, शिष्य-पारख, गुरु-हेरू, गुरु-वेमुख, सन्मुख-वेमुख, मनमुखी, अज्ञानी, काल, चिन्तावणी, शूरातण, विचार, तृष्णा, साच और भेष।

सवैया के २६ अङ्ग—गुरुदेव, सुमिरण, नाम-महिमा, प्रचा, विचार, साध, साध-सङ्गति, विरक्त, विश्वास, तृष्णा, लोभी, नर, अजानी, काल, चिन्तावणी, सन्मुख, वेमुख, गुरु-वेमुख, अवगुण-ग्राही, चितकपटी, व्यभिचारिणी, कायर, शूरातण कामी नर, साच, भ्रम-विध्वंस, भेष और चांणक।

झूलना के ७ अङ्ग—गुरुदेव, सुमिरण, विचार, साध-सङ्गति, उपदेश, विरक्त और भेष।

कवित्त के ४४ अङ्ग—गुरुदेव, सुमिरण, नाम-समर्थाई, प्रचा, पतिव्रता, व्यभिचारिणी, विनती, विश्वाम, तृष्णा, निरपख, निर्गुण-उपासना, साध, असाध, साध-सङ्गति, कुसङ्गति, साध-पारख, साध-महिमा, वाचक-ज्ञानी, लच्छ-ज्ञानी, अज्ञानी, ब्रह्म-विवेक, काल, चिन्तावणी, मन, मनमूसा-मनसूब, कायर, सूरातण, उपदेश, जिज्ञासी, शिख-पारख, शिष्य-निरणा, टेक, विचार, निरणा, हठयोग, भक्ति महिमा, माया, कामी नर, रहत, जरणा, साच, भ्रम विध्वंस, भेष और चांणक।

कुण्डलिया के ४४ अङ्ग—गुरुदेव, गुरु-परमारथी, लोभी गुरु, सुमिरण, वीनती, प्रचा, पतिव्रता, व्यभिचारिणी, कायर शूरातण, सती, विश्वास, बेविश्वास, निरपख, विरक्त, निरगुण-उपासना, साध, साध-पारख, साध-सङ्गति, कुसङ्गति, दया, लच्छ, उपदेश, जिज्ञासी, गुरु-शिष्य-पारख, शिष्य-पारख, गुरु-वेमुख, राम-विमुख, सन्मुख-बेमुख, अज्ञानी, विचार, निरणा, लोभी नर, काल, चिन्तावणी, मन, हठयोग, माया, कामी नर, निन्दा, साच, भ्रम विध्वंस, भेष और चाँणक।

रेखता के १५ अङ्ग—गुरुदेव, भेष-धारण, सुमिरण, नाम-निरणा, प्रेम-प्रकास, प्रचा, विचार, शूरातण, सारग्राही, चिन्तावणी, असाध, कामी नर, साच, भेष और चाँणक।

ग्रन्थ-परिचय

(१) **गुरु-महिमा**—यह २४ छन्दों की लघु रचना है। इसमें गुरु-महिमा का सुन्दर वर्णन किया गया है।

(२) **नाम-प्रताप**—यह भी एक लघु कृति है। इसमें कुल ७२ छन्द हैं। कवि ने नाम-माहात्म्य, भक्त-वन्दना एवं नाम के प्रभाव से, माया-जाल से मुक्त होकर ब्रह्म-मिलन का वर्णन किया है

(३) **शब्द-प्रकाश**---इस कृति में कुल २६ छन्द हैं। इसमें कवि ने 'सुरति-शब्द-योग' का वर्णन किया है।

(४) **अमृत-उपदेश**---इसमें कुल १५ प्रकरण हैं। गुरु-ब्रह्म, एकता, दृढ़ उपासना, भक्ति-महिमा, सत्सङ्ग-महिमा, सन्त-वृत्ति, यति-लक्षण, भक्ति के प्रकार, कुदास, अज्ञान, साधु-लक्षण, माया, तृष्णा, चौर-गति, जुवारी-गति, गणिका-निषेध आदि विषय इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य हैं। इसका रचना-काल इस प्रकार है :—

अठारा सै चम्माल, सम्बत संख्या ये कही।
बण्यो ज ग्रन्थ रसाल मकर मास विद द्वादशी ॥

(५) **अणभो-विलास**---२१ प्रकरणों, में लिखित यह स्वामी जी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का निरूपण किया गया है। इसे व्यवस्थित ढङ्ग से सजा कर ग्रन्थ का रूप देने का कार्य स्वामी जी के प्रमुख शिष्य रामजन ने किया था। इसका रचना-काल माघ शुक्ल १५ सं० १८४५ है :—

सम्वत् संख्या सार, अट्ठारासै पंतालज् ।
माघ सुदि भू वार, पुनूँ पूरण ग्रन्थ है ॥

(६) **सुख-विलास**---यह भी एक बड़ी कृति है। इसमें १३ प्रकरण हैं। प्रश्नोत्तर के माध्यम से कवित्त, सोरठा, झूलना, भुजङ्गी आदि विविध छन्दों में सत्सङ्गति, नाम-महिमा, माया, मोह, अहङ्कार आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना अगहन शुक्ल ३, बृहस्पतिवार, सं० १८४६ को हुई थी :—

नगर शाहपुरो जान शुभ सत्सङ्गति धाम है।
ग्रन्थ बण्यो परमाण सुख बिलास सुख रूपजु ॥
अठारा सै छियाल, ये सम्वत् संख्या कही।
मिगसर सुद्धि विसाल, तीज तिथी गुरुवार है ॥

(७) **जिज्ञास-बोध**---यह ग्रन्थ २१ प्रकरणों में समाप्त हुआ है। जिज्ञासु शिष्य की शङ्काओं का समाधान करते हुए भक्त कवि ने गुरु-भेद, शिष्य-लक्षण, भक्ति-माहात्म्य, नाम-माहात्म्य, ब्रह्म-ज्ञान, अविद्या-आशा-नदी, कलियुग, माया की सबलता आदि का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ की रचना कार्तिक कृष्ण २, सोमवार, सं० १८४७ को हुई थी :—

अठारा सै सैंतालि कै, सम्वत् कातिक मास।
बदी दोज सोमवार दिन, पूर्ण ग्रन्थ जिज्ञास ॥

(८) **विश्वास-बोध**---इस ग्रन्थ में २१ प्रकरण हैं और आशा, तृष्णा, क्रोध-खण्डन, कुसङ्ग-त्याग, धर्म-प्रशंसा सत्सङ्ग-महिमा साधु-लक्षण लोभी-गुरु-लक्षण, प्राकार-

निराकार-निर्णय अद्वैत-ज्ञान समय-धर्म आदि विषयो का विशद विवेचन हुआ है इसका रचना काल भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी गुरुवार सं० १८४९ है :—

अठारा सै गुणचास सम्बत् भाद्रव मास सुदि।
पूर्ण ग्रन्थ प्रकाश चतुर्दशी गुरुवार है॥

(९) विश्राम-बोध—इस ग्रन्थ के ११ विश्रामों में कवि ने दैहिक, दैविक, भौतिक—तीनों तापों से बच कर गुरु की ओट में परम विश्राम-प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन किया है। इसका रचनाकाल निम्नलिखित है :—

अठारा सो इक्यावना, आसोज शुक्ल पख होय।
दोय तिथी गुरुवार को, ग्रन्थ ज पूरण सोय॥

(१०) समता-निवास—यह कृति ९ प्रकरणों में पूर्ण हुई है। इसमें कवि ने जीवन्मुक्ति अलिप्तता, गुरु-शिष्य-भेद, प्रतीति-भक्ति, नवधा-भक्ति, भक्त-वत्सलता, सत्सङ्ग, साधु-लक्षण तथा काम-कुसङ्ग, तृष्णा, आशा, संसार-गति आदि का विशद वर्णन किया है। इसका रचना-काल इस प्रकार है :—

सम्बत अष्टादश पोष सुदि बावना।
एकै सोम सु ग्रन्थ सम्पूरण भावना॥

(११) राम-रसायण-बोध—प्रस्तुत ग्रन्थ के ५ प्रकरणों में भोग, लोभ, तृष्णा आदि सांसारिक रसायनों को विष-रूप बताते हुए राम-रसायन को मानव-जीवन का श्रेय और प्रेय बताया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कवि ने इसी रसायन के माहात्म्य का वर्णन किया है। इसकी रचना आश्विन कृष्ण ५, सं० १८५५ में हुई थी :—

सम्बत अष्टादश पचावन जानिये।
आसोज पञ्चमी बदी सनीसर मानिये॥

(१२) चिन्तावणी—यह १२७ छन्दों की रचना है। इसकी रचना सांसारिक मोह और माया के जाल में पड़े हुए प्राणियों को सावधान करने के लिए की गयी है।

(१३) मन-खण्डन—यह केवल ३० छन्दों की एक छोटी-सी रचना है। इसमें दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि ने इसमें मन को काबू में रखने के लिए कुछ सुझाव दिये हैं।

(१४) गुरु-शिष्य-गोष्ठि—इसमें गुरु-शिष्य-संवाद है। गुरु ने अत्यन्त संक्षेप में शिष्य की शङ्काओं का समाधान करके ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का उपदेश दिया है। इसमें दोहा व झपाल छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें कुल १४ छन्द हैं।

(१५) यह १५ छन्दों की लघु रचना है इसमें सन्त

स्वय को मन को ठग कर अपने वश मे करने वाला ठग तथा सत्य-शब्द को उचक लेने वाला उचक्का बताते हुए वणन किया है।

(१६) जिन्द'-पारख्या—इस कृति में सच्चे 'जिन्द' का स्वरूप बताया गया है।

(१७) पण्डित-संवाद—इस रचना में कवि ने पुस्तक-ज्ञान का ढिंढोरा पीटने वाले पाखण्डी पण्डितों के ढोंग की खिल्ली उड़ायी है और पुस्तक के उत्तरार्ध में सच्चे पण्डित का लक्षण भी बताया है।

(१८) लच्छ-अलच्छ-जोग—इस रचना में भ्रष्टाचारी साधुओं के कुकृत्यों और सच्चे साधुओं के सदाचारों का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है।

(१९) बेजुक्ति-तिरस्कार—यह १८ छन्दों की एक लघु कृति है। इसमें वेश बना कर समाज को ठगने वाले और विषय-भोगों में लिप्त साधुओं की जम कर खबर ली गयी है। साथ ही संसार को उनसे सावधान रहने की शिक्षा भी दी गयी है।

(२०) शब्द—इस लघु रचना में नाम की महिमा गायी गयी है। साथ ही कलियुगी साधुओं और ब्राह्मणों को फटकारा भी गया है।

(२१) बावा का पद—रामचरण की रचनाओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसमे कुल १०५ पद संकलित हैं। कवि ने अनेक राग-रागिनियों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का सुन्दर वर्णन किया है। यदि किसी को साधनागत अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति, भक्ति-विह्वल हृदय का सहज उद्‌गार, भक्त-रूपी प्रेमिका की विरह-वेदना और अव्यक्त प्रियतम के दिव्य सौन्दर्य की मनोहारी छटा देखनी हो तो उसे इन पदों को पढ़ना चाहिए।

(२२) काफर बोध—यह भी एक लघु रचना है। इसमें कवि ने 'काफर' के लक्षणों को बताया है। 'काफर' से रामचरण का अभिप्राय मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त होने वाले 'काफिर' शब्द से है।

(२३) दृष्टान्त-बोध—यह रामचरण की पाण्डित्यपूर्ण रचना है। इसका प्रणयन दृष्टि-कूट शैली में किया गया है। इस ग्रन्थ की टीका रामचरण के प्रमुख शिष्य रामजन ने की है। ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है किन्तु इसकी टीका की रचना संवत् १८३९ में हुई थी :—

अठारा सै गुणताल ये सम्वत् संख्या कही।
मगसर सुदी बिशाल टीका पूर्ण रामजन ।।

सन्त रामचरण का प्रादुर्भाव अठारहवीं शताब्दी की संक्रमणशील स्थिति की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ था और इन्होंने तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को एक नयी दिशा भी दी थी। अतः इनकी रचनाओं का अनुशीलन मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय बन सकता है।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. (अ) समत सतरा सै हुतो ओर छइन्तर जान।
चतुरदसी तिथि महासुद वार सनीसर जान।।

× × ×

ढूढाड़ देस सोड़े नगर नाना जी के द्वार।
भगति राज कलि अवतरे जग जीवन हितकार।।

—रामचरण की परची (लालदास) से

(ब) देस ढूढाड़ सोभे अजमेरो सोड़ो नगर मालपुर नेरो।

× × ×

सतरा सै र छहन्तर वरसा मास महासुद कहूँ विशेसा।
चवदस वार सनीसर नीको जा दिन काढ्यो बहुसिर टीको।।

—ब्रह्म-समाधि-लीन-जोग, छन्द ८, ११, १२

(स) गार्सां द तासी ने रामचरण का जन्म सं० १७७६ में होना तो स्वीकार किया है, फिर भी उनसे थोड़ी-सी असावधानी हो गयी है। विक्रम-सम्वत् को ईसवी सन् में परिवर्तित करते समय वि० सं० में से ५७ कम कर दिया जाता है। लेखक ने भी १७७६ में से५७ घटा कर रामचरण का जन्म १७१९ ई० मान लिया है। किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि ईसवी-सन् प्रायः अगहन और पौष के मध्य में बदल जाता है और रामचरण का जन्म १७७६ के माघ मास की अठाइसवीं तिथि को हुआ था। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस समय नये वर्ष का जनवरी अथवा फरवरी महीना रहा होगा। अतः इनका जन्म सं० १७७६ तदनुसार सन् १७२० में हुआ था, न कि १७१९ में।

२. वैश्य वर्ण कुल उत्तम जानो।
बीजा गोति महा बुधि वानो।। (—ब्रह्म-समाधि-लीन-जोग, छन्द ८)

३. तात ग्राम बनवाड़ो कहीए मालपूर के नेरे रहीए।

× × ×

बइस बरण हरि भगता ग्याता बखतराम जी पिता विख्याता।
देऊ जी माता का नामा, परम सुसील सुलछन धामा।।

(—रामचरण की परची से)

४. कुल का प्रोहित लिया बोलाई, जन्म पत्रिका वेग लिखाई।
राम किसन जी नाम बताया सकल कुटुम्बी के मन भाया (—वही)

५. जन्म वैश्य घर पाइये, पुनि सेवत राजद्वार।
रामचरण जन न मिले तो होता बहुत खवार ॥ (—अमृत-उपदेश ५।३६)

६. (क) समत अठारा सै अरु आठा, ते वैराग भये तन काठा।
भाद्रपद मास दास पद पायो, रामचरण जो नाम कहायो ॥
(—ब्रह्म-समाधि-लीन-जोग, छन्द ३३-३४)

(ख) अठारा सै अरु आठ की साला माथै हाथ दियो क्रिपाला।
भाद्रमास भए निरबन्धा रामचरण जी नाम पसन्दा ॥
(—गुरु-लीला-विलास, छन्द ४४)

(ग) अष्टादस अरु आठ कै, समत भई गुरु भेंट।
आप सरीखा कर लिया, भूल भ्रमना भेंट ॥
(—रामचरण की परचौं, छन्द ३१)

७. (क) सम्बत अठारा सै सही जान पचावन और।
वैसाख बदी पाँचे तिथी ब्रस्पति छतरयाँ ठौर ॥
दिवस पहर पिछलो रह्यो कियो कूँच कर्ता बार।
(—ब्रह्म-समाधि-लीन-जोग, अगभाय, छन्द १४३-४४)

(ख) सम्बत अठारा सै पचान वैसाख बदी पांचें प्रमान।
गुरुवार पहर तीजें तयार आप भये निज निराकार ॥
(—रामपद्धति, रामजन, छन्द २१)

८. बलभराम बलवन्त राम सेवक तपधारी ॥
राम प्रताप पुनीत दास चेतन सुखदेही ॥
कान्हड़ करणीवान द्वारकादास बिदेही ॥
भगवानदास भजनीक राम ही जन अधिकारी।
देवादास दिलशुद्ध जान मुरली धन धारी ॥
तुलसी तत परबीन नवल पुसतीभरण्यारा।
ये द्वादश शिश साथ कल्यो रथ कढणहारा ॥
(—राम-रसाम्बुधि, भाग २, पृ० १२३)

९. 'जिन्द' शब्द का पण्डितों ने बहुत प्रकार से अर्थ लगाया है, किन्तु 'जिन्द' का वास्तविक अर्थ होता है 'आजाद सूफ़ी'। इसकी उत्पत्ति 'जिन्दीक' शब्द से हुई है। (देखिए, पं० चन्द्रबली पाण्डेय 'विचार विमर्श', पृ० ७-८)

प्रतिपत्तिका

प्रतिपत्तिका' के अन्तर्गत हम नियमित रूप से अपने लेखकों की सामयिक टिप्पणियों, शोधोपयोगी सूचनाएँ और तत्सम्बन्धी सामग्रियों का परिचय, नवान्वेषित कृतिकारों या कृतियों का परिचय तथा नयी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएँ प्रकाशित करते हैं यह कार्य सुदुष्कर अवश्य है, किन्तु हम कला, संस्कृति एवं साहित्य के हर अध्येता एवं अन्वेषी से इस क्षेत्र में पूर्ण सहयोग की अपेक्षा रखते हैं।

एक

शास्त्रार्थ की परम्परा

महामहोपाध्याय डॉक्टर उमेश मिश्र

न केवल भारतीयों का अपितु समस्त विश्व का चरम-लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति है। आत्मदर्शन ही मोक्ष है। इसीलिए भारतीयों का समस्त जीवन आत्मदर्शन का एकमात्र साधन है। आत्मदर्शन के लिए मनन अर्थात् युक्तियों के द्वारा तत्त्व को समझना आवश्यक है। तत्त्व का बोध वाद के द्वारा होता है। यही बात 'आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इस श्रुति में कही गयी है। अतएव आत्मदर्शन के लिए शास्त्रार्थ-विचार आवश्यक है।

प्राचीन काल में तो तत्वबोध ही के लिए शास्त्रार्थ-विचार होता था, जैसा उपनिषदों की पंक्तियों में, विशेषकर बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-काण्ड में, स्पष्ट है। उस समय इस विचार मे तत्त्वबुभुत्सा थी, विनोद था तथा आनन्द था। गुरु-शिष्य के सम्वाद-रूप में अज्ञान को दूर करने के लिए शास्त्रार्थ-विचार सभी विद्या-केन्द्रों में प्रचलित था। इसके बिना शास्त्र के रहस्यों का स्पष्टीकरण असम्भव था। परन्तु ईसा के पूर्व छठी सदी में बुद्ध के सदुपदेशों को न समझने वाले उनके अनुयायियों ने असत्तर्क के द्वारा राग-द्वेष से स्वेच्छापूर्वक तत्वों का विचार आरम्भ किया। इससे

समाज में विशेष रूप से विद्वानों में अनेक प्रकार की भ्रान्ति तथा असत्तर्क उत्पन्न हो ... का असम्बद्ध विचार फैलाया गया। शास्त्र के रहस्य को लोग भूल गए। ऐसे व्याकुल हो कर समाज तथा परमतत्त्व की रक्षा के लिए गौतम मुनि ने न्यायसूत्र की रचना की। इस ग्रन्थ में असत्तर्क को दूर करने के लिए तथा आत्मतत्त्व की रक्षा के लिए वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थानों का पूर्ण विचार किया गया। गौतम ने इस बात को 'तत्त्वाध्यवसायार्थं जल्प-वितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्', इस न्यायसूत्र (४।२।५०) के द्वारा स्पष्ट किया है।

बुद्ध के समय से ले कर आज तक उपर्युक्त वाद तथा जल्प आदि की अनन्त शाखाएँ तथा प्रशाखाएँ रची गयीं और सभी शास्त्र इन्हीं वादों से ओत-प्रोत हो गये। प्रत्येक शास्त्र के तत्त्व को समझने के लिए जो पूर्व तथा उत्तर पक्ष आवश्यक होते थे, उनमें वाद और जल्पों का सन्निवेश कर विद्वानों ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के बल से शास्त्र-विस्तार का इतना परिवर्धन किया कि प्रधान तत्त्व का विचार दूर छूट गया और पूर्व तथा उत्तर पक्ष भी अज्ञानान्धकार में लीन हो गये। साथ ही साथ शुष्क, जल्प, वितण्डा तथा निग्रह-स्थान का सर्वत्र विजय सुनायी देने लगा। तत्त्व-रक्षा के लिए निर्दिष्ट गौतम के उपदेशों को नास्तिक असत्तर्कों के साधन में लाये। इस प्रकार पश्चात् वाद का उद्देश्य केवल जय-पराजय हो गया। आवेश और दुराग्रह-प्रवर्तक राग-द्वेष से प्रेरित विद्वानों ने असत्तर्क की अनन्त शाखाओं की रचना की और ग्रन्थों को कठिन से कठिन बनाने लगे। पतञ्जलि का 'महाभाष्य', उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक', श्रीहर्ष का 'खण्डनखाद्य', उदयन का 'आत्मतत्त्व-विवेक' एवं 'कुसुमाञ्जलि', गङ्गेश के 'तत्त्वचिन्तामणि' आदि ग्रन्थों का अध्ययन गौण हो गया तथा विवेचना, वाद, वितण्डा आदि से युक्त ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन प्रधान हो गया।

उपर्युक्त प्रकार के साधनों से युक्त होकर वैतण्डिक विद्वानों ने बाजी लगा कर शास्त्रार्थ करना आरम्भ किया। कहा जाता है कि पराजित पक्ष दास हो कर विजयी की सेवा करता था तथा विजयी को पराजित पक्ष के नेता को मृत्यु-दण्ड तक देने का अधिकार होता था। इसके उदाहरण में बौद्धों के साथ कुमारिल भट्ट के शास्त्रार्थ का निर्देश किया जा सकता है। बौद्ध पक्ष पराजित हुआ तथापि कुमारिल को प्रयाग आ कर अक्षय वट के नीचे चिता लगा कर अपने शरीर को स्वयं जला देना पड़ा। उदयनाचार्य को कहना पड़ा —

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः॥

तथा, ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
पुनर्बौद्धे समायाते मदधीना तव स्थितिः॥

उदयनाचार्य तथा श्री हर्ष के पिता श्री हीर का शास्त्रार्थ तथा श्री हर्ष द्वारा त्रिपुरसुन्दरी की आराधना से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिए चिन्तामणि-मन्त्र का जप आदि विद्वानों में प्रसिद्ध है।

पश्चात् पक्षधर मिश्र शङ्कर मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र के के सम्बन्ध में यह सूक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है :—

शङ्करवाचस्पत्योः सदृशौ शङ्करवाचस्पती एव।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्मीभूतो न च क्वापि॥

यह शास्त्रार्थ की परम्परा बुद्ध के पश्चात् आरम्भ हो कर ग्यारहवीं सदी के अनन्तर नव्यन्याय की अवच्छेदकता-प्रकारता से सुसज्जित हो गयी। नव्यन्याय की जन्मभूमि मिथिला तथा काशी में इसी परम्परा को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया।

इसके लिए व्यवस्था बनायी गयी। इसके छः अङ्ग थे—(१) प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादक विषय का नियम, (२) वाद, जल्प आदि के प्रयोग में व्यवस्था, (३) वादी एवं प्रतिवादी का बलाबल-विचारपूर्वक नामनिर्देश, (४) सभापति के द्वारा सदस्यों का नियन्त्रण, (५) निग्रह-स्थानों के प्रयोग की व्यवस्था तथा (६) जय-पराजय के निर्णय की घोषणा।

शास्त्रार्थ-विचार कभी-कभी लिपिबद्ध भी होता था, उसके लिए एक लेखक का भी इस परिषद् में रहना आवश्यक होता था।

उपर्युक्त नियमानुसार ग्रन्थों का भी समय-समय पर निर्माण हुआ। उदयनाचार्य ने 'बोधसिद्धि', धर्मकीर्ति ने 'वादन्याय', श्री हर्ष ने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य', शङ्कर मिश्र ने 'वादि-विनोद' आदि ग्रन्थ लिखे। शङ्कर मिश्र ने तो इस परम्परा को और भी दृढ़ बनाया तथा इसका विशेष विचार किया। उन्होंने 'वादि-विनोद' के प्रारम्भ ही में पाँच प्रकार से परपक्ष को पराजित करने की रीति का निर्देश किया है :—

कथातः प्रश्नतः प्रश्नज्ञानात् प्रश्नपराहतेः।
प्रश्नानुसरतः क्वापि पराहङ्कारशातनम्॥

इन साधनों से सुसज्जित विद्वानों ने मिथिला, काशी, बङ्गाल तथा दक्षिण में शास्त्रार्थ-विचार को पूर्ण प्रोत्साहन दिया। मिथिला में सौराठ-सभा, परतापुर-सभा, विदेश्वर-स्थान, दरभङ्गा-राजपण्डित-सभा आदि केन्द्र हुए। इनके अतिरिक्त जहाँ दस-बीस विद्वान् एकत्रित होते थे वहीं शास्त्रार्थ-विचार चल पड़ता था। काशी में तो सभी प्रान्तों के विद्वान् प्राचीन काल से एकत्रित होते थे। इसलिए यहाँ शास्त्रार्थ-विचार-परम्परा सर्वथा उन्नत एवं शिखरारूढ़ हो गयी।

राजाराम शास्त्री, दामोदर शास्त्री, शिवकुमार मिश्र, तात्या शास्त्री तथा जयदेव मिश्र ने शास्त्रार्थ-विचार में यथेष्ट नवीनता तथा तात्त्विक-दृष्टि का निवेश किया। पदार्थ-विचार की ओर विद्वानों की दृष्टि लायी गयी। जल्प, वितण्डा आदि का वह महत्त्व काशी में नहीं रह सका, यह महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र-रचित 'शास्त्रार्थ-रत्नावली' तथा बङ्गाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य के वाद-ग्रन्थों से स्पष्ट है।

काशी में दशाश्वमेध घाट पर प्रति सायङ्काल घण्टों शास्त्रार्थ होता था जिसमें प्रमुख भाग लेने वाले थे पं० निरञ्जन मिश्र तथा पं० मधुसूदन मिश्र। इस शास्त्रार्थ की चर्चा तथा आलोचन विद्यालयों में बड़े-बड़े विद्वानों की कक्षा में दूसरे दिन प्रातःकाल का पाठ समझा जाता था

नागकुआँ, दुर्गास्थान, साङ्गवेद-विद्यालय तथा पण्डितों की नैमित्तिक सभाएं शास्त्रार्थ का केन्द्र थीं। आधुनिक काल में मार्कण्डेय मिश्र, श्री शङ्कर भट्टाचार्य, राजेश्वर शास्त्री द्राविड़, वामाचरण भट्टाचार्य, राजनारायण शास्त्री आदि प्रसिद्ध शास्त्रार्थी विद्वान् थे। बङ्गाल में कामाख्यानाथ तर्कवागीश, हरिदास भट्टाचार्य आदि प्रौढ़ विद्वान् शास्त्रार्थी थे। दक्षिण में यामुनाचार्य, व्यासतीर्थ, जयतीर्थ, केशव स्वामी आदि बहुत बड़े शास्त्रार्थी विद्वान् हुए हैं।

इस प्रकार शास्त्रार्थ-प्रणाली अपने वास्तविक रूप को छोड़ कर जल्प-वितण्डा के आडम्बर में निमग्न हो गयी। यही प्राचीन प्रथा आज भी अक्षुण्ण चली आ रही है। किन्तु इसका स्तर क्रमशः गिरता ही गया है। इस समय तो किसी प्रकार की व्यवस्था इसमें नहीं है। अधिकतर नाम मात्र का उच्छृङ्खल शास्त्रार्थ होता है, राग-द्वेष तथा पक्षपात से इसके सभी अङ्ग प्रभावित रहते हैं। पूर्व में मैथिल तथा बौद्धों का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध था। आज भी मिथिला में मिथिला और बौद्ध, इन दोनों पक्षों के लोग बिहोरा में हैं। वे शास्त्रार्थ-विचार के समय दो दलों में विभक्त हो कर ही विचार करते हैं। इसमें भी व्यवस्था है और आनन्द भी मिलता है। परन्तु अन्यत्र व्यवस्थाहीन शास्त्रार्थ-प्रणाली ही देखी जाती है।

शास्त्रार्थ-विचार से तत्त्व का बोध, बुद्धि की तीक्ष्णता, शास्त्राध्ययन में उत्साह, यश, प्रतिष्ठा आदि अनेक लाभ होते हैं। परन्तु इसे साध्य समझ लेना भ्रान्ति है। इस परिपाटी को व्यवस्थापूर्वक, नियमानुसार, सद्भावना तथा निष्पक्षपात बुद्धि से प्रवर्तित करने से शास्त्र-ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। वस्तुतः तत्त्व-बुभुत्सा इसका उद्देश्य है।

दो

●

क्या राजा मान और उसके पिता भोज परमार-वंशी थे?

●

वेदप्रकाश गर्ग

'हिन्दुस्तानी' भाग २१, अङ्क ४ (अक्टूबर-दिसम्बर, १९६०) में प्रकाशित डा० किशोरी लाल गुप्त अपने 'हिन्दी का तथाकथित प्रथम कवि : पुष्य' शीर्षक लेख में मानराज के उल्लेख के मूल-स्रोत टॉड-कृत 'राजस्थान' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के आधार पर उक्त कवि के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

जिस मान का सं० ७७० का प्रस्तर-लेख मिला है, उसके पिता का नाम भोज था। परमार-वंश में भोज नाम के तीन राजा हुए। इनका समय क्रमशः सं० ६३१, ७२१, १०९१ है। उक्त अभिलेख में जिस भोज का विवरण है, वह दूसरा भोज है। वाक्पतिराज मुञ्ज का शासनकाल सं० १०३१ ३२ है। संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध धारा नगरी का राजा भोज, इस मुञ्ज का भतीजा

था न कि पुत्र जैसा कि टॉड (पृष्ठ ७७) मे लिखा गया है मुञ्ज का भतीजा भोज तीसरा भोज है इसका शासन काल सं० १०६७ १११३ है। टाड मे शिलालेखो के आधार पर इसका समय सं० १०९१ है, जो इसके शासन-काल के अन्तर्गत ही पड़ता है।

एक-दो आवश्यक संशोधनों के अतिरिक्त शेष उपर्युक्त निष्कर्ष लगभग टॉड के ही शब्दो मे है। गुप्त जी का प्रयास स्तुत्य है, किन्तु जब आधार ही गलत हो तो निष्कर्ष स्वतः त्रुटि-युक्त होगा।

जिस राजा मान का सं० ७७० का प्रस्तर-लेख मिला है, उसे 'मौर्य' कहा गया है[1], किन्तु टाड साहब ने प्रसिद्ध मौर्य-वंश को परमार-वश के अन्तर्गत मान कर मान मौर्य और उसके पिता भोज को परमार-वंशी लिखा है। एक ओर 'मान' को मौर्य-वंशी मानना और दूसरी ओर उसे परमार लिखना आश्चर्ययुक्त है। टॉड के मत से ई० सन् ७१४ (वि० ७७१) तक चित्तौड मे परमारों का राज्य था, पीछे गुहिलोतों ने उन पर चढ़ाई कर चित्तौड़ उनसे छीन लिया। टॉड का मौर्यों को परमार मानने का मत इतिहास की कसौटी पर भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है। डॉ० गुप्त भी टाड के इस भ्रान्त-मत से आक्रान्त हो कर मौर्यवंशी मान और उसके पिता भोज को मालवा के परमार-वंश का ही समझ बैठे।

शिलालेख में चित्तौड़ के मोरी (मौर्य) घराने का उल्लेख है। मौर्य सूर्य-वंशी क्षत्रिय है। भाटों की ख्यातों में कहीं उनको परमार और कहीं चौहान बतलाया गया है जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि मौर्य-राज्य की स्थापना के समय तक तो परमार और चौहानों के उक्त नामो से प्रसिद्ध होने का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। मौर्य-वंश का प्रताप बहुत बढ़ा और उस वंश के राजा चन्द्रगुप्त और अशोक के नाम द्वीपान्तर मे भी प्रसिद्ध हुए। वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, विष्णु तथा भागवत-पुराणों में इस वंश के राजाओं की नामावली मिलती है।

चन्द्रगुप्त मौर्य उच्च कुल का क्षत्रिय-कुमार था, जैसा कि बौद्ध-ग्रन्थों में पाया जाता है। बौद्ध-लेखक मौर्यों को उसी (सूर्य) वंश का बतलाते हैं, जिसमें भगवान् बुद्धदेव का जन्म हुआ था। ऐसे ही जैन-लेखक भी उन्हें सूर्य-वंशी क्षत्रिय मानते हैं। क्षत्रिय-कुलों की सूचियों में मौर्यों का नाम है।[3] सारांश यह है कि परमारों का चित्तौड़ के मौर्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह तो निर्विवाद है कि गुहिलोतों से पहले चित्तौड़ में पाटलिपुत्र के मौर्यों का राज्य था। मालवा भी इन्हीं के अधीन था। मगध के सिंहासन पर से मौर्य-वंशियों का अधिकार छिन जाने पर उन लोगों ने एक प्रादेशिक राजधानी को अपनी राजधानी बना ली होगी। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में चार प्रादेशिक शासन-केन्द्र थे—अवन्ति, सुवर्ण गिरि, टोसाली (धौली) और तक्षशिला। इन सभी में अशोक के चार सूबेदार रहा करते थे। इनमें अवन्ति के सूबेदार प्रायः राज-वंश के होते थे। स्वयं अशोक उज्जैन का सूबेदार रह चुका था। सम्भव है कि मगध का शासन डावाँडोल देख कर मगध के आठवें मौर्य-नृपति सोमशर्मा के किसी राजकुमार ने, जो कि अवन्ति का प्रादेशिक शासक रहा हो, अवन्ति को प्रधान राजनगर बना लिया हो, क्योंकि उसकी एक ही पीढ़ी के बाद मगध के सिंहासन पर शुङ्ग-वंशियों का अधिकार हो गया।

इतिहास-ग्रन्थों में एक दूसरा मत इस रूप में भी मिलता है। बौद्धों के 'दिव्यावदान' नामक पुस्तक से तथा जैनों के 'परिशिष्ट पर्व' 'विचार श्रेणी' तथा 'तीर्थ कल्प' एवं वायु और

मत्स्य पुराणों से ज्ञात होता है कि कुनाल का पुत्र सम्प्रति था। इससे अनुमान होता है कि मौर्य-राज्य कुनाल के दो पुत्रों (दशरथ और सम्प्रति) में बंट कर पूर्वी भाग दशरथ के और पश्चिमी भाग सम्प्रति के अधिकार में रहा होगा। सम्प्रति की राजधानी के रूप में उज्जैन का उल्लेख मिलता भी है। राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि के कई प्राचीन मन्दिरों को, जिनके बनाने वालों का पता नही चलता, जैन लोग राजा सम्प्रति के बनाये हुए मान लेते है। यद्यपि ये मन्दिर उतने प्राचीन नही कि उनको सम्प्रति के समय के बने हुए कह सकें, तो भी इतना माना जा सकता है कि उन प्रदेशों पर सम्प्रति का राज्य रहा हो।[6] अस्तु, जो कुछ हो इतना अवश्य सम्भव है कि विक्रम के कोई कुछ वर्ष पहले जब मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र से हटी तब उन लोगों ने उज्जयिनी को प्रधानता दी और वहीं पर अपने एक प्रादेशिक शासक के स्थान पर राजा को नियत करने लगे।

चित्तौड़ का दुर्ग मौर्य-राजा चित्राङ्ग (चित्राङ्गद)ने बनाया था, ऐसा प्रसिद्ध है और जैन-ग्रन्थों में लिखा भी मिलता है।[7] चित्तौड़ गढ़ से कुछ दूर मानसरोवर से प्राप्त सं० ७७० के प्रस्तर लेख में राजा मान को मालवे का राजा लिखा है। नवसारी के वि० सं० ७९६ के लेख से भी उस समय मौर्यों की विद्यमानता सिद्ध होती है।[8] उक्त लेख में बताया गया है कि अरबों ने कच्छ, चावोटक, मौर्य, गुर्जर आदि के राज्यों को नष्ट कर दक्षिण के समस्त राजाओं को जीतने की इच्छा से प्रथम नवसारिका (नवसारी) पर आक्रमण किया। लेख में उल्लिखित मौर्य अवश्य चित्तौड़ के ही मौर्य होंगे।

परमारों का अभ्युदय विक्रम-संवत् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। परमारों के जो शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कृष्णराज के पूर्वजों का कुछ भी उल्लेख नहीं है। बारहवीं शताब्दी के लगभग लिखी हुई उदयपुर-प्रशस्ति में कृष्णराज से पहिले के कुछ राजाओं की नामावली है, पर वह विश्वसनीय नहीं है। मुञ्ज और राजा भोज के भूमि-दान-पत्रों में परमारों का वंशानुक्रम निम्न प्रकार दिया हुआ है—कृष्ण, वैरिसिंह, सीयक, वाक्पति। इसके बाद के राजाओं की, सिन्धुल अथवा भोज राज तक की, पूर्ण सूची अनेक लेखों में मिलती है। उदयपुर-प्रशस्ति में पहला नाम उपेन्द्र लिखा है और कहा है कि वैरिसिंह से पहिले और एक वैरिसिंह, सीयक तथा वाक्पति हुए थे। परन्तु ये नाम परमारों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए दुबारा लिखे गये हैं।

लेखों और दान-पत्रों में वाक्पति राज के नाम के साथ 'कृष्णपादानुध्यात' विशेषण जोड़ा गया है। कृष्णराज को परमारों का आदि पुरुष मानने से ही उक्त विशेषण सार्थक हो सकता है। वैरिसिंह प्रथम, सीयक प्रथम और वाक्पति प्रथम, इनके नाम पृथक् करने से ही परमारों की सच्ची वंशावली निश्चित की जा सकती है। अतः परमारों का आदि पुरुष कृष्ण राज को ही मानना उचित है। कृष्णराज का समय विद्वानों ने वि० सं० ९६७ से ९८७ तक अनुमित किया है।[9]

प्रतिहार-सम्राट् दूसरे नागभट के समय (वि० सं० ८५७ से ८९०) तक मालवे में परमारों का स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना सम्भव नहीं है। नागभट ने मालवे को पूर्णतः [illegible] किया था यह तो उसी के लेखों से सिद्ध है। नागभट के [illegible] से पहिले मालवा राष्ट्रकूटों

के अधिकार में था यह लाट देश के शासक राठौड-सामन्त ककराज के बडौदा से मिले हुए दान पत्र से स्पष्ट है। बाद के इतिहास में भी यह विशेषता देख पड़ती है कि मालवा कुछ समय तक तो उत्तराधिप सम्राट् के और फिर दक्षिणाधिप सम्राट् के अधिकार में चला जाता था।

टॉड ने परमार-वंश में भोज नाम के तीन राजा होने का उल्लेख किया है,[१०] किन्तु परमारों के वंश-वृक्षों को देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध धारेश्वर भोज से पूर्व अन्य कोई भोज नाम का राजा नहीं हुआ।[११] डा० गुप्त ने अपने लेख में वाक्पति राज मुञ्ज का जो शासन-काल (सं० १०३१-३२ वि०) लिखा है, वह पूर्णतः अशुद्ध है। वाक्पति राज मुञ्ज का शासन-काल सं० १०२७ वि० से लेकर सं० १०५४ वि० के आस-पास तक माना जाता है।[१२]

जब परमारों का उदय-काल ही विक्रम की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पीछे नहीं हट सकता तब वि० सं० ७७० के लगभग मालवा पर उनका अधिकार कैसे हो सकता है? और मौर्यों को परमार मानना इतिहास-विरुद्ध है ही।[१३] ऐसी दशा में मान और उसके पिता भोज को परमार-वंशी लिखना या मानना न्याय-सङ्गत नहीं है। राजा मान और उसका पिता भोज मौर्य-वंशी थे, न कि परमार-वंशी।

यद्यपि टॉड-राजस्थान के पृष्ठ ७७ की टिप्पणी २ के अनुसार राजा मान का ७७० वि० सं० का यह शिलालेख 'ट्रैञ्जैक्शन्स ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी' में प्रकाशित होने वाला था, किन्तु यह अभी तक अप्रकाशित है। वह अब कहाँ पर है, यह भी कोई नहीं जानता, क्योंकि उसके विषय में अब तक किसी विद्वान् ने अपना मन्तव्य प्रकट नहीं किया है। यदि वह सुरक्षित होता अथवा प्रकाशित होता तो ओझा जी तथा अन्य विद्वान् उस पर अवश्य विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए अपना कोई अभिमत भी प्रकट करते।

टॉड ने उसका अंग्रेजी अनुवाद अपने 'राजस्थान' में दिया है[१४] और उसका भाषानुवाद महामहोपाध्याय कवि राजा श्यामलदास के 'वीर विनोद' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग के शेष संग्रह (पृ० ३८०) में छपा है।[१५]

फिर भी यह विषय अभी विशेष रूप से अनुसन्धानापेक्षी है।

सन्दर्भ सङ्केत

१. पृष्ठ २१।
२. डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा: निबन्ध-संग्रह, पहला भाग, पृष्ठ १२०-२१।
३. (क) ओझा: राजपूताने का इतिहास, चौथा भाग, दूसरा और तीसरा अध्याय।
   (ख) डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार: मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, चौथा अध्याय।
४. ओझा: रा० का इ०, पहला भाग, पृष्ठ ९४।
५. वही, पृष्ठ ९५।
६. ओझा: नि०-सं०. वही. पृष्ठ ३२. १४५—"तरलतरतारतरवारिवारितोदित

७ चिन्तामणि विनायक वैद्य मध्ययुगीन भारत भाग २ पृष्ठ १८५ २०० ।

८ ओझा नि०-सं० वही पृष्ठ १५७ ५८ रा० का इ० पहला भाग पृष्ठ १५१ ६२।

९. ओझा : नि०-सं०, वही, पृष्ठ ३४, १५६; तथा वैद्य: म० यु० भा०, भाग २, पृष्ठ १८९—

गौडेन्द्रवंशपति निर्ज्जयदुर्विदग्धसद्गुर्ज्जरेश्वर दिग्गर्गलतां च यस्य।
नीत्वा भुजं विहतमालव रक्षणार्थं स्वामी तथान्यमपि राज्यफ (फ) लानिभुंक्ते।

१०. टॉड : राजस्थान, भाग १, पृष्ठ ६२६-२७।

११. ओझा : रा० का इ०, वही, पृष्ठ १८१, २०९।

१२. वीणा (धार-अङ्क), वर्ष १५, अङ्क १, पृष्ठ ९।

१३. टॉड : राजस्थान, पहला और दूसरा खण्ड, ओझा का सटिप्पण अनूदित एवं सम्पादित संस्करण, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना, द्वारा प्रकाशित।

१४. वही, पहला खण्ड, पृष्ठ ६२५-२६।

१५. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ६२, अङ्क २, पृष्ठ १२६।

बोलने दो चीड़ को

नरेश मेहता का काव्य-सङ्कलन

प्रकाशक : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई। पृष्ठ-संख्या : ७९। मूल्य ३.०० रु०।

किसी कवि की काव्य-रचना का मूल्याङ्कन प्रायः दो दृष्टियों से किया जा सकता है। पहली दृष्टि तो यह है कि हम, यानी ईसवी-सन् के १९६३ वें वर्ष में लिखने-पढ़ने वाले सजग पाठक (या समीक्षक), उस कवि की कृति को इतिहास के क्रम-विकास को प्रतिबिम्बित करने वाले एक आईने के रूप में लें और फिर यह देखें कि उस कवि के अपने विशेष क्या गुण थे और उन गुणों ने उसे उस इतिहास के परिपार्श्व में अपने व्यक्तित्व को (जो बहुत विशाल भी हो सकता है) उपलब्ध कर सकने में क्या योग दिया। हम उस कवि की उपलब्धियों को उस कवि तक और उस इतिहास तक ही सीमित रख सकते हैं, जिसका वे अङ्ग होती है, यदि सन् १९६३ में हमारे विकसित एवं भिन्न प्रकार के भाव-बोध तथा सौन्दर्य-बोध का वे स्पर्श नहीं करते। एक शब्द में, हम ऐसे कवि अथवा काव्य को 'क्लैसिक' मान कर चल सकते हैं। एक सीमा तक, मैं समझता हूँ, ऐसे काव्य से अपने वर्तमान प्रश्न तथा शङ्काएँ ले कर उलझना वृथा है; उनसे या तो पूरी तौर पर सहमत होइए या असहमत, नितान्त समसामयिक सन्दर्भों से उपजी अपनी जिज्ञासाएँ ले कर उनके पास पहुँचना छोटे मुँह बड़ी बात करने के बराबर मान लिये जाने का खतरा है। किन्तु इसका यह मतलब हर्गिज नहीं कि ऐसे 'क्लैसिक' काव्य उपेक्षणीय हैं। कम से कम शिल्प की दृष्टि से उनका अध्ययन दिलचस्प और उपयोगी हो सकता है।....

दूसरी दृष्टि कवि की काव्यगत उपलब्धि को गौण मानती है; वह तो केवल यह देखना और परखना चाहती है कि कवि की रगों में समय का खून किस गर्मी और तेजी से दौड़ रहा है। उसके पास व्यक्तित्व की वह तरलता और ऋजुता है कि नहीं जो क्षण-क्षण बदलते वर्तमान जीवन-सन्दर्भों में धड़कती हुई सौन्दर्यात्मक चेतना को अपने में समा सके। आज के यथार्थ बोध को क्रियात्मक रूप से भोगते हुए वह किसी मूल्य-रचना की पीड़ा का साक्षी है अथवा नहीं। एक वाक्य में कहें तो यह कि 'शाश्वत', 'सनातन' मूल्यों के प्रति किसी आग्रह से रहित, भविष्य की बिना परवाह किये, वह कवि समसामयिक जीवनानुभवों तथा उनमें निहित जीवन्त तत्त्वों के प्रति किस हद तक कमिटेड है उनसे कितना सम्पृक्त है

श्री नरेश मेहता के इस काव्य-सङ्कलन का परीक्षण मैं इस दूसरी दृष्टि से ही करना चाहता था किन्तु स्वयं कवि ने अपने 'शीर्षबन्ध' में मेरे लिए एक कठिनाई प्रस्तुत कर दी है। उनका आग्रह है कि उनके काव्य का मूल्याङ्कन (और इसीलिए 'बनपाखी सुनो'-काल की कुछ रचनाएं इसमें सङ्कलित कर दी गयी हैं) ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हो, मानो यदि उनकी कोई रचना आज के आधुनिक काव्य-बोध की दृष्टि से सार्थक न भी जान पड़े तो भी उनका महत्त्व केवल इसलिए स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे किसी ऐसे खास काल की किन्हीं खास अनुभूतियों एवं जीवन सन्दर्भों की अभिव्यक्तियाँ हैं जब शायद हिन्दी-कविता नये-नये रूप ग्रहण कर रही थी। यदि उस काल की वैदिक कविताएं इस संग्रह में नहीं दी गयीं तो ऐसा संग्रह की सीमा भी हो सकता है वैसे उनकी भी अहमियत है 'आज की कविता की उपलब्धियाँ (के) व्यक्तिगत एवं समष्टिगत परिपार्श्व' की जानकारी के लिए! यह स्वीकार करते हुए कि ऐसी कविताओं में कवि की अनुभूतियाँ निश्चय ही मूल्यवान् रही होंगी, मैं श्री नरेश मेहता से यह विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि यह उनका सिर्फ ग़लत या सही एक मोह ही है....और शायद इस मोह द्वारा वे भावी पाठकों- समीक्षकों के आगे स्वयं अपने लिए ही यह खतरा पैदा कर रहे हैं कि वे उन्हें सिर्फ उनकी 'उपलब्धियों' के कारण 'क्लैसिक' मान कर 'टरका दें' (नरेश मेहता की 'विशिष्ट भाषा का उल्लेख लोग-बाग कुछ इसी अन्दाज में नहीं करते हैं?). यानी कि वे यह जानने-समझने की चेष्टा ही न करें कि कवि श्री नरेश मेहता जी आज के आधुनिक भाव-बोध में कहीं खपते हैं भी या नहीं...

नरेश मेहता का भाव-बोध और मिज़ाज मूलतः रोमानी है जिसकी परिधि का विस्तार करने की ओर उसमें नये-नये तत्त्वों का समावेश करने को वे उत्सुक रहे हैं। इस संग्रह की अधि-संख्यक कविताएँ इस धारणा को पुष्ट करती हैं। प्रारम्भ में जिन कविताओं को 'ऐतिहासिक' कारणों से स्थान दिया गया है, उनकी रूमानियत तो बहुत कुछ एडोलेसेण्ट भाव-बोध की सीमा का स्पर्श करती हैं। इनमें मूल-संवेदना के अतिरिक्त जो दृश्यानुभूत की सूक्ष्मता, रंगों और स्पर्शों का बुना हुआ गुलदस्ता सजा कर रखने की प्रवृत्ति और शब्द-ध्वनि रूपों को अधिक से अधिक 'एक्सप्लायट' करने की चेष्टा हमें दिखायी देती है, वह भी इस एडोलेसेन्स को ही व्यक्त करती है। यह सब चीज तो बाद की अधिक प्रौढ़ स्वर वाली कविताओं में भी देखने को मिलती है पर वहाँ पर अर्थ की व्यञ्जना से अधिक ध्यान कवि का शब्दों की स्वर-माधुरी पर ही है। यहाँ एक उदाहरण देना आवश्यक हो गया है। एक कविता है 'हंसा चली' (पृ० १२) जिसमें 'प्रिया के इन्कार' से उत्पन्न मनः स्थितियों को दृश्य जगत् की विषमताओं एवं उनके असामञ्जस्य द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है—

बतखों की कड़ी-कड़ी

गन्धक-सी

रुई का ढेर

पीत प्लास्टिक सी-चोंच,

सरगम के गलत रीड-सी बोली

क्यों क्यों !

किन्तु इस तरह के चित्रण कौतुकपूर्ण अधिक लगते हैं और उस अनुभूति को नहीं उभारते जो कविता का कथ्य है। अन्त की पंक्तियों में यदि यह न लिखा गया होता कि कवि को उसकी प्रेमिका ने ठुकरा दिया है तो पाठक बड़े मजे में यह समझ कर खुश हो रहा था कि किण्डरगार्टन के छोटे-छोटे काठवाले रङ्गीन टुकड़े कितनी अच्छी विचित्र शक्लें बना रहे हैं। 'एक प्रयोग' और 'दिनान्त की राजहंसिनी' भी ऐसे ही खेल रचने वाली कविताएँ हैं।...अब क्या ऐसी ही कविताओं के लिए नरेश जी चाहते हैं कि उनका मूल्याङ्कन नयी कविता के ऐतिहासिक परिपार्श्व में हो ? क्या इन कविताओं से नयी कविता की भावनात्मक और वैचारिक मैच्यूरिटी को समझने में सहायता मिलेगी ?....लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह कवि का मोह है, और यदि वह इससे मुक्त हो सके तो मैं समझता हूँ इन कविताओं को नयी कविता के विकास में तो क्या, स्वयं अपनी विकास-यात्रा में भी बिना किसी दावे के एक 'पासिङ्ग फ़ेज़' से अधिक महत्त्व नहीं देगा।

आगे की कविताओं का मूल-स्वर भी काफ़ी दूर तक रोमानी है, किन्तु कवि की इस निष्ठा से कि '**दर्द की अभिव्यक्ति, उसका शमन, वञ्चना है।**' उनमें एक परिवर्तन आया है। 'बोलने दो चीड़ को' तथा ऐसी ही अन्य प्रेमपरक तथा रूमानी संवेदना-सम्पन्न कविताओं में एक प्रकार की गम्भीरता, तीव्रता और सघनता है। उनमें उपमाओं और चित्रों की अनावश्यक भीड़ नहीं है। सर्वोपरि उनमें एक प्रकार का काव्य-संयम है जो उनके स्वर को उदात्तता प्रदान करता है। ऐसा ही कठोर काव्य-संयम तथा स्वर की उदात्तता (विशेषकर प्रेमपरक कविताओं के सन्दर्भ में) हमें अज्ञेय में भी मिलता है जिनसे परोक्षरूप से नरेश जी की काव्य-संवेदना काफ़ी प्रभावित लगती है। एक जगह का छन्द-प्रवाह और चित्र तो अज्ञेय जी की एक कविता से बहुत मिलते-जुलते हैं। देखें—'माघ मूले' शीर्षक कविता (पृ० ३०)। किन्तु कभी-कभी इन कविताओं में सूक्ति की-सी संक्षिप्तता लिये हुए चित्रात्मक दृश्य-खण्ड अलग अलग-से लगने लगते हैं, लगता है जैसे वे स्वयं अनुभूति के सङ्घटित अङ्ग न हो कर अनुभूति का 'वर्णन' कर रहे हैं। शिल्प-गत संयम और मँजाव जहाँ एक ओर अनुभूति को अपेक्षित सौन्दर्यात्मक दूरी प्रदान करते हैं वहाँ मात्रा बढ़ जाने पर कभी-कभी अनुभूति का ताप भी हर लेते हैं। तब केवल एक मुद्रा रह जाती है, अभिव्यक्ति का एक ढला-ढलाया पैटर्न और पाठक कवि की अनुभूति की वास्तविकता के प्रति भी सशङ्कित हो उठता है। नरेश मेहता का काव्य-शिल्प प्रायः उनकी काव्यानुभूति को ढँक लेता है—शब्द-चयन की उनकी सूझ-बूझ, विशिष्ट अर्थ-व्यञ्जना वाले शब्दों का प्रयोग, सङ्गीतात्मक लय तथा संक्षिप्त किन्तु पूर्ण चित्रों का सङ्कलन उनकी अनुभूति के आयामों को प्रस्फुटित करने के स्थान पर उनपर चमत्कृति का एक गाढ़ा मुलम्मा चढ़ा देते हैं। यह मुलम्मा ऊपर से देखने पर निश्चय ही बड़ा आकर्षक दिखायी देता है...

यहीं पर मुझे लगता है कि नरेश मेहता का कवि व्यक्तित्व काव्य-भाषा (poetic diction) द्वारा निर्मित व्यक्तित्व है। अपने मूल-भाव-बोध से पूर्णतः ताल-मेल खाने वाली काव्य-भाषा उन्होंने अवश्य निर्मित की थी किन्तु कालान्तर में यही काव्य-भाषा कवि के व्यक्तित्व से बड़ी सिद्ध हो गयी, वह मानों रेशम के कीड़े के समान स्वयं अपने ही बने हुए रङ्ग-जाल में बन्दी हो गया।

जब भी कभी कवि ने नयी भाव भूमि ग्रहण करने की चेष्टा की उसकी काव्य

भाषा का संस्कार बीच में आड़े आ गया। जहाँ जबरन उसने यह बन्धन तोड़ना चाहा है—जैसे कि संग्रह की 'बूढ़े मनूकों का जुलूस', 'विकल्प' या 'अननय' आदि कविताओं में—वहाँ उसके स्वर में आत्मविश्वास की कमी-सी लगती है। लगता है कवि अपनी परिचित भाव-भूमि से भटक कर अथवा किसी क्षणिक वैचारिक आवेश से पड़ कर किसी अनजान जगह में अटक आता है। इन कविताओं में व्याप्त टोन की अतिरिक्त सतर्कता तथा जल्दी-जल्दी सब कुछ कह देने की मुद्रा ही यह बात स्पष्ट कर देती है। इन कविताओं में पाठक किसी अनुभूति का साक्षात्कार नहीं करता, वह बस कवि की बात को सुनता-सा लगता है। शायद कवि में अनुभूति की वह तड़फड़ाहट, वह तीव्रता और आवेग ही नहीं जो एक बार सब कुछ तोड़ कर नया रच दे—अपनी परिचित काव्य-भाषा के बन्धन से मुक्त हो कर कुछ नया गढ़े। विकास की दृष्टि से नरेश जी की काव्य-भाषा बस अधिक से अधिक चमकीली ही हो सकी है। यदि काव्य-भाषा को कवि के भाव-बोध का आधार माना जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नरेश जी आधुनिक भाव-बोध में पिछड़ गये हैं। खेद तो इस बात का और भी है कि वे इसके प्रति कातर भी नहीं हैं। भाषा और अनुभूति के बीच सामञ्जस्य होने वाला वह तनाव—यह अहसास कि ऐसा बहुत कुछ है जो छूट गया है—जो कवि-निर्मित सीमाओं को तोड़ने में सहायक होता, उसका बोध नरेश मेहता की कविताएँ हमें नहीं करातीं। इस तनाव का बोध भावनात्मक और वैचारिक स्तर पर कवि के विकास का द्योतक होता है, इससे यह परिलक्षित होता है कि कवि अपने बदलते परिवेश द्वारा उभारी गयी समस्याओं तथा चुनौतियों से किस प्रकार जूझ रहा है। यही स्थिति वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में व्यक्तित्व-निर्माण की एकमात्र सार्थक स्थिति है जिसमें कवि तटस्थता की मुद्रा नहीं अपनाता ([illegible]) वरन् जीवन-प्रक्रिया की प्रत्येक छोटी-बड़ी धार में अपने को समर्पित कर देता है। नरेश जी की कविताओं में असंख्य बार प्रयुक्त 'समर्पण' जीवन के प्रति वास्तविक समर्पण न हो कर मात्र एक भाव-भङ्गिमा ही लगता है, केवल एक मुहावरा, एटीट्यूड। यही कविता हमें जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करने का जो अनुभव देती है, वह इन कविताओं में नहीं है। प्रस्तुत सन्दर्भ में नरेश मेहता के काव्य का एक मात्र उल्लेखनीय पक्ष उनका सौन्दर्य-संवेदना है जिसकी उपलब्धियों और सीमाओं की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।

नरेश मेहता आधुनिक भाव-बोध और वर्तमान परिवेश की समस्याओं से बिल्कुल अछूते हैं, ऐसा मानना गलत होगा। उदाहरण के लिए अपनी '[illegible]' कविता में उन्होंने मूल्य-संक्रान्ति के सन्दर्भ में मानवीय संकट की स्थिति को लिया है और बड़े ही नाटकीय ढङ्ग से उसे उभारा है। किन्तु जो बात इसमें खटकती है, वह यह कि इसमें संकट जैसी मार्मिक स्थिति के उस सत्यात्मक पक्ष का अभाव है जो एक ओर तो मानव-नियति का साक्षी बनता है और दूसरी ओर मूल्य-रचना की एक अनिवार्य पीठिका प्रस्तुत करता है। नरेश जी इस संकट के पीछे की यथार्थ भूमि का अन्वेषण एवं उद्घाटन करने के बजाय उसे एक उदात्त भाव-भङ्गिमा द्वारा 'ड्रेसेण्ड' कर देते हैं। 'किन्तु मैं लड़ूँगा ही' और '[illegible]' ओज की मुद्रा में कामी-सधी रचनाएँ हैं, किन्तु इनमें भी संघर्ष की वास्तविक चेतना ये उद्दीप्त नहीं कर पाये हैं। इनमें मानवीय संघर्ष से उत्पन्न अनुभूति की वह तड़प नहीं है, यदि है तो काव्य-भाषा की उदात्तता उसे खा गयी है, न ही वह मार्मिक व्यङ्ग्य-विपर्यय का भाव जो इस अनुभव को आधुनिक भाव-बोध

के सन्दर्भ में 'आश्वासन' प्रदान कर सकना। यही बात 'टूट समूहों का जुलूस' के बारे में भी लागू होती है, इसमें कवि की संवेदना आत्मदया से उपजी लगती है।

यह सही है कि प्रत्येक संग्रह के अन्त में पाठक को अपने प्रति आश्वस्त नहीं छोड़ता कि उसने कवि के भावी विकास की दिशा का कोई दृढ़ सङ्केत पा ही लिया है। मैं यह तो न कहूँगा कि मैंने ऐसी चेष्टा नहीं की, किन्तु संग्रह के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मुझे सहसा यह लगा कि ऐसी चेष्टा तो स्वयं कवि की ओर से होनी चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकेगा जब कवि 'जीवन ने मुझको जिया' वाले विवशता बोध की स्थिति से उबर कर 'मैंने जीवन को जिया' के क्रियात्मक बोध की स्थिति तक आ सकेगा।

—मलयज

वेणु-शिल्प

उपेन्द्र महारथी का शिल्पग्रन्थ

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ-संख्या : २२३, रायल। मूल्य ११.०० रु०।

'वेणु-शिल्प' उपयोगी कलाओं पर लिखे गये साहित्य के क्षेत्र में एक सराहनीय प्रयास ही नहीं, एक निश्चित उपलब्धि है। 'वेणु-शिल्प' के लेखक श्री महारथी भारत के प्रसिद्ध चित्रकारों में से हैं। चित्रकारिता के साथ-साथ हस्त-शिल्प-सम्बन्धी अनेक विधाओं में भी आपको विशेष अभिरुचि रही है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद १९५७ में आप वेणु-शिल्प पर विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए ढाई-वर्ष तक जापान में रहे और वहाँ के विभिन्न कला-संस्थानों में घूम-घूम कर आपने इस हस्त-कला में विशेष ज्ञान अर्जित किया। प्रस्तुत पुस्तक मार्च १९५९ ई० मे बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् की ओर से, बिहार-साहित्य-सम्मेलन-भवन में, वेणु-शिल्प-सम्बन्धी जो व्याख्यान दिये थे उन्हीं का सङ्कलन है। प्रस्तुत व्याख्यानमाला का सङ्कलन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथमतः तो यह उनके लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जो हस्त-कला द्वारा जीवन-यापन करना चाहते हैं, दूसरे उन विद्यार्थियों के लिए है जो कुटीर-उद्योग में शिक्षण प्राप्त करके विशेषज्ञ होने का प्रयास कर रहे हैं और तीसरे उन साधारण पाठकों के लिए भी है जो गृह-सज्जा और काम में आने वाली वस्तुओं के नवीनतम उपकरणों की खोज में रहते हैं।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में बाँस की विभिन्न किस्मों, उनकी उपयोगिता, उनमें लगने वाले कीड़ों की रोक-थाम, रोगों की गिनती और उनके उपचार की विधियों और इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों का व्यापक सन्दर्भ सहित विवरण दिया गया है। दूसरे भाग में शिल्प-सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। बाँस काटने, पालिश करने, बाँस को आवश्यकतानुसार सीधा-टेढ़ा करने, बाँस की बनी चीजों को सुरक्षित रखने आदि पर भी विधिपूर्वक विचार किया गया है। तीसरे भाग में बाँस की वस्तुओं की बुनाई, रँगाई आदि का विशेष विवरण दिया गया है। चौथे भाग में बाँस के विविध व्यावहारिक कार्यों पर एक विस्तृत विवरण है। सूप, चावल धोने की टोकरी, भात रखने की टोकरी, चलनी आदि, आदिम जातियों से लेकर सम्भ्रान्त नागरिकों के घरों में समान रूप से प्रयुक्त होती है तो वस्त्र रखने की टोकरी रद्दी

मनोवैज्ञानिक और आत्मकथात्मक दृष्टि से कमजोर उपन्यास है। जया की कहानी में मनोविज्ञान के स्थान पर संयोग-तत्त्वों को अधिक स्थान मिला है। गजानन के रुपयों का बाग में गिरना, जया के भाई को टी० बी० हो जाना, नेपाली का मधुवाला और गजानन पर झपटना तथा ऐसी ही अन्य घटनाएँ संयोगवशात् ही घटित होती हैं। जया को जबर्दस्ती जिस अन्त की ओर घसीटा गया है, उसमें लेखक स्वयं उलझ गया है। लेखक ने उपन्यास में सामाजिक विभीषिकाओं, निष्क्रियता, पाप एवं अनाचार और समाज की गिरी हुई नैतिकता का चित्रण किया है। किन्तु इस चित्र में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का अभाव है। लेखक मार्मिक और संवेदनापूर्ण स्थल पहचानने में असमर्थ रहा है। पात्रों में उनका अपना चारित्रिक वैशिष्ट्य नहीं है। इसके अतिरिक्त उपन्यास में छापे की अनेक भूलें हैं।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

सीमा के पार

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र का लघु उपन्यास

प्रकाशक : त्रिवेणी प्रकाशन, इलाहाबाद—६। पृष्ठ संख्या : ६६। मूल्य १.५० रु०। संस्करण : प्रथम, १९६२।

'सीमा के पार' लघु-उपन्यास में छबीली नामक एक विधवा के प्रेम का चित्रण है। वह लाला चन्द्रभान से प्रेम करती है, किन्तु उसके प्रेम में उसके मन की अतृप्त आकांक्षाएँ और वासना ही अधिक हैं। 'सीमा के पार' से लेखक का उद्देश्य आत्महत्या से है, न कि व्यक्तित्व की पराकाष्ठा से। छबीली आत्महत्या कर लेती है। उसके जीवन की यह ट्रेजेडी सारे समाज की ट्रेजेडी नहीं बन पाती। उसके जीवन की परिस्थितियों में उसका अपना दायित्व अधिक है, न कि समाज का। उपन्यास की शैली में किस्सागोई-शैली, चेतना-प्रवाह-शैली और वर्णनात्मक शैली का मिश्रण है। पात्रों का व्यक्तित्व भी ठीक-ठीक रूप में उभर नहीं पाया। इधर नये उपन्यासों में चित्रात्मक भाषा के प्रयोग हो रहे हैं, भाषा की प्रभावशीलता और प्रभावाभिव्यञ्जकता की दिशा में जो नित्य नये प्रयोग हो रहे हैं, उनका परिचय भी उपन्यास से नहीं मिलता। उपन्यासों का आज का पाठक जो बौद्धिक स्तर चाहता है, वह भी लेखक ने प्रदर्शित नहीं किया। साथ ही मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व का अभाव भी खटकता है। संक्षेप में, उपन्यास साधारण कोटि का ही बन पड़ा है।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

और वह हार गई

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र का उपन्यास

प्रकाशक : त्रिवेणी पॉकेट बुक्स, कोठी बंसीधर, इलाहाबाद। संस्करण : [illegible] पृष्ठ संख्या : २२०। मूल्य १.७५ रु०।

'और वह हार गई' पढ़ते समय यशपाल के प्रसिद्ध उपन्यास 'दिव्या' का [illegible] आता है। शारदा नामक युवती का सत्यदेव से विवाह निश्चित हो जाता है, पर नरदे[illegible]

गये विघ्न के कारण विवाह सम्पन्न नहीं हो पाता। [illegible] के साथ [illegible] तक बिना विवाह किये रहती है, फिर गणिका बन जाती है और अन्त में [illegible] के साथ गङ्गा की लहरों में समा जाती है। यह उपन्यास उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत अवश्य है, किन्तु उसकी मूल संवेदना क्या है, यह तथ्य स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसी दशा में उपन्यास की सफलता संदिग्ध ही समझी जानी चाहिए। वर्जीनिय वुल्फ के मतानुसार ऐसे उपन्यासों पर एक भारी प्रश्न-सूचक चिह्न लगाया जा सकता है। इस उपन्यास में वैसे आचार्य मिश्र की कथा कहने की अपूर्व क्षमता प्रकट होती है, तो भी आधुनिक उपन्यास-कला में जो आश्चर्यजनक प्रयोग हुए और [illegible] तथा शैली में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका परिचय इसमें प्राप्त नहीं होता। हाँ, [illegible] में इस बात की आशा अवश्य की जा सकती है कि आचार्य मिश्र हमें भविष्य में और भी [illegible] पुष्ट उपन्यास दे सकेंगे।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हीरे मोती

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र की बाल-लघु-कथाएँ

प्रकाशक : त्रिवेणी पॉकेट बुक्स (सद्गम प्रकाशन), कोठी [illegible], इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या : ३२। मूल्य १·५० रु०। संस्करण : द्वितीय, १९६२।

आचार्य मिश्र की इस रचना में 'बाल-लघु-कथाएँ' हैं। उनमें एकता, [illegible], राष्ट्रीयता, उन्नति, निर्भयता, साहस, ईमानदारी आदि की शिक्षा [illegible] है। हिन्दी में बाल-साहित्य का अभाव है। आचार्य मिश्र की यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति करती है। इन कथाओं से शिक्षा प्राप्त होने के साथ-साथ मनोरञ्जन भी होता है। [illegible] यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद है। प्रश्नोत्तरी शैली में [illegible] है, सुबोध और सरल है। कई कथाएँ भी सफल है। कहीं-कहीं पर छापे की अशुद्धियाँ [illegible] है। बाल-साहित्य में इस ओर विशेष रूप से सतर्क रहने की आवश्यकता है। इस छोटी-सी सुन्दर और उपयोगी पुस्तक के लिए आचार्य मिश्र बधाई के पात्र हैं।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

संकेत

उपेन्द्रनाथ अश्क
मोहम्मद अहमद 'हुनर'
द्वारा सम्पादित उर्दू सङ्कलन

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद। पृ० सं० : ६००, डिमाई। मूल्य १५.०० रु०।

उर्दू और हिन्दी को जो लोग एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। उर्दू और हिन्दी में शब्दों का भेद नहीं, मिज़ाज का भेद है, रुचि का भेद है और उनके

साथ सारे जीवन दर्शन का अन्तर है। इन भेदों के साथ भाषा चाहे एक ही क्यों न हो साहित्यिक व्यक्तित्व के मूलभूत रचना विधान में अन्तर आ जाता है, मूल्यों में अन्तर आ जाते हैं। उर्दू साहित्य का कल्याण उसकी अपनी मर्यादा की सीमा में ही सम्भव हो सकता है। उसकी प्रकृति को बिगाड़ कर जो लोग उसे हिन्दी या अन्य भाषाओं में जोड़ना चाहते हैं वे भाषा के महत्त्वपूर्ण पक्ष को या तो समझते नहीं या जान-बूझ कर कृत्रिमता लाने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे बहुत से सङ्कलनों की आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है। मैं सङ्कलन के इस प्रयोग का कायल हूँ और यह मानता हूँ कि इस प्रकार के सङ्कलन दोनों भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र के उत्तम साहित्य से परिचय दिलाने में सफल होंगे।

इस दृष्टि से देखने पर प्रस्तुत सङ्कलन की कई अच्छाइयाँ हमारे सामने स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात तो यह कि रचनाओं के सङ्कलन में कहीं भी सम्पादकों को यह मोह नहीं व्यापा है कि उन्होंने उनकी मूल-प्रवृत्ति एवं भंगिमा को छोड़ कर कहीं भी ऐसी चेष्टा करें जिससे कि वे हिन्दी-उर्दू-शैली को एक दूसरे के निकट समझाने या समझने के भ्रम में फँस जायँ। उन्होंने हिन्दी के प्रतिष्ठित कलाकारों की रचनाओं को ही सङ्कलित किया है। उनके चयन, सम्पादन एवं आकलन में उन्होंने कोई भी आग्रह या दुराग्रह नहीं दिखाया है।

सम्पूर्ण सङ्कलन को विधाओं के आधार पर विभाजित किया गया है। सङ्कलन का प्रथम खण्ड कहानियों का है। दूसरा खण्ड नज़्मों का है। नज़्मों को भी विभिन्न युगों में विभाजित किया गया है। कहानियों के बाद ही नज़्मों का पहला दौर है। तीसरा खण्ड एकाङ्की नाटकों का है। नाटकों में अधिकांश की रचना-प्रक्रिया एवं गठन से ऐसा पता चलता है कि जैसे वे मुख्यतः रेडियो-नाटक रहे हैं और बाद में उन्हें इधर-उधर बदल कर मञ्च-योग्य बनाया गया है। चौथा खण्ड फिर नज़्मों का है। इसे सम्पादकों ने दूसरा दौर नाम दिया है। किन्तु इस दौर की विशेषताओं या काल-परिचय के बारे में न तो कोई टिप्पणी है और न कोई वक्तव्य। पाँचवाँ खण्ड संस्मरणों का है जिसमें इस्मत चग़ताई, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', साहिर लुधियानवी और सआदत हसन मण्टो द्वारा लिखे गये संस्मरण हैं। इस्मत चग़ताई का संस्मरण 'दोज़खी' फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' का संस्मरण 'बुख़ारी साहब', साहिर लुधियानवी का संस्मरण 'देवेन्द्र सत्यार्थी' और मण्टो का 'आग़ा हश्र कश्मीरी' का संस्मरण है। संस्मरण का अंश प्रायः सबसे अधिक गठित और मर्मस्पर्शी है। विशेष कर 'दोज़खी', 'बुख़ारी साहब' और 'देवेन्द्र सत्यार्थी के संस्मरण तो बड़े सुन्दर बन गये हैं। छठा खण्ड फिर नज़्मों के तीसरे दौर का है। सातवाँ खण्ड हास्य-व्यंग्य का है। आठवाँ खण्ड ग़ज़लियात का सङ्कलन है। अन्तिम अर्थात् नवाँ खण्ड 'आग:पुरानी' नाम से जमीला हाशिमी का एक लघु उपन्यास है। ६०० पृष्ठों का यह बृहत् सङ्कलन एक साथ अनेक बड़े उर्दू-लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं को सङ्कलित कर के हिन्दी के पाठकों के समक्ष उर्दू-साहित्य का परिचय कराने में सफल हुआ है। नागरी लिपि में पाद-टिप्पणियों में कठिन शब्दों का अर्थ दे कर सम्पादकों ने सारी सामग्री का अर्थ-ग्रहण सुगम बना दिया है। ग़ज़लियात में सम्पादकों ने ग़ज़ल के प्रत्येक शायर को यथासम्भव स्थान दिया है। कुल मिलाकर लगभग ६० ग़ज़ल लिखने वालों की रचनाएँ सङ्कलित की गयी हैं। पूरे सङ्कलन में सौ लेखकों से अधिक की रचनाएँ हैं

इतने बड़े पैमाने पर शायद उर्दू में भी उर्दू के लेखकों का सङ्कलन नहीं होगा। इकबाल से जुहरा निगाह और आगा हश्र से लेकर शफ़ीकुर्रहमान तक की रचनाओं को एक साथ एक रील में पिरोने का काम बड़े दायित्व का है। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक सङ्कलित करने का प्रश्न है, उसमें दोनो सम्पादकों को सफलता मिली है, किन्तु जहाँ तक सम्पादित करने का प्रश्न है, उसमें मुझे कुछ कमियाँ दिखी हैं, जिन्हें मै अगले पृष्ठों में लिखूंगा। कुल मिला कर साधारण पाठक के लिए यह सङ्कलन उपयोगी और काम का है। जहां तक रचनाओं के चयन का प्रश्न है। कहानी, संस्मरण हास्य, व्यंग्य, गजल और लघु उपन्यास के खण्ड काफ़ी अच्छे हैं। इनसे उर्दू की विभिन्न शैलियों का परिचय मिलता है। एक मुक्त वर्णन शैली में विश्लेषित (सॉफिस्टिकेटेड) अभिव्यक्तियों का दर्शन हमें उसके गद्य-साहित्य में अच्छे स्तर पर उपलब्ध होता। अभिरुचि और भाव-व्यञ्जना की व्यापकता के साथ-साथ दृष्टि की गहराई का भी परिचय प्राप्त होता है।

जहाँ एक प्रकार गद्य के ये अंश सुन्दर और पठनीय हैं, वहीं नज़्मों के खण्ड में हमें केवल रोमानी भावों से ओतप्रोत रचनाएँ ही मिलती हैं। उर्दू-साहित्य का अधिकांश प्रगतिशील साहित्य के आदर्शों से ओतप्रोत रहा है। सङ्कलन में उस एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का सङ्कलन प्रतिनिधि रूप में नहीं हुआ है। १९४० से लेकर १९५८ तक का उर्दू-साहित्य केवल प्रगतिशील आन्दोलन का मुख्य अङ्ग रहा है। 'सङ्कलन' को आदि से अन्त तक पढ़ जाने पर उसमें हमें इस प्रवृत्ति विशेष का परिचय नहीं मिलता।

उर्दू-साहित्य की कहानी की विधा काफ़ी समृद्ध है, किन्तु जहाँ तक कहानी के खण्ड का सम्बन्ध है उसमें उर्दू की प्रतिनिधि कहानियाँ नहीं आ सकी हैं। ऐसे भी कहानीकारों में कुर्रतुल-ऐन हैदर, रजिया सज्जाद जहीर, अश्क, आदि का नाम न होना खटकता है।

संस्मरण और रेखाचित्र की सीमाएँ कहाँ मिलती हैं और कहाँ से वे अलग हो जाती हैं, रेखाचित्र और कैरीकेचर की सीमाओं की क्या मर्यादाएँ हैं, यह प्रश्न संस्मरण-खण्ड पढ़ कर सहज ही उठ खड़ा होता है। साहिर ने देवेन्द्र सत्यार्थी का रेखाचित्र लिखा है या संस्मरण, 'दो क़ब्रें' स्केच अधिक है या संस्मरण, इसका भी प्रश्न उठता है। मेरा अपना मत है सम्पादकों ने एक व्यापक वर्गीकरण तो कर दिया है, किन्तु विशिष्टता का परिचय नहीं दिया है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, संस्मरण केवल तथ्यात्मक वर्णन के आधार पर चरित्र-चित्रण है, जिसमें लेखक एक सहभागी पात्र होता है। उससे केवल घटना-विशेष से परिचय मिलता है। स्केच शायद अधिक वस्तुपरक होता है। प्रस्तुत खण्ड में इसका भेद पाठक को निकालना पड़ता है—सम्पादकों ने शायद भेद नहीं माना है।

यद्यपि 'सङ्कलन' के सङ्कलन एवं सम्पादन में सम्पादकों के दृष्टिकोण का पता नहीं चल पाता, फिर भी ऐसा लगता है कि इस चयन में केवल तीन सकारात्मक तत्व ही प्रधान रूप में इनके सामने रहे। पहला तो यह कि सर्वविख्यात और प्रसिद्ध रचनाओं के अतिरिक्त लेखकों और कवियों की ऐसी रचनाएँ सङ्कलित करें जो नयी हों और जिनसे पाठक परिचित नहीं है। दूसरा दृष्टिकोण उर्दू की विविध विधाओं को पृथक् रूप से प्रस्तुत करने का और तीसरा दृष्टिकोण 'सर्वप्रियता' का रहा है। मेरा अपना अनुमान है कि ये तीनों दृष्टियाँ अवैज्ञानिक हैं। इस संग्रह को देख कर अभि-रुचि और प्रवृत्तियों के विषय में स्पष्ट बोध नहीं होता। सम्पादकों का उद्देश्य शायद प्रतिनिधि

लेखकों की रचनाओं को सङ्कलित करना था किन्तु यदि प्रतिनिधि लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं को प्रस्तुत किया होता तो शायद अधिक स्पष्टता आती।

एक कमी और है जो इस सङ्कलन में बुरी तरह खलती है। सम्पादकों के कुछ प्रिय लेखक हैं जिनको घुमा-फिरा कर कई बार कई खण्डों में रखा गया है : जैसे कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, राजेन्द्र सिंह बेदी, सआदत हसन मण्टो, इस्मत चुग़ताई आदि। इसमें भी सङ्कलन में दृष्टिहीनता आ गयी है। चयन में विवेक और विधाओं में नयी प्रतिभाओं को प्रस्तुत करने का भी प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा लगता है कि सम्पादकों की दृष्टि में कुछ ही लेखक ऐसे हैं जो सब कुछ अच्छा लिखते हैं या लिख सकते हैं। जब कि जहाँ तक मैं जानता हूँ, बात ऐसी नहीं है। कई नये लेखक भी हैं जो काफ़ी अच्छा लिखते हैं और जिनका इस सङ्कलन में न होना खलता है।

इस प्रकार के सङ्कलनों का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए साहित्य की नयी दिशाओं का अङ्कन। आज से दस साल पहले यदि यही सङ्कलन निकला होता तो शायद उस समय यह अधिक प्रतिनिधि माना जाता। कृष्णचन्द्र, राजेन्द्र सिंह बेदी, मण्टो, इस्मत चुग़ताई, फ़िराक़, जिगर, नून. मीम, राशिद आदि सभी लेखक जो इस सङ्कलन में आये हैं, आज से दस वर्ष पहले ही उर्दू के प्रतिनिधि साहित्यकार मान लिये गये थे। ऐसी स्थिति में मुझ जैसे पाठकों को यह लगना स्वाभाविक है कि या तो उर्दू-साहित्य में कोई प्रगति हुई ही नहीं है या यदि हुई है तो सम्पादकों को वह प्रगति मान्य नहीं है। बात जो भी हो, यह तथ्य रह ही जाता है कि यह सङ्कलन आज से दस साल पुरानी रुचि को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इकबाल से ले कर जोश निगार तक जितने लब्ध-प्रतिष्ठित उर्दू के साहित्यकार हैं यह सङ्कलन उनका ही प्रतिनिधित्व करता है।

वस्तुतः यह स्थिति किसी भी सङ्कलन को सम्पादित करते समय उपस्थित हो सकती है। सम्पादकों के सम्मुख केवल दो ही प्रश्न शेष रहते हैं, प्रतिनिधि लेखकों का सङ्कलन या नयी मोड़ों का सङ्कलन। जहाँ तक मैं समझता हूँ, इन दोनों स्थितियों में से नयी मोड़ों का प्रतिपादन करना अधिक श्रेयस्कर है। एक से दिशा-बोध होता है। दूसरे से केवल यात्रा की मञ्जिल का बोध होता है। ऐसे सङ्कलनों का श्रेय उगते अङ्कुरों और प्रतिभाओं को सामने लाना होता है।

पूरे सङ्कलन को पढ़ कर ऐसा लगता है जैसे कुछ विधाएँ आज भी उर्दू में विकसित नहीं हो पायी हैं। नाटक, गीत, रिपोर्ताज, डायरी, पत्र आदि कुछ ऐसी विधाएँ हैं जिनका सङ्कलन इन ६०० पृष्ठों में नहीं हो पाया है। या तो सम्पादकों ने उन विधाओं को सङ्कलन-योग्य ही नहीं समझा है या उनका विकास उर्दू-साहित्य में आज भी नहीं हुआ। जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह कहना गलत होगा कि उन विधाओं का विकास नहीं हुआ है, क्योंकि आये दिन उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में इनके काफ़ी नमूने देखने को मिलते हैं। मुझे लगता है, ये सम्पादकों की अपनी सीमाओं के कारण ही सम्मिलित नहीं किये जा सके हैं। और नहीं तो नयाज़ फतेहपुरी के ख़तों का एक सङ्कलन है, कुछ पत्र सज्जाद ज़हीर के बड़े ही रोचक ढङ्ग से छपे हैं। इसी प्रकार नज़र, या शाहराह की फ़ाईलों को देखने का कष्ट सम्पादक-द्वय करते तो निश्चय ही उसमें रिपोर्ताज भी उन्हें मिल जाते।

नाटकों की अविकसित शैली का परिचय भी हमें इसी सङ्कलन से मिलता है। नाटक को अलग एक विधा के रूप में आज भी उर्दू लेखक ने गम्भीरतापूर्वक स्वीकार नहीं किया है। यह बात

लघु उपन्यास 'आग : पुरानी' एक मधुर रोमानी उपन्यास है जिसमें नयापन तो कुछ नहीं है लेकिन दो किशोर मनों की ताक-झांक, सङ्कोच, संयोग-वियोग बड़े सुन्दर ढङ्ग से निभाया गया है। जेन आस्टिन की भाँति एक नारी-लेखिका होने के नाते उर्मीला हाशिमी ने प्रणय, परिचय और संयोग की मार्मिक स्थितियों का इतनी सादगी से चित्रण किया है कि वह पढ़ने में भला लगता है। दिलदार सिंह, कुलदीप कौर, चिन्नी, दार्दा आदि के चित्रण में एक नैकट्य है जो सारे वातावरण को एक मधुर पावनता से ओतप्रोत कर देता है। लेकिन शायद यह कहानी उतनी ही पुरानी है जितनी हीर रांझा की कहानी। इसमें कोई नया पहलू नहीं जुड़ा है।

सम्पादकीय के स्थान पर प्रकाशकीय पर जब दृष्टि जाती है तो लगता है, अश्क जी का असन्तोष ठीक ही है, लेकिन पुस्तक में केवल प्रूफ़ और टाइप टूटने का ही दोष नहीं है। इतना मसाला जुटाने के साथ-साथ इनका वर्गीकरण और अधिक वस्तु-विवेचन के साथ किया जा सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि इतनी सामग्री एकत्र करने में सम्पादकों को काफ़ी छान-बीन करनी पड़ी होगी। इतनी छान-बीन के बाद यदि इस सङ्कलन में सम्पादकीय भी होता तो वर्गीकरण के आधारों को तो समझने में सहायता तो मिलती ही, साथ ही पाठक को भी विषय-विवेचन और उनके प्रबन्ध-अनुबन्धन का आधार मिल जाता। सम्पादकीय का न होना पूरे सङ्कलन के आन्तरिक गठन को शिथिल बना देता है।

कुल मिलाकर जहाँ यह प्रयास अपने में सराहनीय है, वहीं इन कमियों की ओर सङ्केत इसलिए किया गया है, ताकि आगामी सङ्कलनों में सम्पादकों के दृष्टिकोण और विषयों के कला-पक्ष का प्रतिनिधित्व अधिक सफल हो सके। हिन्दी में इस प्रकार का यह अकेला और महत्त्वपूर्ण सङ्कलन है।

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

के

दो नवीनतम

प्रकाशन

१ : गालिब के पत्र

दूसरा भाग

श्रीराम शर्मा

द्वारा सङ्कलित

मूल्य : ८.००

२ : शङ्कराचार्य

सर्वथा नया संशोधित संस्करण

बलदेव उपाध्याय

मूल्य : १०.००

तथा

यन्त्रस्थ-ग्रन्थ

१ : मथुरा जिले की बोली

डॉ० चन्द्रभान रावत

२ : हिन्दी में अंग्रेजी से आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

३ : मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना

डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया

४ : खड़ी बोली का लोक-साहित्य

डॉ० सत्या गुप्ता